व्यष्टि अर्थशास्त्र

(MICROECONOMICS)

[विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग (UGC) द्वारा
बी. ए. (पास व आनर्स) के लिए निर्धारित नवीनतम पाठ्यक्रमानुसार
रचित व्यष्टि अर्थशास्त्र पर पाठ्यपुस्तक]

U. G. C. BOOKS

लक्ष्मीनारायण नाथूरामका
पूर्व रीडर, अर्थशास्त्र विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

कॉलेज बुक हाउस (प्रा.) लि.
चौड़ा रास्ता, जयपुर-3

महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर

पाठ्यक्रम 2002-03

प्रथम प्रश्न पत्र व्यष्टि अर्थशास्त्र

इकाई-1

प्रस्तावना

अर्थशास्त्र की प्रकृति एवं क्षेत्र अर्थशास्त्र की विभिन्न विधियाँ, चुनाव एवं आर्थिक समस्या के रूप में, मूलभूत मान्यतायें कीमत तंत्र का महत्त्व, मांग एवं पूर्ति, मूलभूत ढांचा-प्रयोग, बाजार-सन्तुलन।

उपभोक्ता का व्यवहार

उपयोगिता-मात्रात्मक एवं गुणात्मक दृष्टिकोण उदासीनता वक्र, उपभोक्ता का सन्तुलन (हिक्स एवं स्लुट्स्की), गिफिन वस्तुएं, क्षतिपूर्ति मांग, मांग की लोच-कीमत, आय एवं तिरछी, उपभोक्ता की बचत, एंजिल वक्र।

इकाई-2

उत्पादन एवं लागत का सिद्धान्त

उत्पादन-निर्णय, उत्पादन फलन, समोत्पत्ति-वक्र, साधन-प्रतिस्थापन, परिवर्तनशील अनुपातों का नियम, पैमाने के प्रतिफल, पैमाने की मितव्ययितायें, लागत की विभिन्न अवधारणायें एवं परस्पर संबंध, फर्म का सन्तुलन, विस्तार-पथ।

इकाई-3

बाजार-सन्तुलन

बाजार का रूप – पूर्ण एवं अपूर्ण प्रतियोगिता, फर्म का सन्तुलन – पूर्ण प्रतियोगिता, एकाधिकार एवं एकाधिकारी-विभेद, एकाधिकारात्मक शक्तियों का माप, एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता, द्वयाधिकार, अल्पाधिकार, क्रयाधिकार एवं फर्म का सन्तुलन, नियंत्रित एवं प्रशासकीय कीमतों की अवधारणा।

इकाई-4

साधन-कीमतें

वितरण का सीमान्त उत्पादकता का सिद्धान्त, मजदूरी-निर्धारण के सिद्धान्त, मजदूरी एवं सामूहिक सौदेबाजी, मजदूरी-विभेद, लगान—दुर्लभता-लगान, विभेदित लगान, आभास-लगान, ब्याज – कीन्स एवं क्लासिकल सिद्धान्त, लाभ—नव-परिवर्तन, जोखिम एवं अनिश्चितता के सिद्धान्त।

इकाई-5

विनियोग विश्लेषण – वार्षिक औसत प्रतिफल की दर, विशुद्ध वर्तमान मूल्य, आंतरिक प्रतिफल की दर का सिद्धान्त, कीमत-परिवर्तन, जोखिम एवं अनिश्चितता, सामाजिक लागत-लाभ के सिद्धान्त के तत्व।

कल्याणकारी अर्थशास्त्र

कल्याण को मापने की समस्यायें, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, परेटो सिद्धान्त, मूल्य-निर्णय, सामाजिक कल्याण फलन का सिद्धान्त क्षतिपूरक सिद्धान्त – काल्डोर एवं हिक्स।

Mohanlal Sukhadia University, Udaipur

B.A. (Pass and Honours)

Compulsory Paper, 2003

Paper-I : Microeconomics

Unit-I

Nature and scope of economics, Methodology in economics, Choice as an economic problem, basic postulates, Role of price mechanism, Demand and Supply; Basic framework—numerical applications, Market equilibrium

Utility—Cardinal and ordinal approaches, Indifference curve, Consumer equilibrium (Hicks and Slutsky), Giffin goods, Concept of Compensated demand and Engel curve, Elasticity of demand—Price, income and cross, Consumers surplus

Unit-II

Production decisions, Production function, Iso-quant, Factor substitution, Law of variable proportions, returns to scale Economies of scale, Different concepts of cost and their interrelation, Equilibrium of the firm, Expansion path

Unit-III

Market forms—Perfect and imperfect markets, Equilibrium of a firm—Perfect Competition, monopoly and price discrimination, Measure of monopoly power, Monopolistic competition, Taxation and equilibrium of a firm, Notion of controlled and administered prices

Unit-IV

Marginal productivity theory of distribution, Theories of wage determination, Wages and collective bargaining; Wage differentials Rent–Scarcity rent, Differential rent, Quasi Rent, Interest—Classical and Keynesian theories, Profits—Innovation, risk and uncertainty theories.

Unit-V

Payback period—basic concepts of average annual rate of return Net present value, Internal rate of return criteria, price changes, risk and uncertainty, elements of social cost—benefit analysis

Problems in measuring welfare, Classical welfare economics, Pareto s criteria, Value judgement, Concept of a social welfare function, Compensation principle—Kaldor, Hicks

UGC Syllabus
B.A. (Pass and Honours)
Paper-I
Microeconomics

Module 1 : Introduction

Nature and scope of economics, Methodology in economics, Choice as an economic problem basic postulates Role of price mechanism, Demand and Supply; Basic framework – applications, Market equilibrium

Module 2 : Consumer Behaviour

Utility – Cardinal and Ordinal approaches, Indifference curve, Consumer equilibrium (Hicks and Slutsky), Giffin goods, Compensated demand, Elasticity of demand – Price, income and cross, Consumer's surplus, Engel curve

Module 3 : Theory of Production and Costs

Production decisions, Production function Isoquant, Factor substitution, Law of variable proportions, Returns to scale, Economies of scale, Different concepts of cost and their interrelation, Equilibrium of the firm, Expansion path, Empirical evidence on costs

Module 4 : Market Structure

Market forms – Perfect and imperfect markets, Equilibrium of a firm – Perfect Competition, monopoly and price discrimination, measure of monopoly power, Monopolistic competition, Duopoly, oligopoly; Taxation and equilibrium of a firm, Notion of controlled and administered prices

Module 5 : Factor Pricing

Marginal productivity theory of distribution, Theories of wage determination, Wages and collective bargaining; Wage differentials, Rent–Scarcity rent, Differential rent, Interest – Classical and Keynesian theories, Profits – Innovation, risk and uncertainty theories

Module 6 : Investment Analysis

Payback period – average annual rate of return, Net Present Value, Internal rate of return criteria, price changes, risk and uncertainty, elements of social cost – benefit analysis

Module 7 : Welfare Economics

Problems in measuring welfare, Classical welfare economics Pareto criteria Value judgement, Concept of a social welfare function, Compensation principle—Kaldor, Hicks

Basic Reading List

- Bach G L (1977) Economics, Prentice Hall of India New Delhi
- Gould J P and Edward PL (1996), Microeconomic Theory, Richard Irwin, Homewood
- Henderson J and R E Quandt (1980) Microeconomic Theory A Mathematical Approach, McGraw Hill New Delhi
- Heathfield and Wibe (1987), An Introduction to Cost and Production Functions, Macmillan London
- Koutsoyiannis A (1990), Modern Microeconomics, Macmillan
- Lipsey R G and K A Chrystal (1999), Principles of Economics (9th Edition) Oxford University Press, Oxford
- Mansfield E (1997), Microeconomics (9th Edition) W W Norton and Company, New York
- Ray N C (1975) An Introduction to Microeconomics, Macmillan Company of India Ltd , Delhi
- Ryan W J L (1962) Price Theory, Macmillan and Co Limited, London
- Samuelson P A and W D Nordhaus (1998), Economics, Tata McGraw Hill New Delhi
- Stonier A W and D C Hague (1972), A Textbook of Economic Theory, ELBS & Longman Group, London
- Varian H R (2000), Intermediate Microeconomics A Modern Approach (5th Edition) East West Press, New Delhi

विषय-सूची

भाग 1 परिचय
(Module 1 Introduction)

भाग 2 उपभोक्ता का व्यवहार
(Module 2 Consumer Behaviour)

भाग 3 : उत्पादन व लागतों का सिद्धान्त
(Module 3 · Theory of Production and Costs)

भाग 4 बाज़ार-ढाँचा
(Module 4 : Market Structure)

भाग 5 साधन-कीमत-निर्धारण
(Module 5 : Factor-Pricing)

भाग 6 : निवेश-विश्लेषण
(Module 6 : Investment Analysis)

भाग 7 : कल्याण-अर्थशास्त्र
(Module 7 : Welfare Economics)

1

अर्थशास्त्र की प्रकृति व क्षेत्र

(Nature and Scope of Economics)

अर्थशास्त्र की प्रकृति व क्षेत्र के विवेचन में विभिन्न लेखक प्रायः अलग-अलग विषयों की चर्चा करते हैं। कुछ लेखक इनके अन्तर्गत आर्थिक समस्या के स्वरूप, उत्पादन-सम्भावना वक्र, सन्तुलन व असन्तुलन, व्यष्टि अर्थशास्त्र व समष्टि अर्थशास्त्र, अर्थशास्त्र वास्तविक तथा आदर्शमूलक एवं अर्थशास्त्र की विधियों (आगमन व निगमन) तक का उल्लेख करते हैं। अन्य लेखक इनमें से कुछ विषय ही वर्णन के लिए शामिल करते हैं। अतः अर्थशास्त्र की प्रकृति व क्षेत्र के विवेचन में विषय-सामग्री की दृष्टि से कोई बंधन नहीं प्रतीत होता।

जे एन कीन्स (J.N Keynes) के अनुसार अर्थशास्त्र के क्षेत्र में निम्न तीन बातों का समावेश किया जाना चाहिए—

(1) अर्थशास्त्र की विषय सामग्री (Subject matter of Economics)

(2) अर्थशास्त्र का स्वभाव या प्रकृति (Nature of Economics), अर्थात् अर्थशास्त्र विज्ञान है या कला अथवा दोनों,

(3) अर्थशास्त्र का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध (Relation of Economics with other Sciences)।

आजकल तीसरे विषय के स्थान पर अर्थशास्त्र की सीमाओं (Limitations of Economics) का विवेचन शामिल किया जाने लगा है। अब हम इन पर क्रमशः प्रकाश डालते हैं। अर्थशास्त्र की प्रकृति में आर्थिक नियमों की प्रकृति का संक्षिप्त परिचय देना भी उचित होगा। इसलिए अध्याय के अन्तिम भाग में इनका विवेचन किया गया है।

1. अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री

(Subject-matter of Economics)

अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री इसकी परिभाषा पर निर्भर करती है। एडम स्मिथ व उनके समर्थकों के अनुसार अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री धन है। अतः इसमें धन के

उत्पादन, विनिमय व वितरण आदि का समावेश किया जाता है। मार्शल व पीगू आदि ने अर्थशास्त्र में भौतिक कल्याण पर अधिक जोर दिया था। पीगू ने मुद्रा के माप दण्ड (measuring rod of money) पर बल दिया था। आगे चलकर रोबिन्स ने अर्थशास्त्र का सम्बन्ध चुनाव व निर्णय की प्रक्रिया से किया है। हमारी आवश्यकताएं असीमित हैं, लेकिन उनकी पूर्ति के साधन सीमित व वैकल्पिक उपयोग वाले होते हैं। ऐसी दशा मे हमें चुनाव का मार्ग अपनाना पडता है। प्रत्येक क्रिया का चुनाव का पहलू ही अर्थशास्त्र का विषय माना जाता है।

अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री में उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण व राजस्व का सक्षिप्त परिचय देने की परम्परा रही है। उपभोग में आवश्यकताओं, माग, उपभोक्ता के व्यवहार आदि का वर्णन किया जाता है। उत्पादन में उत्पादन के साधनों, उत्पादन के नियमों व उत्पादन के सगठन आदि का वर्णन आता है। विनिमय में वस्तुओं व सेवाओं के क्रय विक्रय, बाजार, मुद्रा, बैंकिंग आदि का अध्ययन किया जाता है। वितरण में उत्पादन के साधनों में राष्ट्रीय आय के वितरण की चर्चा होती है और लगान, मजदूरी, ब्याज व लाभ के सिद्धान्त आते हैं। आजकल सरकार के द्वारा आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप के कारण इसका योगदान भी काफी बढ गया है जिससे अर्थशास्त्र का एक पाचवा भाग—सार्वजनिक वित्त—उभर कर सामने आया है जिसमें सरकारी राजस्व, व्यय व ऋण सम्बन्धी क्रियाओं का विवेचन किया जाता है। नियोजन के कारण सार्वजनिक वित्त का महत्त्व और बढ गया है क्योंकि सार्वजनिक विनियोग व सार्वजनिक परिव्यय के माध्यम से आर्थिक विकास पर अधिक बल दिया जाने लगा है।

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है आधुनिक अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र की विषय सामग्री को एक नये ढग से प्रस्तुत करने लगे हैं। वे इसके अन्तर्गत इसके दो भागों (i) व्यष्टि अर्थशास्त्र (Micro-economics) व (ii) समष्टि अर्थशास्त्र (Macro-economics) का वर्णन करते हैं। हमने इनका विस्तृत विवेचन अगले अध्याय में किया है। यहा प्रसग आने के कारण इनका प्रारम्भिक परिचय देना ही पर्याप्त होगा।

(i) व्यष्टि अर्थशास्त्र को कीमत सिद्धान्त (price theory) भी कहा जाता है। इसमें उपभोक्ता, फर्म व व्यक्तिगत उद्योगों (जैसे चीनी उद्योग, इस्पात उद्योग आदि) के आर्थिक व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। ये इकाइया छोटी आर्थिक इकाइया मानी जाती हैं। व्यष्टि अर्थशास्त्र में वस्तुओं की कीमतों के निर्धारण व साधनों की कीमतों के निर्धारण पर प्रकाश डाला जाता है। इसमें दिए हुए आर्थिक साधनों के आवटन का अध्ययन किया जाता है।

(ii) समष्टि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की गतिविधि से होता है, जैसे, राष्ट्रीय आय, रोजगार, सामान्य कीमत स्तर, बचत, विनियोग आदि। इसके अन्तर्गत आर्थिक विकास व आर्थिक उतार-चढाव जैसे उपयोगी विषय आते हैं। नियोजन के युग में समष्टिगत चल राशियों (macro variables) का महत्व काफी बढ गया है। लॉर्ड कीन्स ने अपने रोजगार सिद्धान्त के माध्यम से समष्टि अर्थशास्त्र का महत्व काफी बढा दिया है।

कहना है कि अर्थशास्त्र के नियम उतने सही नही हैं जितने कि अन्य प्राकृतिक विज्ञानों के होते हैं। स्वय मार्शल ने अर्थशास्त्र के नियमो की तुलना गुरत्वाकर्षण के नियम (law of gravitation) से न करके ज्वार भाटे के नियमों (laws of tides) से की है जो कम निश्चित होते हैं, क्योंकि समुद्र में तूफान, वर्षा आदि से ज्वार भाटे के समय व इनकी तीव्रता में अन्तर हो सकता है।

अर्थशास्त्र के नियमों में कम निश्चितता का कारण यह बतलाया गया है कि इनका सम्बन्ध मानवीय आचरण से होता है, जो बहुत अनिश्चित व परिवर्तनशील होता है। इसमें *नियन्त्रित प्रयोग नही हो सकते। इसमें मुद्रा का मापदण्ड प्रयुक्त होता है जो* स्वय अस्थिर होता है क्योंकि स्वय मुद्रा का मूल्य बदलता रहता है, आदि।

अर्थशास्त्र के नियम वैज्ञानिक विधियों का उपयोग करके बनाये गये हैं, इसीलिए उनकी वैज्ञानिकता में सन्देह नही किया जाना चाहिए। फिर ये प्राकृतिक विज्ञानों के नियमों से चाहे कम निश्चित हों, लेकिन अन्य सामाजिक विज्ञानों के नियमों से तो ये अधिक सही व निश्चित होते हैं।

जहाँ तक नियमों के पीछे 'अन्य बातों के यथास्थिर' मानने का प्रश्न है, ऐसा तो सभी विज्ञानों में किया जाता है। इसलिए यह कोई दोष नहीं है। प्रोफेसर रोबिन्स तो अर्थशास्त्र के नियमों के पीछे पायी जाने वाली मान्यताओं (assumptions) को इतना सही मानते हैं कि उन्हें *अर्थशास्त्र के कुछ नियमों, जैसे सीमान्त उपयोगिता ह्रास* नियम, उत्पत्ति ह्रास नियम आदि की सत्यता में सन्देह करने का कोई कारण प्रतीत नही होता है। अर्थशास्त्र में नियमों की प्रकृति पर अधिक विस्तार से इस अध्याय के अन्तिम भाग में लिखा गया है।

(2) अर्थशास्त्रियो में परस्पर मतभेद—अर्थशास्त्रियों में आपस में काफी मतभेद को देखकर भी अर्थशास्त्र को विज्ञान कहने में सकोच किया गया है। बर्नार्ड शॉ ने **एक बार कहा था कि यदि दुनिया के अर्थशास्त्रियो को एक साथ बैठा दिया जाय तो वे कभी किसी एक निष्कर्ष पर नही पहुच सकेंगे।** इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि *आर्थिक नीति सम्बन्धी विषयों में विभिन्न अर्थशास्त्रियों के आदर्शात्मक दृष्टिकोण* (normative stand) में अन्तर होने से उनमें मतभेदों का पाया जाना स्वाभाविक है। यदि किसी आर्थिक विषय पर विशुद्ध सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो सम्भवत मतभेद का क्षेत्र कम हो जायेगा। अत अर्थशास्त्रियों की व्यक्तिगत पसन्द व दृष्टिकोण का उनके नीति सम्बन्धी निर्णयों पर अवश्य प्रभाव पडता है जिससे मतभेद बढ जाते हैं। यह बात वास्तविक अर्थशास्त्र व आदर्शात्मक अर्थशास्त्र के अध्ययन के बाद अधिक स्पष्ट हो जायेगी। 'क्या है' (वास्तविक अर्थशास्त्र) के विवेचन में *इतना मतभेद नहीं पाया जाता जितना 'क्या होना चाहिए'* (आदर्शात्मक अर्थशास्त्र) के सम्बन्ध में पाया जाता है।

(3) भावी अनुमान लगाने मे कठिनाई—अर्थशास्त्र में भावी घटनाओं के बारे में अनुमान नहीं लगाये जा सकते और यदि लगाये भी जाते हैं तो सही नहीं निकलते।

इसलिए अर्थशास्त्र को विज्ञान का दर्जा नही मिल सकता। यह तर्क भी मिथ्या है। पिछले वर्षों में सख्यात्मक अर्थशास्त्र (quantitative economics) का काफी तेजी से विकास हुआ है, और आर्थिक मॉडलों (economic models) का उपयोग बढने लगा है। इससे अर्थशास्त्री की अनुमान लगाने की क्षमता बढी है। आशा है इसमें आगे और भी वृद्धि होगी।

हेनरी सी वालिस का मत है कि अर्थशास्त्र एक विज्ञान तो है, लेकिन यह कम निश्चित विज्ञान (less exact science) है। अर्थशास्त्रियों को कई प्रकार की बाधाओं का सामना करना पडता है जिनसे भौतिक विज्ञान मुक्त होता है। इन बाधाओं के कारण ही हमारे ज्ञान में बहुधा अनिश्चितता आ जाती है और हमारी भविष्यवाणी भी अविश्वसनीय बन जाती है। आर्थिक जीवन की वास्तविकता बडी जटिल होती है और उस पर काबू पाना भी कठिन होता है। 'पहले अपने तथ्य (facts) लाओ' कहने वाला व्यक्ति कोई मामूली ढग का आदेश नही देता है। दुनिया में असख्य व्यक्तियों, अनेक वस्तुओं व उनकी कीमतों, असीमित क्रय विक्रय आदि का सामना करना कोई आसान बात नहीं है। अर्थशास्त्री नियन्त्रित किस्म के प्रयोग भी नहीं कर सकते। अर्थशास्त्र में कुछ भी निश्चित नही है, कुछ भी सम्भव हो सकता है और प्रत्येक चीज दूसरी चीज पर आश्रित होती है (in economics nothing is certain, anything is possible and everything depends on everything else)। अर्थशास्त्री को प्राय यह समझने में कठिनाई होती है कि अर्थशास्त्र में क्या हो रहा है। इन बाधाओं के बावजूद अर्थशास्त्री प्रगति कर रहे हैं। कीन्स व उसके बाद के कई अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक मन्दी को दूर करने के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है एव अन्य क्षेत्रों में भी प्रगति की गयी है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह सार निकलता है कि हमें अर्थशास्त्र को विज्ञान स्वीकार करने में कोई कठिनाई नही होनी चाहिए। गणित व साख्यिकी के प्रयोग से अर्थशास्त्र की वैज्ञानिकता में निरन्तर निखार आता जा रहा है। फिर भी अर्थशास्त्र के सामाजिक विज्ञान होने के कारण कुछ कठिनाइया तो रहेंगी ही। सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र के स्तर को और भी ऊचा उठाकर अर्थशास्त्र को अधिक वैज्ञानिकता प्रदान की जा सकती है। आजकल गणित के बढते हुए प्रयोग से चिढ जाने से कुछ लोगों को ऐसा लगने लगा है कि अर्थशास्त्र जहा विज्ञान सरीखा लगता है वहा यह अर्थशास्त्र नहीं है और जहा अर्थशास्त्र है वहा पर यह विज्ञान सरीखा नही है। लेकिन सच यह है कि वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग करके आर्थिक जीवन में कई बिन्दुओं पर कार्य तथा परिणामों के बीच सम्बन्धों की स्थापना कर सकने के कारण अर्थशास्त्र का अपना विज्ञान तैयार हो गया है और गणित के बढते हुए प्रयोग से यह विज्ञान दिनोंदिन अधिक प्रगति करता जा रहा है।

---

1 Henry C Wallich Is Economics a Science ? Samuelson (ed) Readings in Economics

के रूप में अर्थशास्त्र का कार्य समस्याओं के कारणों का पता लगाना और उनका विश्लेषण करना होता है।

यदि सैद्धान्तिक निष्कर्षों के बारे में कोई मतभेद उत्पन्न हो जाये तो तथ्यों (facts) का उपयोग करके उन्हें दूर करना सभव होता है।

आदर्शात्मक विज्ञान के रूप में अर्थशास्त्र भले व बुरे का निर्णय करता है। भले व बुरे का निर्णय एक मूल्य सम्बन्धी निर्णय (value-judgment) कहलाता है। इस प्रकार के निर्णय पर दार्शनिक, सांस्कृतिक, धार्मिक व नैतिक विचारों का प्रभाव पडता है। विभिन्न व्यक्तियों के भले व बुरे के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के विचार हो सकते हैं और प्राय होते भी हैं। आदर्शात्मक कथनों के सम्बन्ध में पाये जाने वाले मतभेदों को तथ्यों का सहारा लेकर दूर नहीं किया जा सकता। जैसे भारत में गो वध को अधिकाश हिन्दू बुरा मानते हैं। इसके पीछे लोगों की धार्मिक भावनाओं का प्रश्न आता है। अत 'क्या होना चाहिए' का निर्णय व्यक्ति की भावनाओं पर आधारित होता है। इसमें मतभेदों की ज्यादा गुजाइश होती है और उनको मिटाना भी बहुत कठिन होता है।

हमारे देश में 'क्या होना चाहिए' को लेकर विभिन्न आर्थिक प्रश्नों पर मतभेद प्रकट किये गये हैं, जैसे भारत में कुछ व्यक्तियों के अनुसार, 'समाजवाद' स्थापित किया जाना चाहिए तथा कुछ के अनुसार देश को 'पूँजीवाद' की तरफ ले जाया जाना चाहिए। कुछ विचारकों के अनुसार भारत में शराबबंदी होनी चाहिए तथा कुछ के अनुसार नहीं होनी चाहिए। इसलिए 'क्या होना चाहिए' और 'क्या नहीं होना चाहिए' के निर्णय बहुधा मूल्य सम्बन्धी निर्णयों (भले व बुरे के सम्बन्ध में प्रचलित सामाजिक धारणाओं) से प्रभावित होते हैं और इन पर व्यक्तिगत भावनाओं, सामाजिक व राजनैतिक विचारों, आदि का अधिक प्रभाव पडता है।

यहा यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि वास्तविक अर्थशास्त्र व आदर्शात्मक अर्थशास्त्र के आधार भिन्न भिन्न होने से हम इनमें एक दूसरे पर नही जा सकते। उदाहरण के लिए गो वध का सैद्धान्तिक विश्लेषण करने मे यदि यह निष्कर्ष निकले कि भारत में आर्थिक दृष्टिकोण से गो वध उचित है तो भी सांस्कृतिक परम्पराओं व धार्मिक भावनाओं का विषय होने से इसे देश में आसानी से समर्थन नहीं मिलेगा।

अब प्रश्न उठता है कि क्या वास्तविक अर्थशास्त्र के विद्यार्थी को 'यह होना चाहिए' शब्द को देखकर चौंक जाना चाहिए और उस क्षेत्र में प्रवेश ही नहीं करना चाहिए। रिचर्ड जी लिप्से व के अलक क्रिस्टल का मत है कि उसे आदर्शात्मक कथनों (normative statements) की जाच वास्तविक अर्थशास्त्र में करनी चाहिए। जैसे उपर्युक्त उदाहरण में 'गो वध के अर्थशास्त्र' (economics of cowslaugther) का निर्माण किया जाना चाहिए। उसे इन प्रश्नों का सैद्धान्तिक अध्ययन प्रस्तुत करना चाहिए कि अमुक मात्रा में गायों के होने से देश में दूध की पूर्ति पर अमुक प्रभाव पड़ेगा, अमुक मात्रा में घास चारे आदि की माग होगा, इत्यादि। हो सकता है कि सैद्धान्तिक विवेचन से आगे चलकर लोग उस विषय के अर्थशास्त्र को ज्यादा समझने व स्वीकार

करने लगें और मतभेदों की खाई भी कम हो जाय। इसके अलावा और कोई दूसरा विकल्प या उपाय नहीं है। अत वास्तविक अर्थशास्त्र में समस्या का 'निदान' किया जाता है जो अपने आप में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य होता है। हमें ज्ञान की सीमा (frontier of knowledge) को निरन्तर आगे बढाते जाना चाहिए। बहुधा ऐसे कई व्यक्ति मिल जायेंगे जो किसी आर्थिक समस्या के सैद्धान्तिक विश्लेषण में प्रवेश किये बिना ही उसके हल के सम्बन्ध में किसी विशेष दृष्टिकोण का समर्थन करने लग जाते हैं, अर्थात् वे वास्तविक विज्ञान की सीढी पर चढे बिना ही आदर्शात्मक विज्ञान के मन्दिर में प्रवेश कर जाते हैं। ऐसा वे अपनी कुछ कठोर मान्यताओं (दार्शनिक, सामाजिक, सास्कृतिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि क्षेत्रों से सम्बन्धित) के कारण करते हैं। लेकिन उचित तो यह होगा कि पहले पर्याप्त मात्रा में सैद्धान्तिक पहलू पर विस्तार से विचार कर लिया जाय ताकि 'क्या होना चाहिए' के सम्बन्ध में सम्भवत अधिक सही दृष्टिकोण अपनाया जा सके। इसका अर्थ यह नहीं है कि लोग अपनी धार्मिक, सास्कृतिक, प्राचीन, सामाजिक व राजनीतिक मान्यताओं को छोड दें। लेकिन नीति सम्बन्धी निर्णयों पर पहुचने से पूर्व उन्हें विभिन्न मान्यताओं से निकलने वाले विभिन्न परिणामों का अध्ययन अवश्य कर लेना चाहिए। इससे मतभेद का दायरा भी सम्भवत कम हो जायेगा।

अर्थशास्त्र को एकमात्र वास्तविक विज्ञान बनाने के पक्ष में तर्क

प्राचीन (classical) अर्थशास्त्री रॉबिन्स अर्थशास्त्र को वास्तविक विज्ञान मानते हैं। पुराने अर्थशास्त्रियों में एनडब्ल्यू सीनियर और केरनीज अर्थशास्त्र को वास्तविक विज्ञान मानते थे। सीनियर के मतानुसार, 'राजनीतिक अर्थशास्त्री के वैज्ञानिक निष्कर्ष चाहे जितने सही हों फिर भी वे उसको जरा भी सलाह देने का अधिकार नहीं देते।' केरनीज का भी कहना था कि 'राजनीतिक अर्थव्यवस्था प्रतियोगी सामाजिक कार्यक्रमों के बीच तटस्थ रहती है।'[1]

रोबिन्स का दृढ मत है कि अर्थशास्त्र साध्यों के बीच तटस्थ रहता है (economics is neutral between ends)। अर्थशास्त्र मूल्य सम्बन्धी अन्तिम निर्णयों की सत्यता का निर्णय नहीं कर सकता। अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र में भेद करते हुए रोबिन्स ने एक स्थान पर कहा है कि 'दुर्भाग्यवश इन दोनों अध्ययनों को पास पास रखने के अतिरिक्त इनमें और कोई तार्किक सम्बन्ध या मेल बैठाना सम्भव प्रतीत नहीं होता। अर्थशास्त्र निश्चित तथ्यों से सम्बन्ध रखता है, जबकि नीतिशास्त्र मूल्यांकनों व दायित्वों से। जाँच के दोनों क्षेत्र वार्तालाप के एक धरातल पर नहीं हैं।'[2]

---

1 'Political Economy stands neutral between competing social schemes' —Cairnes quoted in J K Mehta, Studies in Advanced Economic Theory p.319

2 'Unfortunately it does not seem logically possible to associate the two studies in any form but mere juxtaposition Economics deals with ascertainable facts ethics with valuation and obligations The two fields of enquiry are not on the same plane of discourse —L Robbins An Essay on the Nature and Significance of Economic Science p 148

अर्थशास्त्र को वास्तविक विज्ञान के रूप में रखने के पक्ष में निम्न तर्क दिये गये हैं—

(1) अर्थशास्त्र का विज्ञान के रूप मे विकास करने के लिये—वास्तविक विज्ञान में कारण परिणाम सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। यह बहुत कुछ तर्क पर आधारित होता है। अत विज्ञान के रूप में अर्थशास्त्र का तेजी से विकास करने के लिये इसे वास्तविक विज्ञान तक सीमित रखना उचित बतलाया गया है।

(2) श्रम विभाजन का तर्क—यह कहा गया है कि अर्थशास्त्री को वास्तविक विज्ञान तक ही अपने आपको सीमित रखना चाहिये और भले बुरे का निर्णय राजनीतिज्ञ नीतिशास्त्री या स्वय व्यक्तियों पर छोड देना चाहिये। ऐसे श्रम विभाजन से दोनों कार्यों में अधिक दक्षता आ सकेगी। अर्थशास्त्री को दोनों प्रकार के कार्य करने के प्रयत्न में काफी कठिनाई का सामना करना पडेगा।

(3) आदर्शों के निर्धारण मे जटिलता—रोबिन्स का मत है कि आदर्शों का निर्धारण बहुत कठिन होता है। इनके सम्बन्ध में काफी मतभेद पाया जाता है। भले बुरे के सम्बन्ध में लोगों की धारणाए भिन्न भिन्न होती हैं। मान लीजिये, विश्व के चार पाँच महान व्यक्तियों की एक समिति बना दी जाए और उसे पूजीवाद के औचित्य पर मत प्रकट करने के लिये कहा जाए तो सम्भवत एक मत से कोई निर्णय नहीं हो सकेगा। अत रोबिन्स का मत है कि अर्थशास्त्री भले-बुरे के निर्णय में पडकर अपने मुख्य काम को भी ठीक से नही कर पाएगा।

(4) भ्रम उत्पन्न होने की सम्भावना—यदि एक ही अर्थशास्त्री सैद्धान्तिक विवेचन करता है और वही भले बुरे का निर्णय करता है तो उसकी बातों से जनसाधारण में भ्रम फैलने की सम्भावना बढ जाएगी। लोग उसके सैद्धान्तिक निष्कर्षों को उसके आदर्शात्मक निर्णय मान लेंगे। स्वय उस अर्थशास्त्री के लिये भी अपना प्रथम कार्य सफलतापूर्वक करना कठिन हो जाएगा। यह भी सम्भव है कि वह अर्थशास्त्री अपनी पसन्द व नापसन्द के अनुसार ही सैद्धान्तिक विवेचन को मोड देने लग जाए। इससे वास्तविक विज्ञान की सत्यता को ठेस पहुचेगी। इसलिये अर्थशास्त्र को वास्तविक विज्ञान तक सीमित रखने पर ही बल दिया गया है।

अर्थशास्त्र को आदर्शात्मक विज्ञान भी होना चाहिए पक्ष मे तर्क

हॉब्सन व हॉट्रे अर्थशास्त्र को आदर्शात्मक विज्ञान बनाने के पक्ष में रहे हैं। प्रोफेसर जे के मेहता के अनुसार भी अर्थशास्त्र एक आदर्शात्मक विज्ञान (normative science) है क्योंकि उन्होंने अर्थशास्त्र की अपनी परिभाषा में आवश्यकता रहित स्थिति (a state of wantlessness) का एकमात्र लक्ष्य स्वीकार किया है। रोबिन्स ने तो कई लक्ष्यों की बात कही है। फ्रेजर ने कहा है कि 'आर्थिक कथनों को समस्त आदर्शात्मक निष्कर्षों से पूर्णतया दूर नही रखा जा सकता।[1] फ्रेजर ने ही एक दूसरे कथन मे पुन

निम्न शब्दों में अर्थशास्त्री को नीति सम्बन्धी निर्णयों में भाग लेने की सलाह दी है 'एक अर्थशास्त्री जो केवल अर्थशास्त्री ही है, वह एक सुन्दर लेकिन दीन मछली के समान है।'[2] इस सम्बन्ध में प्रोफेसर पीगू की स्थिति इतनी निश्चित नहीं है। उनका मत है कि अर्थशास्त्र 'क्या है' का वास्तविक विज्ञान है और 'क्या होना चाहिए' का आदर्शात्मक विज्ञान बनने का प्रयास कर रहा है। फिर भी पीगू ने इस बात पर बल दिया है कि अर्थशास्त्र का उपयोग मानवीय समस्याओं के हल में किया जाना चाहिये। उनका निम्न कथन विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है, 'हमारी दृष्टि दार्शनिक जैसी नहीं है जो ज्ञान के लिये ज्ञान पर जोर देता है, बल्कि चिकित्सक जैसी है जो ज्ञान पर इसलिए जोर देता है कि इससे इलाज में सहायता मिलती है।' इस कथन में पीगू ने आर्थिक ज्ञान का उपयोग समस्याओं के हल करने की दृष्टि से आवश्यक माना है।

जो लोग आदर्शात्मक विज्ञान के रूप में अर्थशास्त्र को देखना चाहते हैं, उनके तर्क इस प्रकार हैं—

(1) वास्तविक विज्ञान कभी भी मूल्य तटस्थ नहीं रहा है—सैद्धान्तिक विश्लेषण में कुछ लक्ष्यों के अधिकतमकरण (*maximisation of certain objectives*) की बात सदैव की जाती रही है, जैसे उपभोक्ता के व्यवहार का सिद्धान्त उसके उपयोगिता अधिकतमकरण के लक्ष्य से निकला है। इसी प्रकार उत्पादक के व्यवहार का सिद्धान्त उसके लाभ अधिकतमकरण के लक्ष्य से निकला है। बिना लक्ष्य को परिभाषित किये कोई सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता। लक्ष्यों को परिभाषित करने की क्रिया शुद्ध मूल्यात्मक क्रिया होती है। अतः अर्थशास्त्री मूल्यों के सम्बन्ध में अपनी अपनी मान्यताएं सदैव रखते हैं, चाहे वे इन्हें स्पष्टतया प्रकट न करें। यहाँ 'मूल्यों' का अर्थ है अपनी सामाजिक या राजनीतिक अथवा दार्शनिक पसन्द या विचारधारा के आधार पर भले-बुरे के बारे में निर्णय करना। इस प्रकार वास्तविक विज्ञान के पक्ष को आदर्शात्मक पक्ष से पूर्णतया पृथक नहीं किया जा सकता।

(2) श्रम विभाजन का प्रभावात्मक तर्क—यह कहना कि अर्थशास्त्री कारण परिणाम सम्बन्ध स्थापित करे और कोई दूसरा व्यक्ति उचित अनुचित का निर्णय दे उचित नहीं प्रतीत होता। यह कार्यकुशल या उत्तम श्रम विभाजन का रूप नहीं माना जा सकता। वास्तव में जो व्यक्ति सैद्धान्तिक विश्लेषण करता है और विविध प्रकार के तर्कों व तथ्यों में से गुजरता है वही उचित अनुचित का निर्णय दे सकता है और उसे ही ऐसा करने का अवसर दिया जाना चाहिए। इस कार्य को दो भागों में बाँटना अकार्यकुशल होगा। यदि एक पृथक व्यक्ति भले बुरे का फैसला देगा तो उसे सर्वप्रथम सम्पूर्ण सैद्धान्तिक विवेचन से परिचित होना पड़ेगा जिसमें काफी समय लग जाएगा। अतः स्वयं अर्थशास्त्री को ही आदर्शात्मक पहलू पर भी अपना निर्णय देना चाहिए।

---

1 It is not possible to keep economic propositions entirely devoid of all normative implications —Fraser Economic Thought and Language

2 An Economist who is only an economist is like a poor pretty fish —Fraser

(3) तर्क व भावना का संयोग आवश्यक—मानवीय विषयों का केवल तार्किक विवेचन ही पर्याप्त नहीं होता। मनुष्य के भावना प्रधान होने के कारण उसकी क्रियाओं के अध्ययन में उचित अनुचित का भी समावेश होना चाहिए। अत् आदर्शात्मक पहलू को सैद्धान्तिक पहलू से पृथक् नहीं किया जा सकता।

(4) आदर्शात्मक पहलू को अपनाने से ही अर्थशास्त्री का सामाजिक कल्याण में अधिक योगदान होगा—आज प्रत्येक देश के समक्ष कई प्रकार की आर्थिक समस्याएं विद्यमान हैं जिनके सामाजिक व राजनीतिक परिणाम भी निकलते हैं। अर्थशास्त्री का भी यह दायित्व हो जाता है कि वह उन प्रश्नों के सम्बन्ध में अपना निश्चित मत बनाये। जैसे एक देश में आय के वितरण को लीजिये। आर्थिक जगत् की विभिन्न गतिविधियों को देखते हुए एव सामाजिक परिवर्तन की दिशा को ध्यान में रखते हुए आजकल आय की समानता के आदर्श का समर्थन करना उचित प्रतीत होता है। इस प्रकार नीति निर्णयों में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेकर अर्थशास्त्री समाज की आर्थिक समस्याओं के हल करने में सक्रिय रूप से भाग ले सकता है। प्रो. पीगू के कथनानुसार अर्थशास्त्र को प्रकाशदायक (light-bearing) होने के साथ-साथ फलदायक (fruit-bearing) भी होना चाहिए। एक निर्धन व्यक्ति को केवल इस बात से पूरा सतोष होगा कि अर्थशास्त्री उसकी गरीबी के कारणों की छानबीन कर रहा है, बल्कि वह तो यह चाहेगा कि अर्थशास्त्री उसकी गरीबी को दूर करने के लिए आवश्यक व शीघ्र उपाय बतलाये एव साथ में वह उसकी गरीबी मिटाने के सघर्ष में भी शामिल हो।

(5) सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र की वस्तुनिष्ठता (objectivity) में संदेह—प्राय यह दावा किया जाता है कि सैद्धातिक अर्थशास्त्र केवल तथ्यों व विश्लेषण पर ही टिका हुआ होता है। लेकिन कुछ अर्थशास्त्रियों ने वास्तविक अर्थशास्त्र की वास्तुनिष्ठता (objectivity) पर संदेह व्यक्त किया है। उनका कहना है कि अर्थशास्त्री की विचारधारा पर उसके सामाजिक वर्ग, सस्कृति व देश के आर्थिक विकास की अवस्था, आदि का निरन्तर प्रभाव पडता रहता है। पश्चिम में व्यक्तिवादी परम्परा के कारण उपभोक्ता की स्वतत्रता पर अधिक बल दिया गया है जबकि पूर्व में सोवियत सघ में साम्यवादी विचारधारा के कारण उपभोक्ता की स्वतत्रता सीमित रखी गयी थी।

सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र में वस्तुनिष्ठता को दो प्रकार से दबाया जाता है।[1] सर्वप्रथम, गुन्नार मिर्डल के अनुसार, तथ्यों व आकडों के चुनाव में पक्षपात किया जाता है। आय के वितरण के अध्ययन में पूजीवादी अर्थशास्त्री राष्ट्रीय आय में श्रम के भाग का विवेचन करते हैं, जबकि साम्यवादी अर्थशास्त्री अतिरिक्त मूल्य व शोषण पर अधिक ध्यान आकर्षित करते हैं। इस प्रकार सैद्धातिक विश्लेषण में पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण शुरू से ही निहित होता है। दिखाने के लिए तो कुछ अर्थशास्त्री विशुद्ध रूप से सैद्धान्तिक बने रहते हैं, लेकिन उनके मन में 'पक्षपात' बना रहता है।

---

1 देखिये The Structure of Economic Science 1956 में मार्टिन ब्रोनेनब्रेनर का लेख 'A middlebrow introduction to Economic Methodology', pp 11-12

सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र में वस्तुनिष्ठता कम होने का दूसरा कारण यह है कि इसमें प्रयुक्त होने वाले अनेक शब्द ऐसे होते हैं जो मूल्यभारित या मूल्यों से लदे हुए (value loaded) होते हैं, और विशेषज्ञ भी इनसे मुक्त नही होते हैं। 'कल्याण', 'कार्यकुशलता' उपयोगिता', 'उत्पादकता' आदि शब्द पूँजीवादी पक्ष की तरफ से प्रयुक्त किये जाते हैं और न्याय', 'समानता', 'प्रावैगिक', 'नियोजित', 'सस्थागत' आदि शब्द समाजवादी पक्ष की ओर से प्रयुक्त होते रहते हैं। अमरीका में जिसे 'आर्थिक स्वतत्रता' (economic freedom) कहते हैं, साम्यवादी देश में उसे 'शोषण की स्वतत्रता '(freedom to exploit) कहते हैं। साम्यवादी देश जिसे 'विवेकपूर्ण नियोजन'(rational planning) कहता है, उसे अमरीका 'गुलामी का मार्ग (road to serfdom) कहता है। इस प्रकार सैद्धातिक विश्लेषण में मूल्य तटस्थता की बात नितान्त भ्रामक, कल्पित व थोथी ही मानी जाएगी।

उपर्युक्त विवेचन से यह परिणाम निकलता है कि अर्थशास्त्र एक तरफ वास्तविक विज्ञान है तो दूसरी तरफ आदर्शात्मक विज्ञान भी है।

मिल्टन फ्रीडमैन का मत[1]

सैद्धान्तिक रूप से वास्तविक अर्थशास्त्र किसी भी नैतिक या आदर्शात्मक निर्णय से स्वतत्र होता है। उसका कार्य ऐसे नियम बनाना होता है जिनका उपयोग परिस्थितियों में परिवर्तनों के परिणामों के बारे में सही निष्कर्ष (*predictions*) निकालने में किया जा सके। इसकी सफलता की कसौटी यह होती है कि इसके निष्कर्ष व्यावहारिक अनुभवों से कहा तक मेल खाते हैं। सक्षेप में वास्तविक अर्थशास्त्र एक 'वस्तुनिष्ठ विज्ञान' (objective science) होता है अथवा हो सकता है, ठीक उसी अर्थ में जिसमें कि अन्य भौतिक विज्ञान होते हैं। फ्रीडमैन ने अर्थशास्त्र की वस्तुनिष्ठता के मार्ग में आने वाली कुछ कठिनाइया भी स्वीकार की हैं जो इस बात से उत्पन्न होती हैं कि अर्थशास्त्र में मनुष्यों के पारस्परिक सबध आते हैं और जाचकर्ता स्वय ही अर्थशास्त्र की विषय वस्तु बन जाता है।

दूसरी तरफ फ्रीडमैन का यह भी मानना है कि आदर्शात्मक अर्थशास्त्र और अर्थशास्त्र की कला वास्तविक अर्थशास्त्र से मुक्त या अलग नही हो सकते।[2] कोई भी नीति निर्णय एक ही जगह दूसरी चीज के परिणामों के बारे में निकाले गये निष्कर्षों पर आश्रित होता है। ये निष्कर्ष व्यक्त या अव्यक्त रूप में वास्तविक अर्थशास्त्र पर ही आधारित होते हैं।

2. क्या अर्थशास्त्र एक कला है ?

कला का आशय काम करने की विधि से लगाया जाता है। दूसरे शब्दों में, यह वास्तविक विज्ञान को आदर्शात्मक विज्ञान से मिलाने वाली एक आवश्यक कड़ी

1 Friedman 'The Methodology of *Positive Economics* in his book *Essays in Positive Economics*

2 Normative economics and the art of economics on the other hand cannot be independent of positive economics —Milton Friedman

होती है। 'क्या है' को 'क्या होना चाहिए' से जोड़ने के लिए 'कैसे होना चाहिए' का ज्ञान आवश्यक होता है। अत आर्थिक नीतियों के रूप में हमारे समक्ष अर्थशास्त्र की कला प्रस्तुत होती है। आधुनिक युग में अर्थशास्त्र के कला पक्ष का महत्व विकसित व विकासशील तथा पूजीवादी व समाजवादी सभी देशों में काफी बढ गया है। अर्थशास्त्रियों से यह आशा की जाती है कि वे विभिन्न आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करके उचित आर्थिक नीतिया सुझाकर आधुनिक सरकारों की मदद करें। यही कारण है कि आजकल अर्थशास्त्र व अर्थशास्त्रियों का सम्मान सर्वत्र बहुत बढा हुआ है, यह बात अलग है कि वे लोगों की आशाओं के अनुकूल काम करके बतला पाये हैं, अथवा नहीं। अत अर्थशास्त्र का कला पक्ष भी है और वह विज्ञान पक्ष से कम महत्वपूर्ण नहीं है। सच पूछा जाय तो दोनों पक्ष परस्पर आश्रित हैं।

यह निश्चित हो जाने के बाद कि वास्तविक अर्थशास्त्र, आदर्शात्मक अर्थशास्त्र और अर्थशास्त्र की कला तीनों ही पक्ष अपने-अपने ढग से सही हैं, अब हम आर्थिक विश्लेषण व आर्थिक नीति (वास्तविक अर्थशास्त्र व अर्थशास्त्र की कला) के सम्बन्ध को नीचे कुछ उदाहरणों सहित स्पष्ट करते हैं। इससे यह समझ में आ जायगा कि अर्थशास्त्र एक विज्ञान व कला दोनों हैं।

आर्थिक विश्लेषण व आर्थिक नीति

अर्थशास्त्र का विज्ञान पक्ष उसके कला पक्ष के समीप

आर्थिक विश्लेषण (Economic analysis) की सहायता से हम आर्थिक व्यवहार को समझने का प्रयास करते हैं ताकि हम उसको आवश्यकतानुसार बदल सकें। प्रत्येक देश में अनेक आर्थिक नीति सम्बन्धी निर्णय लिये जाते हैं। अर्थशास्त्री का यह कार्य होता है कि वह विभिन्न आर्थिक नीतियों के परिणामों की जाच करके यह बतलाये कि (i) क्या प्रस्तावित आर्थिक नीति प्रस्तावित उद्देश्य/उद्देश्यों को प्राप्त कर सकेगी ? (ii) आर्थिक नीति के अन्य परिणाम क्या होंगे ? (iii) क्या प्रस्तावित उद्देश्य अन्य वैकल्पिक आर्थिक नीतियों के उपयोग से प्राप्त नहीं किये जा सकते थे ? (iv) वर्तमान आर्थिक नीति की लागत (cost) अन्य आर्थिक नीतियों की लागत से अधिक होगी या कम ? इन प्रश्नों का वैज्ञानिक विश्लेषण करना आवश्यक माना गया है।

भारतीय परिस्थिति से दो उदाहरण

(1) बेरोजगारी दूर करने के लिए खादी, हथकरघा व शक्ति-करघा उद्योग को प्रोत्साहन देने की नीति—स्वर्गीय श्री चरणसिंह का यह मत रहा था कि यदि देशवासी खादी, हथकरघे व शक्ति-करघे के वस्त्रों का ही उपयोग करें तथा सूती वस्त्र मिलों में बने सम्पूर्ण वस्त्र का निर्यात कर दिया जाय, तो तीन वर्षों की अल्पावधि में ही देश में बेकारी की समस्या काफी सीमा तक हल हो जायगी, क्योंकि एक मिल-मजदूर वस्तुत 12 जुलाहों को बेकार कर देता है। देश की सूती वस्त्र मिलों में 8 9 लाख मजदूर रोजगार पाये हुए हैं, इसलिए खादी, हथकरघे व शक्ति करघे को प्रोत्साहन देने से निकट भविष्य में (तीन वर्षों में) एक करोड व्यक्तियों को काम दिया जा सकता है।

अर्थशास्त्रियों को इस प्रश्न के सैद्धान्तिक पक्ष पर विस्तार से विचार करना चाहिए। इस सम्बन्ध में यह देखा जाना चाहिए कि (i) क्या समस्त देशवासी अपना वस्त्र धारण का वर्तमान स्वरूप त्याग कर खादी, हथकरघा व शक्ति-करघा से बने वस्त्र धारण कर लेंगे ? इसकी व्यावहारिकता पर ध्यान दिया जाना चाहिए। (ii) सूती वस्त्र मिलों के वस्त्र का निर्यात कहा तक सम्भव हो सकेगा? इस सम्बन्ध में विभिन्न देशों के बाजारों में भारतीय सूती वस्त्र की माग की भावी सम्भावनाए क्या हैं ? (iii) क्या खादी व अन्य विकेन्द्रित क्षेत्रों में उत्पन्न वस्त्र की भी निर्यात माग है, उसकी भावी सम्भावनाए क्या हैं ? (iv) रोजगार बढाने के अन्य विकल्प क्या हैं ? उनकी लागत उपर्युक्त सुझाव की लागत से कम होगी या ज्यादा ? इस प्रकार आर्थिक नीति विस्तृत आर्थिक विश्लेषण पर टिकी होनी चाहिए तभी वह कारगर हो सकती है, अन्यथा नहीं। हमें समस्या के सभी समाधानों का विश्लेषण करके कोई अन्तिम राय कायम करनी चाहिए।

(2) देश के लिए स्थायी खाद्य नीति का निर्धारण—भारत में अभी तक खाद्य-नीति काफी ढिलमिल व अस्थायी किस्म की रही है। इसमें समय समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। 1973 में गेहू के थोक व्यापार को सरकारी हाथों में लेने की बात, 1974 में व्यापारियों पर लेवी, 1975 व 1976 में उत्पादकों पर लेवी तथा 1977 के बाद के वर्षों में वसूली मूल्यों को समर्थित मूल्यों में बदलने की नीति लागू की गयी है। अर्थशास्त्रियों को एक अधिक स्थायी खाद्य नीति के निर्धारण में सरकार को योगदान देना चाहिए। इसके लिए निम्नलिखित प्रश्नों का विवेचन करना आवश्यक माना जा सकता है—

(i) क्या खाद्यान्नों के अभाव तथा खाद्यान्नों के आधिक्य दोनों प्रकार के वर्षों के लिए एक ही खाद्य-नीति कारगर हो सकती है ? (ii) क्या सरकार खाद्यान्नों में सार्वजनिक वितरण की प्रणाली का विस्तार करे? (iii) खाद्यान्नों के वसूली मूल्यों, *न्यूनतम समर्थित मूल्यों व राशन की दुकानों पर खुदरा बिक्री मूल्यों (retail prices* at ration shops) में परस्पर सम्बन्ध क्या हों ? (iv) खाद्यान्नों पर दी जाने वाली *आर्थिक सहायता (food subsidy) का भार कैसे कम किया जाय ?* (v) यदि खाद्यान्नों का वितरण पूर्णतया निजी व्यापारियों पर छोड दिया जाय जो उत्पादकों व उपभोक्ताओं पर क्या प्रभाव पडेंगे? (vi) *खाद्यान्नों की वसूली, आयात व देश में वितरण की सही* नीति क्या होनी चाहिए? (vii) क्या खाद्यान्नों की सार्वजनिक खरीद का कोई विकल्प हो सकता है ?

अत स्पष्ट है कि सही व उपयोगी आर्थिक नीतियों के निर्धारण में विस्तृत आर्थिक विश्लेषण की आवश्यकता पडती है। हमें समस्या के प्रत्येक पहलू पर बारीकी से अध्ययन करके किसी परिणाम पर पहुँचना चाहिए, तभी लाभप्रद व कल्याणकारी नीति का निर्माण सम्भव हो सकेगा।

आधुनिक युग में अर्थशास्त्री के लिए जाच का काम काफी बढ गया है। कभी कभी दो या अधिक उद्देश्य एक साथ प्रस्तुत कर दिये जाते हैं, जिनमें परस्पर विरोध भी हो सकता है, जैसे भारत में एक ओर आर्थिक विकास की दर को तेज करना और दूसरी ओर रोजगार को बढाना। यदि हम आर्थिक विकास की गति को बढाने के लिए पूजी गहन विधियों का उपयोग करने लगते हैं तो उससे *अधिकतम रोजगार के*

लक्ष्य पर विपरीत प्रभाव पड़ता है, और यदि अधिकतम रोजगार प्राप्त करने के लिए श्रम-गहन विधियों का प्रयोग करने लगते हैं तो आर्थिक विकास की गति के धीमा पड़ने का भय उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार विभिन्न आर्थिक उद्देश्यों के परिणामों की परस्पर तुलना करना भी आवश्यक हो गया है। लेकिन यदि कभी आर्थिक विकास की तेज गति व अधिकतम रोजगार के उद्देश्यों में से चुनाव करना पड़े, तो सम्भवत अर्थशास्त्र के बाहर से मूल्य-सम्बन्धी निर्णयों (value-judgments) की सहायता लेनी पड़ेगी और सम्भवत अधिकतम रोजगार का लक्ष्य (मानवीय कारणों के आधार पर) पसद किया जाएगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्थशास्त्री आर्थिक विश्लेषण के उपकरणों (tools) का उपयोग आर्थिक नीति के परिणामों की जाच करने में करते हैं। उन्हें अपने उपकरणों व विधियों में निरन्तर सुधार करते रहना चाहिए। डॉ. के. एन्. राज का मत है कि बौद्धिक ईमानदारी का तकाजा है कि अर्थशास्त्रियों को उन मान्यताओ (assumptions) को स्पष्ट रूप से व्यक्त करना चाहिए जिनके आधार पर उनके नीति-सम्बन्धी निर्णय व कार्यक्रम टिके हुए है। उन्हे यह भी बतलाना चाहिए कि उन्होंने वे मान्यताए क्यो स्वीकार की है और वे मान्यताए अन्य मान्यताओ से किन अर्थो मे बेहतर हैं ? उनको सुनिश्चित रूप से यह भी बतलाना चाहिए कि ऐसी नीतियों व कार्यक्रमों को लागू करने के लिए उनके पास कौन से उपाय है, क्योंकि इससे भी काफी मदद मिलेगी।[1]

इस प्रकार आर्थिक विश्लेषण व आर्थिक नीति दोनों में गहरा सम्बन्ध पाया जाता है, अथवा दूसरे शब्दों में, अर्थशास्त्र के विज्ञान-पक्ष व इसके कला पक्ष में सम्बन्ध पाया जाता है। दोनों का अपनी-अपनी जगह काफी महत्व है।

3. अर्थशास्त्र की सीमाएँ
(Limitations of Economics)

अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री व इसकी प्रकृति का विवेचन करने के बाद हम इसकी सीमाओं का उल्लेख करते हैं।

परम्परागत विवेचन में अर्थशास्त्र की परिभाषा का इसकी सीमाओं के निर्धारण पर प्रभाव देखा जाता है। प्रो मार्शल व पीगू ने अर्थशास्त्र के अध्ययन में मानव के भौतिक कल्याण को बढाने पर बल दिया था। लेकिन प्रो रोबिन्स ने अर्थशास्त्र में मानवीय क्रिया के चुनाव करने व निर्णय लेने के पक्ष को शामिल किया है। अत

1 'It is however essential in the interests of clarity and intellectual honesty that economists state clearly the assumptions on which one set of policies and programmes is advanced in preference to another and the reasons for making these assumptions It will also help if they state precisely what instruments they have in mind for the execution of such policies and programmes.'—K.N Raj Presidential Address to Indian Economic Association printed in IEJ January-March 1973 p 362

इनका सक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है

(1) चलराशिया (Variables)—प्रत्येक आर्थिक नियम या सिद्धान्त में कुछ चलराशिया होती हैं जो बदलती रहती हैं। जैसे *माग के नियम में वस्तु की कीमत* व वस्तु की माग की मात्रा नामक दो चलराशिया होती हैं।

(2) मान्यताए (Assumptions)—प्रत्येक सिद्धान्त में अन्य बातों को समान *मान लिया जाता है इन्हें सिद्धान्त की मान्यताए कहा जाता है* जैसे माग के नियम में उपभोक्ता की आमदनी रुचि जनसख्या अन्य वस्तुओं की कीमतों आदि को स्थिर मानकर केवल एक वस्तु की कीमत के परिवर्तन का प्रभाव उसकी माग की मात्रा पर देखा जाता है।

(3) परिकल्पना (Hypothesis)—इसमें चलराशियों का एक दूसरे से सम्बन्ध बतलाया जाता है। जैसे कीमत के घटने पर माग की मात्रा बढती है—यह विपरीत सम्बन्ध माग के नियम की परिकल्पना कहलाता है।

(4) निष्कर्ष या भविष्यवाणी (Prediction)—अन्त में हम वास्तविक जगत में कीमत के घटने का प्रभाव माग की मात्रा पर बतलाते हैं। जैसे रगीन टीवी की कीमत के घटने पर इनकी माग बढती है।

इस प्रकार अर्थशास्त्र के नियमो को बनाने मे चलराशियों, मान्यताओं, परिकल्पनाओं व निष्कर्षों का योगदान होता है।

आर्थिक नियमो की प्रकृति
(Nature of Economic Laws or Economic Generalisations)

अन्य विज्ञानों की भाति अर्थशास्त्र के भी अपने नियम या सिद्धान्त होते हैं। इनमें कारण परिणाम सम्बन्ध (cause and effect relationships) स्थापित किये जाते हैं। हम आगे चलकर देखेंगे कि *अर्थशास्त्र में तर्क विधि या निगमन विधि (deductive method)* एव तथ्य विधि या आगमन विधि (inductive method) का व्यापक रूप से उपयोग होता है और आर्थिक नियम (economic laws or principles or theories or generalisations) स्थापित किये जाते हैं। अन्य विज्ञानों में (भौतिक विज्ञानों सहित) भी अध्ययन की इन विधियों का उपयोग करके नियम बनाये जाते हैं। अत जहा तक नियमो को बनाने की विधि का प्रश्न है अर्थशास्त्र भी वैज्ञानिक विधियों का ही प्रयोग करता है। यह बात अलग है कि अपनी विषय सामग्री की भिन्नता के कारण *अर्थशास्त्र के नियम उतने सुनिश्चित नहीं होते जितने कि प्राकृतिक विज्ञानों के नियम होते हैं।* अर्थशास्त्र मानवीय व्यवहार का अध्ययन करता है जिस पर अनेक तत्वों का प्रभाव एक साथ पडता रहता है और उस पर नियन्त्रित प्रयोग (controlled experiments) भी नही हो पाते हैं। प्राकृतिक विज्ञानों में प्रयोगशालाओं में नियन्त्रित प्रयोग सुगम होते हैं। इसलिए प्राकृतिक विज्ञानों को विशेष किस्म की सुविधा मिलने से उनके नियम यदि अधिक सुनिश्चित हों तो उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं होनी चाहिए।

आर्थिक नियमों के पीछे 'अन्य बातें पूर्ववत्' (other things remaining the same) की शर्त लगी रहती है। जैसा कि पहले बतलाया गया है, माग का नियम बतलाता है कि अन्य बातों के यथास्थिर रहने पर (जैसे उपभोक्ता की रुचि अरुचि, जनसख्या, आमदनी, अन्य सम्बद्ध वस्तुओं के मूल्य आदि), एक वस्तु की कीमत के घटने पर उसकी माग की मात्रा बढेगी एव उसकी कीमत के बढने पर उसकी माग की मात्रा घटेगी। इस प्रकार माग का नियम केवल एक वस्तु की कीमत के परिवर्तन का प्रभाव उसकी माग की मात्रा पर बतलाता है। इस सम्बन्ध में (i) माग पर प्रभाव डालने वाले अन्य तत्वों की क्रियाशीलता बन्द कर दी जाती है, (ii) यह वस्तु की कीमत के परिवर्तन का प्रभाव माग के परिवर्तन की 'दिशा' (direction) पर ही बतलाता है। इस प्रकार आर्थिक नियमों के पीछे कई प्रकार की मान्यताए होती हैं। फिर भी अर्थशास्त्री वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग करके आर्थिक नियमों के निर्माण में निरन्तर सलग्न रहते हैं। यदि कहीं कोई कमी या कमजोरी है तो उनकी विषय-वस्तु में है, अध्ययन करने की विधियों या पद्धतियों में नहीं। आजकल अर्थशास्त्र में गणित व साख्यिकी के बढते हुए प्रयोग ने इस विषय को अधिक सुनिश्चितता प्रदान की है। किसी भी कार्य के परिणामों को मापने की दिशा में पहले से अधिक प्रगति हुई है और आर्थिक नियम अधिक वैज्ञानिक होने का दावा करने लगे हैं।

आर्थिक नियमो के सम्बन्ध मे प्रोफेसर मार्शल के विचार

मार्शल ने आर्थिक नियमों को आर्थिक प्रवृत्तियों (economic tendencies) का सूचक मात्र माना है। उसके शब्दों में, 'इस प्रकार सामाजिक विज्ञान का नियम अथवा एक सामाजिक नियम सामाजिक प्रवृत्तियों का कथन होता है, अर्थात् यह इस बात का कथन होता है कि कुछ दशाओं में एक सामाजिक समूह के सदस्यों से एक विशेष प्रकार के कार्य (action) की आशा की जा सकती है।

आर्थिक नियम, अथवा आर्थिक प्रवृत्तियों के कथन वे सामाजिक नियम होते हैं जिनका आचरण की उन शाखाओं के सम्बन्ध होता है जिनमें मुख्य प्रयोजनों की शक्ति का माप मुद्रा कीमत (money price) के द्वारा किया जा सकता है।'[1] मार्शल ने आगे चलकर कहा है कि 'दी हुई दशाओं में एक औद्योगिक समूह के सदस्यो के द्वारा जिस प्रकार के कार्य (course of action) की आशा की जा सकती है, वह उस समूह के सदस्यों का उन परिस्थितियों मे सामान्य कार्य (normal action) होता है।

आर्थिक नियम कल्पनामूलक (Hypothetical) – मार्शल के अनुसार, 'अर्थशास्त्र के नियम कल्पनामूलक (hypothetical) उसी अर्थ में होते हैं जिसमें कि भौतिक विज्ञानों के नियम होते हैं, क्योंकि उन नियमों में भी कुछ दशाए (conditions) दी हुई होती

1 Thus a law of Social Science or Social Law is a statement of social tendencies that is a statement that a certain course of action may be expected under certain conditions from the members of a social group Economic laws or statements of economic tendencies are those social laws which relate to branches of conduct in which the strength of the motives chiefly concerned can be measured by a money price —Marshall Principles of Economics 1920 p 27

है। लेकिन भौतिकशास्त्र की अपेक्षा अर्थशास्त्र में उन दशाओं को स्पष्ट करना अधिक कठिन होता है और स्पष्ट न करने से हानि का खतरा भी अधिक होता है। मानवीय क्रिया के नियम उतने सरल उतने सुनिश्चित अथवा उतने स्पष्ट क्रम से जानने लायक (ascertainable) नही होते जितना कि गुरुत्वाकर्षण का नियम होता है, लेकिन इसमें से कई नियम उन प्राकृतिक विज्ञानों के नियमों के साथ रखे जा सकते हैं जिनकी विषय सामग्री पेचीदा होती है।'

उपर्युक्त कथन मे मार्शल ने *आर्थिक नियमों* के सम्बन्ध में निम्न बातों पर ध्यान आकर्षित किया है—

(1) आर्थिक नियमों की दशाओं को स्पष्ट करना अधिक कठिन होता है।

(2) स्पष्ट न करने से खतरा भी अधिक होता है क्योंकि नियम का दुरुपयोग हो सकता है। नासमझ व्यक्ति नियम का गलत अर्थ भी निकाल बैठते हैं।

(3) आर्थिक नियम उतने सरल व सुनिश्चित नही होते जितना गुरुत्वाकर्षण का नियम होता है।

(4) *अर्थशास्त्र में कुछ नियम प्राकृतिक नियमों की भांति ही सुनिश्चित हो सकते हैं।*

आर्थिक नियमों के सम्बन्ध में मार्शल ने एक अन्य स्थान पर अपने विचार ज्यादा प्रभावपूर्ण व स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किये हैं। ये इस प्रकार हैं **'*अर्थशास्त्र के नियमों की तुलना गुरुत्वाकर्षण के सरल व सुनिश्चित नियम से करने के बजाय* ज्वार भाटे के नियमों से की जा सकती है। इसका कारण यह है कि मानव के कार्यकलाप इतने विविध व *अनिश्चित* होते हैं कि मानवीय *आचरण* के विज्ञान में हम प्रवृत्तियों (tendencies) के बारे में जो सर्वश्रेष्ठ कथन प्रस्तुत कर सकते हैं वे अनिवार्यतः कम निश्चित व दोषयुक्त होते हैं।'**

उपर्युक्त कथन में मार्शल ने अर्थशास्त्र के नियमों को ज्वार भाटे के नियमों के समकक्ष रखा है जो इतने निश्चित नही होते जितना कि गुरुत्वाकर्षण का नियम होता है। समुद्र में ज्वार की तीव्रता कई कारणों से घट बढ सकती है। हो सकता है कि ज्वार थोड़े समय के पूर्व या पश्चात् आ जाये और थोड़ा जल्दी या देर से चला जाये। इसी तरह की थोड़ी अनिश्चितता अर्थशास्त्र के नियमों में भी पायी जा सकती है। लेकिन गुरुत्वाकर्षण का नियम अधिक निश्चित व ठोस होता है। किसी भी भारी वस्तु को ऊपर की ओर फेंके जाने पर वह नीचे ही गिरेगी। अर्थशास्त्र के नियम इतने सुनिश्चित नहीं होते हैं। आखिर इसकी विषय सामग्री मानवीय आचरण है जो काफी अस्थिर, चंचल व परिवर्तनशील होता है। मनुष्य संवेदनशील (sensitive) प्राणी होता है। इसलिए उसके व्यवहार को पूर्णतया बाधा नहीं जा सकता। **फिर भी *मार्शल* का मत है कि जिस प्रकार रसायनशास्त्री की सही व सुन्दर तुला (fine balance) ने रसायनशास्त्र को अधिकतर भौतिक विज्ञानों में अधिक *सुनिश्चित* बनाया है, उसी प्रकार अर्थशास्त्री की तुला (मुद्रा) ने अर्थशास्त्र को सामाजिक विज्ञान की किसी भी अन्य शाखा की तुलना में अधिक सुनिश्चित बनाया है, चाहे यह तुला स्वयं कितनी ही अपूर्ण व अपर्याप्त किस्म की क्यों न हो।**

आर्थिक नियमों के सम्बन्ध में रोबिन्स के विचार[1]

(1) मूल्य-सिद्धान्त का आधार सही—रोबिन्स ने मूल्य के सामान्य सिद्धान्त के आधार को सही बतलाया है। मूल्य सिद्धान्त इस मान्यता पर टिका हुआ है कि एक व्यक्ति के लिये विभिन्न वस्तुए एक सा महत्व नही रखती हैं और वे इसी वजह से एक निश्चित क्रम म ऊँचाई जा सकती हैं। इस साधारण अनुभव के आधार पर ही हम विभिन्न वस्तुओं की स्थानापन्नता का विचार एक वस्तु की माग अन्य वस्तुओं के माध्यम से, विभिन्न उपयोगो में वस्तुओं का सतुलित वितरण विनिमय सन्तुलन व मूल्यों का निर्माण आदि के विचार भी निकाल सकते हैं।

मूल्य सिद्धान्त के पीछे ह्रासमान प्रतिफल का नियम (Law of Diminishing Returns) पाया जाता है।

यह नियम भी इस तथ्य पर टिका हुआ है कि उत्पादन के विभिन्न साधन एक दूसरे के अपूर्ण स्थानापन्न (imperfect substitutes) होते हैं। श्रम का काम पूजी व पूजी का काम भूमि पूर्णतया नही कर सकते। यदि ये ऐसा कर सकते तो उत्पादन के क्षेत्र में ह्रासमान प्रतिफल का नियम लागू नही होता। **विभिन्न उत्पादन के साधन एक-दूसरे के अपूर्ण प्रतिस्थापन होते है। यदि भूमि का काम अन्य साधन कर लेते तो दुनिया में सारा अनाज एक एकड़ भूमि पर ही पैदा कर लिया जाता।**

इस प्रकार रोबिन्स के अनुसार, आर्थिक सिद्धान्त ऐसी मान्यताओं व परिकल्पनाओं पर आधारित हैं जो अनुभव के निर्विवाद तथ्यों से सम्बन्ध रखती हैं।

(2) आर्थिक नियम परिस्थिति सापेक्ष नहीं होते—इसके अतिरिक्त रोबिन्स ने आर्थिक नियमों को परिस्थिति सापेक्ष (historico relative) नहीं माना है। उनका मत है कि अर्थशास्त्र की प्रमुख मान्यताए इतिहास सापेक्ष नही होती हैं, अर्थात् वे परिस्थिति विशेष पर आश्रित नही होती हैं। अत अर्थशास्त्र के नियम विभिन्न समयों, स्थानों व परिस्थितियों में लागू होते हैं। अर्थशास्त्र के नियम जिन प्रमुख मान्यताओं पर आधारित हैं वे काफी सच्ची होती हैं, लेकिन साथ मे आवश्यकतानुसार कुछ सहायक मान्यताओं को भी लिया जा सकता है। इस प्रकार रोबिन्स ने उन मान्यताओं को सबल सुदृढ और अनुभवाश्रित बतलाया है जिन पर आर्थिक नियमों का महत्व टिका हुआ है।

अर्थशास्त्र के नियमों की प्रकृति

आर्थिक नियमों के सम्बन्ध में मार्शल व रोबिन्स के विचार प्रस्तुत करने के बाद अब हम इनकी प्रकृति व विशेषताओं का उल्लेख करते हैं—

(1) अर्थशास्त्र के नियम काल्पनिक होते है (Economic laws are hypothetical)—इसका अर्थ यह है कि अर्थशास्त्र के नियम कई प्रकार की मान्यताओं (assumptions) पर आधारित होते हैं। इनमें कई शर्तों को मानकर विश्लेषण किया जाता है। जैसे उत्पत्ति ह्रास नियम में हम 'टेक्नोलोजी' को स्थिर मान लेते हैं, अर्थात्

1 L.Robbins An Essay on the Nature and Significence of Economic Science Chapters IV and V

उत्पादन की विधि में परिवर्तन नही करते। यदि हल बैल की सहायता से परम्परागत किस्म की खेती की जाती है तो वही प्रणाली जारी रखी जाती है। उसके स्थान पर ट्रैक्टर की खेती लागू नहीं की जाती अन्यथा वह टेक्नोलोजी का परिवर्तन माना जाएगा। फिर एक उत्पादन का साधन (जैसे भूमि) स्थिर रखकर अन्य साधनों की इकाइयां क्रमशः बढाई जाती हैं जिसमें एक सीमा के बाद उत्पत्ति ह्रास नियम लागू हो जाता है।

अन्य बातों को स्थिर मान कर आर्थिक नियम बनाने से वे अवैज्ञानिक या निरर्थक नहीं हो जाते। सच पूछा जाये तो भौतिक विज्ञान के नियम भी कुछ मान्यताओं पर टिके होते है जैसे रसायनशास्त्र के इस नियम को लीजिये जिसके अनुसार दो भाग हाइड्रोजन व एक भाग ऑक्सीजन मिलाने से जल बनता है। यह नियम भी तापक्रम व दबाव की कुछ दशाओं को मानकर चलता है। इसी प्रकार गुरुत्वाकर्षण का नियम (law of gravitation) यह बतलाता है कि कोई भी वस्तु ऊपर की ओर फेंके जाने पर नीचे आकर गिरती है *क्योंकि पृथ्वी में अपनी ओर खींचने की शक्ति होती है।* लेकिन यहाँ यह भी मान लिया गया है कि कोई विरोधी या विपरीत शक्ति वस्तु के गिरने में बाधा न डाले अन्यथा यह नियम भी लागू नहीं होता। हवाईजहाज, पक्षी, गुब्बारा आदि आसमान में उडते रहते हैं और जमीन पर नही गिरते, क्योंकि कुछ विपरीत शक्तियां इन्हें भूमि पर गिरने नही देती।

अतः मान्यताओं पर आधारित होना आर्थिक नियमों की कमजोरी नहीं है, यह तो वैज्ञानिक विधि का एक अंग है।

(2) आर्थिक नियम सापेक्ष प्रकृति के होते हैं (Economic laws are relative in nature)—हम ऊपर बतला चुके है कि रोबिन्स के अनुसार अर्थशास्त्र के कुछ नियम सभी देशों, सभी समयों व सभी परिस्थितियों में लागू होते हैं, जैसे *मांग का नियम*, उपयोगिता ह्रास नियम, उत्पत्ति ह्रास नियम आदि। लेकिन कुछ नियम विशेष प्रकार की सामाजिक व संस्थागत दशाओं में ही लागू होते हैं। कुछ नियम पूंजीवादी देशों में लागू होते हैं तो कुछ साम्यवादी देशों में। कुछ विकसित देशों में लागू होते है तो कुछ विकासशील देशों में। उदाहरण के लिये कीन्स ने बतलाया था कि विकसित देशों में (पूंजीवादी या निजी उद्यम की अर्थव्यवस्था पर आधारित) बेरोजगारी की स्थिति मांग की कमी (lack of demand) से उत्पन्न होती है, लेकिन भारत जैसे विकासशील देशों में यह प्रमुखतया पूंजी की कमी (lack of capital) से उत्पन्न होती है, क्योंकि श्रमिकों को काम देने के लिये पर्याप्त मात्रा में मशीनें व कारखाने नही पाये जाते अर्थात् पूंजी का अभाव पाया जाता है।

इसी प्रकार पिछडे देशों में श्रम का मांग वक्र पीछे की ओर मुडने वाला (backward bending) होता है, अर्थात् एक सीमा के बाद, वास्तविक मजदूरी के बढने पर श्रम की पूर्ति घट जाती है, क्योंकि कम आवश्यकताओं के कारण लोग विश्राम पसन्द करने लगते हैं। विकसित देशों में प्रायः श्रम का पूर्ति वक्र ऊपर की ओर उठता हुआ (sloping upward) ही होता है। इस प्रकार विकसित देशों के सारे आर्थिक नियम विकासशील देशों पर लागू नहीं होते। इसीलिए आजकल यह कहना एक प्रकार का फैशन हो गया है कि अमुक सिद्धान्त तो पाश्चात्य देशों की विशेष परिस्थितियों में

बना था, अत इसकी पिछडे देशों में कोई सार्थकता नहीं है। इसमे कोई सन्देह नही कि एक सिद्धान्त का लागू होना उस देश की सामाजिक व राजनीतिक परिस्थितियों से भी जुडा होता है।

(3) **आर्थिक नियम कम निश्चित होते है (Economic laws are less exact)**—आर्थिक नियम भौतिक विज्ञानों के नियम से कम निश्चित, लेकिन अन्य सामाजिक विज्ञानों के नियमों से अधिक निश्चित माने गए हैं। इसका कारण यह है कि अर्थशास्त्र का मानवीय आचरण से सम्बन्ध होता है जो काफी चचल, अनिश्चित व जटिल किस्म का होता है। उस पर नियत्रित किस्म के प्रयोग नही हो सकते। लेकिन मुद्रा का माप दण्ड होने से आर्थिक नियम अन्य सामाजिक विज्ञानों के नियमा से अधिक निश्चित हो पाये हैं।

मार्शल का यह कथन काफी सारगर्भित प्रतीत होता है कि आर्थिक नियमो की तुलना गुरुत्वाकर्षण के नियम मे न की जाकर ज्वार भाटे के नियमों से की जानी चाहिए। इसका कारण यह है कि ज्वार भाटे की गति व आने जाने पर हवा, मौसम, वर्षा, तूफान आदि का प्रभाव पडने से इनमें कम निश्चितता पाई जाती है। अर्थशास्त्र के नियम भी बहुत कुछ ज्वार भाटे के नियमों की भाँति ही होते हैं। लेकिन इसके लिए यह विषय ही जिम्मेदार है। आजकल गणित व साख्यिकी के बढते हुए प्रयोग से अर्थशास्त्र का स्तर भी काफी ऊचा हो गया है। आशा है भविष्य में आर्थिक नियम अधिक सम्मानजनक स्थिति (respectable position)में पहुच जाएगे।

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है डॉ के एन राज के अनुसार अर्थशास्त्रियों में नीति सम्बन्धी मतभेद ज्यादातर मान्यताओं के अन्तर से पैदा होते हैं। इसलिए उन्हें अपनी मान्यताओं को स्पष्ट करना चाहिए तथा यह बतलाना चाहिए कि उनकी मान्यताए अन्य लोगों की मान्यताओं से अधिक श्रेष्ठ कैसे हैं ?

प्रश्न

1 निम्नलिखित पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

(i) अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान के रूप में

(ii) अर्थशास्त्र एक आदर्शात्मक विज्ञान के रूप में

(iii) अर्थशास्त्र की प्रकृति व क्षेत्र

2 'अर्थशास्त्री का कार्य केवल व्याख्या और खोज करना ही नहीं है, वरन् समर्थन तथा निन्दा करना भी है।' इस कथन की व्याख्या कीजिये।

3 'अर्थशास्त्र के नियमों की तुलना ज्वार भाटे के नियमों के साथ की जा सकती है, न कि सरल और निश्चित गुरुत्वाकर्षण के नियम के साथ।' (मार्शल) इस कथन को भली प्रकार समझाइये।

□□□

2

आर्थिक विश्लेषण की शाखाएँ : व्यष्टि-अर्थशास्त्र व समष्टि-अर्थशास्त्र*

(Branches of Economic Analysis : Microeconomics and Macroeconomics)

व्यष्टि-अर्थशास्त्र का अर्थ

आर्थिक विश्लेषण की दो प्रमुख शाखाएँ हैं—एक तो व्यष्टि अर्थशास्त्र और दूसरी समष्टि अर्थशास्त्र। सर्वप्रथम रेग्नर फ्रिश (Ragnar Frisch) ने 1933 मे व्यष्टि-अर्थशास्त्र (micro economics) व समष्टि-अर्थशास्त्र (macro-economics) शब्दो का प्रयोग किया था। व्यष्टि अर्थशास्त्र में एक व्यक्तिगत आर्थिक इकाई जैसे, परिवार उपभोक्ता, फर्म, उद्योग आदि के आर्थिक व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। व्यष्टि अर्थशास्त्र को प्राय कीमत सिद्धान्त (price theory) भी कहकर पुकारते हैं। 'micro' शब्द ग्रीक शब्द 'mikros' से बना है जिसका अर्थ है छोटा। इसमे इन प्रश्नों का अध्ययन किया जाता है, जैसे एक उपभोक्ता वस्तुओं की दी हुई कीमतों एव दी हुई आमदनी से किस प्रकार अधिकतम सन्तोष प्राप्त करता है? एक फर्म वस्तु की दी हुई कीमत पर कितना उत्पादन करेगी, एक उद्योग में वस्तु की कीमत कैसे निर्धारित होगी, वस्तु की सापेक्ष कीमतें (relative prices of commodities) कैसे निर्धारित होंगी, उत्पादन के साधनों का प्रतिफल (आय का वितरण) कैसे निर्धारित होगा, विभिन्न उपयोगों में उत्पादन के साधनों का आवटन कैसे होगा? इस प्रकार व्यष्टि अर्थशास्त्र मे कुल उत्पादन की बनावट (composition) और आवटन (allocation)को स्पष्ट किया जाता है। दूसरे शब्दों में, इसमें यह बतलाया जाता है कि कुल उत्पत्ति का विभिन्न उद्योगों, फर्मों व वस्तुओं में विभाजन कैसे होता है और साधनों का आवटन विभिन्न प्रतियोगी उपयोगों में किस प्रकार होता है।

---

* व्यष्टि अर्थशास्त्र के लिए व्यष्टिमूलक अर्थशास्त्र, व्यक्तिगत अर्थशास्त्र, सूक्ष्म अर्थशास्त्र या इकाई अर्थशास्त्र और समष्टि अर्थशास्त्र के लिए समष्टिमूलक अर्थशास्त्र समष्टिगत अर्थशास्त्र व्यापक अर्थशास्त्र या समग्र अर्थशास्त्र शब्द भी प्रयुक्त किये जाते हैं।

यहा इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि व्यष्टि अर्थशास्त्र मे भी कुछ सीमा तक समष्टि या योग (aggregation) का विचार आता है, जैसे बाजार माग वक्र (market demand curve) व्यक्तिगत माग वक्रों (individual demand curves) का योग ही होता है। एक उद्योग भी उसमे पायी जाने वाली विभिन्न फर्मों का समूह होता है। इस प्रकार व्यष्टि अर्थशास्त्र में जिस लघु इकाई की चर्चा की जाती है वह भी कुछ इकाइयों का योग या समूह हो सकती है। लेकिन ध्यान रहे कि वह समूह अपने क्षेत्र में सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था (entire economy) को शामिल नही करता, अन्यथा वह समष्टि अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे प्रवेश कर जाता है। हैंडरसन व क्वाट के मतानुसार, 'व्यष्टि-अर्थशास्त्र व्यक्तियों व व्यक्तियों के ठीक से परिभाषित समूहों की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन होता है।'[1]

व्यष्टि अर्थशास्त्र में दिये हुए साधनो का विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में आवटन दर्शाया जाता है। इसमे विभिन्न वस्तुओं के मूल्य निर्धारण व उत्पादन के विभिन्न साधनों के मूल्य निर्धारण की चर्चा की जाती है। व्यष्टि-अर्थशास्त्र में निम्न विषय शामिल होते हैं—

व्यष्टि-अर्थशास्त्र के सिद्धान्त
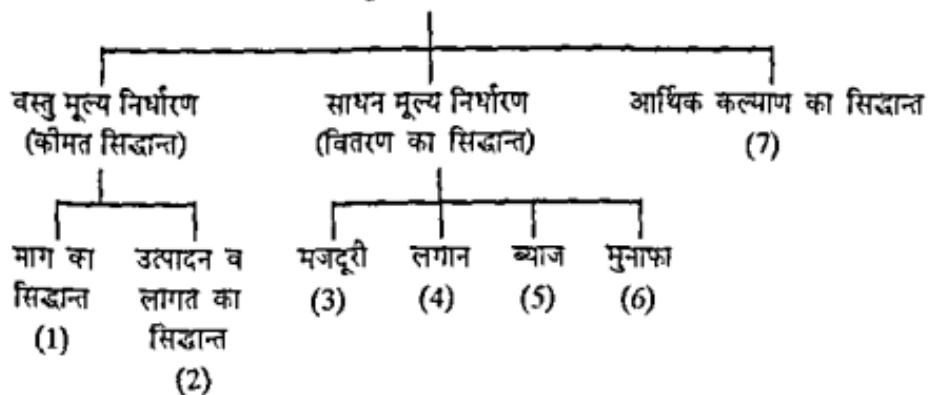
स्मरण रहे कि व्यष्टि-अर्थशास्त्र मे एक तरफ व्यक्तिगत वस्तओं व व्यक्तिगत बाजारों के सन्तुलन का अध्ययन किया जाता है तो दूसरी तरफ सामूहिक सतुलन का भी अध्ययन किया जाता है जिसके अन्तर्गत विभिन्न वस्तुओं के बाजार, विभिन्न साधनों के बाजार व मुद्रा तथा पूजी बाजार परस्पर निर्भर होते है, तथा आपस मे समायोजन करते हुए सामूहिक अथवा सामान्य सन्तुलन की स्थिति उत्पन्न करते हैं। अत व्यष्टि आर्थिक सिद्धान्त सन्तुलन की स्थिति से सम्बन्धित होता है। इसमें सापेक्ष कीमतों (relative prices) का अध्ययन किया जाता है, न कि सामान्य कीमत स्तर (general price level) का। इसमें राष्ट्रीय आय का वितरण मजदूरी, लगान, ब्याज व लाभ के निर्धारण के रूप में देखा जाता है एव आर्थिक कल्याण का अध्ययन किया जाता है।

---

1 Like most other disciplines economics is divided into branches snd sub branches The major branches are micro-economics which is the study

समष्टि-अर्थशास्त्र का अर्थ

समष्टि अर्थशास्त्र में सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित समूहों जैसे राष्ट्रीय आय, राष्ट्रीय बचत राष्ट्रीय विनियोग, कुल रोजगार, कुल उत्पत्ति सामान्य कीमत स्तर(general price level), आर्थिक विकास, आर्थिक विकास में उतार चढाव आदि का अध्ययन किया जाता है। इसमें बैंकों, वित्तीय संस्थाओं तथा सरकारी संस्थाओं के आर्थिक कार्य कलापों का अध्ययन शामिल होता है।

गार्डनर ऐक्ले के शब्दों में, 'समष्टि अर्थशास्त्र आर्थिक विषयों पर 'व्यापक रूप' से विचार करता है। इसका सम्बन्ध आर्थिक जीवन के सम्पूर्ण विस्तार या आयाम (dimension) से होता है। यह व्यक्तिगत अंगों के कार्य संचालन या पहचान या विस्तार की अपेक्षा आर्थिक अनुभव के विशाल रूप या 'हाथी' के कुल आकार व शक्ल और संचालन का अध्ययन करता है। रूपक को बदलने पर, हम कह सकते हैं कि यह वन की प्रकृति का अध्ययन करता है, न कि उन पेड़ो का जो इसका निर्माण करते है।'[1] इसे समग्र अर्थशास्त्र (aggregative economics) भी कहते हैं।

केनेथ ई बोल्डिंग के अनुसार, 'अर्थशास्त्र का यह भाग, जिसमें अर्थव्यवस्था के समग्र औसतों तथा समग्रों का अध्ययन किया जाता है, बहुधा 'समष्टि अर्थशास्त्र' कहलाता है। इसका प्राय व्यष्टि अर्थशास्त्र से भेद किया जाता है जिसमें विशिष्ट फर्मों, कीमतों, उत्पादनों आमदनियो व व्ययों का अध्ययन किया जाता है।'

जे एम कीन्स ने समष्टि अर्थशास्त्र के विकास में काफी योगदान दिया था। माइकल केलेक्सी व निकोलस केल्डॉर ने वितरण का समष्टिगत सिद्धान्त विकसित किया। केलेस्की ने राष्ट्रीय आय में मजदूरी व लाभ के सापेक्ष हिस्सों पर अर्थव्यवस्था में एकाधिकार के अश का प्रभाव बतलाया, जबकि केल्डॉर ने इन पर उपभोग की प्रवृत्ति व विनियोग की दर का प्रभाव बतलाया।

समष्टि अर्थशास्त्र में शामिल होने वाले विषयों का अनुमान निम्न चार्ट से लगाया जा सकता है

समष्टि अर्थशास्त्र के सिद्धान्त

आय व रोजगार का सिद्धात (1)	सामान्य कीमत स्तर का सिद्धात (2)	आर्थिक विकास का सिद्धात (3)	वितरण का समष्टिगत सिद्धात (मजदूरी व लाभ के सापेक्ष अश) (4)

1 Macroeconomics deals with economic affairs 'in the large' It concerns the overall dimensions of economic life It looks at the total size and shape and functioning of the *elephant of economic experience* rather than the working or articulation of dimensions of the individual parts To alter the *metaphor* it studies the character of the forest independently of the tree which compose it —Gardner Ackley Macroeconomic Theory p 4

मुद्रा, राजस्व व अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में भी समष्टि अर्थशास्त्र का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार नियोजन, आर्थिक विकास आर्थिक अस्थिरता आदि क्षेत्र समष्टि-अर्थशास्त्र से सम्बन्धित माने गए हैं क्योंकि इनका देश की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से सम्बन्ध होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यष्टि अर्थशास्त्र व समष्टि अर्थशास्त्र दोनों आर्थिक विश्लेषण के दो मार्ग होते हैं। एक में वैयक्तिक इकाइयों का आर्थिक व्यवहार आता है तो दूसरे में सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का आर्थिक व्यवहार आता है। एक का सम्बन्ध लघु' से है तो दूसरे का 'विशाल' से। इन दोनों का अन्तर प्रमुखतया रीति के प्रश्न को लेकर होता है। समष्टि अर्थशास्त्र में आर्थिक मात्राओं(economic quantities)में बड़े समूह और औसत शामिल होते हैं। व्यष्टि अर्थशास्त्र व समष्टि अर्थशास्त्र के भेद को अधिक स्पष्ट करते हुए हम कह सकते हैं कि पहले में व्यक्तिगत आय का अध्ययन होता है तो दूसरे में राष्ट्रीय आय का पहले में उपभोक्ता के व्यवहार का अध्ययन होता है तो दूसरे में राष्ट्रीय उपभोग का, एक में एक वस्तु की कीमत के निर्धारण का अध्ययन होता है तो दूसरे में सामान्य कीमत स्तर का, एक में एक वस्तु की उत्पत्ति का अध्ययन होता है तो दूसरे में अर्थव्यवस्था की कुल उत्पत्ति का अध्ययन होता है। अब हम इनमें से प्रत्येक के उपयोगों व सीमाओं पर प्रकाश डालेंगे।

व्यष्टि अर्थशास्त्र में वस्तुओं व साधनों की कीमत निर्धारण का अध्ययन किया जाता है और इसी में आर्थिक कल्याण की चर्चा आती है। समष्टि अर्थशास्त्र में राष्ट्रीय आय, रोजगार, सामान्य कीमत स्तर, आर्थिक विकास व वितरण का समष्टि सिद्धान्त (राष्ट्रीय आय में मजदूरी व मुनाफों के सापेक्ष अंश) आदि आते हैं। इस प्रकार जब हम मजदूरी, लाभ, ब्याज व लगान का निर्धारण करते हैं तो वह व्यष्टि अर्थशास्त्र का विषय बनता है, लेकिन राष्ट्रीय आय में इनका सापेक्ष अंश जानते समय समष्टि अर्थशास्त्र के क्षेत्र में प्रवेश करना पड़ता है। इस प्रकार वितरण का क्षेत्र व्यष्टि व समष्टि दोनों से सम्बन्ध रखता है। यही कारण है कि ब्याज के सिद्धान्त की चर्चा व्यष्टि-अर्थशास्त्र व समष्टि-अर्थशास्त्र दोनों में आती है।

व्यष्टि-अर्थशास्त्र व समष्टि अर्थशास्त्र में मूलभूत अन्तर किस बात को लेकर है?

अधिकांश अर्थशास्त्रियों का मत है कि व्यष्टि-अर्थशास्त्र की अध्ययन की इकाइयां 'छोटी' होती हैं, जैसे उपभोक्ता, परिवार, फर्म, उद्योग आदि तथा समष्टि अर्थशास्त्र की अध्ययन की इकाइयां 'बड़ी' होती हैं, जैसे राष्ट्रीय उत्पत्ति, राष्ट्रीय बचत, राष्ट्रीय विनियोग आदि। प्रोफेसर जी तिमैया का कहना है कि पाठ्य पुस्तकों में इन दोनों के बीच पाये जाने वाले मूलभूत अन्तर को स्पष्ट नहीं किया गया है। उनका विचार है कि व्यष्टि-अर्थशास्त्र में किसी भी आर्थिक इकाई का व्यवहार 'कीमत' (Price) से निर्धारित होता है। जैसे एक उपभोक्ता व एक उत्पादक के आर्थिक व्यवहार पर 'कीमत' का प्रभाव पड़ता है। उनके उत्पत्ति, उपभोग, बचत व विनियोग के निर्णय 'कीमत' से प्रभावित होते हैं। कीमत बढ़ने पर उपभोक्ता कम माल खरीदेंगे तथा उत्पादक अधिक उत्पादन करेंगे। अतः व्यष्टि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध दी हुई आमदनी पर, कीमत निर्धारण से होता है।

इसी प्रकार समष्टि अर्थशास्त्र मे मूलभूत निर्धारक तत्व उपभोक्ताओं व उत्पादकों की आमदनी (income) होती है। आमदनी ही मुद्रा की माग व श्रम की माग आदि का प्रभावित करता है। अत 'माइक्रो' का लक्ष्य 'कीमत' तथा 'मैक्रो' का लक्ष्य 'आय' होती है।[1]

इसके अलावा व्यष्टि अर्थशास्त्र में सन्तुलन व समष्टि अर्थशास्त्र में असन्तुलन की स्थिति प्रमुख मानी जाती है।

व्यष्टि-अर्थशास्त्र का महत्व व उपयोग[2]

हम ऊपर बतला चुके हैं कि व्यष्टि अर्थशास्त्र में विशिष्ट आर्थिक सगठनों, उनके व्यवहार और सापेक्ष कीमतों (relative prices) का अध्ययन किया जाता है। सापेक्ष कीमतों (relative prices) का अर्थ है कि विभिन्न वस्तुओं व सेवाओं की कीमतों में आपसी सम्बन्ध क्या है। उदाहरण के लिये, यदि कभी टेरीकॉट कपडों की माग बढ रही है और सूती कपडों की घट रही हैं तो टेरीकॉट कपडों की सापेक्ष कीमतें बढ जायेंगी। सापेक्ष कीमतों के परिवर्तन व्यष्टि-अर्थशास्त्र में आते हैं, लेकिन मुद्रा सफीति के समय सामान्य कीमत स्तर की वृद्धि समष्टि अर्थशास्त्र में आती है, न कि व्यष्टि अर्थशास्त्र में। यहाँ पर हम व्यष्टि अर्थशास्त्र के विभिन्न उपयोगों पर विस्तृत रूप से प्रकाश डालते हैं—

(1) *व्यष्टि-अर्थशास्त्र या कीमत-सिद्धान्त की सहायता से निष्कर्ष निकालना* (predictions)—कीमत सिद्धान्त का उपयोग करके हम महत्वपूर्ण निष्कर्षों पर पहुच सकते है। अग्रेजी शब्द 'prediction' का अर्थ भविष्यवाणी करना भी होता है, जो यहा पर उपयुक्त नही है। यहा पर 'prediction' का अर्थ इस प्रकार है यदि अमुक कार्य होगा, तो उसके अमुक प्रकार के परिणाम निकलेंगे। हम आगे चलकर देखेंगे कि कीमत सिद्धान्त में माग व पूर्ति के मॉडल का उपयोग होता है। यह मॉडल हमें बतलाता है कि कीमत, माग व पूर्ति की शक्तियों से निर्धारित होती है और सन्तुलन कीमत (equilibrium price) पर कुल माग की मात्रा कुल पूर्ति की मात्रा के बराबर होती है। यदि कीमत इससे ऊपर हो जाती है तो बाजार में माग की मात्रा पूर्ति की मात्रा से कम हो जाएगी। (यह मानते हुए कि माग वक्र नीचे की ओर झुकता है और पूर्ति वक्र ऊपर की ओर जाता है।) इस प्रकार बाजार में माल बचा रहेगा। अन्य मान्यताओं के आधार पर निष्कर्ष बदल जाएगे।

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है व्यष्टि-अर्थशास्त्र में उपभोक्ता, परिवार, फर्म व उद्योग के बारे में अध्ययन किया जाता है। मान लीजिये, हमें चीनी उद्योग का अध्ययन करना है। इसमें चीनी की कई मिलें या फर्में ली जाएगी। सब उत्पादन की इकाइयाँ (यहा पर मिलें) चीनी का उत्पादन करती हैं। हम इस अध्ययन में विभिन्न

1 G Thimmaiah What is Macro-economics? A critique of text book Version, an article in the Indian Economic Journal July September, 1982, pp 87 107

2 Richard A. Bilas Micro-Economic Theory 1971 pp 2-4

से व्यवसायों की तरफ उत्पादन के साधनों के प्रवाह का अध्ययन किया जाता है। वस्तु बाजारों व साधन बाजारों में परस्पर निर्भरता पायी जाती है।

(6) व्यष्टि-अर्थशास्त्र का सार्वजनिक वित्त व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अध्ययन मे प्रयोग—व्यष्टि अर्थशास्त्र में माग व पूर्ति की लोचों का अध्ययन किया जाता है। सार्वजनिक वित के अन्तर्गत किसी वस्तु पर लगे कर का भार जानने के लिये माग की लोच के विचार का सहारा लिया जाता है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों का अध्ययन करने तथा मुद्रा के अवमूल्यन का प्रभाव जानने के लिये आयातों व निर्यातों के बारे में माग व पूर्ति की लोचे देखी जाती हैं। एक देश की मुद्रा की विदेशी विनिमय दर निर्धारित करने में भी व्यष्टि अर्थशास्त्र का उपयोग किया जाता है क्योंकि वह भी उस मुद्रा की माग व पूर्ति पर निर्भर करती है। इस प्रकार व्यष्टि अर्थशास्त्र का सार्वजनिक वित व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्रों में काफी सीमा तक उपयोग किया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि व्यष्टि अर्थशास्त्र या व्यष्टिमूलक आर्थिक सिद्धान्त एक ऐसा उपयोगी आर्थिक उपकरण (economic tool) होता है जिसकी सहायता से हम मुख्यतया दो काम कर सकते हैं (अ) अर्थव्यवस्था में किन किन वस्तुओं का उत्पादन होता है तथा (आ) समाज में विभिन्न उत्पादन के साधनों के बीच आय का वितरण कैसे होता है और साधनों का विभिन्न उद्योगों या उपयोगों में आवटन या बटवारा किस प्रकार होता है। अत व्यष्टिमूलक अर्थशास्त्र आर्थिक विश्लेषण की एक महत्वपूर्ण शाखा है। यह शाखा समष्टि अर्थशास्त्र के सहायक के रूप में कार्य करती है।

व्यष्टि अर्थशास्त्र की मर्यादाएँ या सीमाएँ
(Limitations of Microeconomics)

व्यष्टि अर्थशास्त्र का आर्थिक सिद्धान्त में इतना महत्व होते हुए भी इसकी प्रमुखतया दो निम्नलिखित मर्यादाए (limitations) बतलायी गयी हैं—

(1) यह सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर विचार नही करता—यह सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की गतिविधि पर प्रकाश नही डालता। इसकी सहायता से हम कुल रोजगार, कुल आमदनी व देश में सामन्य कीमत स्तर आदि के बारे में ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते हैं। हम आगे चल कर देखेंगे कि आजकल ऐसी नीतियो का महत्व बढ गया है जो सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को प्रभावित करती हैं, जैसे सरकार की कर नीति, व्यय नीति तथा मौद्रिक नीति। इनका वर्णन व्यष्टि अर्थशास्त्र में नही आता है। जब देश में मुद्रास्फीति या महगाई होती है तो ऐसे सामान्य उपाय अपनाने होते हैं जो सम्पूर्ण अथव्यवस्था को प्रभावित कर सकें। ऐसी स्थिति में हमें समष्टि अर्थशास्त्र की शरण में जाना पडता है जिस पर आगे चल कर प्रकाश डाला गया है।

(2) पूर्ण रोजगार की मान्यता पर आधारित—व्यष्टि अर्थशास्त्र प्राय पूर्ण रोजगार (full employment) की दशा को मानकर चलता है जो व्यवहार में नही पायी जाती। इस मान्यता को स्वीकार करते हुए हम यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि एक उपभोक्ता

आर्थिक नियोजन में सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर ही ध्यान केन्द्रित किया जाता है। अत यह समष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत आता है। बचत व विनियोग की दरें निर्धारित की जाती हैं और इनको आगे बढाने के उपाय सुझाये जाते है। स्वय आर्थिक विकास की वार्षिक दर (annual growth rate) को निर्धारित करके उसको प्राप्त करने के उपाय सुझाए जाते हैं। इस प्रकार आर्थिक नियोजन के द्वारा अनेक समग्र चलराशियों या चरों (aggregative variables) को प्रभावित करने की कोशिश की जाती है।

(3) व्यष्टि-अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिये भी समष्टि अर्थशास्त्र का अध्ययन आवश्यक होता है—एक उद्योग में मजदूरी का निर्धारण अर्थव्यवस्था में मजदूरी की सामान्य स्थिति से प्रभावित होता है। एक वस्तु की कीमत भी बहुत कुछ देश में प्रचलित सामान्य कीमत स्तर से प्रभावित होती है। मुद्रास्फीति की परिस्थितियों में साधारणत वस्तुओ के भाव ऊंचे होते हैं और आर्थिक मन्दी के वर्षों में नीचे होते हैं। इस प्रकार स्वय व्यष्टि-अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिये भी समष्टि-अर्थशास्त्र का अध्ययन आवश्यक माना गया है।

(4) समग्र या समूह का ज्ञान पृथक् रूप से भी आवश्यक—समूह या समग्र व्यक्तिगत इकाइयो का जोड मात्र नही होता। इसके व्यवहार की अपनी स्वतन्त्र विशेषताए भी होती हैं जिनसे परिचित होना पडता है। एक वन केवल विभिन्न पेडों के योग से नही बनता है, बल्कि उसमें कुछ अपनापन भी होता है जिसे पहचानने की आवश्यकता होती है। एक अर्थव्यवस्था भी विभिन्न स्वतन्त्र आर्थिक इकाइयों का समूह मात्र नही होती है। पुराने उद्योग नष्ट होते रहते हैं और नए उत्पन्न होते रहते हैं और अर्थव्यवस्था चलती रहती है। अत सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के ज्ञान का अपना\पृथक महत्व भी होता है। समूह में जो समरूपता होती है उसके अध्ययन से विशेष लाभ प्राप्त होता है, जैसे उपभोग फलन (consumption function) मे देश की आय व उपभोग के सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करके सम्पूर्ण उपभोग को प्रभावित करने की नीतिया अपनायी जा सकती हैं।

वैसे भी सम्पूर्णता या समग्रता (totality) की अपनी विशेषता होती है, जैसे समस्त उत्पादन का अनुमान लगाते समय हमें विभिन्न वस्तुओ के उत्पादन का मूल्य मुद्रा में आकना पडता है और फिर उसका जोड लगाना होता है। हम उपभोग की वस्तुओ व पूजीगत वस्तुओं के मूल्य को जोड लेते हैं। वैयक्तिक कीमतो मे कुछ बढती है, कुछ घटती हैं कुछ यथास्थिर रहती हैं, लेकिन यह ज्ञान भी सार्थक व आवश्यक होता है कि औसत रूप से मूल्यों मे क्या प्रवृत्ति पायी जाती है। यह समष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत आता है। इसे सामान्य मूल्य स्तर का अध्ययन कहा जाता है।

इस प्रकार सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को अपने क्षेत्र मे शामिल करने वाले समूहों (aggregates) या बडी इकाइयों के स्वतन्त्र अध्ययन एव उनके पारस्परिक सम्बन्धों की जानकारी का सैद्धान्तिक व व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से महत्व होता है।

समष्टि-अर्थशास्त्र की सीमाएँ (Limitations of Macroeconomics)

(1) समष्टि-अर्थशास्त्र मे जोड़ कर परिणाम निकालने की प्रक्रिया बड़ी जटिल होती है—उदाहरण के लिए, विभिन्न वस्तुओ व सेवाओं का मूल्य आक कर उनकी

सहायता से राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाना काफी कठिन होता है। सामान्य मूल्य स्तर का पता लगाने के लिये थोक मूल्य सूचकांक (wholesale price index numbers) बनाये जाते हैं जिनमें भार-निर्धारण (assignment of weights), वस्तुओं के चुनाव व कीमत समूह को लेकर अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कई बिन्दुओं व कई चरणों पर 'औसतें' (averages) निकाली जाती हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रक्रिया काफी पेचीदा होती है। समष्टिगत इकाइयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये विभिन्न विधियों का उपयोग करना आवश्यक होता है। आजकल जोड़ने या समग्रीकरण (aggregation) की विधियों में काफी सुधार हो गया है और यह सुधार निरन्तर जारी है।

(2) भ्रमात्मक परिणाम निकाले जाने का भय—सांख्यिकीय विधियों से पूर्णतया परिचित न होने से कभी-कभी कुछ व्यक्ति समग्र को देखकर गलत परिणाम भी निकाल लेते हैं। मान लीजिये, कृषि पदार्थों के भाव घट गए हैं और औद्योगिक पदार्थों के भाव बढ़ गए हैं। ऐसी स्थिति में सामान्य कीमत-स्तर को लगभग स्थिर देखकर इन दोनों आर्थिक क्षेत्रों की विभिन्न व विपरीत दशाओं का ज्ञान नहीं हो सकेगा। हो सकता है कि एक का प्रभाव दूसरे के प्रभाव को मिटा दे। अतः ऐसी स्थिति में निष्कर्षों का सही अर्थ लगाना होता है जिसके लिए विशेष योग्यता, दक्षता व सावधानी की आवश्यकता होती है।

(3) विशाल इकाइयों को आवश्यकतानुसार परिवर्तित करने में कठिनाइयाँ—किसी भी अर्थव्यवस्था में सम्बन्धित बड़ी इकाइयों जैसे राष्ट्रीय आय, राष्ट्रीय उपभोग, राष्ट्रीय बचत व राष्ट्रीय विनियोग, आर्थिक विकास की वार्षिक दर, सामान्य मूल्य स्तर को लक्ष्यों के अनुसार बदल सकना काफी कठिन होता है। भारत जैसे देश में तो कई प्रकार के प्राकृतिक तत्व (Physical factors) भी पाये जाते हैं, जो लक्ष्यों के अनुसार प्रगति नहीं होने देते। फिर भी प्रभावपूर्ण आर्थिक नीतियां अपनाकर इन आर्थिक चलराशियों (economic variables) को परिवर्तित किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में समष्टि-अर्थशास्त्र निश्चित रूप से प्रभावपूर्ण नीतियों का एक आवश्यक सम्मिश्रण प्रस्तुत करता है। इस दृष्टि से इसकी उपयोगिता स्वीकार की जानी चाहिए।

समष्टिमूलक विरोधाभास (Macro-economic paradoxes)

प्रायः ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जिनमें जो बात 'अंश' (part) के लिए सही होती है वह 'समग्र' (whole) के लिये सही नहीं निकलती। इन्हें समष्टिमूलक विरोधाभास के मामले (*Macro-economic paradoxes*), अथवा 'जोड़ सम्बन्धी भ्रम' (*fallacy of composition*) कहकर पुकारते हैं। मान लीजिये, एक व्यक्ति बचत करता है तो वह उसके लिए लाभप्रद सिद्ध होगी, लेकिन यदि समस्त राष्ट्र अधिक मात्रा में बचत करता है और उपभोग घटा देता है, तो विशेषतया मन्दी की स्थिति में इसका अर्थव्यवस्था पर घातक प्रभाव पड़ेगा, क्योंकि इससे वस्तुओं की माग कम हो जाएगी। इसे बचत का विरोधाभास (paradox of thrift) कहकर भी पुकारा जाता है। इस प्रकार जो

बात व्यक्ति विशेष के लिये उचित होती है वह समस्त राष्ट्र के लिये अनुचित प्रमाणित हो सकती है। एक व्यक्ति बैंक से अपनी जमाराशि निकालने के लिए जाए तो कोई बात नहीं लेकिन यदि सभी जमाकर्ता एक साथ अपनी जमा राशि को निकालना चाहेंगे तो बैंक वित्तीय सकट में पड सकते है क्योंकि वे सबको एक साथ नकद राशि देने की स्थिति में नही होते हैं। इसी प्रकार सभी व्यक्ति एक साथ चलचित्र नहीं देख सकते एव सभी एक साथ यात्रा नही कर सकते क्योंकि सिनेमा घरों व रेलों में सीमित सीटें होती हैं।

सेमुअल्सन व नोरढाउस ने एसे आठ कथन प्रस्तुत किये हैं जो स्वय में तो सही है लेकिन बाहर से विरोधी (outwardly paradoxical) किस्म के प्रतीत होते हैं।[1] इनमें से अधिकाश जोड सम्बन्धी भ्रम (fallacy of composition) के सूचक माने गए हैं।

(1) यदि सभी कृषक कठिन परिश्रम करते हैं और प्रकृति की कृपा से फसल अच्छी होती है तो कृषकों की कुल आमदनी घट सकती है और सम्भवत घट जाएगी। (कुल उत्पत्ति अधिक होने से उपज की कीमत कम हो जायेगी जिससे कृषकों की आय पर विपरीत प्रभाव पडेगा। इस प्रकार अकेले किसान की पैदावार बढने से तो उसकी आमदनी बढेगी लेकिन सबकी पैदावार बढने से उसकी आमदनी घट सकती है।)

(2) एक व्यक्ति तो नौकरी की तलाश में चतुराई दिखाकर अथवा कम मजदूरी पर काम करना स्वीकार करके अपनी बेरोजगारी की समस्या हल कर लेता है, लेकिन सभी बेरोजगार व्यक्ति अपनी समस्या इस तरह से हल नहीं कर सकते (कीन्स ने मजदूरी कम करके बेरोजगारी की समस्या को हल करने की नीति का विरोध किया था, क्योंकि इसके अनुचित परिणाम निकलते है।) माद्रिक मजदूरी में कमी होने से अर्थव्यवस्था में समग्र माग घट जाती है जिससे बेराजेगारी बढती है। इस प्रकार एक उद्योग में मजदूरी कम होने से उसमें मजदूरों की माग बढ सकती है, लेकिन सभी उद्योगों के सन्दर्भ में यह बात सही नही निकलती।

(3) एक उद्योग म ऊची कीमतों से उसकी फर्में लाभान्वित होती हैं, लेकिन प्रत्येक वस्तु की कीमत के समान अनुपात में बढ जाने से किसी को लाभ नही होगा।

(4) अमरीका को आयात किये गए माल पर प्रशुल्क (tariff) घटाने से लाभ होगा, चाहे अन्य देश प्रशुल्क बन्धनों को कम करने से इन्कार कर दें।

(5) एक फर्म को पूरी लागत से काफी कम कीमत पर भी कुछ व्यवसाय करने में लाभ हो सकता है।

(6) मन्दी की अवधि में व्यक्तियों की तरफ से अधिक बचत करने के प्रयास से समाज की कुल बचत कम हो सकती है।

1 Samuelson and Nordhaus Economics 16th ed 1998 pp 6-7 व पूर्व संस्करण।

(7) एक व्यक्ति के लिये अपनी आमदनी से अधिक व्यय करना मूर्खता की बात हो सकती है, लेकिन मन्दी के दिनों में एक देश के लिए सार्वजनिक ऋण में वृद्धि करना बुद्धिमानी का कार्य माना जा सकता है।

(8) एक व्यक्ति के लिए जो बुद्धिमत्तापूर्ण व्यवहार होता है वह कभी-कभी एक राष्ट्र के लिए मूर्खतापूर्ण व्यवहार बन जाता है।

अर्थशास्त्र में इस तरह के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं जिनमें एक बात एक व्यक्ति के लिए तो सही होती है लेकिन समस्त समाज के लिए वह सही नहीं होती है। एक विद्यार्थी परीक्षा में अच्छा करके अपनी ग्रेड ऊँची कर सकता है लेकिन यदि सभी विद्यार्थी अच्छा करते हैं तो ग्रेड अपरिवर्तित रहेगी। इन दृष्टान्तों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे लिए एक पृथक समष्टि-अर्थशास्त्र की आवश्यकता है। व्यष्टि-अर्थशास्त्र के परिणाम समष्टि स्तर पर सदैव एवं पूर्णतया लागू नहीं होते।

व्यष्टि-अर्थशास्त्र व समष्टि अर्थशास्त्र का आपसी सम्बन्ध

ऊपर हमने व्यष्टि-अर्थशास्त्र व समष्टि-अर्थशास्त्र के उपयोगों पर प्रकाश डाला है। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि ये एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक् हैं और परस्पर प्रभाव नहीं डालते हैं। वास्तव में इन दोनों शाखाओं में आपसी सम्बन्ध भी पाया जाता है। हम देख चुके हैं कि व्यष्टि-अर्थशास्त्र में कीमतों का महत्वपूर्ण स्थान होता है और उसका लक्ष्य कीमत निर्धारण का विश्लेषण करना व विशिष्ट साधनों का विशिष्ट उपयोगों में आवटन करना होता है। दूसरी तरफ समष्टिगत आर्थिक सिद्धान्तों का लक्ष्य राष्ट्रीय आय के स्तर तथा साधनों के समग्र उपयोग को निर्धारित करना होता है।

हैंडरसन व क्वान्ट के अनुसार, "हम यह नहीं कह सकते कि आय की अवधारणाएं (income concepts) व्यष्टि-सिद्धान्तों में नहीं होती अथवा कीमतें समष्टि-सिद्धान्तों में नहीं होती। लेकिन व्यष्टि-सिद्धान्तों में व्यक्तियों की आमदनी का निर्धारण सामान्य कीमत-निर्धारण की प्रक्रिया के अन्तर्गत हो आता है। व्यक्ति उत्पादन के साधन बेच कर अपनी आय प्राप्त करते हैं। इन साधनों की कीमतें अन्य कीमतों की भांति ही निर्धारित होती है। दूसरी तरफ, कीमतें समष्टि-सिद्धान्तों में महत्व रखती हैं लेकिन समष्टि सिद्धान्त के समर्थक प्राय व्यक्तिगत कीमतों के निर्धारण की समस्याओं व उनके परस्पर सम्बन्धों से दूर होते हैं जो समग्र कीमत-सूचकांकों (aggregate price indices) से सम्बन्ध रखते हैं एवं जो समग्र व्यय के स्तर से निर्धारित होते हैं।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आय की चर्चा एक विशेष रूप में व्यष्टि सिद्धान्त में भी होती है, हालांकि प्रमुखतया यह विषय समष्टि-सिद्धान्त का माना गया है। इसी प्रकार कीमतों की चर्चा समष्टि सिद्धान्त में भी होती है, हालांकि प्रमुखतया यह विषय व्यष्टि-सिद्धान्त का माना गया है। इससे दोनों शाखाओं की परस्पर निर्भरता स्पष्ट हो जाती है। व्यष्टि-अर्थशास्त्र के कुछ विषयों, जैसे लाभ के सिद्धान्त अथवा ब्याज के सिद्धान्त को समझने के लिये समष्टि-अर्थशास्त्र का सहारा लेना पड़ता है।

कीन्स के अनुसार ब्याज की दर तरलता अधिमान, (liquidity preference) तथा मुद्रा की सप्लाई से निर्धारित होती है। ये दोनों विचार समष्टि अर्थशास्त्र के क्षेत्र में आते हैं। इस प्रकार व्यष्टि-अर्थशास्त्र तथा समष्टि-अर्थशास्त्र परस्पर निर्भर करते हैं।

गार्डनर ऐक्ले के अनुसार, समष्टि-अर्थशास्त्र व व्यष्टि-अर्थशास्त्र के बीच कोई सुनिश्चित रेखा नही खीची जा सकती। अर्थव्यवस्था के एक सच्चे 'सामान्य' सिद्धान्त में स्पष्ट दोनों शामिल होते हैं। लेकिन सार्थक परिणामों पर पँहुचने के लिये समष्टिमूलक आर्थिक समस्याओं का हल समष्टिमूलक उपकरणों से एव व्यष्टिमूलक आर्थिक समस्याओं का हल व्यष्टिमूलक उपकरणों (tools) से ही निकाला जाना चाहिए।

सेमुअल्सन व नोरढाउस का मत है कि 'वास्तव में व्यष्टि-अर्थशास्त्र और समष्टि अर्थशास्त्र में कोई विरोध नही है। दोनों अत्यन्त आवश्यक हैं। यदि आप एक को समझते है और दूसरे से अनभिज्ञ रहते हैं तो आप केवल अर्द्ध शिक्षित हैं।'

अन्त मे हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि हमें व्यष्टि-अर्थशास्त्र का अध्ययन तो वस्तुओं व साधनों की सापेक्ष कीमतें निर्धारित करने के लिये करना चाहिए और समष्टि अर्थशास्त्र का अध्ययन सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का ज्ञान प्राप्त करने के लिए करना चाहिए। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं लेकिन दोनों में जो मूलभूत अन्तर है उसे भी नहीं भुलाया जाना चाहिए। एक विशेष अध्ययन में हमारा ध्यान या तो व्यष्टि-समस्या पर केन्द्रित होगा अथवा समष्टि-समस्या पर। लेकिन इन दोनो क्षेत्रों को एक दूसरे से पृथक् मानने की भूल नही की जानी चाहिये।

प्रश्न

1 (a) व्यष्टि तथा समष्टि अर्थशास्त्र की परिभाषा दीजिये। व्यष्टि आर्थिक सिद्धान्त के उपयोगों तथा सीमाओ का विवेचन कीजिये।
   (b) समष्टिगत आर्थिक विरोधाभास क्या हैं?
2 निम्नलिखित का विवेचन कीजिये
   (i) व्यष्टि तथा समष्टि आर्थिक विश्लेषण के मध्य पारस्परिक निर्भरता।
3 "व्यष्टि और समष्टि अर्थशास्त्र मे कोई विरोध नही है। दोनों अत्यन्त आवश्यक हैं। यदि आप एक को समझते हैं और दूसरे से अनभिज्ञ हैं, तो आप अर्द्ध शिक्षित हैं।" (सैम्युअल्सन) इस कथन की विवेचना कीजिये।

(JNV, Jodhpur, B A Part II, 1997)

□□□

में माँग का नियम लेते हैं। सर्वप्रथम हम माँग की परिभाषा करेंगे। साथ में बाजार आदि शब्दों का अर्थ भी स्पष्ट किया जायेगा। फिर हम एक वस्तु की माँग को प्रभावित करने वाले विभिन्न तत्वों जैसे आमदनी रुचि अन्य वस्तुओं के भाव इस वस्तु की कीमत आदि में से केवल इसकी कीमत को छोडकर अन्य सभी तत्वों को स्थिर मान लेंगे। इसके बाद हम तर्क का उपयोग करके यह निष्कर्ष निकालेंगे कि उपर्युक्त स्थिति में कीमत के घटने से माँग की मात्रा बढेगी और कीमत के बढने पर माँग की मात्रा घटेगी। यह माँग का नियम कहलाता है और इसका बाजार में वास्तविक तथ्यों से भी मेल खाता है। यह अर्थशास्त्र का एक महत्वपूर्ण नियम माना गया है।

यहाँ पर मान्यताओं (Assumptions) के सम्बन्ध में कुछ बातें स्पष्ट करनी आवश्यक हैं। कुछ लोग मान्यताओं को अवास्तविक (unrealistic) कहकर सिद्धान्त के सही होने में सन्देह प्रकट किया करते हैं। यह दृष्टिकोण गलत है। मान लीजिये मैं यह कल्पना करता हूँ कि मेरे विश्लेषण में कोई सरकार नहीं है और फिर मैं कोई सिद्धान्त बनाता हूँ तो इसका अर्थ केवल यह है कि मेरे सिद्धान्त पर सरकार के कार्यों का कोई प्रभाव नहीं पडता। यदि मेरा निष्कर्ष वास्तविक तथ्यों से मेल खाता है तो सिद्धान्त को स्वीकार किया जा सकता है अन्यथा इसे अस्वीकार किया जा सकता है। **मिल्टन फ्रीडमैन ने इस बात पर बहुत बल दिया है कि 'मान्यताओं की वास्तविकता की जाँच करने की आवश्यकता नहीं। हमें तो उनके आधार पर निकाले गये निष्कर्षों की जाँच तथ्यो के आधार पर करनी चाहिए। यदि निष्कर्षों का तथ्यों से मेल हो जाये तो सिद्धान्त स्वीकार किया जा सकता है।**

कोई भी सिद्धान्त सही सिद्ध नहीं किया जा सकता (no theory can be proved correct)। हो सकता है कि भविष्य में कुछ ऐसे तथ्य (facts) सामने आ जायें जो वर्तमान सिद्धान्त को गलत प्रमाणित कर दें। अत पुराने सिद्धान्तों की जाँच व नये सिद्धान्तों का निर्माण एक निरन्तर क्रिया होती है जो बराबर जारी रहती है। यदि किसी सिद्धान्त का वास्तविक तथ्यों से मेल न खाये तो उस सिद्धान्त को रद्द करके कोई दूसरा सिद्धान्त स्वीकार किया जा सकता है जो उन तथ्यों के अधिक अनुकूल हो। एक विकासशील विज्ञान में नये सिद्धान्त बनते जाते हैं और निष्कर्षों की जाँच निरन्तर जारी रहती है। यह भी ध्यान रहे कि किसी सिद्धान्त को आसानी से गलत भी प्रमाणित नहीं किया जा सकता। यह कार्य भी बहुत जटिल होता है और इसमें काफी दक्षता की आवश्यकता होती है।

सिद्धान्तों के सम्बन्ध में इस प्रारम्भिक चर्चा के बाद अब हम निगमन (deductive) और आगमन (inductive) विधियों अथवा प्रणालियों का वर्णन करेंगे जिनकी सहायता से इन सिद्धान्तों का निर्माण किया जाता है।

1 निगमन विधि (Deductive Method)

निगमन विधि (deductive method) को विश्लेषणात्मक (analytical) अमूर्त या निराकार (abstract) तथा अनुभव पूर्व (a priori) एव गणितीय (mathematical)

विधि कहकर भी पुकारते हैं। इसे तर्क-विधि भी कह सकते हैं। इसमें विश्लेषण व जाँच पर अधिक बल दिया जाता है, इसलिए इसे विश्लेषणात्मक विधि कहते हैं। इसमें मान्यताओं व परिकल्पनाओं तथा तर्क-वितर्क का अधिक प्रयोग होने से यह अमूर्त या निराकार मानी जाती है। इसमें अनुभव व तथ्य बाद में प्रवेश करते हैं, इसलिए इसे अनुभवपूर्व (a priori) विधि कहा जाता है। इसमें गणितीय तर्क का प्रयोग किया जाता है जिससे यह गणितीय विधि भी कहलाती है। प्रो बोल्डिंग ने इसे बौद्धिक प्रयोग की विधि (method of intellectual experiment) कहा है क्योंकि इसमें बुद्धि व तीक्ष्ण विश्लेषण का अधिक प्रयोग किया जाता है। इसमें हम कुछ सामान्य व स्वयंसिद्ध बातों से विशिष्ट निष्कर्षों की ओर (from general to particular) जाते हैं।

प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने इस विधि का व्यापक रूप से उपयोग किया था। इस विधि का उपयोग एक दृष्टान्त से स्पष्ट किया जाता है। मान लीजिए, हम एक उत्पादक के व्यवहार का अध्ययन करना चाहते हैं। हम इस सम्बन्ध में इस मान्यता को स्वीकार कर लेते हैं कि उत्पादक लाभ-अधिकतमकरण (profit-maximisation) के लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है। फिर हम बाजार की दशा के बारे में भी कल्पना कर लेते हैं कि इसमें पूर्ण प्रतिस्पर्धा (perfect competition)[1] पायी जाती है। ऐसी स्थिति में वस्तु की कीमत एक उत्पादक के लिए दी हुई मानी जाती है। अत वह अपने लाभ को अधिकतम करने के लिए उस बिन्दु तक माल का उत्पादन करेगा जहाँ उसकी सीमान्त लागत वस्तु की कीमत के बराबर हो जाती है। अत पूर्ण प्रतिस्पर्धा व लाभ-अधिकतमकरण की मान्यताओं के साथ हमने एक उत्पादक के व्यवहार का अध्ययन करके यह निष्कर्ष (prediction) निकाला कि उसे सीमान्त लागत = कीमत (MC = price) के बिन्दु तक माल का उत्पादन करना चाहिए। हम आगे चलकर बतलायेंगे कि इस बिन्दु से आगे पीछे रहने से वह अपना लाभ अधिकतम नहीं कर पायेगा।

इस प्रकार निगमन विधि में हम इस क्रम से आगे बढ़ते हैं कि 'यदि ऐसा है तो उसका यह परिणाम निकलेगा'। यदि A और B सही हैं, तो C भी सही होगा। स्पष्ट है कि इसमें तर्क (reasoning) का बहुत उपयोग किया जाता है। आजकल इसमें गणित का उपयोग भी बहुत बढ़ गया है। गणित भी एक प्रकार से तर्क की ही एक शैली मानी जाती है।

निगमन विधि का स्पष्टीकरण—जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है निगमन विधि में कुछ मान्यताओं के आधार पर तर्क का उपयोग करके हम परिणाम निकालते हैं और बाद में उन परिणामों की जाँच तथ्यों की सहायता से करते हैं। यदि परिणामों

---

1 पूर्ण प्रतिस्पर्धा में वस्तु के अनेक क्रेता व अनेक विक्रेता, एक-सी वस्तु, स्वतन्त्र रूप से फर्मों का आना-जाना, मूल्यों की पूर्ण जानकारी, साधनों की पूर्ण गतिशीलता व परिवहन-लागतों का अभाव आदि शर्तें होती हैं। इन पर विस्तृत प्रकाश आगे चलकर डाला जायेगा। यहाँ पर यह समझना पर्याप्त होगा कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा में एक उत्पादक के लिए उसकी वस्तु की कीमत दी हुई होती है। उसे दी हुई कीमत पर उत्पत्ति की वह मात्रा निर्धारित करनी होती है जिस पर वह सबसे अधिक लाभ प्राप्त कर सकता है।

और तथ्यों का परस्पर मेल हो जाता है तो सिद्धान्त स्थापित हो जाता है, अन्यथा वैकल्पिक सिद्धान्त बनाया जाता है।

प्रो बोल्डिंग का मत है कि आर्थिक विश्लेषण में कीमत, मजदूरी व अन्य विभिन्न किस्म की आर्थिक मात्राएँ (economic quantities) आती हैं। आर्थिक मात्राओं और सम्बन्धों का वास्तविक जगत बहुत जटिल होता है। एक सरलतम घटना के भी विभिन्न आर्थिक प्रभावों को जल्दी से समझ सकना आसान नहीं होता है। ऐसी परिस्थिति में हम अपने मस्तिष्क में ऐसी आर्थिक प्रणालियाँ मान लेते हैं जो काफी सरल किस्म की होती हैं और जिनको समझना भी आसान होता है। हम इन सरल प्रणालियों में निहित सम्बन्धों का पता लगा लेते हैं और धीरे धीरे जटिल मान्यताओं का समावेश करते हुए अन्त में वास्तविकता के अध्ययन तक पहुँच जाते हैं।[1]

यह प्रणाली वास्तविक स्थिति से काफी मेल खाती है। हम अर्थशास्त्र में कई तरह की मान्यताएँ लेकर आगे बढ सकते हैं और निगमन विधि का उपयोग करके निष्कर्ष निकाल सकते हैं। उदाहरण के लिए, प्राय हम किसी भी उपक्रम के सम्बन्ध में यह मानकर चलते हैं कि वह अपना लाभ अधिकतम करना चाहता है। लेकिन हम अन्य मान्यताएँ स्वीकार करके भी चल सकते हैं जैसे फर्में अपनी बिक्री की मात्रा अधिकतम करना चाहती है, अथवा लाभ की कोई स्थिर राशि प्राप्त करना चाहती है अथवा वे अपने माल का मूल्य अधिकतम करना चाहती हैं, अथवा वे उत्पादित माल की औसत लागत न्यूनतम करना चाहती हैं, अथवा वे अपना विस्तार (expansion) तेजी से करना चाहती हैं। इन भिन्न भिन्न मान्यताओं के आधार पर हमारे निष्कर्ष भी भिन्न भिन्न होंगे, लेकिन इन सब में विश्लेषण की विधि एक-सी होगी। यह स्वाभाविक है कि हमारी रुचि उन मान्यताओं में अधिक होगी जो उस वास्तविकता के ज्यादा समीप हो जिसे हम जानते हैं। यदि फर्में लाभ अधिकतमकरण पर ज्यादा बल देती हैं तो इसके व्यवहार का विश्लेषण करते समय इसी लक्ष्य को सर्वोपरि माना जायेगा।

निगमन विधि में प्रयुक्त मान्यताएँ

निगमन प्रणाली में प्रयुक्त मान्यताओ के सम्बन्ध में प्रोफेसर रोबिन्स का मत है कि वे हमारे अनुभव से सम्बन्धित ऐसे तथ्य हैं जिन्हें विवादरहित माना जा सकता है। उत्पादन के सिद्धान्त की मुख्य मान्यता यह है कि उत्पादन के साधन एक से अधिक होते हैं। साथ में यह मान्यता भी सही है कि एक उत्पादन का साधन दूसरे साधन से पूर्णतया नही बदला जा सकता। इसी कारण से उत्पत्ति ह्रास नियम की प्रवृत्ति लागू होती है। मूल्य सिद्धान्त की मुख्य मान्यता यह है कि व्यक्ति अपने अधिमानों (preferences) को क्रम से जँचा सकते हैं। इन मान्यताओं की प्रकृति को पूरी तरह समझ लेने के बाद यह बात स्वीकार कर ली जायेगी कि इनके सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं है। इनकी सत्यता को स्थापित करने के लिए कोई नियन्त्रित प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं होगी। वे हमारे दैनिक अनुभव से इतना अधिक मेल खाती हैं कि

1 K E Boulding Economic Analysis Vol 1 1966 p 11

इन्हें व्यक्त करते ही यह पता लग जाता है कि ये सही हैं। इन मान्यताओं के आधार पर उच्चस्तरीय विश्लेषण किया जा सकता है।

प्रमुख मान्यताओं के साथ साथ हमें कुछ सहायक मान्यताओं की भी आवश्यकता होती है, जैसे बाजारों की दशा, विनिमय में भाग लेने वालों की सख्या, आदि। इनके आधार पर निकाले गये निष्कर्षों की सत्यता इनकी तार्किक दृष्टि से सगति (logical consistency) पर निर्भर करती है। अत इस विधि में तर्क की दृष्टि से कोई दोष नही आना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि निगमन विधि मान्यताओं व तार्किक विवेचन पर निर्भर करती है। इसका उपयोग माँग सिद्धान्त, कीमत सिद्धान्त व आय के वितरण सिद्धान्त आदि में व्यापक रूप से किया गया है।

निगमन विधि के गुण या लाभ

(1) आर्थिक जगत के अध्ययन मे सुविधा—जैसा कि बोल्डिंग ने बतलाया है आर्थिक जगत बडा जटिल होता है। इसका अध्ययन पहले हम सरल परिस्थितियों के आधार पर करते हैं। फिर वास्तविकता की ओर बढते हैं। इस प्रकार यह अध्ययन में काफी सुविधा पहुँचाती है।

(2) प्रयोगात्मक विधि (experimental method) का सीमित उपयोग—अर्थशास्त्र में प्रयोगात्मक विधि का उपयोग सीमित होने से इस विधि का महत्व बढ जाता है। प्राकृतिक विज्ञानों में प्रयोगशालाओं में नियन्त्रित प्रयोग करके परिणाम प्राप्त किये जाते हैं। लेकिन अर्थशास्त्र में इस प्रकार के नियन्त्रित प्रयोग सुगम नहीं होते। इसलिए निगमन विधि का प्रयोग आवश्यक हो जाता है।

(3) गणित व तर्क का उपयोग—गणित व तर्क का उपयोग होने से इससे प्राप्त निष्कर्ष सुनिश्चित होते हैं। इससे निगमन विधि का महत्व बढ जाता है।

(4) आगमन विधि की सहायक—हम आगे चलकर देखेंगे कि यह विधि आगमन विधि के सहायक रूप में भी काम आती है। आगमन विधि में पहले तथ्य व आँकडे एकत्र किये जाते हैं, फिर उसमें तर्क व विश्लेषण की सहायता से विभिन्न चलराशियों (variables) में परस्पर सम्बन्ध स्थापित किये जाते हैं जिससे सिद्धान्त या नियम बन पाते हैं। इस प्रकार यह आगमन विधि की सहायक होती है।

(5) सिद्धान्त बनाने की उत्तम व परिष्कृत विधि—सिद्धान्त के निर्माण की यह एक उच्च कोटि की परिष्कृत विधि मानी गयी है। विभिन्न मान्यताओं के आधार पर निष्कर्ष निकालने में काफी सावधानी से महत्वपूर्ण तर्कों का उपयोग किया जाता है जिससे मस्तिष्क की तीक्ष्णता में वृद्धि होती है। वास्तविक अर्थशास्त्र (positive economics) के विकास में इसका योगदान भूतकाल में काफी महत्वपूर्ण रहा है, यह आज भी कायम है और भविष्य में भी रहेगा। निगमन विधि ने ही अर्थशास्त्र को सामाजिक विज्ञानों में सर्वोच्च आदर का स्थान दिलाया है और इसके वैज्ञानिक स्वरूप में वृद्धि की है।

निगमन विधि की कमियाँ

निगमन विधि की विशेषताओं को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें कोई कमियाँ नही होगी। यदि इसका प्रयोगकर्ता आवश्यक सावधानी बरते और दक्षतापूर्वक इसका उपयोग करे तो यह उत्तम परिणाम ही देगी। लेकिन निम्न कारणों को लेकर निगमन विधि की आलोचना भी की गयी है। हम यथासम्भव आलोचना का साथ में उत्तर भी देते जायेंगे—

(1) निष्कर्षों की सत्यता मान्यताओ की सत्यता पर आश्रित—निगमन विधि के आलोचकों का मत है कि इस विधि से प्राप्त निष्कर्षों की सत्यता, मान्यताओं (assumptions) की सत्यता पर निर्भर करती है। यदि मान्यताएँ अवास्तविक हैं तो निष्कर्ष भी अवास्तविक होंगे। साथ में प्राय यह भी कहा जाता है कि मान्यताओं की सत्यता की जाँच नही हो सकती।[1]

हम पहले बतला चुके हैं कि निगमन विधि का गुण तो केवल इस बात में है कि इसमें कुछ मान्यताओं के आधार पर तर्क-वितर्क का उपयोग करके आवश्यक परिणाम निकाले जाते हैं। यदि परिणामों का वास्तविक जगत के तथ्यों से मेल हो जाता है तो सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाता है, अन्यथा वह अस्वीकार कर दिया जाता है। **मिल्टन फ्रीडमैन का मत है कि 'मान्यताओ' की विश्वसनीयता या सत्यता की जाँच करने की बात निरर्थक है, हमे तो प्राप्त निष्कर्षों (predictions) की जाँच अवश्य करनी चाहिए।** प्रो रोबिन्स तो मूलभूत मान्यताओं को पूर्णतया स्पष्ट और सत्य मानते हैं। वास्तव में सिद्धान्त का आशय ही यह है कि वास्तविकता के बदले में एक सरल स्थिति का विवेचन करना। अत सभी मान्यताएँ कभी भी वास्तविक नही होती। हमें तो परिणामों या निष्कर्षों की जाच तथ्यों की सहायता से अवश्य करनी चाहिए। यदि निष्कर्षों का वास्तविक तथ्यों से मेल हो जाता है तो सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाता है अन्यथा किसी दूसरे सिद्धान्त की तलाश करनी होती है।

(2) इस विधि के परिणाम सार्वभौमिक व सार्वकालिक नही होते—प्राय यह कहा जाता है कि निगमन विधि से प्राप्त परिणाम सभी देशों में व सभी समयों में समान रूप से लागू नही होते। इसलिए उनके आधार पर सरकारी नीतियाँ नही बनायी जा सकतीं। उदाहरण के लिए प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने इग्लैण्ड की विशेष परिस्थितियों के लिए स्वतन्त्र व्यापार की नीति का समर्थन किया था जो उपनिवेशिक देशों के लिए उचित नही थी। इसी प्रकार पहले विकासशील देशों के लिए सरक्षण की नीति (policy of protection) का समर्थन किया गया था, ताकि आयात किये गये माल पर कर लगाकर वे अपने देश में उद्योगों को प्रोत्साहित कर सकें। लेकिन आजकल की बदली हुई दशाओं में स्वय विकसित औद्योगिक देश भी 'सरक्षणवाद' को समर्थन देने लगे है और वे विकासशील देशों के माल के आयात पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगाते हैं जिससे निर्धन व विकासशील देशों को अपने कर्ज का भुगतान कर सकने व अपना व्यापार बढाने में काफी दिक्कतें उठानी पडती हैं।

1 यह आलोचना कई पुस्तकों में देखने को मिलती है जो हमारे विचार मे सही नहीं है।

अत आर्थिक नीति के निर्धारण में देश, काल व परिस्थिति का ध्यान रखा जाना चाहिए, लेकिन इससे निगमन विधि की कमी प्रकट नही होती क्योंकि वह तो अध्ययन की एक विधि होती है।

(3) **बौद्धिक व्यायाम की सूचक**—कुछ लोगों का मत है कि इस विधि का अत्यधिक उपयोग करने से जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं उनसे उपयोगकर्ता के 'मानसिक व्यायाम' (Mental exercise) के अलावा कुछ भी प्रकट नही होता।

यदि मान्यताएँ अधिक होती हैं और ये हमारे अनुभव के अनुरूप नहीं होती हैं तो निष्कर्ष 'बौद्धिक खिलौनों' (intellectual toys) का रूप धारण कर लेते हैं। लेकिन व्यवहार में प्राय ऐसा नहीं किया जाता। यदि ऐसा किया भी जाये तो उसे 'मानसिक व्यायाम' की विशेषता के रूप में ही देखा जाना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि निगमन विधि आर्थिक विश्लेषण की एक महत्वपूर्ण विधि है, लेकिन इसके प्रयोगकर्ता की असावधानी से कभी कभी कुछ कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। निगमन विधि की आलोचना करना व्यर्थ है क्योंकि यह कभी भी अकेली प्रयुक्त नहीं होती। इसके साथ आगमन विधि का भी उपयोग किया जाता है। अध्याय के अन्त में दिये गये चित्र से यह बात भली भाँति स्पष्ट हो जायेगी।

2. आगमन विधि (Inductive Method)

आगमन विधि को ऐतिहासिक (historical), अनुभवाश्रित (empirical) व उत्तरानुभव (a posteriori) विधि भी कहते हैं। इसे तथ्य प्रणाली भी कह सकते हैं। इसमें हम विशिष्ट से सामान्य (from particular to general) की ओर जाते हैं। इसमें प्रयोग व तथ्यों की सहायता से सिद्धान्त बनाये जाते हैं। प्राय इस विधि के दो भाग किये जाते हैं—प्रयोगात्मक तथा सांख्यिकीय।

(1) **प्रयोगात्मक विधि (Experimental Method)**[1]—इसमें नियन्त्रित प्रयोग किये जाते हैं जिनकी सहायता से कुछ घटनाओं का प्रभाव काफी सरल परिस्थितियों में देखा जाता है। भौतिक विज्ञानों में प्रयोगशालाओं में नियन्त्रित प्रयोग हो सकते हैं। सामाजिक विज्ञानों में इसका सीमित उपयोग ही हो पाता है। जैसे हम दूध के आहार का प्रभाव स्कूल के बच्चों पर देखने के लिए दो स्कूल चुन लेते हैं और उनमें से एक स्कूल के बच्चों को दूध की खुराक देते हैं और दूसरे स्कूल के बच्चों को नहीं देते। इस प्रकार दूध की खुराक के प्रभावों का अध्ययन किया जाता है। लेकिन अर्थशास्त्र के प्रयोगों का सीमित महत्व ही होता है। उदाहरण के लिए, व्यवसायियों पर ब्याज की ऊँची दरों का प्रभाव जानने के लिए ऐसा सम्भव नहीं होता कि उनको दो समूहों में विभाजित कर दिया जाय और एक समूह पर ऊँचे ब्याज का प्रभाव देखा जाय और दूसरे पर नीचे ब्याज का प्रभाव देखा जाय। अत अर्थशास्त्र में प्रयोगात्मक विधि की अपेक्षा सांख्यिकीय विधि का अधिक महत्व होता है।

---

1 K E Boulding op cit p 10

(2) सांख्यिकीय विधि (Statistical Method)[1]—अर्थशास्त्र में नियन्त्रित प्रयोग के स्थान पर सांख्यिकीय विधि प्रयुक्त होती है। अतः यह एक बड़े अभाव की पूर्ति करती है। सांख्यिकीय विधि का उपयोग तथ्यों के संग्रह, वर्गीकरण, विश्लेषण व निष्कर्ष निकालने में किया जाता है। इसमें सैम्पलिंग (न्यादर्श) विधि के आधार पर सम्पूर्ण क्षेत्र के बारे में परिणाम निकाले जाते हैं। जैसे मान लीजिये, हमें एक हजार श्रमिकों के उपभोग का अध्ययन करना है तो हम यह कार्य एक सौ श्रमिकों के पारिवारिक बजटों के अध्ययन के आधार पर कर सकते हैं। सैम्पलिंग प्रणाली वैज्ञानिक होती है। इसके परिणाम विश्वसनीय होते हैं और इसमें हमें त्रुटि (error) की मात्रा का भी पता होता है। सैम्पल का आकार बढ़ाकर त्रुटि की मात्रा कम की जा सकती है। अर्थशास्त्र में सांख्यिकीय विश्लेषण के दो उपयोग होते हैं—(अ) सिद्धान्तों की जाँच (testing of theories), तथा (आ) आर्थिक सम्बन्धों का सङ्ख्यात्मक माप (quantitative measurement of economic relationships)। इनका क्रमशः नीचे स्पष्टीकरण किया जाता है—

(अ) सिद्धान्तों की जाँच—मान लीजिये हमें इस परिकल्पना (hypothesis) की जाँच करनी है कि आय के बढ़ने से भोजन पर किया गया व्यय बढ़ता है। हम समस्त देश के उपभोक्ताओं का अध्ययन करने में असमर्थ होते हैं और वह आवश्यक भी नहीं होता। अतः हम उपभोक्ताओं का एक प्रतिनिधि नमूना (representative sample) चुन लेते हैं और उनकी आय व भोजन पर किये गये व्यय के आँकड़े एकत्र कर लेते हैं। हम जानते हैं कि भोजन पर किये जाने वाले व्यय पर परिवार के सदस्यों की संख्या का भी प्रभाव पड़ता है, इस प्रकार हम तीन चलराशियों (आय, सदस्यों की संख्या, भोजन पर व्यय) का अध्ययन करके उनके सम्बन्धों के बारे में प्रतीपगमन विश्लेषण (regression analysis) की सहायता से निम्न प्रकार के परिणाम निकाल सकते हैं—

(i) परिवार के सदस्यों की संख्या स्थिर मानकर, आय व भोजन पर व्यय में कितना सहसम्बन्ध (correlation) पाया जाता है।

(ii) आय को स्थिर मानने पर, परिवार के सदस्यों की संख्या व भोजन पर व्यय में कितना सह सम्बन्ध है।

(iii) आय व परिवार के सदस्यों की संख्या दोनों मिलकर भोजन पर किये जाने वाले व्यय के परिवर्तनों को किस सीमा तक स्पष्ट करते हैं, और अन्य तत्वों का भोजन के व्यय पर क्या प्रभाव पड़ता है।

इस प्रकार विभिन्न तत्व एक साथ अपना प्रभाव डालते रहते हैं, लेकिन 'प्रतीपगमन विधि' (regression method) का उपयोग करके हम पर सांख्यिकीय नियन्त्रण (statistical control) स्थापित किया जा सकता है। इस विधि की विस्तृत जानकारी के लिये सांख्यिकीय विधि का अध्ययन करना आवश्यक है। इस प्रकार जो काम भौतिक विज्ञानों

1 Richard G. Lipsey & K. Alec Chrystal: Principles of Economics, 9th ed., 199[illegible], pp. 19-23

में प्रयोगशालाओं में नियन्त्रित प्रयोग करने में सम्भव हो पाता है, वह अर्थशास्त्र जैसे सामाजिक विज्ञानों में साख्यिकी का प्रयोग करके सम्भव कर लिया जाता है। हम साख्यिकीय विधि का प्रयोग करके किसी भी चर (variable) को स्थिर कर लेते हैं, और इस प्रकार विभिन्न चरों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने में सफल हो जाते हैं। अत साख्यिकीय विधि ने अर्थशास्त्र को काफी लाभ पहुँचाया है।

(अ) आर्थिक सम्बन्धों का सख्यात्मक माप—साख्यिकीय विश्लेषण के द्वारा हम ऑकडे एकत्र करके विभिन्न चलराशियों में सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं, जैसे प्रति हैक्टेयर उपज पर खाद, पानी, खेत के आकार व मौसम आदि का अलग अलग प्रभाव जाना जा सकता है। इसके लिए भी प्रतीपगमन विश्लेषण (regression analysis) की सहायता ली जाती है। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में रिसर्च करने वालों में साख्यिकीय ज्ञान का महत्व काफी बढ गया है।

इस प्रकार अर्थशास्त्र में आजकल आगमन प्रणाली व साख्यिकीय विश्लेषण का महत्व काफी बढ गया है। नीचे हम इसके गुणों व मर्यादाओं पर प्रकाश डालते हैं।

आगमन विधि के लाभ

(1) यह विधि समष्टि अर्थशास्त्र (macro-economics) में विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होती है। हम राष्ट्रीय आय, उपभोग, बचत व विनियोग में ऑकडों की सहायता से परस्पर सम्बन्ध स्थापित करके इनमें आवश्यक परिवर्तन करने के लिए आर्थिक नीतियाँ अपना सकते हैं। बेरोजगारी, मुद्रास्फीति व राष्ट्र की विभिन्न आर्थिक समस्याओं के अध्ययन में आगमन विधि बहुत मदद करती है तथा इनके हल के लिए उचित समाधान भी प्रस्तुत कर सकती है।

(2) निष्कर्ष सीधे आकडों व तथ्यों पर आधारित होने से अधिक सार्थक व व्यावहारिक प्रतीत होते हैं। सारी प्रक्रिया कल्पनामूलक नही लगती, बल्कि वास्तविक लगती है, क्योंकि वह वास्तविक जगत के तथ्यों पर आधारित होती है। निगमन विधि में मान्यताओं व परिकल्पनाओं का अधिक जोर होता है जिससे वह बहुत-कुछ 'सैद्धान्तिक' प्रतीत होती है। लेकिन आगमन विधि में विषय से सम्बन्धित तथ्यों व आकडों की भरमार रहने से यह व्यावहारिक जगत के अधिक समीप प्रतीत होती है और इसमें अधिक रुचि दर्शायी जाती है।

(3) बदली हुई परिस्थितियों में नये तथ्यों के आधार पर सिद्धान्त में आवश्यक सशोधन भी किये जा सकते हैं। इस प्रकार यह काफी लचीली व अधिक उपयोगी मानी गयी है।

(4) साख्यिकीय विश्लेषण वैज्ञानिक होता है और इसमें त्रुटि की मात्रा (margin of error) को कम किया जा सकता है। परिणाम अधिक विश्वसनीय बनाये जा सकते हैं। इसके लिए सैम्पल का आकार बढाया जा सकता है। सैम्पलिंग विधि का आधार सुदृढ होता है और इसका उपयोग दिनों दिन बढ रहा है। इसने अर्थशास्त्र की उपयोगिता में काफी वृद्धि की है।

(5) यह विधि निगमन विधि के सहायक के रूप में कार्य करती है। निगमन-विधि से प्राप्त परिणामों की जाँच व पुष्टि तथ्यों के आधार पर की जाती है, जिसमें आगमन विधि का सहारा लिया जाता है।

आगमन विधि की मर्यादाएँ या दोष

(1) साख्यिकीय सूचना से पूर्णतया निश्चित परिणाम नहीं निकाले जा सकते। मान लीजिए हमने कुछ वर्षों के सम्बन्ध में यह देखा कि चीनी के भाव बढे और इसका उपभोग घटा। इस स्थिति को देखकर हम शीघ्र ही इस परिणाम पर पहुच सकते कि चीनी की कीमत के बढने पर इसका उपभोग अवश्य कम हो जायेगा। हो सकता है कि हमने जिन वर्षों में चीनी का उपभोग कम पाया उनमें कुछ अन्य कारणों से भी इसके उपभोग को कम किया हो, जैसे लोगों ने खण्डसारी व गुड आदि का उपभोग अधिक किया हो।

(2) आँकडों को एकत्र करने एव उनमे सही निष्कर्ष निकालने में बडी सावधानी व दक्षता की आवश्यकता होती है। पहला प्रश्न तो यह होता है कि विचाराधीन आर्थिक समस्या के सम्बन्ध में कौन से आँकडे एकत्र करना अधिक उपयोगी होगा। इसके अलावा आँकडे पर्याप्त मात्रा में एकत्र किये जाने चाहिए ताकि प्राप्त निष्कर्ष विश्वसनीय हो सकें।

(3) आँकडे स्वय नहीं बोलते, उनसे अर्थपूर्ण परिणाम निकालने के लिए तर्क (logic) का सहारा लिया जाता है। अत यह विधि अकेली काम नहीं कर सकती। इसमें तर्क-विधि या निगमन विधि का भी साथ में उपयोग किया जाता है।

(4) साख्यिकीय विश्लेषण में व्यक्तिगत जाँचकर्ता के पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण का काफी भय रहता है। प्राय अपने मत की पुष्टि करने के लिए ही आँकडों का उपयोग करने की चेष्टा की जाती है। अत आँकडों का निष्पक्ष उपयोग करना आवश्यक होता है।

साराश यह है कि आगमन विधि के सफल प्रयोग के लिए उच्च कोटि के साख्यिकीय ज्ञान की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि आजकल अर्थशास्त्र के अध्ययन में साख्यिकी व गणित जैसे विषयों की अनिवार्यता बढती जा रही है ताकि आगे चलकर आगमन विधि का उपयोग करने में सुविधा रहे।

दोनों विधियाँ एक-दूसरे की पूरक

प्राचीन अग्रेज अर्थशास्त्रियों ने निगमन विधि पर अधिक बल दिया था, जबकि जर्मनी में ऐतिहासिक विचारधारा के समर्थकों ने आगमन विधि को अधिक आवश्यक बतलाया था। प्रोफेसर मार्शल ने दोनों विधियों को परस्पर पूरक बतलाया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपनी पुस्तक में श्मोलर (Schmoller) का उद्धरण दिया है जो इस प्रकार है, "पर्यवेक्षण (observation) व वर्णन, परिभाषा व वर्गीकरण प्रारम्भिक क्रियाएँ होती हैं। लेकिन हम इनके द्वारा आर्थिक घटनाओं की परस्पर निर्भरता के ज्ञान तक पहुँचना चाहते हैं— आगमन व निगमन दोनों की वैज्ञानिक ज्ञान के लिए उसी प्रकार

आवश्यकता होती है जिस प्रकार चलने के लिए बायें व दायें पैर दोनों की आवश्यकता होती है।[1]

सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र में जो वैज्ञानिक विधि अपनाई जाती है उसमें निगमन व आगमन दोनों का प्रयोग होता है जो निम्नांकित चित्र से स्पष्ट होता है—[2]

(1) व्यवहार के सम्बन्ध में परिभाषाएँ व मान्यताएँ

↓

(2) तार्किक निगमन की प्रक्रिया (A process of logical deduction)

↓

(3) निष्कर्ष (predictions) (जिन्हें प्राय परिणाम कहते हैं)

↓

(4) पर्यवेक्षण की प्रक्रिया तथा तथ्यों का सांख्यिकीय विश्लेषण

(5) (1) सिद्धान्त पर्यवेक्षित तथ्यों के विपरीत है अथवा नहीं है, या (2) यह सिद्धान्त प्रतियोगी सिद्धान्तों की तुलना में बेहतर व्याख्या प्रस्तुत करता है अथवा नहीं करता है।

(यदि सिद्धान्त प्रमाण के विपरीत हो) ↑ अथवा (or) ↓

↑ यह (either)

(7) नये प्राप्त किये गये तथ्यों के अनुसार सिद्धान्त में संशोधन ← (1)

(6) यदि सिद्धान्त की तथ्यों से पुष्टि हो जाए तो और कोई कार्य नहीं करना पड़ता, हालांकि हमें सिद्धान्त की निरन्तर छान-बीन व जाँच करते रहना चाहिए।

(8) इस सिद्धान्त को त्याग कर इसके स्थान पर अधिक उत्तम सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाता है।

चित्र 1—सिद्धान्त की रचना में निगमन व माप की पारस्परिक क्रिया
(The interaction of deduction and measurement in theorizing)

---

1 Observation and description definition and classification are the preparatory activities. But what we desire to reach thereby is a knowledge of the interdependence of economic phenomena Induction and deduction are both needed for scientific thought as the left and right foot are both needed for walking Quoted in Marshall's Principles of Economics, p 24

2. Richard G Lipsey & K. Alec Chrystal op cit. pp 15-19 व पूर्व संस्करण।

सेमुअल्सन व नोरढाउस का मत है कि 'अर्थशास्त्री आर्थिक जीवन को समझने के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाते है। इसके लिए आर्थिक मामलो पर दृष्टि डालनी होती है और सांख्यिकी व ऐतिहासिक रिकार्ड का उपयोग किया जाता है।'[1]

स्पष्टीकरण—चित्र में वैज्ञानिक विधि के कुल आठ चरण बतलाये गये हैं। हम प्रारम्भ में कुछ परिभाषाएँ व मान्यताएँ लेकर चलते हैं। बाद में तार्किक विश्लेषण से कुछ निष्कर्षो पर पहुँचते हैं। फिर निष्कर्षो की जाच के लिए तथ्यों का निरीक्षण व परीक्षण करते हैं। यदि तथ्यों से सिद्धान्त की पुष्टि हो जाती है तो वह स्वीकार्य माना जाता है (हालाँकि भविष्य में भी इसकी पुन जाँच करते रहना पडता है)।

यदि तथ्यो से सिद्धान्त की पुष्टि नही होती तो वह अस्वीकृत हो जाता है। इसके बाद हमारे समक्ष दो मार्ग रह जाते हैं—एक तो नये तथ्यों के आधार पर सिद्धान्त में सशोधन करना और इसके लिए पुन नई परिभाषाओं व नई मान्यताओं को लेकर विश्लेषण प्रारम्भ करना, दूसरा मार्ग है इस सिद्धान्त को छोडकर इसके स्थान पर अधिक श्रेष्ठ या बेहतर सिद्धान्त को स्वीकार करना और उसके लिए पुन चरण एक से प्रारम्भ करना। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्पूर्ण विधि निगमन-आगमन का एक उचित मिश्रण होती है और इनके सह अस्तित्व को प्रकट करती है।

पूर्व अध्ययन के आधार पर निष्कर्ष निकलता है कि उपर्युक्त चित्र में प्रथम दौर में चरण (1) से (3) तक निगमन विधि आती है और बाद में दूसरे दौर में चरण (4) से (8) तक आगमन विधि आती है। चरण (6) पर पहुँचने पर या तो एक पूरा वृत (circle) समाप्त हो जाता है अथवा चरण (8) से आगे पुन चरण (1) प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार 'निगमन आगमन' परस्पर एक दूसरे से पूर्णतया जुडे हुए हैं। अन्तर केवल इतना है कि हम अपने अध्ययन का आरम्भ तर्क से न करके तथ्य से कर सकते हैं। लेकिन तर्क → तथ्य → तर्क का क्रम अथवा निगमन → आगमन → निगमन का क्रम वैज्ञानिक विधि का एक आवश्यक अग होता है। प्रश्न निगमन अथवा आगमन (deduction or induction) के प्रयोग का नही, बल्कि निगमन तथा आगमन (deduction and induction) दोनो के एक साथ प्रयोग का होता है। अत दोनों विधियाँ एक दूसरे की सहायक या पूरक होती हैं। इस प्रकार आजकल इन दोनों विधियों में से चुनाव करने का पहले वाला विवाद लगभग समाप्त हो गया है, क्योंकि दोनों का सह अस्तित्व पाया जाता है। दोनों विधियाँ एक दूसरे में इतनी घुल मिल गई हैं कि लगभग एकरूप व समरस हो गई है। इनमें प्रमुख अन्तर केवल प्रथम चरण को लेकर रह गया है। यदि हम परिभाषाओं व मान्यताओं से प्रारम्भ करते हैं तो निगमन विधि से प्रारम्भ करना माना जायेगा और यदि आँकडों व तथ्यों के सकलन से प्रारम्भ करते है तो आगमन विधि से प्रारम्भ करना माना जायेगा।

1 Economists use the scientific approach to understand economic life This involves observing economic affairs and drawing upon statistics and the historical record —Samuelson & Nordhaus Economics 16th ed 1998 p 6

अब कल्पना कीजिए कि किसी कारण से वस्तु की कीमत बढ जाती है तो माँग की मात्रा व पूर्ति की मात्रा में अन्तर आ जायेगा। बढी हुई कीमत पर माँग की मात्रा में कमी आयेगी तथा पूर्ति की मात्रा बढायी जायेगी। पूर्ति की मात्रा के बढने पर कीमत में गिरने की प्रवृत्ति लागू होगी तथा साथ में माँग की मात्रा में भी कुछ वृद्धि होगी। इस प्रकार आगे चलकर पुन सन्तुलन स्थापित हो जायेगा। इसीलिए इसे स्थिर सन्तुलन (Stable equilibrium) कहा गया है।

स्टोनियर व हेग के अनुसार, 'स्थैतिक विश्लेषण के अन्तर्गत जिस प्रश्न का विवेचन किया जाता है, वह यह बतलाता है कि माँग व पूर्ति वक्रों के दिये हुए और अपरिवर्तित रहने पर बाजार में सन्तुलन कीमत कैसे निर्धारित होती है। इस प्रकार स्थैतिक विश्लेषण हमें यह दर्शाता है कि उपभोक्ता, फर्में, उद्योग व सम्पूर्ण अर्थव्यवस्थाएँ कीमत, उत्पत्ति आय व रोजगार के कुछ स्तरों पर कैसे स्थिर, अथवा स्थैतिक सन्तुलन में रह सकते हैं।'[1] इस प्रकार स्थैतिक अर्थशास्त्र (Static economics) में हम अर्थव्यवस्था के कुछ आधारभूत तत्वों को दिया हुआ व ज्ञात मान लेते है। उदाहरण के लिए, इसमें जनसख्या का आकार व योग्यता, प्राकृतिक साधनों की मात्रा, उपभोक्ता वर्ग की रुचि आदि को ले सकते हैं। ये आधारभूत तथ्य विभिन्न वस्तुओं की उत्पत्ति, उनकी कीमतें व उनका निर्माण करने वाले उत्पादन के साधनों की आमदनी के स्तर को निर्धारित करते हैं।

स्थैतिक अर्थशास्त्र का स्थिर अवस्था (stationary state) की अवधारणा से सम्बन्ध होता है। बोल्डिंग के अनुसार स्थिर अवस्था में जनसख्या की मात्रा, आयु रचना व दक्षता, पूँजीगत पदार्थों का भण्डार व बनावट आदि उत्पादन के साधन स्थिर रहते हैं। उत्पादन उपभोग के बराबर होता है। कीमतें स्थिर होती हैं। समाज के ज्ञान में कोई वृद्धि नहीं होती। वहाँ कोई विकास नहीं होता। समाज की सम्पूर्ण क्रियाएँ केवल क्षतिपूर्ति में लगी रहती हैं।[2] शुम्पीटर के अनुसार, स्थिर अवस्था में अर्थव्यवस्था केवल पुनरुत्पादन (reproduction) करती है। वह विकास का कार्य नहीं कर पाती। उदाहरण के लिए जितनी मशीनों का मूल्य ह्रास होता है उतनी ही मशीनों का नया निर्माण हो पाता है, जिससे पूँजी निर्माण की गति भी स्थिर बनी रहती है।

स्थैतिक अर्थशास्त्र में साधारणतया समय तत्व (time element) नहीं होता लेकिन कुछ विद्वानों का मत है कि फसलों के उत्पादन में जो समय समय पर उतार चढाव आते हैं वे स्थैतिक अर्थशास्त्र में आयेंगे क्योंकि ये उतार चढाव उत्पादन की विधियों, पूँजी आदि के स्थिर रहते हुए, केवल मौसम के परिवर्तनों के कारण ही आते हैं। वहाँ

1 Static analysis discusses the question of how for example an equilibrium price is arrived at in a market where the demand and supply curves are known and remain unchanged Static analysis enables us to analyse a situation where consumers firms industries and whole economies are in stable or static equilibrium at certain levels of prices output, income and employment. —Stonier and Hague A Text Book of Economic Theory 5th ed 1980 p 605

2 K. E. Boulding Economic Anaysis vol I, p 79

उत्पादन को प्रभावित करने वाले आधारभूत तत्वों में कोई परिवर्तन नहीं होता। रोबर्ट डोर्फमैन ने ठीक ही कहा है कि'स्थैतिकी का आर्थिक विश्लेषण के उन भागों से सम्बन्ध होता है जो बाजार के सन्तुलन-मूल्यों का निर्धारण करते हैं और उन परिवर्तनों पर विचार करते हैं जो बाजार के बाहर की बदलती हुई परिस्थितियों से उत्पन्न होते हैं।'[1] इस प्रकार स्थैतिकी में भी बाजार के बाहर की बदलती हुई परिस्थितियों जैसे मौसम के परिवर्तन शामिल किये जाते हैं।

प्रोफेसर हिक्स ने अपनी पुस्तक 'Value and Capital' में कहा है कि 'मैं आर्थिक स्थैतिकी (economic statics) आर्थिक सिद्धान्त के उन भागों को कहता हूँ जहाँ हमें तिथि सूचित करने (dating) की कोई परवाह नहीं होती, आर्थिक प्रावैगिकी (economic dynamics) उन भागों को कहता हूँ जहाँ प्रत्येक सख्या की तिथि सूचित करनी आवश्यक होती है।'[2] हम आगे चलकर देखेंगे कि आधुनिक अर्थशास्त्री हिक्स की प्रावैगिक अर्थशास्त्र की परिभाषा से पूर्णतया सहमत नही हैं, क्योंकि उनके अनुसार इसमें केवल तिथिकरण (dating) ही पर्याप्त नही है, बल्कि विभिन्न तिथियों या समयों (different dates or times) के सन्दर्भ में चरों (variables) का परस्पर सम्बन्ध स्थापित किया जाना प्रावैगिक अर्थशास्त्र के लिए आवश्यक शर्त होती है।

स्थैतिक विश्लेषण का अर्थशास्त्र में प्रयोग—अर्थशास्त्र में एक निश्चित समय पर माँग व पूर्ति की अनुसूचियों (schedules) के दिये हुए होने पर कीमत-निर्धारण का प्रश्न स्थैतिक विश्लेषण में आता है। इसके अतिरिक्त उपयोगिता—ह्रास-नियम, तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त व कीन्स का राष्ट्रीय आय के निर्धारण का विश्लेषण भी इसी के अन्तर्गत आते हैं।

प्रो मार्शल का अधिकाश विश्लेषण स्थैतिक ही रहा है, हालाकि उसने कीमत-सिद्धान्त में अल्पकाल व दीर्घकाल का समावेश करके प्रावैगिक सिद्धान्त की ओर कदम बढाने का प्रयास किया था।

चित्र 1—स्थैतिक सन्तुलन
(Static equilibrium)

संलग्न चित्र की सहायता से व्यष्टि-अर्थशास्त्र में स्थैतिक विश्लेषण का प्रयोग समझाया गया है।
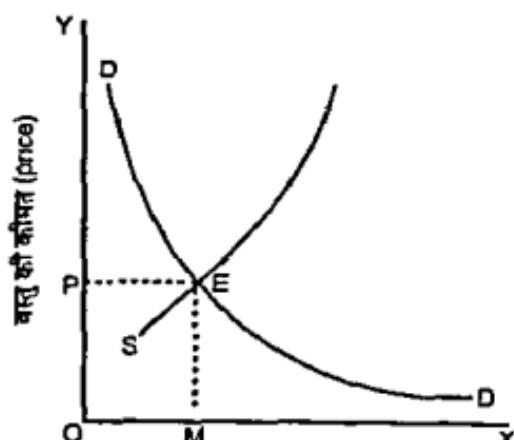
1 Robert Dorfman, Prices and Markets, Second edition, 1972 p 11

2 'I call Economic Statics those parts of economic theory where we do not trouble about dating Economic Dynamics those parts where every quantity must be dated'—J R. Hicks, Value and Capital p 115

पहले बताया जा चुका है कि कुछ बातों को स्थिर मानकर माँग व पूर्ति वक्र बनाये जाते हैं। उनके कटान से E बिन्दु पर सन्तुलन कीमत OP और माँग व पूर्ति की मात्रा OM निर्धारित होते हैं। यहाँ दिये हुए समय में OP कीमत पर माँग की मात्रा पूर्ति की मात्रा के बराबर होती है।

मर्यादाएँ—स्थैतिक विश्लेषण सरल होता है और यह अर्थव्यवस्था की कार्य प्रणाली को समझने में सहायता पहुँचाता है लेकिन इसकी निम्न मर्यादाएँ होती हैं—

(i) **आर्थिक विकास को समझाने मे अनुपयुक्त**—यह वास्तविकता से कुछ दूर होता है। आजकल आर्थिक विकास आदि के अध्ययनों का महत्व बढ गया है जिनमें प्रावैगिक विश्लेषण का उपयोग किया जाता है।

(ii) **विभिन्न समयो के अध्ययन मे अनुपयुक्त**—हम आगे चलकर देखेंगे कि प्रावैगिक अर्थशास्त्र में भूत वर्तमान व भविष्य के बीच सम्बन्ध स्थापित किया जाता है और आर्थिक चलराशियों (economic variables) के भावी अनुमान लगाये जा सकते हैं। लेकिन स्थैतिक अर्थशास्त्र में यह कार्य नहीं हो सकता। **अत स्थैतिक आर्थिक विश्लेषण अध्ययन में सहायक तो होता है, लेकिन नीति निर्धारण मे आजकल प्रावैगिक अर्थशास्त्र का महत्व बहुत बढ गया है।**

रोबर्ट डोर्फमैन ने स्थैतिकी के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि 'स्थैतिकी प्रावैगिकी से भी अधिक महत्वपूर्ण होती है। अशत तो इसका कारण यह है कि अधिकाश मानवीय विषयों में अन्तिम स्थिति (ultimate destination) का ही विशेष महत्व होता है। अशत इसका कारण यह भी है कि अन्तिम सन्तुलन ही समय सम्बन्धी उन मार्गों (time paths) को प्रबल रूप से प्रभावित करता है जो इस तक पहुचने के लिए अपनाये जाते हैं जबकि इसके विपरीत दिशा में प्रभाव काफी कमजोर किस्म का पाया जाता है। स्थैतिकी प्रावैगिकी से काफी आसान भी होती है और यह काफी विकसित भी हो चुकी है।'[1]

इस प्रकार डोर्फमैन का मत है कि अन्तिम सन्तुलन का अधिक महत्व होने के कारण स्थैतिकी का महत्व बढ गया है। स्थैतिकी उन समय सम्बन्धी मार्गों को तो नहीं समझाती जो अन्तिम सन्तुलन पर ले जाते हैं लेकिन स्वय अन्तिम सन्तुलन का उन समय मार्गों पर काफी प्रबल किस्म का प्रभाव पडता है। इससे स्थैतिक विश्लेषण की उपयोगिता स्पष्ट हो जाती है।

2 तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण (Comparative Static Analysis) अथवा तुलनात्मक स्थैतिकी (Comparative Statics)

इसमें हम एक सन्तुलन से दूसरे सन्तुलन (from one equilibrium to another equilibrium) पर जाते हैं और उनकी परस्पर तुलना करते हैं। यह स्थैतिक विश्लेषण व प्रावैगिक विश्लेषण के बीच की अवस्था होती है। इसमें एक तत्व के

1 Robert Dorfman op cit p 11

परिवर्तन के मार्ग (path of change) पर कोई विचार नही किया जाता। यह स्थैतिक तो इसलिए है कि इसमे समय तत्व की ओर ध्यान नही दिया जाता और तुलनात्मक इसलिए है कि इसमे दो सन्तुलन-दशाओ की तुलना की जाती है।

रिचर्ड जी लिप्से व के एलक क्रिस्टल के अनुसार, इसमे हम सन्तुलन की एक स्थिति से प्रारम्भ करते है और अध्ययन किये जाने वाले परिवर्तन का समावेश करते है। नई सन्तुलन की स्थिति निर्धारित की जाती है और इसकी तुलना प्रारम्भिक स्थिति से की जाती है।'[1]

चित्र 2—तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण का उदाहरण

मार्शल ने कीमत सिद्धान्त में तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण (comparative static analysis) का उपयोग किया था। स्थैतिक विश्लेषण में माँग व पूर्ति की दशाएँ दी हुई होती हैं लेकिन तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण में इनमें परिवर्तन होने दिया जाता है और नये सन्तुलन की तुलना पुराने सन्तुलन से की जाती है। तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण का अर्थ उपर्युक्त चित्र से स्पष्ट हो जायेगा।

चित्र 2 में माँग वक्र के DD से बदलकर D D हो जाने से नया सन्तुलन E पर स्थापित होता है जहाँ कीमत OP व मात्रा OM हो जाते हैं जो E की तुलना में अधिक है।
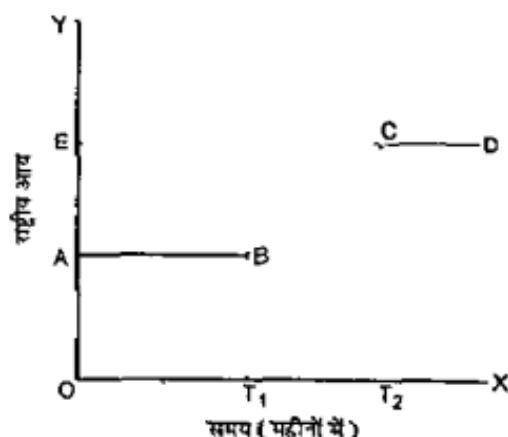
चित्र 3—तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण का दूसरा उदाहरण (समष्टि अर्थशास्त्र के क्षेत्र में)

तुलनात्मक स्थैतिकी का समष्टि-अर्थशास्त्र मे उपयोग—व्यष्टि अर्थशास्त्र के अलावा समष्टि अर्थशास्त्र में इस विधि के प्रयोग का श्रेय लार्ड कीन्स को दिया जा सकता है। कीन्स

1 'We use the method known as comparative stat cs We start from a pos t on of equ br um and then introduce the change to be stud ed The new equ l br um pos t on is determ ned and compared w th the ong nal one Richard G Lipsey & K Alec Chrystal Principles of Econom cs N nth Ed tion 1999 p 47

ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'General Theory of Employment, Interest and Money' (1936) में तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण का उपयोग किया है। इसमें विनियोग की वृद्धि का प्रभाव आय पर दिखलाया गया है और इस सम्बन्ध में गुणक (multiplier) के विचार का उपयोग किया गया है। गुणक का अर्थ है विनियोग में वृद्धि होने से आय अन्त में कितनी बढ़ती है, जैसे 100 रुपये के विनियोग से यदि आय 300 रुपये बढ़ती है, तो गुणक 3 हुआ।

तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण क्या करता है और क्या नहीं करता है यह संलग्न चित्र से समझा जा सकता है।

चित्र में राष्ट्रीय आय OY-अक्ष पर और समय OX-अक्ष पर मापे गये हैं। हम मान लेते हैं कि प्रारम्भ में राष्ट्रीय आय OA (अथवा BT_1 है जो O से T_1 तक स्थिर रहती है अर्थात् इस अवधि में राष्ट्रीय आय में वृद्धि की दर शून्य रहती है। T_1 बिन्दु पर सरकार कुछ विनियोग बढ़ाती है और इसे प्रतिमाह बढ़ाती रहती है और T_2 समय में आय अपने नये स्थिर सन्तुलन OE (अथवा CT_2) पर पहुँच जाती है। T_2 पर पुनः आय की वृद्धि दर शून्य हो जाती है। राष्ट्रीय आय T_1 से T_2 के बीच में AE मात्रा बढ़ी। यहाँ हमने आय की दो स्थिर मात्राओं—OA और OE की तुलना की है। **तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण म आय के परिवर्तन के मार्ग BC का अध्ययन नहीं किया जाता।** यह काम प्रावैगिक अर्थशास्त्र का होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण में दो सन्तुलन की दशाओं की तुलना की जाती है, लेकिन परिवर्तन के मार्ग (path of change) पर कोई विचार नहीं किया जाता।

मर्यादाएँ—(1) आर्थिक परिवर्तनों के अध्ययन के लिए अनुपयुक्त—स्थैतिक विश्लेषण की भाँति तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण भी आर्थिक उतार चढ़ावों (economic fluctuations) व आर्थिक प्रगति (economic growth) के अध्ययन में सहायता नहीं कर सकता। अतः इसका भी सीमित प्रयोग ही हो पाता है।

(2) परिवर्तन के मार्ग पर विचार नहीं करना—जैसाकि ऊपर बतलाया गया है कि यह परिवर्तन के मार्ग (path of change) का अध्ययन नहीं करता जो बहुत आवश्यक होता है। यह तो केवल एक सन्तुलन के स्तर की तुलना दूसरे सन्तुलन के स्तर से करता है।

(3) अक्षम विश्लेषण विधि—तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण यह भी नहीं बतला सकता कि एक दी हुई सन्तुलन की स्थिति कभी प्राप्त भी कर ली जायेगी अथवा नहीं।

3 प्रावैगिक विश्लेषण (Dynamic Analysis) अथवा प्रावैगिकी (Dynamics)

प्रावैगिक अर्थशास्त्र (dynamic economics) अथवा आर्थिक प्रावैगिकी (economic dynamics) में आधारभूत तत्व जैसे जनसंख्या का आकार व योग्यता, प्राकृतिक साधनों की मात्रा, उपभोक्ता वर्ग की रुचि पूँजी, तकनीकी ज्ञान आदि बदले जा

सकते हैं और इनके परिवर्तनों का प्रभाव उत्पत्ति के परिवर्तन की दर (rate of change of output) पर देखा जाता है। केम्ब्रिज अर्थशास्त्री आर एफ हैरड (R F Harrod) के अनुसार, प्रावैगिक अर्थशास्त्र में परिवर्तन की दर के परिवर्तन (change in the rate of change) का अध्ययन किया जाता है। जैसे राष्ट्रीय आय 2 प्रतिशत सालाना से बढ़ती हुई 6 प्रतिशत सालाना तक जा सकती है, अथवा पहले 6 प्रतिशत बढ़ सकती है और आगे चलकर 2 प्रतिशत बढ़ सकती है, आदि। इस प्रकार हैरड के अनुसार, 'प्रावैगिकी उस अर्थव्यवस्था का अध्ययन करती है जिसमे उत्पत्ति की दरें परिवर्तित हो रही हैं।'[1] अत प्रावैगिक अर्थशास्त्र में परिवर्तन की दर के उतार-चढाव का अध्ययन किया जाता है।

प्रोफेसर हिक्स के अनुसार, प्रावैगिक अर्थशास्त्र में समय तत्व या तिथिकरण (dating) होता है और परिवर्तन के मार्ग का भी अध्ययन किया जाता है।

रिचर्ड जी लिप्से के मतानुसार, 'प्रावैगिक विश्लेषण प्रणालियों (जैसे अकेले बाजारों या सम्पूर्ण अर्थव्यवस्थाओं) के उस व्यवहार का अध्ययन करता है जो असन्तुलन की दशाओं से सम्बन्धित होता है।'[2]

प्रोफेसर रैग्नर फ्रिश (Ragnar Frisch) ने प्रावैगिक विश्लेषण की मुख्य विशेषता यह बतलायी है कि इसमें चरों का सम्बन्ध विभिन्न अवधियों के सन्दर्भ में देखा जाता है, जैसे इस वर्ष का उपभोग पिछले वर्ष की आमदनी पर निर्भर करे तो यह प्रावैगिक विश्लेषण का अंग माना जायेगा।

फ्रिश के अनुसार, 'एक प्रणाली उस स्थिति में प्रावैगिक हो जाती है जबकि एक समयावधि में इसका व्यवहार ऐसे कार्यात्मक समीकरण (functional equations) से निर्धारित हो जिनमें चर विभिन्न समयों के सन्दर्भ मे शामिल होते हैं।'[3]

फ्रिश ने एक दूसरे लेख में भी प्रावैगिक मॉडल उसे बतलाया है जिसमें एक समयावधि में चरों (variables) के मूल्य किसी दूसरी समयावधि के कुछ चरों के मूल्य अथवा कुछ प्राचलों (parameters) के मूल्यों से सम्बद्ध होते हैं।[4]

---

1 Dynamics studies an economy in which rates of output are changing'—R F Harrod Towards a Dynamic Economics, p 4

2 Dynamic analysis, which is the study of the behaviour of systems in states of disequilibrium Richard G Lipsey An Introduction to Positive Economics, 7th ed, 1989 p 120 इसका उल्लेख नवें सस्करण मे नही है।

3 'A system is dynamical if its behaviour over time is determined by functional equations in which variables at different points of time are involved in an essential way'—Ragnar Frisch, in Economic Essays in Honour of Gustav Cassel 1933

4 'A dynamic model is one in which the values of the variables in one period are related to the values of some of the variables or to the values of some of the parameters in another period'—Ragnar Frisch, On the Notion of Equilibrium and Disequilibrium' Review of Economic Studies 1936, Vol 3, pp 100-105
'प्राचल' (parameters) वे राशियाँ होती हैं जो पहले स्वय निर्धारित की जाती है जैसे कीमतें आदि।

इस प्रकार फ्रिश व सेमुअल्सन आदि ने प्रावैगिक अर्थशास्त्र में विभिन्न समयों में चरों (Variables) का सम्बन्ध स्थापित करने को आवश्यक माना है। अत प्रावैगिक अर्थशास्त्र में (अ) चरों के परिवर्तन की बदलती हुई दरों, तथा (आ) विभिन्न समयों के सन्दर्भ में चरों के पारस्परिक सम्बन्धों पर ध्यान आकर्षिक किया जाता है।

अर्थशास्त्र मे उपयोग—प्रावैगिक विश्लेषण की सहायता से आर्थिक उतार चढाव व आर्थिक प्रगति का अध्ययन किया जाता है। 1930 की दशाब्दी व 1940 की दशाब्दी के प्रारम्भ में इनके सम्बन्ध में कई सिद्धान्तों को विकसित किया गया था। फ्रिश, कैलेस्की व सेमुअल्सन ने आर्थिक उतार चढाव के सम्बन्ध में गणितीय विश्लेषण प्रस्तुत किये हैं। इनसे आर्थिक जगत की वास्तविकता का पूरी तरह से विवेचन तो नहीं हो सका है, लेकिन आर्थिक उतार चढाव के कारणों को समझने में काफी सहायता मिली है।

दूसरी ओर इग्लैण्ड में सर रॉय हैरड व अमरीका में डोमर ने आर्थिक विकास का सिद्धान्त (Theory of Economic Growth) प्रस्तुत किया है, जो प्रावैगिकी पर आधारित है।

प्रावैगिक विश्लेषण में आय (उत्पत्ति) के अलावा जनसख्या, पूँजी सगह, तकनीकी प्रगति आदि तत्वों में होने वाले परिवर्तनों पर भी ध्यान दिया जाता है। अर्थशास्त्र में ब्याज के सिद्धान्त लाभ के सिद्धान्त आदि में भी प्रावैगिक विश्लेषण प्रयुक्त किया जाता है। जैसा कि पहले कहा गया है इस विश्लेषण में आज की एक आर्थिक चलराशि का सम्बन्ध पिछली अवधि की किसी दूसरी आर्थिक चलराशि से स्थापित किया जा सकता है। जैसे वर्तमान अवधि में आमदनी पिछली अवधि में किये गये विनियोग की मात्रा पर निर्भर करती है। इसे निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है—

$$Y_t = f(I_{t-1})$$

जहाँ पर y आमदनी, I विनियोग, t वर्तमान समय, t 1 पिछली अवधि को सूचित करते हैं और f का अर्थ फलन (function) है। यदि 2002 के वर्ष की राष्ट्रीय आय 2001 में किये गये विनियोग पर निर्भर करे तो यह सम्बन्ध उपर्युक्त फलन की सहायता से प्रस्तुत किया जा सकता है।

इसी तरह उद्यमकर्ता विनियोग सम्बन्धी निर्णय लेते समय भविष्य की माँग के अनुमानों से भी प्रभावित होते हैं। इस प्रकार प्रावैगिक अर्थशास्त्र में विभिन्न राशियों में भूत, वर्तमान व भविष्य के सन्दर्भ में अध्ययन किया जाता है। **प्रावैगिक विश्लेषण अधिक व्यावहारिक व वास्तविक किस्म का होता है** आजकल इसका महत्व दिनोंदिन बढता जा रहा है। आर्थिक नियोजन के अपनाये जाने से समग्र अर्थशास्त्र और प्रावैगिक अर्थशास्त्र दोनों को काफी बढावा मिला है।

यहाँ पूर्ववर्णित माँग व पूर्ति वक्रों के सन्दर्भ में प्रावैगिक विश्लेषण को स्पष्ट किया जाता है। इस प्रकार के विश्लेषण में परिवर्तन के मार्गों को दिखाया जाता है। इस सम्बन्ध में चित्र 4 व 5 पर ध्यान दिया जाना चाहिए। इनमें वर्तमान अवधि की

पूर्ति पिछली अवधि की कीमत पर निर्भर मानी गयी है। लेकिन वर्तमान अवधि की माँग वर्तमान कीमत पर निर्भर करती है।

तन्तुजाल (The Cobweb)[1]

तन्तुजाल एक प्रकार का मकडी का जाल होता है।

यहाँ हम दो प्रकार के तन्तुजालों का उल्लेख करेंगे। प्रथम को स्थिर तन्तुजाल (stable cobweb) कहते हैं जिसमें सन्तुलन एक बार भग होने पर पुन स्थापित हो जाता है। दूसरे को अस्थिर तन्तुजाल (unstable cobweb) कहते हैं जिसमें एक बार सन्तुलन भग होने पर पुन स्थापित नहीं हो पाता। तथा वास्तविक कीमत व वस्तु की मात्राएँ अपने सन्तुलन स्तर से उत्तरोत्तर अधिक दूर होती जाती है। ये दोनों प्रकार के तन्तुजाल प्रावैगिक विश्लेषण में शामिल होते हैं।

अब हम एक वस्तु की कीमत-निर्धारण में दोनों प्रकार के तन्तुजालों का वर्णन करेंगे—

(1) स्थिर तन्तुजाल (Stable Cobweb)—चित्र 4 में प्रारम्भिक सन्तुलन E बिन्दु पर है जहाँ सन्तुलन मात्रा OQ है। मान लीजिए, किसी कारण से पूर्ति घटकर OQ_1 पर आ जाती है तो तुरन्त कीमत OP से बढकर OP_1 अथवा E से बढकर E_1 हो जायेगी। बढी हुई कीमत से प्रभावित होकर उत्पादक अगली अवधि में पूर्ति बढाकर F_2 कर देंगे जिससे कीमत घटकर E_2 हो जायेगी। इसके फलस्वरूप अगली
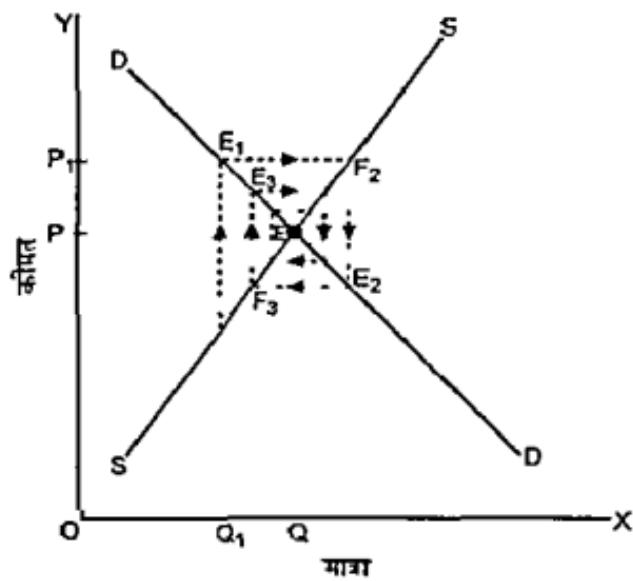
चित्र 4—प्रावैगिक विश्लेषण का उदाहरण—स्थिर तन्तुजाल (A stable cobweb)

1 Richard G Lipsey, An Introduction to Positive Economics 7th ed 1989, pp 121-122

अवधि में पूर्ति F_3 और कीमत E_3 का क्रम जारी रहेगा और अन्त में पुन E बिन्दु पर सन्तुलन स्थापित हो जायेगा। इस प्रकार इस विशेष स्थिति में E की ओर सन्तुलन के स्थापित होने की प्रवृत्ति होगी। इसीलिए इसे स्थिर तन्तुजाल (stable cobweb) कहा गया है।

स्मरण रहे कि यहाँ $S_t = f(P_{t-1})$ की मान्यता स्वीकार की गई है जिसका अर्थ यह है कि वर्तमान अवधि में पूर्ति की मात्रा पिछली अवधि की कीमत पर निर्भर करती है। लेकिन $D_t = f(P_t)$ मानी जाती है जिसका अर्थ है कि वर्तमान अवधि में माँग की मात्रा वर्तमान अवधि की कीमत पर निर्भर करती है।

(2) **अस्थिर तन्तुजाल (Unstable Cobweb)**—चित्र 5 में अस्थिर तन्तुजाल का वर्णन किया गया है। यहाँ पूर्ति वक्र माँग वक्र से ज्यादा चपटा (flatter) होता है। यहाँ भी प्रारम्भिक सन्तुलन E पर है जहाँ SS वक्र DD वक्र को काटता है। यहाँ पर वस्तु की सन्तुलन मात्रा OQ होती है। मान लीजिए, किसी कारण से पूर्ति घटकर OQ_1 पर आ जाती है तो तुरन्त कीमत OP से बढकर OP_1 अथवा E से बढकर E_1 हो जायेगी। बढी हुई कीमत से प्रभावित होकर उत्पादक अगली अवधि में पूर्ति बढाकर F_2 कर देंगे। इससे कीमत घटकर E_2 हो जायेगी। इसके फलस्वरूप अगली अवधि में पूर्ति घटकर F_3 हो जायेगी और कीमत बढकर E_3 हो जायेगी और यह क्रम आगे भी जारी रहेगा। इस प्रकार इस उदाहरण में एक बार असन्तुलन प्रारम्भ होने पर वह निरन्तर आगे बढता ही जायेगा। इसलिए इसे अस्थिर तन्तुजाल का नाम दिया गया है। अर्थशास्त्र के उच्च अध्ययन में इन प्रश्नों की जाँच की जायेगी कि यह असन्तुलन कहाँ तक बढता जायेगा और किस स्थान पर जाकर रुकेगा। फिलहाल हमारे लिए यही जानना
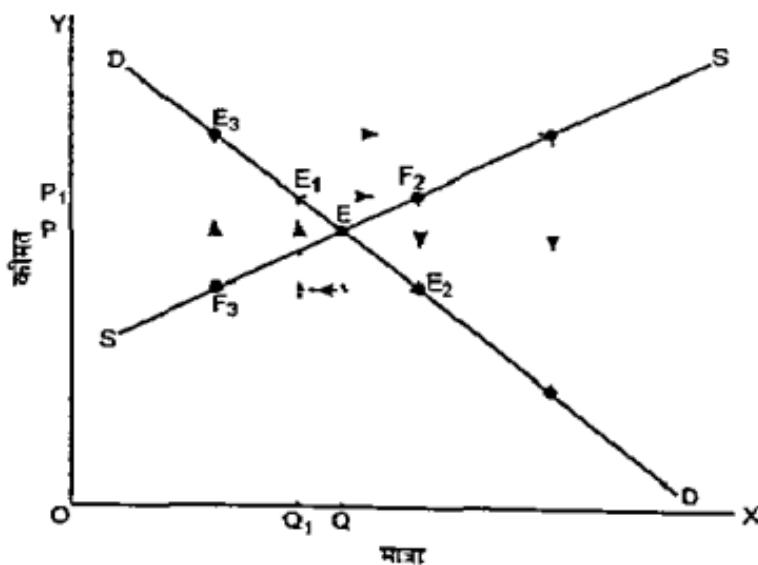
चित्र 5—प्रावैगिक विश्लेषण का उदाहरण—अस्थिर तन्तुजाल (An unstable cobweb)

पर्याप्त होगा कि यह तन्तुजाल (cobweb) पिछले तन्तुजाल से भिन्न है, क्योंकि इसमें एक बार हलचल प्रारम्भ होने पर वह निरन्तर बढ़ती ही जाती है। ऐसा माँग-वक्र व पूर्ति वक्र की विशेष आकृतियों के कारण होता है।

प्रावैगिक विश्लेषण की कठिनाइयाँ—प्रावैगिक विश्लेषण व्यवहार में बहुत उपयोगी होता है लेकिन यह काफी जटिल भी होता है। इसका उपयोग प्राय विशेषज्ञ ही कर पाते हैं। इसमें 'अन्य बातें समान रहने'(Other things remaining the same) नामक वाक्यांश का प्रयोग नहीं किया जाता। समय तत्व (time element) के प्रवेश से जटिलताएँ और भी बढ़ जाती हैं। इसमें एक सीमा के बाद उच्चस्तरीय गणित का प्रयोग भी आवश्यक हो जाता है। विलियम जे बोमल ने प्रावैगिक आर्थिक विश्लेषण में विस्तृत रूप से अन्तर समीकरण (difference equation) की गणित का उपयोग किया है। आधुनिक अर्थशास्त्री प्रावैगिक विश्लेषण का विकास करने में सलग्न हैं। इसमें गणित का प्रयोग उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है।

(इ) आंशिक व सामान्य सतुलन
(Partial and General Equilibrium)

सन्तुलन का अर्थ—अर्थशास्त्र में अनेक जगह सन्तुलन की चर्चा आती है जैसे उपभोक्ता का सन्तुलन, उत्पादक या फर्म का सन्तुलन, उद्योग का सन्तुलन, सन्तुलन-कीमत, सन्तुलन विनिमय की दर, श्रम बाजार या पूँजी-बाजार में सन्तुलन, मौद्रिक सन्तुलन आदि, आदि। इसलिए सन्तुलन की अवधारणा से परिचित होना आवश्यक है।

सन्तुलन की अवधारणा हमें उस दिशा की ओर सकेत करती है, जिस तरफ आर्थिक प्रक्रियाएँ गतिमान होती हैं। सन्तुलन का महत्व इसलिए नहीं है कि वह वास्तव में प्राप्त हो जाता है, बल्कि इसलिए है कि उसकी तरफ जाने की प्रवृत्ति रहती है। उदाहरण के लिए, वस्तु की कीमत उस बिन्दु पर निर्धारित होती है जहाँ माँग की मात्रा उसकी पूर्ति की मात्रा के बराबर हो जाती है। उसे सन्तुलन कीमत कहते हैं। मान लीजिए, किसी कारण से वह सन्तुलन कीमत भग हो जाती है, और वह बढ़ जाती है। ऐसी स्थिति में ऊची कीमत पर पूर्ति की मात्रा माँग की मात्रा से अधिक हो जायेगी, जिससे कीमत में घटने की प्रवृत्ति लागू होगी, और पुन पहले वाली सन्तुलन-कीमत स्थापित हो जायेगी, जहाँ माग की मात्रा पूर्ति की मात्रा के बराबर होगी। इसी प्रकार यदि किसी कारण से पूर्व सन्तुलन-कीमत भग होकर घट जाता है, तो माँग की मात्रा पूर्ति की मात्रा से अधिक हो जायेगी, जिससे कीमत में पुन वृद्धि की प्रवृत्ति लागू हो जायेगी, और पहले वाली सन्तुलन-कीमत स्थापित हो जायेगी। इसे स्थिर सन्तुलन (Stable equilibrium) कहते हैं। इसमें आर्थिक इकाइयाँ असन्तुलन की स्थिति से सन्तुलन की स्थिति की ओर गतिमान होती रहती हैं, इसलिए इसे स्थिर सन्तुलन कहा जाता है।

इसके विपरीत यदि सन्तुलन की स्थिति के भग होने पर आर्थिक इकाइयाँ उससे दूर चली जाती हैं, तो उसे अस्थिर सन्तुलन (unstable equilibrium) कहा जाता है।

सन्तुलन की चर्चा में हम 'अन्य बातों को समान मान कर' चलते हैं। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि उपभोक्ता-सन्तुलन में उसकी आमदनी, रुचि-अरुचि, अन्य वस्तुओं की कीमतों, आदि को अपरिवर्तित मान लिया जाता है। इसी प्रकार उत्पादक के सन्तुलन में साधनों की कीमतों, टेक्नोलोजी, आदि को स्थिर मान लिया जाता है।

अर्थशास्त्र में आंशिक व सामान्य सन्तुलन में भी अन्तर करना होता है।

आंशिक या विशेष सन्तुलन (partial or particular equilibrium)

अर्थ—ईकर्ट व लेफ्टविच के अनुसार आंशिक सन्तुलन उस सन्तुलन को कहते हैं जो एक वैयक्तिक इकाई (an individual unit) और/अथवा अर्थव्यवस्था का एक उप भाग (a sub-section of the economy) बाहर से उसके लिए दी हुई दशाओं से प्राप्त करते हैं। इस प्रकार इसमें दो बातें ध्यान देने योग्य हैं, प्रथम, आंशिक सन्तुलन का सम्बन्ध वैयक्तिक इकाई जैसे उपभोक्ता या फर्म से होता है,अथवा अर्थव्यवस्था के एक उप भाग से होता है, जैसे एक उद्योग (लोहा व इस्पात उद्योग, सूती वस्त्र उद्योग आदि) से होता है। द्वितीय, इन आर्थिक इकाइयों के लिए बाहर से कुछ दशाएँ दी हुई होती हैं, जिनके अनुसार इनको अपना समायोजन करना होता है।

जैसे प्रत्येक उपभोक्ता अपनी दी हुई आमदनी, अन्य वस्तुओं व सेवाओं की दी हुई कीमतों तथा अपनी दी हुई पसद व प्राथमिकताओं के आधार पर एक वस्तु की अपनी खरीद की मात्रा निर्धारित करता है ताकि वह अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त कर सके। इसी प्रकार एक व्यावसायिक फर्म अपने सीमित उत्पादन के साधनों को दी हुई टेक्नोलोजी व साधनों की दी हुई कीमतों, आदि की दशाओं में, इस प्रकार से काम में लेता है ताकि वह अधिकतम लाभ प्राप्त कर सके।

अर्थव्यवस्था के उप-भाग के उदाहरण में एक उद्योग को लिया जा सकता है। दीर्घकाल में उद्योग में नई फर्में प्रवेश करती रहती हैं और पुरानी फर्में उद्योग छोडकर बाहर जाती रहती हैं। अत एक उद्योग भी दी हुई परिस्थितियों के अनुसार अपना सन्तुलन निर्धारित करता रहता है।

स्मरण रहे कि उपभोक्ताओं, फर्मों व उद्योगों के समक्ष पायी जाने वाली दशाओं के बदल जाने से वे सन्तुलन की नई दिशाओं की ओर जाने का प्रयास करते हैं।

आंशिक सन्तुलन कब उपयुक्त रहता है ?

आंशिक सन्तुलन दो दशाओं में ज्यादा उपयोगी माना जाता है[1] —

(1) जब आर्थिक हलचल एक फर्म या एक उद्योग तक सीमित होती है—जैसे, मान लीजिए, जयपुर में स्थित किसी फैक्ट्री के श्रमिक हडताल कर देते हैं, अथवा, जयपुर में ही स्थित इन्जीनियरी उद्योग की कुछ फैक्ट्रियों के श्रमिक हडताल कर देते हैं, तो

1 Eckert and Leftwich The Price System and Resource Allocation, Tenth edition 1988 p 581

इस प्रकार की हडताल के प्रभाव कुछ फर्मों व श्रमिकों तक सीमित रहेंगे। इसलिए उनका अध्ययन आशिक सन्तुलन की सहायता से किया जायेगा।

(ii) जब हमे किसी आर्थिक हलचल के प्रथम क्रम के प्रभावो (First-order effects) का अध्ययन करना हो तो भी आशिक सन्तुलन की विधि उपयुक्त रहती है। जैसे मान लीजिए, सरकार युद्ध की सामग्री का उत्पादन बढाने का निर्णय घोषित करती है तो इसका सबसे पहला प्रभाव लोहे व इस्पात उद्योग पर पडेगा। देश में इस्पात की माँग बढेगी। इसलिए इस्पात के उत्पादन इस्पात की कीमतों इस उद्योग के मुनाफों, इस उद्योग में साधनों की माग, रोजगार व उनकी कीमतो, आदि पर पडने वाले प्रभावों का अध्ययन आशिक सन्तुलन की सहायता से किया जा सकता है। लेकिन ध्यान रहे कि ये प्रथम क्रम के प्रभाव माने जाएँगे। इनका अन्त यही पर नही माना जाएगा। आगे चलकर इसके प्रभाव अधिक गहरे व व्यापक होने के कारण ये सामान्य सन्तुलन के दायरे में प्रवेश कर जाएँगे।

सामान्य सन्तुलन (General equilibrium)

अर्थ—सामान्य सन्तुलन उस समय स्थापित होता है जब कभी वैयक्तिक आर्थिक इकाइयाँ तथा अर्थव्यवस्था के सभी उप भाग (sub-sections) एक साथ आशिक सन्तुलन में होते हैं। सामान्य सन्तुलन की अवधारणा सभी आर्थिक इकाइयों व अर्थव्यवस्था के सभी भागों की परस्पर निर्भरता (interdependence) को स्पष्ट करती है। इसका विवेचन लियों वालरा (Leon Walras), जे आर. हिक्स, वैसली डबल्यू लिओन्टीफ (Wassily W Leontief) सेमुअल्सन, आदि अर्थशास्त्रियों ने किया है जो उच्चतर अर्थशास्त्र में काम आता है। इसमें गणित का व्यापक रूप से प्रयोग किया जाता है। यहाँ हम सन्तुलन की अवधारणा का सरल रूप में अर्थ स्पष्ट करते हैं।

सामान्य सन्तुलन की प्रक्रिया के दो उदाहरण

(i) सरकार द्वारा युद्ध की सामग्री बढाने के निर्णय का प्रभाव—हम पहले ही बता चुके हैं कि जब सरकार युद्ध का अधिक सामान बनाने का निर्णय करती है तो पहला प्रभाव देश के इस्पात उद्योग पर पडता है। इसे आशिक सन्तुलन के अन्तर्गत लिया जा सकता है, क्योंकि हमें सर्वप्रथम इस्पात के मूल्यों, उत्पादन, इस उद्योग के मुनाफों, इसमें उत्पादन के साधनों के उपयोग व उनकी कीमतों आदि पर विचार करना होता है। लेकिन बाद में इससे अन्य उद्योगों व आर्थिक क्रियाओं में भी हलचलें पैदा होने लगती हैं। इस्पात के स्थानापन्न पदार्थों की माँग भी बढती है, जिससे हलचलों का दायरा उत्तरोतर बढता जाता है। अन्त में ये प्रभाव सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था तक फैल जाते हैं। अत युद्ध का अधिक सामान बनाने की सरकारी घोषणा के प्रभाव समस्त अर्थव्यवस्था में व्याप्त होने के कारण इसका अध्ययन सामान्य सन्तुलन विश्लेषण के द्वारा करना पडता है।

(ii) भारत सरकार द्वारा उर्वरको पर सब्सिडी घटाने के प्रभाव—हमारे देश में पिछले वर्षों में खाद्यान्नों व उर्वरकों पर सब्सिडी का आर्थिक भार बहुत बढ गया है

और यह काफी सीमा तक असहनीय हो गया है। इसलिए बजट घाटे को कम करने के लिए उर्वरकों पर सब्सिडी कम करने पर बहुत जोर दिया जाने लगा है। प्रश्न उठता है कि उर्वरकों के लिए दी जाने वाली सब्सिडी या आर्थिक सहायता को कम करने से अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ेंगे?

इसका अध्ययन एक दशक वर्ष पूर्व आई जेड भट्टी व एस पी पाल ने सामान्य सन्तुलन मॉडल की सहायता से किया था।[1]

इसमें उर्वरकों पर सब्सिडी कम करने के प्रभाव निम्न प्रकार से देखे गये थे—

(1) उर्वरकों की कीमतें कितनी बढ़ेंगी?

(2) उर्वरकों की खपत पर क्या प्रभाव पड़ेगा?

(3) कृषिगत उत्पादन पर क्या प्रभाव पड़ेगा?

(4) गेहूँ, चावल व अन्य फसलों के बाजार भाव पर क्या असर होगा?

(5) देश में कीमत सूचनाक (थोक व उपभोक्ता मूल्य दोनों पर) क्या प्रभाव पड़ेगा?

(6) खाद्यान्नों की सरकारी वसूली या खरीद पर क्या प्रभाव पड़ेगा?

(7) देश में खाद्यान्नों के बफर स्टॉक पर क्या प्रभाव पड़ेगा?

(8) बजट घाटा कितना कम होगा? आदि, आदि।

इस प्रकार उर्वरकों पर सब्सिडी घटाने का प्रथम प्रभाव उर्वरक उद्योग पर पड़ता है, जिसे आंशिक सन्तुलन के अन्तर्गत देखा जा सकता है। लेकिन वह पर्याप्त नहीं माना जाता। इसलिए इसके सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर व्यापक प्रभाव जानने के लिए सामान्य सन्तुलन विश्लेषण का उपयोग करना उचित माना जाता है। उसी से हमको इसके विस्तृत प्रभावों को भलीभांति समझने में मदद मिलती है।

अत उर्वरकों पर सब्सिडी कम करने का निर्णय उर्वरक उत्पादन व उर्वरक उपभोग के अलावा खाद्यान्नों के बाजार भावों, कीमत सूचनाक सरकार के खाद्यान्नों के भण्डार, आदि को प्रभावित करके अर्थव्यवस्था में काफी परिवर्तन उत्पन्न कर सकता है। इसलिए इसका विश्लेषण सामान्य सन्तुलन की सहायता से करना उचित माना जाता है।

सामान्य सन्तुलन के दो उद्देश्य

(i) इससे अर्थव्यवस्था के सम्पूर्ण रूप को देखने का अवसर मिलता है जो विशुद्ध सिद्धान्त की दृष्टि से बहुत लाभकारी होता है।

(ii) इसकी सहायता से आर्थिक हलचल के प्रथम क्रम, द्वितीय क्रम तृतीय क्रम व अन्य उच्च क्रम के प्रभाव जाने जा सकते हैं। अत इसकी मदद से एक आर्थिक

---

1 I Z Bhatty and S P Pal Food and Fertiliser Reducing Subsidies I and II, The Economic Times March 15 and 16 1991

परिवर्तन के अन्तिम प्रभाव पूरी तरह से जाने जा सकते हैं, जो अन्यथा सम्भव नहीं होते।

'ईकर्ट व लेफ्टविच' के अनुसार हलचल से पहले एक बडी, छपछपाहट-सी (big-splash) उत्पन्न होती है, जिसे 'आंशिक सन्तुलन विश्लेषण' सम्हाल लेता है। लेकिन इससे आगे लहरें व तरंगें उत्पन्न होती हैं जो एक दूसरे को प्रभावित करती जाती हैं और छपछपाहट के दायरे को भी प्रभावित करती हैं। तरंगें आगे चलती जाती हैं और उत्तरोत्तर छोटी होती जाती हैं और अन्त में पूर्णतया क्षीण होकर गायब हो जाती हैं। इन सभी प्रकार के पुनर्समायोजनों (readjustments) का विश्लेषण करने के लिए सामान्य सन्तुलन के उपकरणों की आवश्यकता होती है।[1] इस कथन से सामान्य सन्तुलन की प्रक्रिया ठीक से स्पष्ट हो जाती है।

सामान्य सन्तुलन विश्लेषण के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि यह बहुत जटिल किस्म का होता है। लियों वालरा ने इसका विवेचन गणितीय समीकरणों की सहायता से किया था जिनमें विभिन्न आर्थिक चलराशियों में आपस में सम्बन्ध स्थापित किए गए थे। विभिन्न समीकरणों के हल से चलराशियों के वे मूल्य प्राप्त होते हैं जो सामान्य सन्तुलन के अनुरूप होते हैं। इससे अर्थव्यवस्था के विभिन्न भागों की परस्पर निर्भरता को समझने में भी सहायता मिलती है।

सामान्य सन्तुलन विश्लेषण का दूसरा रूप लियोन्टीफ ने 'इन्पुट-आउट विश्लेषण' (input-output analysis) के माध्यम से प्रस्तुत किया है। इसमें अर्थव्यवस्था को कुछ क्षेत्रों (sectors) या उद्योगों में विभाजित किया जाता है। एक उद्योग का 'आउटपुट' दूसरे उद्योग के लिए 'इन्पुट' बन जाता है। इस प्रकार एक उद्योग की दूसरे उद्योग पर निर्भरता प्रकट हो जाती है। वस्तुओं, सेवाओं व साधनों के अन्तर-उद्योग प्रवाहों (Inter-industry flows) से काफी सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। इस विश्लेषण की सहायता से आर्थिक नियोजन व आर्थिक विकास के सम्बन्ध में काफी जानकारी मिलती है।

स्मरण रहे कि आंशिक सन्तुलन व सामान्य सन्तुलन में आपस में कोई विरोध नहीं है। हम आंशिक सन्तुलन से प्रारम्भ करते हैं, और धीरे-धीरे आगे बढते जाते हैं। इनमें एक निरन्तरता व परस्पर कडी पाई जाती है। हम प्रथम क्रम के प्रभाव को देखकर, द्वितीय क्रम, तृतीय क्रम व अन्य उच्च क्रमों के प्रभाव देखते जाते हैं। एक फर्म के सन्तुलन से एक उद्योग के सन्तुलन पर जाते हैं, तत्पश्चात् पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में एक निजी उद्यमवाली अर्थव्यवस्था का सम्पूर्ण अध्ययन करके कई तरह के परिणाम निकालते हैं। इस तरह आंशिक सन्तुलन से सामान्य सन्तुलन की तरफ बढने का प्रयास निरन्तर जारी रहता है।

---

1 Eckert and Leftwich The Price System and Resource Allocation, 10th ed 1988 p 582

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 'सापेक्ष कीमतों' का अध्ययन किसके अन्तर्गत आता है?
(अ) व्यष्टि अर्थशास्त्र (ब) स्थैतिक अर्थशास्त्र
(स) समष्टि अर्थशास्त्र (द) प्रावैगिक अर्थशास्त्र (अ)

2 किसी समय चीनी के उद्योग में कीमत निर्धारण का अध्ययन किया जाएगा?
(अ) व्यष्टि अर्थशास्त्र में (ब) आंशिक सन्तुलन के अन्तर्गत
(स) स्थैतिक सन्तुलन में (द) एक साथ तीनों के अन्तर्गत (द)

3 आर्थिक चलराशियों का सम्बन्ध विभिन्न समयावधियों में स्थापित करके प्रावैगिक विश्लेषण पर बल दिया—
(अ) जे आर हिक्स ने (ब) रेग्नर फ्रिश ने
(स) हैरड ने (द) सेमुअल्सन ने (ब)

4 आर्थिक चलराशियों में 'परिवर्तन की दरों' के प्रभाव के आधार पर प्रावैगिक विश्लेषण पर जोर दिया?
(अ) मार्शल ने (ब) सेमुअल्सन ने
(स) हैरड ने (द) शुम्पीटर ने (स)

5 चीनी के माग वक्र के परिवर्तन से इसकी कीमत पर पडने वाले प्रभाव का अध्ययन कहलाएगा—
(अ) स्थैतिक विश्लेषण (ब) प्रावैगिक विश्लेषण
(स) तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण (द) आंशिक विश्लेषण (स)

6 'आर्थिक विकास' का अध्ययन किस प्रकार के विश्लेषण के द्वारा किया जाता है?
(अ) समष्टि अर्थशास्त्र में (ब) समष्टि प्रावैगिक विश्लेषण में
(स) प्रावैगिक विश्लेषण में (द) सामान्य सन्तुलन विधि से (ब)

7 सेमुअल्सन ने 'प्रावैगिक विश्लेषण' किसका स्वीकार किया?
उत्तर—रैगनर फ्रिश व हैरड दोनों का मिला जुला, अर्थात् चलराशियों का विभिन्न समयों का सम्बन्ध तथा उनमें परिवर्तन की दरों का प्रभाव।

8 विश्व में क्रूड तेल के भावों में अत्यधिक वृद्धि का भारतीय अर्थव्यवस्था पर व्यापक प्रभाव किस प्रकार आका जाएगा?
(अ) समष्टि आर्थिक विश्लेषण के द्वारा
(ब) सामान्य सन्तुलन विश्लेषण के द्वारा
(स) आंशिक सतुलन विश्लेषण के द्वारा
(द) व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण के द्वारा (ब)

अन्य प्रश्न

1 निम्नलिखित को समझाइये—
(अ) व्यष्टि एव समष्टि आर्थिक विश्लेषण
(ब) स्थैतिक एव गत्यात्मक आर्थिक विश्लेषण (Raj IIyr 2002)

2. (अ) व्यष्टि तथा समष्टि आर्थिक विश्लेषण को समझाइये।
(ब) स्थैतिक, गत्यात्मक तथा तुलनात्मक स्थैतिक आर्थिक विश्लेषण को रेखाचित्रों का प्रयोग करते हुए समझाइये। (Raj IIyr. 2001)

3 *उचित उदाहरणों द्वारा निम्न अवधारणाओं को समझाइये।*
(i) आर्थिक सन्तुलन और सामान्य सन्तुलन
(ii) स्थैतिक और प्रावैगिक विश्लेषण (MDSU, Ajmer IIyr 2001)

4 निम्नलिखित में से किन्हीं दो में भेद कीजिये—
(i) व्यष्टि तथा समष्टि विश्लेषण
(ii) स्थैतिक तथा प्रावैगिक विश्लेषण
(iii) वास्तविक तथा आदर्शात्मक विश्लेषण (MDSU, Ajmer IIyr. 2000)

5 स्थैतिक एव प्रावैगिक अर्थशास्त्र की परिभाषा दीजिए। इनके महत्व तथा सीमाओं को बतलाइए। *(MLSU, Udaipur Iyr. 2001)*

6 अर्थशास्त्र में साम्य से आप क्या समझते हैं? आशिक एव सामान्य साम्य की धारणाओं की व्याख्या कीजिए तथा आर्थिक विश्लेषण में इनके महत्व की विवेचना कीजिए। (MLSU, Udaipur, Iyr. 2001)

4

अर्थव्यवस्था की आधारभूत समस्याएँ
(Basic Problems of An Economy)

अर्थव्यवस्था उस आर्थिक सगठन (economic organisation) को कहते हैं जो उत्पादन के साधनो का उपयोग करके मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बनाया जाता है। यह एक कटु सत्य है कि उत्पादन के विभिन्न साधन जैसे भूमि, श्रम, पूजी व उद्यम सीमित मात्रा में पाये जाते हैं, अर्थात् इनकी पूर्ति की मात्रा इनकी माँग की तुलना में कम होती है। इसलिए इन्हें सीमित अथवा परिमित (scarce) साधन कहा जाता है। दूसरी ओर मानवीय आवश्यकताएँ असीमित व अनेक प्रकार की होती हैं। साधनो की सीमितता तथा आवश्यकताओ की असीमितता की दशा में चुनाव (choice) करना आवश्यक हो जाता है। यदि हमें सब कुछ प्राप्त नहीं हो सकता तो हमें 'इसे लेने अथवा उसे लेने' (either this or that) की नीति ही अपनानी पडेगी। इस प्रकार अर्थशास्त्र सीमितता (scarcity) को जीवन का प्रमुख तत्व मानता है। यदि आर्थिक साधन असीमित मात्रा में पाये जाते तो उत्पादन भी असीमित मात्रा में हो पाता जिससे सभी व्यक्तियों की आवश्यकताओ की पूर्ति हो जाती और कोई चुनाव नही करना पडता। इसी प्रकार यदि लोगों की आवश्यकताएँ सीमित होती तो वे सीमित साधनों का उपयोग करके पूरी भी जा सकती थी, और उन्हे किसी भी प्रकार की समस्या का सामना नही करना पडता। यहाँ पर साधनो की सीमितता के साथ उनके दूसरे गुण पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए और वह है एक साधन के कई उपयोग अथवा वैकल्पिक उपयोगों (alternative uses) की सम्भावना। उदाहरण के लिए, बिजली का उपयोग रोशनी के लिए तथा रेडियो, टी वी, फ्रीज व पखा चलाने आदि के लिए किया जा सकता है। इसलिए बिजली की मात्रा के सीमित होने से विभिन्न उपयोगों में इसके आवटन (allocation) की समस्या उत्पन्न हो जाती है। यदि रोशनी में बिजली का ज्यादा इस्तेमाल किया जाता है तो सम्भव है एयर कन्डीशन के लिए इसके उपयोग में कटौती करनी पडे, अथवा किसी अन्य उपयोग में कटौती करनी पडे। यही स्थिति अधिकाश साधनों के सम्बन्ध में देखने को मिलती है। यदि एक साधन का एक ही उपयोग होता तो भी सम्भवत चुनाव की समस्या जटिल नहीं होती, क्योंकि वह साधन उस विशेष उपयोग में लगा दिया जाता।

उत्पादन बढा देते हैं। अत इस प्रश्न का अध्ययन कीमत सिद्धान्त (Theory of Price) के अन्तर्गत किया जाता है।

(2) वस्तुओं का उत्पादन किन विधियों का उपयोग करके किया जाय—एक वस्तु के उत्पादन की एक से अधिक तकनीकी विधियाँ हो सकती हैं। उत्पादन की विभिन्न विधियों में से सर्वोत्तम विधि का चुनाव करना होता है। हम जानते हैं कि खेती में प्राय दो विधियाँ अपनायी जा सकती हैं—प्रथम, गहन खेती, और द्वितीय, विस्तृत खेती। गहन खेती के अन्तर्गत सीमित भूमि पर खाद, श्रम व मशीनरी की मात्रा बढाकर उत्पादन किया जाता है और विस्तृत खेती में भूमि की मात्रा बढाकर अन्य साधनों का सीमित मात्रा में उपयोग किया जाता है। इसी प्रकार उत्पादन के अन्य क्षेत्रों में अधिक मात्रा में श्रम व कम मात्रा में पूँजी की विधि एव कम मात्रा में श्रम व अधिक मात्रा में पूजी का विधि के बीच चुनाव करना पड सकता है। उत्पादन की विभिन्न विधियों के बीच चुनाव की समस्या का अध्ययन उत्पादन सिद्धान्त (Theory of Production) के अन्तर्गत किया जाता है। उत्पादक दी हुई लागत पर अधिकतम उत्पादन अथवा दिया हुआ उत्पादन न्यूनतम लागत पर करने का प्रयास करता है। इस विधि को अपनाकर वह अपना लाभ अधिकतम कर सकता है।

(3) वस्तुएँ समाज के सदस्यों में किस प्रकार वितरित की जाती हैं—अर्थशास्त्रियों ने इस बात पर भी ध्यान दिया है कि राष्ट्रीय उत्पत्ति का वितरण श्रमिकों, पूँजीपतियों व भू स्वामियों के बीच किस प्रकार से होता है। साधारणतया समाज में वस्तुओं का वितरण (product-distribution) आय के वितरण (income-distribution) से प्रभावित होता है। जिन व्यक्तियों की आमदनी ऊची होती है उनके हिस्से में उत्पत्ति का अश भी अधिक आता है और कम आमदनी वालों के हिस्से में उत्पत्ति का थोडा अश ही आ पाता है। आजकल सरकारी हस्तक्षेप से आय के वितरण को बदलने का प्रयास किया जाता है। इसके लिए कर व व्यय प्रणाली का सहारा लिया जाता है। धनिकों पर कर लगाकर प्राप्त राशि का उपयोग निर्धन वर्ग के कल्याण के लिए किया जाता है। अत वस्तुओं का उत्पादन किनके लिए किया जायगा, इस प्रश्न का महत्व बहुत अधिक है, और इसका अध्ययन वितरण सिद्धान्त (Theory of Distribution) के अन्तर्गत किया जाता है।

तीन अन्य समस्याएँ

हमने ऊपर प्रत्येक समाज के समक्ष पायी जाने वाली तीन केन्द्रीय या आधारभूत आर्थिक समस्याओं का उल्लेख किया है। क्या, कैसे व किसके लिए— ये तीन समस्याएँ प्रत्येक अर्थव्यवस्था को हल करना होती हैं। लेकिन रिचर्ड जी लिप्से व के एलक क्रिस्टल ने तीन आर्थिक समस्याएँ बतलायी हैं जिनका हल भी प्रत्येक अर्थव्यवस्था को निकालना होता है। ये समस्याएँ इस प्रकार हैं—

(4) साधनों का उपयोग कितनी कार्यकुशलता से किया जा रहा है—यह निश्चित कर लेने के बाद कि किन वस्तुओं का उत्पादन किया जाना है तथा उत्पादन किन विधियों का उपयोग करके किया जाता है और वस्तुओं का वितरण किस प्रकार से किया जाता है, यह जानना भी आवश्यक है कि क्या उत्पादन अथवा वितरण पूर्ण कार्यकुशलता

से हो रहा है। उत्पादन उस दशा में अकार्यकुशल (inefficient) माना जाता है जबकि साधनों के उपयोग में फेर-बदल करने से कम से कम एक वस्तु का उत्पादन बढ जाय और साथ में किसी अन्य वस्तु का उत्पादन न घट जाय। मान लीजिये, किसी दिये हुए समय में हम 10 इकाई X व 20 इकाई Y का उत्पादन कर रहे हैं। यदि साधनों के उपयोग के बदलने पर हम 10 इकाई X व 21 इकाई Y अथवा 11 इकाई X व 21 इकाई Y का उत्पादन करने में समर्थ हो जाते हैं, तो यह कहना सही है कि 10 इकाई X व 20 इकाई Y वाली परिस्थिति में साधनों का उपयोग अकार्यकुशल ढग से हो रहा था।

इसी प्रकार वस्तुओं का वितरण उस दशा में अकार्यकुशल अथवा घटिया किस्म का माना जायेगा जबकि समाज में विभिन्न व्यक्तियों के बीच इसका पुनर्वितरण करने से कम से कम एक व्यक्ति को अवश्य लाभ पहुचे और साथ में किसी अन्य व्यक्ति को हानि न उठानी पडे। अत वस्तुओं का ऐसा पुनर्वितरण समाज में वितरण की कार्यकुशलता को बढाता है।

समाज को लाभ पहुँचाने के लिए उत्पादन व वितरण की अकार्यकुशलताओं को समाप्त किया जाना चाहिए। कार्यकुशलता के प्रश्न कल्याण अर्थशास्त्र (Welfare Economics) में आते हैं और यह अर्थशास्त्र की काफी जटिल शाखा मानी गयी है। इसका विस्तृत विवेचन पुस्तक के अतिम भाग में किया गया है।

यहाँ पर यह स्मरण रखना होगा कि उपर्युक्त चार समस्याएँ व्यष्टि अर्थशास्त्र (micro-economics) के क्षेत्र में आती हैं। आगे की दो समस्याएँ समष्टि अर्थशास्त्र (macro-economics) के अन्तर्गत आती हैं।

(5) **क्या देश के साधनो का पूर्ण उपयोग हो रहा है, अथवा क्या उनमें से कुछ साधन बेकार पड़े हैं**—सीमित साधनों के बेकार पडे रहने की समस्या सुनने में जरा अटपटी लगती है, लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि विकसित व अर्द्ध विकसित दोनों प्रकार के देशों में उत्पादन के कुछ साधन कई कारणों से फालतू पडे रह सकते है। हम जानते हैं कि उद्योग प्रधान विकसित देशों में वस्तुओं की माँग में गिरावट आ जाने से कल-कारखाने बन्द हो जाते हैं जिससे औद्योगिक श्रमिकों में बेकारी फैल जाती है। वहाँ कारखाने होते हैं, कच्चा माल होता है, मैनेजर होते हैं, लेकिन कभी कभी माल की माँग घट जाने से लोगों को बेकारी का सामना करना पडता है। इसके विपरीत अर्द्ध विकसित या विकासशील कृषि प्रधान देशों में पूँजी व अन्य सहायक साधनों के अभाव में श्रम का पूरा उपयोग नहीं हो पाता जिससे बेकारी की दशा पायी जाती है। भारत में बहुत कुछ इसी प्रकार की बेकारी देखने को मिलती है।

1930 की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी काफी गम्भीर किस्म की थी। लार्ड कीन्स ने 1936 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'General Theory of Employment, Interest and Money' में औद्योगिक देशों में माल की कमी से उत्पन्न बेकारी का विश्लेषण व समाधान प्रस्तुत करके आर्थिक सिद्धान्त का क्षेत्र काफी विस्तृत कर दिया था।

साधनों के अप्रयुक्त रहने की समस्या का अध्ययन व्यापार-चक्र के सिद्धान्त (Trade Cycle Theory) में किया जाता है जो समष्टि-अर्थशास्त्र में आता है। इसका राष्ट्रीय आय के विश्लेषण से भी गहरा सम्बन्ध होता है।

(6) क्या अर्थव्यवस्था की वस्तुओं व सेवाओं को उत्पन्न करने की क्षमता बढ़ रही है अथवा यथास्थिर बनी हुई है—यह प्रश्न भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि अर्थव्यवस्था की माल उत्पन्न करने की क्षमता बढ़ रही है अथवा यथास्थिर बनी हुई है। उत्पादन क्षमता के बढ़ने पर ही जीवन-स्तर बढ़ सकता है। पाश्चात्य देशों ने विज्ञान व तकनीक का विकास करके अपनी उत्पादन क्षमता का काफी विकास कर लिया है। यह आवश्यक है कि एक देश में उत्पादन क्षमता का विकास जनसंख्या की वार्षिक वृद्धि दर से अधिक हो, अन्यथा रहन सहन का स्तर ऊंचा करने में कठिनाई हो जायेगी। यह जानना बड़ा रुचिप्रद है कि एक देश की उत्पादन क्षमता दूसरे देश की तुलना में कैसे ज्यादा हो सकी है? इस प्रकार के प्रश्न आर्थिक विकास के सिद्धान्त (Theory of Economic *Growth*) *के अन्तर्गत आते हैं। आजकल अर्थशास्त्र के इस क्षेत्र का काफी अध्ययन* किया जा रहा है, जिससे विकास के बारे में हमारी जानकारी बढ़ी है। लेकिन इस क्षेत्र में अभी काफी अनुसन्धान करने की आवश्यकता बनी हुई है।

उत्पादन-सम्भावना वक्र की अवधारणा
(Concept of Production Possibility Curve)

हमने ऊपर अर्थव्यवस्था की जिन समस्याओं का उल्लेख किया है उन्हें उत्पादन सम्भावना वक्र की सहायता से समझाया जा सकता है। सेमुअल्सन ने उत्पादन सम्भावना वक्र को उत्पादन सम्भावना सीमा या परिधि (production-possbility frontier) अथवा संक्षेप में 'p-p frontier' कहा है। इसे वस्तु-रूपान्तरण वक्र (product transformation curve) भी कहते हैं। इन विभिन्न नामों की सार्थकता आगे चलकर अपने आप स्पष्ट हो जायेगी।

किसी भी अर्थव्यवस्था में एक दिये हुए समय में श्रम, पूंजी, प्राकृतिक साधन व तकनीकी ज्ञान का एक निश्चित भण्डार होता है। मान लीजिये उन साधनों का उपयोग केवल दो पदार्थों—मक्खन व बन्दूक—बनाने में किया जाता है और एक अर्थव्यवस्था में इन दोनों वस्तुओं के उत्पादन की निम्न सम्भावनाएँ विद्यमान हैं—

वैकल्पिक उत्पादन-सम्भावनाएँ

सम्भावनाएं	मक्खन (लाख किलो में)	बन्दूक (हजारों में)
A	0	20
B	1	18
C	2	15
D	3	11
E	4	6
F	5	0

उपर्युक्त सारणी की विभिन्न सम्भावनाओं को सलग्न रेखाचित्र 1 द्वारा दिखाया गया है।

चित्र 1—उत्पादन सम्भावना वक्र

स्पष्टीकरण—चित्र 1 में OX अक्ष पर मक्खन व OY अक्ष पर बन्दूक की मात्राएँ दिखलायी गयी हैं। *A, B, C, D, E* व *F* बिन्दु सारणी के अनुसार मक्खन व बन्दूक के विभिन्न सयोगों को सूचित करते हैं। इनको मिलाने वाला वक्र उत्पादन सम्भावना वक्र कहलाता है। यदि समस्त साधन मक्खन के उत्पादन में लगा दिये जाते तो F बिन्दु प्राप्त होता। इसी प्रकार समस्त साधनों को बन्दूकें बनाने में लगा देने पर A बिन्दु प्राप्त होता। दोनों वस्तुओं के विभिन्न सयोग A से F के बीच में पाये जाते हैं। एक देश युद्ध-काल में सम्भवत B व C बिन्दु चुनेगा ताकि वह अधिक बन्दूकें अथवा अधिक मात्रा में युद्ध सामग्री बना सके और शान्तिकाल में D या E बिन्दु चुनेगा ताकि वह अधिक मक्खन अथवा नागरिक उपभोग की अधिक वस्तुएँ उत्पादित कर सके। अत एक देश अपनी आवश्यकताओ के अनुसार ही उत्पादन करना चाहेगा और वस्तुओं के उपयुक्त सयोग का चुनाव करेगा।

यह स्मरण रखना होगा कि उत्पादन सम्भावना वक्र एक अधिकतम की सम्भावना (maximal possibility) को व्यक्त करता है। इसका अर्थ यह है कि दी हुई उत्पादन तकनीक का उपयोग करके साधनों के पूर्ण उपयोग की स्थिति में एक समाज दो वस्तुओं की अधिकतम मात्राओं के जो सयोग उत्पन्न कर सकता है वे एक उत्पादन सम्भावना वक्र के द्वारा दर्शाये जाते है। ये सयोग चित्र 1 में A, B C, D, E व F हैं। ये साधनों के पूर्ण उपयोग व कार्यकुशल उपयोग (full use and efficient use) को प्रकट करते हैं। अत एक उत्पादन सम्भावना वक्र साधारणतया आर्थिक साधनों के पूर्ण उपयोग (full employment of resources) की दशा का ही द्योतक होता है। लेकिन यदि कोई समाज जान-बूझकर अपने $\frac{1}{2}$ या $\frac{1}{3}$ साधन बेकार अवस्था मे पडे रखना चाहे तो उस स्थिति के लायक पहले वक्र के नीचे एक दूसरा उत्पादन सम्भावना वक्र बनाया जा सकता है।

चित्र 1 मे M बिन्दु वक्र के नीचे के भाग में स्थित है। इसका अर्थ यह है कि समाज अपने साधनों का पूर्ण उपयोग नही कर पा रहा है, कुछ साधन बेकार पडे हैं अथवा उनका पूर्ण कार्यकुशलता से उपयोग नहीं हो रहा है। M बिन्दु पर मक्खन व बन्दूक दोनो की मात्राएँ कम होती हैं। यह बिन्दु मूलबिन्दु के जितना समीप होगा अर्थव्यवस्था मे साधनो की उतनी ही अधिक *अकार्यकुशलता (inefficiency)* प्रकट
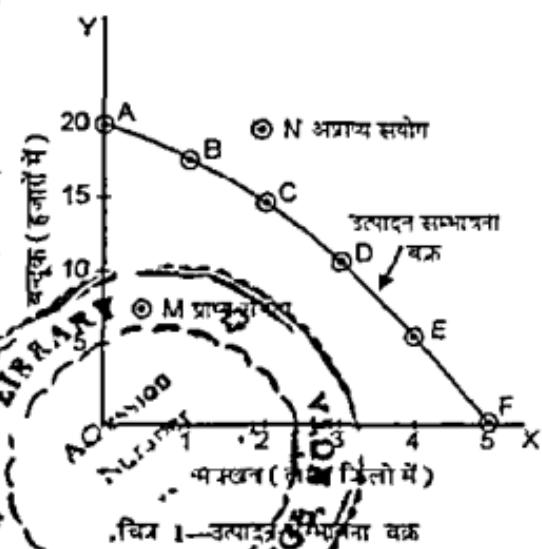
होगी, अथवा साधन उतनी ही अधिक मात्रा में बेकार पड़े होंगे। M बिन्दु जितना उत्पादन-सम्भावना वक्र के समीप होगा, साधनों की उतनी ही अधिक कार्यकुशलता अथवा साधनों के अधिक उपयोग की स्थिति प्रकट होगी।

अतः M जैसे बिन्दु साधनों के कम अथवा घटिया स्तर के उपयोग को सूचित करते हैं। ऐसे देश का पहला काम यह होना चाहिए कि वह M से B बिन्दु अथवा वक्र के किसी अन्य बिन्दु की तरफ बढ़े।

चित्र में N बिन्दु वक्र से ऊपर की ओर दायीं तरफ स्थित है। यह एक ऐसा बिन्दु है जिसे फिलहाल साधनों के अभाव में प्राप्त नहीं किया जा सकता। समाज अपने आर्थिक साधन बढ़ाकर अथवा उत्पादन की तकनीक में आवश्यक सुधार करके N बिन्दु पर पहुँच सकता है। अमरीका व जापान जैसे देश अपने साधन बढ़ाकर एवं विज्ञान व तकनीक का गहरा उपयोग करके तथा उत्पादन की विधियों में सुधार करके न केवल N जैसे बिन्दुओं को प्राप्त कर सके हैं, बल्कि वे उत्तरोत्तर ऊँचे वक्रों पर पहुँचते गये हैं। अर्थात् उनके उत्पादन सम्भावना-वक्र निरन्तर ऊपर की ओर खिसकते गये हैं। ऐसा उन देशों में आर्थिक विकास के कारण ही सम्भव हो सका है। यह स्थिति निम्न चित्र में दर्शायी गयी है—
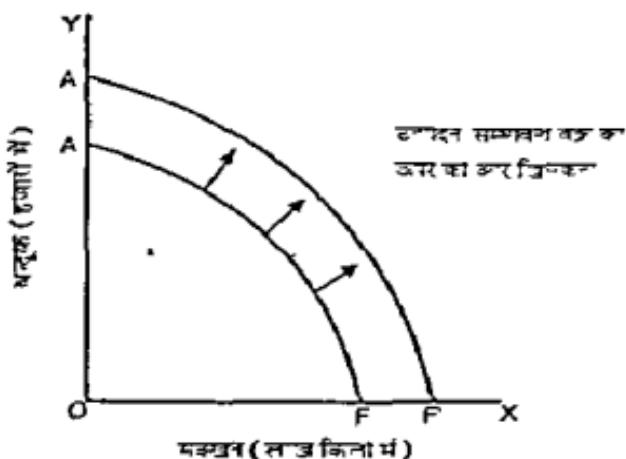
चित्र 2—उत्पादन-सम्भावना वक्र का ऊपर की ओर जाना

उपर्युक्त चित्र में AF प्रारम्भिक उत्पादन-सम्भावना वक्र है। यदि (i) सभी साधनों की मात्रा बढ़ा दी जाए तथा (ii) वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण दिये हुए साधनों की उत्पादकता (productivity) में वृद्धि हो जाए तो AF वक्र दाहिनी तरफ खिसकर A F जैसी स्थिति में आ जायेगा जहाँ मक्खन व बन्दूक दोनों का उत्पादन बढ़ जायेगा। यदि सभी सुधार केवल 'मक्खन के उत्पादन' में किये जाते तो केवल F बिन्दु दायीं ओर F' जैसी स्थिति में आ जाता, लेकिन खड़े-अक्ष OY पर A बिन्दु यथावत् बना रहता। इस परिवर्तन को AF' जैसे उत्पादन-सम्भावना वक्र से सूचित किया जाता। इसी प्रकार यदि सभी सुधार 'बन्दूकों के उत्पादन' में किये जाते तो केवल A बिन्दु ऊपर

खाद्य पदार्थ के उत्पादन में श्रम के साथ साथ उपजाऊ भूमि की भी आवश्यकता होती है। इस नियम के दो तत्व इस प्रकार होते हैं—

(1) दोनों उद्योगों में भूमि व श्रम विभिन्न अनुपातों (different proportions) में काम आते हैं। (2) इसलिए यदि श्रम की मात्राएँ बन्दूक-उद्योग या अन्य फैक्ट्री में निर्मित माल से कृषिगत भूमि की ओर हस्तान्तरित की जाए तो ह्रासमान प्रतिफल का नियम लागू होगा जिससे वक्र की आकृति नतोदर हो जायेगी। यह निम्न चित्र में स्पष्ट किया गया है—

नतोदरता का कारण (Reason for Concavity)— सलग्न चित्र 3 में A बिन्दु से प्रारम्भ करें जहाँ केवल फैक्ट्री में निर्मित माल में ही समस्त श्रम का उपयोग हो रहा है। अब निर्मित माल की समान मात्राओं का त्याग करते हुए B व C की तरफ चलिए। यहाँ निर्मित माल का रूपान्तरण या परिवर्तन कृषिगत खाद्य पदार्थ में होने लगा है। शुरू में AP निर्मित माल अथवा श्रम की मात्रा का त्याग करने से PB कृषिगत खाद्य पदार्थ का उत्पादन बढ़ा। पुन BQ निर्मित माल (=AP) अथवा श्रम की मात्रा का

चित्र 3

त्याग करने से केवल QC कृषिगत खाद्य पदार्थ का ही बढ़ा, क्योंकि भूमि की स्थिर मात्रा पर श्रम की अधिकाधिक मात्रा को लगाने से ह्रासमान प्रतिफल का मिलना स्वाभाविक था। इसके बाद CR निर्मित माल (=AP) का त्याग करने से कृषिगत माल RD ही बढ़ा, जो पहले से भी कम है। इस प्रकार यह क्रम आगे चलता जाता है।

उत्पादन सम्भावना वक्र का उपयोग करके अवसर लागत (opportunity cost) की अवधारणा भी स्पष्ट की जा सकती है।

दुर्लभता के संसार में एक वस्तु का चुनाव करने से किसी दूसरी वस्तु का परित्याग करना होता है। किसी भी त्यागी गई वस्तु या सेवा का मूल्य उस निर्णय की अवसर-लागत कहलाता है।[1] ऊपर चित्र में निर्मित माल की अवसर-लागत कृषिगत खाद्य पदार्थ में मापी गयी है।

---
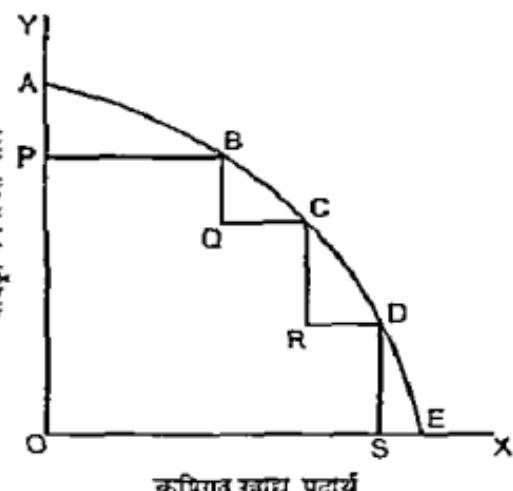
1 "In a world of scarcity choosing one thing means giving up something else The opportunity cost of a decision is the value of the good or service forgone —Samuelson & Nordhaus Economics, 16th ed 1998 p 14

उत्पादन-सम्भावना-वक्र की अवधारणा के उपयोग

हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं कि उत्पादन सम्भावना परिधि (p p frontier) सीमितता (scarcity) की एक निश्चित परिभाषा प्रदान करती है। इनसे विभिन्न आर्थिक समस्याएँ आसानी से समझ में आ जाती है। इसके कुछ उपयोग (applications) नीचे दिये जाते हैं—
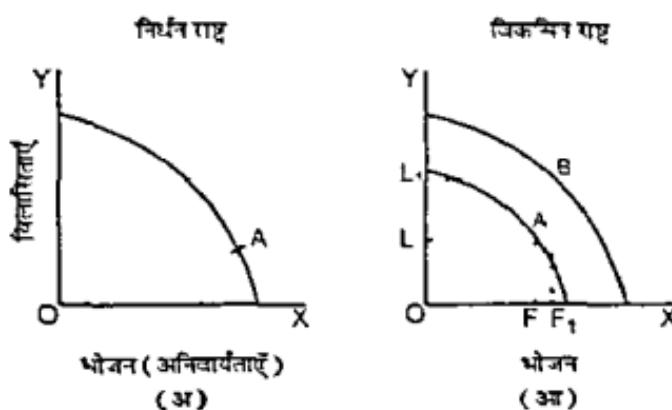
चित्र 4

(1) निर्धन व सम्पन्न राष्ट्रो के उपभोग मे अन्तर—चित्र 4 (अ) में निर्धन राष्ट्र अपने साधनों का अधिकाश भाग भोजन पर लगाता है और वह बहुत कम मात्रा में विलासिताओं का उपभोग कर पाता है। विकास के बाद चित्र 4 (आ) में यह A से B पर चला जाता है जिससे प्रकट होता है कि भोजन का उपभोग कम मात्रा में बढा (FF_1) और विलासिताओं का अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में बढा (LL_1) इस प्रकार आर्थिक विकास का उपभोग पर प्रभाव स्पष्ट हो जाता है। आर्थिक विकास से विलासिताओं व आरामदेह पदार्थो का उपभोग भोजन व अन्य अनिवार्यताओं के उपभोग की तुलना में ज्यादा तेज गति से बढता है, जो चित्र 4 (आ) से स्पष्ट हो जाता है।

(2) वर्तमान उपभोग ओर पूँजीगत वस्तुओं के बीच चुनाव—चित्र 5 (अ) के तीन राष्ट्र आर्थिक विकास के पथ पर अग्रसर होते है। A_1 पर जो राष्ट्र है वह कुछ भी नही बचाता (केवल काम में ली गयी मशीनों को ही बदल पाता है)। A_2 पर जो राष्ट्र है वह कुछ उपभोग का त्याग करता है, और A_3 पर जो राष्ट्र है वह नयी मशीनों मे काफी विनियोग करता है और इसके लिए उसे वर्तमान उपभोग का काफी मात्रा में त्याग करना होता है।

आगे चलकर तीसरा देश दूसरे देश से काफी आगे निकल जाता है और पहला देश जहाँ का तहाँ पडा रह जाता है। तीसरे देश के पास अधिक मशीनें होने से वह दूसरे देश की तुलना में दोनो प्रकार की वस्तुएँ अधिक मात्रा मे उत्पन्न कर पाता है। इस प्रकार बचत या पूँजी निर्माण का महत्व स्पष्ट हो जाता है। जो देश पूँजीगत माल पर अपने साधन लगाता है उसे वर्तमान उपभोग मे तो कमी करनी पडेगी, लेकिन आगे चलकर वह दोनों प्रकार की वस्तुएँ अधिक मात्रा में उत्पन्न कर सकेगा।

(अ) (आ)

चित्र 5
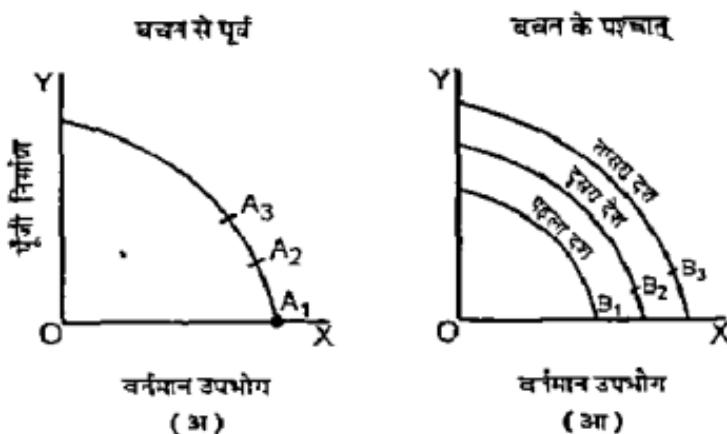
इसी प्रकार उत्पादन सम्भावना वक्रों का उपयोग करके यह सिद्ध किया जा सकता है कि तकनीकी आविष्कारों का उपयोग करके एक देश ऊंचे उत्पादन सम्भावना वक्रों पर जा सकता है और **पूँजी लगाने से भी ज्यादा प्रभाव आविष्कारों व तकनीकी सुधारों का पड़ता है।** यदि सभी उत्पादन के साधनों में वृद्धि हो सके तो देश का आर्थिक विकास उस स्थिति की अपेक्षा ज्यादा होगा जबकि एक साधन स्थिर रहता है।

अत उत्पादन सम्भावना वक्र सीमितता की एक सुनिश्चित परिभाषा प्रस्तुत करता है और अर्थव्यवस्था की विभिन्न समस्याओं को समझाने मे इसका महत्वपूर्ण योगदान माना गया है।

कीमत प्रणाली अर्थव्यवस्था की केन्द्रीय समस्याओ को किस प्रकार हल करती है?

आजकल विश्व के अधिकाश भागों में पूँजीवादी अथवा निजी उद्यम वाली अर्थव्यवस्था पायी जाती है जिसमें बाजार में माँग व पूर्ति की शक्तियों के द्वारा महत्वपूर्ण निर्णय लिये जाते हैं। माँग के बढने पर वस्तुओं व साधनों की कीमतें बढ जाती हैं और पूर्ति के बढने पर इनकी कीमतें घट जाती है। कीमत प्रणाली स्वचालित (automatic) होती ह और सेमुअल्सन व नोरढाउस के अनुसार मूल्य प्रणाली समाज को एक प्रकार से सिग्नल देती है। जिस प्रकार एक गधे का स्वामी उसे हाँकने के लिए किसी खाने की वस्तु का लालच देता है अथवा कभी उसे पीटता है, उसी प्रकार कीमत प्रणाली क्या कैसे व किसके लिए का निर्णय कराने के लिए लाभ हानि के साधन का उपयोग करती है।

वस्तु-बाजारों व साधन बाजारो की परस्पर क्रिया

हम एक चित्र द्वारा यह स्पष्ट कर सकते हैं कि कीमत प्रणाली क्या, कैसे और किसके लिए के प्रश्नों को हल करने मे कैसे मदद पहुँचाती है। चित्र में जनता तथा व्यावसायिक फर्में दो बार परस्पर सम्पर्क में आते हैं—एक बार वस्तु का क्रय विक्रय करने के समय जब उपभोक्ता उनसे विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ खरीदते हैं, और व्यवसायी

उन्हें ये वस्तुएँ बेचते हैं। दूसरी बार लोग उत्पादन के साधन बेचते हैं और व्यवसायी उन साधनों को खरीदते हैं।

पहले सम्पर्क में वस्तु-बाजारों (product markets) में मूल्य निर्धारित होते हैं और दूसरे सम्पर्क में साधन-बाजारों (factor markets) में मजदूरी लगान व ब्याज आदि निर्धारित होते हैं। प्रतिस्पर्धात्मक कीमत प्रणाली माँग व पूर्ति का उपयोग करके तीन आधारभूत आर्थिक समस्याएँ हल करती हैं।[1]
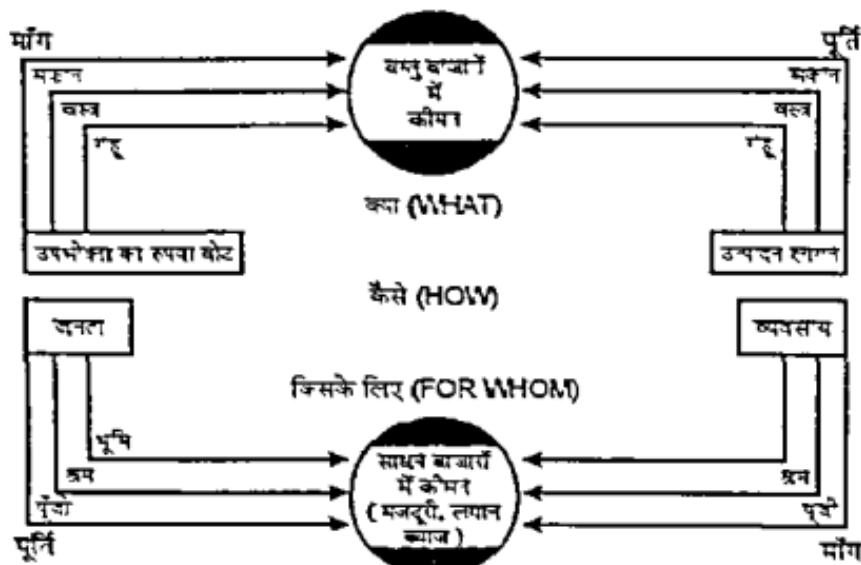
चित्र 6

उपर्युक्त चित्र के ऊपरी भाग में उपभोक्ता अपने रुपया वोटों (rupee votes) से गेहूँ, वस्त्र व मकान की माँग करते हैं, जिसका व्यवसायियों या फर्मों की उत्पादन लागत व पूर्ति के निर्णयों से मेल होता है जिसमे 'क्या उत्पादित किया जाय' का निर्णय होता है। चित्र के निचले भाग में व्यवसायियों के द्वारा श्रम, भूमि व पूँजी की माँग का इन साधनो की जनता के द्वारा की जाने वाली पूर्ति से मेल होता है, जिससे साधनों की कीमतें, अर्थात् मजदूरी, लगान व ब्याज निर्धारित होते हैं। अर्थात् वस्तुएँ किसके लिए उत्पादित हुई हैं, का निर्णय होता है। साधनों की खरीद मे व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा (business competition) एव वस्तुओं को सबसे सस्ता बेचने के प्रयास में यह तय होता है कि वस्तुएं कैसे उत्पादित होती हैं।

स्मरण रहे कि उपर्युक्त चित्र के सभी अग एक साथ अपनी प्रतिक्रिया (response) बदलाते है। ऊपरी भाग का 'क्या' (what) निचले भाग के 'किसके लिए' (for whom)

1 विस्तृत चर्चा के लिए देखिए Samuelson & Nordhaus Economics 16th ed 1998 p 30 पर दिया गया बडा चार्ट।

पर निर्भर करता है और निचले भाग का 'किसके लिए' ऊपरी भाग के 'क्या' पर निर्भर करता है। दूसरे शब्दों में, बढ़ई की मजदूरी मकानों की माँग पर निर्भर करती है, तो गेहूँ की माँग बढ़ई की मजदूरी पर निर्भर करती है, अर्थात् एक तरफ नीचे का भाग ऊपर के भाग पर निर्भर करता है, तो दूसरी तरफ ऊपर का भाग नीचे के भाग पर निर्भर करता है। इससे वस्तु बाजार व साधन बाजार की परस्पर आश्रितता स्पष्ट हो जाती है और साथ मे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ऊपर के भाग में कीमत प्रणाली वस्तुओं के भाव निर्धारित करती है और निचले भाग में यह साधनों के भाव निर्धारित करती है। इस प्रकार कीमत प्रणाली विभिन्न बाजारों मे परस्पर समन्वय (coordination) व सहयोग स्थापित करती है।

कीमत प्रणाली की भूमिका पर अगले अध्याय में बाजार सन्तुलन के सन्दर्भ में पुन प्रकाश डाला जायेगा।

प्रश्न

1 आर्थिक समाज की मूलभूत समस्याओं का विवरण दीजिए। कीमत प्रणाली इनके समाधान में किस प्रकार सहायता करती है?

2 एक अर्थव्यवस्था 'क्या', 'कैसे' व 'किसके लिए' जैसी केन्द्रीय समस्याओं को किस प्रकार हल करती है? इसमें कीमत प्रणाली का क्या योगदान होता है?

3 किसी अर्थव्यवस्था के उत्पादन सम्भावना वक्र के स्वरूप पर प्रकाश डालिए। बताइए कि यह वक्र आर्थिक जीवन के कुछ मूल तथ्यो की किस प्रकार व्याख्या करता है?

4 स्पष्ट कीजिए—

(i) उत्पादन सम्भावना वक्र।

(ii) अर्थव्यवस्था की प्रमुख केन्द्रीय समस्याएँ।

5 'चाहे प्रशासनिक या राजनैतिक प्रकृति कैसी भी हो, प्रत्येक समाज को कुछ मूलभूत आर्थिक प्रश्नों का समाधान खोजना होता है। इस कथन की उपयुक्त उदाहरण देकर समीक्षा कीजिए।

□□□

5

कीमत-संयंत्र की भूमिका : माँग व पूर्ति के आधार पर बाजार-संतुलन

(Role of Price Mechanism : Market Equilibrium on the basis of Dcmand & Supply)

इस अध्याय में माँग व पूर्ति के नियमों व इनके आधार पर बाजार-संतुलन का विवेचन किया जाएगा। अर्थशास्त्र में माँग व पूर्ति की चर्चा एक सामान्य बात मानी गई है। मनोविनोद के रूप में प्राय यह सुनने को मिलता है कि एक तोते को माँग व पूर्ति रटा दीजिए और वह अर्थशास्त्री हो जायेगा। व्यावहारिक अनुभव यह बतलाता है कि किसी वस्तु की माँग के बढने पर उसकी कीमत, अन्य बातों के समान रहने पर, बढती है, और पूर्ति के बढने पर उसकी कीमत प्राय घटती है। हम जानते हैं कि विश्व में ओपेक देशों द्वारा कच्चे तेल का उत्पादन व पूर्ति घटाने से इसके दाम बढ जाते हैं और इसकी पूर्ति बढाने से इसके दाम गिर जाते हैं। इसी प्रकार इस्पात की पूर्ति के घटने से विश्व के बाजारों में वर्ष 2002 के मध्य में इस्पात के भावों में वृद्धि देखी गयी है। अत कीमत संयत्र पर माग व पूर्ति की शक्तियों का प्रभाव काफी बलवती व निर्णायक माना गया है। नीचे माँग व पूर्ति के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला जाएगा।

माँग का अर्थ

अर्थशास्त्र में 'माँग' शब्द एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होता है। वस्तु की माँग के साथ उसको खरीदने की शक्ति का विचार भी जुडा रहता है। बिना क्रय-शक्ति के माँग का कोई प्रभाव नहीं पडता। जैसे शहर में अनेक व्यक्ति अपने रहने के लिए मकान बनाना अथवा खरीदना चाहते हैं, लेकिन जिनके पास मकान बनाने अथवा खरीदने के लिए पैसा होता है वे ही मकानों की कीमतों को प्रभावित कर सकते हैं, और मकान

खरीद सकते हैं। अत किसी वस्तु की इच्छा होना ही काफी नहीं है, बल्कि उसे माँग में परिवर्तित करने के लिए मुद्रा का होना भी अत्यन्त आवश्यक होता है।*

माँग की अवधारणा के साथ स्थान, समय व कीमत तीनों आते हैं, जैसे यह कहना व्यर्थ है कि जयपुर में गेहूँ की माग एक हजार क्विटल है। हमें सही रूप से इस प्रकार कहना चाहिए कि जयपुर में प्रतिदिन (अथवा प्रति सप्ताह, प्रति महीना आदि) 500 रुपये प्रति क्विटल पर गेहूँ की माग एक हजार क्विटल (अथवा कोई अन्य मात्रा) है। इस प्रकार माँग की चर्चा में वस्तु की कीमत के साथ साथ इसके स्थान व समय को भी शामिल किया जाता है।

माँग का नियम

बाजार में एक वस्तु की माँग पर कई बातों का प्रभाव पडता है, जैसे स्वय उस वस्तु की कीमत, उपभोक्ताओं की आमदनी, उनकी रुचि व अरुचि, अन्य वस्तुओं की कीमतें (इसमें विचाराधीन वस्तु की स्थानापन्न वस्तुएँ व पूरक वस्तुएँ दोनों आ जाती हैं), भावी कीमतों के सम्बन्ध में आशाएँ व अनुमान, आदि। किसी भी दिए हुए समय में वस्तु की माँग पर इन विभिन्न तत्वों का प्रभाव पडता रहता है। किसी भी दिए हुए समय में एक वस्तु की माँग पर इन विभिन्न तत्वों का प्रभाव पडता रहता है। इनमें से कुछ तत्व उस वस्तु की माँग को बढाते हैं और कुछ घटाते हैं। हम अध्ययन की सुविधा के लिए 'अन्य बातों को स्थिर मानकर' एक वस्तु की कीमत के परिवर्तन का प्रभाव उस वस्तु की माँग की मात्रा पर देखते हैं।

माँग के नियम की परिभाषा—माँग का नियम यह बतलाता है कि 'अन्य बातों के स्थिर रहने पर' एक वस्तु की कीमत के घटने पर उस वस्तु की माग की मात्रा में वृद्धि होगी और कीमत के बढने पर उसकी माँग की मात्रा में गिरावट आएगी। उपर्युक्त कथन में 'अन्य बातों के स्थिर रहने पर' वाक्यांश बहुत महत्वपूर्ण है, इसलिए हम नीचे इसका स्पष्टीकरण देते हैं—

अन्य बातों के स्थिर रहने पर—हम ऊपर कह चुके हैं कि एक वस्तु की माँग पर कई तत्वों का निरन्तर प्रभाव पडता है। इसलिए हम अन्य तत्वों को स्थिर रखकर ही यह बतला सकते हैं कि विभिन्न कीमतों पर उपभोक्ता एक वस्तु की कितनी कितनी मात्राएँ खरीदने को तत्पर होंगे।

माँग को प्रभावित करने वाले तत्व जिन्हें माँग के नियम में स्थिर माना गया है

(1) उपभोक्ताओं की आमदनी—सर्वप्रथम, उपभोक्ता की आमदनी स्थिर मान ली जाती है। दूसरे शब्दों में, उपभोक्ता की क्रय शक्ति स्थिर मान ली जाती है। हम आगे चलकर देखेंगे कि आमदनी के बढने से माँग-वक्र दाहिनी ओर खिसक जाता है और आमदनी के घटने से यह बायीं ओर आ जाता है।

---

* कुछ लोग माँग के पीछे मुद्रा के साथ-साथ उसको लगाने की तत्परता पर भी बल देते हैं, क्योंकि कंजूस के पास मुद्रा तो होती है लेकिन वह उसका परित्याग नहीं करना चाहता। इसलिए उसकी माँग प्रभावपूर्ण नहीं हो पाती है।

(2) उपभोक्ताओ की पसन्द या अधिमान—कुछ वस्तुओं के प्रति उपभोक्ताओं के अधिमान धीरे-धीरे बदलते हैं, जैसे मकान व मुख्य खाद्यान्नों आदि के सम्बन्ध में, और कुछ में अपेक्षाकृत अधिक तेजी से बदलते हैं, जैसे वस्त्रों, शृंगार के सामान आदि में। उपभोक्ताओं की पसन्द-नापसन्द तथा रुचि-अरुचि मे परिवर्तन आने से माँग-वक्र भी बदल जाता है। अत माँग के नियम में इन्हें स्थिर मान लिया जाता है।

(3) अन्य वस्तुओ की कीमते—माँग के नियम में वस्तुओं की कीमतों को भी स्थिर रखना पडता है। वस्तुएँ एक-दूसरे की पूरक हो सकती हैं, जैसे जूते व मौजे, टेनिस का बल्ला व टेनिस की गेंद, आदि। वस्तुएँ एक-दूसरे की स्थानापन्न भी हो सकती हैं, जैसे शुद्ध घी व वनस्पति घी (डालडा), कोकाकोला व पेप्सीकोला, गन्ने का रस व शर्बत, चाय व कॉफी आदि।

मान लीजिए हम टेनिस की गेंद का माँग वक्र बनाना चाहते हैं और हमने यह निश्चित किया कि 25 रुपये प्रति गेंद के हिसाब से 1000 गेंद प्रति माह की माँग होगी। अचानक टेनिस के बल्लों का भाव दुगुना हो जाता है और इससे टेनिस के खेल पर विपरीत प्रभाव पडता है। टेनिस के खिलाडी अब 25 रुपये गेंद के हिसाब से सम्भवत केवल 700 गेंद की ही माँग करेगे। इस प्रकार उसी कीमत पर माँग की मात्रा घट सकती है। अत एक वस्तु के माँग-वक्र का अध्ययन करते समय अन्य वस्तुओं के भाव स्थिर मान लिए जाते हैं।

(4) भावी कीमतो के सम्बन्ध मे प्रत्याशाएँ—यदि उपभोक्ता यह सोचने लगते हैं कि भविष्य में किसी वस्तु की कीमत और बढेगी तो वे आज के भावों पर ही उसकी अधिक खरीद करने लग जायेगे। अत माँग के नियम में भावी कीमतो के सम्बन्ध मे प्रत्याशाओ अथवा सम्भावनाओ को भी स्थिर या अपरिवर्तित मान लिया जाता है।

(5) देश की जनसख्या का आकार—वस्तु की माँग पर जनसख्या की मात्रा का भी प्रभाव पडता है। इसके बढने पर माँग बढती है और इसके घटने से माँग घटती है। जनसख्या के परिवर्तन विभिन्न वस्तुओ की माँग को काफी सीमा तक प्रभावित करते हैं।

(6) देश मे आमदनी का वितरण—यदि देश मे आमदनी का वितरण अपेक्षाकृत समान पाया जाता है तो आम तौर पर वस्तुओ की माँग (विशेषतया साधारण वस्तुओ की) अधिक होती है। यदि आमदनी का वितरण असमान होता है ओ धनी लोग आरामदेह व विलासिता की वस्तुएँ ज्यादा खरीदेंगे और निर्धन लोग इन्हें कम क्रय-शक्ति के कारण बहुत कम मात्रा में खरीद पायेंगे। अत माँग की बनावट पर देश में आमदनी के वितरण का प्रभाव पडता है।

(7) अन्य तत्व—वस्तुओं की माँग पर देश की जलवायु, मौसम, रीति रिवाज, सामाजिक प्रथाओं व परम्पराओं, आदि का भी काफी प्रभाव पडता है। प्रत्येक देश मे वहाँ के त्यौहारों का वहाँ के निवासियों की माँग पर प्रभाव पडता है। इस प्रकार माँग को कई तत्व प्रभावित करते है।

माँग के नियम को एक सरल फलन (function) के रूप में भी व्यक्त किया जा सकता है—

$$x = f(p_x, Y \ T \ P_n)$$

जहाँ x = X-वस्तु की माँग की मात्रा, P_x = X वस्तु की कीमत,

Y = उपभोक्ताओं की आमदनी, T = उपभोक्ताओं की रुचि अरुचि,

P_n = अन्य सम्बद्ध वस्तुओं की कीमतें, तथा f = फलन के सूचक हैं।

इसका अर्थ यह है कि एक वस्तु की माँग की मात्रा कई तत्वों पर निर्भर करती है। **लेकिन माँग के नियम में केवल उस वस्तु की कीमत के परिवर्तन का प्रभाव ही उस वस्तु की माँग की मात्रा पर देखा जाता है।** उस समय अन्य कारक या तत्व, जैसे ऊपरवर्णित फलन के अनुसार Y, T, P_n आदि स्थिर मान लिए जाते हैं।

इनको स्थिर क्यों माना जाता है ?

इनको स्थिर मानने का कारण यह है कि **तभी एक वस्तु की कीमत के घटने पर उसकी माँग की मात्रा बढ़ेगी और कीमत के बढ़ने पर उसकी माँग की मात्रा घटेगी। यदि ये तत्व भी बदल जाएँ तो एक वस्तु की कीमत के परिवर्तन का प्रभाव उस वस्तु की माँग की मात्रा पर बतलाना कठिन हो जाएगा।**

मान लीजिए, देशी घी का भाव 150 रुपये प्रति किलो से घटकर 130 रुपये प्रति किलो हो जाता है, तो अन्य बातों के समान रहने पर, इसकी माँग की मात्रा बढ़ेगी। लेकिन कल्पना कीजिए कि इसी बीच किसी कारण से परिवारों की आमदनी घट जाती है, अथवा किसी वजह से उपभोक्ता इसकी स्थानापन्न वस्तु, वनस्पति घी, को ज्यादा पसन्द करने लगते हैं, तो देशी घी के भाव कम हो जाने पर भी उसकी माँग की मात्रा के बढ़ने के बारे में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकेगा। अत माँग के नियम के लागू होने के लिए अन्य तत्वों, जैसे उपभोक्ताओं की आमदनी, उनकी रुचि अरुचि अन्य सम्बद्ध वस्तुओं की कीमतों, आदि को स्थिर मान लिया जाता है।

माँग की अनुसूची व माँग-वक्र
(Demand Schedule & Demand Curve)

माँग की अनुसूची—माँग के नियम को व्यक्त करने के लिए माँग की अनुसूची या सारणी एव माँग वक्र का उपयोग किया जाता है। आगे एक कल्पित माँग की अनुसूची दी गई, जिसमें यह दर्शाया गया है कि विभिन्न कीमतों पर एक वस्तु के क्रेता एक निश्चित अवधि में उसकी कितनी कितनी मात्राएँ खरीदने को उद्यत होंगे।

माँग की मात्रा का कॉलम विभिन्न सम्भावित कीमतों पर खरीद की मात्राओं को सूचित करता है। जैसे यदि साबुन की टिकिया की कीमत 10 रु प्रति टिकिया होती है तो क्रेता 5 हजार साबुन प्रतिदिन खरीदने को उद्यत होंगे, लेकिन कीमत के 9 रु प्रति टिकिया होने पर 10 हजार साबुन प्रतिदिन खरीदने को उद्यत हो जायेंगे। इस प्रकार कीमत व मात्रा का प्रत्येक सयोग एक पृथक विकल्प को दर्शाता है।

सारणी 1 : साबुन की टिकियों की एक कल्पित माँग की अनुसूची

कीमत (प्रति साबुन, रुपयों में)	माँग की मात्रा (प्रतिदिन, हजार टिकिया में)
10	5
9	10
8	15
7	20
6	25
5	30
4	35

माँग-वक्र—एक माँग-वक्र वही सूचना प्रदान करता है, जो एक माँग की अनुसूची प्रदान करती है, लेकिन यह उसे एक रेखाचित्र के रूप में दर्शाता है। उपर्युक्त सारणी में प्रस्तुत साबुन की माँग की अनुसूची को निम्न चित्र-1 में दर्शाया गया है।

चित्र-1 में OX-अक्ष पर माँग की मात्रा और OY-अक्ष पर कीमत (प्रति साबुन) मापी गई है। सारणी की सूचना को रेखाचित्र पर प्रदर्शित करने एवं कीमत-मात्रा के विभिन्न संयोगों को मिलाने से DD माँग-वक्र बनता है। इस माँग-वक्र पर कोई भी बिन्दु साबुन की उस मात्रा को बतलाता है जो एक विशिष्ट कीमत पर ग्राहकों के द्वारा खरीदी जाएगी, अथवा दूसरे रूप में उस कीमत को दर्शाता है जिस पर उपभोक्ता वस्तु की विशिष्ट मात्रा को खरीदने के लिए उद्यत होंगे। उदाहरण के लिए, बिन्दु A यह दर्शाता है कि 7 रुपये प्रति साबुन की कीमत पर साबुन की माँग की मात्रा प्रतिदिन 20 हजार होगी, अथवा 20 हजार साबुन प्रतिदिन माँग की मात्रा के लिए उपभोक्ता साबुन की कीमत 7 रुपये प्रति इकाई देने को उद्यत हो जायेंगे। यहाँ पर यह ध्यान रखना होगा कि विभिन्न कीमतों पर विभिन्न माँग की मात्राओं का सम्बन्ध एक ही समय में होता है, न कि अलग-अलग समयों में। अतः माँग की अनुसूची का सम्बन्ध एक दिए हुए समय में होता है।
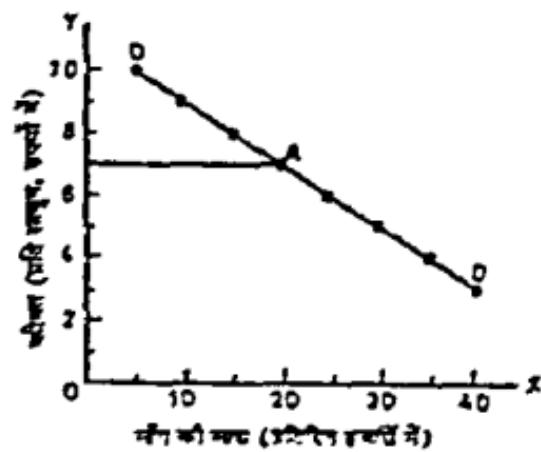
चित्र-1

स्मरण रहे कि माँग की रेखा या मॉग वक्र की अवधारणा एक अधिकतम (a maximum) को सूचित करने वाली अवधारणा होती है अर्थात् उपभोक्ताओं के लिए मॉंग वक्र के नीचे की स्थिति तो सम्भव हो सकती है लेकिन इसमे ऊपर की नहीं। माँग वक्र को एक निरन्तर या सतत वक्र (continuous curve) भी मान लिया गया है क्योंकि एक वस्तु विभिन्न मात्राओं में खरीदी जा सकती है। इस प्रकार माँग वक्र एक अधिकतम की स्थिति को सूचित करता है।

हमने जो दृष्टान्त लिया है उसमें माँग वक्र एक सीधी रेखा के रूप में दिखाया गया है लेकिन साधारणतया यह नीचे दाहिनी ओर झुकता हुआ वक्र होता है। यहाँ पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि माँग वक्र नीचे दायीं ओर क्यों झुकता है ? इसका कारण नीचे दिया गया है।

अर्थशास्त्रियों के अनुसार कीमत के घटने पर एक वस्तु की माँग की मात्रा के बढने के निम्न दो कारण होते हैं—

(1) प्रतिस्थापन प्रभाव (Substitution effect)—एक वस्तु की कीमत के घटने पर और अन्य वस्तुओं की कीमतों के स्थिर रहने पर वह वस्तु अन्य वस्तुओं की तुलना में सस्ती हो जाती है जिससे उपभोक्ता अन्य वस्तुओं के स्थान पर कुछ सीमा तक इसका प्रयोग करने लगते हैं। परिणामस्वरूप इसकी माँग की मात्रा बढ जाती है। इसे प्रतिस्थापन प्रभाव कहते हैं। मान लीजिए चाय की कीमत घट जाती है। इससे चाय अन्य वस्तुओं (काफी आदि) से अपेक्षाकृत सस्ती हो जाती है जिससे उपभोक्ता कॉफी के बजाय चाय का उपभोग बढा देते हैं।

(2) आय प्रभाव (Income effect)—एक वस्तु की कीमत के घटने से उपभोक्ता की वास्तविक आय (real income) बढ जाती है जिससे वह इस वस्तु की व अन्य वस्तुओं की पहले से अधिक मात्रा खरीदने की स्थिति में आ जाता है। इसे आय प्रभाव कहकर पुकारते हैं। मान लीजिए एक व्यक्ति 16 रुपये प्रति किलो के भाव पर 10 किलो चीनी का प्रतिमाह उपभोग किया करता था। कल्पना कीजिए कि चीनी का भाव घटकर 15 रुपये प्रति किलो हो जाता है। यदि वह 10 किलो चीनी ही खरीदता रहे तो पहले उसका चीनी पर व्यय 160 रुपये होता था और अब कीमत के घटने से 150 रुपये ही होगा। इस प्रकार उसकी वास्तविक आय 160 – 150 = 10 रुपये बढ़ी हुई मानी जायेगी। यह सोचना सही माना जा सकता है कि इन 10 रुपये में वह कुछ चीनी भी अधिक खरीद सकता है और शेष राशि अन्य वस्तुओं पर भी व्यय कर सकता है। इस प्रकार आय प्रभाव के कारण भी एक वस्तु की कीमत के घटने पर उसकी माँग की मात्रा मे वृद्धि की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(3) कम कीमत पर नए क्रेता—यह एक साधारण अनुभव की बात है कि पहले के भावो पर जो उपभोक्ता वस्तु को खरीदने में समर्थ नही थे वे अब घटे हुए भावों पर वस्तु की माँग करने लगते हैं जिससे कीमत के कम होने पर वस्तु की माँग की मात्रा बढ जाती है। इस प्रकार क्रेताओं की सख्या के बढने से भी माँग की मात्रा बढ जाती है।[1]

(4) उपभोक्ता अपने सन्तुलन को बनाए रखने के लिए भी कीमत के घटने पर उस वस्तु की अधिक मात्रा खरीदते है—यदि उपभोक्ता को अपना व्यय दो वस्तुओं पर करना है तो सन्तुलन की स्थिति (अधिकतम सतुष्टि की स्थिति) में $\frac{MU_x}{P_x} = \frac{MU_y}{P_y}$ होगा, अर्थात् X-वस्तु की सीमान्त उपयोगिता में उसकी कीमत का भाग देने से जो परिणाम आता है, वह Y-वस्तु की सीमान्त उपयोगिता में उसकी कीमत का भाग देने से जो भी परिणाम आता है, उसके बराबर होना चाहिए। अब मान लीजिए, एक वस्तु अर्थात् X का भाव घट जाता है। इससे सन्तुलन की स्थिति बिगड जाती है। अब $\frac{MU_x}{P_x}$ की मात्रा $\frac{MU_y}{P_y}$ से अधिक हो जाती है। इसे ठीक करने और पुन सतुलन की स्थिति में लाने के लिए उपभोक्ता को X वस्तु का उपभोग बढाना होगा, जिससे MU_x की मात्रा घटेगी और ऐसा उस समय तक किया जाना चाहिए जब तक कि पुन $\frac{MU_x}{P_x} = \frac{MU_y}{P_y}$ न हो जाए।

माँग में परिवर्तन (Change in Demand)

माँग-वक्र के सम्बन्ध में कुछ शब्दों को लेकर प्राय भ्रम हो जाता है, इसलिए यहाँ उनको भी स्पष्ट किया जाता है। एक ही माँग-वक्र पर एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु पर जाने और स्वय माँग-वक्र के ऊपर-नीचे खिसक जाने—इन दोनों स्थितियों में मूलभूत अन्तर होता है। यह निम्न चित्र की सहायता से समझाया जा सकता है—

चित्र-2 में DD प्रारम्भिक माँग-वक्र है। इस वक्र में A बिन्दु से B बिन्दु पर जाने का आशय है कि कीमत के OP_1 से घटकर OP_2 हो जाने से माँग की मात्रा OX_1 से बढकर OX_2 हो जाती है। इसे माँग की मात्रा में वृद्धि (increase in the amount demanded) कहते हैं। इसे माँग का विस्तार (extension of demand) भी कहा जाता है। यदि हम इसी वक्र पर B बिन्दु से A बिन्दु पर जाते हैं तो इसे माँग की मात्रा में कमी (decrease in the amount demanded) कह सकते हैं। इसे माँग का सकुचन (contraction of demand) भी कहा जाता है। एक ही माँग-वक्र पर एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु पर
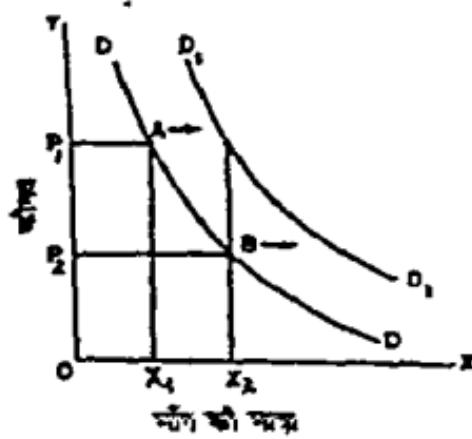
चित्र-2

जाना माँग के नियम को दर्शाता है, क्योंकि इसमें अन्य बातों के समान रहने पर, केवल एक वस्तु की कीमत के परिवर्तन का प्रभाव ही उसकी माँग की मात्रा पर देखा जाता है।

अर्थशास्त्र में 'माँग' शब्द सम्पूर्ण माँग-वक्र का सूचक होता है। अत माँग के परिवर्तन का आशय सम्पूर्ण माँग वक्र के ऊपर या नीचे खिसक जाने से लगाया जाता है। उक्त चित्र में माँग-वक्र के DD से दायीं ओर D_1D_1 पर जा जाने से माँग में वृद्धि (increase in demand) कहकर पुकारते हैं। इसमें OP_1 कीमत पर ही माँग की मात्रा बढ गई है, अथवा पहले नीची कीमत पर जो माँग की मात्रा थी, अब ऊँची कीमत पर उतनी ही माँग की मात्रा हो गई है जैसे ऊपर के चित्र में DD माँग वक्र पर OP_2 कीमत पर माँग की मात्रा OX_2 थी, जो माँग वक्र में D_1D_1 पर जा जाने से OP_1 पर भी उतनी ही, अर्थात् OX_2 रह गई है। ऐसा माँग को प्रभावित करने वाले अन्य तत्वों के परिवर्तन के फलस्वरूप होता है। जैसे आमदनी के बढ जाने से OP_1 कीमत पर वस्तु की पहले से अधिक मात्रा का खरीदा जाना माँग में वृद्धि का द्योतक होता है। रुचि के बढ जाने, जनसख्या के बढ जाने तथा आय के वितरण के बदल जाने व अन्य कारणों से भी माँग वक्र ऊपर की ओर जा सकता है।

इसी प्रकार D_1D_1 माँग वक्र से बायीं ओर DD पर आना माँग में कमी (decrease in demand) का सूचक होता है, क्योंकि इसका अर्थ है पहले की कीमत पर माँग की मात्रा का कम हो जाना। ऐसा आमदनी की गिरावट, उस वस्तु के प्रति उपभोक्ताओं की रुचि के कम हो जाने अथवा स्थानापन्न वस्तु की कीमत के घट जाने, आदि के फलस्वरूप हो सकता है।

सक्षेप मे, यह कहा जा सकता है कि एक माँग वक्र पर एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु पर जाने में 'अन्य बातें स्थिर' मानी जाती है लेकिन इन अन्य बातों के परिवर्तन का प्रभाव स्वय माँग-वक्र के ऊपर या नीचे खिसकने के रूप मे प्रकट होता है।

वैयक्तिक माँग-वक्र व बाजार माँग-वक्र

माँग के अध्ययन में अब हमें एक व्यक्ति के लिए एक वस्तु के माँग वक्र (individual demand curve) व बाजार में उस वस्तु के माँग वक्र (market demand curve) के सम्बन्ध को देखना चाहिए। मान लीजिए बाजार में एक वस्तु के केवल दो उपभोक्ता A और B हैं और उनकी माँग की अनुसूचियाँ निम्नांकित हैं। ऐसी स्थिति में विभिन्न कीमतों पर उनकी माँग की मात्राओं को जोडकर हम बाजार माँग वक्र का निर्माण कर सकते हैं।

निम्नांकित सारणी 2 में A और B उपभोक्ताओं की माँग की अनुसूचियाँ दी हुई हैं। 4.00 रुपये प्रति इकाई कीमत पर A की माँग 10 इकाइयों की है, जबकि B इस कीमत पर खरीदने में जरा भी रुचि नहीं रखता है। अत बाजार में माँग की मात्रा 10 दिखलाई गई है। 3.60 रुपये कीमत पर A की माँग 15 इकाइयों की है और B की माँग 5 इकाइयों की है, इस प्रकार बाजार में इस कीमत पर माँग की मात्रा (15 + 5) = 20 इकाइयाँ हो जाती हैं।

सारणी 2 : X वस्तु के लिए वैयक्तिक माँग-वक्र व इनकी सहायता से बाजार माँग-वक्र का निर्माण

X-वस्तु की कीमत (प्रति इकाई रुपयों में)	माँग की मात्रा (प्रतिदिन इकाइयों में)		
	A की माँग	*B की माँग*	*बाजार में कुल माँग*
4.00	10	-	10
3.60	15	5	20
3.20	25	10	35
2.80	30	20	50
2.40	40	30	70
2.00	50	40	90

इसी प्रकार अन्य कीमतों पर A और B की विभिन्न माँग की मात्राओं को जोड़कर अन्तिम कॉलम बना लिया जाता है जो विभिन्न कीमतों पर बाजार में माँग की मात्रा को प्रदर्शित करता है। नीचे हम वैयक्तिक माँग-वक्रों से बाजार माँग-वक्र के निर्माण को दर्शाते हैं :

चित्र 3 (अ) में dd वक्र A का माँग-वक्र, (आ) भाग में d_1d_1 वक्र B का माँग-वक्र है और (इ) भाग में DD बाजार का माँग-वक्र है।

चित्र से स्पष्ट होता है कि 4.00 रुपये कीमत पर A की माँग 10 इकाई है तथा B की कुछ भी नहीं है, इसलिए बाजार में माँग की मात्रा इस कीमत पर 10 इकाई ही दिखलायी गयी है। इसी प्रकार अन्य कीमतों पर बाजार की माँग को ज्ञात

चित्र-3
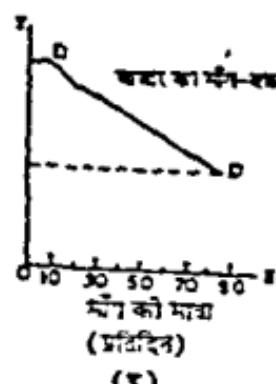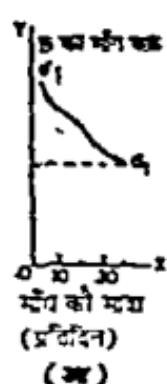
किया गया है। 200 रुपया कीमत पर A की माँग 50 इकाई और B की 40 इकाई और बाजार में यह 90 इकाई दिखलायी गयी है।

बाजार माँग वक्र वैयक्तिक माँग वक्रों को क्षैतिज रूप में (horizontally) जोड कर निकाला गया है। ऊपर दो उपभोक्ताओं की स्थिति का वर्णन किया गया है। यही विश्लेषण इसी प्रकार से दो से अधिक उपभोक्ताओं पर भी लागू किया जा सकता है।

अब हम पूर्ति के नियम, पूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्वों, पूर्ति वक्र तथा पूर्ति के परिवर्तन पर प्रकाश डालेंगे। इसके बाद माँग व पूर्ति के साम्य या बाजार सतुलन का विवेचन किया जायेगा।

पूर्ति का नियम—अन्य बातो के समान रहते हुए, एक वस्तु की कीमत के बढने से उसकी पूर्ति की मात्रा बढती है, और कीमत के घटने पर उसकी पूर्ति की मात्रा घटती है। इसे पूर्ति का नियम कहते हैं। पूर्ति में इस नियम के लागू होने के कारण ही चित्र में पूर्ति वक्र ऊपर की ओर जाता हुआ दर्शाया गया है।

पूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्व—वस्तु की पूर्ति पर उसकी कीमत के अलावा कई अन्य तत्वों का प्रभाव पडता है—जैसे उत्पादन-लागत (जो प्रमुखतया इन्पुटों की कीमतों व उत्पादन की तकनीक से निर्धारित होती है), अन्य सम्बद्ध वस्तुओं की कीमतें, सरकारी नीति, विशेष किस्म के परिवर्तन, आदि। इन्हें नीचे स्पष्ट किया जाता है।

(1) पूर्ति पर उत्पादन लागत का गहरा प्रभाव पड़ता है। जब वस्तु की उत्पादन लागत उसकी बाजार कीमत से नीची होती है तो उत्पादकों को ज्यादा पूर्ति करने से अधिक लाभ होता है। इसी प्रकार यदि उत्पादन लागत बाजार कीमत से ऊँची होती है तो उत्पादक उस वस्तु का उत्पादन कम करके किसी अन्य वस्तु का उत्पादन करने लग जाते हैं, अथवा उस व्यवसाय को ही छोड देते हैं।

हम जानते हैं कि उत्पादन लागत पर प्रमुखतया दो बातों का प्रभाव पडता है—एक तो उत्पादन के साधनों की लागतों का, जैसे मजदूरी, ब्याज, आदि का, कच्चे माल की कीमतों का तथा बिजली, आदि के खर्चों का और दूसरा प्रभाव टेक्नोलोजी या तकनीकी प्रगति का पडता है। तकनीकी प्रगति से उत्पादन की किस्म में सुधार होता है और प्रति इकाई लागत भी घटती है। उदाहरण के लिए आज एक कार के उत्पादन की लागत दस वर्ष पूर्व की इसकी उत्पादन लागत से काफी कम आती है। विज्ञान के इस युग में उत्पादन की विधियों में तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं। इससे उत्पादन लागत घटने से वस्तुओं की पूर्ति में काफी वृद्धि होने लगी है।

(2) सम्बद्ध वस्तुओं की कीमतों से एक वस्तु की पूर्ति पर प्रभाव—दो स्थानापन्न वस्तुओं में एक वस्तु की कीमत के बढने से उसकी पूर्ति बढायी जाती है जिससे उसकी स्थानापन्न वस्तु की पूर्ति घटने लगती है। मान लीजिए, एक फर्म कार के दो मॉडल बनाती है। यदि उनमें से एक मॉडल की कीमत बढने से उसकी पूर्ति बढायी जाती है, तो सम्भवत दूसरे मॉडल की पूर्ति कम करनी पड सकती है। यदि एक फर्म ट्रक व कार दोनों का निर्माण करती है तो उस पर भी इसी प्रकार का तर्क लागू होता है। मान लीजिए ट्रकों की कीमत बढने से उनकी पूर्ति बढायी जाती है तो सम्भव है कारों

की पूर्ति घटानी पडे। इस प्रकार सम्बद्ध वस्तुओं की कीमतों के बदलने से एक वस्तु की पूर्ति में परिवर्तन आ सकता है।

(3) सरकारी नीति का वस्तु की पूर्ति पर प्रभाव—सरकार की कर नीति, व्यय नीति व विदेशी व्यापार-नीति आदि का वस्तु की पूर्ति पर काफी प्रभाव पडता है। सरकार अमुक वस्तुओं पर करों में कमी करके उनके उत्पादन को प्रोत्साहन देकर उनकी पूर्ति को बढाने में योगदान दे सकती है। इसी प्रकार सार्वजनिक व्यय में वृद्धि होने तथा विदेशी व्यापार में वृद्धि होने से भी वस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि के अवसर उत्पन्न होते हैं। आजकल भारत से फल फूलों व सब्जियों का निर्यात बढाया जा रहा है जिससे इनकी पूर्ति बढाने के उपाय किये जा रहे हैं।

(4) अन्य विशेष प्रकार के परिवर्तनो से भी वस्तुओ की पूर्ति बढती है, जैसे कम्प्यूटर-टेक्नोलोजी के आने से नई-नई वस्तुओं का उत्पादन होने लगा है, जिससे उनकी पूर्ति बढ़ी है। यदि सरकार प्रदूषण नियत्रण पर अधिक जोर देने लगती है तो एक तरफ प्रदूषण नियत्रण के उपकरणों को पूर्ति बढायी जाती है, और दूसरी तरफ कई प्रदूषण फैलाने वाले उद्योगों को बद करने से उनके माल की पूर्ति घटने लगती है। हाल में भारत में ऐसा कई रासायनिक उद्योगों के माल की पूर्ति के सम्बन्ध में किया जा रहा है।

इस प्रकार वस्तु की पूर्ति को प्रभावित करने वाले कई तत्व होते हैं।

पूर्ति-अनुसूची व पूर्ति-वक्र—माँग अनुसूची व माँग वक्र की भाँति पूर्ति अनुसूची व पूर्ति वक्र का भी विवेचन किया जाता है। एक वस्तु की पूर्ति अनुसूची में उसकी कीमत को परिवर्तित करके, पूर्ति को प्रभावित करने वाले अन्य कारकों या तत्वों को स्थिर रखकर, उस वस्तु की पूर्ति की विभिन्न मात्राएँ दर्शायी जाती हैं। इसमें भी साथ में समय व स्थान सूचित करने जरूरी होते हैं।

नीचे साबुन की कल्पित पूर्ति अनुसूची का उदाहरण दिया जाता है।

सारणी 3 · साबुन की टिकियो की एक कल्पित पूर्ति-अनुसूची

कीमत (प्रति साबुन, रुपयो मे)	पूर्ति की मात्रा (प्रतिदिन, हज़ार टिकियो मे)
10	23
9	20
8	17
7	15
6	11
5	8
4	2

इस सारणी में विभिन्न कीमतों पर वस्तु की विभिन्न मात्राओं की पूर्ति दर्शायी गयी है, जिन्हें विभिन्न पूर्तिकर्ता बाजार में प्रस्तुत करने को उद्यत होते हैं।

पूर्ति-वक्र—उपर्युक्त पूर्ति-अनुसूची को नीचे एक पूर्ति-वक्र पर दर्शाया गया है—

चित्र-4 में पूर्ति-वक्र (SS) दर्शाया गया जो ऊपर की ओर जाता है। यह कीमतों के घटने पर पूर्ति की मात्रा में कमी को दर्शाता है तथा कीमतों के बढ़ने पर पूर्ति की मात्रा में वृद्धियाँ दर्शाता है। उदाहरण के लिए 10 रु प्रति साबुन की कीमत पर प्रति दिन 23 हजार साबुन की टिकियों की पूर्ति की जाती है अथवा हम यों भी कह सकते हैं कि 23 हजार साबुन की टिकियों की पूर्ति के लिए 10 रु प्रति साबुन कीमत की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार 4 रु प्रति साबुन की कीमत पर इसकी पूर्ति की मात्रा 2 हजार इकाई दर्शायी गयी है। चित्र पर A बिन्दु 9 रु प्रति साबुन की कीमत पर इसकी 20 हजार इकाई की पूर्ति की मात्रा दर्शाता है।

चित्र-4 (पूर्ति-वक्र)

बाजार पूर्ति-वक्र कैसे बनाया जाता है ?

हमने ऊपर साबुन का बाजार पूर्ति-वक्र बनाया है। प्रश्न उठता है कि इसका निर्माण कैसे किया जाता है ? जिस प्रकार वैयक्तिक माँग-वक्रों से बाजार माँग-वक्र बनाया जाता है, उसी प्रकार एक वस्तु के वैयक्तिक पूर्ति-वक्रों को क्षैतिजीय रूप में (horizontally) जोड़कर उसका बाजार पूर्ति-वक्र बनाया जाता है। इसे निम्न सारणी में दर्शाया गया है, जहाँ एक वस्तु के तीन पूर्तिकर्ता माने गये हैं।

सारणी 4 x-वस्तु के वैयक्तिक पूर्ति-वक्रों की सहायता से बाजार पूर्ति-वक्र का निर्माण

x-वस्तु की कीमत (प्रति इकाई, रुपये में) कॉलम संख्या (1)	पूर्ति की मात्रा (इकाइयों में)			
	A द्वारा पूर्ति कॉलम (2)	B द्वारा पूर्ति कॉलम (3)	C द्वारा पूर्ति कॉलम (4)	बाजार में कुल पूर्ति की मात्रा कॉलम (5) (A + B + C)
4	3	4	5	12
3	2	3	4	9
2	1	2	3	6
1	0	1	2	3

इस सारणी के अनुसार 1 रु प्रति इकाई पर A पूर्तिकर्ता की पूर्ति बिल्कुल नही करेगा, जबकि B पूर्तिकर्ता 1 इकाई की तथा C पूर्तिकर्ता 2 इकाई की करेगा। इस प्रकार 1 रु प्रति इकाई पर कुल पूर्ति की मात्रा 3 हो जाएगी। इसी प्रकार अन्य कीमतो पर A, B व C पूर्तिकर्त्ताओ की विभिन्न पूर्ति मात्राओं को क्षैतिजीय रूप में जोडकर बाजार में x वस्तु की कुल पूर्ति की मात्राएँ अन्तिम कॉलम में दर्शायी गयी हैं।

नीचे के चित्र में वैयक्तिक पूर्ति वक्रों को जोडकर बाजार पूर्ति वक्र का निर्माण किया गया है

स्पष्टीकरण—A, B व C वैयक्तिक पूर्तिकर्त्ताओं के पूर्ति वक्र हैं जो उनकी पूर्ति अनुसूचियो के आधार पर बनाये गये हैं। SS बाजार पूर्ति वक्र है जो ऊपर पूर्ति अनुसूची के कॉलम 1 व कॉलम 5 के आधार पर बनाया गया है। चित्र में SS वक्र रेखा पर M बिन्दु 2 रु प्रति इकाई पर कुल 6 इकाई पूर्ति की मात्रा दर्शाता है, जो A की पूर्ति की मात्रा 1 इकाई, B की 2 इकाई तथा C की 3 इकाई के जोड (क्षैतिजीय रूप में) को दर्शाता है। इसी प्रकार बाजार पूर्ति-वक्र के अन्य बिन्दु निकाले गये हैं। यहाँ बाजार पूर्ति वक्र तथा वैयक्तिक पूर्ति वक्र सरल रेखा के रूप में दर्शाये गये हैं, लेकिन व्यवहार में ये वक्राकार होते हैं।

चित्र 5 वैयक्तिक पूर्ति-वक्रों से बाजार पूर्ति वक्र का निर्माण

पूर्ति के परिवर्तन

माँग के परिवर्तनों की भाँति हमे पूर्ति के परिवर्तनों का भी अध्ययन करना होगा। एक पूर्ति-वक्र पर एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु पर जाने का आशय यह है कि वस्तु की कीमत के परिवर्तन का, अन्य बातो के समान रहने पर, पूर्ति की मात्रा पर प्रभाव पड़ता है। कीमत के बढने पर पूर्ति की मात्रा बढती है और कीमत के घटने पर पूर्ति की मात्रा घटती है।

लेकिन जब अन्य बातो मे परिवर्तन हो जाता है तो पूर्ति-वक्र दायी ओर खिसक सकता है अथवा बायी ओर खिसक सकता है। जब पहले वाली कीमत पर पूर्ति की मात्रा बढ जाती है, अथवा पहले से कम कीमत पर पूर्ति की मात्रा उतनी ही बनी रहती है तो पूर्ति वक्र दायीं तरफ खिसक जाता है। ऐसा तब होता है जब पूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्वों जैसे उत्पादन लागत, टेक्नोलोजी, सरकारी नीति, आदि में आवश्यक परिवर्तन हो जाता है। मान लीजिए, कुछ कारणों से वस्तु की उत्पादन लागत घट जाती

है तो मुनाफा अधिक होने से उसकी पूर्ति बढ जाती है। फलस्वरूप पहले वाली कीमत पर वस्तु की पूर्ति बढ जाती है।

पूर्ति वक्र का खिसकाव निम्न चित्र में दर्शाया गया है

स्पष्टीकरण—चित्र 6 में SS वक्र पर B से A बिन्दु पर जाने से अन्य बातों के समान रहने पर कीमत के OP से घटकर OR हो जाने पर पूर्ति की मात्रा PB से घटकर RA हो जाती है। यह पूर्ति के नियम को दर्शाती है। इसमें पूर्ति को प्रभावित करने वाले अन्य तत्व स्थिर रहते हैं।

लेकिन् अन्य तत्वों में परिवर्तन होने से, जब OP कीमत पर पूर्ति की मात्रा PB से बढकर PD हो जाती है, अथवा कीमत के OP से घटकर OR हो जाने पर भी पूर्ति की मात्रा PB = RC रहती है, तो पूर्ति वक्र SS से खिसक कर दायी ओर S_1S_1 पर आ जाता है। इसे पूर्ति का विस्तार (extension of supply) कहा जाता है। इसी प्रकार हम S_1S_1 से प्रारम्भ करके यदि SS पर बायीं ओर खिसक जाते है तो यह पूर्ति का सकुचन (contraction of supply) कहलाता है। यह पूर्ति को प्रभावित करने वाले अन्य तत्वो के परिवर्तन की स्थिति में ही हुआ करता है।

चित्र-6 एक वक्र पर एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु पर जाना तथा पूर्ति-वक्र का दायी ओर खिसकना

माँग और पूर्ति मे साम्य

जब माँग और पूर्ति वक्र एक दूसरे को किसी बिन्दु पर काटते हैं तो उसे सतुलन या साम्य या बिन्दु कहते हैं। उस कीमत पर बाजार में वस्तु की माँग की मात्रा उसकी पूर्ति की मात्रा के बराबर होती है। कीमत के उस स्तर को सतुलन-कीमत कहते हैं। यदि कभी बाजार-कीमत इस सतुलन-कीमत से अधिक या कम होती है, तो ऐसी शक्तियाँ अपने आप उत्पन्न हो जाती हैं जो अत में पुन सतुलन कीमत को स्थापित कर देती हैं। यह निम्न चित्र की सहायता से समझ में आ सकता है

स्पष्टीकरण—चित्र 7 में माँग व पूर्ति वक्र एक दूसरे को E बिन्दु पर काटते हैं जिससे OP कीमत पर माँग की मात्रा व पूर्ति की मात्रा दोनों OQ के बराबर होती है। यदि कभी कीमत OP से बढकर OP_1 हो जाती है है तो पूर्ति की मात्रा माँग की मात्रा से अधिक हो जाती है, जिससे कीमत में गिरने की प्रवृत्ति लागू हो जाती है जो गिरते हुए तीर के निशानों से सूचित की गई है। अत में कीमत पुन E बिन्दु पर आ जाती है। इसी प्रकार यदि कीमत OP से घटकर OP_2 पर आ जाती है, तो माँग की

मात्रा पूर्ति की मात्रा से अधिक हो जाती है जिससे कीमत में बढने की प्रवृत्ति लागू हो जाती है, जो चित्र में तीर के निशानों के ऊपर की ओर जाने से सूचित की गयी है। अत में कीमत बढकर पुन सतुलन स्तर पर आ जाती है।

माँग व पूर्ति के साम्य का यह विवेचन अर्थशास्त्र में बहुत लोकप्रिय माना गया है। यह कीमत-प्रणाली की स्वचालित शक्ति (स्वत काम करने वाली शक्ति) को दर्शाता है।

चित्र-7 माँग व पूर्ति की मात्राएँ

माँग व पूर्ति के परिवर्तनों का साम्य पर प्रभाव

अब हम माँग व पूर्ति के परिवर्तनों का साम्य पर प्रभाव देख सकते हैं हम नीचे एक ऐसी स्थिति लेते हैं जिसमें माँग और पूर्ति वक्र दोनों अपनी प्रारम्भिक स्थिति की तुलना में दायी ओर खिसक जाते हैं। चित्र 8 में इसका प्रभाव कीमत व माँग तथा पूर्ति की मात्राओं पर देखा जा सकता है। पाठक स्वय माँग व पूर्ति के अन्य परिवर्तन लेकर नये साम्य की स्थिति का पता लगा सकते हैं। यह एक सरल क्रिया होती है।

स्पष्टीकरण—प्रारम्भ में माँग वक्र DD व पूर्ति वक्र SS एक दूसरे को E बिन्दु पर काटते हैं जिससे QE साम्य कीमत पर माँग की मात्रा = पूर्ति की मात्रा = OQ होती है। बाद में माँग को प्रभावित करने वाले तत्वों में परिवर्तन होने से माँग-वक्र DD से दायीं तरफ खिसक कर D_1D_1 पर आ जाता है, और पूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्वों के परिवर्तन से SS वक्र दायीं तरफ खिसकर S_1S_1 पर जा जाता है, जिससे नई साम्य कीमत Q_1E_1 स्थापित होती है, और इस पर माँग की मात्रा = पूर्ति की मात्रा = OQ_1 होती है।

माँग व पूर्ति-वक्रों के खिसकाव (shifts) कई रूप ले सकते हैं, इनसे नये साम्य स्थापित होते रहते हैं। इन विभिन्न प्रकार के खिसकावों से हमारे मूल
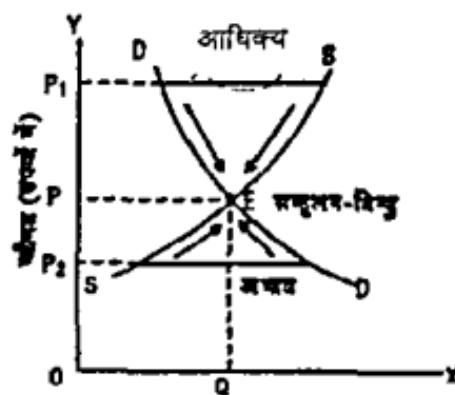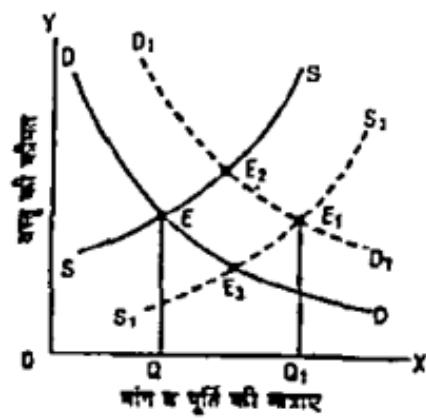
चित्र 8 माँग व पूर्ति के परिवर्तनों का साम्य पर प्रभाव

विश्लेषण में कोई अन्तर नहीं आता है। इनकी सहायता से हम कई प्रकार के साम्य निकाल सकते हैं जैसे केवल माँग वक्र का DD से D_1D_1 पर आना, और SS का वही रहना जिससे नया साम्य E_2 पर स्थापित होगा। इसी प्रकार DD वक्र का वहीं रहना और केवल SS वक्र का S_1S_1 पर जाना जिससे नया साम्य E_3 पर स्थापित होगा। इस प्रकार DD व SS वक्रों के परिवर्तन से नये साम्य की तलाश करना एक अत्यत सरल व रुचिप्रद प्रक्रिया होती है, जो आसानी से समझ में आ सकती है। इसका आर्थिक साहित्य में व्यापक रूप से प्रचलन पाया जाता है।

निष्कर्ष—

उपर्युक्त विश्लेषण के प्रमुख निष्कर्ष इस प्रकार प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(i) सभी माँग वक्रों के ढाल सारी दूर तक ऋणात्मक (negative) होते हैं,

(ii) सभी पूर्ति वक्र सारी दूर तक धनात्मक (positive) ढाल रखते हैं,

(iii) माँग के पूर्ति से अधिक रहने पर कीमत बढती है, और माँग के पूर्ति से कम रहने पर कीमत घटती है

(iv) केवल एक ही कीमत पर माँग की मात्रा पूर्ति की मात्रा के बराबर होती है,

(v) सतुलन कीमत पर ही बाजार कीमत स्थिर रहती है, तथा

(vi) जब माग व पूर्ति के वक्र खिसकते हैं तभी सतुलन कीमत और सतुलन-मात्रा में परिवर्तन होते हैं।

इस अध्याय में हमने माँग व पूर्ति के नियमों, माँग व पूर्ति वक्रों व इनको प्रभावित करने वाले कारकों या तत्वों का प्रारम्भिक विवेचन प्रस्तुत किया है। यह अर्थशास्त्र के आगे के अध्ययन में नीव के पत्थर (milestone) का काम करेगा। अत इसे ध्यान से समझने का प्रयास किया जाना चाहिए।

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न—

1 माँग का नियम किसे कहा जाता है ?

(अ) जब माँग के बढने से कीमत बढे।

(ब) जब माँग के घटने से कीमत घटे।

(स) जब, अन्य बातों के स्थिर रहने पर, वस्तु की कीमत के परिवर्तन से उसकी माँग की मात्रा में विपरीत दिशा में परिवर्तन हो।

(द) जब कीमत के घटने से माँग की मात्रा में वृद्धि हो। (स)

2 पूर्ति के नियम की परिभाषा छाटिए—

(अ) जब वस्तु की पूर्ति के बढने पर उसकी कीमत घटे।

(ब) जब वस्तु की पूर्ति के घटने पर उसकी कीमत बढे।

(स) जब कीमत के बढने पर उसकी पूर्ति बढे।

(द) जब वस्तु की कीमन के बढने से, अन्य बातों के समान रहने पर, वस्तु की पूर्ति बढे तथा कीमत के घटने पर पूर्ति घटे। (द)

3 निम्न में कौन सा तत्व माँग वक्र को ऊपर दायी ओर खिसका देता है ?

(अ) कीमत का घटना

(ब) परिवारों की आमदनी का बढना

(स) भविष्य में कीमतों के घटने की आशा

(द) फैशन का परिवर्तन (ब)

लघुउत्तरात्मक व अन्य प्रश्न

1 एक माँग वक्र पर एक बिन्दु से नीचे के बिन्दु पर जाने का अर्थ लिखिए।

2 एक माँग-वक्र ऊपर की ओर कब जाता है ?

3 टेक्नोलोजी के उन्नत होने से एक वस्तु की पूर्ति पर क्या प्रभाव पडता है?

4 माँग और पूर्ति में साम्य को चित्र देकर स्पष्ट कीजिए। यह साम्य कब बदलता है?

5 उन कारकों या तत्वों को समझाइए जो माँग में परिवर्तन लाते हैं।

6 उन तत्वों पर प्रकाश डालिए जो पूर्ति में परिवर्तन लाते हैं।

7 बाजार माँग वक्र व वैयक्तिक माँग-वक्र में सम्बन्ध दर्शाइए।

8 वैयक्तिक पूर्ति-वक्रों से बाजार पूर्ति-वक्र बनाने की विधि चित्र देकर समझाइए।

□□□

भाग 2 . उपभोक्ता का व्यवहार
(Module 2 : Consumer Behaviour)

6

उपयोगिता-विश्लेषण : गणनावाचक दृष्टिकोण
(Utility-Analysis: Cardinal Approach)

अर्थशास्त्र में उपयोगिता के अध्ययन का विशेष महत्त्व होता है। उपयोगिता उपभोक्ता की रुचियों पर निर्भर करती है, जिनके अनुसार वह अपनी सीमित आमदनी को व्यय करके अधिकतम सतोष प्राप्त करने का प्रयास करता है। इस अध्याय में कुल उपयोगिता, सीमान्त उपयोगिता, गणनावाचक उपयोगिता (cardinal utility) व क्रमवाचक उपयोगिता (ordinal utility) को स्पष्ट करके सम-सीमान्त उपयोगिता नियम का विवेचन किया जायेगा।

उपयोगिता का अर्थ—किसी भी वस्तु या सेवा द्वारा एक विशिष्ट आवश्यकता को सन्तुष्ट करने की शक्ति को हम उपयोगिता कहकर पुकारते हैं। **उपयोगिता (utility) व लाभदायकता (usefulness) में भेद स्पष्ट करना आवश्यक है।** उपयोगिता का सम्बन्ध प्राप्त लाभ हानि से न होकर केवल आवश्यकता की सन्तुष्टि मात्र से होता है। शराबी को शराब से उपयोगिता मिलती है, लेकिन शराब को लाभप्रद नहीं माना जाता। दूध में उपयोगिता होती है और यह लाभप्रद भी होता है। इस प्रकार शराब और दूध दोनों में उपयोगिता का गुण होता है क्योंकि वे व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। कहने का आशय यह है कि एक उपभोक्ता के लिए वस्तु की उपयोगिता का बडा महत्त्व होता है। वह अपनी आय को विभिन्न वस्तुओं पर व्यय करके अधिकतम सतोष प्राप्त करने का प्रयास करता है।

प्रोफेसर बोल्डिंग का मत है कि जिस प्रकार एक फर्म भूमि व कच्चा माल आदि खरीदकर उनको भौतक पदार्थ में बदल देती है, उसी प्रकार एक उपभोक्ता खाद्य पदार्थ, वस्त्र व मनोरंजन आदि सेवाएँ खरीदकर, उनके आधार पर अपनी सन्तुष्टि का महल खडा करता है। अतएव, 'उपयोगिता समस्त आर्थिक क्रिया की अंतिम अवस्था होती है। श्रम से कोयला उत्पन्न करना, कोयले से इस्पात, इस्पात से कार, कार में बैठकर दुकान पर जाकर सामान खरीदना और इससे सन्तुष्टि प्राप्त करना, ये सभी एक-दूसरे से जुडी हुई क्रियाएँ होती हैं। सभी भौतिक वस्तुओं का उद्देश्य इसी वजह से होता है कि वे उपयोगिता प्रदान करती हैं। बोल्डिंग के अनुसार उपभोग की क्रिया उत्पादन से पूर्णतया भिन्न नहीं होती है। यह आर्थिक क्रिया कलाप में अंतिम क्रिया होती है।

उपयोगिता का माप—उपयोगिता एक मनोवैज्ञानिक तथ्य होती है, इसलिए इसका माप बड़ा कठिन होता है। लेकिन अर्थशास्त्रियों ने अपने विश्लेषण में इसे मापनीय भी स्वीकार किया है। एक वस्तु के लिए हम जितनी मुद्रा देने के लिए तत्पर हो जाते हैं, वह हमारे लिए उसकी उपयोगिता का माप होती है।

उपयोगिता दृष्टिकोण 1870 से प्रारम्भ होने वाली शताब्दी में ग्रेट ब्रिटेन के विलियम स्टेनले जेवन्स (William Stanley Jevons), आस्ट्रिया के कार्ल मेन्जर (Karl Menger) व फ्रांस के लियों वालरा (Leon Walras) ने लगभग एक साथ प्रस्तुत किया था। बाद में कुछ अर्थशास्त्रियों ने उपयोगिता की मापनीयता को चुनौती दी और इसे असम्भव तथा अनावश्यक बताया। उन्होंने तटस्थता-वक्र विश्लेषण प्रस्तुत किया जो उपयोगिता-विश्लेषण का एक विकल्प माना जाता है। दोनों विश्लेषण अपने-अपने ढग से उपभोक्ता के व्यवहार पर प्रकाश डालते हैं।

उपयोगिता-विश्लेषण मे एक वस्तु या सेवा से प्राप्त होने वाली उपयोगिता को मापा जाता है, इसलिए इसे गणनावाचक विश्लेषण (cardinal analysis) कहा गया है। इस अध्याय मे इसके कई उदाहरण दिए गए है। तटस्थता-वक्र विश्लेषण मे दो वस्तुओ के विभिन्न सयोगो से प्राप्त कुल उपयोगिता को अधिक या कम के रूप मे व्यक्त किया जाता है, इसलिए इसे क्रमवाचक विश्लेषण (ordinal analysis) कहते है, जैसे 5 इकाई X व 6 इकाई Y से प्राप्त कुल उपयोगिता 4 इकाई X व 5 इकाई Y से प्राप्त कुल उपयोगिता से अधिक होगी। एक उपभोक्ता के तटस्थता-मानचित्र पर कई तटस्थता-वक्र होते हैं। प्रत्येक ऊँचा तटस्थता वक्र अपने से नीचे वाले तटस्थता-वक्र की तुलना में अधिक सतोष का सूचक होता है। लेकिन वह उस सतोष की मात्रा को नही बतला पाता। पूर्व उदाहरण में यह नही बतलाया जाता कि 5 इकाई X व 6 इकाई Y के उपभोग से कुल उपयोगिता कितनी मिली और वह 4 इकाई X व 5 इकाई Y से प्राप्त उपयोगिता से कितनी अधिक रही ? अत. उपयोगिता-विश्लेषण गणनावाचक (cardinal) होता है तथा तटस्थता-वक्र विश्लेषण क्रमवाचक (ordinal) होता है।

कुल उपयोगिता व सीमान्त उपयोगिता

कुल उपयोगिता (Total Utility)—किसी दिए हुए समय मे एक वस्तु की विभिन्न इकाइयों के उपयोग से जो कुल सन्तुष्टि प्राप्त होनी है, उसे कुल उपयोगिता कहकर पुकारते हैं। वस्तु की कुल उपयोगिता एक बिन्दु तक बढती है (प्राय यह घटती हुई दर से बढती है) और अन्त में किसी एक बिन्दु पर यह अधिकतम हो जाती है। जिस बिन्दु पर कुल उपयोगिता अधिकतम हो जाती है उसे अधिकतम सतोष का बिन्दु या संतृप्ति-बिन्दु (saturation-point) कहते है। यदि उपभोक्ता को इस बिन्दु के बाद भी उस वस्तु का उपयोग जारी रखने के लिए बाध्य किया जाए तो उसके लिए कुल उपयोगिता घटने लगती है।

कुछ लेखकों का मत है कि प्रारम्भ में कुछ इकाइयों तक कुल उपयोगिता बढती हुई दर से बढ सकती है (उस स्थिति मे सीमान्त उपयोगिता बढती हुई होती है)। लेकिन अन्त में एक बिन्दु के बाद कुल उपयोगिता घटती हुई दर से ही बढती है (अर्थात सीमान्त उपयोगिता घटने लगती है) यह बात आगे चलकर एक दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाएगी।

सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility)—किसी दिए हुए समय में, उपभोक्ता के द्वारा वस्तु की एक इकाई का उपभोग बढाने से कुल उपयोगिता में जो परिवर्तन आता है, उसे सीमान्त उपयोगिता कहते है। मान लीजिए, एक उपभोक्ता को वस्तु की N इकाइयों के उपभोग से कुल उपयोगिता 50 इकाई के बराबर मिलती है और (N+1) इकाइयों से यह 55 हो जाती है, तो (N+1)वीं इकाई की सीमान्त उपयोगिता (55 - 50) = 5 होगी। इसी परिभाषा को थोडा बदलकर भी प्रस्तुत किया जा सकता है। एक इकाई का उपभोग कम कर देने से कुल उपयोगिता में जो परिवर्तन आता है, उसे भी सीमान्त उपयोगिता ही कहते हैं। जैसे उपर्युक्त उदाहरण में (N+1) इकाइयों से कुल उपयोगिता 55 मिलती है, जबकि N इकाइयों से 50 मिलती है, तो (N+1)वीं इकाई की सीमान्त उपयोगिता (55 50) = 5 होगी। इस प्रकार सीमान्त उपयोगिता की परिभाषा में एक वस्तु के उपभोग में एक इकाई के परिवर्तन (वृद्धि अथवा कमी) का प्रभाव कुल उपयोगिता पर देखा जाता है।[1]

हमने यहाँ पर सीमान्त विश्लेषण का आरम्भ सीमान्त उपयोगिता से किया है। आगे चलकर अन्य सीमान्त अवधारणाओं का भी यथास्थान विवेचन किया जाएगा। अत पाठकों को यहाँ पर सीमान्त उपयोगिता की अवधारणा को भलीभाँति समझ लेना चाहिए।

निम्न सारणी द्वारा कुल उपयोगिता व सीमान्त उपयोगिता का सम्बन्ध स्पष्ट किया गया है। यह सम्बन्ध आगे चित्र 1 द्वारा समझाया गया है।

कुल उपयोगिता व सीमान्त उपयोगिता

सारणी 1

डबल रोटी (मात्रा)	कुल उपयोगिता (इकाइयाँ)	सीमान्त उपयोगिता (इकाइयाँ)
1	12	12
2	20	8
3	26	6
4	30	4
5	32	2
6	32	0
7	30	( )2

1 प्राय यह कथन देखने को मिलता है कि अंतिम वस्तु की उपयोगिता सीमान्त उपयोगिता होती है। लेकिन यह कथन सही नहीं है क्योंकि वस्तु की सभी इकाइयाँ एक सी होती हैं, उनमें कोई पहली, दूसरी, तीसरी या अंतिम इकाई नहीं होती। कहीं कहीं इस प्रकार का कथन भी देखने को मिलता है कि N इकाइयों की कुल उपयोगिता 50 इकाई और (N+1) इकाइयों की कुल उपयोगिता 55 इकाई है तो (N+1) इकाइयों की कुल सीमान्त उपयोगिता (55 50) = 5 होगी। हमने ऊपर लेफ्टविच व ईकर्ट की शैली के आधार पर इसे (N+1)वीं इकाई की सीमान्त उपयोगिता कहना ज्यादा उपयुक्त समझा है।

मान लीजिए, एक व्यक्ति को डबल रोटी की विभिन्न मात्राओं के उपभोग से, एक दिए हुए समय, में सरणी 1 के अनुसार उपयोगिता मिलती है।

इस उदाहरण में पाँच व छ दोनों मात्राओं पर कुल उपयोगिता अधिकतम रहती है, लेकिन अध्ययन की दृष्टि से छ इकाइयों पर अधिकतम सन्तुष्टि का बिन्दु मानना ज्यादा उपयुक्त समझा जाता है।

कुल उपयोगिता व सीमान्त उपयोगिता का सम्बन्ध—हमने प्रारम्भ से ही सीमान्त उपयोगिता को घटता हुआ दिखलाया है। सारणी से यह स्पष्ट होता है कि जब कुल उपयोगिता बढती है तो सीमान्त उपयोगिता घटती है। यहाँ पर कुल उपयोगिता घटती हुई दर से बढ रही है। जब कुल उपयोगिता अधिकतम होती है तो सीमान्त उपयोगिता
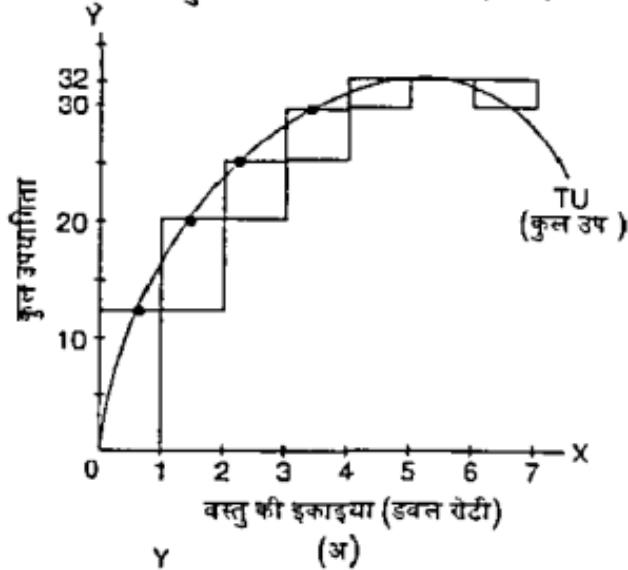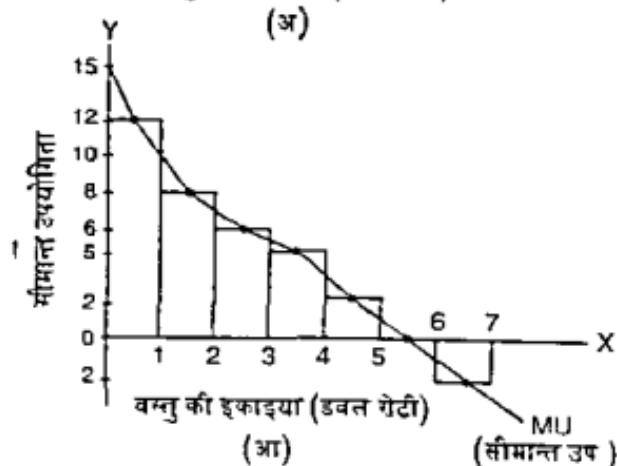
चित्र 1-कुल उपयोगिता व सीमान्त उपयोगिता वक्र

शून्य होती है। जब कुल उपयोगिता घटती है तो सीमान्त उपयोगिता ऋणात्मक (negative) हो जाती है।

चित्र 1 में X अक्ष पर डबल रोटी की मात्राएँ ली गई हैं और Y-अक्ष पर चित्र 1 (अ) में कुल उपयोगिता और चित्र 1 (आ) में सीमान्त उपयोगिता मापी गई है। Y अक्ष पर दोनों के पैमाने भिन्न भिन्न हैं। चित्र 1 (अ) में कुल उपयोगिता वक्र खींचा गया है। इसके लिए पहले आयताकार (rectangles) बनाए गए हैं, जैसे 1 इकाई पर OX अक्ष पर 12 इकाई पर एक आयताकार बनाया गया है। फिर उससे आगे 1 से 2 की दूरी को लेकर दूसरा आयताकार बनाया गया है और कुल दूरी 20 ली गयी है। इसी प्रकार अन्य आयताकार खींचे गए हैं। इन आयताकारों की ऊपरी सीमा के मध्य बिन्दुओं को मिलाकर मूल बिन्दु से प्रारम्भ करके एक वक्र बनाया गया है जो कुल उपयोगिता वक्र (TU-Curve) कहलाता है।

चित्र 1 (आ) में भी इसी प्रकार पहले एक-एक इकाई की दूरी पर सीमान्त उपयोगिता की मात्रा को सूचित करते हुए आयताकार बनाए गए हैं, जैसे 0 से 1 की दूरी पर OY अक्ष पर 12 इकाई सीमान्त उपयोगिता के लिए एक आयताकार बनाया गया है। इसी प्रकार दूसरा आयताकार 8 इकाई सीमान्त उपयोगिता को सूचित करते हुए बनाया गया है। फिर इनके मध्य बिन्दुओं (ऊपरी रेखा पर) को मिलाकर सीमान्त उपयोगिता वक्र खींचा गया है।[1]

गणितीय दृष्टि से उपभोग की किसी भी मात्रा पर सीमान्त उपयोगिता उस बिन्दु पर कुल उपयोगिता वक्र के ढाल (slope) के बराबर होती है। इसे अग्रांकित चित्र की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है।
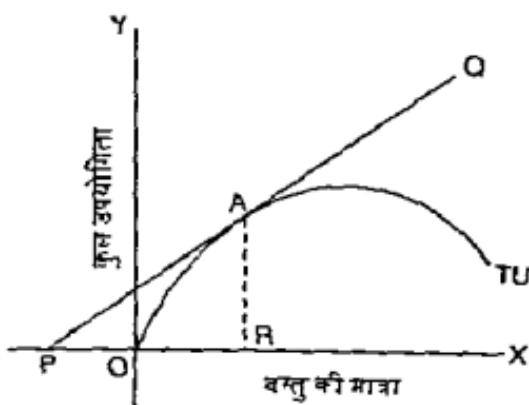
चित्र 2-कुल उपयोगिता वक्र के एक बिन्दु पर सीमान्त उपयोगिता का माप करने की विधि

1 देखिए Dominick Salvatore Microeconomics 1st ed 1991 pp 61-62. लेकिन Lipsey & Chrystal ने सीधे वस्तु की 1,2 आदि इकाइयों के ठीक ऊपर TU व MU अंकित करके वक्र खींचे हैं देखिए उनकी रचना Principles of Economics, 9th ed 1999 p.89 लेकिन इसमें वक्रों की आकृति पर कोई असर नहीं पड़ता।

मान लीजिए हमें TU वक्र के A बिन्दु पर सीमान्त उपयोगिता का पता लगाना है। हम A बिन्दु पर PQ स्पर्श-रेखा (tangent) डालते हैं, जो X अक्ष को बायीं तरफ बढ़ाने पर P बिन्दु पर काटती है। इस स्पर्शरेखा का ढाल RA/RP होता है, जो वस्तु की OR मात्रा पर इसकी सीमान्त उपयोगिता का माप होता है। आधुनिक अर्थशास्त्र में इस तरह के अध्ययन का बड़ा महत्त्व माना गया है। पाठक कुल उपयोगिता के अन्य बिन्दुओं पर भी सीमान्त उपयोगिता निकाल सकते हैं। जिस बिन्दु पर TU वक्र अधिकतम होता है उस पर स्पर्श-रेखा (tangent) OX-अक्ष के समानान्तर (parallel) हो जाती है, जिसका अर्थ यह होगा कि उस बिन्दु पर स्पर्श रेखा का ढाल शून्य होता है, अर्थात् सीमान्त उपयोगिता भी शून्य होती है।

पानी व हीरे की पहेली—कुल उपयोगिता व सीमान्त उपयोगिता का अन्तर स्पष्ट करने लिए प्राय पानी व हीरों का एक सुप्रसिद्ध उदाहरण लिया जाता है। पानी की कुल उपयोगिता बहुत अधिक होती है जबकि हीरों की अपेक्षाकृत कम होती है। फिर भी पानी बहुत सस्ता और हीरे बहुत महँगे क्यों होते हैं ? इसका उत्तर इन दोनों की सीमान्त उपयोगिताओं के अन्तर में देखने को मिलेगा। **कीमत सीमान्त उपयोगिता पर निर्भर करती है, न कि कुल उपयोगिता पर।** पानी की अधिक मात्रा का उपभोग होने से इसकी सीमान्त उपयोगिता कम होती है, जिससे उसकी कीमत भी कम होती है। इसके विपरीत, हीरों की खरीद कम की जाती है जिससे इनकी सीमान्त उपयोगिता ऊँची होने से कीमत भी ऊँची होती है। इसके अलावा वस्तुओं की दुर्लभता या सीमितता का भी उनकी कीमत पर प्रभाव पड़ता है।

सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम
(Law of Diminishing Marginal Utility)

हम जानते हैं कि वास्तविक जगत में एक आवश्यकता की पूर्ति करना सम्भव होता है। इसका कारण यह है कि एक आवश्यकता की तीव्रता सीमित होती है और एक वस्तु की इकाइयों के लगातार उपभोग से उस आवश्यकता की पूर्णतया सन्तुष्टि की जा सकती है। ऊपर कुल उपयोगिता व सीमान्त उपयोगिता के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक वस्तु की विभिन्न इकाइयों का एक दिए हुए समय में उपभोग करने से सीमान्त उपयोगिता घटने लगती है। इसे अर्थशास्त्र में सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम कहकर पुकारते हैं।

प्रो मार्शल का कहना है कि आवश्यकताएँ अनेक प्रकार की होती हैं, लेकिन प्रत्येक आवश्यकता की अपनी एक सीमा होती है जिसके कारण उसे पूरी तरह सन्तुष्ट किया जा सकता है। उपयोगिता ह्रास नियम को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है **'किसी भी व्यक्ति के लिए एक वस्तु की कुल उपयोगिता (अर्थात् कुल संतोष अथवा इससे प्राप्त होने वाला अन्य लाभ) उसके पास इसके स्टॉक में प्रत्येक वृद्धि के साथ-साथ बढ़ती जाती है, लेकिन यह उतनी तेजी से नहीं बढ़ती जितनी तेजी से उसका स्टॉक बढ़ता है। यदि उसके पास स्टॉक एक-सी दर से बढ़ता है तो इससे प्राप्त होने**

वाला लाभ घटता हुई दर से बढ़ता है। दूसरे शब्दों में, एक व्यक्ति अपने पास एक वस्तु के स्टाक में दी हुई वृद्धि में जो अतिरिक्त लाभ प्राप्त करता है, वह उसके पास पहले से होने वाले स्टाक में होने वाली प्रत्येक वृद्धि के फलस्वरूप घटता जाता है।[1] अतः किसी भी व्यक्ति के लिए एक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता उसके पास पहले से पाई जाने वाली वस्तु की मात्रा की प्रत्येक वृद्धि के साथ घटती जाती है।

इस मार्शल द्वारा सीमान्त उपयोगिता-ह्रास-नियम की परिभाषा में निम्न बातों पर बल दिया गया है

(1) वस्तु से प्राप्त होने वाली कुल उपयोगिता वस्तु के स्टाक में वृद्धि के साथ-साथ बढ़ती जाती है

(2) लेकिन यह (कुल उपयोगिता) घटती हुई दर से बढ़ती है।

(3) इसी वजह से सीमान्त उपयोगिता उत्तरोत्तर घटती जाती है।

सीमान्त उपयोगिता-ह्रास-नियम को ठीक से समझने के लिए इसकी निम्न मान्यताओं पर ध्यान देना होगा—

(1) उपभोग का समय नहीं बदलना—इस नियम की पहली मान्यता यह है कि उपभोग का समय स्थिर रहता है। उपभोक्ता वस्तु की विभिन्न इकाइयों का उपभोग लगातार करता जाता है जिससे सीमान्त उपयोगिता का घटना स्वाभाविक है। यदि उपभोग का समय एक न रहे तो नियम के लागू होने में बाधा पड़ेगी। मान लीजिए, एक व्यक्ति दोपहर के भोजन में अनरस का कटोरियाँ पाता है। उसे एक के बाद दूसरी फिर तीसरी कटोरी अनरस में क्रमशः घटती हुई सीमान्त उपयोगिता मिलने लग जाती है और ... खाना के बाद वह अनरस पाते-पाते पूर्णतया तृप्त हो जाता है। लेकिन उसी दिन शाम को अथवा दूसरे दिन अनरस का उपभोग करने से नयी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। पुनः एक के बाद एक कटोरा अनरस पाने से सीमान्त उपयोगिता घटती हुई मिलती है। यहाँ पर इस बात की कल्पना स्वीकार की जा सकती है कि प्रारम्भ की कुछ कटोरियों से उसे बढ़ती हुई सीमान्त उपयोगिता मिले। जैसे वह भोजन पर बैठते ही एक कटोरी अनरस पा जाए और दूसरी कटोरी में उसे सम्भवतः सीमान्त उपयोगिता अधिक मिले। लेकिन जैसा कि बाल्डिंग ने कहा है कि अन्त में, अर्थात् एक सीमा के बाद, उसे घटती हुई सीमान्त उपयोगिता ही मिल पाती है।

(2) उपभोक्ता की रुचि में परिवर्तन न हो—पहली मान्यता से दूसरी मान्यता यह निकलती है कि इस नियम के लागू होने के लिए यह आवश्यक है कि उपभोग के लिए लिए हुए समय में उपभोक्ता की रुचि न बदले। लेकिन उपभोग के समय के स्थिर रहने से रुचि को स्थिर रहना भी स्वाभाविक है। प्रायः मधुर संगीत को दुबारा सुनने से उसके प्रति रुचि के बढ़ जाने से सीमान्त उपयोगिता अधिक भी मिल सकती लेकिन यह इस नियम का अपवाद नहीं है क्योंकि यहाँ पर उपभोक्ता की रुचि

1 Marshal Principles of Economics pp 78-79

बदल गई है। कहते हैं कि मनुष्य के लोभ-लालच व महत्त्वाकाक्षा की प्रवृत्तियाँ प्राय अतृप्य किस्म की होती हैं। शराब पीने अथवा भाग-गाजा आदि का सेवन करने से व्यक्ति की मानसिक स्थिति बदल जाती है, जिससे उसे बढती हुई सीमान्त उपयोगिता के मिलने की सम्भावना हो जाती है। इसलिए इस नियम की क्रियाशीलता के लिए हम यह मान लेते हैं कि उपभोक्ता की रुचि में कोई परिवर्तन नही होता।

(3) उपभोक्ता की आय स्थिर रहती है—यह नियम उपभोक्ता की आय को भी अपरिवर्तित मान लेता है, क्योंकि आय के बदल जाने में रुचि भी बदल जाती है और सारी पसन्दगी का रग ढग बदल जाता है।

(4) अन्य वस्तुओ की कीमते स्थिर रहती है—एक वस्तु के उपभोग के प्रति उपभोक्ता के व्यवहार का अध्ययन करने के लिए अन्य वस्तुओं की कीमतों को यथास्थिर मान लिया जाता है। यदि अन्य वस्तुओं के भाव बदल जाते हैं तो हो सकता है कि उपभोक्ता इस वस्तु से दूसरी वस्तु या वस्तुओं की तरफ जाना चाहे। यही नहीं बल्कि इस नियम के लागू होने के लिए हम उपभोक्ता के पास अन्य वस्तुओं का स्टॉक भी स्थिर मान लेते हैं। मान लीजिए, हम एक व्यक्ति के लिए पेन्टों की उपयोगिता का अध्ययन कर रहे हैं। उस समय हम उसके पास कमीजों की सख्या को भी स्थिर मान लेते हैं। पेन्टो के साथ साथ कमीजो की सख्या के बढने से पेन्टों की सीमान्त उपयोगिता का स्वरूप वह नही होगा जो कमीजों के स्थिर रहने पर होता।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त मान्यताओं को स्वीकार करने पर वस्तु की उत्तरोत्तर अधिक इकाइयों के उपभोग से क्रमश घटती हुई सीमान्त उपयोगिता प्राप्त होती है। इसे सीमान्त उपयोगता ह्रास नियम कहते हैं।

नियम का चित्र द्वारा स्पष्टीकरण—हम कुल उपयोगिता व सीमान्त उपयोगिता के विवेचन में डबल रोटी का जो उदाहरण सारणी 1 (कॉलम 1 व 3) व चित्र 1(आ) में दे चुके हैं। उसे यहाँ दोहराने की आवश्यकता नही है। उससे स्पष्ट हो जाता है कि एक डबल रोटी से 12 इकाई सीमान्त उपयोगिता मिलती है, दूसरी से 8, तीसरी से 6 और इस प्रकार घटते हुए यह छठी इकाई पर शून्य हो जाती है और सातवी इकाई पर ऋणात्मक हो जाती है। प्रस्तुत दृष्टान्त में सीमान्त उपयोगिता की घटती हुई प्रवृत्ति शुरू से ही लागू मानी गई है। पाठक चाहें तो शुरू की दो या तीन डबल रोटियो के लिए बढती हुई सीमान्त उपयोगिताएँ भी मान सकते हैं, उससे हमारे मुख्य विवेचन व निष्कर्ष में विशेष अन्तर नही आएगा।

यहाँ केवल एक बात पर और ध्यान आकर्षित किया जा सकता है। कुछ वस्तुओ के उपभोग से सीमान्त उपयोगिता बहुत तेजी से घटती है (हम कह सकते है कि वह एकदम से नीचे गिरती है), जबकि अन्य वस्तुओं के लिए वह धीरे धीरे घटती है। प्रथम

---

1 कुछ लेखक एक मान्यता यह भी बतलाते हैं कि उपभोग की इकाई ठीक-ठीक होनी चाहिए, अन्यथा छोटी इकाई लेने पर प्रारम्भ में सीमान्त उपयोगिता बढ़ती हुई मिलेगी। जैसे अमरस के उदाहरण में यदि उपभोक्ता को एक-एक चम्मच अमरस दिया जाए तो वह बहुत ही अपर्याप्त इकाई मानी जाएगी। उपभोग की इकाई के पर्याप्त होने पर ही सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम लागू होता है।

स्थिति में सीमान्त उपयोगिता वक्र की आकृति द्वितीय स्थिति से भिन्न होगी। उदाहरण के तौर पर, प्रथम स्थिति के लिए हम शर्बत के गिलास ले सकते हैं, और द्वितीय स्थिति के लिए हम चपातियों के उपयोग को ले सकते हैं। यह मानना अस्वाभाविक नहीं होगा कि एक उपभोक्ता सम्भवतः शर्बत के दो गिलास पीने से पूर्णरूप से तृप्त हो जाएगा और तीसरे गिलास से उसे सीमान्त उपयोगिता शून्य या घटती हुई मिलने लग जाएगी। इसके विपरीत, एक समय में कुल 10 चपातियाँ खाने वाले व्यक्ति के लिए सीमान्त उपयोगिता धीरे-धीरे ही घटेगी। हम नीचे दिये गए चित्र 3 में इन दोनों स्थितियों में सीमान्त उपयोगिता वक्र की आकृतियों की तुलना कर सकते हैं।

(अ) (आ)

चित्र-3

चित्र 3 (अ) में शर्बत के तीसरे गिलास पर सीमान्त उपयोगिता शून्य हो जाती है और चित्र 3 (आ) में 10 चपातियों पर पहुँचने पर भी सीमान्त उपयोगिता शून्य नहीं हुई, हालाँकि वह शून्य की तरफ बढ़ रही है। प्रथम वक्र का ढाल द्वितीय वक्र के ढाल से ज्यादा है, जो दोनों स्थितियों के अन्तर को बतलाता है।

नियम के लागू होने के कारण—श्री पेरेटो ने इस नियम के लागू होने के दो कारण बतलाए हैं—

(1) विभिन्न वस्तुएँ एक-दूसरे की अपूर्ण स्थानापन्न (Imperfect substitutes) होती हैं—एक वस्तु के लिए दूसरी वस्तु पूर्णतया नहीं बदली जा सकती है। इसलिए एक वस्तु के उपभोग को बढ़ाने से सीमान्त उपयोगिता घटने लगती है। मान लीजिए, डबल रोटी व मक्खन के उपभोग में हम डबल रोटी की मात्रा स्थिर रखकर मक्खन की मात्रा बढ़ाते जाते हैं। इस दशा में मक्खन की उत्तरोत्तर अधिक मात्राओं से सीमान्त उपयोगिता घटती हुई मिलेगी, क्योंकि डबल रोटी की मात्रा स्थिर है। हो सकता है कि एक सीमा के बाद मक्खन लगाने के लिए डबल रोटी ही न रह जाए। अतः एक वस्तु

दूसरी वस्तु की पूर्ण स्थानापन्न नहीं होती, जिससे एक वस्तु के उपभोग से सीमान्त उपयोगिता घटती हुई मात्रा में मिलती है।

(2) विशिष्ट आवश्यकताओं की तृप्ति हो सकती है—जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है एक विशेष आवश्यकता की पूर्ति की जा सकती है। उदाहरण के लिए, हम एक सीमा तक ही नमक खा सकते हैं। एक बिन्दु के बाद नमक का उपभोग बन्द करना होता है। अत प्रत्येक वस्तु के उपभोग के दौरान एक सतृप्ति-बिन्दु (पूर्ण सतुष्टि का बिन्दु) अवश्य आता है। उस बिन्दु पर सीमान्त उपयोगिता शून्य हो जाती है।

नियम के तथाकथित अपवाद

नियम को उपर्युक्त रूप म प्रस्तुत करने पर इसका कोई वास्तविक अपवाद नहीं रह जाता है। लेकिन इसे समझने में भूल करने से निम्न अपवाद बतलाये गये हैं जो सही नहीं हैं। हम नीचे इन विभिन्न किस्म के भ्रमात्मक अपवादों का उल्लेख करके उनका निराकरण भी करेंगे—

(1) सगीत का अपवाद—प्राय यह कहा जाता है कि दूसरी बार मधुर सगीत को सुनने मे पहले की अपेक्षा अधिक उपयोगिता मिलती है। लेकिन ऐसा उपभोक्ता की रुचि में परिवर्तन होने से ही सम्भव हो सकता है, जिसे हमने स्थिर माना है। फिर एक ही सगीत को कई बार सुनने से एक सीमा के बाद सीमान्त उपयोगिता अवश्य घटती है। सिनेमा के नित्य नये गाने आते रहते हैं और धीरे-धीरे पुराने भी पडते जाते हैं। इसलिए सगीत को सुनने से भी घटती हुई उपयोगिता ही मिलती है। इसके अलावा एक-दो बार के लिए बढती हुई सीमान्त उपयोगिता की गुजाइश तो नियम में मानी ही गयी है। उनसे नियम गलत प्रमाणित नहीं हो जाता।

(2) इकाई के छोटे होने से सम्बन्धित अपवाद—पहले बतलाया जा चुका है कि बहुत अपर्याप्त या बहुत छोटी इकाइयों के उत्तरोत्तर उपभोग करने से सीमान्त उपयोगिता का बढना इस नियम को गलत सिद्ध नहीं करता। व्यावहारिक बात तो यह है कि शुरू से ही इकाई ऐसी होनी चाहिए जो एक विशेष आवश्यकता की तीव्रता को कम कर सके। प्यासे को एक-एक बूँद पानी देना व अगीठी में एक-एक टुकडा कोयला डालना, आदि दृष्टान्त निरर्थक व अव्यावहारिक किस्म के हैं। अत उपभोग की इकाई ठीक-ठीक आकार की होनी चाहिए, अन्यथा इस नियम के लागू होने में विलम्ब हो सकता है।

(3) टिकट के सग्रह से सम्बन्धित अपवाद—कहा जाता है कि टिकट सग्रहकर्ता को प्रत्येक अगले टिकट से अधिक उपयोगिता मिलती है। लेकिन यदि कोई अगला टिकट उसके पूर्व सग्रह में शामिल किसी टिकट से मिलता-जुलता है तो उसकी उपयोगिता अवश्य घटेगी। यदि प्रत्येक टिकट भिन्न किस्म का है तो उसे भिन्न वस्तु मान लेना होगा। अत यह भी नियम का झूठा अपवाद है। -

(4) टेलीफोन सम्बन्धी अपवाद—यदि एक व्यक्ति अपने टेलीफोन पर पहले 100 व्यक्तियों से बात कर सकता था और अब शहर में व अन्यत्र अधिक टेलीफोन

लग जाने से मान लीजिए वह 200 व्यक्तियों से बात कर सकता है तो उपयोगिता ह्रास नियम भग नहीं हो जाएगा। नियम तो केवल यह कहता है कि दूसरे टेलीफोन की उपयोगिता पहले टेलीफोन से कम होगी। यदि इसी व्यक्ति के पास एक टेलीफोन के स्थान पर दो टेलीफोन की सुविधा हो जाती है तो दूसरे टेलीफोन की उपयोगिता पहले से कम होगी। अत यह भी नियम का सच्चा अपवाद नहीं है।

(5) **कजूस का दृष्टान्त**—कहा जाता है कि एक कजूस को अपनी अधिकाधिक मुद्रा से बढती हुई उपयोगिता मिलती है। यहाँ भी मानसिक स्थिति का सवाल आ जाता है और यह एक असामान्य दशा का मामला है। कजूस की मानसिक दशा सामान्य किस्म की नहीं होती।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सीमान्त उपयोगिता नियम का कोई सच्चा अपवाद नहीं है। लेकिन इस नियम को अधिक वैज्ञानिक व अधिक सही रूप में प्रस्तुत किया जाना चाहिए।

नियम का महत्त्व

(1) **माँग के नियम व अन्य नियमो का आधार**—सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम का उपयोग अर्थशास्त्र के अन्य नियमों को निकालने में किया गया है, जैसे माँग का नियम[1] सम सीमान्त उपयोगिता नियम (अधिकतम सतुष्टि का नियम) उपभोक्ता की बचत आदि।

(2) **सार्वजनिक वित्त मे प्रयोग**—इस नियम का उपयोग सरकार के द्वारा कर लगाने व व्यय करने में किया जा सकता है। प्राय यह कहा जाता है कि धनवान के लिए मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता कम और एक निर्धन के लिए अधिक होती है। इसलिए धनवानों पर कर लगाकर उस राशि को गरीबों पर खर्च करने से समाज का कुल कल्याण बढाया जा सकता है। इस मत को सैद्धान्तिक दृष्टि से स्वीकार नहीं किया गया है, क्योंकि इसमें उपयोगिता की अन्तर्वैयक्तिक तुलनाएँ (inter personal comparisons of utility) आ जाती है, जो सही नही मानी जाती। **आलोचकों का मत है कि एक धनवान के लिए मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता की तुलना एक निर्धन के लिए मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता से नही की जा सकती है।** दोनों के अधिमान माप (preference scales) व पसन्दें अलग-अलग होती हैं। इसलिए 100 रुपए धनराशि की सीमान्त उपयोगिता धनवान के लिए निर्धन की तुलना में कम ही हो, यह आवश्यक नही। एक दिए हुए समय में एक धनवान व्यक्ति के लिए अगले 100 रुपयों की सीमान्त उपयोगिता पिछले 100 रुपयों की सीमान्त उपयोगिता से कम होगी। इसी प्रकार एक निर्धन व्यक्ति के लिए भी अगले 100 रुपयों की सीमान्त उपयोगिता पिछले 100

---

1 माँग का नियम यह बतलाता है कि वस्तु की कीमत के घटने से अन्य बातों के समान रहने पर माँग की मात्रा में वृद्धि होगी और कीमत बढ़ने पर माँग की मात्रा घटेगी। इसका कारण यह है कि वस्तु की अधिक मात्राओं से सीमान्त उपयोगिता कम मिलती है इसलिए कीमत कम होने पर ही वस्तु की अधिक इकाइयाँ खरीदी जायेंगी। इसका विस्तृत विवेचन अगले अध्याय में किया गया है। माँग का नियम सीमान्त उपयोगिता-ह्रास-नियम से ही निकाला गया है।

रुपयो की सीमान्त उपयोगिता से कम होगी। लेकिन एक धनवान के लिए, एक दिए हुए समय मे, 100 रुपयो की सीमान्त उपयोगिता की तुलना एक निर्धन के पास 100 रुपयो की सीमान्त उपयोगिता से करना सम्भव नही, क्योंकि दोनो की आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न होती है। परिणामस्वरूप दाना की प्राप्त होने वाली उपयोगिताओ की तुलना नही की जा सकती। अत धन के पुनर्वितरण के लिए सीमान्त उपयोगिता-ह्रास-नियम मे आवश्यक समर्थन नही मिलता, हालाकि इसके लिए 'सामाजिक न्याय' व 'राजनीतिक तथा सामाजिक आवश्यकता' और 'समाजवाद की स्थापना' आदि के तर्क अवश्य दिए जा सकते है एव दिए भी गए है। वे तर्क काफी सीमा तक सही माने जाते है।

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम
(Law of Equi-marginal Utility)

एक विवेकशील उपभोक्ता अपनी सीमित आमदनी के व्यय मे अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने का प्रयास करता है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए उसे सम सीमान्त उपयोगिता नियम के अनुसार विभिन्न वस्तुओ पर अपना व्यय करना होता है। सम-सीमान्त उपयोगिता नियम को अन्य कई नामो से पुकारा जाता है, जैसे उपभोग मे प्रतिस्थापन का नियम, व्यय मे मितव्ययिता का नियम, अधिकतम सतुष्टि का नियम अथवा आमदनी के आवटन का नियम, आदि। इसे 'उपभोग मे प्रतिस्थापन का नियम' इसलिए कहा गया है कि उपभोक्ता एक वस्तु की जगह दूसरी वस्तु प्रतिस्थापित करके अपना सतोष बढाता है। इसे 'व्यय मे मितव्ययिता का नियम' इसलिए कहा गया है कि इसका पालन करके उपभोक्ता अपने व्यय मे किफायत करके अधिकतम सतुष्टि प्राप्त करता है। इसे 'आमदनी के आवटन का नियम' इसलिए कहा गया है कि इसके माध्यम से दी हुई आमदनी का विभिन्न वस्तुओ पर सर्वोत्तम आवटन किया जाता है। सरल शब्दो मे, इस नियम को हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते है कि एक उपभोक्ता को विभिन्न वस्तुओ पर अपना व्यय इस तरह से करना चाहिए कि प्रत्येक दिशा मे व्यय की अतिम इकाई से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता बराबर या लगभग बराबर हो जाए। ऐसा करने से ही वह अपना सन्तोष अधिकतम कर सकेगा। दूसरे शब्दो मे, उपभोक्ता अपने सन्तुलन की स्थिति को प्राप्त कर सकेगा।

नियम की मान्यताएँ

इस नियम की निम्न मान्यताएँ हैं—

(1) उपभोक्ता की आमदनी स्थिर रहती है।

(2) जिन वस्तुओ का वह उपभोग करना चाहता है, उनकी कीमते भी स्थिर रहती हैं, इसका कारण यह है कि वह अपनी खरीद की मात्रा मे परिवर्तन करके कीमतो को प्रभावित नही कर सकता। उसे तो दी हुई कीमतो पर विभिन्न वस्तुओ के उपभोग की मात्रा ही निश्चित करनी होती है।

(3) उपभोक्ता के सभी अधिमान व पसन्दें उसके उपयोगिता वक्रों द्वारा प्रदर्शित की जाती हैं, जो एक विशेष अवधि के लिए दिए हुए होते हैं।

(4) मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता स्थिर रहती है। इसका अर्थ यह है कि व्यय के साथ साथ मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता नहीं बदलती है।

(5) एक वस्तु की उपयोगिता सारणी दूसरी वस्तुओं की उपयोगिता सारणी से स्वतन्त्र मानी जाती है। जैसे भोजन के समय किसी उपभोक्ता के लिए चपातियों की उपयोगिता का विवेचन करते समय हम उसको दी जाने वाली मिठाई की मात्रा पर विचार नही करेंगे। ऐसा अध्ययन की सुगमता के लिए किया जाता है। यदि हम भोजन के समय उपभोक्ता को दी जाने वाली मिठाई की मात्रा के घटने बढने का प्रभाव चपातियों की सीमान्त उपयोगिता पर देखने लग जाये तो विश्लेषण अत्यन्त जटिल हो जाएगा। इसलिए हम **एक वस्तु की उपयोगिता-सारणी को दूसरी वस्तु की उपयोगिता-सारणी से स्वतन्त्र मान लेते है।** उपभोक्ता कई प्रकार की वस्तुओं का उपभोग करता है। एक वस्तु की उपयोगिता पर विचार करते समय उस पर अन्य वस्तुओं के उपभोग का प्रभाव नहीं देखा जाता। यह मान्यता बहुत आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना उपयोगिता का अध्ययन काफी जटिल हो जाता है।

इन मान्यताओं के आधार पर हम सम सीमान्त उपयोगिता नियम का अध्ययन करेंगे।

नियम की प्रो. मार्शल द्वारा प्रस्तुत की गई परिभाषा—प्रो मार्शल का विचार है कि **'यदि एक व्यक्ति के पास ऐसी वस्तु है जिसे वह कई उपयोगों में लगा सकता है तो वह इसे इन उपयोगो मे इस प्रकार से विभाजित करेगा कि सभी तरफ इस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता समान हो जाए। यदि एक की अपेक्षा किसी दूसरे उपयोग में इसकी सीमान्त उपयोगिता अधिक होती है तो वह एक उपयोग में से इसकी कुछ मात्रा निकाल कर इसे दूसरे उपयोग मे लगाकर लाभान्वित हो सकेगा।**

प्रो मार्शल ने सम सीमान्त उपयोगिता नियम के विवेचन में निम्न बातों पर बल दिया है—

(1) एक वस्तु को कई उपयोगों में लगाया जा सकता है

(2) सभी उपयोगों में सीमान्त उपयोगिता समान करनी होती है,

(3) यदि विभिन्न उपयोगों में सीमान्त उपयोगिता समान नहीं है, तो एक उपयोग से वस्तु की कुछ मात्रा निकाल कर दूसरे उपयोग में लगानी होगी ताकि सभी उपयोगों में सीमान्त उपयोगिता समान हो जाए।

मार्शल के सम सीमान्त उपयोगिता नियम का स्पष्टीकरण बहुत सरल प्रतीत होता है। हम नीचे दो प्रकार के उदाहरण लेकर इस नियम को समझाते हैं।

पहला उदाहरण—मान लीजिए एक व्यक्ति को 7 रुपये आम व आँवलों पर व्यय करने हैं। उसके लिए प्रत्येक वस्तु पर व्यय किए गए एक-एक रुपये से प्राप्त मात्राओं की सीमान्त उपयोगिताएँ आगे की सारणी में दी गई हैं।

सारणी 2 (अ)

मुद्रा की मात्रा	वस्तु की सीमान्त उपयोगिता की इकाइयाँ	
	आम	आँवला
1	42	32
2	35	30
3	30	28
4	28	18
5	20	10
6	15	5

इस उदाहरण में वह 7 रुपयों में से 4 रुपये आम पर और 3 रुपये आंवलों पर व्यय करके कुल उपयोगिता (42 + 35 + 30 + 28 + 32 + 30 + 28) = 225 इकाई प्राप्त करेगा, जो सर्वाधिक होगी। चौथे रुपये के व्यय से प्राप्त आम से उसे 28 इकाई उपयोगिता मिलेगी, जो आँवलों पर व्यय किए गए तीसरे रुपये की 28 इकाई उपयोगिता के बराबर होनी है। मान लीजिए वह एक रुपया आम से हटाकर आँवलों पर व्यय करता है तो उसे (28 – 18) = 10 इकाई की हानि हो जाएगी। इसी प्रकार यदि वह एक रुपया आँवलों से हटाकर आम पर व्यय करता है तो उसे (28 – 20) = 8 इकाई की हानि होगी। इस प्रकार अधिकतम सन्तोष प्राप्त करने के लिए उसे 4 रुपये आम पर और 3 रुपये आँवलों पर व्यय करने चाहिए।[1]

ध्यान रहे कि नियम के इस रूप में आम व आँवलों की कीमतों का प्रश्न नही उठाया गया है, क्योंकि दी हुई सारणी को हम इस प्रकार पढ़ेंगे यदि पहला रुपया आम पर व्यय किया जाता है तो उससे जितने आम मिलेंगे उनकी उपयोगिता 42 इकाई, फिर 35 इकाई, आदि होगी। इसी प्रकार पहला रुपया आँवलों पर व्यय करने से प्राप्त आँवलों की उपयोगिता 32 इकाई, फिर 30 इकाई, आदि होगी।

चित्र द्वारा स्पष्टीकरण—नियम के इस रूप को अग्राकित चित्र 4 द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है—

चित्र 4 में OX अक्ष पर मुद्रा की मात्राएँ, अर्थात् विभिन्न रुपये अंकित किए गए हैं और OY-अक्ष पर वस्तु से प्राप्त सीमान्त उपयोगिताएँ ली गई हैं। TT आम का और SS आँवलों की सीमान्त उपयोगिता वक्र है। चार रुपये आम पर व्यय करने

1 सात रुपयों का व्यय इस प्रकार निर्धारित किया जाएगा, पहला रुपया आम पर दूसरा भी आम पर तीसरा आँवलों पर, चौथा व पाँचवा आम व आँवलों पर, छठा व सातवाँ आम व आँवलों पर। इस प्रकार कुल चार रुपये आम पर और तीन रुपये आँवलों पर व्यय किए जाएँगे।
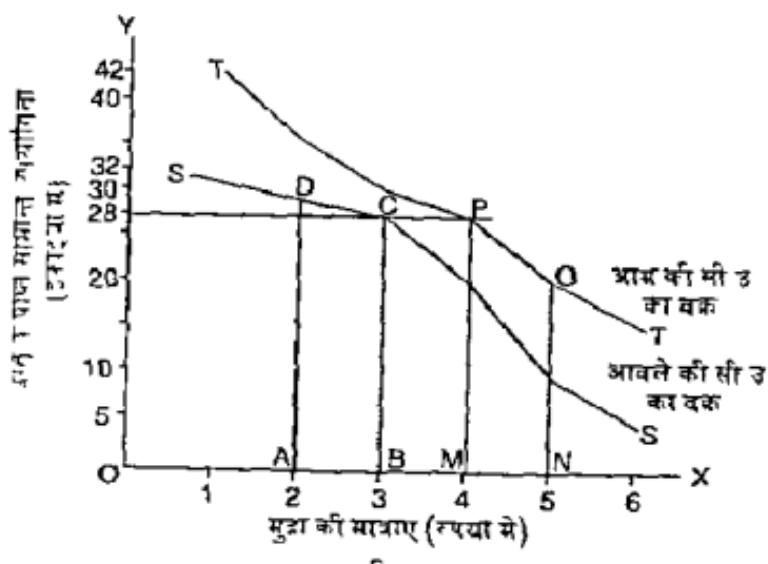
चित्र-4

से सीमान्त उपयोगिता PM (28 इकाई) मिलती है, जो तीन रुपये आँवलों पर व्यय करने मे प्राप्त सीमान्त उपयोगिता BC (28 इकाई) के समान है। यदि एक रुपया आम पर अधिक व्यय किया जाता तो सन्तोष में PMNO के बराबर वृद्धि होती और एक रुपया आँवलों पर कम व्यय करने से ABCD सतोष के बराबर कमी आ जाती। ABCD की मात्रा स्पष्टतया PMNO से अधिक है, अर्थात् घाटा अधिक होता है। अत चार रुपये आम पर और तीन रुपये आँवलों पर व्यय करने से ही अधिकतम सन्तुष्टि मिल सकती है।

पहले उदाहरण का वकल्पिक चित्र—नियम के सारणी 2 (अ) के रूप को एक दूसरे चित्र की सहायता से भी समझाया जा सकता है। इसमें एक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता चित्र के दाहिने खण्ड में एव दूसरी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता बायें खण्ड में दिखलाई जाती है। यह विधि भी काफी सरल व सुस्पष्ट होती है।

स्पष्टीकरण—चित्र 5 में OX-अक्ष पर आम पर व्यय की गई मुद्रा की मात्राएँ व बायी तरफ OX' अक्ष पर आँवलों पर व्यय की गई मुद्रा की मात्राएँ (रुपयों में) दर्शाई गई हैं।

OY-अक्ष पर दोनों वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताएँ मापी गई है। दाहिनी तरफ TT वक्र आम पर व्यय का सीमान्त उपयोगिता वक्र है और बायीं ओर SS वक्र आँवलों पर व्यय का सीमान्त उपयोगिता वक्र है। स्पष्ट है कि चार रुपये आम पर व्यय करने से AB सीमान्त उपयोगिता (= 28 इकाई) मिलती है, जो तीन रुपये आँवले पर व्यय करने से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता HE (=28 इकाई) के समान है। यदि आम पर एक रुपया कम व्यय किया जाता, तो चित्र के अनुसार ABCD उपयोगिता कम मिलती, और इस रुपये को आँवले पर व्यय करने से HEFG उपयोगिता अधिक

(1) प्रारम्भ में x का भाव 1 रुपया प्रति किलो तथा y का 2 रुपए प्रति किलो है और 9 रुपए व्यय किया जाता है। व्यय का क्रम इस प्रकार होगा—

पहला रुपया x पर व्यय किया जाएगा, प्राप्त उपयोगिता	= 30
दूसरा व तीसरा रुपया y पर व्यय किया जाएगा, प्राप्त उपयोगिता	= 20
(चूँकि एक किलो y के लिए 2 रुपए व्यय करने होंगे)	
चौथा रुपया x पर व्यय किया जाएगा, प्राप्त उपयोगिता	= 10
पाँचवाँ व छठा रुपया y पर व्यय किया जाएगा, प्राप्त उपयोगिता	= 15
सातवाँ रुपया x पर व्यय किया जाएगा, प्राप्त उपयोगिता	= 5
आठवाँ व नवाँ रुपया y पर व्यय किया जाएगा, प्राप्त उपयोगिता	= 10

इस प्रकार 3 रुपए x पर तथा 6 रुपए y पर व्यय करने पर कुल उपयोगिता = 90 इकाई मिलेगी। (व्यय का क्रम मामूली बदलने पर भी अन्तिम परिणाम यही आएगा)

यह महिला 3 किलो x व 3 किलो y खरीदकर अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करेगी। यहाँ पर

$$\frac{MU_x}{P_x} = \frac{MU_y}{P_y}, \text{ अर्थात् } \frac{5}{1} = \frac{10}{2} = 5 \qquad \text{......(1)}$$

तथा $(x \times P_x) + (y \times p_y) = I$ ......(2)

अर्थात् $(3 \times 1) + (3 \times 2) = 9$ रुपये

अब दोनों शर्तें लागू होंगी।

(2) एक रुपया y में कम करके x पर व्यय करने से $(-5+2) = -3$ अर्थात् = 3 इकाई उपयोगिता की हानि हो जाएगी।

एक रुपया x में कम करके y पर व्यय करने से $(-5+3.75) = -1.25$ अर्थात् 1.25 इकाई उपयोगिता का ह्रास हो जाएगा। अतः उसके लिए 3 रुपये x पर तथा 6 रुपये y पर व्यय करना ही सर्वोत्तम माना जाएगा।

(3) y का भाव घटकर 1.50 रुपये प्रति किलो हो जाने पर व्यय का आवंटन इस प्रकार होगा—

3 रुपए x पर तथा 6 रुपए y पर व्यय किए जाएँगे, लेकिन इस बार 3 किलो x व 4 किलो y की मात्राएँ प्राप्त होंगी।

पहली शर्त $\frac{MU_x}{P_x} = \frac{MU_y}{P_y} = \frac{5}{1} = \frac{7.5}{1.5} = 5$, तथा

दूसरी शर्त $(3 \times 1) + (4 \times 1.5) = 9$ रुपये

अब दोनों शर्तें पूरी होंगी।

व्यय की सीमान्त उपयोगिता

वस्तु की इकाई	$\frac{MU_x}{P_x}$	$\frac{MU_y}{P_y}$
1	8	14
2	7	12
3	6	9
4	5	6
5	4	5
6	3	3

तालिका को देखने से पता चलता है कि x की 3 इकाई तथा y की 4 इकाई खरीदने से $\frac{MU_x}{P_x} = \frac{MU_y}{P_y} = MU_m = 6$ की सतुलन की स्थिति प्राप्त होती है, जिसके लिए उपभोक्ता को $(3\times3)+(4\times2)=9+8=17$ रुपए व्यय करने होंगे।

यदि उपभोक्ता के लिए मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता 1 र = 3 इकाई होती तो सन्तुलन प्राप्त करने के लिए उसे 6 इकाई x व 6 इकाई y खरीदना पड़ता जिसके लिए उसे $(6\times3)+(6\times2) = 18+12 = 30$ रुपए व्यय करने होते। इस प्रकार नियम के इस रूप में मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता का समावेश करके अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिए व्यय की राशि निकाली जाती है। इस उदाहरण में व्यय की राशियाँ *क्रमश: 17 रुपए व 30 रुपए आती हैं।*

सम सीमान्त उपयोगिता नियम के अन्य प्रयोग

अर्थशास्त्रियों ने सम सीमान्त उपयोगिता नियम के निम्न प्रयोग बतलाए हैं—

(1) समय का उपयोग—सम सीमान्त उपयोगिता नियम मुद्रा के अलावा समय के उपयोग पर भी लागू होता है। मान एक छात्र को इस सम्बन्ध में चुनाव करना पड़ता है वह तीन घण्टे अध्ययन में लगाये अथवा सिनेमा देखने में लगाये। परीक्षा के दिनों में सम्भवत: अध्ययन को ही चुना जाएगा, क्योंकि इससे उसे अधिक उपयोगिता मिलेगी। इसके विपरीत, यदि कोई विद्यार्थी कई दिनों से काफी अध्ययन कर रहा है और उसे सिनेमा देखे बहुत दिन हो गए हैं तो उनके लिए तीन घण्टों की उपयोगिता अध्ययन के बजाय सिनेमा देखने में अधिक होगी। इस प्रकार सम सामान्त उपयोगिता नियम का उपयोग विभिन्न कार्यों में सीमित समय के आवंटन के लिए भी किया जा सकता है।

(2) परिसम्पत्तियों का विभाजन—मान लीजिए एक व्यक्ति के पास कुल परिसम्पत्ति एक करोड़ रुपये की है। परिसम्पत्तियों में नकद राशि, बैंक जमा राशि, शेयरों में लगी धनराशि, भवन, आभूषण आदि आते हैं। एक व्यक्ति को यह निश्चय करना होता है

कि वह अपनी कुल सम्पत्ति को इन विभिन्न रूपो मे किस प्रकार से विभाजित करे ताकि उसको सर्वाधिक लाभ मिले। इस सम्बन्ध मे भी सम सीमान्त उपयोगिता नियम उसकी मदद करेगा। यदि उपभोक्ता को यह महसूस हो कि उसके पास नकद राशि थोडी ज्यादा है और शेयरो में लगी राशि थोडी कम है तो उसे नकद राशि कम करके अधिक मात्रा में शेयर खरीदने चाहिए। उपभोक्ता उस समय सन्तुलन की स्थिति मे होगा जबकि उसके लिए विभिन्न परिसम्पत्तियों में लगाए गए अतिम रुपये की सीमान्त उपयोगिता बराबर या लगभग बराबर हो जाती है। तब तक उसके लिए एक प्रकार की परिसम्पत्ति के लिए दूसरे प्रकार की परिसम्पत्ति का प्रतिस्थापन करना अधिक उपयोगी या लाभकारी होगा। यहाँ भी प्रवृत्ति पर ही विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है। गणित की दृष्टि से एक एक रुपये का हिसाब लगाना सम्भवतया बहुत कठिन होता है।

(3) सभी साधनो पर सिद्धान्त का उपयोग—किसी भी समाज में सामान्य रूप से सभी प्रकार के साधनों को विभिन्न उपयोगों मे आवटन की मूलभूत आर्थिक समस्या पाई जाती है और उसका हल सम सीमान्त उपयोगिता के नियम से ही निकाला जाता है। सर्वोत्तम आवटन वह होता है जिसमें साधनों की सीमान्त इकाइयों को एक उपयोग से दूसरे उपयोग में हस्तान्तरित करने से कोई लाभ नही होता।

(4) विनिमय मे प्रयोग[1]—अधिकाश आर्थिक क्रियाओं में व्यक्तियों के बीच विनिमय किया जाता है। विनिमय से दोनों पक्षों को लाभ होता है। इस लाभ की आशा से ही ऐच्छिक विनिमय किया जाता है। विनिमय के लिए यह आवश्यक है कि दो व्यक्ति दो वस्तुओं का परस्पर मूल्याकन (relative valuation) अलग अलग करें। जैसे A और B दो विनिमयकर्त्ता है और X और Y दो वस्तुएँ हैं। मान लीजिए सीमान्त बिन्दु पर विनिमय से पूर्व A के लिए 1 इकाई X बराबर है 2 इकाई Y के और B के लिए 1 इकाई X बराबर है 2/3 इकाई Y के तो दोनों के बीच विनिमय होगा और A व्यक्ति Y देकर B से X लेना चाहेगा। B भी X देकर A से Y लेना चाहेगा। इस प्रकार विनिमय से दोनों पक्षो को लाभ होगा। यदि विनिमय से पूर्व A के लिए एक इकाई X = एक इकाई Y के और B के लिए भी यही अनुपात होता है तो विनिमय सम्भव नही हो सकेगा। सतुलन की स्थिति में (अर्थात् जहाँ पर विनिमय बन्द हो जायेगा) एक व्यक्ति के लिए दो वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताओं का अनुपात दूसरे व्यक्ति के लिए दो वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताओं के अनुपात के बराबर हो जाएगा, अर्थात् A के लिए MU_x/MU_y, B के लिए MU_x/MU_y के बराबर हो जाएगा। मान लीजिए A के लिए $MU_x = 20$ और $MU_y = 4$ हो तो सीमान्त उपयोगिताओं का अनुपात $\frac{20}{4} = 5$ होगा। यदि B के लिए $MU_x = 40$ और $MU_y = 8$ हो तो उसके लिए भी सीमान्त उपयोगिताओं का अनुपात $\frac{40}{8}$

---

1 Eckert and Leftwich The Price System and Resource Allocation, 10th ed 1988 pp196 197

= 5 होगा जो A के लिए इस अनुपात के बराबर है। ऐसी स्थिति में दोनों उपभोक्ता सतुलन में माने जाएँगे और विनिमय बन्द हो जाएगा।

नियम के प्रयोगों के सम्बन्ध मे सारांश—प्राय पुस्तकों में यह कथन देखने को मिलता है कि सम सीमान्त उपयोगिता नियम अर्थशास्त्र के उपभोग, उत्पत्ति, विनिमय व वितरण सभी क्षेत्रों मे लागू होता है। लेकिन यह कथन सही नही है, क्योंकि जो नियम इन सभी क्षेत्रों म लागू होता है, वह तो प्रतिस्थापन का नियम (law of Substitution) कहलाता है। जब प्रतिस्थापन का नियम उपभोग मे लागू होता है तब इसे सम सीमान्त उपयोगिता नियम कहकर पुकारते है। इसी प्रकार जब यह उत्पादन के क्षेत्र मे लागू किया जाता है तो इसे सम सीमान्त उत्पत्ति का नियम (Law of equi-marginal product) कहकर पुकारते है। हम ज्यादा सही रूप से यह कह सकते है कि सम-सीमान्त प्रवृत्ति अर्थशास्त्र के सभी क्षेत्रों मे पायी जाती है। अत सम सीमान्त अथवा प्रतिस्थापन का नियम सर्वव्यापक है। सम सीमान्त उपयोगिता नियम तो इस नियम का उपभोग व विनिमय में प्रयोग मात्र है।

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम की निम्न सीमाएँ अथवा मर्यादाएँ

सम सीमान्त उपयोगिता नियम की निम्न सीमाएँ या मर्यादाएँ होती हैं—

(1) वस्तुओं की अविभाज्यता (Indivisibility of goods)—इस नियम की पहली सीमा यह है कि यह पूर्ण रूप से तभी लागू किया जा सकता है जबकि साधन (मुद्रा, समय आदि) विभाजित किए जा सके और इन साधनों से खरीदी जा सकने वाली वस्तुएँ बहुत छोटे छोटे अशों मे बाटी जा सकें। मकान अथवा कार जैसी वस्तुएँ अविभाज्य होती है। इनकी निश्चित मात्राएँ ही खरीदी जा सकती हैं और इन पर व्यय बडी मात्रा के अनुसार ही बढता है। जैसे दिए हुए समय में एक कार खरीदी जाए अथवा दो कारें खरीदी जाएँ, उपभोक्ता $1\frac{1}{2}$ कारें नही खरीद सकता। यदि कार चार लाख रुपये में आती है तो वह या तो चार लाख रुपये व्यय करे अथवा 8 लाख रुपये व्यय करे। वह कारों पर छ लाख रुपये व्यय नही कर सकता। यह सम्भव है कि सम सीमान्त उपयोगिता नियम का पालन कर सकने के लिए उसे कार पर छ लाख रुपये ही व्यय करना चाहिए। इसलिए यदि वह कार पर चार लाख रुपये व्यय करता है, तो उसे यह व्यय अन्य वस्तुओं पर किए गए व्यय की तुलना में कम प्रतीत होगा और यदि वह कार पर आठ लाख रुपये व्यय करता है तो उसे यह व्यय अन्य वस्तुओं पर किए गए व्यय से अधिक लगेगा। प्राय हमको ऐसा लग सकता है कि यदि हमारी आय थोडी अधिक होती, तो हम अमुक वस्तु और खरीद लेते। अत वस्तुओं की अविभाज्यता (indivisibility) के कारण सम सीमान्त उपयोगिता नियम के पालन में काफी बाधा पहुँचती है।

(2) बजट-अवधि का अनिश्चित होना (Indefinite budget period)—नियम के मार्ग में दूसरी बाधा बजट-अवधि का अनिश्चित होना भी है। प्राय बजट अवधि एक वर्ष की मानी जाती है। लेकिन कार व फर्नीचर जैसी वस्तुओं का उपभोग दूसरी

पर अपने व्यय को निर्धारित करते समय हम इस नियम का पालन करने की कोशिश करते हैं। जब कभी उपभोक्ता बाजार में इस सोच विचार की स्थिति में होता है कि 'वह यह वस्तु खरीदे या वह' तो समझ लीजिए कि वह सम सीमान्त उपयोगिता नियम का पालन करने की ही कोशिश में है। अत हम जान या अनजान में, धनी व निर्धन, बालक व बूढे, शिक्षित व अशिक्षित, सभी बहुत-कुछ इस नियम का पालन करते हैं, अथवा यों कहिए कि हमें अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिए इस नियम का पालन करना होता है। इससे इस नियम की व्यापकता व व्यावहारिकता स्पष्ट हो जाती है। हमे इसके गणितीय रूप के साथ साथ इसकी प्रवृत्ति को समझने का अधिक प्रयास करना चाहिए। एक विवेकशील उपभोक्ता इस नियम के अनुसार ही आचरण करने का प्रयास करता है तथा उसे ऐसा करना भी चाहिए, तभी उसके द्वारा सीमित आय को विभिन्न वस्तुओं पर व्यय करने से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त की जा सकती है।

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. जब कुल उपयोगिता अधिकतम होती है तो सीमान्त उपयोगिता होती है—
   (अ) धनात्मक (ब) शून्य
   (स) ऋणात्मक (द) अधिकतम (ब)
2. सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम के लिए आवश्यक है—
   (अ) कुल उपयोगिता घटती हुई दर से बढे
   (ब) कुल उपयोगिता बढती हुई दर से बढे
   (स) कुछ उपयोगिता समान दर से बढे
   (द) कुल उपयोगिता उत्तरोत्तर घटती जाए (अ)
3. दो वस्तुओं में सम सामान्य उपयोगिता नियम के लागू होने की दो शर्तें लिखिए—

   उत्तर— (i) $\frac{MU_x}{P_x} = \frac{MU_y}{P_y}$

   (ii) $(x \times P_x) + (y \times P_y) = I$
4. माँग का नियम सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम से किस प्रकार निकाला गया है ?

   उत्तर—माँग का नियम बतलाता है कि कीमत के बढने पर, अन्य बातों के समान रहने पर एक वस्तु की माँग की मात्रा कम होगी और कीमत के घटने पर माँग की मात्रा बढेगी। चूँकि माँग की मात्रा अधिक होने पर, अर्थात् वस्तु की अधिक मात्रा का उपभोग करने पर सीमान्त उपयोगिता घटती है जिससे उपभोक्ता कम कीमत पर ही अधिक मात्रा में उपभोग करना चाहेगा। अत माँग का नियम सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम से निकाला गया है और उस पर आश्रित है।

5 'प्रतिस्थापन का नियम' कब सम-सीमान्त उपयोगिता नियम कहलाता है ?

(अ) जब यह उपभोग में लागू होता है

(ब) जब यह उत्पादन में लागू होता है

(स) जब यह वितरण में लागू होता है

(द) जब यह विनिमय में लागू होता है (अ)

अन्य प्रश्न

1. कुल उपयोगिता और सीमान्त उपयोगिता के बीच सम्बन्ध समझाइये। रेखाचित्रों का प्रयोग कीजिए। (Raj IIyr 2000)
2. एक समुचित अकीय उदाहरण का प्रयोग करते हुए सम-सीमान्त उपयोगिता नियम द्वारा उपभोक्ता का संतुलन समझाइए। (Raj. IIyr 2000)
3. मार्शल के उपयोगिता विश्लेषण की क्या मान्यतायें हैं ? (MDSU, Ajmer, 2000)
4. सम-सीमान्त उपयोगिता नियम का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए तथा व्यावहारिक जीवन में इसके महत्त्व की पुष्टि कीजिए। (MLSU, Udaipur, 2001)
5. एक उपभोक्ता की आय 16 रुपए है। यह अपनी सम्पूर्ण आय A तथा B वस्तुओं पर व्यय करता है। A तथा B वस्तुओं से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता निम्न सारणी में दिखाई गई है। यदि A और B वस्तु की कीमत क्रमश 2 रुपये प्रति किलो और 1 रुपए प्रति लीटर है, तो बतलाइए कि अधिकतम संतुष्टि के लिए वह A तथा B की कितनी मात्राएँ खरीदेगा।

वस्तु A मात्रा (किलोग्राम में)	A की सीमान्त उपयोगिता	वस्तु B मात्रा (लीटर में)	B की सीमान्त उपयोगिता
1	40	1	30
2	35	2	26
3	30	3	22
4	25	4	18
5	20	5	14
6	15	6	10
7	10	7	6
8	5	8	2

[उत्तर-संकेत : उपभोक्ता A की 5 किलोग्राम तथा B की 6 लीटर मात्रा खरीदेगा जिससे $(5\times2)+(6\times1) = 16$ रुपए व्यय करके वह प्रत्येक वस्तु से सीमान्त उपयोगिता = 10 इकाई प्राप्त कर सकेगा।]

6 रमा देवी की आमदनी 18 रुपये है जिसे वह X व Y पर व्यय करना चाहती है। इन वस्तुओं के लिए उसकी उपयोगिता अनुसूचियाँ नीचे दी जाती हैं—

मात्रा (किलो में)	X (कुल उपयोगिता की इकाइयाँ) (Total Utility)	मात्रा (किलो में)	Y (कुल उपयोगिता की इकाइयाँ) (Total Utility)
1	30	1	20
2	40	2	35
3	45	3	45
4	47	4	52.5

X की कीमत 2 रुपए किलो व Y की 4 रुपये प्रति किलो है। निम्न प्रश्नों के उत्तर दीजिए

(i) दोनों वस्तुओं की कितनी कितनी मात्राएँ खरीदने से उसे अधिकतम सतुष्टि मिलेगी।

(ii) उन मात्राओं पर प्रत्येक वस्तु से सीमान्त उपयोगिता कितनी मिलेगी ?

(iii) आप कैसे कह सकते हैं कि इन्हीं मात्राओं पर अधिकतम सतुष्टि मिलेगी, अन्य पर नहीं ?

(iv) दोनों वस्तुओं पर व्यय किए गए अन्तिम रुपए की उपयोगिता बताएँ।

(v) यदि Y का भाव घटकर 3 रुपये प्रति किलो हो जाए तो कुल 18 रुपए व्यय करने के लिए नया सयोग (new combination) कौन सा होगा ?

[उत्तर-सकेत सर्वप्रथम दोनों की सीमान्त उपयोगिताएँ निकालें—

(i) 3 किलो X व 3 किलो Y,

(ii) X के तीसरे किलो की सीमान्त उपयोगिता = 5 इकाई है तथा Y के तीसरे किलो की सीमान्त उपयोगिता = 10 इकाई है।

(iii) चूँकि (X की सीमान्त उपयोगिता – X की कीमत) = (5/2 = 2.5 = Y की सीमान्त उपयोगिता – Y की कीमत) = (10/4) = 2.5 होती है, और एक रुपया एक में से निकालकर दूसरे में व्यय करने से कुल उपयोगिता घट जाती है, इसलिए 3 किलो X व 3 किलो Y का आवटन सर्वोत्तम माना जाएगा।

(iv) 2.5 इकाई उपयोगिता,

(v) 3 किलो X व 4 किलो Y।]

7 निम्न तालिका में X व Y वस्तुओं की कुल उपयोगिता दी हुई है

वस्तु की इकाई	X-वस्तु		Y-वस्तु	
	कुल उपयोगिता	सीमान्त उपयोगिता	कुल उपयोगिता	सीमान्त उपयोगिता
0	0	—	0	—
1	52	52	40	40
2	100	—	76	—
3	142	—	108	—
4	176	—	136	—
5	204	—	160	—
6	228	—	180	—
7	245	—	196	—

(अ) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

(ब) यदि उपभोक्ता की आय 18 रुपए है, वह अपनी सम्पूर्ण आय X एवं Y वस्तुओं पर खर्च करता है। यदि X की कीमत 2 रुपए प्रति इकाई एवं Y की कीमत 2 रुपए प्रति इकाई हो तो उपभोक्ता X एवं Y की कितनी-कितनी मात्रा खरीदेगा ताकि उसकी उपयोगिता अधिकतम हो।

[उत्तर-संकेत : (ब) 5 इकाई X तथा 4 इकाई Y खरीदेगा]

8. एक उपभोक्ता, जिसकी आमदनी प्रतिदिन 18 रुपए है, X एवं Y वस्तु पर अपनी सम्पूर्ण आमदनी खर्च करता है। निम्न कुल उपयोगिता अनुसूचियों से सीमान्त उपयोगिताओं का आकलन कीजिए और बताइये कि जब X एवं Y वस्तु की कीमत 2 रुपए प्रति इकाई हो तो उपभोक्ता प्रतिदिन X एवं Y वस्तु की कितनी-कितनी मात्राएँ खरीदेगा ?

मात्रा	X-वस्तु		मात्रा	Y-वस्तु	
	कुल उपयोगिता	सीमान्त उपयोगिता		कुल उपयोगिता	सीमान्त उपयोगिता
0	0	0	0	0	0
1	53	—	1	40	—

2	100	—	2	76	—
3	141	—	3	108	—
4	176	—	4	136	—
5	204	—	5	160	—
6	228	—	6	180	—
7	245	—	7	196	—
8	256	—	8	208	—
9	261	—	9	216	—
10	260	—	10	220	—

[उत्तर-संकेत

X-वस्तु की सीमान्त उपयोगिता = 53, 47, 41, 35, 28, 24, 17, 11, 5 (–)1,

Y-वस्तु की सीमान्त उपयोगिता = 40, 36, 32, 28, 24, 20, 16, 12, 8, 4

सूत्र $\frac{MU_x}{P_x} = \frac{MU_y}{P_y}$ के लिए X-वस्तु की 5 इकाइयाँ व Y-वस्तु की 4 इकाइयाँ खरीदेगा ताकि $\frac{28}{2}$ = 14 हो सके और कुल व्यय $(2 \times 5) + (2 \times 4) = 10 + 8 = 18$ रुपए हो सके।]

7

तटस्थता-वक्र व उपभोक्ता-संतुलन—उपयोगिता का क्रमवाचक दृष्टिकोण (हिक्स व स्लुट्स्की)

(Indifference Curve and Consumer Equilibrium—Ordinal Approach of Utility : Hicks & Slutsky)

उपभोक्ता के व्यवहार के अध्ययन में आजकल उदासीनता वक्र अथवा तटस्थता वक्र विश्लेषण का उपयोग बहुत लोकप्रिय हो गया है। प्रारम्भ में एक आंग्ल अर्थशास्त्री एजवर्थ ने 1881 में तटस्थता वक्रों का उपयोग किया था। 1906 में कुछ सशोधन के बाद इटली के अर्थशास्त्री पैरेटो ने एजवर्थ की विधि अपनायी थी। 1934 में दो आंग्ल अर्थशास्त्रियों—जे आर हिक्स व आर जी डी एलन ने तटस्थता वक्र विश्लेषण को अधिक लोकप्रिय बनाया था। तब से यह आर्थिक विश्लेषण मे व्यापक रूप से प्रयुक्त होने लगा है।

हम पहले बतला चुके हैं कि उपयोगिता विश्लेषण में उपयोगिता को मापनीय माना गया है। इसलिए वह गणनावाचक विश्लेषण (cardinal analysis) माना जाता है, क्योंकि उसमें उपयोगिता की गणना या माप की जाती है। तटस्थता वक्र विश्लेषण के समर्थकों का मत है कि उपयोगिता का माप नही हो सकता और उन्होंने इसके स्थान पर क्रमवाचक विश्लेषण (ordinal analysis) प्रस्तुत किया है। इसमें विभिन्न सयोगों को क्रमवार (in order) जचाया जाता है। कुछ सयोग ऊँचे, कुछ समान व कुछ नीचे के सतोष देने वाले हो सकते हैं। इस विश्लेषण के अनुसार एक उपभोक्ता विभिन्न वस्तुओं के सयोग (combinations) बनाकर यह तो बतला सकता है कि उसे किन सयोगों से अधिक सतोष मिलेगा, किनसे समान सन्तोष मिलेगा और किनसे कम सन्तोष मिलेगा, लेकिन उसे प्रत्येक सयोग से कितना सन्तोष मिलेगा, यह न तो बतलाया जा

सकता है ओर न इसको बतलाने की कोई आवश्यकता ही है। उदाहरण के लिए एक उपभोक्ता यह तो कह सकता है कि उसे 4 इकाई X एव 60 इकाई Y से जितना सन्तोष मिलेगा वह 5 इकाई X एव 54 इकाई Y से प्राप्त सन्तोष के बराबर होगा। **लेकिन यहाँ कुल सन्तोष को इकाइयो में व्यक्त नही किया गया है।** इसी प्रकार वह यह भी कह सकता है कि 5 इकाई X एव 65 इकाई Y से उसे उपर्युक्त दोनों सयोगों से अधिक सन्तोष मिलेगा, अथवा 3 इकाई X एव 50 इकाई Y से इनकी तुलना में कम सन्तोष प्राप्त होगा।

इस तरह एक उपभोक्ता विभिन्न वस्तुओं के सयोगों से प्राप्त सतोष को कम या अधिक या समान रूप से व्यक्त कर सकता है, लेकिन वह कुल सन्तोष को मापकर इकाइयों में व्यक्त नही कर सकता है। इस प्रकार उपयोगिता विश्लेषण को गणनावाचक (cardinal) विश्लेषण तथा तटस्थता-वक्र विश्लेषण को क्रमवाचक (ordinal) विश्लेषण माना गया है।

तटस्थता-वक्र का अर्थ

परिभाषा—एक तटस्थता-वक्र दो वस्तुओं के विभिन्न सयोग बतलाता है जो उपभोक्ता को समान सन्तुष्टि प्रदान करते हैं। गूल्ड व लेजियर (Gould and Lazear) के शब्दों में, **'एक तटस्थता-वक्र वस्तु-जगत में बिन्दुओ का एक पथ (locus of points) अथवा वस्तु-समूह होता है, जिनके बीच एक उपभोक्ता तटस्थ रहता है। एक तटस्थता-वक्र पर प्रत्येक बिन्दु उस वक्र के किसी भी अन्य बिन्दु की भाँति समान कुल उपयोगिता प्रदान करने वाला होता है।'**[1]

अधिमान-माप (Scale of preference) का अर्थ—प्रत्येक उपभोक्ता का अपना एक अधिमान-माप या पसदगी का माप होता है जिसमें वह वस्तुओं व सेवाओं को उनके महत्त्व के क्रम में जचाता है। इस पर उसकी रुचि व पसन्द का ही प्रभाव पडता है। इसका वस्तुओं की कीमतों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। अत उपभोक्ता का अधिमान-माप उसकी पसन्दगी का सूचक होता है। सरल शब्दों में, हम कह सकते हैं कि उपभोक्ता का अधिमान माप यह बतलाता है कि वह दो वस्तुओं की कितनी कितनी मात्राएँ लेना पसद करेगा। विभिन्न उपभोक्ताओं के अधिमान-माप भिन्न भिन्न हुआ करते हैं, क्योंकि उनकी रुचि व पसन्द में अन्तर पाया जाता है।

---

* तटस्थता-वक्र के लिए 'उदासीनता-वक्र' 'समभाव-वक्र', 'समसन्तुष्टि वक्र', व 'अनधिमान-वक्र' शब्द भी प्रचलित हैं।

1 An indifference curve is a locus of points on commodity space or commodity bundles—among which the consumer is indifferent. Each point on an indifference curve yields the same total utility as any other on that same indifference curve Gould and Lazear Microeconomic Theory, 6th ed 1989 p 41

कल्पना कीजिए कि एक उपभोक्ता को X और Y दो वस्तुओं के निम्न संयोग समान उपयोगिता या सन्तोष प्रदान करते हैं—

सारणी 1

संयोग	X	Y	Y के बदले X के प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRS_{XY}), अर्थात् (एक इकाई X के लिए Y की त्यागी जाने वाली मात्रा)
1	2	3	4
A	1	60	
B	2	54	6 : 1 (एक इकाई X के लिए 6 इकाई Y)
C	3	49	5 : 1 (एक इकाई X के लिए 5 इकाई Y)
D	4	45	4 : 1 (एक इकाई X के लिए 4 इकाई Y)
E	5	42	3 : 1 (एक इकाई X के लिए 3 इकाई Y)
F	6	40	2 : 1 (एक इकाई X के लिए 2 इकाई Y)

उपर्युक्त सारणी में उपभोक्ता को X का प्रत्येक अतिरिक्त इकाई प्राप्त करने के लिए Y की कुछ इकाइयाँ छोड़नी पड़ती हैं। यहाँ पर इतना समझना ही पर्याप्त होगा कि यदि उपभोक्ता को दोनों वस्तुओं में एक की मात्रा अधिक मिलती है तो उसे दूसरी वस्तु की कुछ मात्राओं का त्याग करना होगा, तभी उसका कुल सन्तोष समान बना रह सकेगा।

उपर्युक्त समान सन्तुष्टि प्रदान करने वाले संयोगों (कॉलम 2 व 3) को चित्र 1 में वक्र III के द्वारा सूचित किया गया है, जिसे तटस्थता-वक्र कहकर पुकारते हैं।

तटस्थता-मानचित्र (Indifference Map)

OX अक्ष पर X-वस्तु की मात्राएँ मापी गयी हैं और OY-अक्ष पर Y-वस्तु की मात्राएँ मापी गयी हैं। सारणी 1 के X और Y के विभिन्न संयोगों के बिन्दुओं को मिलाकर जो वक्र खींचा गया है, वह चित्र में तटस्थता-वक्र III कहलाता है। उपभोक्ता X व Y वस्तुओं के इन विभिन्न संयोगों के बीच तटस्थ रहता है, अर्थात् उसके लिए इनके बीच में चुनाव का प्रश्न नहीं होता है। ये संयोग उसे समान सन्तोष प्रदान करते हैं। इसी प्रकार इससे ऊपर के वक्र इससे अधिक सन्तोष के सूचक होते हैं, जैसे वक्र IV व V, एवं इसके नीचे के वक्र I व II कम सन्तोष के सूचक होते हैं। एक उपभोक्ता के विभिन्न तटस्थता-वक्रों को प्रदर्शित करने वाला रेखाचित्र तटस्थता-मानचित्र (Indifference Map) कहलाता है। ऐसे तटस्थता वक्र अनेक हो सकते हैं। एक उपभोक्ता के अधिमान मान के दिए होने पर उसके तटस्थता-मानचित्र पर कितने ही तटस्थता-वक्र बनाए जा सकते हैं।
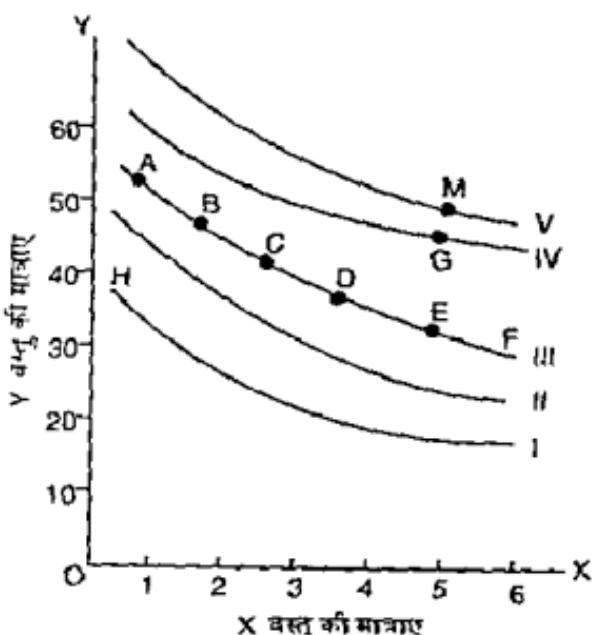
चित्र 1–तटस्थता मानचित्र (Indifference Map)

उपभोक्ता अपने तटस्थता-मानचित्र पर सबसे ऊपर के तटस्थता वक्र पर जाने का प्रयास करता है। उदाहरण के लिए, उसके लिए वक्र V पर M बिन्दु, वक्र IV के प्रत्येक बिन्दु से तथा वक्र IV पर G बिन्दु वक्र III के प्रत्येक बिन्दु से अधिक सन्तोष प्रदान करने वाला होता है। स्मरण रहे कि वक्र V के बिन्दु वक्र IV के बिन्दुओं से तो अधिक सतोष प्रदान करते हैं, लेकिन वे (वक्र V के समस्त बिन्दु) आपस में समान सन्तोष प्रदान करने वाले होते हैं। इसी प्रकार वक्र III से नीचे वक्र I व II, कम सन्तोष देने वाले सयोगों को दर्शाते हैं। तटस्थता मानचित्र पर H बिन्दु सबसे नीचे के वक्र I पर स्थित होने से सबसे कम सन्तोष का सूचक होता है। हम आगे चलकर बताएँगे कि एक उपभोक्ता X और Y की जो मात्राएँ खरीद सकेगा उस पर उसकी आय और दोनों वस्तुओं की कीमतों का प्रभाव पड़ेगा। अतएव तटस्थता मानचित्र तो उपभोक्ता की पसन्द के अनुसार दो वस्तुओ के विभिन्न सयोगो को प्रकट करता है। प्रारम्भ मे ही यह बात पाठको को स्पष्ट हो जानी चाहिए कि तटस्थता-मानचित्र के निर्माण पर उपभोक्ता की आमदनी व वस्तुओं की कीमतो का कोई प्रभाव नही पड़ता है। अब हम तटस्थता वक्रों की मान्यताओं व लक्षणों तथा इस विश्लेषण से सम्बन्धित अन्य बातों का विवेचन करेंगे।

तटस्थता-वक्रों की मान्यताएँ (Assumptions of Indifference Curves)

तटस्थता वक्र उपभोक्ता के अधिमानों के सम्बन्ध में कुछ मान्यताओं पर आधारित होते हैं। ये मान्यताएँ इस प्रकार होती हैं—

(1) उपभोक्ता के पास उपभोग-सम्बन्धी निर्णय लेने के लिए पूरी जानकारी होती है—प्रत्येक उपभोक्ता के पास अपने उपभोग सम्बन्धी निर्णयों के लिए समस्त सूचना रहती है। दूसरे शब्दों में, उसे उपलब्ध वस्तुओं व सेवाओं का पूरा ज्ञान होता है। उसे यह भी जानकारी होती है कि वे वस्तुएँ व सेवाएँ उसकी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने की दृष्टि से कितनी क्षमता रखती हैं। उसे वस्तुओं के बाजार भावों तथा उस मौद्रिक आय का भी पता होता है, जो उन वस्तुओं पर व्यय की जाती हैं। इस प्रकार तटस्थता वक्रों के पीछे प्रथम मान्यता तो यह है कि उपभोक्ता को उपर्युक्त किस्म की पूरी जानकारी होती है।

(2) वह विभिन्न वस्तु-समूहों की परस्पर तुलना कर सकता है—प्रत्येक उपभोक्ता *विभिन्न वैकल्पिक वस्तु समूहों के बीच तुलना कर सकता है, जो निम्न शर्तों को पूरा करनी हैं*—

(i) दो वस्तुओं—A व B—के सयोगों के सम्बन्ध में उपभोक्ता यह पता लगा सकता है कि कौन सा सयोग उसे सर्वाधिक सतोष प्रदान करेगा। यदि A सयोग B सयोग से ज्यादा सतोष प्रदान करता है तो हम कहेंगे कि A सयोग B की तुलना में अधिक पसन्द किया जाता है (A is preferred to B) और यदि B सयोग A से अधिक सतोष प्रदान करता है तो हम कहेंगे कि B सयोग A से अधिक पसन्द किया जाता है *(B is preferred to A)। यदि दोनों सयोग एक सा सतोष प्रदान करते हैं* तो हम कहेंगे कि उपभोक्ता A व B सयोगों के बीच तटस्थ है (is indifferent between A and B)।

(ii) अधिमानों या पसन्द में परस्पर सगति का सम्बन्ध (transitive relation) होता है। इसका अर्थ यह है कि यदि A को B की तुलना में पसन्द किया जाता है और B को C की तुलना में पसन्द किया जाता है तो A को C की तुलना में भी पसन्द किया जाएगा। इसी प्रकार यदि वह A व B के बीच तटस्थ है और B व C के बीच तटस्थ है तो वह A व C के बीच में भी तटस्थ ही रहेगा।

(iii) यदि A वस्तु समूह B वस्तु समूह से वास्तव में बडा है तो A को B से अधिक पसन्द किया जाएगा। असल में एक वस्तु समूह दूसरे से बडा उस स्थिति में माना जाता है जबकि इसमें प्रत्येक वस्तु की अधिक इकाइयाँ शामिल होती हैं। लेकिन यदि A सयोग में B सयोग की प्रत्येक वस्तु की समान इकाइयां तो हों और कम से कम एक वस्तु की अधिक इकाइयाँ हों, तो भी A को B की तुलना में बडा या बेहतर माना जाएगा।

अर्थशास्त्रियों का मत है कि तीसरी शर्त उपभोक्ता के व्यवहार के सिद्धान्त के लिए वास्तव में आवश्यक नहीं है, और यह प्रत्येक बार प्रयुक्त नहीं की जाती है।

चित्र 1 के अनुसार M बिन्दु सर्वोच्च बिन्दु माना जाएगा, लेकिन A, B व C आदि सयोग समान सन्तोष देने वाले हैं। इसी प्रकार H बिन्दु नीचे के वक्र पर होने के कारण कम सन्तोष का सूचक होता है।

तटस्थता-वक्रो के लक्षण या विशेषताएँ

(Characteristics or Properties of Indifference Curves)

तटस्थता वक्रों के तीन महत्त्वपूर्ण लक्षण होते हैं—(1) वे दायीं ओर नीचे की तरफ झुकते हैं (slope downwards to the right), (2) वे मूलबिन्दु के उन्नतोदर (Convex to the origin) होते हैं। (3) कोई दो तटस्थता वक्र एक दूसरे को काट नहीं सकते (two indifference curves cannot intersect each other)। इनका स्पष्टीकरण नीचे दिया गया है।

(1) ये दायीं ओर नीचे की तरफ झुकते है (They slope downwards to the right)—तटस्थता वक्र के दायीं ओर नीचे की तरफ झुकने का कारण यह है कि **यदि उपभोक्ता के लिए एक वस्तु की मात्रा कम की जाती है तो इस हानि की** क्षति-पूर्ति के लिए उसे दूसरी वस्तु की अधिक मात्रा देनी होती है। ऐसी स्थिति में तटस्थता वक्र का प्रत्येक अगला बिन्दु पहले से नीचा व दाहिनी तरफ ही आएगा, जैसे चित्र 1 में वक्र III पर A, B, C, D, E व F बिन्दुओं की स्थिति से स्पष्ट होता है। इसमें यह मान लिया गया है कि उपभोक्ता के पास दोनों वस्तुओं में से कोई भी वस्तु इतनी अधिक नहीं है कि उसे पूर्ण तृप्ति हो चुकी है। यदि एक उपभोक्ता एक वस्तु की पूर्ण तृप्ति के बिन्दु के बाद की कुछ इकाइयों को किसी दूसरी वस्तु के बदले में देता है, तब उसे हानि नहीं होने की स्थिति में दूसरी वस्तु की अधिक इकाइयाँ देने का प्रश्न नहीं उठता।

उदाहरण के लिए, कल्पना कीजिए कि एक उपभोक्ता X की 5 इकाइयों से पूर्णतया तृप्त हो जाता है, और उसके पास X की 7 इकाइयाँ हैं। ऐसी स्थिति में X की 2 फालतू इकाइयों का त्याग करने मे उसे कोई कष्ट नही होगा, और उनके लिए उसे Y की इकाइयाँ देने की आवश्यकता नही होगी। इसी प्रकार यदि उपभोक्ता Y की 20 इकाइयाँ से तृप्त हो जाता है और सौभाग्य से उसके पास Y की 30 इकाइयाँ होती हैं तो Y की 10 फालतू इकाइयो के बदले में उसे X की कुछ मात्राएँ देने का प्रश्न नही उठता। लेकिन व्यवहार मे उपभोक्ता प्राय किसी भी वस्तु की मात्रा से पूर्णतया तृप्त नही हो पाता। यहाँ तक कि धनवानों की मनोदशा भी पूर्ण तृप्ति की न होकर वस्तु की अधिक मात्रा को लेने की बनी रहती है। इसलिए वस्तुस्थिति यह है कि एक उपभोक्ता के दो वस्तुओं के किसी भी सयोग में से एक वस्तु की मात्रा कुछ कम कर देने से वह हानि महसूस करने लगता है और उसे समान सन्तुष्टि प्रदान करने के लिए दूसरी वस्तु की अधिक मात्राएँ देनी होती हैं, जिससे उसका तटस्थता-वक्र दायीं ओर नीचे की तरफ ही झुकता है।

एक तटस्थता-वक्र क्षैतिज (horizontal) नही हो सकता, क्योकि उसका अर्थ यह होगा कि Y-वस्तु की समान मात्रा और X-वस्तु की कम व ज्यादा मात्राओं के साथ उसे समान सतोष मिल रहा है। यह स्थिति तभी आ सकेगी जबकि उपभोक्ता X वस्तु से तृप्त हो जाए और इस तृप्ति के बाद X की अतिरिक्त इकाइयाँ मिलने पर उनमें कोई अनुपयोगिता (disutility) न मिले। यदि एक तटस्थता वक्र लम्बवत (vertical)

होता है तो उसका अर्थ यह होगा कि X-वस्तु की समान मात्रा और Y-वस्तु की कम या ज्यादा मात्राओं के साथ उसे समान संतोष मिल रहा है। यह स्थिति भी तभी आ सकती है जबकि उपभोक्ता Y-वस्तु से पूर्णतया तृप्त हो जाए और इस तृप्ति के बाद Y की अतिरिक्त इकाइयाँ मिलने से उसे अनुपयोगिता न मिले। इसीलिए हमने ऊपर कहा है कि उपभोक्ता के संतोष को यथावत् या समान रखने के लिए यदि उसे एक वस्तु की कुछ इकाइयाँ छोड़ने के लिए कहते है तो इस कमी को पूरा करने के लिए उसे दूसरी वस्तु की अधिक इकाइयाँ देनी होगी। इसी वजह से एक तटस्थता-वक्र दायी ओर नीचे की तरफ झुकेगा।

एक तटस्थता-वक्र ऊपर की ओर उठता हुआ भी नहीं हो सकता, क्योंकि उसका अर्थ होगा X और Y दोनों की बढती हुई इकाइयों से उतना ही संतोष मिलता है जितना पहले की कम इकाइयों से मिल रहा था। ऐसा भी व्यवहार में नहीं होता। जब तटस्थता-वक्र साधारणतया ऊपर की ओर नहीं जाता एवं क्षैतिज नही होता व लम्बवत् भी नही होता, तब उसके लिए नीचे दाहिनी तरफ झुकने का विकल्प ही शेष रह जाता है। अत साधारणत व्यवहार में तटस्थता-वक्रों की निम्न आकृतियाँ नही होती—
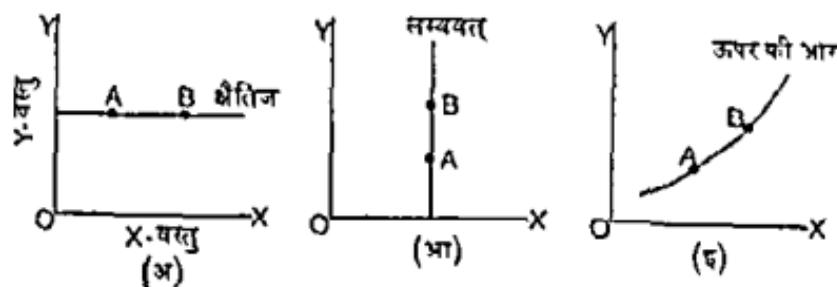
चित्र 2-क्षैतिज, लम्बवत् व ऊपर की ओर जाने वाले तटस्थता-वक्रों के चित्र
(साधारणतया ऐसी आकृतियाँ नहीं होती)

स्मरण रहे कि एक तटस्थता-वक्र OX-अक्ष व OY-अक्ष को छूता हुआ दिखाया जा सकता है। इसका अर्थ यह होगा कि वह X-वस्तु की अमुक मात्रा (साथ मे Y वस्तु बिल्कुल नही) से उतना ही संतोष प्राप्त करता है जितना Y-वस्तु की अमुक मात्रा (साथ मे X-वस्तु बिल्कुल नही) से। यह स्थिति सम्भव तो है, हालांकि विवेचन के समय हम जिस तटस्थता-वक्र का प्राय. उपयोग करते है उसमे यह दोनों अक्षो को छूती हुई नही दिखायी जाती।

(2) ये मूलबिन्दु के उन्नतोदर होते है (They are convex to the origin)[1]—तटस्थता-वक्र मूल बिन्दु के उन्नतोदर होते हैं। इसका कारण यह है कि Y

1 स्टोनियर व हेग ने इन्हें ऊपर की ओर नतोदर (concave upwards) भी लिखा है। अत नीचे की ओर उन्नतोदर (convex downwards) व ऊपर की ओर नतोदर (concave upwards) दोनों का एक ही अर्थ होता है।

के बदले में X के प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (Marginal rate of substitution of X for Y), अथवा MRS_{xy} घटती हुई होती है।

प्रतिस्थापन की सीमान्त दर की परिभाषा (Definition of Marginal rate of Substitution)—Y-वस्तु के लिए X-वस्तु की प्रतिस्थापन की सीमान्त दर Y की वे मात्राएँ होती हैं जो X की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई को प्राप्त करने के लिए त्यागी जाती हैं, ताकि कुल सन्तोष का स्तर समान रखा जा सके। प्रतिस्थापन की सीमान्त दर तटस्थता वक्र के किसी भी बिन्दु पर उसके ऋणात्मक ढाल से प्राप्त होती है। यह एक ही तटस्थता वक्र पर होने वाली गतिशीलताओं (movements) से परिभाषित होती है, यह कभी भी विभिन्न वक्रों के बीच की गतिशीलताओं से परिभाषित नहीं होती है।[1]

इस प्रकार Y के लिए X के लिए प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRSxy) Y की वह मात्रा होती है जिसे एक उपभोक्ता X की एक अतिरिक्त इकाई को प्राप्त करने के लिए देने को उद्यत होता है। उदाहरण के लिए, अध्याय के प्रारम्भ में दी गई सारणी 1 में उपभोक्ता के पास प्रारम्भ में 1 इकाई X और 60 इकाई Y हैं। शुरू में उसके पास Y की अधिक इकाइयाँ होने से वह X की एक अतिरिक्त इकाई लेने के लिए Y की 6 इकाइयों का त्याग करने को उद्यत होता है। ऐसा करने से उसके पास 2 इकाई X और 54 इकाई Y का संयोग हो जाता है। ज्यों-ज्यों उसके पास Y की मात्रा कम होती जाती है और X की मात्रा बढ़ती जाती है त्यों-त्यों वह X की एक अतिरिक्त इकाई लेने के लिए Y की उत्तरोत्तर कम मात्राओं का त्याग करने लगता है। वह X की तीसरी इकाई को प्राप्त करने के लिए Y की केवल 5 इकाइयों का ही त्याग करेगा, X की चौथी इकाई को प्राप्त करने के लिए Y की 4 इकाइयों का, X की पाँचवी इकाई के लिए Y की 3 इकाइयों का और अन्त में X की छठी इकाई के लिए Y की केवल 2 इकाइयों का ही त्याग करेगा। इस प्रकार Y के बदले में X के प्रतिस्थापन की सीमान्त दर उत्तरोत्तर घटती जाती है। प्रस्तुत उदाहरण में यह 6:1 से घटकर अन्त में 2:1 हो जाती है। प्रतिस्थापन की सीमान्त दर के घटने के कारण से ही तटस्थता-वक्र मूल बिन्दु के उन्नतोदर होते हैं। यह बात चित्र 3 से स्पष्ट हो जाती है।

चित्र 3 में उपभोक्ता के पास तटस्थता वक्र के A बिन्दु पर X की OA_1 मात्रा तथा Y की AA_1 मात्रा होती है। शुरू में वह X की A_1B_1 की मात्रा (एक इकाई का माप) के लिए Y की EF मात्रा त्याग करने को उद्यत होता है। ऐसा करके वह

---

1 The marginal rate of substitution of X for Y measures the number of units of Y that must be sacrificed per unit of X gained so as to maintain a constant level of satisfaction. The marginal rate of substitution is the negative of the slope of an indifference curve at a point. It is defined only for movements along an indifference curve, never for movements among curves.—Gould and Lazear, Microeconomic Theory, 6th ed. 1983, p. 51.
प्रतिस्थापन की सीमान्त दर को थोड़े भिन्न रूप में भी परिभाषित किया जा सकता है। यह Y की वह मात्रा होती है जो X की एक इकाई कम करने पर उपभोक्ता को देनी होती है ताकि उसका कुल सन्तोष स्थिर या समान बना रह सके।

चित्र 3 चित्र 4 चित्र 5 (अ)
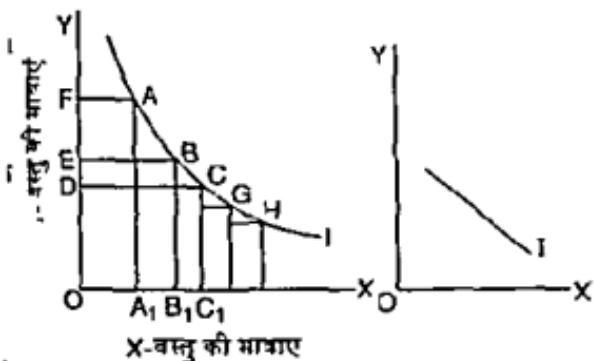
वक्र के B बिन्दु पर आता है। उसके बाद X की B_1C_1 मात्रा (पुन एक इकाई) को प्राप्त करने के लिए वह Y की केवल DE मात्रा का ही त्याग करता है, और C बिन्दु पर आ जाता है। चित्र से स्पष्ट है कि Y कि DE मात्रा इसकी EF मात्रा से कम है। यह Y के लिए X के प्रतिस्थापन की घटती हुई सीमान्त दर को सूचित करती है। वक्र के G और H बिन्दुओं पर भी यही प्रवृत्ति जारी रहती है।

यदि प्रतिस्थापन की सीमान्त दर स्थिर रहती है तो तटस्थता वक्र एक सरल रेखा का रूप धारण कर लेता है। (चित्र 4)। हम आगे चलकर देखेंगे कि यह स्थिति दो पूर्ण स्थानापन्न वस्तुओं की दशा में पायी जाती है। यदि प्रतिस्थापन की सीमान्त दर बढ़ती हुई होती है तो तटस्थता वक्र मूलबिन्दु के नतोदर (concave) हो जाता है जो स्थिति व्यवहार में नही पायी जाती है। यह स्थिति चित्र 5 (अ) में दर्शायी गयी है।

स्टोनियर व हेग का मत है कि एक तटस्थता वक्र पर थोड़ी दूर तक 'नतोदर के उभार' (bumps of concavity) पाए जा सकते हैं, लेकिन सामान्य रूप से तटस्थता वक्र मूलबिन्दु के उन्नतोदर ही होगा। यह चित्र 5 (आ) से प्रकट हो जाता है।

इस चित्र में B से C तक तटस्थता वक्र मूलबिन्दु के नतोदर (concave) होता है।

प्राय पुस्तकों में तटस्थता वक्र को गोलाकार या अण्डाकार भी बतलाया जाता है। सामान्यतया तटस्थता वक्र ऐसे नही होते हैं, क्योंकि जब हम इनको मूलबिन्दु के उन्नतोदर (*convex to* the origin) मानते हैं, तो वृत्ताकार या अण्डाकार में इनका नतोदर अंश कैसे समझा पायेंगे। अत प्रारम्भिक अध्ययन
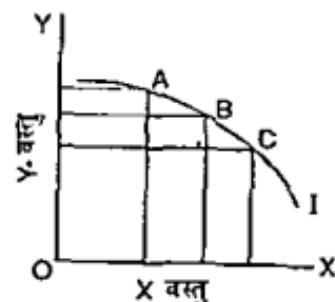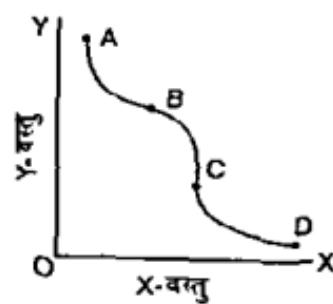
चित्र 5 (आ)

में पाठक वक्रों की वास्तविक प्रकृति का ध्यानपूर्वक अध्ययन करें तथा सामान्यतया तटस्थता वक्रों को मूलबिन्दु के उन्नतोदर ही मानें।

चित्र 5 (अ) में X की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई के लिए Y की उत्तरोत्तर अधिक मात्राओं का त्याग करने से तटस्थता वक्र मूलबिन्दु के नतोदर बन जाता है। लेकिन यह सामान्य परिस्थिति के विपरीत बात है। एक उपभोक्ता के पास X वस्तु की मात्रा के बढने एव Y-वस्तु की मात्रा के घटने में X का सीमान्त महत्त्व Y में घटेगा, न कि बढ़ेगा। इस प्रकार तटस्थता-वक्र मूलबिन्दु के उन्नतोदर (Convex) ही होते हैं।

(3) दो तटस्थता-वक्र एक-दूसरे को काट नही सकते (Two indifference curves cannot intersect each other)—तटस्थता वक्रों का तीसरा महत्त्वपूर्ण लक्षण यह है कि कोई दो तटस्थता वक्र एक दूसरे को काट नही सकते। वे एक-दूसरे के काफी समीप रह सकते हैं, लेकिन नदी के दो किनारों की भाँति कभी भी एक-दूसरे से मिल नहीं सकते। इस लक्षण को स्पष्ट करने के लिए हम यह मान लेते हैं कि दो वक्र एक-दूसरे को काट देते हैं। हम देखेंगे की इससे एक विचित्र व विरोधाभासपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह बात चित्र से स्पष्ट हो जाती है।
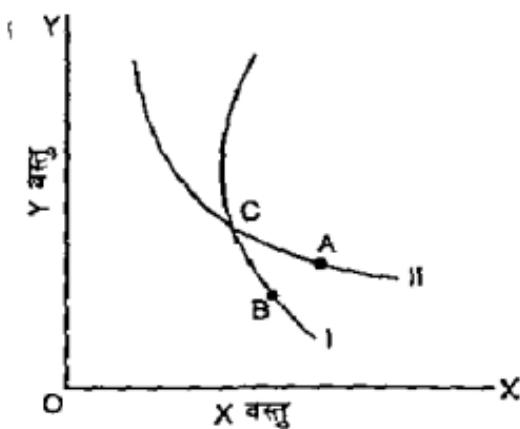
चित्र 6

A बिन्दु तटस्थता वक्र II पर होने पर तटस्थता वक्र I के बिन्दु से अधिक सतोष का सूचक है। C बिन्दु दोनों वक्रों के कटान पर पडता है। इसलिए तटस्थता वक्र I पर बिन्दु B व C समान सतोष को सूचित करते हैं एव वक्र II पर A व C भी समान सतोष को प्रकट करते हैं। ऐसी दशा में A और B बिन्दु, जो परिभाषा से असमान हैं, C के माध्यम से समान सन्तोष देने वाले बन जाते हैं। यह स्थिति स्वीकार नहीं की जा सकती। अत दो तटस्थता वक्र एक दूसरे को काट नहीं सकते। एक ऊँचा तटस्थता वक्र अपने से नीचे वाले तटस्थता वक्र से प्रत्येक बिन्दु पर ऊँचा होता है। **इसका अर्थ यह नहीं है कि दो तटस्थता-वक्रों के बीच की दूरी सर्वत्र समान ही हो। दूसरे शब्दों में, दो तटस्थता-वक्रों का परस्पर समानान्तर (parallel) होना आवश्यक**

नहीं होता। इनमें आपसी दूरी अवश्य बनी रहती है। मुख्य बात यह है कि ये वक्र एक-दूसरे से कहीं भी मिल नहीं सकते।[1]

तटस्थता-वक्र व दो वस्तुओं की पूरकता तथा स्थानापन्नता—तटस्थता वक्रों के माध्यम से दो वस्तुओं की पूरकता (complementarity) व स्थानापन्नता (substitutability) का परिचय मिल सकता है। निम्न चित्रों से इसका स्पष्टीकरण हो जाएगा—
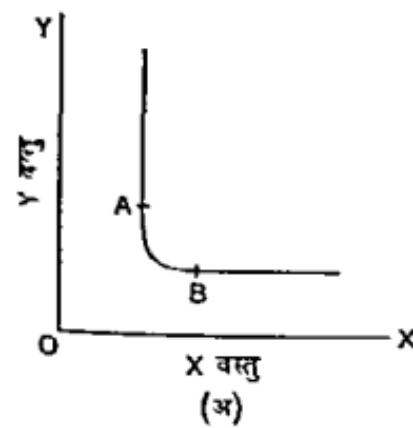
चित्र 7 (अ) व (आ)

चित्र 7 (अ) में वक्र I पर A से B तक X व Y का प्रतिस्थापन होता है। लेकिन A बिन्दु से ऊपर उपभोक्ता के लिए Y वस्तु की अतिरिक्त इकाइयाँ व्यर्थ होती हैं, और B बिन्दु से परे X की अतिरिक्त इकाइयाँ व्यर्थ होती हैं। इसलिए A बिन्दु से परे Y अतिरिक्त इकाइयों के व्यर्थ रहने से उपभोक्ता के लिए तटस्थता-वक्र पूर्णतया लम्बवत् बन जाएगा। इसी प्रकार B बिन्दु से परे X की अतिरिक्त इकाइयों के व्यर्थ रहने से उपभोक्ता का तटस्थता वक्र पूर्णतया क्षैतिज हो जाएगा। पूरक वस्तुएँ प्राय स्थिर अनुपातों (Fixed proportions) में ही प्रयुक्त होती हैं इसलिए A व B सीमाओं से परे वक्र का वही रूप होगा जो चित्र 7 (अ) में दिखलाया गया है। यही बात चित्र 7 (इ) पर अधिक स्पष्ट हो जाती है।

चित्र 7 (अ) लगभग पूर्ण पूरकता की स्थिति को प्रदर्शित करता है। यदि दो वस्तुएँ एक दूसरे की पूर्ण रूप से पूरक हों तो उनका तटस्थता-मानचित्र चित्र 7 (इ) जैसा होगा—
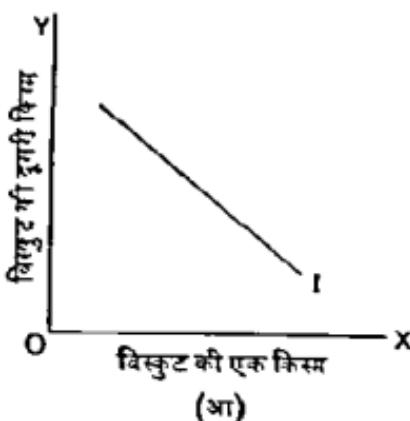
1 तटस्थता-वक्र के उपर्युक्त तीन लक्षण आर्थिक साहित्य में काफी लोकप्रिय हो चुके हैं। कुछ पुस्तकों में इनकी संख्या भी काफी बढ़ा-चढ़ाकर दी जाती है। हमारे मत में ऐसा करने से भ्रम बढ़ता है और पाठक इन वक्रों की मूल प्रकृति (basic nature) को ही भूल जाते हैं। अतः पाठकों को इन तीन तथ्यों—तटस्थता-वक्र नीचे दायें ओर झुकते हैं, ये मूल-बिन्दु के उन्नतोदर होते हैं और ये एक-दूसरे को काट नहीं सकते हैं—पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। इन तथ्यों के पीछे जो मुख्य तर्क (reasoning) है उनको [illegible] रूप से समझ लेना ही प्रारम्भिक अध्ययन में पर्याप्त माना जाता है।
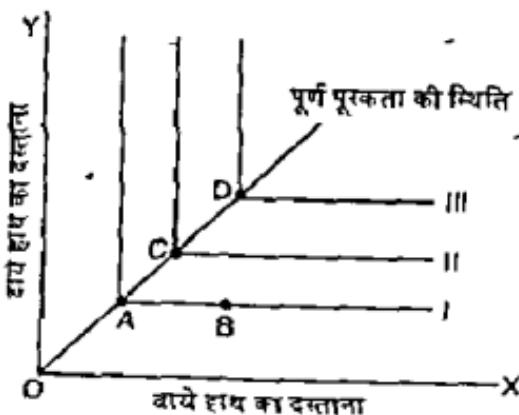
चित्र 7 (इ) पूर्ण पूरकता की दशा में तटस्थता-वक्र

मान लीजिए, हम दो परस्पर पूरक बायें हाथ का दस्ताना व दायें हाथ का दस्ताना लेते हैं। ये एक दूसरे के पूर्ण रूप से पूरक होते हैं, जिससे एक की मात्रा के बढने से यदि दूसरी पूरक वस्तु की मात्रा नहीं बढती है, तो उपभोक्ता उसी तटस्थता वक्र पर बना रहता है। उदाहरण के लिए, तटस्थता वक्र I पर उपभोक्ता को B बिन्दु पर बायें हाथ के दस्ताने (left-hand gloves) अधिक मिलते हैं, लेकिन दायें हाथ के दस्तानों के A बिन्दु की तुलना में न बढने पर वह A और B के बीच तटस्थ बना रहता है। इसी प्रकार वक्र I के लम्बवत् भाग पर उसे दायें हाथ के दस्ताने (right-hand gloves) अधिक मिलते हैं, लेकिन बायें हाथ के दस्तानों के अभाव में इनका कोई महत्त्व नहीं है। पूर्ण पूरक पदार्थों मे तटस्थता-वक्र L-आकृति का होता है। इस प्रकार उपभोक्ता के लिए विभिन्न तटस्थता वक्रों के बिन्दु A, C व D ही सार्थक हैं। वक्र I पर केवल एक वस्तु की अधिक मात्रा (चाहे वह दाया दस्ताना हो या बाया) उसे ऊचे तटस्थता-वक्र पर नही ले जा सकती। यह स्थिति व्यवहार में कम पायी जाती है, फिर भी अध्ययन की दृष्टि से इसका महत्त्व अवश्य है। यही स्थिति दायें पैर के जूते तथा बायें पैर के जूते के सम्बन्ध में भी लागू होती है, क्योंकि ये भी स्थिर अनुपात में ही प्रयुक्त होते हैं। एक दायें पैर के जूते के साथ दो बायें पैर के जूते अथवा एक बायें पैर के जूते के साथ दो दायें पैर के जूते काम नहीं आते हैं। अत इस स्थिति में भी ऐसा ही तटस्थता-वक्र पाया जाता है।

चित्र 7 (आ) में वक्र I_1 एक सरल रेखा के रूप में दर्शाया गया है। यह पूर्ण स्थानापन्न (perfect substitutes) पदार्थों की स्थिति को बतलाता है। मान लीजिए, ये बिस्कुट की दो किस्में हैं जिसमें पूर्ण स्थानापन्नता पायी जाती है, अर्थात् इनमें से 'एक के बदले एक' बिस्कुट प्रयुक्त हो सकता है। एक 100 आलपिन की हरे रग की डिबिया उन्हीं 100 आलपिनों की एक लाल रग की डिबिया की पूर्ण स्थानापन्न मानी जा सकती है, बशर्ते कि उपभोक्ता की विशेष रग की अपनी पसद न हो।

अत दो वस्तुएँ एक-दूसरे की जितनी कम स्थानापन्न होंगी, वक्र की उन्नतोदरता (convexity) उतनी ही अधिक होगी। इसके विपरीत दो वस्तुएँ एक दूसरे की जितनी

अधिक स्थानापन्न होंगी, तटस्थता वक्र रेखा उतनी ही कम उन्नतोदर होगी। दोनों वस्तुओं के पूर्ण स्थानापन्न होने पर एक तटस्थता वक्र-रेखा एक सरल रेखा का रूप धारण कर लेती है, जैसा कि पहले चित्र 7 (आ) पर दर्शाया जा चुका है।

तटस्थता-वक्रों की सहायता से उपभोक्ता का सन्तुलन

पहले बतलाया जा चुका है कि उपभोक्ता के तटस्थता वक्र केवल यह दर्शाते हैं कि वह दो वस्तुओं की कितनी कितनी मात्राएँ लेना चाहेगा। लेकिन वह दो वस्तुओं की कितनी कितनी मात्राएँ ले सकेगा, इस पर उसकी आमदनी (जो दोनों वस्तुओं पर व्यय की जाती है) और दोनों वस्तुओं की कीमतों का प्रभाव पड़ेगा। इस सम्बन्ध में उपभोक्ता के सन्तुलन का वर्णन नीचे किया जाता है—

स्टोनियर व हेग ने उपभोक्ता के सन्तुलन के पीछे निम्न मान्यताएँ (assumptions) बतलायी हैं[1]—

(1) तटस्थता-मानचित्र—उपभोक्ता का एक तटस्थता मानचित्र होता है जिस पर उसके विभिन्न तटस्थता वक्र एक साथ दिखाए जाते हैं। यह मानचित्र विचाराधीन वस्तु व मुद्रा के विभिन्न संयोगों के लिए उसका अधिमान माप (scale of preferences) दर्शाता है, जिससे उसकी पसन्द का अनुमान लगाया जा सकता है। यह अधिमान-माप अपरिवर्तित या स्थिर बना रहता है।

(2) व्यय हेतु मुद्रा की दी हुई मात्रा—उपभोक्ता के पास व्यय के लिए मुद्रा की मात्रा दी हुई होती है। यदि वह इसे विचाराधीन वस्तु पर व्यय नहीं करता है तो उसे समस्त राशि अन्य वस्तुओं पर व्यय करनी पड़ती है।

(3) वस्तुओं की कीमतें दी हुई—वह अनेक ग्राहकों में से एक होता है और सभी वस्तुओं की कीमतें जानता है। उसके लिए सभी कीमतें दी हुई व स्थिर मानी जाती हैं। इन दी हुई कीमतों पर उपभोक्ता अपने तटस्थता वक्रों की सहायता से अधिकतम संतोष का बिन्दु चुन लेता है।

(4) वस्तु की इकाइयाँ एक-सी व विभाज्य होती हैं—वस्तु की सभी इकाइयाँ समरूप (homogeneous) व विभाज्य (divisible) मानी जाती हैं। इसका अर्थ यह है कि X-वस्तु की सभी इकाइयाँ एक-सी मानी जाती हैं। इसी प्रकार Y वस्तु की व अन्य वस्तुओं की विभिन्न इकाइयाँ भी एक-सी मानी जाती हैं। इसके अलावा उपभोक्ता इन्हें थोड़ी-थोड़ी मात्राओं या टुकड़ों में भी ले सकता है, अर्थात् ये विभाज्य होती हैं।

(5) उपभोक्ता का व्यवहार विवेकशील होता है—उपभोक्ता का व्यवहार 'विवेकशील' होता है और वह अपना संतोष अधिकतम करने का प्रयास करता है। अतः सन्तुष्टि अधिकतम करना ही उपभोक्ता का प्रमुख लक्ष्य होता है।

---

1 *Stonier and Hague op cit p 59* उपभोक्ता का सन्तुलन पूछे जाने पर इन मान्यताओं की चर्चा करना बहुत आवश्यक है।

इन मान्यताओं के साथ उपभोक्ता अपना सन्तुलन प्राप्त करने का भरसक प्रयत्न करता है। नीचे उसके सन्तुलन की प्रक्रिया स्पष्ट की जाती है।

कीमत-रेखा या बजट-रेखा (Price-line or budget line)—कीमत-रेखा दो वस्तुओं के उन विभिन्न सयोगों को बतलाती है जिन्हें उपभोक्ता अपनी सीमित आय व दोनों वस्तुओं की कीमतों के दिए होने पर प्राप्त कर सकता है। इसे 'प्राप्य सयोगों की रेखा' (line of attainable combinations) भी कहते हैं। मान लीजिए, एक उपभोक्ता को दो वस्तुओं पर 20 रुपए व्यय करने हैं, और X का भाव 2 रुपए प्रति इकाई है और Y का भाव 5 रुपये प्रति इकाई है। ऐसी स्थिति में यदि वह अपना सम्पूर्ण व्यय X-वस्तु पर कर देता है तो उसे इसकी $\frac{20}{2} = 10$ इकाइयाँ मिलेंगी और सम्पूर्ण व्यय Y पर करने से इसकी $\frac{20}{5} = 4$ इकाइयाँ मिलेंगी। इन दोनों बिन्दुओं को मिलाने से एक कीमत-रेखा बन जाती है। इसे बजट-रेखा भी कहते हैं। इसे चित्र 8 पर दर्शाया गया है।

चित्र 8 में MN रेखा कीमत-रेखा है। दी हुई मुद्रा को Y पर व्यय करने से उसकी OM मात्रा मिल सकती है और सारी मुद्रा को X पर व्यय करने से इसकी ON मात्रा मिल सकती है। अत MN कीमत-रेखा प्राप्य सयोगों की रेखा है। इस रेखा पर उपभोक्ता को X व Y का कोई भी सयोग मिल सकता है। वह इस रेखा से नीचे, जैसे G बिन्दु पर नहीं रहना चाहेगा, क्योंकि उसकी आय और X और Y कीमतें उसे ऊपर जाने योग्य बनाती हैं। लेकिन वह कीमत-रेखा से ऊपर के किसी भी बिन्दु, जैसे H पर नहीं जा सकेगा, क्योंकि वह उसकी पहुँच से परे है (उसकी अपर्याप्त आमदनी व वस्तुओं की वर्तमान कीमतें उसे इस बिन्दु पर नहीं जाने देंगी।)
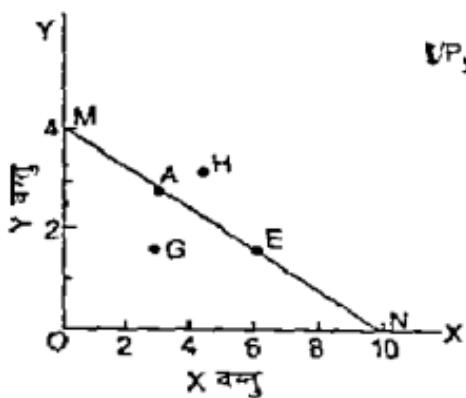
चित्र 8 कीमत रेखा (Price-Line)
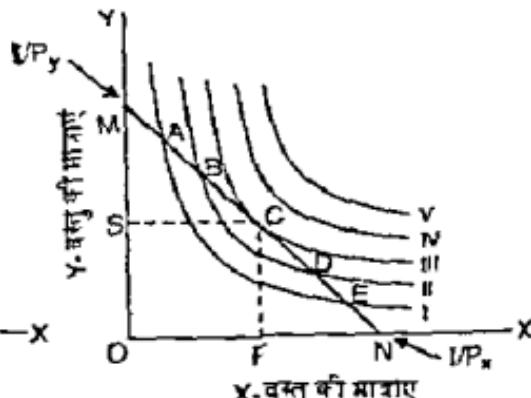
चित्र-9 उपभोक्ता का सन्तुलन (Consumer Equilibrium)

ही होता है। अत C बिन्दु पर $MRS_{xy} = P_x/P_y$ है। C के बायी तरफ MN रेखा के A व B जैसे बिन्दुओं पर $MRS_{xy} > P_x/P_y$ एव C के दायी तरफ D व E जैसे बिन्दुओं पर $MRS_{xy} < P_x/P_y$ होगा।

तटस्थता वक्र I के A बिन्दु पर MRS_{xy} ज्ञात करने के लिए स्पर्श रेखा डालनी होगी जिसका ढाल MRS_{xy} को सूचित करेगा। इसी प्रकार वक्र II के B बिन्दु पर MRS_{xy} ज्ञात करने के लिए इसकी स्पर्श रेखा का ढाल निकालना होगा। चित्र 9 को ध्यान से देखने पर पता लग जाएगा कि A बिन्दु पर स्पर्श रेखा का ढाल (MRS_{xy})C बिन्दु पर स्पर्श रेखा के ढाल (MRS_{xy}) से अधिक होता है। इसी तरह आगे चलकर D व E बिन्दुओं पर (क्रमश वक्र II व वक्र I पर) स्पर्श रेखाओं के ढाल (MRS_{xy}) बिन्दु की तुलना में कम होते हैं। लेकिन A B, C, D व E सभी एक ही कीमत-रेखा पर स्थित हैं, इसलिए इन पर कीमत रेखा का ढाल सर्वत्र P_x/P_y के ही बराबर होता है। अत केवल C बिन्दु पर ही तटस्थता-वक्र III का ढाल (MRS_{xy}) कीमत रेखा MN के ढाल P_x/P_y के बराबर होता है। अत यही अधिकतम सन्तुष्टि का बिन्दु माना जाता है। C बिन्दु पर उपभोक्ता X की OF मात्रा व Y की CF मात्रा का उपभोग करके अधिकतम सतोष प्राप्त कर सकता है।

C बिन्दु पर ही X-वस्तु की मात्रा को इसकी कीमत से गुणा करके, Y-वस्तु की मात्रा को इसकी कीमत से गुणा करके जोडने से प्राप्त परिणाम कुल आय के बराबर होगा, अर्थात् $(x \times P_x) + (y \times P_y) = I$ होगा, यहाँ x निशान X-वस्तु की ली जाने वाली मात्रा व y निशान Y-वस्तु की मात्रा को सूचित करते हैं, और P_x व P_y क्रमश X व Y वस्तुओं की कीमतें हैं तथा I दोनों वस्तुओं पर व्यय की जाने वाली आय की मात्रा को सूचित करता है।

एक सख्यात्मक उदाहरण—एक उपभोक्ता के सन्तुलन की स्थिति मे प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRS) निकालिए, जबकि X की कीमत प्रति इकाई एक रुपया Y की कीमत प्रति इकाई 3 रुपए व व्यय की जाने वाली राशि 120 रुपए हो।

हल—सन्तुलन की स्थिति में $MRS_{xy} = \frac{P_x}{P_y} = \frac{1}{3}$ (ऋणात्मक निशान) चाहे उसकी व्यय की जाने वाली राशि कुछ भी क्यों न हो। 120 रुपये को X वस्तु पर व्यय करने से उसे 120 इकाई X मिल सकती है तथा सम्पूर्ण राशि Y-वस्तु पर व्यय करने से उसे $\frac{120}{3} = 40$ इकाई Y मिल सकती है। दोनों वस्तुओं पर 120 रुपए व्यय करने पर वह सन्तुलन में 60 इकाई X व 20 इकाई Y का उपभोग करेगा। इस प्रकार कुल 120 रुपए व्यय करके वह अधिकतम सतोष प्राप्त करेगा।

उपभोक्ता सन्तुलन का विवेचन करने के बाद हम कीमत प्रभाव, आय प्रभाव व प्रतिस्थापन प्रभाव का क्रमश वर्णन करेंगे—

(1) कीमत प्रभाव (Price Effect)—कीमत प्रभाव उस प्रभाव को कहते हैं जिसमे उपभोक्ता की मौद्रिक आय स्थिर बनी रहती है और केवल एक वस्तु की
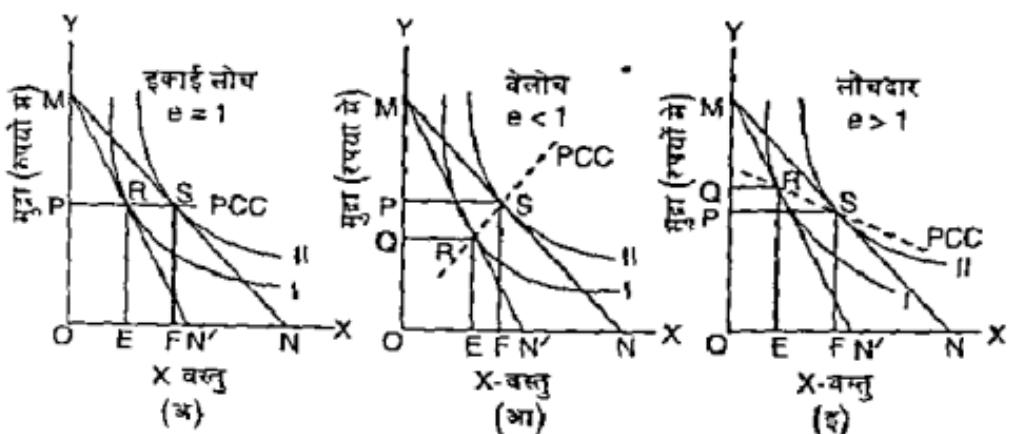
चित्र 11–माँग की लोच व कीमत-उपभोग-वक्र का पारस्परिक सम्बन्ध

घटने पर एक नयी कीमत रेखा MN होती है। चित्र 11 (अ) में उपभोक्ता का सन्तुलन प्रारम्भ में R पर और कीमत घटने पर S पर होता है। उसके पास कुल मुद्रा-राशि OM होती है। R पर वह X-वस्तु की OE मात्रा खरीदता है तथा मुद्रा की RE राशि अपने पास रखता है, अर्थात् OE वस्तु प्राप्त करने के लिए वह MP मुद्रा का कुल व्यय करता है। कीमत के घटने पर भी वस्तु की खरीद तो बढ़कर OF हो जाती है, लेकिन कुल व्यय MP ही बना रहता है।

जब कीमत के घटने पर कुल व्यय यथास्थिर रहे तो e = 1 होगी। चित्र 11 (आ) में कीमत के घटने पर कुल व्यय MQ से घटकर MP हो जाता है, जो e<1 (बेलोच स्थिति) की सूचक है।

चित्र 11 (इ) में कीमत के घटने पर कुल व्यय MQ से बढ़कर MP पर आ जाता है, जो e > 1 (लोचदार स्थिति) का सूचक होता है।

इस प्रकार कीमत-उपभोग वक्र की सहायता से माँग की लोच जानी जा सकती है।

हम आगे चलकर यह स्पष्ट करेंगे कि कीमत प्रभाव स्वयं आय प्रभाव व प्रतिस्थापन-प्रभाव का ही मिश्रण होता है। हम कीमत उपभोग वक्र की सहायता से उपभोक्ता का माँग-वक्र भी निकाल सकते हैं जिसका विवेचन अगले अध्याय में दिया गया है।

(2) आय-प्रभाव (Income-Effect)—आय-प्रभाव में उपभोक्ता की आमदनी के परिवर्तनों का प्रभाव उसके उपभोग पर देखा जाता है, लेकिन साथ में दोनों वस्तुओं के भाव यथास्थिर बने रहते हैं। अतएव, दोनों वस्तुओं की सापेक्ष कीमतों (relative prices) में कोई अन्तर नहीं आता है। नयी कीमत रेखा पुरानी कीमत रेखा के समानान्तर (parallel) होती है। यदि आमदनी बढ़ जाती है तो नयी कीमत-रेखा पुरानी कीमत रेखा के ऊपर की ओर इसके समानान्तर होती है। आमदनी के घट जाने पर यह पुरानी

कीमत-रेखा से नीचे इसके समानान्तर होती है। आय-प्रभाव निम्न चित्र में दर्शाया गया है।

प्रस्तुत चित्र में आय के परिवर्तित होने एवं वस्तुओं की कीमतों के स्थिर रहने से कीमत रेखाएँ MN, M_1N_1 व M_2N_2 एक-दूसरे के समानान्तर होती हैं और उनके सन्तुलन-बिन्दुओं Q, Q_1 व Q_2 को मिलाने वाली रेखा आय-उपभोग-वक्र (income- consumption-curve) कहलाती है। चित्र से स्पष्ट होगा है कि आय के बढ़ने से X व Y दोनों के उपभोग में वृद्धि होती है।
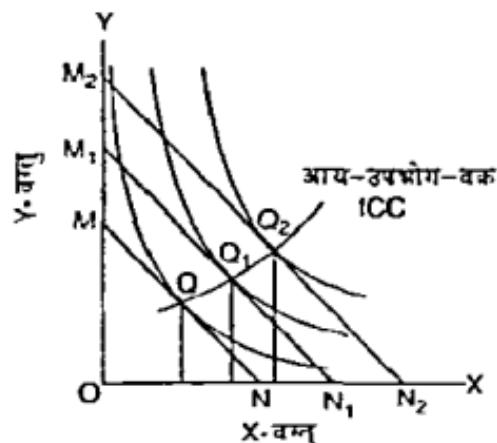
चित्र 12–आय-प्रभाव (Income-effect)

आय-उपभोग-वक्र की आकृति (The Shape of ICC)—साधारणतया आय-उपभोग-वक्रों की आकृति चित्र 12 में प्रदर्शित QQ_1Q_2 के जैसी ही होती है। लेकिन इसमें X और Y की कीमतें दी हुई हैं, और केवल आय के परिवर्तनों का प्रभाव ही देखा गया है। यह स्वाभाविक है कि X और Y की सापेक्ष कीमतों के प्रत्येक भिन्न संयोग के लिए एक भिन्न आय-उपभोग-वक्र बनेगा। कारण यह है कि सापेक्ष कीमतों के प्रत्येक भिन्न संयोग के लिए कीमत रेखा का ढाल बदल जाएगा, जिससे स्पर्शिता के बिन्दु (points of tangency) भी बदल जायेंगे। आय-उपभोग-वक्र की विभिन्न आकृतियों (चित्र 13) पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

चित्र 13 (अ) में X व Y की सापेक्ष कीमतों के प्रत्येक नये संयोग के लिए एक नया आय-उपभोग-वक्र दिखलाया गया है। ICC_1, ICC_2, ICC_3 तो सामान्य
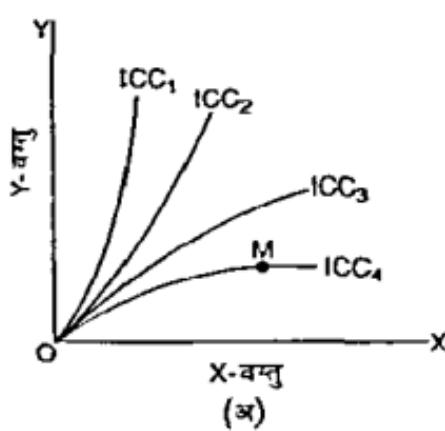
चित्र 13–आय उपभोग-वक्र की विभिन्न आकृतियाँ
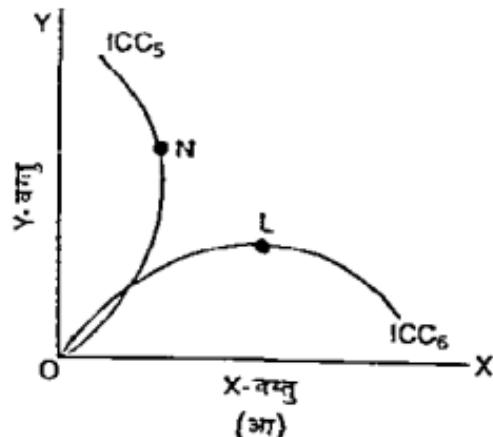
आकृति वाले वक्र हैं लेकिन ICC_4 वक्र M से आगे क्षैतिज (horizontal) दिखलाया गया है जिसका अर्थ है कि उपभोक्ता ज्यों ज्यों धनी होता जाता है, वह Y-वस्तु की स्थिर मात्रा का उपभोग करने लगता है।

चित्र 13 (आ) में ICC5 वक्र N के बाद बायीं ओर झुकता है और ICC6 वक्र L के बाद दायां और नीचे की ओर तरफ झुकता है। इसका आशय यह है कि ICC5 पर उपभोक्ता N के बाद X का उपभोग घटा देता है, क्योंकि वह उसके लिए एक घटिया वस्तु (inferior good) हो जाती है। ICC6 पर L के बाद Y-वस्तु घटिया हो जाती है। इस प्रकार ICC5 पर N के बाद X-वस्तु के लिए आय प्रभाव ऋणात्मक हो जाता है और ICC6 पर L के बाद Y वस्तु के लिए आय प्रभाव ऋणात्मक हो जाता है।

(3) प्रतिस्थापन-प्रभाव (Substitution Effect)—प्रतिस्थापन प्रभाव उस प्रभाव का कह सकते हैं जिसमें दो वस्तुओं की सापेक्ष कीमतें इस प्रकार बदल जाती हैं कि उपभोक्ता न तो पहले से ज्यादा अच्छी स्थिति प्राप्त करता है और न पहले से ज्यादा बुरी स्थिति में आता है, बल्कि उसे नयी सापेक्ष कीमतों के अनुसार दोनों वस्तुओं की अपनी खरीद की मात्राएँ ही बदलनी पड़ती हैं। इसका अर्थ यह है कि उपभोक्ता एक ही वक्र पर बना रहता है, केवल उसकी X व Y की खरीद की मात्राएँ बदल जाती हैं। इस सम्बन्ध मे कई प्रकार की स्थितियाँ देखने को मिल सकती हैं।

मान लीजिए X की कीमत बढ जाती है, लेकिन साथ में उपभोक्ता की मौद्रिक आय भी इतनी बढ जाती है कि वह उसी तटस्थता वक्र पर बना रह सकता है, और उसके कुल सन्तोष में कोई अन्तर नहीं आता। इसी प्रकार मान लीजिए X की कीमत घट जाती है तो उपभोक्ता की मौद्रिक आय इतनी घट जाती है कि वह उसी तटस्थता वक्र पर बना रहता है। गुल्ड व लेजियर (Gould and Lazear) के अनुसार भी प्रतिस्थापन-प्रभाव की विशेषता यह है कि इसमे उपभोक्ता की वास्तविक आय (real income) स्थिर बनी रहती है, तथा उपभोक्ता एक ही तटस्थता-वक्र पर बना रहता है।[1] ऐसा एक और तरह से भी सम्भव हो सकता है, जैसे मान लीजिए X की कीमत बढ जाए, लेकिन Y की कीमत इतनी घट जाए कि उपभोक्ता पुन उसी तटस्थता वक्र पर बना रह सके। प्रतिस्थापन प्रभाव आगे चित्र 14 में दर्शाया गया है।

चित्र 14 में उपभोक्ता प्रारम्भ में Q बिन्दु पर सन्तुलन में होता है जहाँ उसे X की OS मात्रा व Y की QS मात्रा मिलती है और MN कीमत रेखा होती है। बाद में X की कीमत घट जाती है, लेकिन सम्भवत उसकी मौद्रिक आय भी इतना घट जाती है कि उसके लिए नयी कीमत रेखा M_1N_1 होती है जो उसी तटस्थता वक्र 1 को नये बिन्दु Q_1 पर स्पर्श करती है, जहाँ उसे X की OS_1 मात्रा व Y की Q_1S_1 मात्रा मिलती है। इससे उसकी कुल सन्तुष्टि में तो कोई अन्तर नही पड़ता, लेकिन दोनों वस्तुओं की खरीद की मात्राएँ अवश्य परिवर्तित हो जाती हैं। इस प्रकार प्रतिस्थापन-प्रभाव में हम एक ही तटस्थता वक्र पर एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु पर जाते हैं। यह भी स्पष्ट

1 In other words the substitution effect is the change in quantity demanded resulting from a change in price when the change is restricted to a movement along the original indifference curve thus holding real income constant —Gould and Lazear Microeconomic Theory, 6th ed 1989 p 92.

है कि प्रतिस्थापन-प्रभाव में उपभोक्ता की वास्तविक आय स्थिर बनी रहती है। यदि दो वस्तुओं की स्थिति को लें, तो X की कीमत के घटने पर Y की कीमत इतनी बढ़ जाती है कि उपभोक्ता की नयी कीमत रेखा पहले वाले तटस्थता वक्र को ही किसी दूसरे बिन्दु पर छूती है। इस प्रकार यदि X की कीमत घटती है व Y की कीमत स्थिर रहती है तो मौद्रिक आय इतनी घट जाती है कि वास्तविक आय पहले जितनी ही रह जाती है। परिणामस्वरूप उपभोक्ता एक ही तटस्थता वक्र पर बना रहता है, हालांकि उसके द्वारा ली जाने वाली दोनों वस्तुओं की मात्राएँ अवश्य बदल जाती हैं।
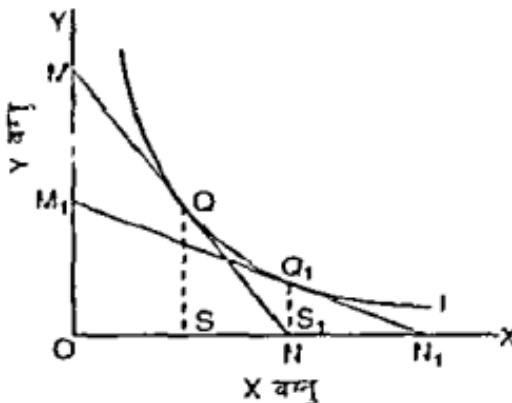
चित्र 14-प्रतिस्थापन प्रभाव (Substitution Effect)

कीमत के घटने पर प्रतिस्थापन प्रभाव इस अर्थ में धनात्मक (positive) होता है कि इस स्थिति में वस्तु की माँग बढ़ती है। इसका कारण यह है कि एक वस्तु की कीमत के घटने पर उपभोक्ता अन्य महँगी वस्तुओं के स्थान पर इस अपेक्षाकृत सस्ती वस्तु का प्रतिस्थापन करता है, जिससे इसके उपभोग में वृद्धि हो जाती है। यहाँ पर स्मरण रखना होगा कि प्रतिस्थापन प्रभाव का निशान ऋणात्मक (negative) होता है, क्योंकि कीमत के घटने पर माँग की मात्रा बढ़ती है, अथवा कीमत के बढ़ने पर माँग की मात्रा घटती है। इसलिए कीमत अथवा माँग में से कोई ऋणात्मक अवश्य होगा। यदि माँग की मात्रा के परिवर्तन को ΔQ से तथा कीमत के परिवर्तन को ΔP से सूचित करें तो, प्रतिस्थापन प्रभाव की दृष्टि से $\frac{\Delta Q}{\Delta P}$ का निशान ऋणात्मक (negative) होगा। इस अर्थ में प्रतिस्थापन प्रभाव को ऋणात्मक (Negative) ही कहा जाएगा। विश्लेषण की दृष्टि से प्रतिस्थापन प्रभाव की मूल प्रकृति ऋणात्मक ही मानी जाएगी।"*

* पुस्तकों में प्रतिस्थापन-प्रभाव के धनात्मक (positive) या ऋणात्मक (negative) होने के प्रश्न को लेकर कई बार भ्रम हो जाता है। कुछ में इसे सदैव धनात्मक एवं कुछ में सदैव ऋणात्मक बतलाया गया है। सही स्थिति यह है कि कीमत के घटने पर उस वस्तु की माँग बढ़ती है, और इस अर्थ में प्रतिस्थापन-प्रभाव धनात्मक (positive) दायीं तरफ प्रतिपादित किया जाता है। लेकिन वस्तु के प्रतिस्थापन-प्रभाव का निशान (sign) ऋणात्मक ही होता है क्योंकि कीमत के घटने पर माँग की मात्रा बढ़ती है तथा कीमत के बढ़ने पर माँग की मात्रा घटती है अर्थात् कीमत व माँग का परस्पर विपरीत या विलोम सम्बन्ध होता है। इस अर्थ में प्रतिस्थापन-प्रभाव ऋणात्मक कहा जाता है। दोनों कथन अपने-अपने अर्थ के अनुसार सही हैं। इसलिए पाठकों को इस सम्बन्ध में कोई भ्रम नहीं होना चाहिए।
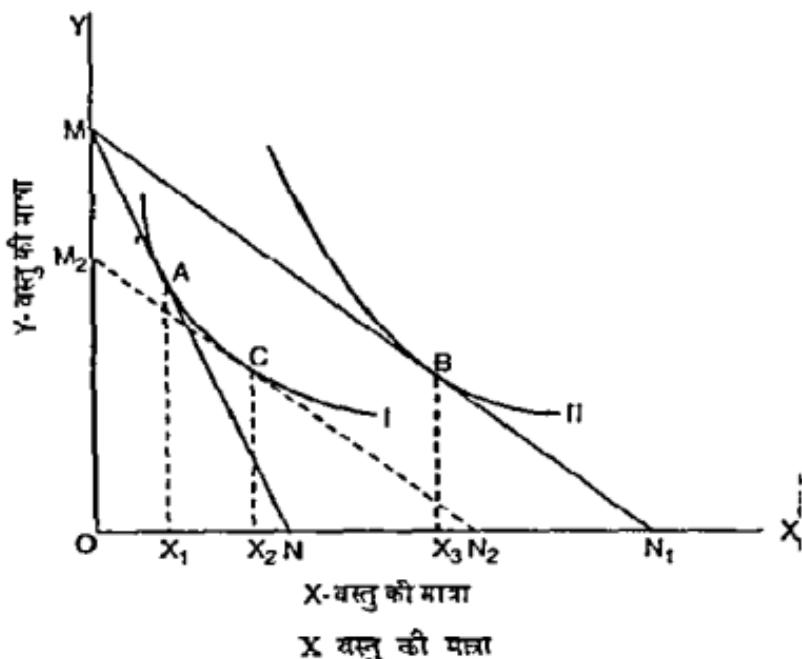
X वस्तु की मात्रा

(प्रभाव की दिशा	X-वस्तु की माँग में वृद्धि
A से B तक = कीमत-प्रभाव	X_1X_3 = कीमत-प्रभाव
A से C तक = प्रतिस्थापन-प्रभाव	X_1X_2 = प्रतिस्थापन-प्रभाव
C से B तक = आय-प्रभाव	X_2X_3 = आय-प्रभाव)

चित्र 15 (अ) —कीमत के घटने पर सामान्य या उत्तम वस्तु में कीमत-प्रभाव को प्रतिस्थापन-प्रभाव व आय-प्रभाव में विभक्त करना (प्रोफेसर हिक्स की विधि)

अब मान लीजिए, उपभोक्ता की मौद्रिक आय इतनी घट जाती है कि वह M_2N_2 कीमत-रेखा के कारण तटस्थता-वक्र I के C बिन्दु पर आ जाता है। अत A से C तक प्रतिस्थापन-प्रभाव है और C और B तक आय-प्रभाव है। M_2N_2 रेखा MN_1 के समानान्तर (parallel) खींची जाती है।

X की माँग में वृद्धि X_1X_2 प्रतिस्थापन-प्रभाव के कारण होती है, तथा X_2X_3 आय-प्रभाव के कारण होती है। इस प्रकार कुल वृद्धि X_1X_3 के दो भाग स्पष्ट हो जाते हैं।

प्रोफेसर स्लुट्स्की (Slutsky) द्वारा कीमत-प्रभाव को प्रतिस्थापन-प्रभाव व आय-प्रभाव में विभक्त करने की विधि

कीमत के घटने की स्थिति में—रूसी अर्थशास्त्री यूजीन स्लुट्स्की ने भी कीमत-प्रभाव को प्रतिस्थापन-प्रभाव व आय-प्रभाव में विभक्त करने की विधि बतलायी

है जिसका वर्णन कीमत के घटने की स्थिति में निम्न चित्र की सहायता से किया गया है—
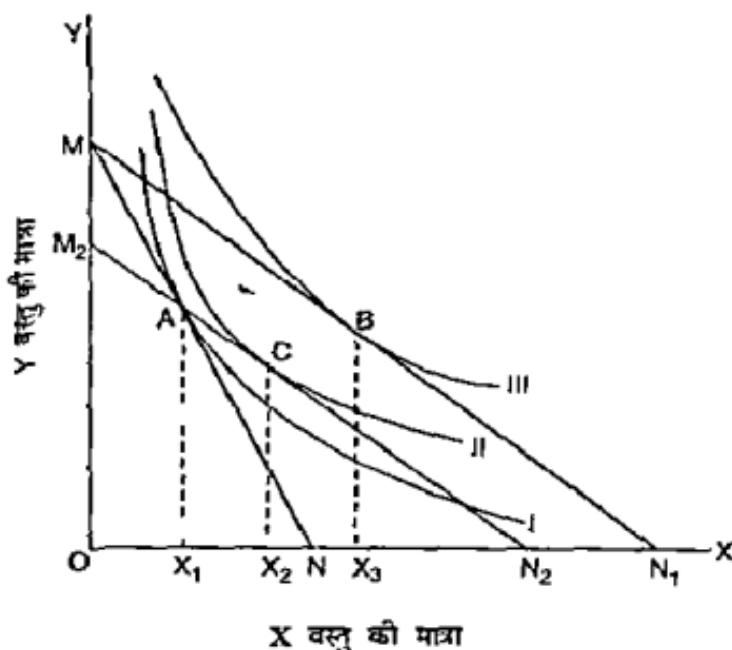
(प्रभाव की दिशा	X वस्तु की माँग में वृद्धि
A से B तक = कीमत प्रभाव	X_1X_3 = कीमत प्रभाव
A से C तक = प्रतिस्थापन प्रभाव	X_1X_2 = प्रतिस्थापन प्रभाव
C से B तक = आय प्रभाव	X_2X_3 = आय प्रभाव)

चित्र 15 (आ) —कीमत के घटने पर सामान्य वस्तु में कीमत प्रभाव को प्रतिस्थापन प्रभाव व आय प्रभाव में विभक्त करना (प्रोफेसर स्लुट्स्की की विधि)

स्पष्टीकरण—यहाँ MN प्रारम्भिक कीमत रेखा है जो तटस्थता वक्र I को A बिन्दु पर स्पर्श करती है। यहाँ उपभोक्ता की माँग OX_1 होती है। X वस्तु की कीमत के घटने पर MN_1 नयी कीमत रेखा हो जाती है जो तटस्थता वक्र III को B पर स्पर्श करती है तथा उपभोक्ता OX_3 मात्रा खरीदता है। इस प्रकार कीमत के घटने पर X की माँग X_1X_3 बढ़ जाती है जो कीमत प्रभाव की सूचक है।

अब हम A बिन्दु में से एक कीमत रेखा M_2N_2 खींचते हैं जो MN_1 कीमत रेखा के समानान्तर होती है। यह तटस्थता-वक्र II को C बिन्दु पर स्पर्श करती है जहाँ उपभोक्ता को वस्तु की OX_2 मात्रा प्राप्त होती है। A व C दोनों बिन्दु एक ही कीमत-रेखा M_2N_2 पर स्थित होने के कारण उपभोक्ता को प्राप्त हो सकते हैं लेकिन इनमें C बिन्दु तटस्थता वक्र II पर है जबकि A बिन्दु तटस्थता वक्र I पर है। अत

C बिन्दु अधिक सतोष का सूचक होने से उपभोक्ता के द्वारा अधिक पसन्द किया जाएगा।

इस प्रकार A से C तक प्रतिस्थापन-प्रभाव तथा C से B तक आय प्रभाव होगा। दूसरे शब्दों में, कीमत के घटने पर कुल माँग की वृद्धि X_1X_3 होगी, जिसमें से X_1X_2 वृद्धि प्रतिस्थापन-प्रभाव के कारण है, तथा X_2X_3 वृद्धि आय-प्रभाव के कारण है।*

एक सख्यात्मक उदाहरण—एक उपभोक्ता जो दो वस्तुओं X व Y का उपभोग करता है उसके लिए निम्न तीन दशाएँ दी गई हैं। तालिका में दोनों वस्तुओं के भाव Px तथा Py व उनकी मात्राएँ, उसकी मौद्रिक आय (M) व उसकी उपयोगिता के काल्पनिक स्तर भी दिए हुए हैं—

स्थिति	P_x	P_y	X की मात्रा	Y की मात्रा	मौद्रिक आय M	सतोष का स्तर (तटस्थता-वक्र की सख्या)
(1)	1 रु	1 रु	50	40	90 रुपया	तटस्थता-वक्र-I
(2)	1 रु	1/2 रु	48	84	90 रुपया	ऊची तटस्थता-वक्र II
(3)	1 रु	1/2 रु	40	70	75 रुपया	तटस्थता-वक्र I

जब Y-वस्तु की कीमत 1 रुपए से घटकर $\frac{1}{2}$ रुपया हो जाती है, तो उसकी माँग की मात्रा में कितना परिवर्तन होगा, जबकि उसकी मौद्रिक आय 90 रुपये हो। इसमें कितना प्रतिस्थापन-प्रभाव होगा और कितना आय-प्रभाव होगा ? Y-वस्तु सामान्य है या घटिया है ?

हल—Y की कीमत के 1 रुपए से घटकर $\frac{1}{2}$ रुपया हो जाने पर माँग की मात्रा में $(84 - 40) = 44$ इकाई की वृद्धि होती है। यह कीमत-प्रभाव हुआ, क्योंकि यहाँ पर X की कीमत व मौद्रिक आय (M) स्थिर हैं।

अन्तिम कॉलम में स्थिति (1) व (3) में सन्तोष के स्तर समान हैं, अर्थात् ये एक ही तटस्थता-वक्र I के सयोग बतलाते हैं। इसलिए प्रतिस्थापन-प्रभाव $(70 - 40) = 30$ इकाई होगा और शेष $(44 - 30) = 14$ इकाई आय-प्रभाव माना जाएगा। Y-वस्तु सामान्य वस्तु है, क्योंकि कीमत के घटने पर इसकी माँग की मात्रा में वृद्धि हुई है।

* पाठक हिक्स की विधि के लिए चित्र 15 (अ) व स्लुट्स्की की विधि के लिए चित्र 15 (आ) प्रयुक्त करें जिनमें कीमत के घटने का प्रभाव दर्शाया गया है। इससे उनकी परस्पर तुलना की जा सकेगी और इनका परस्पर अन्तर भी स्पष्ट हो जाएगा।

गिफेन के विरोधाभास का तटस्थता-वक्रों की सहायता से वर्णन[1] —गिफेन वस्तु वह घटिया वस्तु होती है जिसमे ऋणात्मक आय प्रभाव इतना तीव्र होता है कि वह धनात्मक प्रतिस्थापन प्रभाव को मिटा देता है जिससे कीमत के घटने पर वस्तु की माँग घट जाती है और कीमत के बढने पर वस्तु की माँग बढ जाती है। यही माँग के नियम का एकमात्र सच्चा अपवाद होता है। इसे निम्नांकित चित्र की सहायता मे समझाया गया है।

(निष्कर्ष—

(1) प्रतिस्थापन प्रभाव ——→ (धनात्मक) = X_2X_3

(2) आय प्रभाव ←—— (ऋणात्मक) = X_3X_1

(3) कीमत प्रभाव ←—— (ऋणात्मक) = X_2X_1)
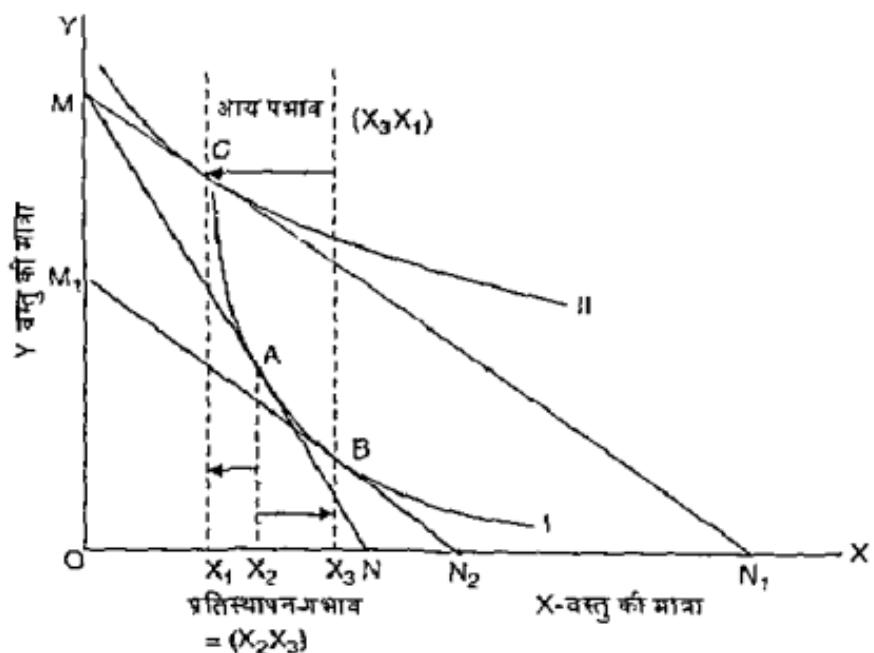
चित्र 15 (ई) गिफेन वस्तु में कीमत के घटने का उसकी माँग पर घटने का प्रभाव (तटस्थता-वक्रों की सहायता से)

स्पष्टीकरण—चित्र में MN प्रारम्भिक कीमत रेखा है। कीमत के घटने पर यह MN_1 हो जाती है। चित्र में तटस्थता वक्र I व तटस्थता वक्र II दर्शाये गए हैं। A से C तक कीमत-प्रभाव है, जिससे कीमत के घटने से वस्तु की माँग OX_2 से घट कर OX_1 हो जाती है। अत यह गिफेन वस्तु की स्थिति है। यहाँ माँग की मात्रा X_2X_1 तक घट जाती है।

---

1 Lipsey & Chrystal **Principles of Economics** Ninth Edition 1999 p 108

लेकिन A व B बिन्दु तटस्थता वक्र I पर स्थित हैं इसलिए A से B तक प्रतिस्थापन प्रभाव है जिससे माँग OX_2 से बढकर OX_3 हो जाती है। लेकिन B से C तक की गति (movement) आय प्रभाव को सूचित करती है। M_1N_2 कीमत रेखा MN_1 कीमत रेखा के समानान्तर (parallel) होती है। अत आय प्रभाव के फलस्वरूप उपभोक्ता की माग OX_3 से घटकर OX_1 पर आ जाती है (अर्थात् X_3X_1 कम हो जाती है)। लेकिन प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण यह X_2X_3 बढी थी। इस प्रकार ऋणात्मक आय प्रभाव धनात्मक प्रतिस्थापन प्रभाव से तेज होने के कारण कीमत के घटने पर भी माँग की मात्रा को X_2X_1 तक गिरा देता है।यह गिफेन वस्तु की स्थिति होती है। इसे गिफेन का विरोधाभास (Giffen paradox) भी कहते हैं क्योंकि इसमे कीमत के घटने पर वस्तु की माँग बढने की बजाए घटती है, जो अपने आप मे एक विरोधाभास लगता है। इस प्रकार तटस्थता वक्रों की सहायता से गिफेन वस्तु में कीमत प्रभाव को प्रतिस्थापन प्रभाव व आय प्रभाव मे विभक्त करके देखा जा सकता है।

हमने इस अध्याय में तटस्थता वक्रो की सहायता से उपभोक्ता सन्तुलन को निकालने की विधि का अध्ययन किया है। कीमत प्रभाव प्रतिस्थापन प्रभाव व आय प्रभाव का विवेचन करने के बाद हिक्स की विधि व स्लुटस्की की विधि का उपयोग करके कीमत प्रभाव को प्रतिस्थापन प्रभाव व आय प्रभाव में विभक्त करने की प्रक्रिया स्पष्ट की है।

गिफेन वस्तु की स्थिति मे कीमत के घटने पर वस्तु की माँग के घटने की प्रक्रिया भी तटस्थता वक्रो की सहायता से समझाई जाती है। इससे स्पष्ट होता है कि उपभोक्ता के व्यवहार को समझने में तटस्थता वक्रों से काफी मदद मिलती है।

अगले अध्याय में तटस्थता वक्रों की सहायता से माँग वक्रों को निकालने की विधि स्पष्ट की जाएगी तथा इनके प्रमुख प्रयोगों पर भी प्रकाश डाला जाएगा। तत्पश्चात् अध्याय के परिशिष्ट मे क्षतिपूरक माँग (Compensated demand) की अवधारणा का विवेचन किया जायेगा और इसका अतर साधारण माँग (Ordinary demand) से स्पष्ट किया जायगा।

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 तटस्थता वक्रों के निर्माण का आधार होता है—

(अ) उपभोक्ता की आमदनी

(ब) दो वस्तुओं की प्रति इकाई कीमतें

(स) उपभोक्ता के अधिमान का पैमाना

(द) उपरोक्त सभी। (स)

2 दो वस्तुओं के एक दूसरे के पूर्ण स्थानापन्न होने पर तटस्थता वक्र की आकृति कैसी होगी ?

(अ) यह x अक्ष के समानान्तर होगी (क्षैतिज होगी)

(ब) यह y अक्ष के समानान्तर होगी (लम्बवत होगी)

(स) यह ऊपर की ओर उठती हुई एक सरल रेखा होगी

(द) यह नीचे दायीं ओर जाने वाली एक सरल रेखा होगी। (द)

3 पूर्ण पूरकता की दशा में तटस्थता वक्र की आकृति कैसी होगी ?

उत्तर—L-आकृति की।

4 तटस्थता-वक्र मूल बिन्दु के उन्नतोदर (convex to the origin) क्यों होता है ?

उत्तर—y-वस्तु के लिए x-वस्तु की प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRSxy) घटती हुई होती है।

5 गिफिन-वस्तु में कीमत के घटने पर माँग की मात्रा में कमी क्यों आती है?

(अ) आय प्रभाव प्रतिस्थापन-प्रभाव से अधिक प्रबल होता है।

(ब) प्रतिस्थापन प्रभाव आय प्रभाव से अधिक प्रबल होता है।

(स) आय प्रभाव व प्रतिस्थापन प्रभाव दोनों ऋणात्मक होते हैं।

(द) इनमें से कोई नहीं। (अ)

6 तटस्थता-वक्रों का उपयोग किन वस्तुओं के अध्ययन में किया जा सकता है ?

(अ) सामान्य वस्तुओं के लिए (ब) गिफिन वस्तुओं के लिए

(स) घटिया वस्तुओं के लिए (द) सभी के लिए। (द)

7 तटस्थता-वक्रों के तीन लक्षण लिखिए—

(i) ये दायीं ओर नीचे की तरफ झुकते हैं।

(ii) ये मूल-बिन्दु के उन्नतोदर होते हैं।

(iii) ये एक दूसरे को नहीं काट सकते हैं।

अन्य प्रश्न

1. (अ) कीमत उपभोग वक्र तथा आय-उपभोग-वक्र के बीच अन्तर बताइये।
(ब) रेखाचित्रों का प्रयोग करते हुए सामान्य वस्तु एवं निकृष्ट वस्तु में भेद कीजिए। **(Raj IIyr. 2000)**

2. उदासीनता वक्रों की मुख्य विशेषताएँ बताइये। उदासीनता वक्रों की सहायता से उपभोक्ता का सन्तुलन दर्शाइये। रेखाचित्रों का प्रयोग कीजिये। **(Raj. IIyr. 2001)**

3 रेखाचित्रों का प्रयोग करते हुए निकृष्ट एवं गिफिन वस्तुओं के बीच अन्तर बताइये। **(Raj IIyr. 2001)**

4 (i) निम्नलिखित को समझाइये
(अ) कीमत प्रभाव,
(ब) प्रतिस्थापन प्रभाव **(Raj IIyr. 2002)**
(ii) संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये :
प्रतिस्थापन की सीमान्त दर **(Raj. IIyr. 2002)**

5 (अ) तटस्थता वक्रों की सहायता से आय प्रभाव, प्रतिस्थापन प्रभाव और कीमत प्रभाव को स्पष्ट कीजिए।
(ब) तटस्थता वक्र मूलबिन्दु के उन्नतोदर क्यों होते हैं ?
(M D.S U., Ajmer IIyr 2000)

6 (अ) तटस्थता वक्र विश्लेषण की सहायता से माग वक्र की व्युत्पत्ति कीजिए।
(ब) आय उपभोग वक्र समझाइये। (M D.S U., Ajmer IIyr 2001)

7 (अ) कीमत प्रभाव से आय प्रभाव तथा प्रतिस्थापन प्रभाव' को अलग करने की हिक्स की रीति को समझाइए।
(ब) गिफिन प्रभाव" की सचित्र व्याख्या कीजिए। एक साधारण माँग वक्र के सन्दर्भ में इसका क्या महत्व है ?

8 निम्न पर अपना मत प्रकट कीजिए—
(i) आय प्रभाव धनात्मक अथवा ऋणात्मक हो सकता है।
(ii) तटस्थता वक्र मूलबिन्दु के नतोदर नहीं हो सकते।
(iii) कीमत-उपभोग वक्र ऊपर उठता हुआ, नीचे जाता हुआ, अथवा स्थिर हो सकता है।
(iv) तटस्थता वक्र रेखा दायीं ओर नीचे जाती हुई एक सरल रेखा हो सकती है।

9 नीचे दी गई तीन सारणी (क्रमश U_1 U_2, U_3) X व Y वस्तुओं के तीन भिन्न उपयोगिता स्तरीय संयोजनों को बतलाती हैं। ग्राफ पेपर पर इनसे उदासीनता वक्र बनाइए और उपभोक्ता की आमदनी 110 रु मानकर जब X मूल्य (Px) 2 रु प्रति इकाई हो और Y का मूल्य (Py) 3 रु प्रति इकाई हो, उपभोक्ता की बजट रेखा बनाइए। बने हुए चित्र के आधार पर X व Y की वे मात्राएँ बतलाइए जिनके क्रय करने पर उपभोक्ता को अधिकतम सन्तोष मिलता है।

U_1		U_2		U_3	
X	Y	X	Y	X	Y
1	50	5	60	5	90
5	30	10	40	10	60
10	20	15	30	15	45
15	15	20	24	20	36
20	12	25	20	25	30
25	10	35	15	45	18
55	5	55	10	55	15

8

तटस्थता-वक्रों के प्रयोग—माँग-वक्र की व्युत्पत्ति, एन्जिल वक्र व अन्य प्रयोग

(Applications of Indifference Curves-Derivation of Demand Curve, Engel Curve and Other Uses)

हमने पिछले अध्याय में तटस्थता वक्रों का प्रयोग उपभोक्ता सन्तुलन में किया है। लेकिन आजकल इनका प्रयोग कई प्रकार से होने लगा है, जैसे उपभोक्ता की बचत को स्पष्ट करने में, वस्तुओं की परस्पर स्थानापन्नता व पूरकता जानने में एक व्यक्ति के द्वारा काम और विश्राम (Work and leisure) में अपने समय के विभाजन में, प्रत्यक्ष व परोक्ष करों के भार का अनुमान लगाने में, लोगों को खाद्य (food) पर सब्सिडी देने अथवा उन्हें सीधी नकद राशि देने के प्रभावों को परस्पर तुलना करने में सूचनाकों की समस्या में, तथा दो व्यक्तियों के बीच वस्तु विनिमय से उनके कल्याण पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करने जैसी विभिन्न प्रकार की समस्याओं के अध्ययन में, आदि, आदि। मार्शल के उपयोगिता विश्लेषण से तटस्थता विश्लेषण अधिक बेहतर व अधिक वैज्ञानिक माना गया है। इनमें से कुछ का विस्तृत विवेचन इस अध्याय में किया जाएगा। इस अध्याय में ' एन्जिल वक्र ' का विवेचन भी किया जायेगा, और अध्याय के परिशिष्ट में 'क्षतिपूरक माँग वक्र' (compensated demand curve) की अवधारणा पर प्रकाश डाला जायेगा और साधारण माँग वक्र से इसका अन्तर स्पष्ट किया जायेगा।

सर्वप्रथम हम यह बतलायेंगे कि तटस्थता वक्रों से माँग वक्र कैसे निकाला जाता है।

तटस्थता-वक्रो से माँग-वक्र की व्युत्पत्ति

(The Derivation of Demand Curve from Indifference Curves)

प्रथम विधि—माँग के विवेचन में बतलाया जा चुका है कि माँग वक्र, अन्य बातों के समान रहने पर, विभिन्न कीमतों पर माँग की विभिन्न मात्राएँ दर्शाता है।

कीमत है। ΔOMN व ΔPA_1X_1 दोनों एक-से त्रिभुज (similar triangles) हैं। अत $OM/ON = PA_1/A_1X_1$ = प्रति इकाई कीमत होती है। चूँकि A_1X_1 = एक इकाई के है इसलिए $PA_1/A_1X_1 = PA_1$ = प्रति इकाई कीमत हो जाती है।

इसी तरह आगे बढ़ते हुए हम माँग वक्र के अन्य बिन्दु P_1, P_2 व P_3 निकाल सकते हैं और इनको मिलाकर वैयक्तिक माँग वक्र बन जाता है। चित्र में P_1B_1 प्रति इकाई कीमत पर X का माग का OB_1 मात्रा, P_2C_1 कीमत पर OC_1 माँग की मात्रा एव P_3D_1 कीमत पर माँग की मात्रा OD_1 होती है। **इस प्रकार कीमत-उपभोग-वक्र (PCC) का उपयोग करके एक उपभोक्ता का माँग-वक्र निकाला जा सकता है।**

माँग के अध्ययन में बतलाया जा चुका है कि वैयक्तिक माँग वक्रों से बाजार माँग-वक्र का निर्माण सरलता से किया जा सकता है। लेकिन स्मरण रहे कि उपर्युक्त चित्र में हमने एक वस्तु के लिए एक उपभोक्ता का माँग-वक्र उसके तटस्थता वक्रों की सहायता से निकाला है।
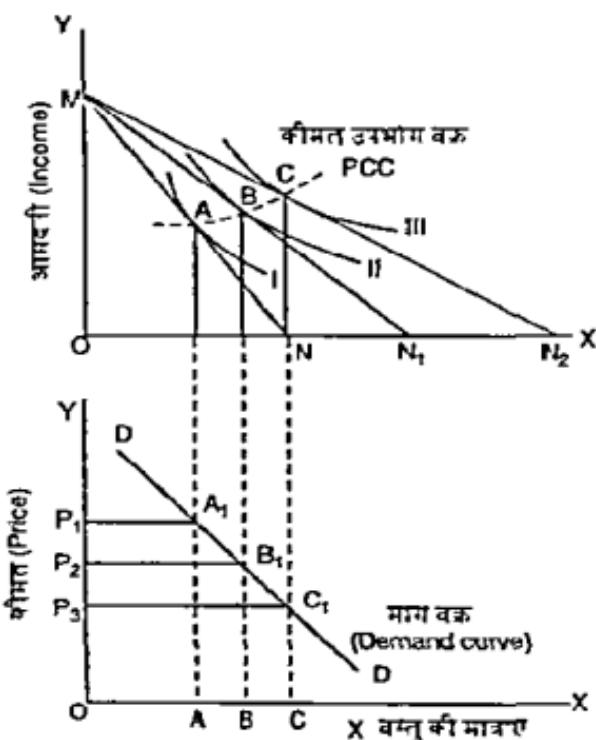
चित्र 1-(आ) तटस्थता-वक्रों से माँग-वक्र की व्युत्पत्ति (दूसरा चित्र)

निम्न चित्र के ऊपरी भाग में आय-उपभोग वक्र (ICC) दर्शाया गया है और उसकी सहायता से निचले भाग में एन्जिल वक्र निकाला गया है।[1]
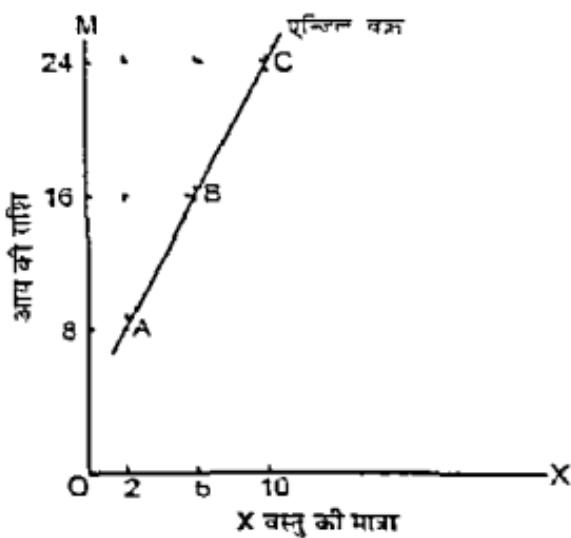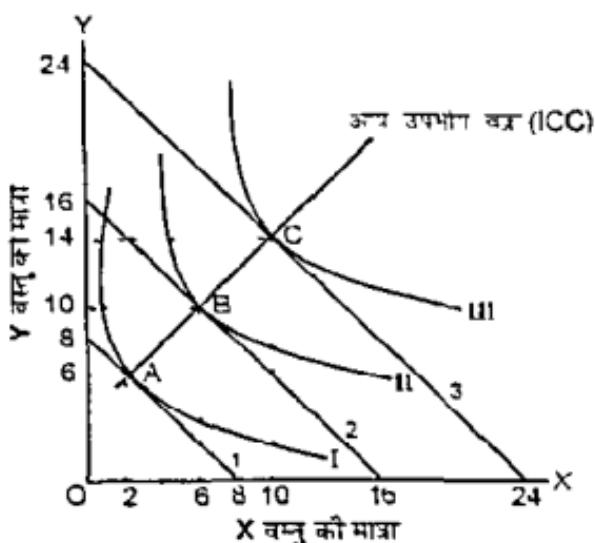
चित्र 2 एन्जिल वक्र की व्युत्पत्ति (आय-उपभोग-वक्र से)

स्पष्टीकरण—चित्र के ऊपरी भाग में OX अक्ष पर X वस्तु तथा OY अक्ष पर Y वस्तु की इकाइयाँ मापी गयी हैं। X व Y दोनों वस्तुओं के भाव प्रति इकाई एक रुपया है। तीन तटस्थता वक्र क्रमश I II व III हैं तथा तीन बजट रेखाएँ (budget

1 Dominick Salvatore Microeconomic Theory 3th ed 1992 p 69 पर आधारित

lines) क्रमश 1 2 व 3 हैं। जब कुल आमदनी 8 रु होती है तो उपभोक्ता X की 2 इकाई व Y की 6 इकाई प्राप्त करता है आमदनी के 16 रु होने पर X की 6 इकाई व Y की 10 इकाई प्राप्त होती है और इसी प्रकार आमदनी के 24 रु होने पर X की 10 इकाई व Y की 14 इकाई प्राप्त होती है। चित्र में सन्तुलन के बिन्दुओं को ऊपरी भाग में मिलाने से A B C आय उपभोग वक्र (ICC) बनता है।

चित्र के निचले भाग में OX अक्ष पर X वस्तु का वही माप है जो ऊपर के भाग म दर्शाया गया है लेकिन OY अक्ष पर यहाँ आय की राशि (M) दर्शायी गयी है। M - 8 रु (आय) होने पर X वस्तु की 2 इकाई 16 रु आय पर X वस्तु की 6 इकाई और 24 रु आय पर इसकी 10 इकाई ली जायेंगी (ऊपर के भाग से प्राप्त) इससे A^1 B^1 C^1 एन्जिल वक्र (जो यहाँ एक सरल रेखा के रूप में है) बनता है। इस प्रकार आय उपभोग वक्र का उपयोग करके एन्जिल वक्र बनाया जा सकता है।

आमदनी व एक वस्तु की माँग की मात्रा मे सम्बन्ध-(वस्तु की प्रकृति के सम्बन्ध में निर्णय) [1]

चित्र 3
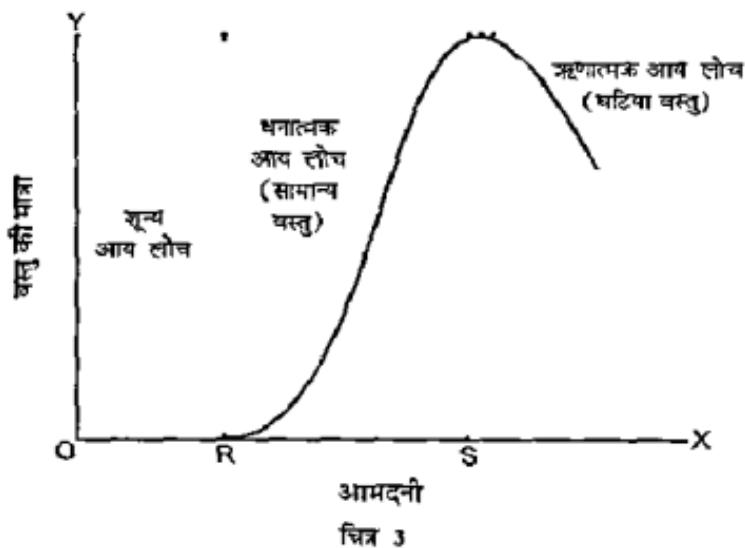
यहाँ OX अक्ष पर आमदनी मापी गयी है और OY अक्ष पर वस्तु की मात्राएँ दर्शायी गयी हैं। हालाँकि वस्तु की माँग की आय लोच का विस्तृत विवेचन अगले अध्याय में किया जायेगा लेकिन यहाँ इतना स्पष्ट करना पर्याप्त होगा कि O से R तक माँग की आय लोच शून्य है और R से S तक वक्र से ढाल के धनात्मक होने से माँग की आय लोच धनात्मक है जो **सामान्य वस्तु (normal good)** में पायी जाती है। इसी प्रकार S से आगे वक्र का ढाल ऋणात्मक होता है। जिससे यह घटिया वस्तु (inferior good) की स्थिति की द्योतक बन जाती है। अत माँग की आय लोच

1 Lipsey s Chrystal op Ct p 64 पर आधारित।

कीमत वही रहती है लेकिन उपभोक्ता को राशन मे X वस्तु की केवल OS_1 मात्रा ही दी जाती है जिससे उसे नीचे के तटस्थता वक्र I पर S बिन्दु पर आना पडता है। मान लीजिए वस्तु का राशन न करके इसकी कीमत बढा दी जाती और नयी कीमत रेखा MN_1 इसी नीचे के तटस्थता वक्र को T बिन्दु पर स्पर्श करती तो उपभोक्ता को X वस्तु की OT_1 मात्रा मिल जाती हालाकि S व T दोनों बिन्दुओं के एक ही तटस्थता वक्र पर होने से उसके कुल सन्तोष में कोई अन्तर नहीं आता।

अत X वस्तु के राशन के कारण उपभोक्ता को इसकी OS_1 मात्रा मिलती है, जबकि कीमत के बढ जाने पर (लेकिन राशन न होने पर) उसे OT_1 मात्रा मिलती है। अत राशनिग के कारण उपभोक्ता को S_1T_1 वस्तु की मात्रा कम मिलती है।

इस प्रकार तटस्थता वक्रो के द्वारा उपभोक्ता को राशनिग से होने वाली हानि का अनुमान लगाया जा सकता है।

(2) प्रत्यक्ष कराधान की तुलना मे परोक्ष कराधान का अतिरिक्त भार (The excess burden of indirect taxation as compared to direct taxation) — सरकार अपनी आमदनी आयकर (जो प्रत्यक्ष कर है) से प्राप्त कर सकती है, अथवा वस्तु कर (जो परोक्ष कर है) से प्राप्त कर सकती है। **तटस्थता वक्रो का उपयोग करके यह दर्शाया जा सकता है कि परोक्ष कर (indirect tax) से उपभोक्ता पर अधिक भार पडता है।** अत उतनी ही आमदनी सरकार आयकर से प्राप्त कर सकती है और साथ मे उपभोक्ता को अपेक्षाकृत ऊँचे तटस्थता वक्र पर रहने का अवसर भी दिया जा सकता है। यह निम्नाकित चित्र 5 से स्पष्ट हो जाएगा।
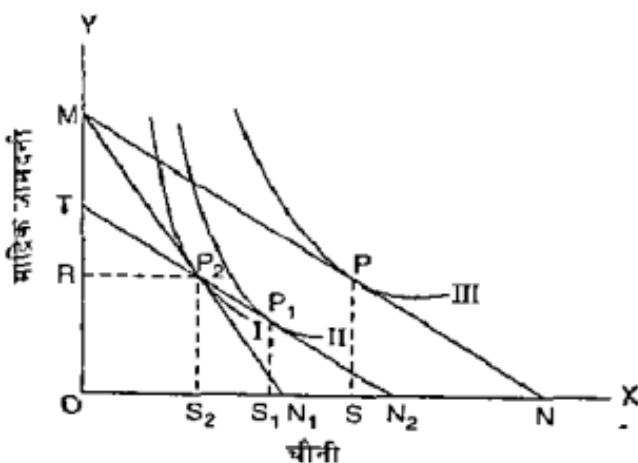
चित्र 5-प्रत्यक्ष कर की तुलना मे परोक्ष कर का अतिरिक्त भार

उपर्युक्त चित्र में OX अक्ष पर चीनी की मात्रा एव OY-अक्ष पर आय मापी गयी है। प्रारम्भिक कीमत रेखा MN है जिस पर P सन्तुलन बिन्दु पर उपभोक्ता चीनी की OS मात्रा का उपभोग करता है। अब चीनी पर उत्पादन कर लग जाने से इसकी

कीमत बढ जाती है और नयी कीमत रेखा MN_1 तटस्थता वक्र I को P_2 बिन्दु पर स्पर्श करती है जिससे उपभोक्ता को चीनी का उपभोग घटाकर OS_2 करना पडता है। मान लीजिए सरकार को कर से MT (MR की आधी) आय होती है। यदि सरकार इतनी ही आमदनी, अर्थात् MT आमदनी को आयकर लगाकर प्राप्त करती, तो उपभोक्ता की आय OM से घटकर OT हो जाती और वस्तु की कीमत के अपरिवर्तित होने पर नयी कीमत रेखा TN_2 होती। यह MN के समानान्तर होती है, और तटस्थता वक्र II को P_1 बिन्दु पर स्पर्श करती है जिससे उसे X-वस्तु की OS_1 मात्रा मिल पाती है।

इस प्रकार वस्तु कर लगाने से उपभोक्ता का तटस्थता वक्र I पर P_2 बिन्दु मिल पाता है, जबकि आयकर के लगान से उसे तटस्थता वक्र II पर P_1 बिन्दु मिलता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि **उपभोक्ता पर परोक्ष-कर (वस्तु-कर) का भार आयकर से अधिक पड़ता है।**

(3) **खाद्यान्नों पर सब्सिडी (food-subsidy) देने अथवा नकद-राशि देने का उपभोक्ताओं पर प्रभाव**—आजकल सरकारें जरूरतमद परिवारों को खाद्यान्न सस्ते भावों पर उपलब्ध करती हैं जिससे उन पर सब्सिडी का भार पडता है। मान लीजिए, सरकार गरीबों को बाजार भाव के आधे पर अनाज उपलब्ध कराती है। अब देखना यह है कि यदि सरकारें उनको नकद राशि देती और उपभोक्ता ऊंचे तटस्थता वक्र (जो खाद्य सब्सिडी मिलने पर प्राप्त होता) पर कायम रह पाते, तो सरकार पर वित्तीय भार किस दशा में ज्यादा पडता सब्सिडी की दशा में या नकद राशि देने की दशा में। यह नीचे चित्र 6 की सहायता से समझा जा सकता है कि खाद्य सब्सिडी में सरकार पर नकद राशि देने
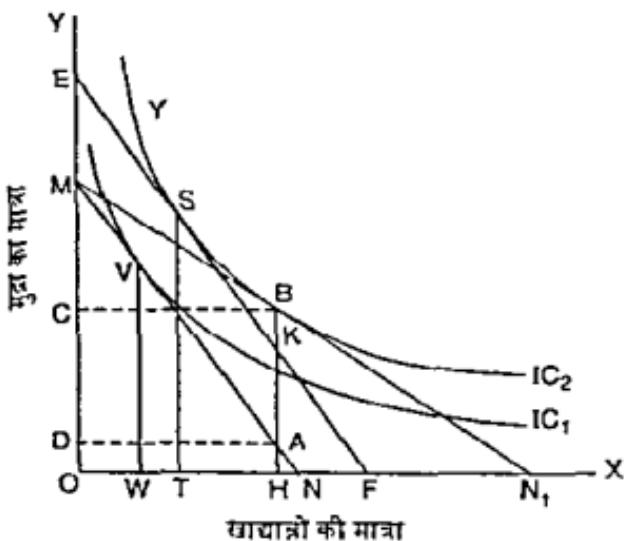
चित्र 6—खाद्यान्नों पर सब्सिडी व नकद राशि का उपभोक्ता पर तुलनात्मक प्रभाव

की बजाए ज्यादा वित्तीय भार पडता हालाकि निर्णय लेते समय सरकार को अन्य बातों पर भी विचार करना चाहिए।

स्पष्टीकरण—चित्र 6 में OX अक्ष पर खाद्यान्नों की मात्रा ली गयी है तथा OY अक्ष पर मुद्रा की मात्राएँ ली गयी हैं। कुल मुद्रा OM होती है जिससे खाद्यान्नों के शुरू के भावों पर ON खाद्यान्नों की मात्रा मिल पाती है जिससे कीमत रेखा MN होती है। यह IC_1 को V पर स्पर्श करती है जिससे OW खाद्यान्न मिल पाता है। खाद्यान्नों के भाव सब्सिडी के कारण आधे कर देने से नई कीमत रेखा MN_1 हो जाती है जिससे $ON = NN_1$ हो जाता है अर्थात् सारी मुद्रा खाद्यान्न पर खर्च करने से दुगुना खाद्यान्न मिल पाता है। उपभोक्ता IC_2 पर B बिन्दु पर खाद्यान्नों की OH मात्रा ले पाता है, जिसके लिए उसे MC मुद्रा देनी पडती है।

अब हम एक नई कीमत रेखा EF खींचते हैं, जो प्रारम्भिक कीमत रेखा MN के समानान्तर (parallel) होती है और यह IC_2 को S बिन्दु पर स्पर्श करती है। अत S व B बिन्दु एक ही तटस्थता वक्र पर होने के कारण समान सन्तोष की दशा सूचित करते हैं। यहाँ सरकार ने उपभोक्ताओं को ME नकद राशि प्रदान की है, लेकिन खाद्यान्नों की खरीद की मात्रा OT हो जाती है, जो सब्सिडी वाली स्थिति की मात्रा OH से कम होती है। ME = KA है। लेकिन सब्सिडी की लागत राशि AB है, जो नकद राशि ME = KA से अधिक है। अत सरकार द्वारा उपभोक्ता को ME नकद राशि कम मात्रा में देनी पडती है, फिर भी उसे ऊँची तटस्थता वक्र रेखा पर रहने का अवसर मिला जाता है। **अत नकद राशि देने से सरकार पर सब्सिडी देने की तुलना मे कम वित्तीय भार पड़ता है, लेकिन उपभोक्ता को ऊँचे तटस्थता वक्र पर जाने व उस पर बने रहने का अवसर मिल जाता है।**

ऐसी दशा में सरकार के दृष्टिकोण से नकद राशि देने से कम वित्तीय भार पडता है और उपभोक्ता के कुल सन्तोष में कमी भी नहीं आती। लेकिन निर्णय लेते समय हमें अन्य बातों पर भी विचार करना चाहिए जैसे—

(1) नकद राशि की दशा में खाद्यान्नों का उपभोग OH से घटकर OT ही रह जाता है। यदि सरकार खाद्यान्नों का उपभोग बढाकर अपना अतिरिक्त स्टॉक कम करना चाहे ता इस नीति से लाभ नही होगा।

(2) खाद्य सब्सिडी लोगों को खाद्यान्नों का उपभोग बढाने की प्रेरणा देती है। अत अन्तिम निर्णय लेते समय अन्य बातों पर भी पूरा ध्यान देना होगा।

(4) तटस्थता वक्र व वस्तु विनिमय (Indifference curves and barter)*— तटस्थता वक्रों की सहायता से दो पक्षों के बीच दो वस्तुओं से विनिमय से प्राप्त लाभों को दर्शाया जा सकता है। मान लीजिए, राम और श्याम के पास खाद्य पदार्थ व वस्त्र

* Eckert and Leftwich The Price System and Resource Allocation, 10th edition 1988 pp 162-63

की निश्चित मात्राएँ हैं और वे परस्पर इनका विनिमय करना चाहते हैं। इनके बाद विनिमय की प्रक्रिया चित्र 7 में दर्शायी गयी है

मान लीजिए, चित्र 7 में राम व श्याम के पास कुल मात्रा OC वस्त्र (मीटरों में) व OF खाद्य-पदार्थ (किलोग्राम में) है। श्याम का तटस्थता-मानचित्र 180 डिग्री घुमाकर राम के तटस्थता-मानचित्र पर इस तरह रख दिया जाता है कि श्याम का खाद्य पदार्थ-अक्ष राम के वस्त्र-अक्ष से C बिन्दु पर जुड़ जाता है और इसका वस्त्र-अक्ष राम के खाद्य पदार्थ-अक्ष से F बिन्दु पर मिल जाता है। राम व श्याम के तटस्थता-मानचित्र के बीच एक आयताकार (Rectangle) का निर्माण करते हैं। इसे सन्दूकनुमा-रेखाचित्र या चतुष्कोणी रेखाचित्र (Box Diagram) भी कहते हैं।
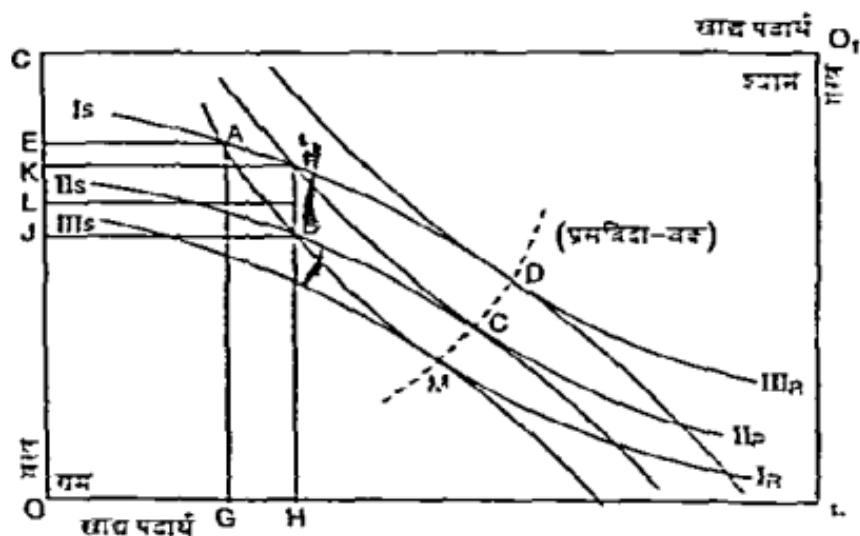
चित्र 7—विनिमय से लाभ चतुष्कोणी रेखाचित्र (Box Diagram)

चित्र में I_R, II_R व III_R राम के तीन तटस्थता-वक्र हैं, तथा I_S, II_S व III_S श्याम के तीन तटस्थता-वक्र हैं।

मान लीजिए, प्रारम्भ में राम के पास OG खाद्य पदार्थ व AG वस्त्र की मात्रा है और श्याम के पास AG खाद्य पदार्थ व CE वस्त्र की मात्रा है। GH खाद्य पदार्थ के लिए राम EJ वस्त्र देने को उद्यत होगा, जबकि श्याम GH खाद्य पदार्थ EK वस्त्र के बदले में ही देने को उद्यत हो जाएगा। इस प्रकार GH खाद्य पदार्थ के लिए राम ज्यादा वस्त्र देने को उद्यत होगा। मान लीजिए, दोनों EL वस्त्र की मात्रा पर GH खाद्य पदार्थ का विनिमय करने को राजी हो जाते हैं। ऐसा करने से दोनों व्यक्तियों को लाभ होता है, क्योंकि राम को JL वस्त्र का लाभ होता है और श्याम को KL वस्त्र का लाभ होता है। विनिमय के बाद वे B बिन्दु पर आ जाते हैं जो दोनों के लिए ऊँचे

में नहीं मिलती। यही कारण है कि मार्शल ने आय प्रभाव का विवेचन नहीं किया और फलस्वरूप उसने गिफेन-वस्तुओं मे ऋणात्मक आय-प्रभाव की भी चर्चा नहीं की। तटस्थता-वक्र विश्लेषण की सहायता से गिफेन-वस्तु मे कीमत के घटने पर माँग की मात्रा का घटना व कीमत के बढ़ने पर माँग की मात्रा का बढ़ना आसानी से समझाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में आवश्यक चित्र पिछले अध्याय में दिया जा चुका है।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात निर्विवाद रूप से स्पष्ट हो जाती है कि तटस्थता वक्र विश्लेषण ज्यादा वैज्ञानिक, ज्यादा व्यापक व ज्यादा उपयोगी होता है। लेकिन इस विश्लेषण की भी आलोचना की गई है और इसमें कुछ कमियाँ भी बतलायी गयी हैं। इनका उल्लेख नीचे किया जाता है।

तटस्थता-वक्र-विश्लेषण की कमियाँ या सीमाएँ

(Shortcomings or limitations of Indifference Curve Analysis)

(1) उपयोगिता विश्लेषण और तटस्थता वक्र विश्लेषण के निष्कर्ष एक-से होते हैं। कुछ लेखकों का मत है कि तटस्थता वक्र-विश्लेषण उन्हीं निष्कर्षों की पुष्टि करता है जो मूलतया उपयोगिता विश्लेषण के माध्यम से निकाले गए हैं। इस प्रकार यह कोई नई बात नहीं कहता है। अर्थशास्त्रियों का मत है कि उपभोक्ता सन्तुलन (उपयोगिता अधिकतमकरण) की तटस्थता वक्रों वाली शर्तों को उपयोगिता की भाषा में भी परिवर्तित किया जा सकता है। यह नीचे स्पष्ट किया जाता है—

तटस्थता वक्रों की विधि के अनुसार उपभोक्ता के सन्तुलन की शर्त—

$$MRS_{xy} - \frac{P_x}{P_y} \text{ होती है} \quad \text{(निशान ऋणात्मक)}$$

(अर्थात्, y के लिए x के प्रतिस्थापन की सीमान्त दर x व y वस्तुओं की कीमतों के अनुपात म होती है)।

उपयोगिता विश्लेषण के अनुसार उपभोक्ता सन्तुलन की शर्त—

$$\frac{MU_x}{P_x} = \frac{MU_y}{P_y}$$

अथवा $$\frac{MU_x}{MU_y} = \frac{P_x}{P_y} \text{ होती है।}$$

तटस्थता वक्र के किसी भी बिन्दु पर MRS_{xy} तटस्थता वक्र के ढाल को प्रकट करता है। यह Y की उस मात्रा का दर्शाता है जिसे उपभोक्ता X की एक अतिरिक्त इकाई का प्राप्त करने के लिए देने को उद्यत होता है। उपयोगिता सिद्धान्त की भाषा में Y क त्याग से उपयोगिता की हानि X की एक इकाई से प्राप्त उपयोगिता के लाभ से पूरी हो जाती है।

Y की त्याग की जाने वाली मात्रा ΔY तथा X की प्राप्त की जाने वाली मात्रा को ΔX से सूचित करने पर उपभोक्ता के सन्तुलन के लिए–

$$MU_y \times \Delta Y = MU_x \times \Delta X$$

(जहाँ MU_x व MU_y क्रमश: X व Y वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताएँ हैं।)

अथवा $$\frac{\Delta Y}{\Delta X} = \frac{MU_x}{MU_y}$$

तटस्थता वक्र के किसी भी बिन्दु पर $MRS_{xy} = \frac{MU_x}{MU_y}$,

उपभोक्ता के सन्तुलन के लिए $MRS_{xy} = P_x/P_y$ होती है।

अत: $$\frac{MU_x}{MU_y} = \frac{P_x}{P_y}$$ होगा,

अथवा $$\frac{MU_x}{P_x} = \frac{MU_y}{P_y}$$ होगा।

अत: दोनों विश्लेषण हमें यही बतलाते हैं कि दो वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताएँ उनके मूल्यों के अनुपात में होती हैं। उपभोक्ता सन्तुलन के इस संयोग पर एक रुपए के व्यय से X से जो सीमान्त उपयोगिता मिलती है वह एक रुपए के व्यय से Y से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता के बराबर होती है। इस प्रकार नवीन विश्लेषण पुरानी बात को दूसरे ढंग से व्यक्त करता है।

(2) आलोचकों का मत है कि यह विश्लेषण दो से अधिक वस्तुओं में काफी जटिल हो जाता है। आगे चलकर बीजगणित का उपयोग करना पड़ता है जो बहुत कठिन होता है।

(3) उपभोक्ता दो वस्तुओं के सम्पूर्ण अधिमान मान को नहीं बतला सकता। इसलिए यह विश्लेषण भी व्यवहार में अवास्तविक बन जाता है। एक तटस्थता वक्र के विभिन्न संयोगों में भी प्राय: कुछ संयोग वास्तविक न लगकर काल्पनिक सरीखे ही लगते हैं जिससे इस विश्लेषण का महत्त्व भी कम हो जाता है।

(4) तटस्थता वक्र विश्लेषण एक व्यक्तिगत उपभोक्ता के व्यवहार में तो लागू किया जा सकता है, लेकिन समस्त समाज के लिए इसका उपयोग करना कठिन हो जाता है। अत: यह विशेषतया व्यष्टि अर्थशास्त्र में ही विश्लेषण के अस्त्र (tool of analysis) के रूप में काम करता है।

(5) उपयोगिता विश्लेषण में माँग वक्रों का निर्माण करके अनुसंधान आदि सम्भव हो सकते हैं, लेकिन तटस्थता वक्रों के आधार पर प्रयोग व अनुसंधान करने में काफी कठिनाई होती है।

इस प्रकार तटस्थता वक्र-विश्लेषण के जटिल होने से मार्शल ने इसके उपयोग का समर्थन नहीं किया था। लेकिन आधुनिक अर्थशास्त्र में तटस्थता वक्र विश्लेषण की

वैज्ञानिकता को स्वीकार किया गया है। इसमें कमियाँ हो सकती हैं, लेकिन उनका कारण मुख्यत उपभोक्ता के व्यवहार के अध्ययन में निहित मूलभूत कठिनाइयाँ ही हैं। उपभोक्ता के सन्तोष से सम्बन्धित कोई भी अध्ययन काल्पनिक व भावमूलक अधिक होता है। उसमें मापनीयता की कठिनाइयाँ होती हैं। वस्तु की अविभाज्यता के कारण भी समस्याएँ उत्पन्न हो जाती है। इन कठिनाइयों को मान लेने पर भी यह कहा जा सकता है कि तटस्थता-वक्र-विश्लेषण निश्चित रूप से उपयोगिता विश्लेषण की तुलना मे अधिक वैज्ञानिक, अधिक सुनिश्चित व अधिक व्यापक माना जाता है। उपयोगिता-विश्लेषण के पीछे मान्यताएँ ज्यादा व निष्कर्ष कम होते है, जबकि तटस्थता-वक्र-विश्लेषण के पीछे मान्यताएँ अपेक्षाकृत कम व निष्कर्ष अधिक होते है। यही कारण है कि तटस्थता-वक्र-विश्लेषण उपयोगिता-विश्लेषण से बेहतर माना गया है।

प्रश्न—नीचे x व y वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताएँ दी हुई हैं—

$MU_x = 40 - 5x$ (MU_x = x की सीमान्त उपयोगिता)

$MU_y = 20 - 3y$ (MU_y = y की सीमान्त उपयोगिता)

x = 3 और y = 5 पर प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRS_{xy}) ज्ञात कीजिए तथा यह बताइए कि $P_x = 5$ रु. व $P_y = 1$ रु. होने पर उपभोक्ता सन्तुलन की दशा प्राप्त कर पाएगा या नही।

उत्तर—प्रतिस्थापन की सीमान्त दर,

$$MRS_{xy} = \frac{MU_x}{MU_y}$$

$$= \frac{40-(5\times 3)}{20-(3\times 5)} \text{ (x व y के मूल्य प्रतिस्थापित करने पर)}$$

$$= \frac{40-15}{20-15} = \frac{25}{5} = 5$$

$$MRS_{xy} = \frac{P_x}{P_y} = \frac{5}{1} = 5$$

चूँकि $\frac{MU_x}{MU_y} = \frac{P_x}{P_y}$ है इसलिए यह उपभोक्ता के सन्तुलन की स्थिति होती है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. उपभोक्ताओं को खाद्य सब्सिडी देना ठीक रहेगा या उनको नकद राशि के रूप में सहायता देना। तटस्थता वक्र विश्लेषण से क्या निष्कर्ष सामने आता है?

   (अ) खाद्य सब्सिडी ज्यादा लाभकारी

   (ब) नकद राशि ज्यादा लाभकारी

(v) गिफेन का विरोधाभास (Giffen paradox)

6 'तटस्थता वक्र विश्लेषण उपयोगिता विश्लेषण की तुलना में ज्यादा वैज्ञानिक व ज्यादा उपयोगी होता है'। क्या आप इस कथन से सहमत हैं विवेचना कीजिए।

7 एक एन्जिल वक्र के विभिन्न बिन्दुओं पर माँग की विभिन्न आय लोचों की स्थिति में वस्तु की प्रकृति बताइए।

(i) $e_{Y_f} > 0$ होने पर

(ii) $e_{Y_f} < 0$ होने पर

(iii) e_{Y_f} के 0 से 1 के बीच होने पर

(iv) $e_{Y_f} > 1$ होने पर यहा e_{Y_f} = माँग की आय लोच की द्योतक है।

$$e_{Y_f} = \frac{\text{माँग का प्रतिशत परिवर्तन}}{\text{आय का प्रतिशत परिवर्तन}}$$ सूत्र लगाने पर।

[उत्तर—संकेत—(i) सामान्य वस्तु (normal good)

(ii) घटिया वस्तु (*inferior good*)

(iii) अनिवार्य वस्तु (necessity)

(iv) विलासिता की वस्तु (luxury)]

□ □ □

परिशिष्ट

क्षतिपूरित माँग वक्र

(Compensated Demand Curve)

आर्थिक विश्लेषण में प्रायः साधारण माँग वक्र (ordinary demand curve) व क्षतिपूरित माँग वक्र (compensated demand curve) में भेद किया जाता है। हम पहले अध्याय 5 में कीमत-यंत्र की भूमिका के अध्याय में साधारण माँग-वक्र का विस्तृत विवेचन कर चुके हैं। साधारण माँग फलन में माँग को प्रभावित करने वाले अन्य तत्वों, जैसे उपभोक्ता की आमदनी, अन्य वस्तुओं की कीमतें, आमदनी के वितरण, उपभोक्ता की रुचि अरुचि, जनसंख्या का आकार, मौसम, आदि को स्थिर मान कर केवल उस वस्तु की कीमत के परिवर्तन का प्रभाव उसकी माँग की मात्रा पर देखा जाता है। ऐसी स्थिति में कीमत के घटने से उस वस्तु की माँग की मात्रा बढ़ती है और कीमत के बढ़ने पर वस्तु की माँग की मात्रा घटती है। अन्य कारकों या तत्वों के बदल जाने पर कीमत के परिवर्तन का प्रभाव माँग की मात्रा पर बतलाना कठिन हो जाता है। साधारण माँग-वक्र नीचे दाहिनी ओर झुकता है। यह प्रवृत्ति प्रतिस्थापन प्रभाव (substitution effect) व आय प्रभाव (income effect) के कारण होती है। एक वस्तु की कीमत के घटने पर, अन्य वस्तुओं की कीमतों के समान रहने पर, वह वस्तु अन्य वस्तुओं की तुलना में सस्ती हो जाती है जिससे उपभोक्ता अन्य वस्तुओं के स्थान पर कुछ सीमा तक इसका प्रतिस्थापन करने लगते हैं। यह प्रतिस्थापन प्रभाव होता है। लेकिन दूसरी तरफ एक वस्तु की कीमत के घटने पर उपभोक्ता की वास्तविक आय (real income) बढ़ जाती है जिससे वह उस वस्तु की व अन्य वस्तुओं की अधिक मात्रा खरीदने की स्थिति में आ जाता है। यह आय प्रभाव होता है। सामान्य वस्तुओं (normal goods) में आय प्रभाव व प्रतिस्थापन प्रभाव एक ही दिशा में काम करते हैं। अतः कीमत में घटने पर एक सामान्य वस्तु की माँग की मात्रा में वृद्धि होती है।

घटिया वस्तुओं (inferior goods) में आय प्रभाव ऋणात्मक (negative) होता है, और प्रतिस्थापन प्रभाव धनात्मक (positive) होता है। जब आय प्रभाव प्रतिस्थापन प्रभाव से अधिक प्रबल होता है तो वह घटिया वस्तु 'गिफिन वस्तु' कहलाती है और उसमें कीमत के घटने से माँग की मात्रा बढ़ने की बजाय घट जाती है। लेकिन जब घटिया वस्तु में भी धनात्मक प्रतिस्थापन प्रभाव ऋणात्मक आय प्रभाव से अधिक प्रबल होता है, तो उस वस्तु की कीमत के घटने पर वस्तु की माँग की मात्रा अधिक ही होगी। कहने का आशय यह है कि साधारण माँग वक्र दाहिनी ओर नीचे की तरफ ही झुकता है। केवल गिफिन वस्तु ही इसका सच्चा अपवाद होता है, उसी स्थिति में कीमत के घटने पर वस्तु की माँग की मात्रा में कमी आती है।

क्षतिपूरित माँग वक्र (compensated demand curve)

क्षतिपूरित माँग वक्र में उपयोगिता को स्थिर रखा जाता है (utility is held constant)। इस किस्म का माँग वक्र (Hicksian demand curve) भी कहते हैं। इसमें जब एक वस्तु की कीमत में परिवर्तन होते हैं तो उपभोक्ता की आमदनी में इस प्रकार के परिवर्तन कर दिये जाते हैं कि वह अपना उपयोगिता को स्थिर रख पाता है। उदाहरण के लिए जब एक वस्तु की कीमत बढ जाती है तो उसकी आमदनी इतनी बढा दी जाती है कि वह वस्तु की पूर्ववत मात्रा खरीद पाता है। इसी प्रकार जब एक वस्तु की कीमत घट जाती है तो उसकी आमदनी इतनी घटा दी जाती है कि वह वस्तु की पूर्ववत मात्रा ही खरीद पाता है। इस प्रकार साधारण माँग वक्र में आमदनी स्थिर रहती है जिससे वस्तु की कीमत के बढने पर उसकी माँग की मात्रा में कमी आती है। लेकिन क्षतिपूरित माँग वक्र में उपयोगिता स्थिर रहती है जिसमें कीमत के बढने पर उसके अनुरूप आमदनी को बढा कर उपभोक्ता को समान उपयोगिता के स्तर पर रहने का अवसर दिया जाता है। इस प्रकार क्षतिपूरित माँग की स्थिति में कीमत के परिवर्तनों की दशा में उपभोक्ता की 'क्षतिपूर्ति' की जाती है।[1]

क्षतिपूरित माँग-वक्र का चित्र द्वारा स्पष्टीकरण[2]
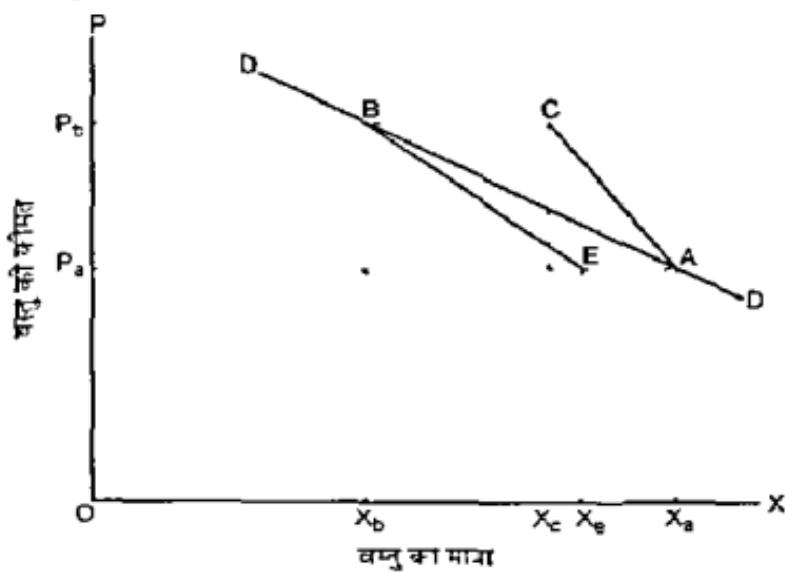
चित्र 1—क्षतिपूरित माँग वक्र का निरूपण

---

1 Hence the Cunsumer is Compensated for the price changes and his utility is the same at every point on the Hicksian demand curve —Hal R. Varian Intermediate Microeconomics A Modern Approach, Fifth edition 1999 p 154

2 William J Baumol Economic Theory And Operations Analysis Fourth edition 1977 Indian reprint August 1999 p 214

स्पष्टीकरण—यहाँ DD साधारण माँग वक्र या अक्षतिपूरित माँग वक्र (ordinary or uncompensated demand curve) है। चित्र मे प्रारम्भिक सन्तुलन P_aX_a होता है जो DD साधारण माँग वक्र पर A बिन्दु पर दर्शाया गया है। अब हम वैकल्पिक कीमत P_b लेते हैं जिस पर बिना क्षतिपूर्ति के उसकी खरीद घट कर X_b हो जाती है। *लेकिन उसकी क्रयशक्ति के नुकसान की पूर्ति के लिए उसे अधिक आमदनी दी जाती* है जिससे उसकी खरीद X_a से घट कर X_b पर आने की बजाय X_c पर आ जाती है। इस प्रकार A बिन्दु से प्रारम्भ होकर AC क्षतिपूरित माँग वक्र हो जाता है। अत कीमत के बढने पर क्षतिपूरित माँग वक्र साधारण माँग वक्र के दायीं ओर आयेगा (केवल प्रारम्भिक बिन्दु के अलावा)। लेकिन यहा पर वस्तु घटिया किस्म की नही होनी चाहिए।

इसी प्रकार कीमत घटने की स्थिति म क्षतिपूरित माँग वक्र (BE) साधारण माँग वक्र के बायीं ओर आयेगा। कीमत के घटने पर क्षतिपूर्ति के अभाव मे, उपभोक्ता की वास्तविक आमदनी में वृद्धि होगी। इस लाभ का समाप्त करने के लिए उपभोक्ता की आमदनी पर्याप्त मात्रा मे घटायी जायेगी और उपभोक्ता की खरीद की मात्रा कीमत के P_b से घट कर P_a पर आने पर ऋणात्मक क्षतिपूर्ति के कारण X_b स X_e तक ही बढ पायेगी। (जब कि साधारण माँग वक्र पर यह X_a तक बढती)। इस प्रकार क्षतिपूरित माँग वक्र के निर्माण के सम्बन्ध में निम्न कदम उठाये जाते है—

(i) हम किसी प्रारम्भिक कीमत मात्रा के सयोग से प्रारम्भ करते हैं, जैसे चित्र 1 मे P_a कीमत व X_a माग की मात्रा से प्रारम्भ किया गया है।

(ii) हम कोई वैकल्पिक कीमत ले लेते है जो प्रारम्भिक कीमत से ऊँची होती है जैसे चित्र 1 मे P_b ली गयी है।

(iii) उपभोक्ता की आमदनी समयोजित की जाती है, ताकि उसकी वास्तविक क्रयशक्ति प्रारम्भ की तरह रह जाती है। यदि कीमत बढायी जाती है, तो उपभोक्ता की आमदनी मे इतनी वृद्धि होनी चाहिए कि वह प्रारम्भिक वस्तु सयोग खरीद सके (यदि वह ऐसा करना चाहे तो)।

(iv) अब आय प्रभाव के लिए की गई क्षतिपूर्ति के बाद कीमत परिवर्तन का प्रभाव उसकी खरीद पर देखना होगा (चरण iii)।

क्षतिपूरित माँग-वक्र उच्चस्तरीय पाठ्यक्रम मे बहुत लाभदायक माना गया है, **विशेषतया लाभ-लागत विश्लेषण मे।** किसी भी नीतिगत परिवर्तन की लागत का अनुमान लगाने मे इससे काफी मदद मिलती है। **लेकिन क्षतिपूरित माँग-फलनो का अनुमान लगाने के लिए कुछ गणितीय विधियो का प्रयोग करना भी आवश्यक होता है, जिनकी चर्चा ज्यादातर उच्चस्तरीय अध्ययन मे की जाती है।**

हम नीचे आंशिक अवकलजो की सहायता से लेग्रेन्जियन विधि का प्रयोग करके उपयोगिता फलन से क्षतिपूरित माँग फलन निकालने का उदाहरण देते हैं **जिसका उपयोग विशेषतया आंशिक अवकलजो की जानकारी रखने वाले पाठक कर सकते है।***

मान लीजिये उपयोगिता फलन $U = q_1 q_2$ है।

यहाँ प्रतिबन्ध उपयोगिता स्थिर रहनी है।

अत $U^o - q_1 q_2 = 0$ होगा, कुल व्यय $= p_1 q_1 + p_2 q_2$ होगा जहाँ p_1 प्रथम वस्तु की कीमत, q_1 इसकी मात्रा तथा p_2 दूसरी वस्तु की कीमत तथा q_2 इसकी मात्रा के सूचक हैं।

लेग्रेन्जियन फलन—

$Z = p_1 q_1 + p_2 q_2 + \lambda (U^o - q_1 q_2)$ होगा।

$$\frac{\partial Z}{\partial q_1} = p_1 - \lambda q_2 = 0 \quad (1)$$

$$\frac{\partial Z}{\partial q_2} = p_2 - \lambda q_1 = 0 \quad (2)$$

$$\frac{\partial Z}{\partial \lambda} = U^o - q_1 q_2 = 0 \quad (3)$$

समीकरण (1) व (2) से $\frac{q_2}{q_1} = \frac{p_1}{p_2}$, अत $p_1 q_1 = p_2 q_2$ होगा (तिरछा गुणा करने पर)

$$q_1 = \frac{p_2 q_2}{p_1} \quad (4)$$

समीकरण (3) से $q_2 = \frac{U^o}{q_1}$ इसे समीकरण (4) में प्रतिस्थापित करने पर

$$q_1 = \frac{p_2}{p_1} \times \frac{U^o}{q_1}$$

दोनों तरफ q_1 से गुणा करने पर,

अथवा $q_1^2 = \dfrac{U^o p_2}{p_1}$

---

* प्रथम रीडिंग में इसे छोड़ा जा सकता है।

$$q_1 = \sqrt{\frac{U^o p_2}{p_1}}$$ (वर्गमूल लेने पर)

(q_1 का क्षतिपूरित माँग-फलन)

पुनः समीकरण (3) से $q_1 = \frac{U^o}{q_2}$

अथवा $\frac{p_2 q_2}{p_1} = \frac{U^o}{q_2}$ (समीकरण (4) का प्रयोग करके)

$$q_2^2 = \frac{U^o p_1}{p_2}$$ (हल करने पर) (तिरछा गुणा करने पर)

$$q_2 = \sqrt{\frac{U^o p_1}{p_2}}$$ होगा। (वर्गमूल लेने पर)

(q_2 का क्षतिपूरित माँग-फलन)

अतः क्षतिपूरित माँग-फलन—

$$q_1 = \sqrt{\frac{U^o p_2}{p_1}}$$

तथा $q_2 = \sqrt{\frac{U^o p_1}{p_2}}$ होगा।

ये माँग-फलन कीमतों के सन्दर्भ में शून्य डिग्री के समरूप होंगे।

प्रश्न

1. क्षतिपूरित माँग-वक्र से आप क्या समझते हैं। इसकी व्याख्या चित्र सहित समझाइये।
2. साधारण माँग-वक्र की मान्यता छाँटिए—
   (अ) इसमें आमदनी स्थिर मानी जाती है
   (ब) इसमें उपयोगिता स्थिर मानी जाती है
   (स) इसमें एक वस्तु की कीमत स्थिर मानी जाती है। (अ)

3 *क्षतिपूरित माँग वक्र में किसको स्थिर माना जाता है?*

(अ) उपयोगिता को

(ब) आमदनी को

(स) कीमत को (अ)

4 *साधारण माँग वक्र व क्षतिपूरित माँग वक्र में मुख्य अन्तर क्या होता है?*

उत्तर—साधारण माँग वक्र म एक वस्तु की कीमत में परिवर्तन का प्रभाव अन्य बातें के यथास्थिर रहने पर (जैसे आमदनी, आमदनी के वितरण, अन्य वस्तुओं की कीमतें, रुचि-अरुचि, जनसख्या, मौसम, आदि) उसकी माँग की मात्रा पर देखा जाता है।

क्षतिपूरित माँग वक्र मे उपयोगिता को स्थिर रख कर कीमत के परिवर्तन से वास्तविक आय के परिवर्तनों के लिए क्षतिपूर्ति के उपाय अपना कर उपभोक्ता को पहले वाली उपयोगिता का स्तर कायम रखने का अवसर दिया जाता है।

5 जब एक वस्तु की कीमत बढती है तो क्षतिपूरित माँग-वक्र की स्थिति में एक *उपभोक्ता की आमदनी के लिए क्या किया जायेगा?*

(अ) यह यथास्थिर रखी जायेगी

(ब) यह बढायी जायगी वास्तविक आय की क्षतिपूर्ति के लिए

(स) यह घटायी जायगी

(द) कोई भी नहीं। (ब)

□□□

सारणी 1

बिन्दु	कीमत (P)	माँग की मात्रा (X)
A	5	8
B	4	10

हम पहले माँग की लोच का सूत्र दे चुके है—

$$e = \frac{\Delta X}{X} \div \frac{\Delta P}{P}$$

उपर्युक्त दृष्टान्त मे इस सूत्र को लागू करने से निम्न तीन तरह के परिणाम निकल सकते है—

पहली स्थिति—जब हम गणना करते समय A से प्रारम्भ करके B पर जाते हैं तो माँग की लोच,

$$e = \frac{2/8}{-1/5} = -\frac{2}{8} \times \frac{5}{1} = -\frac{10}{8} = -1.25 \text{ होगी।}$$

दूसरी स्थिति—जब हम B मे प्रारम्भ करके A पर जाते हैं तो

$$e = \frac{-2/10}{1/4} = -\frac{2}{10} \times \frac{4}{1} = -\frac{8}{10} = -0.8 \text{ होगी।}$$

पहली स्थिति व दूसरी स्थिति मे प्राप्त माँग की लोच के अन्तर को कम करने के लिए हमे कीमत का परिवर्तन और भी कम करना होगा, अर्थात B बिन्दु को A बिन्दु के अधिक समीप होना होगा।

तीसरी स्थिति—यदि हम माँग की लोच की माप के लिए माँग व कीमत दोनों को उनकी नीचे की राशि से प्रारम्भ करें तो—

$$e = \frac{2/8}{-1/4} = -\frac{2}{8} \times \frac{4}{1} = -\frac{8}{8} = -1$$

ध्यान रहे कि तीसरी स्थिति में लोच का गुणाक (coefficient of elasticity) –1 है जो पहली स्थिति में गुणाक (-1.25) और दूसरी स्थिति के गुणाक (-0.8) के बीच में आता है। अत अधिकाश लेखक लोच की माप मे इसी का समर्थन करते हैं।* फर्गुसन व गूल्ड ने भी माँग की लोच को मापने के इसी सूत्र का समर्थन किया है। उनके शब्दों मे, 'जब कीमत व मात्रा के परिवर्तन 'अल्प' (Small) नही होते, तब लोच के सूत्र मे प्रयुक्त किया जाने वाला कीमत का अक दोनो कीमतो मे से नीचे वाला

---

* Eckert and Leftwich The Price System and Resource Allocation 10th ed 1988 pp 58 59 आर्क-लोच का एक दूसरा सूत्र भी प्रयुक्त होता है जो निम्नांकित है—

$$e = \frac{x - x_1}{x + x_1} \div \frac{p - p_1}{p + p_1} = \frac{x - x_1}{p - p_1} \cdot \frac{p + p_1}{x + x_1}$$

(जारी)

$$e = 1 - \Delta E / X \Delta P$$

इसमें ΔE कुल व्यय में परिवर्तन या सुधार है X माँग की प्रारम्भिक मात्रा या तथा ΔP कीमत के परिवर्तन या।

हम लिभारती के सूत्र का प्रयोग निम्न दृष्टान्त की सहायता से दर्शाते हैं—

सारणी 2

कीमत रुपयों में (P)	माँग की मात्रा (इकाइयों में) (X)	कुल व्यय (रुपयों में) (E)	कुल व्यय का परिवर्तन (ΔE)
5	8	$5 \times 8 = 40$	
4	स्थिति (i) 10 (ii) 9 (iii) 11	स्थिति (i) $4 \times 10 = 40$ (ii) $4 \times 9 = 36$ (iii) $4 \times 11 = 44$	(i) $= 0$ (ii) $= -4$ (iii) $= 4$

यहाँ कीमत के 5 रु से 4 रु हो जाने से माँग की मात्रा प्रथम स्थिति में 8 से 10, द्वितीय स्थिति में 8 से 9 एवं तृतीय स्थिति में 8 से 11 हो जाती है और प्रत्येक स्थिति में कुल व्यय उपर्युक्त सारणी में दर्शाया गया है।

लिभारती के सूत्र का उपयोग करने पर प्रथम स्थिति में $\Delta E = (40 - 40) = 0$ द्वितीय स्थिति में $\Delta E = (36 - 40) = -4$ रु एवं तृतीय स्थिति में $\Delta E = (44 - 40) = 4$ रुपए होगा और उसके अनुसार लोचें निम्नांकित होंगी—

(i) $e = 1 - \frac{0}{8 \times (-1)} = 1$

(ii) $e = 1 - \frac{-4}{8 \times (-1)} = 1 - \frac{1}{2} = 0.5$ जो एक से कम है (<1)

(iii) $e = 1 - \frac{4}{8 \times (-1)} = 1 + \frac{1}{2} = 1.5$ जो एक से अधिक है (>1)

लिभारती के सूत्र को ज्यादा सही माना गया है और इसे आर्क-लोच के माप में प्रयुक्त किया जा सकता है।

माँग की बिन्दु लोच (point Elasticity of Demand)—माँग वक्र के एक बिन्दु पर लोच का पता लगाना अपेक्षाकृत अधिक कठिन होता है। इसमें डिफरेंशियल केल्क्यूलस (differential calculus) अथवा चलन कलन की गणित का उपयोग किया जाता है जो प्रारम्भिक विद्यार्थियों के स्तर से थोड़ा ऊँचा होता है। लेकिन उसके बिना बिन्दु लोच की सही जानकारी भी नहीं हो पाती। हम यहाँ पर बिन्दु लोच के सम्बन्ध में पहले ज्यामितीय विधि का उपयोग करेंगे और फिर सरल रूप में डिफरेंशियल केल्क्यूलस की सहायता से इसे स्पष्ट करेंगे।

डिफरेंशियल केल्क्यूलस की सहायता से बिन्दु-लोच का माप*—पहले कहा जा चुका है कि बिन्दु लोच का माप डिफरेंशियल केल्क्यूलस की विधि से बहुत सुगम हो जाता है।

इसका सूत्र निम्नांकित होता है $e = \frac{dx}{dp} \cdot \frac{P}{x}$ (यहाँ $\frac{dx}{dp} = \lim_{\Delta p \to 0} \frac{\Delta x}{\Delta p}$, अर्थात् Δp के शून्य की ओर जाने पर $\frac{\Delta x}{\Delta p}$ की सीमा (limit) बराबर होती है $\frac{dx}{dp}$ के)

सूत्र का प्रयोग—

पहला उदाहरण—मान लीजिए माँग की मात्रा (x) व कीमत (p) का सम्बन्ध इस प्रकार होता है $x = 500 - 5p$ और हमें $p = 50$ रु पर माँग की लोच का पता लगाना है तो $\frac{dx}{dp} = -5$ होगा, (स्थिर राशि अवकलन शून्य होता है) और यहाँ $\frac{p}{x} = \frac{50}{250}$ होगा ($x = 500 - 5p$ में $p = 50$ रखने पर $x = 250$ होगा) जिससे $e = -5 \times \frac{50}{250} = -1$ होगी।

दूसरा उदाहरण—माँग फलन $x = 180 - 3p =$ है $p = 20$ पर माँग की लोच निकालिए—

$p = 20$ रखने पर $x = 180 - 60 = 120$ होगा।

यहाँ $\frac{dx}{dp} = -3$ तथा $\frac{p}{x} = \frac{20}{120} = \frac{1}{6}$ है,

$e = \frac{dx}{dp} \cdot \frac{p}{x} = -3 \times \frac{1}{6} = -\frac{1}{2} = -0.5$ होगी।

इस प्रकार डिफरेंशियल केल्क्यूलस की आवश्यक गणित का सहारा लेकर माँग की बिन्दु लोच को ज्ञात किया जा सकता है। लेकिन इसके लिए माँग फलन (demand function) दिया हुआ होना चाहिए, और प्रारम्भ में 'पावर नियम' को लागू करने का अभ्यास अवश्य होना चाहिए।

---

* *dx/dp निकालने की विधि किसी भी डिफरेंशियल केल्क्यूलस की पुस्तक से समझी जा सकती है* इसका सरल परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है—

मान लीजिए, $x = p^n$ है तो $\frac{dx}{dp} = n p^{n-1}$ (पावर के नियम के अनुसार पहले पावर उतारो फिर p से गुणा करते समय पावर में 1 घटा दो। यदि $x = p^2$ हो तो $\frac{dx}{dp} = 2p^{2-1} = 2p$ होगा इसी प्रकार $x = -5p$ हो तो $\frac{dx}{dp} = -5 \times 1 \times p^{1-1} = -5p^0 = -5 \times 1 = -5$ होगा।

($\because p^0 = 1$ होता है)

जो विद्यार्थी डिफ्रेंशियल केल्क्यूलस का प्रयोग करने की स्थिति में न हों और यदि उनसे किसी माँग-वक्र के एक बिन्दु पर माँग की लोच निकालने के लिए कहा जाय तो उन्हें उस बिन्दु पर एक स्पर्श-रेखा (tangent) डालकर उसके द्वारा X-अक्ष व Y-अक्ष को काटना चाहिए। फिर सम्बन्धित बिन्दु से नीचे की ओर X-अक्ष तक की दूरी में उस बिन्दु से ऊपर की ओर Y-अक्ष तक की दूरी का भाग लेकर परिणाम ज्ञात कर लेना चाहिए। यही माँग की बिन्दु-लोच (point elasticity of demand) होगी। विद्यार्थियों को माँग की बिन्दु लोच निकालने की ज्यामितीय विधि (geometrical method) अवश्य आनी चाहिए।

माँग की लोच की विभिन्न श्रेणियाँ

माँग की लोच की प्राय पाँच श्रेणियों का उल्लेख किया जाता है—(1) पूर्णतया लोचदार ($e = \infty$), (2) लोचदार ($e > 1$), (3) इकाई के बराबर लोच ($e = 1$), (4) बेलोच ($e < 1$) और (5) शून्य लोच ($e = 0$)। इनका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है—

(1) पूर्णतया लोचदार (Perfectly elastic)—जब कीमत में तनिक सी वृद्धि से माँग शून्य हो जाती है तो माँग की लोच असीमित होती है। इसे पूर्णतया लोचदार माँग की स्थिति कहते हैं। पूर्ण प्रतिस्पर्धा में एक व्यक्तिगत फर्म के समक्ष उसके माल के लिए माँग-वक्र पूर्णतया लोचदार होता है। यह क्षैतिज (horizontal) होता है। यह स्थिति चित्र 3 में दिखाई गयी है।
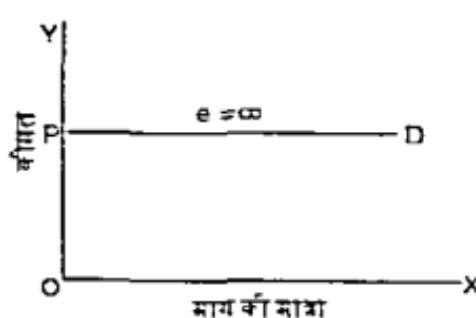
चित्र 3

यहाँ एक फर्म OP कीमत पर चाहे जितना माल बेच सकती है। कीमत के जरा भी बढ़ने से उस फर्म के माल की माँग पूर्णतया समाप्त हो जाती है। यहाँ कीमत को घटाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि प्रचलित कीमत पर एक फर्म के द्वारा चाहे जितना माल बेचा जा सकता है।

(2) लोचदार माँग (इकाई से अधिक) —जब माँग का आनुपातिक परिवर्तन कीमत के आनुपातिक परिवर्तन से अधिक होता है, तो माँग की लोच एक से अधिक होती है (e > 1)। ऐसा प्राय उन वस्तुओं में होता है जिनके स्थानापन्न पदार्थ (substitutes) होते हैं अथवा जिनके कई उपयोग (many uses) होते हैं। यदि माँग का प्रतिशत परिवर्तन 10 हो और कीमत का प्रतिशत परिवर्तन 5 हो तो माँग की लोच = $\frac{10\%}{5\%}$ = 2 होगी।

(3) माँग की लोच एक के बराबर—जब माँग का आनुपातिक परिवर्तन कीमत के आनुपातिक परिवर्तन के बराबर होता है तो लोच इकाई के बराबर (e = 1) होती है। यदि माँग-वक्र की सम्पूर्ण दूरी पर लोच एक के बराबर पायी जाती है तो ऐसे विशिष्ट माँग-वक्र को आयताकार हाइपरबोला (rectangular hyperbola) कहकर पुकारते है। यह निम्न चित्र से स्पष्ट हो जाएगा—
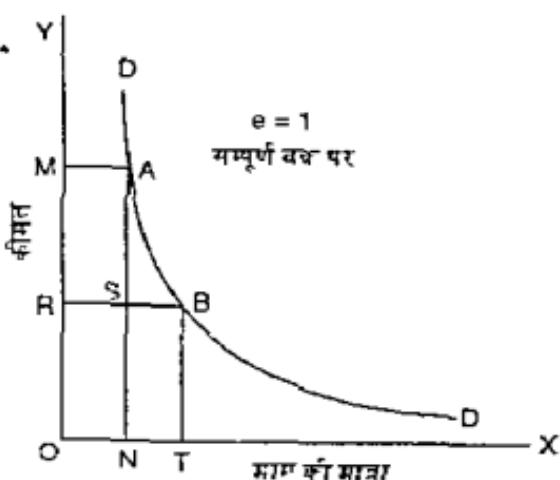
चित्र 4-माँग की लोच एक के बराबर (e = 1)
(unitary elasticity of demand)

उपर्युक्त चित्र में A विन्दु पर कुल (ON × AN) = OMAN है, जो B विन्दु पर कुल व्यय (OT × BT) = ORBT के बराबर है। इनमें ORSN कॉमन क्षेत्र है तथा RMAS = NSBT है। अत A और B के बीच माँग की लोच एक के बराबर होती है। अन्य विन्दुओं पर भी यही स्थिति होती है। अतः आयताकार हाइपरबोला वाले माग-वक्र पर सर्वत्र माँग की लोच एक के बराबर होती है।

सख्यात्मक उदाहरण—माँग की इकाई लोच का स्पष्टीकरण निम्न उदाहरण से हो जाता है। यहाँ सभी बिन्दुओं पर माँग की लोच = 1 होती है।

	कीमत (रु.)	माँग की मात्रा (इकाई)	कुल व्यय (रु.)
A	10	4	40
B	8	5	40
C	4	10	40 (e = 1 सर्वत्र)
D	2	20	40
E	1	40	40

(4) **बेलोच माँग (इकाई से कम)** —जब माँग का आनुपातिक परिवर्तन कीमत के आनुपातिक परिवर्तन से कम होता है, तो माँग बेलोच (e < 1) होती है। ऐसा प्राय अनिवार्य वस्तुओं में होता है। नमक की कीमत के घटने से माँग अनुपात से कम ही बढेगी अत नमक की माँग को बेलोच कहा जाता है। यदि माँग का परिवर्तन 10% व कीमत का 20% हो, तो e = 10%/20% = 1/2 = 0.5 होगी। इसके लिए चित्र 9 देखें।

(5) **पूर्णतया बेलोच माँग (Perfectly inelastic demand)**—जब कीमत के परिवर्तन से माँग पर कुछ भी प्रभाव नहीं पडता, तब उसे पूर्णतया बेलोच माँग कहा जाता है। यह चित्र 5 से स्पष्ट हो जाता है।

चित्र 5

कीमत के OP से OP_1 या OP_2 हो जाने पर भी माँग की मात्रा पहले जितनी ही बनी रहती है, अत यहाँ e = 0 है। यदि माँग का प्रतिशत परिवर्तन शून्य हो तो इसमें कीमत के कितने भी प्रतिशत परिवर्तन का भाग क्यों न दिया जाए, परिणाम e = 0 ही आयेगा।
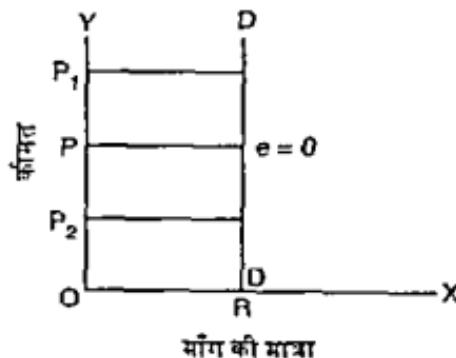
ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि साधारणतया एक माँग वक्र के विभिन्न बिन्दुओं पर माँग की लोच भिन्न भिन्न हुआ करती है। यह कहना गलत होगा कि एक ढालू (steep) वक्र पर माँग की लोच कम होती है और कम ढालू या चपटे

वक्र पर माँग की लोच अधिक होती है। माँग की लोच तो अलग अलग बिन्दुओं पर अलग अलग होती है। प्राय वक्र के ऊपरी भाग पर माँग की लोच निचले भाग की तुलना में अधिक हुआ करती है। यह चित्र 6 से स्पष्ट हो जाएगा।
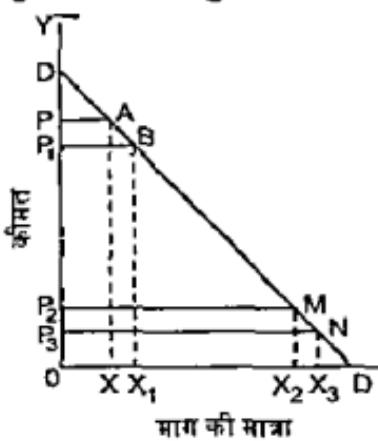
चित्र-6
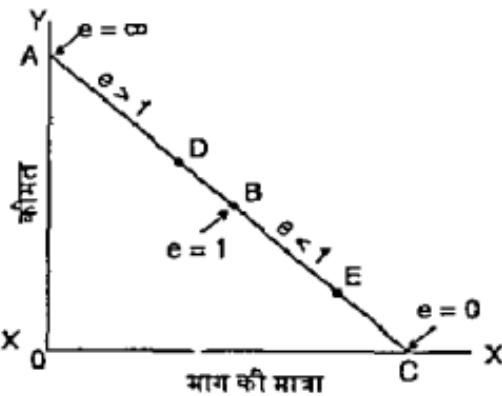
चित्र-7 (अ)

चित्र में DD माँग की एक सरल रेखा ली गई है। A से B तक की माँग की लोच अधिक होगी, क्योंकि यहाँ प्रारम्भिक माँग की मात्रा कम होने से माँग का प्रतिशत परिवर्तन अधिक आयेगा और प्रारम्भिक कीमत ऊँची होने से कीमत का प्रतिशत परिवर्तन कम आयेगा। M से N के बीच स्थिति उल्टी हो जाएगी। यहाँ कीमत का प्रतिशत परिवर्नन अधिक होगा, क्योंकि प्रारम्भिक कीमत कम है, और माँग का प्रतिशत परिवर्तन थोडा होगा, क्योंकि प्रारम्भिक माँग की मात्रा अधिक है। अत यहाँ माँग की लोच कम होगी।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि माँग की लोच विभिन्न बिन्दुओं पर अलग अलग होती है।

माँग की लोच की पाँचों स्थितियों को एक ही चित्र 7 पर दिखलाने से ये ज्यादा अच्छी तरह से समझ में आ जाती हैं।

यहाँ हमने माँग वक्र को एक सरल रेखा AC के रूप में दर्शाया है। इसके किसी भी बिन्दु पर माँग की लोच $= \frac{\text{बिन्दु का निचला अश}}{\text{बिन्दु के ऊपर का अश}}$ होगी।

अत A बिन्दु पर माँग की लोच $= \frac{AC}{0 \text{ (शून्य)}} = \infty$ होगी।

(किसी भी राशि में शून्य का भाग देने से ∞ राशि प्राप्त होती है।)

B पर $e = \frac{BC}{AB} = 1$ होगी। (BC = AB है।)

A से B के बीच में, जैसे D पर $e > 1$ (एक से अधिक)

B से C के बीच में जैसे E पर $e < 1$ (एक से कम) होगी

तथा अन्त में C बिन्दु पर $e = \frac{\text{शून्य (निचला भाग)}}{AC} = 0$ होगी।

(शून्य में किसी भी सख्या का भाग देने से शून्य ही प्राप्त होता है।)

इस प्रकार एक ही माँग की रेखा पर पाँचों प्रकार की लोचें प्रदर्शित की गई हैं। स्मरण रहे कि जहा माँग-रेखा OY-अक्ष को छूती है, जैसे A पर, वहाँ $e = \infty$ होगी, एव जहाँ माग रेखा OX-अक्ष को छूती है, जैसे C पर, वहाँ $e = 0$ होगी। ये दोनों माँग की लोच के दो छोर के मूल्य (*extreme values*) माने गए हैं।

दो समानान्तर माँग-रेखाओ पर एक ही कीमत पर माँग की लोच—उपर्युक्त विवेचन की सहायता से हम दो समानान्तर माँग-रेखाओं (two parallel demand lines) पर एक ही कीमत पर माँग की लोच का अध्ययन कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में निम्न चित्र का उपयोग किया जा सकता है—

चित्र 7 (आ) में DD_1 व D_2D_3 दो माँग की रेखाएँ हैं जो एक-दूसरे के समानान्तर खींची गई हैं। हमें OP कीमत पर दोनों माँग की रेखाओं पर माँग की लोचों का पता लगाना है।

DD_1 माँग-रेखा पर R बिन्दु पर माँग की लोच $= \frac{RD_1}{DR}$ या $\frac{PO}{DP}$ है। इसी प्रकार D_2D_3 माँग-रेखा के S बिन्दु पर माँग की लोच $= \frac{SD_3}{D_2S}$ अथवा $\frac{PO}{D_2P}$ है। चूँकि DP मात्रा D_2P मात्रा से कम है, इसलिए $\frac{PO}{DP} > \frac{PO}{D_2P}$ है। अत एक ही
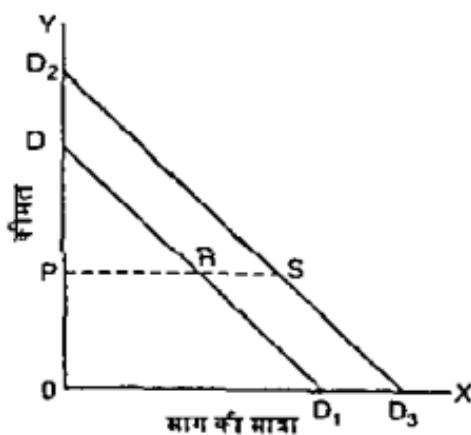
चित्र-7 (आ) दो समानान्तर माँग की रेखाओं पर एक ही कीमत पर लोच का माप

कीमत पर दोनों माँग रेखाओं पर माँग की लोच भिन्न भिन्न होंगी। इस प्रकार OP कीमत पर DD_1 रेखा पर माँग की लोच D_2D_3 रेखा की तुलना में अधिक होती है।

माँग की लोच व कुल व्यय (Elasticity of demand and total expenditure) – एक वस्तु पर किए गए कुल व्यय व उस वस्तु की माँग की लोच का सम्बन्ध याद रखना चाहिए। यदि वस्तु की कीमत के घटने से कुल व्यय बढता है, तो $e > 1$, यदि कुल व्यय स्थिर रहता है तो $e = 1$ और यदि कुल व्यय घटता है तो $e < 1$ होगी। इसके विपरीत, यदि वस्तु की कीमत के बढने से कुल व्यय बढता है तो $e < 1$, यदि कुल व्यय स्थिर रहता है तो $e = 1$ और यदि कुल व्यय घटता है तो $e > 1$ होगी।
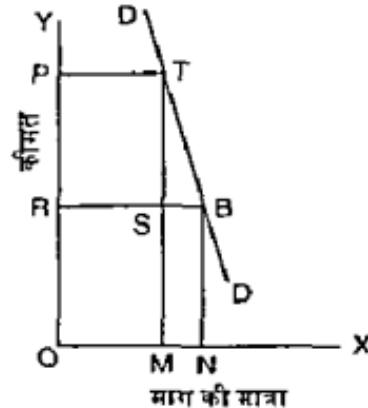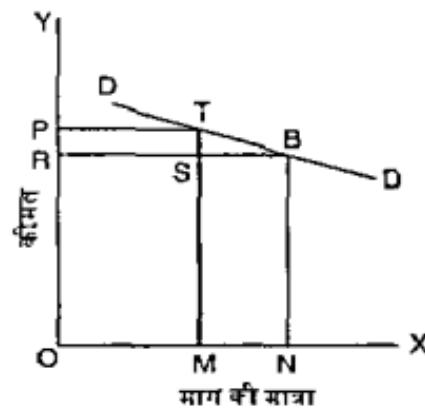
चित्र 8 कीमत के घटने से कुल व्यय के बढने पर $e > 1$ (लोचदार माँग)

चित्र 9 कीमत के घटने से कुल व्यय के घटने पर $e < 1$ (बेलोच माँग)

माँग की लोच व कुल व्यय का समबन्ध चित्र 8 व चित्र 9 की सहायता से समझाया जा सकता है।

चित्र 8 में कीमत के OP से घटकर OR हो जाने से कुल व्यय OMTP से बढकर ONBR हो जाता है जो पहले से अधिक है, क्योंकि MNBS आयताकार PRST आयताकार से अधिक है। अत यहाँ माँग की लोच एक से अधिक है।

चित्र 9 में कीमत के OP से घटकर OR हो जाने पर कुल व्यय OPTM से घटकर ORBN हो जाता है। लेकिन ORBN की राशि OPTM की राशि से कम है, क्योंकि SMNB आयताकार PRST आयताकार से छोटा है।

चित्र 4 में, कुल व्यय के स्थिर रहने पर $e = 1$ की स्थिति स्पष्ट की जा चुकी है। वहाँ माँग वक्र एक *आयताकार हाइपरबोला था जिससे उसके सभी बिन्दुओं* पर कुल व्यय समान था। अत ऐसे माँग वक्र पर समस्त दूरी तक $e = 1$ होती है।

*माँग की लोच, सीमान्त आय व औसत आय का सम्बन्ध** *(Relation between e, MR and AR)*—**माँग की लोच (elasticity of demand), सीमान्त आय (marginal revenue) व औसत आय (average revenue) में एक सुनिश्चित सम्बन्ध पाया जाता है।** इनमें किन्ही दो के दिए हुए होने पर तीसरा निकाला जा सकता है। औसत आय वस्तु की कीमत (price) को कहते हैं। यह कुल आय मे माँग की मात्रा का भाग देने से प्राप्त होती है। ($AR = \frac{TR}{X}$, यहाँ X माँग की मात्रा है)।

सीमान्त आय कुल आय मे होने वाला वह परिवर्तन है जो एक इकाई अधिक की बिक्री से प्राप्त होता है। इन तीनो का सम्बन्ध चित्र 10 की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है—

चित्र मे NM माँग की रेखा है। यही औसत आय (AR) की रेखा भी कहलाती है। NS सीमान्त आय (MR) की रेखा है। OA मात्रा पर सीमान्त आय रेखा का उपयोग करने पर कुल आय OACFN क्षेत्र के बराबर होती है और औसत आय रेखा का उपयोग करने पर यह OAEB क्षेत्र के बराबर हाती है और औसत आय रेखा का उपयोग करने पर यह OAEB क्षेत्र के बराबर होती है। ये दोनो क्षेत्र एक दूसरे के बराबर है। इनमे से OACFB क्षेत्र दोनो मे कॉमन क्षेत्र है, जिसे इनमें से अलग करने पर $\Delta BNF = \Delta FEC$ रह जाता है। इन दोनो त्रिभुजो में—

$\angle BFN = \angle EFC$ (सम्मुख कोण)

$\angle FBN = \angle FEC$ (समकोण)

$\angle BNF = \angle FCE$ होगा।

इस प्रकार दोनो त्रिभुजों के क्षेत्रों के बराबर होने एव तीनों कोणो के परस्पर बराबर होने पर इनकी भुजाएँ भी समान होती हैं। अत BN = CE एव BF = FE होते हैं।

बिन्दु लोच की माप के सूत्र को लगाने पर E बिन्दु पर माँग की लोच = $\frac{OB}{BN}$ होती है।

$$e = \frac{OB}{BN} = \frac{AE}{CE} = \frac{AE}{AE - AC}$$

$$= \frac{\text{औसत आय}}{\text{औसत आय} - \text{सीमान्त आय}}$$

$$= \frac{AR}{AR - MR} \text{ होती है।}$$

(OA वस्तु की मात्रा पर AE औसत आय (AR) है और AC सीमान्त आय (MR) है)।

यदि हम औसत आय को A से एव सीमान्त आय को M मे सूचित करें तो उपर्युक्त सम्बन्ध को इस प्रकार भी लिख सकते हैं—

* Marginal revenue को सीमान्त आगम एव average revenue को औसत आगम भी कहा जाता है।
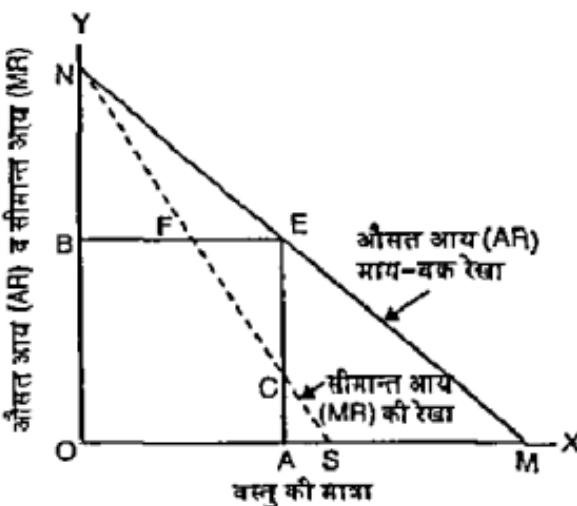
चित्र 10 माँग की लोच (e) सीमान्त आय (MR) व औसत आय (AR) का परस्पर सम्बन्ध

$$e = \frac{A}{A - M} \qquad (1)$$

जिससे $eA - eM = A$ होता है (तिरछा गुणा करने पर);

अथवा $eM = eA - A$ (विभिन्न मूल्यों का स्थान बदलने पर)

$$M = \frac{eA - A}{e} = A\left(\frac{e-1}{e}\right) = A\left(1 - \frac{1}{e}\right) \text{ होगा} \qquad (2)^*$$

---

* MR, AR व e का सम्बन्ध डिफरेशियल कैल्क्यूलस के गुणा के नियम (product rule) का उपयोग करके बहुत आसानी से निकाला जा सकता है। इसे नीचे समझाया जाता है

$TR = px$ [TR = कुल आय, p = कीमत, x = माँग की मात्रा]

अतः $MR = \frac{d(TR)}{dx} = p\,1 + x\;\frac{dp}{dx}$

[पहला फलन × दूसरे फलन का डेरिवेटिव + दूसरा फलन × पहले फलन का डेरिवेटिव]

$= p\left(1 + \frac{x}{p}\;\frac{dp}{dx}\right) = p\left(1 - \frac{1}{e}\right)$ $\left(\because\; e = -\frac{dx}{dp}\;\frac{p}{x} \text{ होता है}\right)$

$MR = A\left(1 - \frac{1}{e}\right)$ [$\because$ p (कीमत) = औसत आय (A) होती है।]

स्मरण रहे कि इस सूत्र में माँग की लोच (e) का केवल अंकीय मूल्य ही रखा जाता है जैसे 1 1.5 2 आदि तथा साथ में ऋणात्मक निशान नहीं रखा जाता है। यदि e को रखते समय ऋणात्मक निशान भी रखना चाहें तो सूत्र $M = A\left(1 + \frac{1}{e}\right)$ लेना होगा।

पुन जब $eA - eM = A$ हो तो $eA - A = eM$ होगा।

$A(e - 1) = eM$ होगा।

$$A = \frac{eM}{e-1} = M\left(\frac{e}{e-1}\right) \text{ होगा।} \quad (3)$$

उपर्युक्त तीनों समीकरण बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें से समीकरण (2) व (3) वस्तुत समीकरण (1) के ही विभिन्न रूप हैं। इन सम्बन्धों में $M = A\left(1-\frac{1}{e}\right)$, अर्थात् $MR = p\left(1-\frac{1}{e}\right)$ का ज्यादा प्रयोग देखने को मिलता है। इसका आशय यह है कि सीमान्त आय बराबर होती है कीमत को $\left(1-\frac{1}{e}\right)$ से गुणा करने से प्राप्त परिणाम के।
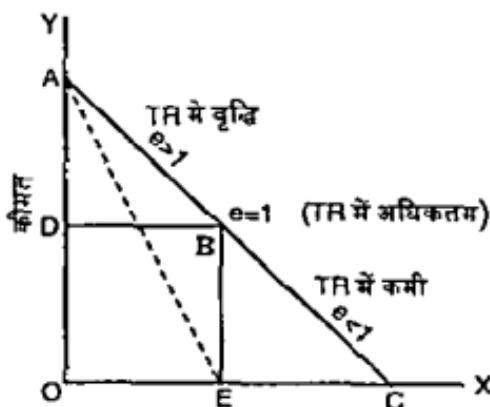
चित्र-11 माँग की मात्रा

मान लीजिए माँग की लोच = 1 है तो इस समीकरण के अनुसार—

$$M = A\left(1-\frac{1}{1}\right) = A(1 - 1) = A(0) = 0 \text{ होगी।}$$

इसका अर्थ यह है कि $e = 1$ होने पर $MR = 0$ होती है जो स्वाभाविक है, *क्योंकि $e = 1$ होने पर कुल आय (TR) स्थिर रहती है, जिससे $MR = 0$ हो* जाती है।

माँग की लोच, कुल आय व सीमान्त आय के सम्बन्ध की पहचान एक चित्र की सहायता से की जानी चाहिए। यह चित्र 11 में दर्शाया गया है।

चित्र 11 में AC एक सरल माँग की रेखा (AR) है, जिसके बीच में B स्थित है, अर्थात् BC = AB है।

निष्कर्ष—A से B तक माँग लोचदार है, अर्थात् एक से अधिक है ($e>1$),

B पर माँग की लोच इकाई के बराबर है ($e=1$)

B से C तक माँग बेलोच है, अर्थात् एक से कम है ($e<1$)

कीमत के A से D तक घटने पर कुल आय (TR) बढती जाती है। D पर वह अधिकतम व स्थिर हो जाती है।

कीमत के D से O तक घटने पर कुल आय (TR) घटती जाती है।

अत वस्तु की O से E मात्रा तक MR धनात्मक (positive) होती है,

E पर यह शून्य होती है ($MR = 0$) तथा

E से C की मात्रा तक MR ऋणात्मक (negative) होती है।

कीमत व माँग की मात्रा के दिए हुए होने पर कुल आय व सीमान्त आय आसानी से निकाली जा सकती है

मान लीजिए एक वस्तु के लिए मूल्य व माँग की मात्रा के सम्बन्ध इस प्रकार दिए हुए हैं।

कीमत (प्रति इकाई) रु (p)	7	6	5	4	3	2	1
माँग की मात्रा (इकाइयों में) (x)	0	1	2	3	4	5	6

अब हमें कुल आय व सीमान्त आय निकालने हैं—

मात्रा की मात्रा (x)	कीमत (p) = औसत आय (AR)	कुल आय (TR) (p.x)	सीमान्त आय (MR)=ΔTR
0	7	0	–
1	6	6	6
2	5	10	4
3	4	12	2
4	3	12	0
5	2	10	–2
6	1	6	–4

यह फर्म अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में काम कर रही है, क्योंकि पूर्ण प्रतिस्पर्धा में एक फर्म के लिए औसत आय अथवा वस्तु की कीमत = सीमान्त आय होती है, जो ऊपर की स्थिति से भिन्न होती है।

माँग की अन्य लोचें—हमने ऊपर माँग की कीमत-लोच का विवेचन किया है जिसमें कीमत के परिवर्तन का प्रभाव, अन्य बातों के समान रहने पर माँग की मात्रा पर देखा गया है। अर्थशास्त्र मे लोच की अवधारणा काफी व्यापक रूप मे प्रयुक्त होती है। इसके द्वारा एक चलराशि के परिवर्तन का प्रभाव किसी भी दूसरी चलराशि के परिवर्तन पर देखा जा सकता है। इसमें एक राशि स्वतन्त्र मान ली जाती है और दूसरी राशि इस पर आश्रित मान ली जाती है। हम यहाँ तिरछी या आडी लोच (cross elasticity) का वर्णन करके माँग की आय लोच, प्रतिस्थापन-लोच व कीमत-लोच के परस्पर सम्बन्धों का भी विवेचन करेंगे।

माँग की तिरछी या आडी लोच (Cross elasticity of demand)

माँग की तिरछी लोच में एक वस्तु की कीमत के परिवर्तन का प्रभाव किसी दूसरी वस्तु की माँग की मात्रा के परिवर्तन के रूप मे देखा जाता है। यदि हम X और Y दो वस्तुएँ लें, तो X की माँग की तिरछी लोच जानने के लिए हमें X की माँग के आनुपातिक परिवर्तन में Y की कीमत के आनुपातिक परिवर्तन का भाग देना होगा। यहाँ भी बिन्दु-लोच और आर्क-लोच दोनों हो सकती है। गणितीय सूत्र में हम इसे इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—

$$e_{xy} = \frac{\Delta X/X}{\Delta P_y/P} = \frac{\Delta X}{\Delta P_y} \cdot \frac{P_y}{X}$$

यहाँ e_{xy} X-वस्तु की तिरछी लोच को सूचित करती है, ΔX राशि X-वस्तु की मात्रा का परिवर्तन, X इसकी प्रारम्भिक मात्रा, ΔX राशि Y–वस्तु की कीमत का परिवर्तन एव Py उसकी प्रारम्भिक कीमत को सूचित करते हैं। मान लीजिए, Y की कीमत में 10 प्रतिशत परिवर्तन से X की माँग की मात्रा मे 20 प्रतिशत परिवर्तन होता है, तो X की माँग की तिरछी लोच 20%/10% = 2 होगी। इसी प्रकार यदि Y की कीमत में 10 प्रतिशत परिवर्तन से X की माँग में कोई परिवर्तन नहीं होता, तो X की माँग की तिरछी लोच (0%/10%) = 0 मानी जायेगी।

माग की तिरछी लोच के अध्ययन से हमें स्थानापन्न वस्तुओ एव पूरक वस्तुओं की स्थितियों की जानकारी हो सकती है। हम इसका नीचे विवेचन करते है।

स्थानापन्न वस्तुएँ (substitutes) व माँग की तिरछी लोच—आजकल टेरेलीन वस्त्र एव टेरीकॉट वस्त्र एक-दूसरे के स्थानापन्न माने जाते हैं। मान लीजिए, टेरेलीन वस्त्र का भाव घट जाता है तो इससे टेरीकॉट की माँग में घटने की प्रवृत्ति लागू हो जाएगी, क्योंकि ग्राहक टेरीकॉट से टेरेलीन वस्त्र की तरफ जाने लगेंगे। इसी प्रकार यदि टेरेलीन का भाव बढ़ जाता है तो टेरीकॉट की माँग में बढ़ने की प्रवृत्ति लागू हो जाएगी, क्योंकि ग्राहक टेरेलीन वस्त्र से टेरीकॉट वस्त्र की तरफ जाने लगेंगे। इस प्रकार टेरेलीन की कीमत एव टेरीकॉट की माँग के परिवर्तन एक ही दिशा में होंगे। **अत टेरीकॉट की माँग की तिरछी लोच धनात्मक (positive) होती है।** मान-लीजिए, टेरेलीन वस्त्र के भाव 10 प्रतिशत घट जाते हैं जिससे टेरीकॉट की माँग 20 प्रतिशत घट जाती है, तो टेरीकॉट की माँग की तिरछी लोच = –20%/–10% = 2 होगी। **इस प्रकार स्थानापन्न वस्तुओं**

मे माँग की तिरछी लोच धनात्मक होती है। इसकी अधिकतम सीमा ∞ तक हो सकती है।

पूरक वस्तुएँ (Complementary goods) व माँग की तिरछी लोच—डबल रोटी व मक्खन परस्पर पूरक पदार्थ होते हैं। यदि डबल रोटी की कीमत घटती है, तो मक्खन की माँग बढेगी (क्योंकि डबल रोटी की माँग बढेगी) और यदि डबल रोटी की *कीमत बढती है तो मक्खन की माँग घटेगी (क्योंकि डबल रोटी की माँग घटेगी)*। **इस प्रकार पूरक वस्तुओ मे माँग की तिरछी लोच ऋणात्मक (negative) होती है।** मान लीजिए, मक्खन के भाव 5 प्रतिशत बढने से डबल रोटी की माँग 5 प्रतिशत घट जाती है तो डबल रोटी की माँग की तिरछी लोच $-\frac{5\%}{5\%} = -1$ होगी। पूरक वस्तुओं में माँग की लोच की अधिकतम सीमा $-\infty$ तक हो सकती है।

प्रोफेसर रयान (Prof Ryan) का मत है कि ऋणात्मक तिरछी लोच का सम्बन्ध केवल पूरक वस्तुओं से ही नहीं होता, बल्कि प्रबल व तीव्र किस्म के आय प्रभावों (strong income effects) से भी होता है। यदि किसी वस्तु की कीमत कम हो जाने से वास्तविक आय प्रभाव अधिक होता है, तो उपभोक्ता प्राय घटिया वस्तु के स्थान पर बढिया वस्तु का उपभोग बढा लेता है। अत ऋणात्मक तिरछी लोच का सम्बन्ध प्रबल आय प्रभाव से भी हो सकता है। जैसे डालडा घी के भाव कम हो जाने से देशी घी की माँग बढ सकती है, और इसका प्रमुख कारण आय प्रभाव हो सकता है।

यदि दो वस्तुओ में माँग की तिरछी लोच शून्य के बराबर होती है तो वे एक दूसरे से स्वतन्त्र (unrelated to each other) मानी जाएगी।

स्मरण रहे कि माँग की तिरछी लोच के माप का अर्थशास्त्र में बहुत महत्त्व होता है। यदि दो स्थानापन्न वस्तुओं में माँग की तिरछी लोच ऊची धनात्मक (high positive) होती है, तो वे एक दूसरे की निकट की स्थानापन्न होती हैं, यदि उनमें तिरछी लोच नीची धनात्मक (low positive) होती है तो वे दूर की स्थानापन्न अथवा परस्पर कम स्थानापन्न किस्म की होती हैं। इसी प्रकार यदि दो पूरक वस्तुओं में ऊची ऋणात्मक *(high negative) तिरछी लोच पाई जाती है तो वे एक-दूसरे की बहुत निकट की* पूरक वस्तुएँ मानी जाएँगी। यदि नीची ऋणात्मक (low negative) तिरछी लोच पाई जाती है तो वे एक दूसरे की दूर की पूरक वस्तुएँ मानी जाएँगी।

बहुधा माँग की तिरछी लोच का उपयोग एक उद्योग की सीमाओं (boundaries of an industry) को निर्धारित करने में किया जाता है। साधारणतया ऊची तिरछी लोचें गहरे सम्बन्धों, अथवा एक ही उद्योग की वस्तुओं को सूचित करती हैं, एव नीची तिरछी लोचें दूर के सम्बन्धों अथवा विभिन्न उद्योगों की वस्तुओं को सूचित करती हैं।

लेकिन इससे कई बार उलझनें भी उत्पन्न हो जाती हैं। उदाहरण के लिए, प्राय यह प्रश्न उठाया जाता है कि वस्तुओं के किसी समूह के बीच तिरछी लोचें कितनी हों ताकि उनको एक ही उद्योग में शामिल किया जा सके? इसके अतिरिक्त, यदि कारों

व स्टेशन वैगनों के बाच तथा स्टेशन वैगनों तथा छोटे ट्रकों के बीच तिरछी लोचें काफी ऊँची धनात्मक हों, लेकिन यदि कारों व छोटे ट्रकों के बीच तिरछी लोचें नीची धनात्मक हो, तो क्या कारों व छोटे ट्रकों को एक ही उद्योग में शामिल किया जाएगा? इस प्रकार की दशाओं में एक उद्योग की परिभाषा अध्ययन की समस्या के आधार पर निर्धारित की जाती है।

माँग की आय-लोच (Income elasticity of demand)

आय के परिवर्तनों से एक वस्तु की माँग में जो परिवर्तन होता है उसे माँग की आय लोच कहा जाता है। X वस्तु की माँग की आय लोच e_y निम्न सूत्र का प्रयोग करके निकाली जा सकती है—

X वस्तु की माँग का आय लोच अर्थात्

$$e_y = \frac{\text{X की माँग में आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{आय में आनुपातिक परिवर्तन}}$$

मान लीजिए, एक उपभोक्ता की आय में 1 प्रतिशत वृद्धि होती है, जिससे X वस्तु की माँग में 10 प्रतिशत् वृद्धि होती है, तो माँग की आय लोच $e_y = \frac{10\%}{1\%} = 10$ होगी।
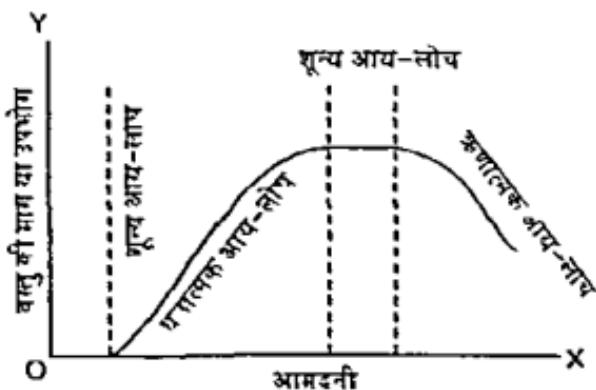
चित्र-12 माँग की आय-लोच विभिन्न दशाएं

अधिकाश वस्तुओं के लिए आय के बढने से वस्तु की माँग में वृद्धि होती है जिससे आय लोच धनात्मक (positive) होती है। घटिया वस्तुओं (inferior goods) के सम्बन्ध में आय में वृद्धि होने से उनकी माँग कम हो जाती है। अत इनमें आय लोच ऋणात्मक (negative) होती है। आय के परिवर्तनों से माँग पर जो प्रभाव पडता है, वह आय के स्तर के साथ साथ बदलता जाता है। उदाहरण के लिए, भारत में बहुत नीची आमदनी के स्तरों पर सम्भवत डालडा घी भी नहीं खरीदा जाएगा। इस परिधि

में डालडा घी की माँग की आय लोच शून्य (zero) होगी। बाद में आय के बढने पर इसका उपभोग प्रारम्भ होगा और कुछ समय तक आय की वृद्धि के साथ साथ इसका उपभोग भी बढेगा। इस सीमा के लिए हम कह सकते हैं कि आय लोच धनात्मक (positive) होगी। आय के ऊँचे स्तरों पर पर्याप्त मात्रा में डालडा घी खरीद लिए जाने के कारण आय मे और वृद्धि होने से इसकी माँग अपरिवर्तित रहेगी। इस परिधि में पुन माँग की आय लोच शून्य (zero) हो जाएगी। एक बिन्दु से परे उपभोक्ता डालडा घी से देशी घी या मक्खन की तरफ जाने लग जाएँगे, जिससे डालडा घी की माँग वास्तव में घट जाएगी। ऐसी स्थिति में आय लोच ऋणात्मक हो जाएगी। माँग की आय लोच की विभिन्न दशाएँ चित्र 12 में प्रदर्शित की गई हैं। इसका सृक्षिप्त विवेचन पहले गिफेन वस्तु तथा एन्जिल वक्र के अन्तर्गत भी किया गया है।

पारिवारिक आय व एक वस्तु पर किए जाने वाले व्यय मे सम्बन्ध

भारत में माँग की आय लोच के अध्ययन का विशेष महत्त्व है। देश में आर्थिक विकास के साथ साथ आमदनी भी बढ रही है। निम्न वर्ग की आय में वृद्धि होने से खाद्यान्नों की माँग पर भी प्रभाव पडना स्वाभाविक है, अत इस वर्ग के लिए खाद्यान्नों की माँग की आय लोच (income elasticity of demand for foodgrains) धनात्मक होती है। आय के निरन्तर बढने से एक स्थिति ऐसी आ जाएगी जब खाद्यान्नों के लिए माँग की आय लोच शून्य हो जाएगी। उससे भी आगे आय के बढने से खाद्यान्नों के स्थान पर अन्य खाद्य पदार्थों, जैसे दूध, घी फल आदि की माँग ज्यादा बढेगी, और इस परिवर्तन का प्रभाव भी खाद्यान्नो की माँग की आय लोच पर अवश्य पडेगा। स्मरण रहे, जब हम एक वस्तु के सम्बन्ध में माँग की आय लोच की चर्चा करते हैं तो हमें एक विशेष आय समूह के लोगों को ही ध्यान में रखना पडता है। देश में विभिन्न आय समूहों के लोगों के होने से उनकी आमदनियों के परिवर्तनों का उन पर अलग अलग तरह का प्रभाव पडता है। एक ही समय में एक वर्ग के लिए खाद्यान्नों के सम्बन्ध में माँग की आय लोच धनात्मक हो सकती है, और दूसरे वर्ग के लिए (जो अन्य पौष्टिक व विविध प्रकार के खाद्य पदार्थों की तरफ अग्रसर हो रहा है) यह ऋणात्मक हो सकती है।

स्टोनयर व हेग ने आय की लोचो मे तीन प्रकार के परिणामो को विशेष रूप से रुचिप्रद माना है। ये इस प्रकार हैं—

(1) आय लोच का शून्य के बराबर होना—यह स्थिति उस समय आती है जबकि आय के बढने से एक वस्तु की माँग में कोई वृद्धि नहीं होती। अत यहाँ आय लोच का गुणाक धनात्मक आय लोच को ऋणात्मक आय लोच से पृथक् करता है। इसलिए यह बहुत उपयोगी माना जाता है। प्राय शून्य आय लोच के बायीं तरफ धनात्मक आय लोच होती है तथा दायी तरफ ऋणात्मक आय लोच होती है। ऋणात्मक आय लोच की स्थिति घटिया वस्तुओं (inferior goods) में पायी जाती है।

(2) यदि उपभोक्ता की बढी हुई आय का समस्त अश एक वस्तु पर व्यय किया जाता है तो माँग की आय लोच $\frac{1}{KX}$ होगी, जहाँ KX उपभोक्ता की आय का

वह अंश है जो X वस्तु पर व्यय किया जाता है। मान लीजिए, एक उपभोक्ता अपनी आय का $\frac{1}{10}$ अंश X वस्तु पर व्यय करता है और वह आय की वृद्धि का सारा भाग X पर ही व्यय करने का निश्चय करता है तो माँग की आय-लोच $= 1/\frac{1}{10} = 10$ होगी। यदि उपभोक्ता अपनी आय के बढ़े हुए अंश में भी अधिक राशि X पर व्यय करने को तत्पर हो जाता है तो लोच 1/KX से अधिक होगी।

(3) माँग की आय-लोच के इकाई से अधिक होने का भी काफी महत्त्व होता है, क्योंकि आय-लोच के इकाई से अधिक होने का अर्थ है कि उपभोक्ता एक वस्तु पर अपने व्यय में उस अनुपात से अधिक वृद्धि करता है जिससे उसकी आय बढ़ी है। ऐसी वस्तु को, एक अर्थ में विलासिता (luxury) की वस्तु कहा जा सकता है। इसकी ऊपरी सीमा ∞ होती है। इसी प्रकार एक वस्तु की आय-लोच के इकाई से कम होने पर उसे *अनिवार्यता (necessity)* कहा जा सकता है। इसकी न्यूनतम सीमा शून्य तक हो सकती है। इस प्रकार की आय-लोच के 1 से अधिक व 1 से कम होने पर वस्तुओं को क्रमशः विलासिता व अनिवार्यता कहा जा सकता है।

अर्थव्यवस्था में जिन पदार्थों की माँग की आय-लोच नीची होती है उनसे सम्बन्धित उद्योगों का विकास धीमी गति से होता है और जिन पदार्थों की माँग की आय-लोच ऊँची होती है उनसे सम्बन्धित उद्योगों का विकास तेज गति से होता है। इससे विभिन्न उद्योगों की प्रगति में अन्तर उत्पन्न हो जाता है। अतः माँग की आय-लोच की अवधारणा अर्थशास्त्र में काफी महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

अब हम अध्याय के लिए विभिन्न लोचों को ज्ञात करने के लिए कुछ प्रश्न हल करते हैं?*

निम्न दशाओं में कोई उपयुक्त लोच-गुणांक (appropriate elasticity coefficient) ज्ञात कीजिए

X-वस्तु की कीमत (P_x)	माँग की मात्रा (x)	आमदनी (y)	Y-वस्तु की कीमत (P_y)
100 रुपये	100	5000 रुपये	50 रुपये
101 रुपये	95	5000 रुपये	50 रुपये

उत्तर—यहाँ सर्वप्रथम X-वस्तु की माँग की लोच ज्ञात करनी है, क्योंकि प्रश्न में आमदनी व Y-वस्तु की कीमत स्थिर रखी गयी है। चूँकि यहाँ X वस्तु की कीमत

* पाठक चाहे तो इन प्रश्नों को प्रारम्भिक अध्ययन में छोड़ सकते हैं लेकिन इनको हल करने से माँग की कीमत-लोच, आय-लोच व तिरछी लोच का परस्पर अन्तर ज्यादा अच्छी तरह से समझ में आ सकेगा।

का परिवर्तन बहुत मामूली है, इसलिए माँग की लोच जानने के लिए $\frac{\Delta X}{\Delta P} \frac{P}{X}$ सूत्र लगाना होगा

अत $e = \frac{-5}{1} \times \frac{100}{100} = -5$ होगी।

प्रश्न 2

X-वस्तु की कीमत (P_x)	माँग की मात्रा (x)	आमदनी (y)	Y-वस्तु की कीमत (P_y)
103 रुपये	100	6500 रुपये	51 रुपये
103 रुपये	105	7000 रुपये	51 रुपये

उत्तर—यहाँ माँग की आय लोच (income-elasticity of demand) निकालनी है, क्योंकि दोनों वस्तुओं की कीमतें स्थित हैं तथा केवल आमदनी ही बदल रही है।

माँग की आय लोच $= \frac{\Delta x}{x} \frac{y}{\Delta y} = \frac{5}{100} \times \frac{6500}{500} = 0.65$ होगी।

प्रश्न 3

X-वस्तु की कीमत (P_x)	X-वस्तु की माँग की मात्रा (x)	आमदनी (y)	Y-वस्तु की कीमत (P_y)
100 रुपये	100	5500 रुपये	50 रुपये
100 रुपये	105	5500 रुपये	51 रुपये

उत्तर—यहाँ माँग की तिरछी लोच (cross elasticity of demand) निकालनी होगी। Y-वस्तु की कीमत के परिवर्तन का प्रभाव X वस्तु की माँग की मात्रा पर देखना होगा।

माँग की तिरछी या आडी लोच $= \frac{\Delta X}{X} \frac{P_y}{\Delta P_y} = \frac{5}{100} \times \frac{50}{1} = 2.5$ होगी।

अन्त में हम एक उदाहरण के द्वारा एक साथ माँग की आय लोच व माँग की कीमत लोच के लिए हुए होने पर वस्तु की कीमत व आय के परिवर्तनों का प्रभाव एक वस्तु की माँग पर देख सकते हैं।

प्रश्न 4 · यदि माँग की लोच −1.5 हो और कीमत 10% घटे तो

(i) माँग की मात्रा का परिवर्तन तथा

(ii) कुल व्यय का परिवर्तन ज्ञात कीजिए।

उत्तर—सूत्र के अनुसार—

(i)
$$e = (-)\ \frac{\text{माँग का \% परिवर्तन}}{\text{कीमत का \% परिवर्तन}}$$

$$-1.5 = (-)\ \frac{\text{माँग का \% परिवर्तन}}{10\%}$$

तिरछा गुणा करने पर

माँग का परिवर्तन = −1.5 × −10% = 15%

(ii)

	कीमत (P) रु.	माँग (X) इकाई	कुल व्यय (TR) (PX) (रु.)
मान लीजिए	प्रथम स्थिति में 100	100	10000
प्रश्न के अनुसार	द्वितीय स्थिति में 90	115	10350

अतः कुल व्यय में वृद्धि = 10350 − 10000 = 350 रु.

इस प्रकार 10000 के कुल व्यय पर वृद्धि = 350 रु.

100 रु. के कुल व्यय पर वृद्धि = $\frac{350}{10000} \times 100$ = 3.5%

(i) इस प्रकार माँग की मात्रा का परिवर्तन = 15%

तथा कुल व्यय का परिवर्तन = 3.5% होगा।

प्रश्न 5 -

वस्तु की कीमत	माँग की मात्रा	कुल व्यय
10 रु.	1	10
8 रु.	3	24

माँग की चाप लोच (arc-elasticity) निकालिए।

उत्तर—चाप लोच की गणना तीन प्रकार से दर्शायी जाती है—

(क) वाटसन व होल्मैन (Watson and Holman) के अनुसार कीमतों व मात्राओं का औसत लेने पर (Q मात्रा को तथा P कीमत को सूचित करते हैं)

$$e = \frac{\Delta Q}{\frac{1}{2}(Q_1 + Q_2)} \bigg/ \frac{\Delta P}{\frac{1}{2}(P_1 + P_2)}$$

$$e_p = (KX \times e_y) + (1 - KX)e_s$$

यहाँ पर KX आमदनी का वह भाग है जो X-वस्तु पर व्यय किया जाता है और (1 – KX) *आमदनी का शेष भाग है जो अन्य वस्तुओं पर व्यय किया जाता* है। सूत्र में प्रथम भाग $(KX \times e_y)$ आय प्रभाव को सूचित करता है तथा $(1 - KX)e_s$ प्रतिस्थापन प्रभाव को। इस प्रकार कीमत प्रभाव वास्तव में आय प्रभाव व प्रतिस्थापन प्रभाव के सम्मिश्रण का सूचक होता है। अत एक वस्तु की कीमत लोच पर चार तत्त्वों का प्रभाव पडता है।

(i) *इस वस्तु पर व्यय किया गया आय का अश, अर्थात्* KX, (ii) माँग की आय लोच अर्थात् (e_y), (iii) प्रतिस्थापन की लोच (e_s), तथा (iv) अन्य वस्तुओं पर व्यय किया गया आय का अश (1 – KX)।

उदाहरण—मान लीजिए, उपभोक्ता X वस्तु पर अपनी आय का 1/5 भाग व्यय करता है और अन्य वस्तुओं पर 4/5 भाग व्यय करता है।

और $e_y = 2$, $e_s = 3$ है तो कीमत लोच (e_p) निकालो।

कीमत-लोच अर्थात् $e_p = KX \times e_y + (1 - KX)e_s$

$$= \frac{1}{5} \times 2 + (1 - \frac{1}{5}) \times 3$$

$$= \frac{2}{5} + \frac{12}{5} = \frac{14}{5} = 2.8$$ होगी।

यदि माँग की आय-लोच 1 के बराबर है और प्रतिस्थापन की लोच भी 1 के बराबर है तो कीमत-लोच भी 1 के बराबर होगी, चाहे X-वस्तु पर किया जाने वाला आय का अनुपात कुछ भी क्यो न हो।

माँग की कीमत-लोच को प्रभावित करने वाले तत्त्व या घटक (Factors affecting price elasticity of demand)—माँग की लोच पर कई तत्त्वों का प्रभाव पडता है। इनमें से कुछ तत्त्वों के कारण तो माँग की लोच अधिक हो जाती है और कुछ के कारण कम। अन्तिम स्थिति सभी तत्त्वों की सापेक्ष शक्तियों पर निर्भर करती है। हम नीचे विभिन्न तत्त्वों का माँग की लोच पर प्रभाव स्पष्ट करते हैं—

(1) स्थानापन्न वस्तुओं की सख्या—एक वस्तु की माँग की लोच पर उसके लिए पायी जाने वाली स्थानापन्न वस्तुओं की सख्या का प्रभाव पडता है। यदि किसी वस्तु के स्थानापन्न पदार्थ नही होते हैं तो उसकी माँग बेलोच होती है, क्योंकि कीमत के बढने पर उसकी माँग में विशेष कमी नही आती। दानेदार चीनी की माँग बेलोच मानी जा सकती है, क्योंकि गुड व शक्कर आदि इसके पूर्ण स्थानापन्न नहीं होते हैं। विभिन्न किस्म की सब्जियाँ कुछ सीमा तक परस्पर स्थानापन्न मानी जा सकती हैं। उनमें से किसी एक सब्जी जैसे फूलगोभी की कीमत के बढने पर उपभोक्ता अन्य सब्जियों की तरफ जाने लगते हैं, जिससे उस सब्जी की माँग में काफी गिरावट आ जाती है। अत स्थानापन्न पदार्थों के पाए जाने पर माँग लोचदार हो जाती है। रेल-परिवहन व बस परिवहन भी कहीं कहीं एक दूसरे के स्थानापन्न होते हैं। ऐसी स्थिति में बस का

किराया बढ़ने से यात्री रेल परिवहन का उपयोग बढ़ा देते हैं, जिससे बस परिवहन की माँग लोचदार हो जाती है। ऐसा प्राय व्यवहार मे भी अनुभव किया गया है।

पूरक वस्तुओं में माँग की लोच कम पायी जाती है क्योंकि इन्हें एक साथ खरीदना पड़ता है। चाय व चीनी एक दूसरे के पूरक होते हैं। मान लीजिए, चाय की कीमत घट जाती है तो उपभोक्ता केवल चाय अधिक खरीद कर अपना काम नही चला सकते। उनको चीनी भी अधिक मात्रा में खरीदनी पड़ेगी। स्मरण रहे कि यहाँ चाय पर विचार करते समय इसे चीनी के पूरक के रूप में ही देखा गया है। वैसे यह कॉफी की स्थानापन्न भी होती है, जहाँ दूसरा प्रभाव (अधिक लोच वाला प्रभाव) सामने आता है। अत हमारा निष्कर्ष यह है कि स्थानापन्नता से लोच अधिक होती है और पूरकता से लोच कम होती है।[1]

(2) वस्तु के उपयोग—माँग की लोच इस बात पर निर्भर करती है कि वस्तु के कितने उपयोग होते हैं। उनके उपयोग वाली वस्तु की माँग लोचदार होती है, क्योंकि कीमत के बढ़ने पर उस वस्तु की माँग सभी उपयोगों में कम की जाती है, जिससे कुल माँग काफी कम हो जाती है। इसी प्रकार कीमत के घटने पर अनेक उपयोगों में माँग के बढ़ने से कुल माँग की वृद्धि काफी हो जाती है। इस सम्बन्ध में बिजली का दृष्टान्त दिया जा सकता है, जिसका उपयोग परिवार में कई कामों के लिए किया जाता है, जैसे एयर कन्डीशनर के लिए, रोशनी के लिए, पंखा चलाने, रेडियो चलाने, टेलीविजन चलाने आदि में। बिजली की दर घट जाने पर इसका उपभोग सभी उपयोगों में बढ़ाया जाता है। एक या कम उपयोगों वाली वस्तु की माँग प्राय बेलोच होती है। काँच की चूड़ियाँ महिलाओं के पहनने के काम में आती हैं, अत उनकी माँग अपेक्षाकृत बेलोच मानी जाती है।

(3) वस्तु पर व्यय की जाने वाली राशि कुल व्यय के प्रतिशत के रूप में—यदि किसी वस्तु पर उपभोक्ता अपने कुल व्यय का बहुत थोड़ा अंश व्यय करता है तो उस वस्तु की माँग बेलोच होगी। बूट पालिश की कीमत इतनी कम होती है कि उसकी माँग बेलोच कही जाएगी। यदि 500 रुपये मासिक खर्च करने वाला परिवार उसमें से 120 रुपए देशी घी पर व्यय करता है तो यह व्यय उसके कुल मासिक व्यय का एक महत्त्वपूर्ण अंश माना जाएगा और इसकी माँग उस परिवार अथवा ऐसे ही अन्य परिवारों के लिए काफी लोचदार होगी। ऐसे परिवार के लिए देशी घी का भाव बढ़ने पर उसके उपभोग में काफी कमी आ सकती है।

(4) बहुधा माँग-वक्र के ऊपरी भाग पर लोच अधिक और निचले भाग पर लोच कम होगी—एक साधारण माँग वक्र के ऊपरी भाग पर लोच अधिक पायी जाती है क्योंकि माँग का प्रतिशत परिवर्तन कीमत के प्रतिशत परिवर्तन से अधिक होता है (यहाँ पर प्रारम्भिक माँग नीची एव प्रारम्भिक कीमत ऊँची होती है)। माँग वक्र के निचले भाग पर लोच कम पायी जाती है, क्योंकि माँग का प्रतिशत परिवर्तन कीमत के

1 Elasticity increases with substitutability and decreases with complementarity.

प्रतिशत परिवर्तन से कम हो जाता है (परिवर्तन आँकने के लिए प्रारम्भिक माँग अधिक एवं प्रारम्भिक कीमत कम होती है)। इसका विवेचन पहले किया जा चुका है।

(5) वस्तु की प्रकृति—साधारणतया यह कल्पना की जाती है कि विलासिता की वस्तु की माँग अधिक लोचदार, आरामदायक वस्तु की साधारण लोचदार और अनिवार्य वस्तु की बेलोच होगी। अनिवार्य वस्तु तो खरीदनी ही पडेगी चाहे उसके लिए थोडी ऊँची कीमत क्यों न देनी पड़े। खाद्यान्नों के अभाव वाले वर्षों में गेहूँ का उपभोग करने वाले परिवार अत्यधिक ऊँचे भावों पर भी इसे खरीदते हैं। कार, गलीचों व अन्य बहुमूल्य विलासिता की वस्तुओं की माँग प्राय लोचदार होती है। इस सम्बन्ध में प्रमुख कठिनाई यह है कि विलासिता की वस्तु की परिभाषा करना सुगम नहीं होता। प्राय एक डॉक्टर अथवा एक मैनेजर के लिए एक कार अनिवार्य वस्तु होती है। फिर विलासिता की वस्तुएँ बहुत ऊँचे भावों वाली, नीचे भावों वाली आदि कई किस्म की हो सकती हैं। अत लोच पर वस्तु के ऊँचे या नीचे के भावों का भी काफी प्रभाव पडता है। अत्यधिक धनी व्यक्ति के लिए विलासिता की वस्तु की माँग भी बेलोच हो सकती है।

(6) बहुत ऊँचे व बहुत नीचे मूल्यों पर प्राय माँग की लोच कम पायी जाती है—बहुत ऊँचे मूल्यों पर खरीदने वाले धनी व्यक्ति अपनी पसन्द की वस्तुएँ खरीदते ही हैं। इसी प्रकार बहुत नीचे मूल्यों पर भी खरीदने वालों की खरीद, अपेक्षाकृत आसान होती है। इसलिए बहुत ऊँचे व बहुत नीचे मूल्यों पर प्राय माँग की लोच कम पायी जाती है। यह बीच के या मध्यम श्रेणी के मूल्यों पर ही अधिक लोचदार होती है।

(7) शीघ्रनाशी पदार्थों की माग बेलोच एव टिकाऊ पदार्थों की माँग लोचदार होती है—टिकाऊ पदार्थों का उपभोग स्थगित किया जा सकता है। फर्नीचर की कीमत बढ जाने से इसकी माँग काफी घट जाती है, क्योंकि इसका उपभोग स्थगित किया जा सकता है। फल सब्जी आदि शीघ्रनाशी वस्तुओं की माँग प्राय बेलोच होती है क्योंकि इनके उपभोग को स्थगित कर सकने में कठिनाई होती है।

(8) आय के वितरण का प्रभाव—जब देश में आय का वितरण समान होता है, अथवा समानता की तरफ बढता है, तो सामान्यतया माँग की लोच बढती है, क्योंकि मूल्य परिवर्तन का प्रभाव एक साथ अधिक व्यक्तियों पर पडता है, आय का वितरण असमान होने से माँग की लोच कम पायी जाती है। समाजवादी देशों में जहाँ आय का वितरण अपेक्षाकृत अधिक समान पाया जाता है, वहाँ वस्तुओं की माँग प्राय लोचदार पायी जाती है। वहाँ कीमत के घटने पर एक साथ बहुत से व्यक्ति उसकी माँग करने लगते हैं एवं कीमत के बढने पर एक साथ बहुत से व्यक्ति उसकी माँग घटा देते हैं। अत वहा सामान्यतया वस्तुओं की माँग अधिक लोचदार पायी जाती है।

(9) समय का प्रभाव—साधारणतया अल्पकाल में माँग बेलोच और दीर्घकाल में लोचदार होती है। कीमत के बढने पर उपभोक्ता धीरे धीरे अपने उपभोग को कम कर पाते हैं। अत माँग की लोच पर समय के तत्त्व का भी प्रभाव पडता है।

(10) विविध प्रभाव—वस्तु विशेष के सम्बन्ध में उपभोक्ता वर्ग की आदत व रीति रिवाज आदि का भी माँग की लोच पर प्रभाव पडता है। ये तत्त्व प्राय माँग को

बेलोच बना देते है। आदत पड जाने पर कीमत बढने पर भी एक वस्तु खरीदनी पडती है।

स्मरण रहे कि एक वस्तु की माँग पर एक समय में एक साथ कई तत्व प्रभाव डालते हैं जिनमें से कुछ तत्व माँग की लोच को बढ़ाते है और कुछ इसमें कमी करते हैं। अन्तिम प्रभाव इन तत्वों की सापेक्ष शक्तियों पर निर्भर करता है। अत इस सम्पूर्ण विवेचन में विभिन्न तत्वों के सापेक्ष प्रभावों को नही भूलना चाहिए। माँग की लोच पर प्रभाव डालने वाले विभिन्न तत्वों की परस्पर रस्साकशी से अन्तिम प्रभाव निर्धारित होता है।

माँग की लोच की अवधारणा का महत्व (Importance of the concept of elasticity of demand) – *आर्थिक विश्लेषण में माँग की लोच की अवधारणा* एक महत्त्वपूर्ण अस्त्र (tool) का काम करती है। इसका सैद्धान्तिक व व्यावहारिक दोनों प्रकार का महत्व होता है। हम इस अध्याय में देख चुके हैं कि वस्तु की कीमत सीमान्त आय व माँग की लोच में परस्पर सम्बन्ध पाया जाता है। $MR = P\left(1-\frac{1}{e}\right)$ होती है। तिरछी लोच के धनात्मक होने पर दो वस्तुएँ परस्पर स्थानापन्न होती है, तथा इसके ऋणात्मक होने पर ये परस्पर पूरक होती है। एकाधिकारी की शक्ति भी माँग की लोच से निर्धारित होती है। माँग के अधिक बेलोच होने पर उसकी शक्ति बढ़ जाती है। माँग की लोच के विचार का व्यावहारिक महत्त्व भी होता है। अब हम *कीमत सिद्धान्त सार्वजनिक वित्त व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में इसके कुछ उपयोगों पर विचार* करते हैं—

(1) कीमत सिद्धान्त व माँग की लोच—वस्तु की कीमत पर माँग व पूर्ति की शक्तियों का प्रभाव पडता है। पूर्ति के दिए हुए होने पर कीमत पर माँग वक्र की आकृति का अधिक प्रभाव पडता है। यदि माँग बेलोच होती है तो *कीमत में ऊँचा होने की प्रवृत्ति पायी जाती है, तथा माँग के लोचदार होने की दशा में कीमत में नीचा होने की प्रवृत्ति पायी जाती है।* अत कीमत सिद्धान्त में वस्तु की माँग की लोच काफी महत्वपूर्ण होती है।

बाजार में एकाधिकार की परिस्थिति में कीमत निर्धारण में माँग की लोच का महत्व स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। एकाधिकारी का उद्देश्य अधिकतम कुल आय प्राप्त करना होता है। इसके लिए *वह बाजार में बेलोच माँग की स्थिति में कीमत* अपेक्षाकृत ऊँची रख सकता है, क्योंकि ऐसा करने में उसकी बिक्री पर विशेष प्रतिकूल *प्रभाव नही पडता। अत वह लोच की मात्रा के अनुसार ही कीमत निर्धारित करेगा,* ताकि अपना लाभ अधिकतम कर सके। एकाधिकारी मूल्य विभेद (price-discrimination) *की नीति अपनाते समय भी माँग की लोच का ही सहारा लेता है।* बेलोच माँग वाले बाजार या क्षेत्र में वह अपेक्षाकृत ऊँची कीमत और लोचदार माँग वाले बाजार में अपेक्षाकृत नीची कीमत रखता है। ऐसा करके वह अपने कुल लाभ को अधिकतम करने के उद्देश्य में सफल हो सकता है।

सयुक्त पूर्ति की दशा में कीमत निर्धारण में लोच के विचार का उपयोग किया जाता है। कपास व बिनौले एक साथ किए गए व्यय से उत्पन्न किए जाते हैं। उनकी

लागत को पृथक् करना कठिन होता है। अत कीमत निश्चित करने समय उनकी माँग की लोचें देखी जाती है। इनमें से जिनकी माँग बेलोच होती है उसकी कीमत अपेक्षाकृत ऊँची, और जिसकी माँग लोचदार होती हे उसकी कीमत अपेक्षाकृत नीची रखी जाती है। इस प्रकार माँग की लोच के आधार पर कीमत निर्धारित करके एक उत्पादक अधिकतम लाभ प्राप्त करने के अपने उद्देश्य में सफल हो सकता है।

(2) सार्वजनिक वित्त, करारोपण व माँग की लोच—वित्त मन्त्री के लिए माँग की लोच का ज्ञान विशेष रूप से उपयोगी होता है। वस्तु विशेष पर कर लगाते समय उसकी माँग की लोच का अवश्य ध्यान रखा जाता है ताकि उस कर से प्राप्त आय का यथासम्भव सही अनुमान लगाया जा सके। वस्तुओं का करारोपण की दृष्टि से चुनाव करने के लिए भी उनकी सापेक्ष लोचें देखी जाती हैं, और, अन्य बातों के समान रहते हुए, बहुधा बेलोच माँग वाली वस्तुओं को कराधान के लिए अधिक उपयुक्त समझा जाता है। सम्भवत भारत में सिगरेट शराब विभिन्न किस्म की विलासिता की वस्तुओं आदि पर उत्पादन शुल्क इसलिए समय समय पर बढाया जाता है क्योंकि इनकी माँग बेलोच होती है, जिससे सरकारी आय बढ जाती है। साधारणतया लोचदार माँग वाली वस्तुएँ करारोपण की दृष्टि से उपयुक्त नही होती क्योंकि कर लगने से उनकी कीमतें बढ जाती हैं जिमसे उनकी माँग में काफी कमी आ जाती है और उनके उत्पादन पर विपरीत असर पडता है। अत वस्तु की माँग की लोच करारोपण की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व रखती है।

करापात (incidence of tax) के अध्ययन में भी माँग की लोच का प्रभाव देखा जाता है। यदि माँग बेलोच होती है तो कर भार उत्पादकों के द्वारा उपभोक्ताओं पर खिसकाया जा सकता है। लोचदार माँग वाली वस्तुओं में करों का अधिक लाभ उत्पादकों को स्वय वहन करना होता है।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व माँग की लोच—व्यापार की शर्तें (terms of trade) माँग की लोच पर निर्भर करती हैं। यदि एक देश के निर्यातों की माँग बेलोच और उसके लिए आयातों की माँग लोचदार हो तो व्यापार की शर्तें उस देश के पक्ष में होंगी। इसके विपरीत यदि निर्यातो की माँग लोचदार एव आयातों की माँग बेलोच हो, तो एक देश के व्यापार की शर्तों मे विपक्ष मे जाने की प्रवृत्ति पायी जाती है।

प्राय मुद्रा के अवमूल्यन के समय निर्यातों व आयातों की लोच का प्रश्न सामने आता है। भारत में रुपए के अवमूल्यन के विरोध में यह कहा जाता है कि विदेशों में भारतीय निर्यातों की माँग अपेक्षाकृत बेलोच है, और भारत में विदेशों से किए जाने वाले आयातों की माँग भी बेलोच है। इसलिए प्राय यह माना जाता है कि अवमूल्यन से भारत को विशेष लाभ नहीं होगा। अवमूल्यन से निर्यात सस्ते होते है, लेकिन विदेशों में भारतीय निर्यातों की माँग बेलोच होने से ये ज्यादा नही बढते, जिससे विदेशी विनिमय की प्राप्ति विशेष नही बढ पाती। इसके विपरीत अवमूल्यन से आयात महँगे हो जाते हैं और भारत मे आयातों की माँग बेलोच होने से इनकी मात्रा को ज्यादा घटा सकना सम्भव नहीं हो पाता। इसलिए हमें ऊँचे भावों पर भी आयात जारी रखने पडते हैं

जिससे भारत में रुपए के अवमूल्यन से पर्याप्त मात्रा में लाभ नहीं मिल पाता। वास्तव में अवमूल्यन से उस देश को अधिक लाभ प्राप्त होता है जिसके निर्यातों की माँग विदेशों में लोचदार हो और जिसके यहाँ आयातों की माँग भी लोचदार हो। सम्भवत इसी स्थिति के कारण भारत को अवमूल्यन से विशेष लाभ नहीं मिल पाता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में भी माँग की लोच के विचार का बहुत महत्त्व होता है।

माँग की लोच का विषय अर्थशास्त्र में काफी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। कीमत निर्धारण, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व सार्वजनिक वित्त में इसका व्यापक रूप से उपयोग किया जाता है। नियोजन-मन्त्री, वाणिज्य मन्त्री व वित्त मन्त्री, आदि माँग की लोच के आधार पर अनेक प्रकार के निर्णय लिया करते हैं। इसलिए इस अवधारणा का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाना चाहिए।

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 यदि एक वस्तु की कीमत 10 रु से घटकर 8 रु प्रति इकाई हो जाए और माँग की मात्रा 8 इकाई से बढ़कर 10 इकाई हो जाए तो माँग की सही लोच ज्ञात कीजिए। कारण भी स्पष्ट कीजिए।

(अ) −1.25 (ब) −1

(स) −0.8 (द) कोई नहीं (ब)

[कीमत व माँग की मात्रा दोनों का परिवर्तन नीचे के मूल्य से प्रारम्भ करके निकाला गया है।]

2 निम्न चित्र में OP कीमत पर दोनों वक्रों के लिए माँग की लोच ज्ञात कीजिए।

चित्र 13
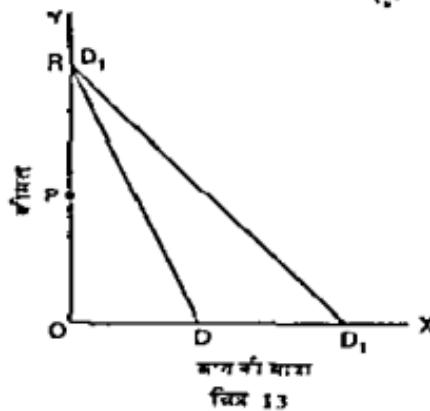
उत्तर—दोनों माँग की रेखाओं पर OP कीमत पर माँग की लोचें $\frac{OP}{RP}$ के बराबर होंगी। $\left(\frac{\text{निचला अंश}}{\text{ऊपर का अंश}}\right)$

3 माँग की लोच कीमत व सामान्य आय का कौन सा सूत्र सही होगा?

(अ) $e = \frac{A}{A-M}$ [जहाँ A = औसत आय या कीमत,
M = सीमान्त आय व
e = माँग की लोच के द्योतक हैं]

(ब) $e = \frac{M}{A-M}$

(स) $M = A\left(1+\frac{1}{e}\right)$

(द) $A = M\left(\frac{e-1}{e}\right)$ (अ)

4 जिस बिन्दु पर माँग की लोच OX-अक्ष को छूती है, उस पर माँग की लोच होगी—

(अ) 1 (ब) 0
(स) ∞ (द) <1 (ब)

5 माँग की आय लोच इकाई से अधिक कब होती है?

(अ) विलासिताओं में (ब) आरामदायक वस्तुओं में
(स) अनिवार्यताओं में (द) घटिया वस्तुओं में (अ)

6 घटिया वस्तु के लिए माँग की लोच की सीमाएँ छाँटिए—

(अ) 1 से ∞ तक
(ब) 0 से 1 तक
(स) शून्य से कम (अर्थात् ऋणात्मक) से $-\infty$ तक
(द) 0 से $-\infty$ तक (स)

7 माँग की तिरछी लोच धनात्मक कब होती है?

(अ) स्थानापन्न वस्तुओं में
(ब) पूरक वस्तुओं में
(स) दो वस्तुएँ जो एक दूसरे से स्वतन्त्र हों
(द) कोई नहीं (अ)

8 एक वस्तु के कई उपयोग होने की दशा में उसकी माँग की लोच होगी—

(अ) एक के बराबर (ब) एक से अधिक
(स) एक से कम (द) शून्य (ब)

अन्य प्रश्न

1 (i) माँग की कीमत लोच का अर्थ समझाइये। माँग की लोच को मापने की कौन-कौनसी विधियाँ हैं? **(Raj II yr. 2002)**

(ii) संक्षिप्त टिप्पण लिखिये—
माँग की आडी या तिरछी लोच **(Raj II yr 2002)**

2 रेखाचित्रों का प्रयोग करते हुए सिद्ध कीजिए कि $MR = P\left(1 - \frac{1}{Ed}\right)$
यहाँ MR = सीमान्त आगम, P = कीमत और Ed = माँग की कीमत लोच है। **(Raj II yr. 1999)**

3 सिद्ध कीजिए कि $E_d = \frac{AR}{AR - MR}$
जहाँ E_d = माँग की कीमत लोच, AR = औसत आगम तथा MR = सीमान्त आगम। **[Raj II yr. 2001]**

4 (अ) 'माँग की कीमत लोच' को परिभाषित कीजिये। रेखागणितीय रीति से सिद्ध कीजिये कि

$$\text{सीमान्त आय} = \text{औसत आय} \left[1 - \frac{1}{\text{माँग की कीमत लोच}}\right]$$

(ब) 'माँग की तिरछी लोच' को स्पष्ट कीजिये।
(MDSU Ajmer, II Yr. 2000)

5 (अ) औसत आय, सीमान्त आय और माँग की कीमत लोच में क्या सम्बन्ध है? रेखागणितीय रीति से सिद्ध कीजिये।

(ब) माँग की आय लोच समझाइये। **(MDSU Ajmer II Yr. 2001)**

6 माँग की लोच से आप क्या समझते हैं? माँग की लोच को नापने की विभिन्न विधियों को उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिये। **(M L S U. Udaipur, 2001)**

7 माँग की लोच ज्ञात करने के लिए कुल व्यय की विधि समझाइए। वह स्थिति स्पष्ट कीजिए जब एक माँग वक्र पर सर्वत्र माँग की लोच इकाई के बराबर पाई जाती है।
[उत्तर—संकेत · माँग-वक्र पर सर्वत्र माँग की लोच इकाई के बराबर होने से उसे आयताकार हाइपरबोला (rectangular hyperbola) कहते हैं।]

8 निम्न आँकड़ों का प्रयोग करके प्रत्येक कीमत पर माँग की लोच ज्ञात कीजिए। चित्र पर माँग की रेखा भी दर्शाइये।

बिन्दु	कीमत (P) (रु. में)	माँग की मात्रा (इकाइयों में) (X)
A	2.0	0
B	1.5	3

C	10	6
D	05	9
E	0	12

उत्तर-संकेत— 20 कीमत पर माँग की लोच = ∞

15 कीमत पर e = 3

10 कीमत पर e = 1

05 कीमत पर e = 1/3 तथा

0 कीमत पर e = 0 होगी।

स्पष्टीकरण $e = \frac{\Delta x}{\Delta p} \cdot \frac{P}{x}$, अत 15 रु कीमत पर

$$e = \frac{3}{05} \times \frac{15}{3} = 3 \text{ होगी।}$$

इसी प्रकार आगे भी गणना करके लोच गुणाक निकाला जाना चाहिए।

9 "माँग की कीमत लोच" को परिभाषित कीजिए। "माँग की बिन्दु लोच" तथा "माँग की चाप लोच" में अन्तर स्पष्ट कीजिए। इन दोनों को मापने की विधियों को समझाइए।

10 चित्रों की सहायता से निम्नलिखित को स्पष्ट कीजिए—

$$e = \frac{AR}{AR - MR}$$

उपरोक्त सूत्र में—

e = माँग की कीमत लोच है

AR = औसत आगम है, तथा

MR = सीमान्त आगम है।

यदि e = 1 हो तो सीमान्त आगम कितनी होगी?

[उत्तर-संकेत $e = \frac{AR}{AR - MR}$ e = 1 लेने पर तथा तिरछा गुणा करने पर (AR − MR) = AR तथा AR − MR = AR MR = 0 होगी।]

11 वाटसन व होल्मैन के सूत्र का उपयोग करके निम्नलिखित आँकड़ों के आधार पर लोच गुणांक ज्ञात कीजिए—

बिन्दु	कीमत	माँग की मात्रा
A	2 00 रुपया	150
B	2 10 रुपया	135

[उत्तर-संकेत वाटसन व होल्मैन का आर्क लोच का सूत्र लगाने पर

$$e = \frac{\Delta Q}{\frac{1}{2}(Q_1 + Q_2)} \bigg/ \frac{\Delta P}{\frac{1}{2}(P_1 + P_2)} = \frac{15}{285} \times \frac{410}{10}$$

$$= \frac{41}{19} = 2\ 2 \text{ (ऋणात्मक)।}]$$

12 सिद्ध कीजिए—

सीमान्त आगम = कीमत $\left(1 + \frac{1}{e}\right)$ जहाँ e लोच है।

[उत्तर—संकेत इस सूत्र में लोच को *ऋणात्मक निशान सहित रखा जाएगा,* ताकि सही परिणाम आ सके, जबकि सीमान्त आगम = कीमत $\left(1 - \frac{1}{e}\right)$ सूत्र में e को धनात्मक निशान सहित रखना होगा।]

13 कीमत के 2 रुपए प्रति इकाई होने पर वस्तु की माँग प्रति सप्ताह 300 इकाई है। कीमत के बढ़कर 2 10 रुपए प्रति इकाई हो जाने पर माँग घटकर 270 इकाई हो जाती है। आप इस दशा में माँग की लोच को कैसे मापेंगे? इस ज्ञान का क्या लाभ है?

[उत्तर—चूँकि यहाँ कीमत का परिवर्तन अधिक है, अत लोच के माप में माँग व कीमत की निचली राशियों से गणना करनी होगी। अत

$$e = \frac{30}{270} - \frac{10}{200}$$

$$= \frac{30}{270} \times \frac{200}{10} = -\frac{20}{9}$$

= −2 2 होगी, तत्पश्चात् माँग की लोच का महत्त्व स्पष्ट कीजिए।]

14 निम्न दशाओं में माँग की लोच की प्रकृति लिखिए और साथ ही में उसका अंकीय माप भी दीजिए—

(अ) एयर कन्डीशनर का मूल्य 300 रुपए घट जाता है, लेकिन माँग यथावत् रहती है।

(ब) चाय का मूल्य 5% घट जाता है और कॉफी की माँग 10% घट जाती है।

(स) मक्खन का मूल्य 5% बढ़ जाता है और उबल रोटी की माँग 10% घट जाती है।

(द) एक उपभोक्ता की आय 10% बढ़ जाती है और उसकी चावल की माँग 50% बढ़ जाती है।

हल (अ) माँग की कीमत-लोच = 0

(ब) माँग की तिरछी लोच $= \frac{-10\%}{-5\%} = +2$

(स) माँग की तिरछी लोच $= \frac{-10\%}{+5\%} = -2$

(द) माँग की आय लोच $= \frac{50\%}{10\%} = 5$]

15 (अ) सीधी रेखा वाले माँग वक्र के किसी बिन्दु पर कीमत लोच को किस प्रकार मापते हैं?

(ब) माँग की कीमत लोच के निर्धारकों की व्याख्या कीजिए।

(स) माँग की कीमत लोच का हिसाब लगाइए, जबकि किसी वस्तु की 10 रुपए प्रति इकाई कीमत पर 20 इकाइयों की माँग की जाती है और जब कीमत गिरकर 8 रुपए प्रति इकाई होती है, तब 25 इकाइयों की माँग होती है।

(द) क्या दी हुई कीमत पर दो समान्तर माँग रेखाओं पर माँग की लोच समान होगी?

[उत्तर-संकेत (अ) माँग लोच $= \frac{\text{बिन्दु का निचला भाग}}{\text{बिन्दु का ऊपरी भाग}}$

(ब) विभिन्न तत्वों का विवेचन कीजिए।

(स) e = 1, इसके लिए माँग व कीमत दोनों के परिवर्तन निचली मात्राओं को आधार मानकर ज्ञात करें, जिससे

$$e = \frac{\frac{5}{20}}{\frac{2}{8}} = \frac{5}{20} \times \frac{8}{2} = 1 \text{ होगी,}$$

(द) नहीं, माँग की लोच $= \frac{\text{बिन्दु का निचला भाग}}{\text{बिन्दु का ऊपरी भाग}}$

चित्र बनाकर सूत्र का उपयोग करके देखिए।]

16 (अ) माँग की कीमत लोच किसे कहते हैं? माँग की कीमत लोच को मापने की कुल व्यय की विधि को समझाइये।

(ब) एक विशेष माँग वक्र का समीकरण $P_q = 12$ है। इसमें P = कीमत, q = माँगी गई मात्रा है, तो माँग सारणी बनाइये तथा प्रत्येक कीमत पर माँगा गई मात्रा और कुल खर्च ज्ञात कीजिए।

उत्तर—(ब) माँग सारणी

कीमत (रु. में) (p)	माँगी गई मात्रा (q)	कुल खर्च (रु. में) (TR)
12	1	12
11	12/11	12
10	6/5	12
9	4/3	12
8	3/2	12
7	12/7	12
6	2	12
5	12/5	12
4	3	12
3	4	12
2	6	12
1	12	12

किन्हीं दो कीमतों पर माँग की कीमत लोच ज्ञात कीजिए।

[उत्तर-संकेत— $pq = 12$ समीकरण में $p = 12$ रखने पर $12q = 12$ होगा। अतः $q = 1$ होगा। इसी प्रकार अन्य कीमतों पर माँग की मात्राएँ ज्ञात की जा सकती हैं। $P = 1$ होने पर, $q = 12$ होगा। यह माँग वक्र एक आयताकार हाइपरबोला है, इसलिए इस पर माँग की लोच सर्वत्र एक के बराबर होगी।]

17 निम्न समीकरण माँग को व्यक्त करता है। इसके आधार पर माँग की मात्रा और कुल व्यय को ज्ञात कीजिए—

$Pq = P(10 - P)$ जहाँ P = कीमत और q = मात्रा को सूचित करते हैं, कुल व्यय की सारणी के आधार पर बतलाइए कि किन कीमतों पर माँग की लोच इकाई से अधिक एवं इकाई से कम होगी?

कीमत (रु. में)	10	9	8	7	6	5	4	3	2	1
माँग की मात्रा										
कुल व्यय										

□ □ □

10

उपभोक्ता की बचत*

(Consumer's Surplus)

अर्थशास्त्र में उपभोक्ता की बचत की अवधारणा का बहुत महत्त्व माना गया है। यह अवधारणा समझने की दृष्टि से काफी सरल होती है, हालाँकि इसके माप के सम्बन्ध में काफी विवाद पाया गया है, जो इस अध्याय में आगे चलकर स्पष्ट किया जाएगा। हम जानते हैं कि आधुनिक युग में हमें अनेक वस्तुएँ, जैसे नमक, माचिस, अखबार, टेलीफोन, बिजली, पानी आदि, अपेक्षाकृत सस्ते भावों पर मिल जाते हैं। इनके लिए हम जो कीमतें देते हैं उनकी तुलना में हमें सन्तोष बहुत अधिक मिलता है। इस प्रकार हमें एक प्रकार का अतिरिक्त सन्तोष मिलता है, जिसे अर्थशास्त्र में उपभोक्ता की बचत कहते हैं। वस्तु स्थिति यह है कि इन वस्तुओं के अभाव में रहने की अपेक्षा हम इनके लिए ऊँची कीमतें देने को भी तत्पर हो जाते। अत हमें अपने वातावरण व परिस्थितियों के कारण अनेक पदार्थों से जो अतिरिक्त सन्तोष मिलता है, उसका बड़ा महत्व होता है। आधुनिक सभ्यता के विकास के साथ साथ उपभोक्ताओं को दैनिक उपयोग की सस्ती वस्तुएँ अधिक सख्या में मिलने लगी हैं, जिससे व्यक्तिगत उपभोक्ता की बचत में काफी वृद्धि हुई है।

परिभाषा—उपभोक्ता की बचत की अवधारणा का उपयोग सर्वप्रथम फ्रास के इन्जीनियर डयूपिट (Dupuit) ने किया था उसने इस बात का पता लगाने के लिए कि एक पुल के निर्माण के लिए आर्थिक सहायता दी जाए अथवा नहीं, इसके निर्माण की लागत को जानने के सम्बन्ध में उपभोक्ता की बचत के विचार का उपयोग किया था। डयूपिट को यह जानकारी थी कि एक उपभोक्ता एक वस्तु के लिए जितनी राशि वास्तव में देता है उससे कहीं अधिक राशि वह देने को तत्पर हो सकता है, और इस प्रकार उसे एक प्रकार की अतिरिक्त सन्तुष्टि या बचत प्राप्त होती है।

एल्फ्रेड मार्शल ने 1890 में उपभोक्ता की बचत की अवधारणा का उपयोग किया और इसकी निम्न परिभाषा दी—'एक वस्तु के अभाव में रहने की अपेक्षा वह

---

* Consumers Surplus को हिन्दी में 'उपभोक्ता का आधिक्य' उपभोक्ता का अतिरेक उपभोक्ता की बेशी, आदि नामों से भी सूचित किया जाता है।

(एक उपभोक्ता) जो कुछ कीमत उसके लिए देने को उद्यत हो जाता है, वह उस राशि से अधिक हुआ करती है, जो वह वास्तव में देता है, यह आधिक्य इस अतिरिक्त सन्तुष्टि का आर्थिक माप होता है। इसे उपभोक्ता की बचत कहा जा सकता है।'[1] मार्शल के अनुसार, 'उपभोक्ता की बचत का माप निम्नांकित ढंग से किया जा सकता है। एक उपभोक्ता की सीमान्त उपयोगिता-अनुसूची बना ली जाती है और प्रत्येक इकाई से प्राप्त उपयोगिता में से उसके लिए दी जाने वाली कीमत घटा देने से उपभोक्ता की बचत प्राप्त हो जाती है।

सारणी 1—X-वस्तु में प्राप्त उपभोक्ता की बचत

वस्तु की इकाई	सीमान्त उपयोगिता (पैसों में)	कीमत (पैसों में)	उपभोक्ता की बचत (पैसों में)
1	100	20	100–20 = 80
2	80	20	80–20 = 60
3	60	20	60–20 = 40
4	40	20	40–20 = 20
5	20	20	20–20 = 0
कुल	300	100	300–100 = 200

उपर्युक्त दृष्टान्त में X-वस्तु की पाँच इकाइयों से कुल उपयोगिता 300 पैसों के बराबर मिलती है और वस्तु की प्रति इकाई 20 पैसे के हिसाब से कुल 100 पैसे देने होते हैं। अत उपभोक्ता की बचत (300-100) = 200 पैसे होगी। उपभोक्ता की बचत को निम्न सूत्र का उपयोग करके निकाला जा सकता है—

$$\text{उपभोक्ता की बचत (CS)} = \text{कुल उपयोगिता (TU)} - (p \times n)$$

---

1 "The excess of the price which he would be willing to pay rather than go without the thing over that which he actually does pay, is the economic measure of this surplus satisfaction. It may be called consumer's surplus.
—Marshall Principles of Economics, 8th edition p 103

सैमुअल्सन व नोरडाउस के अनुसार एक वस्तु की कुल उपयोगिता और उसके कुल बाजार मूल्य का अन्तर उपभोक्ता की बचत कहलाता है। यह बचत इसलिए उत्पन्न होती है कि हम जितना देते हैं, उससे अधिक पाते हैं, यह बचत घटती हुई सीमान्त उपयोगिता के नियम में सम्मिहित होती है। उन्हीं के शब्दों में "The gap between the total utility of a good and its total market value is called consumer surplus The suplus arises because we" receive *more than we pay for' as a result of the law of diminishing marginal utility"* —Economics, 16th ed 1998 p 91

1 इन सभी परिभाषाओं का सार परस्पर काफी मिलता-जुलता है। उपभोक्ता की बचत मूलतया मार्शल द्वारा दिया हुआ दृष्टिकोण होने के कारण हमने इस अध्याय में विशेष रूप से मार्शल के विचारों को समझने पर ही अधिक ध्यान केन्द्रित किया है।

जहाँ TU कुल उपयोगिता है और P वस्तु की कीमत है और n वस्तु की खरीदी जाने वाली इकाइयाँ हैं।
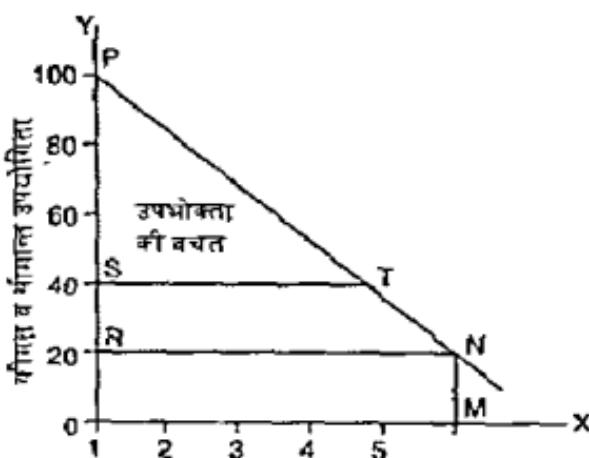
चित्र 1—उपभोक्ता की बचत (मार्शल की विधि)

उपर्युक्त उदाहरण में, उपभोक्ता की बचत (C.S.) = 300 – (20 × 5) = 300 – 100 = 200 पैसे होती है। प्रो मार्शल ने उपभोक्ता की बचत का रेखाचित्र द्वारा माप प्रस्तुत किया है, जो उपर्युक्त चित्र 1 में दर्शाया गया है।

चित्र 1 में OX-अक्ष पर वस्तु की मात्राएँ ली गयी हैं और OY-अक्ष पर सीमान्त उपयोगिता व कीमत मापी गयी हैं। यहाँ पर वस्तु की कीमत OR है। उपभोक्ता को X वस्तु की पाँच इकाइयों से कुल उपयोगिता OMNP मिलती है और उसे कुल कीमत ORNM देनी होती है। इस प्रकार उपभोक्ता की बचत (OMNP क्षेत्र–ORNM क्षेत्र) = RPN त्रिकोण के क्षेत्र से प्रकट होती है।

यह समझना बड़ा आसान होगा कि कीमत के OR (20 पैसे) से बढ़कर OS (40 पैसे) हो जाने पर उपभोक्ता की बचत RPN से घटकर SPT हो जाएगी। इसी प्रकार कीमत के घट जाने पर उपभोक्ता की बचत बढ़ जाएगी। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वस्तु की कीमत के परिवर्तित हो जाने से उपभोक्ता की बचत भी परिवर्तित हो जाती है। वस्तु की कीमत व उपभोक्ता की बचत एक-दूसरे के विपरीत दिशा में जाते हैं।

मार्शल के विवेचन में उपभोक्ता की बचत की मान्यताएँ

मार्शल के द्वारा प्रस्तुत की गयी उपभोक्ता की बचत की अवधारणा का विवेचन करना बहुत सरल है। इसका कारण है कि उसने इस सम्बन्ध में निम्न मान्यताएँ (assumptions) स्वीकार करके विश्लेषण को कई प्रकार की जटिलताओं से मुक्त कर दिया है जिससे यह काफी सरल हो गया है—

(1) उपयोगिता व सन्तोष के बीच एक सुनिश्चित सम्बन्ध—मार्शल की पहली मान्यता यह है कि उपयोगिता और सन्तोष (utility and satisfaction) में एक सुनिश्चित सम्बन्ध पाया जाता है। उपभोक्ता एक वस्तु को खरीदते समय कुछ सन्तोष प्राप्त करने की आशा करता है हो सकता है कि उपभोग के बाद प्राप्त सन्तोष इससे कम या अधिक मिले। इससे कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं। मान लीजिए, हमने सिनेमा देखने से पूर्व इससे 20 रुपये की उपयोगिता का अनुमान लगाया था और इस पर कुल 15 रुपये व्यय किये थे। लेकिन कल्पना कीजिए कि सिनेमा देख चुकने के बाद हमें आशा के विपरीत केवल 4 रुपये की ही उपभोक्ता की बचत मिली। ऐसी स्थिति में सिनेमा देखने से पूर्व 5 रु के बराबर उपभोक्ता की बचत का अनुमान लगाया गया था, जो सिनेमा देखने के बाद एक रुपये कम मिला, अर्थात् वास्तविक उपभोक्ता की बचत प्रत्याशित उपभोक्ता की बचत से कम निकली।

उपर्युक्त कठिनाई से बचने के लिए प्रोफेसर मार्शल ने यह मान लिया था कि प्राप्त उपयोगिता सदैव प्रत्याशित उपयोगिता(expected utility) के बराबर ही मिलती है। केनेथ बोल्डिंग ने उपभोक्ता की बचत को 'क्रेता की बचत' (Buyer's surplus) कहा है, क्योंकि उसके मतानुसार, यह क्रेता की उपयोगिता के आधार पर मापी गयी है।

(2) मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता स्थिर मान ली गयी है—मार्शल ने मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता को स्थिर मान लिया था, जिससे चित्र 1 में RN रेखा OX-अक्ष के समानान्तर हो जाती है। उसका मत था कि एक वस्तु पर मुद्रा की इतनी थोड़ी राशि व्यय की जाती है कि व्यवहार में मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता समान मानी जा सकती है। लेकिन आधुनिक लेखकों का मत है कि कुछ वस्तुओं पर जैसे खाद्यान्न, वस्त्र आदि पर उपभोक्ता अपनी आय का काफी महत्वपूर्ण अंश व्यय करता है, जिससे मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता व्यय के साथ साथ बढ़ती जाती है। यदि हम इस आलोचना को स्वीकार कर लें तो भी उपभोक्ता की बचत की अवधारणा समाप्त नहीं हो जाती। लेकिन RN रेखा के ऊपर की ओर उठने के कारण यह कुछ कम अवश्य हो जाती है। हिक्स ने उपभोक्ता की बचत का माप तटस्थता वक्रों की सहायता से स्पष्ट किया है, जिसमें मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता को समान मानने की आवश्यकता नहीं रह पाती। इसका वर्णन आगे चलकर किया गया है।

(3) माँग-वक्र की सभी मान्यताएँ स्वीकृत मानी जाती है—प्रो मार्शल के अनुसार उपभोक्ता की बचत का विचार सीमान्त उपयोगिता वक्र पर आश्रित है। अतएव इसमें वे सब मान्यताएँ आ जाती हैं जो माँग वक्र के सम्बन्ध में होती हैं। हम पहले देख चुके हैं कि माँग वक्र, अन्य बातों के समान रहने पर, एक वस्तु की कीमत के परिवर्तन का प्रभाव उस वस्तु की माँग की मात्रा पर बतलाता है। माँग वक्र में एक वस्तु पर ही विचार किया जाता है, लेकिन हम जानते हैं कि एक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता पर उस वस्तु की मात्रा के साथ साथ दूसरी वस्तु की मात्राओं के परिवर्तन का भी प्रभाव पड़ता रहता है। अतः उपभोक्ता की बचत की अवधारणा के माँग वक्र की अवधारणा

पर आधारित होने से इसमें कई प्रकार की कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं। ये कठिनाइयां भी हिक्स के माप से बहुत कुछ दूर हो जाती हैं।

(4) वैयक्तिक सीमान्त उपयोगिताओं के अन्तरों पर ध्यान नहीं—बाजार उपभोक्ता की बचत (market consumer's surplus) के माप में मार्शल ने विभिन्न व्यक्तियों के बीच सीमान्त उपयोगिताओं के अन्तरों पर ध्यान नहीं दिया था। विभिन्न व्यक्तियों में आय व रुचि के भेद होने से एक वस्तु के प्रति उनकी सीमान्त उपयोगिताओं में अन्तर देखने को मिलते है। मार्शल ने अपने विश्लेषण में सीमान्त उपयोगिताओं के अन्तरों पर ध्यान नहीं दिया था। *ऐसा विश्लेषण की सरलता के लिए किया गया था।* समस्त बाजार में एक वस्तु की उपभोक्ता की बचत की जानकारी आर्थिक नीति निर्धारण में बहुत मदद करती है। अतएव मार्शल ने उपर्युक्त मान्यता के आधार पर बाजार उपभोक्ता बचत का विवेचन किया था जिससे इसका माप पूरी तरह सही नहीं माना जा सकता।

(5) उपयोगिता मापनीय (Utility is measurable)—माँग वक्र की भाँति उपभोक्ता की बचत में भी मार्शल ने उपयोगिता को मापनीय माना है। हम देख चुके हैं कि तटस्थता वक्र विश्लेषण के समर्थकों ने इस पर आपत्ति की है। उन्होंने अपना वैकल्पिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है जिसमें उपयोगिता को मापने की आवश्यकता नहीं रहती।

मार्शल ने उपभोक्ता की बचत का माप प्रस्तुत किया है। वह कई मान्यताओं पर आधारित होने से अर्थशास्त्र में सीमित महत्व का माना गया है। 'आय प्रभावों' को छोड़ देने पर तो *मार्शल का उपभोक्ता की बचत का विचार लागू हो सकता है।* अतः इसकी मान्यताओं को लेकर काफी विवाद रहा है।

हिक्स व हैण्डरसन ने उपभोक्ता की बचत की अवधारणा को अधिक परिष्कृत व परिमार्जित करने का प्रयास किया है और ऐसा करके मार्शल के विवेचन में काफी सुधार किया है। हम यहाँ पर हिक्स की विधि का उपयोग करके (तटस्थता वक्रों के माध्यम से) उपभोक्ता की बचत का माप प्रस्तुत करते हैं। इस अध्याय के परिशिष्ट में हिक्स द्वारा सुझाए गए उपभोक्ता की बचत के चार रूपों (four forms of CS) का भी सरल विवेचन दिया गया है जिससे इस अवधारणा के वर्तमान विकसित रूप की जानकारी होती है।

उपभोक्ता की बचत को मापने की हिक्स की विधि अथवा तटस्थता-वक्रों का उपयोग करके उपभोक्ता की बचत को मापने की विधि

हिक्स ने तटस्थता वक्रों का उपयोग करके उपभोक्ता की बचत का माप प्रस्तुत किया है जो मार्शल के उपयोगिता दृष्टिकोण की तुलना में अधिक वैज्ञानिक व अधिक तर्कसंगत माना गया है। यह आगे के चित्र में स्पष्ट हो जाता है—
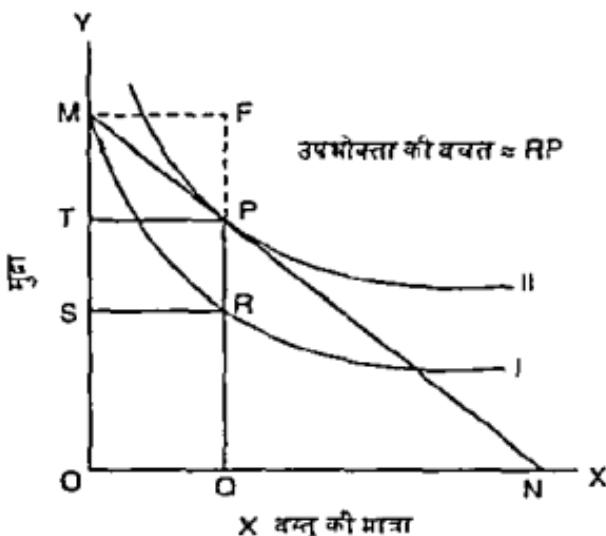
चित्र 2—तटस्थता वक्रों द्वारा उपभोक्ता की बचत का माप

चित्र 2 में OX-अक्ष पर वस्तु की मात्राएं और OY-अक्ष पर मुद्रा की इकाइयाँ दर्शायी गयी हैं। उपभोक्ता के पास कुल OM मुद्रा राशि है जिसे X पर व्यय करके वह ON मात्रा प्राप्त कर सकता है। अत MN कीमत रेखा है जो तटस्थता वक्र II को P बिन्दु पर स्पर्श करती है। P बिन्दु पर उसको X की OQ मात्रा और मुद्रा की PQ मात्रा मिलती है। अत उसे X वस्तु की OQ मात्रा प्राप्त करने के लिए TM = PF मुद्रा की मात्रा देनी होती है। एक दूसरा तटस्थता वक्र I है जो M बिन्दु में से गुजरता है। यह तटस्थता वक्र II मे नीचे रहता है। इस पर R बिन्दु पर उपभोक्ता OQ मात्रा के लिए SM अथवा RF मुद्रा की मात्रा देता है।

इस प्रकार X की OQ मात्रा के लिए उपभोक्ता RF मुद्रा की मात्रा दे सकता है, लेकिन उसे वास्तव में PF मुद्रा की मात्रा ही देनी होती है। अत उपभोक्ता की बचत = (RF-PF) = RP होती है। इस प्रकार तटस्थता वक्र की विधि के अनुसार उपभोक्ता की बचत RP के बराबर मानी जाएगी।

उपभोक्ता की बचत को मापने की यह विधि उन विभिन्न मान्यताओं से मुक्त होती है जो मार्शल के विवेचन में पायी जाती है। इसमें उपयोगिता को नहीं मापा जाता, मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता स्थिर नहीं रहती और रेखाचित्र X-अक्ष पर एक वस्तु ली जाती है तो दूसरी ओर Y-अक्ष पर मुद्रा ली जाती है, जो एक तरह से अन्य सभी वस्तुओं के समूह की सूचक होती है। हिक्स ने उपभोक्ता की बचत के चार रूप और बतलाए हैं जिनमें इस अवधारणा को अधिक विकसित होने का अवसर मिला है। ये रूप इस अध्याय के परिशिष्ट में दिए गए हैं जिनका आवश्यकतानुसार उपयोग किया जा सकता है।

उपभोक्ता की बचत की अवधारणा की आलोचना या कमियाँ
(Criticism or Shortcomings of the Concept *of Consumer's Surplus)*

उपभोक्ता की बचत की अवधारणा की काफी आलोचना की गयी है। अधिकांश आलोचनाएँ इसकी मापनीयता (measurement) से ही सम्बन्ध रखती हैं। हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं कि मार्शल द्वारा स्वीकृत मान्यताओं के कारण भी उपभोक्ता की बचत की अवधारणा को काफी आलोचना का शिकार होना पड़ा है।

इसकी प्रमुख आलोचनाएँ या कमियाँ इस प्रकार हैं—

(1) एक उपभोक्ता जो कुछ दे सकता है और वास्तव में जो कुछ देता है वे दोनों समान होते हैं—*आलोचकों का मत है कि एक उपभोक्ता जो कुछ एक वस्तु* के लिए देता है उससे ज्यादा वह दे नहीं सकता। उसकी आमदनी स्थिर होती है और उसे एक साथ कई वस्तुएँ खरीदनी होती हैं। यदि कोई वस्तु उसे बाजार भाव पर नहीं मिलती तो वह किसी दूसरी स्थानापन्न वस्तु पर चला जाता है। यूलीस गोब्बी (Ulisse *Gobbi*) का मत है कि अन्त में *उपभोक्ता की बचत शून्य पर आ जाती है।* जब उपभोक्ता अपनी खरीद प्रारम्भ करता है तो हो सकता है वह अपनी सम्पूर्ण आय एक ही वस्तु पर व्यय करने को तैयार हो जाए। लेकिन जब वह वस्तु उसे कुछ मात्रा में मिल जाती है तो वह दूसरी वस्तु की तरफ चला जाता है। इससे उसके पास कम मुद्रा रह जाती है। यदि दूसरी वस्तु लेने के बाद उसके पास कुछ मुद्रा बचती है तो वह तीसरी वस्तु की तरफ चला जाता है और इस प्रकार दी जा सकने वाली व वास्तव में *दी जाने वाली कीमत का अन्तर लगातार घटता जाता है, और अन्त में वह समाप्त हो* जाता है। इस आलोचना का उत्तर अगले शीर्षक के अन्तर्गत दिया गया है।

(2) अतिरिक्त इकाइयों के लेने से न केवल इनकी उपयोगिता घटती है, बल्कि **सभी इकाइयों की उपयोगिता घटती है**—मान लीजिए, हम X वस्तु की पाँच इकाइयाँ *लेते हैं और ये सब एक-सी होती हैं। सारणी 1 में इनसे कुल उपयोगिता 300 पैसों* के बराबर मिली थी। यहाँ पर सीमान्त उपयोगिता पाँचवीं इकाई से 20 पैसे के बराबर *मिली थी। आलोचकों का मत है कि कुल उपयोगिता यहाँ पर $(20 \times 5) = 100$* पैसे के बराबर होती है, जो कीमत के बराबर होती है। अत उपभोक्ता की बचत शून्य *के बराबर होती है। यूलीस गोब्बी ने भी यही मत प्रकट किया है।*

(1) व (2) आलोचनाओं के प्रत्युत्तर—उपर्युक्त दोनों आलोचनाओं में कुछ सच्चाई अवश्य है। लेकिन उपभोक्ता की बचत एक 'मनोवैज्ञानिक सन्तोष' होता है और इसी रूप में उसे देखा जाना चाहिए। व्यवहार में ऐसी स्थिति अवश्य पायी जाती है *कि उपभोक्ता किसी वस्तु के अभाव में रहने की अपेक्षा उसके लिए प्रचलित कीमत* से अधिक कीमत देने को तैयार हो जाता है। अनेक व्यक्ति दानेदार चीनी के लिए इसके अभाव में रहने की अपेक्षा सम्भवतया 20 रु प्रति किलो से भी अधिक कीमत देने को तैयार हो सकते हैं। इसका अर्थ यह है कि उनको वर्तमान कीमत (लगभग 16 रुपये) पर दानेदार चीनी के उपयोग से उपभोक्ता की बचत मिलती है। उपभोक्ता की

बचत के माप में कठिनाई का अर्थ यह नहीं है कि इस तरह की बचत होती ही नहीं। अतः उपर्युक्त दोनों आलोचनाओं को पूर्णतया स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(3) स्थानापन्न पदार्थों की उपलब्धि से उपभोक्ता की बचत घट जाती है—स्थानापन्न पदार्थों के पाए जाने से उपभोक्ता की बचत अनिश्चित हो जाती है। मान लीजिए, बाजार में गोल्ड स्पोट का मिलना बन्द हो जाता है, तो उपभोक्ता इसकी जगह कोई दूसरा ठण्डा पेय पदार्थ प्रतिस्थापित कर लेंगे। इससे उपभोक्ता की बचत को कम क्षति पहुँचेगी। यदि गोल्ड स्पोट का कोई स्थानापन्न पदार्थ नहीं होता, तो उपभोक्ता की बचत को ज्यादा हानि पहुँचती। अतः जिस सीमा तक स्थानापन्न पदार्थ पाए जाते हैं उस सीमा तक उपभोक्ता की बचत का माप अनिश्चित एवं कम हो जाता है। आलोचकों का मत है कि आधुनिक जीवन में अनेक वस्तुएँ ऊपर से एक दूसरे से भिन्न लगने पर भी एक-दूसरे से प्रतिस्पर्धा करती रहती हैं और उपभोक्ता की आय को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयास करती हैं। उपभोक्ता एक दिए हुए समय में अपनी मुद्रा को सिनेमा, जूते, मिठाई आदि वस्तुओं व सेवाओं पर व्यय करने की योजना बनाता रहता है और ये वस्तुएं कुछ सीमा तक एक-दूसरे के स्थानापन्न के रूप में काम करती रहती हैं। यदि एक वस्तु की कीमत बढ जाती है तो उपभोक्ता शीघ्र ही अन्य किसी स्थानापन्न वस्तु की तरफ जाने की बात सोचने लगता है। इस प्रकार उपभोक्ता की बचत जैसी अवधारणा का विशेष महत्व या प्रभाव नहीं रह जाता है।

प्रोफेसर मार्शल ने स्थानापन्न वस्तुओं की कठिनाई का यह हल सुझाया था कि उन सबको एक वस्तु मान लिया जाए। जैसे चाय व काफी के परस्पर स्थानापन्न होने के कारण इनको एक वस्तु मानकर अध्ययन करना चाहिए। लेकिन इससे समस्या का पूरा समाधान नहीं हो पाता।

प्रत्युत्तर—इस आलोचना के प्रत्युत्तर में भी यह कहा जा सकता है कि स्थानापन्न पदार्थों के पाए जाने से उपभोक्ता की बचत कम होती है और पूर्ण स्थानापन्न पदार्थों के पाए जाने पर यह समाप्त भी हो जाती है। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या प्रत्येक स्थिति में पूर्ण अथवा काफी समीप के स्थानापन्न पदार्थ मिलते हैं? हम व्यवहार में देखते हैं कि उपभोक्ता आदत व फैशन के प्रभाव में आकर भी अपने व्यय का निर्धारण करते हैं। अतः यह निश्चित है कि उपभोक्ता कुछ वस्तुओं के लिए उनकी प्रचलित कीमतों की तुलना में ज्यादा राशि देने को अवश्य उद्यत हो जाते हैं और उन्हें इनके उपयोग से एक विशेष प्रकार का 'मानसिक सन्तोष' मिलता है, जिसे उपभोक्ता की बचत कहा जा सकता है।

(4) उपभोक्ता की बचत पूर्णतया काल्पनिक व अवास्तविक अवधारणा है—प्रोफेसर निकल्सन ने उपभोक्ता की बचत की अवधारणा को काल्पनिक व निरर्थक बतलाया है। उसका मत है कि 'इस बात में कोई सार नहीं है कि 100 पौण्ड वार्षिक आय की उपयोगिता 1000 पौण्ड के बराबर है'। इस आलोचना के उत्तर में भी यही कहा जाएगा कि उपभोक्ता की बचत जैसी अवधारणा व्यवहार में अवश्य पायी जाती है, क्योंकि एक

सम्पन्न व विकसित देश में एक व्यक्ति को अनेक प्रकार की सस्ती वस्तुएँ व सेवाएँ सुलभ होने से वह निर्धन व अविकसित देश के निवासियों की तुलना में थोडी आमदनी को व्यय करके भी अधिक सन्तोष प्राप्त कर सकता है। स्वय मार्शल ने इंग्लैण्ड व मध्य अफ्रीका के जीवन की तुलना करके यह बतलाया था कि इंग्लैण्ड में एक व्यक्ति 300 से 400 पौण्ड व्यय करके मध्य अफ्रीका में 1000 पौण्ड के व्यय की तुलना में अधिक सन्तोष प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार उपभोक्ता की बचत की अवधारणा निरर्थक व काल्पनिक नहीं मानी जा सकती।

(5) जीवनरक्षक अनिवार्यताओं व विलासिताओं मे उपभोक्ता की बचत का माप करना कठिन होता है—जीवनरक्षक अनिवार्यताओं की कीमत तो कम होती है और उनसे प्राप्त सन्तोष वस्तुत अमापनीय होता है। अत उनसे प्राप्त उपभोक्ता की बचत का अनुमान लगाना कठिन होता है। विलासिताओं में उपयोगिता उनकी कीमतों के स्तर पर निर्भर करती है। यदि इनकी कीमतें कम हो जाती हैं तो सम्भवत उपभोक्ता की बचत बहुत घट जाती है।

(6) मार्शल के विवेचन मे उपभोक्ता की बचत की अवधारणा विवादग्रस्त मान्यताओं पर आधारित—उपभोक्ता की बचत पर जो कई प्रकार की आपत्तियाँ उठायी गयी हैं, वे मुख्यतया इस अवधारणा के पीछे स्वीकृत मार्शल की मान्यताओं पर ही आधारित हैं। हम पहले इनका विस्तृत विवेचन कर चुके हैं। अत यहाँ उनकी तरफ *केवल सकेत करना ही पर्याप्त होगा (i) मार्शल ने उपयोगिता को मापनीय माना था,* (ii) उसके द्वारा मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता समान मान ली गई थी, (iii) माँग वक्र में, अन्य बातों को समान मानकर, केवल एक वस्तु की कीमत के परिवर्तन का प्रभाव उसकी माँग की मात्रा पर देखा जाता है। इसमें एक वस्तु की माँग पर दूसरी वस्तु का प्रभाव नही देखा जाता, (iv) बाजार माँग वक्र के निर्माण में मार्शल ने लोगों की रुचि, फैशन व आय के अन्तरों पर ध्यान नहीं दिया था, आदि आदि। इससे बाजार उपभोक्ता की बचत की अवधारणा अनिश्चित हो जाती है।

हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि हिक्स ने तटस्थता वक्रों का उपयोग करके उपभोक्ता की बचत का जो माप प्रस्तुत किया है, उसमें ये कमियाँ नही रह जाती हैं और उपभोक्ता की बचत का माप भी अधिक वैज्ञानिक व अधिक सुनिश्चित हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि उपभोक्ता की बचत की अवधारणा में मापनीयता की दृष्टि से कई प्रकार की कठिनाइयाँ पायी जाती हैं। लेकिन इसमें कोई सन्देह नही कि इसका अस्तित्व अवश्य होता है। हमें कई वस्तुओं के उपभोग से उनकी कीमत की तुलना में अधिक 'मानसिक सन्तोष' मिलता है। इस 'अतिरिक्त मानसिक सन्तोष' का उपभोक्ता के लिए बडा महत्त्व होता है। सरकार को भी ऐसी आर्थिक नीतियाँ अपनानी चाहिए जिनसे उपभोक्ता की बचत ज्यादा से ज्यादा बढे, अथवा इसे कम से कम हानि पहुँचे। तभी सामाजिक कल्याण अधिकतम हो सकेगा। उपभोक्ता की बचत का महत्त्व नहीं स्पष्ट किया जाता है।

उपभोक्ता की बचत की अवधारणा का महत्त्व
(Importance of the Concept of Consumer's Surplus)

उपभोक्ता की बचत की अवधारणा का सैद्धान्तिक व व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से काफी महत्त्व माना गया है। सैद्धान्तिक दृष्टि से उपभोक्ता की बचत की अवधारणा हमें उपयोग-मूल्य (Value-in use) व विनिमय-मूल्य (value-in-exchange) में अन्तर करने का अवसर देती है। आधुनिक जीवन की अनेक वस्तुएँ व सेवाएँ जैसे पोस्टकार्ड, अखबार, बिजली, सिटी बस, आदि से हमें उपयोगिता अधिक मिलती है, जबकि हमें इनके लिए मूल्य काफी नीचा देना होता है। अतः उपयोग-मूल्य व विनिमय-मूल्य का भेद उपभोक्ता की बचत की अवधारणा से स्पष्ट हो जाता है। कल्याणकारी अर्थशास्त्र (welfare economics) में उपभोक्ता की बचत के सिद्धान्त का व्यापक रूप से उपयोग किया जाता है। इसके विभिन्न उपयोग करारोपण व मूल्य-निर्धारण आदि में नीचे दिए जाते हैं—

(1) दो स्थानों की एव एक ही स्थान पर विभिन्न समयों में आर्थिक स्थिति की तुलना—उपभोक्ता की बचत की सहायता से आर्थिक स्थिति की तुलना की जाती है। मान लीजिए, अमरीका की तुलना में भारत में उपभोक्ता को बचत अधिक मिलती है तो हम कहेंगे कि भारत में आर्थिक स्थिति ज्यादा अच्छी है। उपभोक्ता-वर्ग को यदि किसी देश में आज पहले की अपेक्षा ज्यादा वस्तुएँ सस्ते भावों पर मिलती हैं तो लोगों की आर्थिक स्थिति में सुधार माना जाएगा। हम पहले बतला चुके हैं कि वस्तुओं के भाव बढ़ने से उपभोक्ता की बचत घटती है, और लोगों की आर्थिक स्थिति खराब हो जाती है। भारत में योजनाकाल में दैनिक जीवन की अनेक वस्तुओं के भाव बढ़ जाने से उपभोक्ता-वर्ग की आर्थिक स्थिति को काफी क्षति पहुँची है। लेकिन कम कीमत पर ट्राम, सिटी-बस, उपनगरीय ट्रेन, पानी, बिजली, शिक्षा, दवा आदि की सुविधाएँ बढ़ने से उपभोक्ता की बचतें बढ़ी भी हैं।

(2) सार्वजनिक वित्त में महत्त्व—मार्शल ने उपभोक्ता की बचत के आधार पर यह सिद्ध किया था कि सरकार को बढ़ती हुई लागत वाले उद्योगों (increasing cost industries) पर कर लगाना चाहिए, और घटती हुई लागत वाले उद्योगों (decreasing cost industries) को आर्थिक सहायता (सब्सिडी) देनी चाहिए।

(क) बढ़ती हुई लागत वाले उद्योग पर कर व उपभोक्ता की बचत—कर लगाने से सरकार को आमदनी प्राप्त होती है (इसे लाभ-पक्ष माना जा सकता है) और दूसरी ओर वस्तु की कीमत बढ़ने से उपभोक्ता की बचत की हानि होती है (इसे हानि-पक्ष माना जा सकता है)। यदि सरकार की आमदनी की मात्रा उपभोक्ता की बचत की हानि से अधिक होती है तो कर लगाना उचित माना जा सकता है। ऐसा बढ़ती हुई लागत वाले उद्योगों पर कर लगाने के परिणामस्वरूप होता है, जैसा कि अग्र चित्र से स्पष्ट हो जाता है।
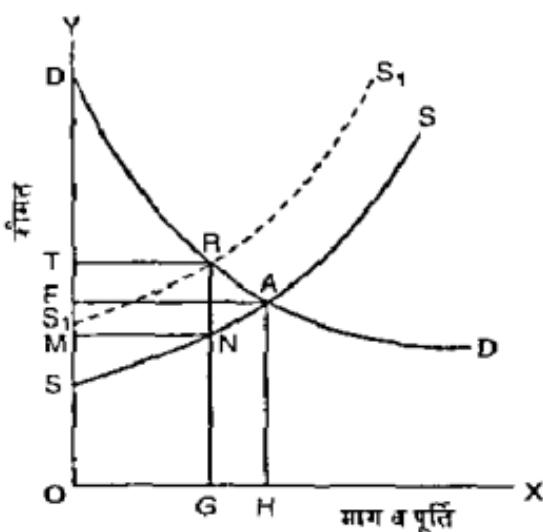
चित्र 3—बढ़ती हुई लागत के उद्योगों में कर का प्रभाव

चित्र 3 में DD व SS वक्र एक दूसरे को A पर काटते हैं। यहाँ पर वस्तु की AH कीमत पर OH मात्रा खरीदी जाती है और उपभोक्ता की बचत DAF होती है (यहाँ D निशान OY-अक्ष पर है)। कर के लगने पर नया पूर्ति वक्र S_1S_1 पुराने माँग वक्र DD को R बिन्दु पर काटता है जिससे उपभोक्ता की बचत घटकर DRT पर आ जाती है, क्योंकि कीमत AH से बढ़कर RG हो जाती है। अत उपभोक्ता की बचत की कुल हानि RTFA के बराबर होती है। लेकिन वस्तु की OG मात्रा पर प्रति इकाई कर की मात्रा RN होती है जिससे सरकार को कर की आय RNMT होती है, जो स्पष्टतया उपभोक्ता की बचत RTFA से अधिक है। अत. बढ़ती हुई लागत वाले उद्योग में कर के लगने से सरकार की आय उपभोक्ता की बचत की हानि से अधिक होती है, जिससे इस स्थिति में लगाए गए कर को उचित माना जा सकता है।

इसी प्रकार यह सिद्ध किया जा सकता है कि घटती हुई लागत व लागत समता वाले उद्योगों में कर लगाने से उपभोक्ता की बचत सरकार की कर से प्राप्त आय की तुलना में ज्यादा घटती है। अत ऐसी दशाओं में साधारणतया कर नहीं लगाया जाना चाहिए।

(ख) घटती हुई लागत वाला उद्योग, सब्सिडी व उपभोक्ता की बचत—सब्सिडी या आर्थिक सहायता देने से वस्तु की कीमत घटती है जिससे उपभोक्ता की बचत बढ़ती है, लेकिन साथ में सरकार पर आर्थिक भार भी बढ़ता है। यदि उपभोक्ता की बचत की मात्रा सरकार द्वारा दी गई सब्सिडी की राशि से अधिक होती है तो सब्सिडी उचित मानी जा सकती है। यह अग्र चित्र की सहायता से स्पष्ट किया गया है—

चित्र 4—घटती हुई लागत के उद्योग में सब्सिडी का प्रभाव
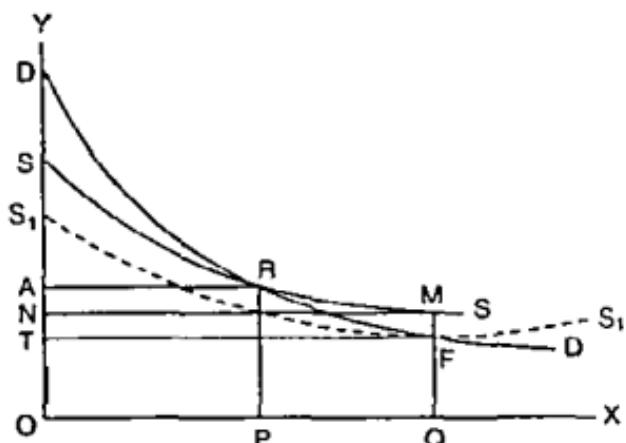
चित्र में SS वक्र घटती हुई लागत का सूचक है। सब्सिडी देने से यह S_1S_1 पर आ जाता है। पहले कीमत RP थी जो अब FQ हो जाती है। उपभोक्ता की बचत में कुल वृद्धि RFTA के बराबर होती है। OQ मात्रा पर सब्सिडी प्रति इकाई FM होती है जिससे इसकी कुल मात्रा FMNT होती है जो उपभोक्ता की बचत की वृद्धि की मात्रा RFTA से कम होती है। अत घटती हुई लागत के उद्योग मे कर लगाना तो अनुचित होता है, लेकिन सब्सिडी देना उचित रहता है। इससे उपभोक्ता की बचत काफी बढ जाती है।

इस प्रकार चित्रों द्वारा यह दर्शाया जा सकता है कि बढती हुई व समान लागत के उद्योग में सब्सिडी देना उचित नहीं होता। इससे सरकार पर आर्थिक भार उपभोक्ता की बचत की तुलना में ज्यादा पडता है।

(3) एकाधिकारी-कीमत के निर्धारण मे उपभोक्ता की बचत का महत्त्व—एक एकाधिकारी कीमत विभेद (price-discrimination) करके अपना लाभ अधिकतम करता है। वह एक बाजार में अपनी वस्तु कम कीमत पर और दूसरे बाजार में अधिक कीमत पर बेच सकता है। साधारणतया उसे अपनी कीमत उस बाजार में ऊँची रखनी चाहिए जहा उपभोक्ता की बचत अधिक हो। ऐसा करके वह उपभोक्ता की बचत को कम से कम हानि पहुँचाकर अपना लाभ अधिकतम कर सकता है। अत उपभोक्ता की बचत के ज्ञान का एकाधिकारी के लिए भी बडा महत्व होता है।

(4) उपभोक्ता की बचत के आधार पर यह स्पष्ट किया जा सकता है कि परोक्ष करो का भार प्रत्यक्ष कर (जैसे आयकर) से अधिक पड़ता है—परोक्ष करो मे

उत्पादन शुल्क, बिक्री-कर आदि आते हैं। जब किसी वस्तु पर कर लगाया जाता है तो कीमत के बढने से उपभोक्ता को हानि होती है, और उसे उस वस्तु की कुछ इकाइयों का उपभोग कम करना पडता है। परोक्ष कर से उपभोक्ता की बचत की कुल हानि काफी अधिक हो जाती है। यदि इतनी ही राशि आयकर लगाकर प्राप्त की जाती तो उपभोक्ता की बचत को कम हानि पहुँचती, क्योंकि उपभोक्ता विभिन्न वस्तुओं की सीमान्त इकाइयों का परित्याग करके अपना उपभोग ठीक तरह से समायोजित (adjust) कर लेता। परोक्ष कर व प्रत्यक्ष कर का प्रभाव चित्र 5 पर दर्शाया गया है।
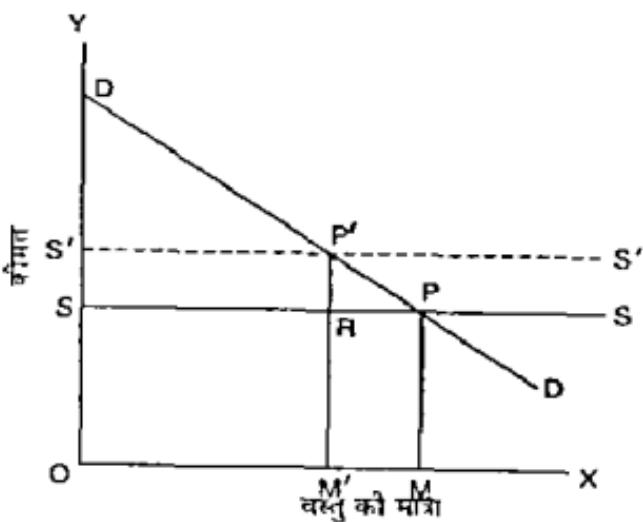
चित्र 5—समान लागत वाले उद्योग में परोक्ष-कर व प्रत्यक्ष कर का उपभोक्ता की बचत पर प्रभाव

स्पष्टीकरण—चित्र में DD व SS एक दूसरे को P विन्दु पर काटते हैं जिससे PM कीमत पर वस्तु की OM मात्रा निर्धारित होती है। यह कर लगने से पूर्व की स्थिति है। अब मान लीजिए SS' प्रति इकाई कर लगाया जाता है जिससे नया पूर्ति वक्र S'S' हो जाता है और कीमत बढकर P'M' तथा माँग व पूर्ति की मात्राएँ घटकर OM' हो जाती हैं। सरकार को कुल कर की राशि SRP S' प्राप्त होती है। तथा उपभोक्ता की बचत को हानि SPP'S होती है। यदि सरकार SRP'S' के बराबर कर की राशि प्रत्यक्ष कर जैसे आय कर से प्राप्त करती तो उपभोक्ता की बचत को RPP' के बराबर हानि नहीं होती, क्योंकि उपभोक्ता कई वस्तुओं व सेवाओं के उपभोग में थोडी-थोडी कमी करके उसे समायोजित कर लेता, जिससे उपभोक्ता की बचत को कम से कम हानि होती। अत: प्रत्यक्ष-कर उपभोक्ता की बचत को परोक्ष-कर की तुलना मे कम हानि पहुँचाता है।

(5) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व उपभोक्ता की बचत**—उपभोक्ता की बचत के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों का अनुमान लगाया जा सकता है। आज का युग विशिष्टीकरण (specialisation) का युग है। प्रत्येक देश उन वस्तुओं का उत्पादन करता है जिनमें उसे तुलनात्मक लाभ अधिक होता है और अपनी वस्तुएँ निर्यात करके बदले में दूसरे देशों से अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ आयात करता है। प्राय एक देश आयातित वस्तुओं के लिए जो कीमतें देता है, वे उन कीमतों से कम पायी जाती हैं जो वह उनके लिए दे सकता था। इस प्रकार के आयातों से नागरिकों को उपभोक्ता की बचत मिलती है। यह बचत जितनी अधिक होती है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ उतना ही अधिक होता है। पेट्रोल व पेट्रोल पदार्थों का निर्यात करने वाले देशों ने इनके मूल्य बढ़ाकर आयातक देशों को काफी हानि पहुँचायी है। लेकिन आयातक देशों ने अपने आयात जारी रखे हैं। ऐसी स्थिति में आयातक देशों के लिए उपभोक्ता की बचत में कमी हुई है।

(6) **विनियोग परियोजनाओं में लागत लाभ विश्लेषण को लागू करने में उपभोक्ता की बचत का व्यापक उपयोग**—किसी भी विनियोग परियोजना (investment project) को चुनने से पूर्व उसकी लागत लाभ का विस्तृत रूप से विश्लेषण किया जाता है। इनमें मौद्रिक व प्रत्यक्ष लागतों व लाभों के अलावा सामाजिक लागतों व सामाजिक लाभों का भी ध्यान रखा जाता है। अत इस प्रकार के विश्लेषण में उपभोक्ता की बचत की अवधारणा काफी महत्त्वपूर्ण हो जाती है। अन्य बातों के समान रहने पर, ऐसे प्रोजेक्टों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए जो उपभोक्ता वर्ग को सर्वाधिक बचत प्रदान कर सकें। इस दृष्टि से शीघ्र परिणाम देने वाले, आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने वाले तथा श्रम गहन प्रोजेक्ट विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं, क्योंकि इनमें उपभोक्ता की बचत सर्वाधिक होती है। अत उपभोक्ता की बचत बढ़ाने वाले प्रोजेक्टों को सर्वोच्च वरीयता दी जानी चाहिए।

निष्कर्ष—ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि उपभोक्ता की बचत की अवधारणा काफी सार्थक व उपयोगी होती है। सेमुअल्सन व नोरढाउस ने भी उपभोक्ता की बचत के विचार को स्वीकार किया है। उनका कहना है कि "उपभोक्ता की बचत की अवधारणा आधुनिक समाज व्यवस्थाओं में नागरिकों द्वारा प्राप्त उस अत्यधिक विशेषाधिकार की स्थिति को सूचित करती है जिसका वे आनन्द उठाते हैं। हममें से प्रत्येक व्यक्ति उन अत्यधिक मूल्यवान वस्तुओं के एक विशाल समूह का आनन्द उठाता है, जो कम भावों पर खरीदी जा सकती है, ... यह बिल्कुल स्पष्ट है कि हम सब उस आर्थिक संसार का लाभ उठा रहे हैं जिसका हमने कभी निर्माण नहीं किया।"[1]

1 The concept of consumer surplus also point to the enormous privilege enjoyed by citizens of modern societies Each of us enjoys a vast array of enormously valuable goods that can be bought at low prices . . . It is only too clear that all of us reap the benefits of an economic world we never made Samuelson and Nordhaus Economics 16th ed 1998 p 93

आधुनिक युग में नागरिकों को यह विशेषाधिकार मिलने से उनकी आर्थिक स्थिति में काफी सुधार हुआ है। सही ढंग से सामाजिक निर्णय लेने में उपभोक्ता की बचत के विचार से काफी मदद मिलती है।

जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है कि हमें उपभोक्ता की बचत की अवधारणा का असली ज्ञान उस समय होता है जब हमें कोई एकाधिकारी यह कह दे कि 'मेरी वस्तु की अमुक कीमत दो, अन्यथा मैं तुम्हें यह वस्तु नहीं दूँगा।' उस समय हम उसे ऊँची कीमत देने को बाध्य हो जाते हैं। अतः वास्तविक जीवन मे हमे विभिन्न वस्तुओं से उपभोक्ता की बचत मिलती है, लेकिन इसे एक 'मानसिक सन्तोष' के रूप में ही देखा जाना चाहिए। यदि एक उपभोक्ता को एक वस्तु के उपभोग से 100 रुपए की उपभोक्ता की बचत मिलती है तो यह नही समझना चाहिए कि उसे भौतिक रूप में कहीं से 100 रुपए मिल रहे है, बल्कि यह समझना होगा कि उसे जो अतिरिक्त मानसिक सन्तोष मिल रहा है, वह मुद्रा मे लगभग 100 रुपयो के समान है। अतः उपभोक्ता की बचत को एक अतिरिक्त मानसिक सन्तोष के रूप मे ही देखा जाना चाहिए।

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 उपभोक्ता की बचत सर्वाधिक किस प्रकार की वस्तुओं में होती है?
(अ) जीवनरक्षक अनिवार्यताओं में
(ब) विलासिताओं में
(स) सामान्य वस्तुओं में
(द) घटिया किस्म की वस्तुओं में
(ए) सस्ती वस्तुओं में (अ)

2 सरकार के लिए कर लगाना किस प्रकार के उद्योगों में ज्यादा उचित माना जाएगा?
(अ) बढती लागत वाले उद्योग में
(ब) घटती लागत वाले उद्योग में
(स) समान लागत वाले उद्योग में
(द) सभी में (अ)

3 सरकार को सब्सिडी किस प्रकार के उद्योग को देनी चाहिए?
(अ) बढती लागतों वाले उद्योग को
(ब) समान लागतों वाले उद्योग को
(स) घटती लागतों वाले उद्योग को
(द) किसी को भी नहीं (स)

4 तटस्थता वक्रों का उपभोक्ता की बचत के माप में उपयोग किसने पहली बार सुझाया था?

(अ) मार्शल ने (ब) हिक्स ने

(स) सेमुअल्सन ने (द) जेवन्स ने (ब)

5 यह कथन किसका है? "हम सब उस आर्थिक ससार की उपभोक्ता की बचत का लाभ उठा रहे हैं जिसका हमने कभी निर्माण नही किया।"

(अ) मार्शल का

(ब) जे एम कीन्स का

(स) सेमुअल्सन व हिक्स का

(द) सेमुअल्सन व सहलेखक नोरढाउस का (द)

अन्य प्रश्न

1 उपभोक्ता की बचत की अवधारणा को समझाइये। इसके मापने की मार्शल एव हिक्स विधियों को समझाइये। **(Raj II yr 2000)**

2. उपभोक्ता की बचत समझाइये। **(MDSU, Ajmer II Yr 2001)**

□ □ □

परिशिष्ट
(Appendix)*

हिक्स के द्वारा वर्णित उपभोक्ता की बचत के चार रूप
(Four forms of consumer's surplus as given by Hicks)

हिक्स ने उपभोक्ता की बचत की परिभाषा इस प्रकार की है 'यह वह मुद्रा राशि है जो उपभोक्ता की आर्थिक स्थिति के परिवर्तित होने पर उसे दी जानी चाहिए अथवा उससे ली जानी चाहिए ताकि उसके कुल सन्तोष मे कोई परिवर्तन न आए।' अर्थात् इसमे आर्थिक स्थिति के परिवर्तित हो जाने पर भी उपभोक्ता उसी तटस्थता वक्र पर बना रहता है। उसकी आर्थिक स्थिति में परिवर्तन वस्तु की मात्रा के माध्यम से आते हैं, अथवा वस्तु की कीमत के माध्यम से आते हैं। इस प्रकार उपभोक्ता की बचत के निम्न चार रूप हो जाते हैं—

(1) वस्तु की मात्रा के परिवर्तन के माध्यम से—
 (क) मात्रा की दृष्टि से समान परिवर्तन
 (ख) मात्रा की दृष्टि से क्षतिपूरक परिवर्तन।
(2) कीमत के परिवर्तन के माध्यम से—
 (क) कीमत की दृष्टि से समान परिवर्तन
 (ख) कीमत की दृष्टि से क्षतिपूरक परिवर्तन।

इनका क्रमश नीचे वर्णन किया जाता है—

(1) वस्तु की मात्रा के परिवर्तन के माध्यम से

(क) मात्रा समान परिवर्तन (Quantity Equivalent Variation)—मात्रा समान परिवर्तन मुद्रा की वह न्यूनतम राशि है जिसे उपभोक्ता नीची कीमत पर वस्तु को खरीदने के अवसर का त्याग करने के बदले में स्वीकार कर लेता है बशर्ते कि वह पहले ऊँची कीमत पर वस्तु की पूर्व मात्रा ही खरीदता रहे। इसे चित्र 1 की सहायता से स्पष्ट किया गया है।

स्पष्टीकरण—प्रारम्भ में उपभोक्ता तटस्थता वक्र I के R बिन्दु पर होता है जहाँ कीमत रेखा MN है और वह X की OB मात्रा खरीदता है। अब X की कीमत घट जाती है जिससे वह नयी कीमत रेखा MN_1 की सहायता से तटस्थता वक्र II के S बिन्दु पर सन्तुलन में आ सकता है। यहाँ पर उसी मुद्रा में इसे X की अधिक मात्रा (RS) मिल जाती है। लेकिन उसे पुराने सन्तुलन R को स्वीकार करने के लिए RT

* इस परिशिष्ट का उपयोग आवश्यकतानुसार किया जाना चाहिए।
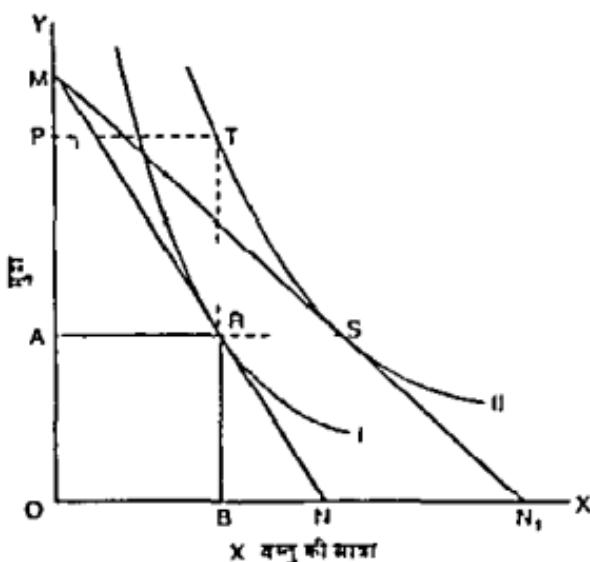
चित्र 1–उपभोक्ता की बचत मात्रा समान परिवर्तन (RT मात्रा समान परिवर्तन है)

मुद्रा देनी होती है, क्योंकि T व S दोनों बिन्दु तटस्थता वक्र II पर स्थित हैं और समान सन्तोष को सूचित करते हैं। अत RT मुद्रा की राशि मात्रा समान परिवर्तन (quantity equivalent variation) माना जाएगा। उपभोक्ता को कीमत के घटने से जो लाभ मिल सकता था, उसको समाप्त करने के लिए उसे RT मुद्रा राशि देनी होती है। तब वह X की पुरानी मात्रा OB खरीदना जारी रख सकता है, अर्थात् R सन्तुलन पर बना रहता है। इस प्रकार RS वस्तु की मात्रा के लिए RT (= AP) मुद्रा राशि समान परिवर्तन का काम करती है। स्मरण रहे कि चित्र में ARTP का क्षेत्रफल के रूप में कोई अर्थ नहीं होता है।

(ख) मात्रा-क्षतिपूरक परिवर्तन (Quantity Compensating Variation)—यह मुद्रा की वह अधिकतम राशि होती है जिसे एक उपभोक्ता इस बात के लिए देने को उद्यत होता है कि उसे नीची कीमत पर वस्तु को खरीदने का विशेषाधिकार मिले, लेकिन इस विशेषाधिकार के साथ उसे नीची कीमत पर खरीदी जाने वाली वस्तु को खरीदने का बन्धन भी सहन करना होता है। मात्रा क्षतिपूरक परिवर्तन चित्र 2 में दर्शाया गया है।

स्पष्टीकरण—उपभोक्ता प्रारम्भिक सन्तुलन में तटस्थता वक्र I व R पर होता है और उसके पास कुल मुद्रा राशि OM होती है। X की कीमत के घटने पर वह MN_1 कीमत रेखा के सहारे तटस्थता वक्र II पर S बिन्दु पर सन्तुलन में होता है जहाँ वह X की OB मात्रा खरीदता है। अब प्रश्न उठता है कि उपभोक्ता तटस्थता वक्र I के सन्तोष को प्राप्त करने तथा X की OB मात्रा को खरीदने का बन्धन उठाते हुए कितनी
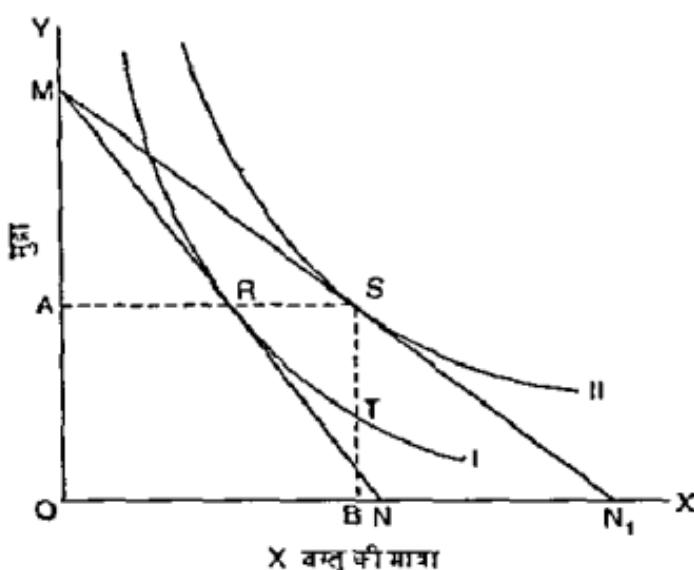
चित्र 2—उपभोक्ता की बचत मात्रा क्षतिपूरक परिवर्तन (ST मात्रा क्षतिपूरक परिवर्तन है)

मुद्रा-राशि देने को उद्यत हो जाएगा? चित्र से पता चलता है कि यदि उपभोक्ता से ST मुद्रा राशि ले ली जाए तो वह वक्र I पर T बिन्दु पर होता है। अत R व T तटस्थता वक्र I पर स्थित हैं, और ST मुद्रा राशि मात्रा क्षतिपूरक परिवर्तन की सूचक होती है।

(2) कीमत के परिवर्तन के माध्यम से

(क) कीमत समान परिवर्तन (Price Equivalent Variation)—यह मुद्रा की वह न्यूनतम राशि है जिसे उपभोक्ता स्वीकार करने को उद्यत हो जाता है ताकि वह नीची कीमत पर वस्तु को खरीदने के अवसर का त्याग कर सके। वह बाद में सन्तोष का ऐसा स्तर प्राप्त कर लेता है जो नाची कीमत पर प्राप्त हो जाता है।

स्पष्टीकरण—उपभोक्ता R बिन्दु के प्रारम्भिक सन्तुलन में तटस्थता वक्र I पर होता है। कीमत के घटने पर वह नयी कीमत रेखा MN_1 पर तटस्थता वक्र II पर S बिन्दु पर सन्तुलन प्राप्त करता है जहाँ उसे X की अधिक मात्रा मिलती है। अब हम M_2N_2 कीमत रेखा बनाते हैं जो MN के समानान्तर होती है और तटस्थता वक्र II को T पर छूती है।

अत S व T एक ही तटस्थता वक्र पर स्थित है लेकिन T पर उसे MM_2 मुद्रा-राशि मिलनी चाहिए ताकि कीमत के घटने पर अधिक X खरीदने के अवसर का त्याग करते हुए भी वह तटस्थता वक्र II पर रह सके। अतः MM_2 मुद्रा राशि कीमत-समान परिवर्तन को सूचित करती है।
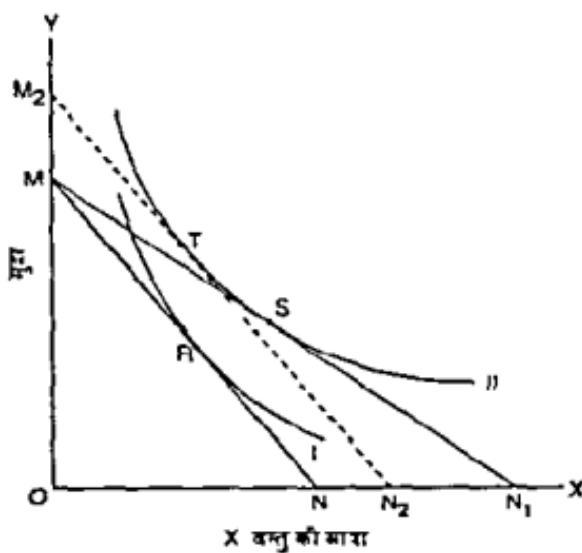
चित्र 3-उपभोक्ता की बचत कीमत समान परिवर्तन (MM_2 कीमत-समान परिवर्तन है)

(ख) कीमत-क्षतिपूरक परिवर्तन (Price-Compensating Variation)—यह मुद्रा की वह अधिकतम राशि होती है जिसे उपभोक्ता कम कीमत पर वस्तु को खरीदने का विशेषाधिकर पाने के लिए देने को उद्यत होता है ताकि वह प्रारम्भिक कल्याण का स्तर प्राप्त कर सके। यह प्रतिस्थापन प्रभाव की अवधारणा के अनुरूप होती है।

स्पष्टीकरण—उपभोक्ता MN कीमत रेखा पर तटस्थता वक्र I पर R बिन्दु पर प्रारम्भिक सन्तुलन मे है। कीमत के घटने पर वह MN_1 कीमत रेखा के सहारे तटस्थता-वक्र II पर S बिन्दु पर सन्तुलन प्राप्त करता है। अब प्रश्न यह है कि उपभोक्ता नीची कीमत पर वस्तु खरीदने का अवसर प्राप्त करने हेतु कितनी मुद्रा राशि देने को तत्पर हो जाता है ताकि वह तटस्थता वक्र I पर सन्तोष का कोई स्तर प्राप्त कर सके। इसके लिए हम एक M_2N_2 कीमत रेखा डालते हैं जो MN_1 कीमत रेखा के समानान्तर होती है और प्रारम्भिक तटस्थता वक्र I को T पर स्पर्श करती है। M_2N_2 का ढाल वही है जो MN_1 का है। अत उपभोक्ता MM_2 मुद्रा राशि देने को उद्यत हो जाता है ताकि *वह कम कीमत पर खरीदने के विशेषाधिकार का उपयोग कर सके। वह R व T के* बीच तटस्थ रहता है, क्योंकि दोनों बिन्दु तटस्थता वक्र I पर ही स्थित हैं। ऐसी स्थिति में MM_2 मुद्रा-राशि कीमत-क्षतिपूरक परिवर्तन कहलाती है। R बिन्दु पर कीमत ऊँची, लेकिन मौद्रिक आय भी ऊँची होती है, जबकि T पर कीमत नीची, लेकिन मौद्रिक आय नीची होती है। अत MM_2 कीमत क्षतिपूरक परिवर्तन माना जाता है। यह चित्र क्षतिपूरित माँग (Compensated demand) की अवधारणा को तटस्थता-वक्रो के माध्यम से समझने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है।
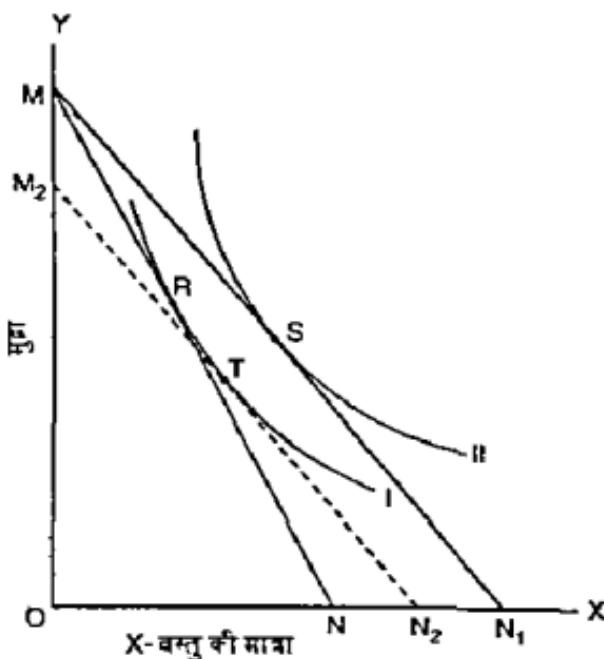
चित्र 4—उपभोक्ता की बचत कीमत क्षतिपूरक परिवर्तन
(MM_2 कीमत-क्षतिपूरक परिवर्तन है)

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 जे आर हिक्स ने उपभोक्ता की बचत के चार माप, अन्तिम संशोधित रूप में, किस रचना में दिए थे—

(अ) Value and Capital

(ब) A Contribution to the theory of the Trade Cycle

(स) A Revision of Demand Theory

(द) Capital and Growth (स)

अन्य प्रश्न

1 संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए हिक्स विधि द्वारा उपभोक्ता की बचत का माप

2. उपभोक्ता अतिरेक (C.S.) के मौद्रिक माप की मार्शल रीति तथा हिक्स-रीति का विवेचन कीजिए।

भाग 3 : उत्पादन व लागतों का सिद्धान्त
(Module 3 : Theory of Production and Costs)

11

उत्पादन-फलन
(Production Function)

उत्पादन के सिद्धान्त में उत्पादन-फलन का काफी महत्त्व होता है। उत्पादन की मात्रा (output) उत्पादन में प्रयुक्त किये गये साधनों की मात्राओं (inputs) पर निर्भर करती है। उत्पादन-फलन (production function) उत्पत्ति व साधनों की मात्रा का ही भौतिक सम्बन्ध (physical relationship) होता है। इसमें कीमतों को शामिल नहीं किया जाता। गणितीय रूप में यह इस प्रकार से व्यक्त किया जाता है—

$$Q = f(X_1, X_2, X_3 \ldots X_n)^*$$

यहाँ पर वस्तुओं की उत्पत्ति Q से सूचित की जाती है और विभिन्न साधनों की मात्राएँ $X_1, X_2, X_3 \ldots X_n$ से सूचित की जाती हैं। यहाँ उत्पादन के n साधन प्रयुक्त किये गये हैं। उत्पत्ति व साधनों की मात्राओं में सम्बन्ध स्थापित करने का यह एक सुगम तरीका होता है। ध्यान रहे कि उत्पादन-फलन में सूचित की जाने वाली उत्पत्ति की मात्रा वह अधिकतम मात्रा होती है जो साधनों के किसी विशिष्ट संयोग से प्राप्त की जा सकती है। लेकिन इसमें टेक्नोलॉजी को स्थिर मान लिया जाता है, हालांकि दी हुई टेक्नोलॉजी के अन्तर्गत उत्पादन की विभिन्न विधियाँ (different techniques or methods) हो सकती हैं। उत्पादन की विभिन्न विधियों या तकनीकों का अर्थ है कि उत्पादन के साधन विभिन्न संयोगों (different combinations) में प्रयुक्त किए जा सकते हैं, अर्थात् उत्पत्ति की एक विशेष मात्रा को प्राप्त करने के लिए साधन विभिन्न अनुपातों में मिलाए जा सकते हैं। आगे सारणी 1 में देखिए कि 35 इकाई माल प्राप्त करने के लिए उत्पादन के साधन तीन तरह से मिलाए जा सकते हैं,

---

* Q फलन है $X_1, X_2, X_3 \ldots X_n$ का, ऐसा पढ़ा जाना चाहिए। यह Q का $X_1, X_2 \ldots X_n$ पर निर्भरता का सूचक होता है। ध्यान रहे कि यहाँ f को $X_1, X_2 \ldots X_n$ से गुणा नहीं किया जाता। यहाँ केवल Q अर्थात् उत्पत्ति एक आश्रित चर (dependent variable) होती है जो दाँयी तरफ की स्वतन्त्र चर-राशियों (independent variables) पर निर्भर करती है। f तो सम्बन्ध सूचित करने का चिह्न मात्र होता है।

जैसे श्रम की एक इकाई + भूमि की 6 इकाइयाँ, श्रम की 2 इकाइयाँ + भूमि की 3 इकाइयाँ, तथा श्रम की 3 इकाइयाँ + भूमि की 2 इकाइयाँ। इस प्रकार यहाँ उत्पादन की टेक्नोलॉजी तो स्थिर है, लेकिन उत्पादन की विधियाँ साधनों के विभिन्न सयोगों के अनुसार कई हो सकती हैं।

गुल्ड व लेजियर ने उत्पादन फलन की परिभाषा इस प्रकार की है 'उत्पादन फलन एक अनुसूची (अथवा सारणी या गणितीय समीकरण) होता है, जो उत्पत्ति की उस अधिकतम राशि को सूचित करता है तो साधनो के विशिष्ट समूह से उत्पादित की जा सकती है, इसके लिए वर्तमान टेक्नोलॉजी अथवा 'कला की दशा' को दिया हुआ माना जाना है।' सक्षेप म, एक उत्पादन फलन 'नुस्खो की एक पुस्तिका' (recipe-book) की भाँति होती है जो यह दर्शाता है कि उत्पत्ति की कान सी मात्राएँ इन्पुटो के कौन-से समूहो से सम्बद्ध होती है।[1] इस प्रकार एक उत्पादन फलन में दी हुई टेक्नोलॉजी की दशा में उत्पत्ति का सम्बन्ध इन्पुटो या साधनों की मात्राओं से स्थापित किया जाता है।

उत्पादन फलन की प्रकृति (Nature of the Production Function)

यह तो स्पष्ट है कि सभी साधनों की इकाइयों के बढाये जाने से उत्पत्ति बढती है और सभी साधनों की इकाइयों के घटाये जाने से उत्पत्ति घटती है। यह भी स्पष्ट है कि फर्म की उत्पत्ति की मात्रा उपलब्ध टेक्नोलॉजी पर निर्भर करती है।

उत्पादन फलन दो बातो से निर्धारित होता है—

(क) फर्म के लिए दी हुई टेक्नोलॉजी के अन्तर्गत उत्पादन की तकनीकों की सख्या या सीमा (range) क्या है? अर्थात् फर्म के लिए उत्पादन की कितनी तकनीके या विधियाँ उपलब्ध है?

(ख) फर्म के पास उत्पादन के कितने साधन है? एक फर्म उत्पादन की विभिन्न मात्राओं के लिए अनिवार्यत एक सी तकनीकों का उपयोग नही करती। उत्पत्ति की थोडी मात्राओं के लिए प्राय जटिल किस्म की मशीनों का उपयोग नहीं किया जाता। लेकिन अधिक मात्रा में माल की उत्पत्ति करने के लिए इनका उपयोग आवश्यक हो जाता है। फर्म अपनी उत्पत्ति की मात्रा के अनुसार दी हुई तकनीकों में से सबसे अधिक उपयुक्त तकनीक या तकनीकों का चुनाव करती है। नए टेक्नोलोजिकल आविष्कारों के परिणामस्वरूप साधनों की दी हुई मात्राओं से फर्म पहले की अपेक्षा अधिक माल उत्पन्न करने की स्थिति में आ जाती हैं। ऐसी स्थिति में उत्पादन फलन स्वय बदल जाता है और यह ऊपर की ओर खिसक जाता है।

---

1 A production function is a schedule (or table or mathematical equation) showing the maximum amount of output that can be produced from any specified set of inputs Given the existing technology or "state of art." In short the production function is like a "recipe-book showing what outputs are associated with which sets of inputs —Gould and Lazear Microeconomic Theory 6th ed 1989 p 154

उत्पादन फलन का एक लक्षण, जिस पर प्राय ध्यान नही दिया जाता है, वह यह है कि एक फलन के अन्दर (*within the function*) विभिन्न साधनों की इकाइयाँ एक-दूसरे के बदले में कम या अधिक मात्रा में प्रयुक्त की जा सकती हैं। हम श्रम के स्थान पर पूँजी, पूँजी की एक किस्म के बदले में दूसरी किस्म की पूँजी एव श्रम की एक किस्म के बदले में दूसरी किस्म का श्रम प्रयुक्त कर सकते हैं। उत्पादन की प्रक्रिया में विभिन्न साधनों के प्रतिस्थापन की सम्भावना बहुत महत्त्वपूर्ण होती है। हम उत्पादन के अन्य साधनों को स्थिर रखकर एक साधन की मात्राओं को बढ़ाकर फर्म की कुल उत्पत्ति को कुछ सीमा तक बढ़ा सकते हैं। आगे चलकर उत्पत्ति के नियमों को स्पष्ट **करने के लिए एक उत्पादन-फलन ही प्रयुक्त किया जाएगा।**

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि **उत्पादन-फलन एक टेक्नोलॉजी का सारांश प्रस्तुत करता है** (*the production function summarizes the technology*) सरल शब्दों में, उत्पादन फलन साधनों के विभिन्न सयोगों और उत्पत्ति की मात्रा मे परस्पर सम्बन्ध स्थापित करता है। यह बात निम्न सारणी मे स्पष्ट हो जाती है—
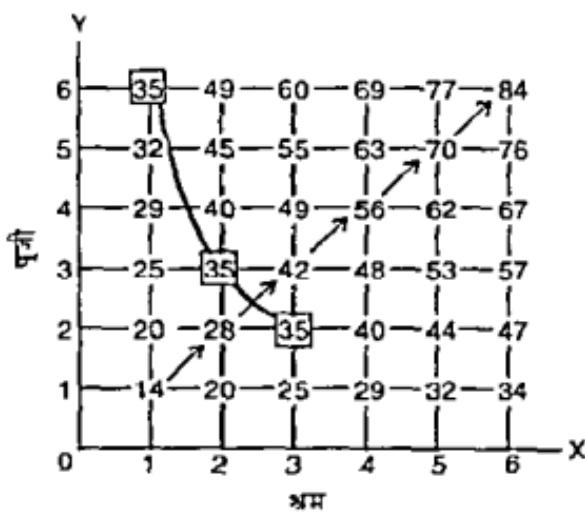
उपर्युक्त सारणी में OX-अक्ष पर श्रम की इकाइयाँ 1 से 6 तक सूचित की गई हैं और दूसरी तरफ OY-अक्ष पर पूँजी की इकाइयाँ 1 से 6 तक सूचित की गई हैं। श्रम व पूँजी के विभिन्न जोडों से प्राप्त उत्पत्ति की मात्राएँ सारणी को देखकर आसानी से जानी जा सकती हैं। उदाहरण के लिए, पूँजी की 3 इकाइयों व श्रम की 2 इकाइयों का उपयोग करके 35 इकाई माल उत्पन्न किया जा सकता है, जो इस सयोग की सर्वाधिक उत्पत्ति (*maximum output*) मानी जाती है। लेकिन 35 इकाई माल उत्पन्न करने के अन्य सयोग भी हो सकते हैं, जो इस सारणी में देखे जा सकते हैं। ये इस प्रकार हैं—

(क) 6 इकाई पूँजी + 1 इकाई श्रम,

(ख) 2 इकाई पूँजी + 3 इकाई श्रम,

हम आगे चलकर देखेंगे कि उत्पादन-फलन पर समान उत्पत्ति के सयोगों को मिलाने से एक समोत्पत्ति वक्र (isoquant) प्राप्त हो जाता है, जैसे यहाँ 35 उत्पत्ति की मात्रा के लिए आवश्यक सकेत दिया गया है।

इस प्रकार यह सारणी कई प्रकार की जानकारी देती है—

(1) श्रम की मात्रा स्थिर रखकर पूँजी की मात्रा को परिवर्तित करके उत्पत्ति पर प्रभाव देखा जा सकता है, जैसे श्रम की एक इकाई के साथ पूँजी की क्रमश बढती हुई इकाइयों से उत्पत्ति 14, 20, 25, 29, 32 व 35 इकाइयाँ मिलती हैं।

(2) पूँजी की मात्रा स्थिर रखकर श्रम की मात्रा को परिवर्तित करके उत्पत्ति पर प्रभाव देखा जा सकता है, जैसे पूँजी की एक इकाई के साथ श्रम की क्रमश बढती हुई इकाइयों से उत्पत्ति 14, 20, 25, 29, 32 व 34 इकाइयाँ मिलती हैं।

(3) 1 इकाई श्रम + 1 इकाई पूँजी से उत्पत्ति 14 इकाइयों की होती है। 2 इकाई श्रम + 2 इकाई पूँजी से उत्पत्ति 28 इकाई हो जाती है, अर्थात् दोनों साधनों को दुगुना कर देने से उत्पत्ति भी दुगुनी हो जाती है। इसी तरह साधनों को तिगुना कर देने से उत्पत्ति तिगुनी, चौगुना कर देने से उत्पत्ति चौगुनी आदि होती जाती है। हम आगे चलकर देखेंगे कि इस प्रवृत्ति को पैमाने के समान प्रतिफल (constant returns to scale) कहकर पुकारते हैं।

(4) उपर्युक्त सारणी से हम दोनों साधनों को विभिन्न अनुपातों में बढाकर भी उत्पत्ति पर प्रभाव देख सकते हैं, जैसे 1 इकाई श्रम + 1 इकाई पूँजी से उत्पत्ति 14 इकाई होती है। मान लीजिए, हम दुगुना श्रम व तिगुनी पूँजी से उत्पत्ति पर प्रभाव देखना चाहते हैं तो 2 इकाई श्रम + 3 इकाई पूँजी की उत्पत्ति सारणी से 35 इकाई मिलती है।

इस प्रकार उत्पादन फलन के सम्बन्ध में उपर्युक्त सारणी बहुत सारगर्भित मानी जाती है। इसकी सहायता से उत्पत्ति के नियम (laws of returns) व पैमाने के प्रतिफल (returns to scale) एव प्रतिस्थापन के प्रतिफल (returns to substitution) तीनों स्पष्ट किए जा सकते हैं। स्मरण रहे कि उत्पत्ति के नियमों में एक साधन स्थिर और दूसरा साधन परिवर्तित होता है, पैमाने के प्रतिफलों में सभी साधन एक ही अनुपात मे परिवर्तित किए जाते है और प्रतिस्थापन के प्रतिफलों मे उत्पत्ति के साधन विभिन्न अनुपातो मे परिवर्तित किए जाते है। अत एक उत्पादन-फलन मे साधनों के विभिन्न सयोगो से उत्पादित की जा सकने वाली सर्वाधिक मात्राएँ दर्शायी जाती हैं। एक उत्पादन-फलन के अन्तर्गत उत्पादन की कई तकनीकें (techniques) हो सकती है, हालाँकि टेक्नोलॉजी एक ही होती है। इनमें से सर्वोत्तम तकनीक का चुनाव साधनों की कीमतों पर निर्भर करता है।

उत्पादन फलन के अध्ययन में कुल उत्पत्ति, सीमान्त उत्पत्ति व औसत उत्पत्ति का अत्यधिक महत्त्व होता है। अत आगे इनका स्पष्टीकरण दिया गया है।

TP, MP, AP वक्र व उनका परस्पर सम्बन्ध :
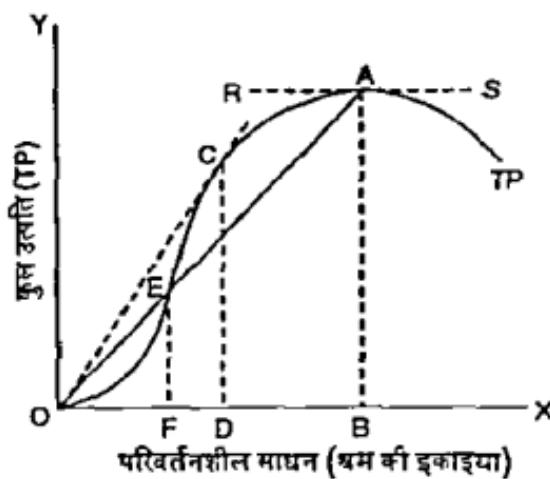
चित्र-1 कुल उत्पत्ति वक्र (TP)

स्पष्टीकरण—हम श्रम व पूँजी दो साधन लेते हैं। इनमें पूँजी स्थिर साधन है और श्रम की मात्राएँ बढ़ायी जाती हैं। परिवर्ती साधन श्रम से प्राप्त कुल उत्पत्ति TP वक्र के द्वारा दर्शायी जाती है। श्रम की OF मात्रा पर कुल उत्पत्ति EF व श्रम की OD मात्रा पर कुल उत्पत्ति CD तथा श्रम की OB मात्रा कुल उत्पत्ति की मात्रा AB होती है।

TP वक्र की आकृति पर ध्यान देने की आवश्यकता है। यह वक्र शुरू में बढ़ती हुई दर (increasing rate) से बढ़ता है (E बिन्दु तक) तथा उसके बाद घटती हुई दर (decreasing rate) से बढ़ता है। आगे चलकर यह अधिकतम बिन्दु A पर पहुँचकर नीचे की ओर आता है। E बिन्दु पर TP वक्र अपनी आकृति बदलता है। आगे चलकर स्पष्ट किया जाएगा कि E बिन्दु के नीचे MP वक्र अपने सर्वोच्च बिन्दु पर होता है। E पर इनफ्लेक्शन का बिन्दु (point of inflection) होता है, अर्थात् वक्र अपनी आकृति बदलता है, यहाँ यह उन्नतोदर से नतोदर (convex to concave) होता है (OX-अक्ष के सन्दर्भ में)।

TP वक्र से AP की जानकारी—TP वक्र के किसी भी बिन्दु पर औसत उत्पत्ति (AP) आसानी से ज्ञात की जा सकती है। जैसे—

E बिन्दु पर औसत उत्पत्ति $= \dfrac{TP}{\text{श्रम की इकाइयाँ}} = \dfrac{EF}{OF}$ होती है। A बिन्दु पर औसत उत्पत्ति $= \dfrac{AB}{OB}$ होती है। इस प्रकार E व A बिन्दुओं पर औसत उत्पत्ति समान है क्योंकि दोनों पर रेखा OE अथवा OA का ढाल एक समान पाया जाता है।

TP वक्र से AP की जानकारी—TP वक्र के किसी भी बिन्दु पर औसत उत्पत्ति (AP) आसानी से ज्ञात की जा सकती है। जैसे—

E बिन्दु पर औसत उत्पत्ति $= \frac{TP}{\text{श्रम की इकाइयाँ}} = \frac{EF}{OF}$ होती है। A बिन्दु पर औसत उत्पत्ति $= \frac{AB}{OB}$ होती है। इस प्रकार E व A बिन्दुओं पर औसत उत्पत्ति समान है क्योंकि दोनों पर रेखा OE अथवा OA का ढाल एक समान पाया जाता है।

TP वक्र से MP की जानकारी—सीमान्त उत्पत्ति (MP) का पता लगाने के लिए उस बिन्दु पर एक स्पर्श रेखा (tangent) डाली जाती है, जिसका ढाल (slope) MP के बराबर होता है। जैसे C बिन्दु पर स्पर्श रेखा (tangent) OC का ढाल $\frac{CD}{OD}$ होता है, जो C बिन्दु पर सीमान्त उत्पत्ति (MP) का सूचक है। C बिन्दु पर AP = MP की स्थिति भी होती है। A बिन्दु पर RS स्पर्श रेखा का ढाल शून्य के बराबर होता है, अतः इस पर MP = 0 होती है। इसलिए TP के अधिकतम होने पर MP = 0 हो जाती है।

चित्र 2–AP व MP वक्र
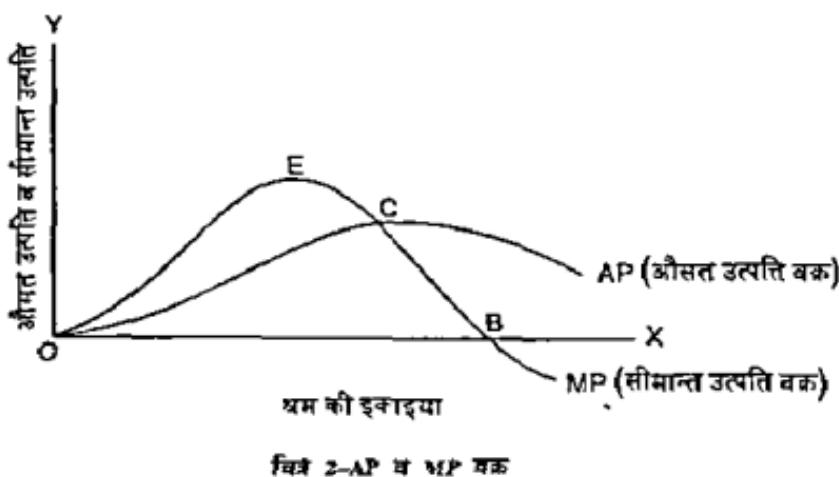
MP व AP का सम्बन्ध

स्पष्टीकरण—AP व MP का सम्बन्ध सुनिश्चित होता है। जब औसत उत्पत्ति (AP) बढ़ती है तो सीमान्त उत्पत्ति (MP) इससे ऊपर रहती है। सीमान्त उत्पत्ति औसत उत्पत्ति के अधिकतम बिन्दु पर इसे काटती हुई नीचे की ओर आती है। ऐसा चित्र में C बिन्दु पर होता है। जब AP गिरती है तो MP इससे नीचे रहती है। अन्त में श्रम की OB मात्रा पर MP शून्य हो जाती है और इससे आगे यह ऋणात्मक (negative) हो जाती है। C से आगे AP धीमी रफ्तार से घटती है, लेकिन वह बराबर धनात्मक ही बनी रहती है।

विभिन्न प्रकार के उत्पादन-फलनों का सरल परिचय—व्यवहार में इन्पुट-आउटपुट के सम्बन्धों को सूचित करने वाले उत्पादन फलनों के कई रूप होते हैं। उनका स्पष्ट विवरण चलन-कलन (डिफरेन्शियल केल्क्यूलस) व गणित के उच्चस्तरीय अध्ययन के बाद ही सम्भव हो पाता है। लेकिन यहाँ इनका सरल परिचय दिया जाता है ताकि कुछ सीमा तक उच्चस्तरीय अध्ययन का आधार तैयार हो सके।

उत्पादन-फलनों के विभिन्न रूप
(Different Forms of Production Functions)

(1) अल्पकालीन उत्पादन-फलन व दीर्घकालीन उत्पादन-फलन (Short run or short-period production function and long run or long-period production function)

(अ) अल्पकालीन उत्पादन-फलन—इसमें प्राय एक साधन को स्थिर रखकर तथा दूसरे साधन की मात्राओं को बढाकर एक समय में कुल उत्पत्ति पर प्रभाव देखा जाता है। जैसे कृषि के सदर्भ में भूमि की मात्रा को स्थिर रखकर श्रम की मात्राओं को बढाकर कुल उत्पत्ति पर प्रभाव देख सकते है अथवा उद्योग में पूँजी को स्थिर रखकर श्रम की मात्राओं को क्रमश बढाकर कुल उत्पत्ति के परिवर्तन देखे जा सकते हैं। हम अगले अध्याय मे देखेगे कि इस विधि में शुरू से, अथवा एक सीमा के बाद, उत्पत्ति-ह्रास-नियम लागू हो जाता है। अत उत्पत्ति-ह्रास-नियम अल्पकालीन उत्पादन-फलन की देन होता है। अध्याय के प्रारम्भ में दी गई उत्पादन-फलन की सारणी से हम जान सकते हैं कि पूँजी की एक इकाई को स्थिर रखकर श्रम की मात्राओं को बढाने पर क्रमश कुल उत्पत्ति की मात्राएँ 14, 20, 25, 29, 32 व 34 होती हैं। यह अल्पकालीन उत्पादन-फलन की स्थिति है। आवश्यकता पडने पर एक से अधिक साधन भी स्थिर रखे जा सकते हैं, लेकिन एक साधन को तो परिवर्तनशील अवश्य रखना पडेगा।

(आ) दीर्घकालीन उत्पादन-फलन—दीर्घकाल में उत्पादन के सभी साधन (inputs) परिवर्तनशील होते हैं, और उनका प्रभाव कुल उत्पत्ति पर देखा जाता है जो दीर्घकालीन उत्पादन-फलन की स्थिति का सूचक होता है। अध्याय के प्रारम्भ में दी गई उत्पादन-फलन की सारणी में श्रम व पूँजी दोनों की मात्राओं को बढाकर कुल उत्पत्ति पर कई प्रकार के प्रभाव देखे जा सकते हैं, जैसे—

(i) 1 इकाई पूँजी + 1 इकाई श्रम = 14 इकाई उत्पत्ति
2 इकाई पूँजी + 2 इकाई श्रम = 28 इकाई उत्पत्ति
3 इकाई पूँजी + 3 इकाई श्रम = 42 इकाई उत्पत्ति

आदि, जिसे हम पैमाने के समान प्रतिफल (constant returns to scale) की दशा कहते हैं, जिसका विवरण आगे चलकर किया जाएगा।

(ii) 2 पूँजी + 1 श्रम = 20 इकाई उत्पत्ति
3 पूँजी + 2 श्रम = 35 इकाई उत्पत्ति
4 पूँजी + 3 श्रम = 49 इकाई उत्पत्ति, आदि।

इसी प्रकार पूँजी व श्रम को विभिन्न अनुपातों में लेकर कुल उत्पत्ति की मात्राएँ ज्ञात की जा सकती हैं। दीर्घकालीन उत्पादन फलन में पैमाने के प्रतिफलों (returns to scale) पर विचार किया जाता है जिसका विस्तृत विवरण भी आगे चलकर सम्बन्धित अध्याय में किया जाएगा।

पुन $Q = AL^{\alpha}K^{1-\alpha}$ (कुल उत्पादन फलन का रूप)

श्रम की औसत उत्पत्ति अथवा $AP_L = \frac{Q}{L} = \frac{AL^{\alpha}K^{1-\alpha}}{L}$

$$= AL^{\alpha-1}K^{1-\alpha} = A\left(\frac{K}{L}\right)^{1-\alpha}$$

(L को नीचे लाने पर)

अत श्रम की औसत उत्पत्ति पूँजी-श्रम के अनुपात $\left(\frac{K}{L}\right)$ पर निर्भर करती है, न कि इनकी निरपेक्ष मात्राओं (absolute quantities) पर।

मान लीजिए K=4 व L=1 होता है तथा A=100 व $\alpha = \frac{1}{2}$ होते हैं तो

$$AP_L = 100 \left(\frac{4}{1}\right)^{1-1/2}$$

$$= 100\sqrt{4} = 200 \text{ होगी,}$$

यदि पूँजी = 400 इकाई तथा श्रम = 100 इकाई हो, तो पूँजी-श्रम का अनुपात $\left(\frac{K}{L}\right)$ पुन $\frac{400}{100} = 4$ होगा, जिससे $AP_L = 200$ ही प्राप्त होगी। अत **इस प्रकार के उत्पादन फलन में साधन की औसत उत्पत्ति पूँजी व श्रम के अनुपात, अथवा साधनों के अनुपात से ही प्रभावित होती है, न कि इनकी निरपेक्ष मात्राओं से।**

यही स्थिति श्रम की सीमान्त उत्पत्ति (MP_L) के लिए भी होती है। लेकिन श्रम की सीमान्त उत्पत्ति निकालने के लिए चलन कलन (डिफरेंशियल केल्क्यूलस) का साधारण प्रयोग करना आवश्यक होता है, जिसका परिचय माँग की लोच के अध्याय में दिया गया था। यहाँ मुख्य निष्कर्ष प्रस्तुत किया जाता है—

$$Q = AL^{\alpha}K^{1-\alpha} \quad \text{(कुल उत्पादन फलन)}$$

$$MP_L = \frac{dQ}{dL} = A\alpha L^{\alpha-1}K^{1-\alpha} \quad \text{(L की पावर उतारें तथा पावर में एक कम करें)}$$

$$= A\alpha\left(\frac{K}{L}\right)^{1-\alpha}$$

इसमें पुन

$A = 100$, $\alpha = \frac{1}{2}$, $K = 4$ व $L = 1$ रखने पर

$$MP_L = 100 \times \frac{1}{2}\left(\frac{4}{1}\right)^{1-1/2}$$

$$= 50 \times \sqrt{4} = 100 \text{ होगी।}$$

पूँजी या K = 400 इकाई व श्रम या L = 100 इकाई होने पर भी MP_L = 100 ही होगी। इस प्रकार MP_L भी पूँजी व श्रम के अनुपात से ही निर्धारित होती है, न कि इनकी निरपेक्ष मात्राओं से।

पाठकों को रेखिकीय समरूप उत्पादन-फलनो की उपर्युक्त दो विशेषताओं को समझने का प्रयास करना चाहिए ताकि आगे चलकर उच्चतर व्यष्टि अर्थशास्त्र के अध्ययन में इनके उपयोग से लाभ हो सके।

एल्फा सी-चियाग (Alpha C Chiang) का मत है कि लोग गलती से ऐसे फलनों को रेखीय समरूप फलन (linear homogeneous functions) अथवा रेखीय व समरूप फलन (linear and homogeneous functions) कह देते हैं, जो भ्रम पैदा कर देता है, क्योंकि इस प्रकार की शब्दावली से ऐसा लगने लगता है कि ये फलन स्वय अनिवार्यतः रेखीय हैं, जो सही नही है। अतः इनके लिए 'रेखीय-समरूपता' (linear homogeneity), अथवा प्रथम अंश की समरूपता (homogeneity of degree one), का उपयोग ही सही माना जाता है।[1] अतः यहाँ फलन की समरूपता पर ही अधिक बल दिया जाना चाहिए।

(4) **कॉब-डग्लस उत्पादन-फलन (Cobb-Douglas Production Function)**[2]—यह सरलतम उत्पादन-फलन माना गया है और इसका व्यवहार में व्यापक रूप से प्रयोग किया जाता है। इसके दो लेखकों के नाम पर यह उत्पादन फलन काफी चर्चित रहा है।

इसका सूत्र इस प्रकार होता है—

$$Q = AL^{\alpha}K^{\beta}$$

जहाँ Q = उत्पत्ति की मात्रा,

L = श्रम की मात्रा, K = पूँजी की मात्रा के सूचक होते हैं।

A व α (अल्फा) व β (बीटा) धनात्मक राशियाँ हैं जिन्हें आँकडों का उपयोग करके ज्ञात किया जाता है। A टेक्नोलॉजी को सूचित करता है। टेक्नोलोजी जितनी ऊँची होती है A का मूल्य उतना ही ऊँचा माना जाता है। α = श्रम की उत्पत्ति लोच (output-elasticity) है, उदाहरण के लिए, यदि $\alpha = 0.6$ है, तो इसका अर्थ यह है कि श्रम की मात्रा में 1% की वृद्धि होने से (पूँजी की मात्रा स्थिर रहने पर) उत्पत्ति की मात्रा में 0.6% की वृद्धि होती है। इसी प्रकार β = पूँजी की उत्पत्ति-लोच (output elasticity of capital) का सूचक है। उदाहरण के लिए, $\beta = 0.2$ का अर्थ है कि पूँजी के 1% बढ़ने पर उत्पत्ति (Q) की मात्रा में 0.2% की वृद्धि होती है।

कॉब-डग्लस फलन की अग्र दशाओं पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए।

---

1 Alpha C Chiang Fundamental Methods of Mathematical Economics, Third Edition 1984 p 411

2 Diminick Salvatore Microeconomics, First edition, 1991 pp 205-209

(I) $\alpha+\beta = 1$, जैसे $\alpha = 0.6$ तथा $\beta = 0.4$ होने पर, $\alpha+\beta = 1$ होगा, इसका अर्थ है श्रम में 1% वृद्धि से उत्पत्ति में 0.6% वृद्धि होती है तथा पूँजी में 1% वृद्धि से उत्पत्ति में 0.4% वृद्धि होती है। इस प्रकार श्रम व पूँजी में प्रत्येक मे 1% की वृद्धि में कुल उत्पत्ति में (0.6 + 0.4) = 1% की वृद्धि होती है। अत यह पैमाने के समान प्रतिफल (Constant returns to scale) की स्थिति है।

(II) $\alpha+\beta > 1$ होने पर जैसे $\alpha = 0.6$ तथा $\beta = 0.5$ होने पर, $\alpha+\beta = 0.6+0.5 = 1.1 > 1$ होगा, जो पैमाने के वर्धमान प्रतिफल (increasing returns to scale) की दशा है, अर्थात् श्रम व पूँजी में प्रत्येक मे 1% की वृद्धि से कुल उत्पत्ति में 1% से अधिक की वृद्धि होती है।

(III) यदि $\alpha+\beta < 1$ होता है, जैसे $\alpha = 0.6$ तथा $\beta = 0.3$, तो $\alpha+\beta = 0.6+0.3 = 0.9 < 1$ होगा, जो पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल (decreasing returns to scale) की स्थिति मानी जाती है। इसका अर्थ यह है कि श्रम व पूँजी में प्रत्येक 1% की वृद्धि से कुल उत्पत्ति में 1% से कम की वृद्धि होती है।

उदाहरण—(अ) अल्पकाल मे $A = 10$, $\alpha = \beta = \frac{1}{2}$, पूँजी की स्थिर मात्रा $K = 4$ इकाई लेने पर, उत्पादन फलन

$Q = AL^{\alpha}K^{\beta}$ में उपर्युक्त मूल्य प्रतिस्थापित करने पर

$Q = 10\ L^{1/2}4^{1/2} = 10\ \sqrt{4}\ \sqrt{L} = 20\ \sqrt{L}$ आएगा।

उत्पादन फलन में L के विभिन्न मूल्य प्रतिस्थापित करने पर कुल उत्पत्ति औसत उत्पत्ति व सीमान्त उत्पत्ति की निम्न मात्राएँ प्राप्त होती हैं—

श्रम की इकाइयाँ	कुल उत्पत्ति (TP)	औसत उत्पत्ति (AP)	सीमान्त उत्पत्ति (MP)
0	0	–	–
1	20.00	20.00	20.00
2	28.28	14.14	8.28
3	34.64	11.55	6.36
4	40.00	10.00	5.36
5	44.72	8.94	4.72

(आ) दीर्घकाल में—दीर्घकाल में दोनों साधन परिवर्तनशील होते हैं जिससे $Q = 10\ L^{1/2}K^{1/2} = 10\ \sqrt{L}\ \sqrt{K} = 10\ \sqrt{LK}$ में श्रम व पूँजी की विभिन्न इकाइयाँ प्रतिस्थापित करने पर कुल उत्पत्ति (Q) इस प्रकार दर्शायी जाएगी—

श्रम (L)	पूँजी (K)	कुल उत्पत्ति (TP) या Q
0	0	0
1	1	$10\sqrt{1 \times 1} = 10$
2	2	$10\sqrt{2 \times 2} = 20$
3	3	$10\sqrt{3 \times 3} = 30$
4	4	$10\sqrt{4 \times 4} = 40$

यहाँ पर पुन पैमाने के समान प्रतिफल की दशा उत्पन्न हो गई है, क्योंकि दोनों साधनों के दुगुना होने पर उत्पादन दुगुना और दोनों साधनों के तिगुना होने पर उत्पादन तिगुना, और उनके चौगुना होने पर उत्पादन चौगुना हो जाता है।

इस अध्याय में हमने उत्पादन फलन का सरल परिचय दिया है जिससे हमें इनकी विशेषताओं व विभिन्न रूपों की प्रारम्भिक जानकारी हो सकी है। पाठकों को स्थिर-अनुपातों के उत्पादन फलनों, रेखिकीय समरूप उत्पादन फलनों, कॉब डग्लस उत्पादन-फलनों आदि की पहचान करनी अवश्य आनी चाहिए, ताकि उच्चतर व्यष्टि अर्थशास्त्र के अध्ययन में उनसे लाभ प्राप्त हो सके।

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ व सख्यात्मक प्रश्न

1 जब कुल उत्पत्ति (TP) अधिकतम होती है तो MP कितनी होती है?

(अ) न्यूनतम (ब) शून्य

(स) अधिकतम (द) ऋणात्मक (ब)

2. पैमाने के वर्धमान प्रतिफल की दशा छाँटिए—

(अ) $Q = AL^{0.8}K^{0.3}$ (ब) $Q = AL^{0.3}K^{0.8}$

(स) $Q = ALK$ (द) सभी (द)

3 उत्पत्ति के नियम कब लागू होते हैं?

(अ) जब उत्पादन फलन अल्पकाल से सम्बन्ध रखता है

(ब) एक साधन स्थिर व एक परिवर्तनशील होता है

(स) अन्य सभी साधन स्थिर व केवल एक साधन परिवर्तनशील होता है

(द) सभी (द)

4 $Q = AL^{0.7}K^{0.3}$ (उत्पादन फलन में),

(अ) श्रम की उत्पत्ति लोच छांटिए।

(ब) श्रम की औसत उत्पत्ति ज्ञात कीजिए।

(स) श्रम की सीमान्त उत्पत्ति ज्ञात कीजिए।

(द) पूँजी की औसत उत्पत्ति ज्ञात कीजिए।

(ए) पूँजी की सीमान्त उत्पत्ति ज्ञात कीजिए।

[उत्तर (अ) = 0.7 (ब) $= A \left(\frac{K}{L}\right)^{0.3}$

(स) $= 0.7 A\left(\frac{K}{L}\right)^{0.3}$ (द) $A \left(\frac{L}{K}\right)^{0.7}$

(ए) $0.3A \left(\frac{L}{K}\right)^{0.7}$]

5 उत्पादन फलन $Q = AL^{1/2}K^{1/2}$ में $A = 100$, $L = 16$ तथा $K = 4$ होने पर श्रम की सीमान्त उत्पत्ति ज्ञात कीजिए।

[उत्तर $MP_L = \frac{\partial Q}{\partial L} = A.\frac{1}{2} L^{1/2-1} K^{1/2}$

$$= 100 \times \frac{1}{2} \left(\frac{K}{L}\right)^{1/2} = 50 \left(\frac{4}{16}\right)^{1/2}$$

$$= 50 \sqrt{\frac{1}{4}} = 25$$

अन्य प्रश्न

1 उत्पादन फलन क्या होता है? इससे हमें किन बातों की जानकारी होती है?

2 संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(i) उत्पादन फलन,

(ii) स्थिर अनुपातों का उत्पादन फलन

(iii) कॉब डगलस उत्पादन फलन

(iv) रेखिकीय समरूप उत्पादन फलन (Linearly homogeneous production function)

3 आगे दो परिवर्तनशील साधनों का उत्पादन फलन दिया हुआ है
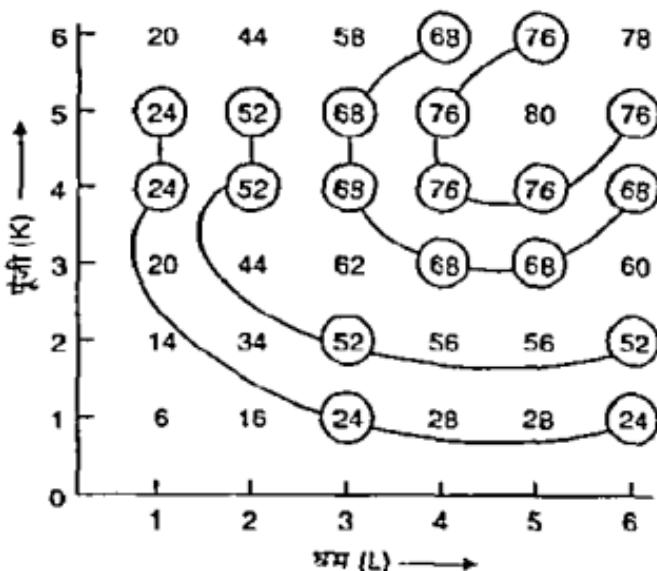
उपर्युक्त उत्पादन फलन के आधार पर समान-उत्पत्ति की मात्राओं को अलग अलग अंकित करके उनके लिए प्रयुक्त की जाने वाली श्रम व पूँजी की मात्राएँ लिखिए। उनको अर्थशास्त्र में क्या कहते है?

[उत्तर-संकेत 24 उत्पत्ति के लिए प्रयुक्त साधनो की इकाइयाँ

	पूँजी	श्रम
(i)	5	1
(ii)	4	1
(iii)	1	3
(iv)	1	6

इसी प्रकार 52 उत्पत्ति के लिए 5K+2L, 4K+2L, 2K+3L तथा 2K+6L लगाने होंगे। इसी तरह आगे बढने पर 68 उत्पत्ति के लिए साधनों की मात्राएँ तथा 76 उत्पत्ति के लिए साधनों की मात्राएँ सारणी से ज्ञात की जा सकती हैं।

इनसे हमें क्रमश 24 इकाई उत्पत्ति, 52 इकाई उत्पत्ति, 68 इकाई उत्पत्ति व 76 इकाई उत्पत्ति के लिए कुल चार समोत्पत्ति वक्र (isoquants) ज्ञात हो जाते हैं। अत उत्पादन फलन के आँकडों के आधार पर समोत्पत्ति वक्र ज्ञात करने में काफी सहूलियत होती है।] इनके बारे में अन्य चर्चा एक पृथक् अध्याय में दी गई है।

4 लघुकालीन और दीर्घकालीन उत्पादन फलन समझाइये।

(M D.S U Ajmer, IIyr 2001)

12

समोत्पत्ति समलागत रेखाएँ व विस्तार पथ

(Isoquants, Isocost Lines and Expansion Path)

जिस प्रकार उपभोक्ता के सन्तुलन का अध्ययन करने के लिए आजकल तटस्थता वक्र विश्लेषण का उपयोग किया जाता है, उसी प्रकार एक फर्म के लिए साधनों के न्यूनतम लागत सयोग का अध्ययन करने के लिए समोत्पत्ति वक्रों (isoquants)[1] का उपयोग किया जाने लगा है। इस विधि को परम्परागत विधि से अधिक वैज्ञानिक व अधिक उपयुक्त माना गया है।

समोत्पत्ति वक्र का अर्थ
(Meaning of Isoquant)

समोत्पत्ति वक्र या समान उत्पत्ति वक्र दो साधनों के उन विभिन्न सयोगों को दर्शाता है जिनका उपयोग करके एक फर्म एक वस्तु की समान मात्राएँ उत्पन्न कर सकती है।

अग्र तालिका में 10 इकाई माल उत्पन्न करने के लिए पूँजी (C) व श्रम (L) के विभिन्न काल्पनिक सयोग दर्शाए गए हैं—

---

1 Isoquant को अंग्रेजी में Iso product curve Equal Product Curve व Product on Ind fference Curve भी कहा जाता है।

बिन्दु	पूँजी (C)	श्रम (L)	पूँजी का परिवर्तन (ΔC)	श्रम का परिवर्तन (ΔL)	तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर* $\left(MRTS_{(L\ for\ C)} = -\frac{\Delta C}{\Delta L}\right)$
A	17	2			
			–6	1	–6 0
B	11	3			
			–3	1	–3 0
C	8	4			
			–3	2	-1 5
D	5	6			
			–2	3	–2/3 = –0 67
E	3	9			
			–1	4	–1/4 = –0.25
F	2	13			

इन संयोगों को निम्नांकित चित्र 1 में एक समोत्पत्ति वक्र पर दर्शाया गया है।
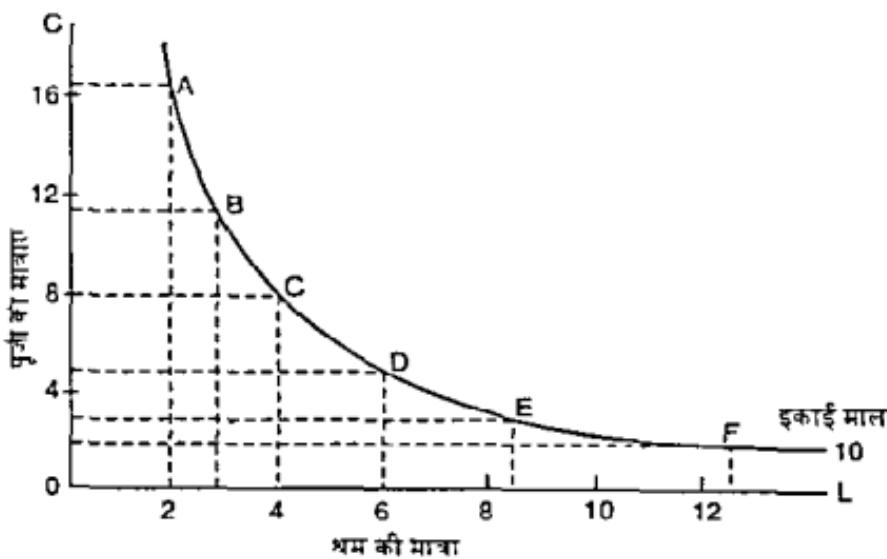
चित्र 1—(अ) तालिका के आधार पर समोत्पत्ति वक्र (Isoquant)

चित्र 1 (अ) में क्षैतिज अक्ष पर श्रम की मात्राएँ व लम्बवत् अक्ष पर पूँजी की मात्राएँ आंकी गई हैं। A, B, C, D, E व F पूँजी व श्रम के उन विभिन्न संयोगों

* इसमें ऋणात्मक निशान नहीं दिखाया जाता, केवल निरपेक्ष मूल्य ही लिए जाते हैं जैसे 6 3 1 5 0 67 0 25 जो घट रहे हैं।

को दर्शाते हैं, जिनमें से प्रत्येक का उपयोग करने पर फर्म 10 इकाई माल उत्पन्न कर पाती है। इन बिन्दुओं को मिलाकर एक वक्र बनाया गया है, जिसे समोत्पत्ति वक्र (Isoquant) कहा जाता है। इसका अर्थ यह है कि इस वक्र पर अन्य सयोग भी पूँजी व श्रम के उन सयोगों को दर्शाते हैं जिनका उपयोग करके 10 इकाई माल उत्पन्न किया जा सकता है।

तालिका के अन्तिम कॉलम में तकनीकी या प्राविधिक प्रतिस्थापन की सीमान्त दर ($MRTS_{L\ for\ C}$) $= -\frac{\Delta C}{\Delta L}$ दर्शाई गई है जिसका अर्थ है एक इकाई श्रम को बढाने पर पूँजी की कितनी इकाइयाँ कम की जाती हैं। यह ऋणात्मक होती है, क्योंकि पूँजी की मात्रा घट रही है तथा श्रम की मात्रा बढ रही है। $\Delta C/\Delta L$ की मात्रा –6 से उत्तरोत्तर घटकर अन्त में $-\frac{1}{4}$ = –0 25 रह जाती है, अर्थात् तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (दो बिन्दुओं के बीच) निरन्तर घट रही है। यह निरपेक्ष (अचीय) रूप में ही ली जानी चाहिए।

अब हम समोत्पत्ति वक्र की एक और आकृति चित्र 1 (आ) में देते हैं, जिसमें वक्र दोनों किनारों पर ऊपर की ओर उठता हुआ दिखलाया गया है। ऐसा तटस्थता वक्रों में नहीं होता, लेकिन सैद्धान्तिक रूप में समोत्पत्ति वक्रों पर हो सकता है। इस चित्र 1(आ) की सहायता से समझाया गया है।
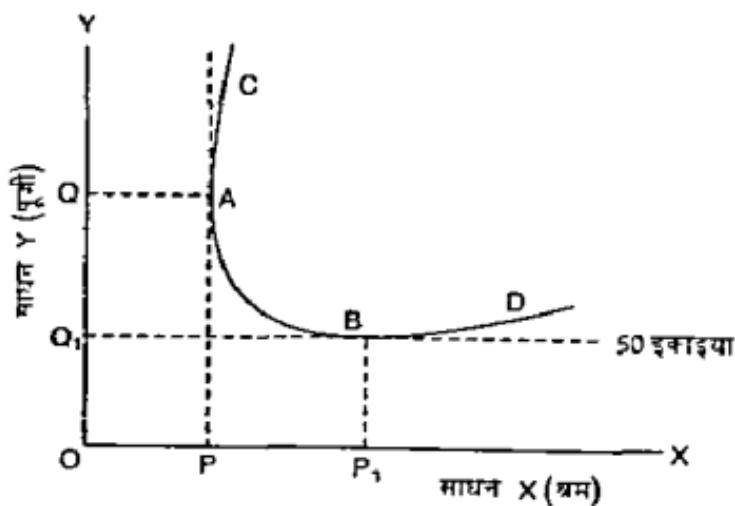
चित्र 1—(आ) समोत्पत्ति वक्र (Isoquant)

चित्र 1 (आ) में एक समोत्पत्ति वक्र दिखलाया गया है जिस पर विभिन्न बिन्दु साधनों के ऐसे सयोग बतलाते हैं जिनका उपयोग करके वस्तु की 50 इकाइयाँ उत्पन्न की जा सकती हैं। उदाहरण के लिए, A और B बिन्दुओं को ही लीजिए। A बिन्दु

पर साधन X की OP मात्रा एव साधन Y की OQ मात्रा का प्रयोग करने से 50 इकाई माल उत्पन्न किया जा सकता है। इसी प्रकार B बिन्दु पर साधन X की OP_1 मात्रा और Y की OQ_1 मात्रा का उपयोग करके भी 50 इकाई माल उत्पन्न किया जा सकता है। **समोत्पत्ति वक्र के निर्माण के लिए आवश्यक आँकड़े उत्पादन-फलन (Production function) से प्राप्त होते है।**

एक समोत्पत्ति वक्र की आकृति एक तटस्थता वक्र की आकृति से मिलती जुलती होती है लेकिन सैद्धान्तिक दृष्टि से समोत्पत्ति वक्र अपने दोनों किनारों पर ऊपर की ओर उठता हुआ हो सकता है। चित्र में B बिन्दु से समोत्पत्ति वक्र ऊपर की ओर उठता है। इसका अर्थ है कि B से आगे किसी भी बिन्दु, जैसे D पर 50 इकाई माल उत्पादित करने के लिए साधन X व Y दोनो की अधिक मात्राएँ प्रयुक्त की जाती हैं। फर्म के लिए B से आगे का क्षेत्र व्यर्थ माना जाएगा लेकिन प्रश्न उठता है कि इसने यह रूप ग्रहण कैसे किया? B से आगे साधन X के अधिक उपयोग से (Y की OQ_1 मात्रा के साथ) X की सीमान्त उत्पत्ति ऋणात्मक (negative) होती है, इसीलिए इस क्षति की पूर्ति के लिए Y साधन भी बढाना होता है ताकि उत्पत्ति 30 इकाई ही बनी रह सके। अत B बिन्दु पर स्पर्श रेखा (tangent) के OX अक्ष के समानान्तर होने से X की कुल उत्पत्ति अधिकतम अथवा उसकी सीमान्त उत्पत्ति शून्य हो जाती है।

इसी प्रकार यह सिद्ध किया जा सकता है कि समोत्पत्ति वक्र के A बिन्दु से ऊपर के अश पर Y साधन की सीमान्त उत्पत्ति ऋणात्मक हो जाती है, जिससे 50 इकाई माल उत्पन्न करने के लिए X और Y दोनों अधिक मात्रा में प्रयुक्त किए जाते हैं। A बिन्दु पर स्पर्श रेखा (tangent) OY अक्ष के समानान्तर होती है, जिससे इस पर Y की कुल उत्पत्ति अधिकतम अथवा इसकी सीमान्त उत्पत्ति शून्य हो जाती है। फर्म के लिए A से ऊपर के बिन्दुओं, जैसे C का भी महत्त्व नही है, क्योंकि उन पर जाने से लागत व्यर्थ में बढ जाती है।

अत फर्म के लिए समोत्पत्ति वक्र का AB भाग ही काम का माना जाता है। इससे आगे-पीछे के अशो का सैद्धान्तिक महत्त्व अवश्य है, लेकिन फर्म उनका उपयोग नही करती हे। कुछ पुस्तकों में समोत्पत्ति वक्र की आकृति AB के अश जैसी ही दिखलाई जाती है जो एक तटस्थता वक्र से पूरी तरह मिलती जुलती है।[1] लेकिन हमने सैद्धान्तिक पहलू को ध्यान में रखते हुए समोत्पत्ति वक्र की आकृति ऐसी दर्शायी है जिसमें दोनों किनारों पर वक्र को ऊपर की ओर उठता हुआ दिखलाया गया है।[2] इस प्रकार की सम्भावना अवश्य पाई जाती हे, चाहे फर्म व्यवहार मे इसका उपयोग न करे। एक उपभोक्ता के तटस्थता वक्रो पर इस प्रकार की सम्भावना भी स्वीकार नही की जाती। पाठकों को इस अन्तर पर अवश्य ध्यान देना चाहिए।

1 स्टोनियर व हेग ने समोत्पत्ति वक्र को ऐसी ही आकृति दिखलायी है।

2 ईकर्ट व लेफ्टविच ने ऐसी ही आकृति का उपयोग किया है।

समोत्पत्ति-मानचित्र (Isoquant Map)

जिस प्रकार एक तटस्थता मानचित्र पर कई तटस्थता वक्र एक साथ दिखलाए जाते हैं, उसी प्रकार समोत्पत्ति-मानचित्र पर एक उत्पादक के लिए कई समोत्पत्ति वक्र एक साथ प्रदर्शित किए जाते हैं, जो उत्पत्ति की विभिन्न मात्राओं के लिए साधनों के विभिन्न सयोगों को बतलाते हैं। आगे एक समोत्पत्ति मानचित्र प्रस्तुत किया जाता है।
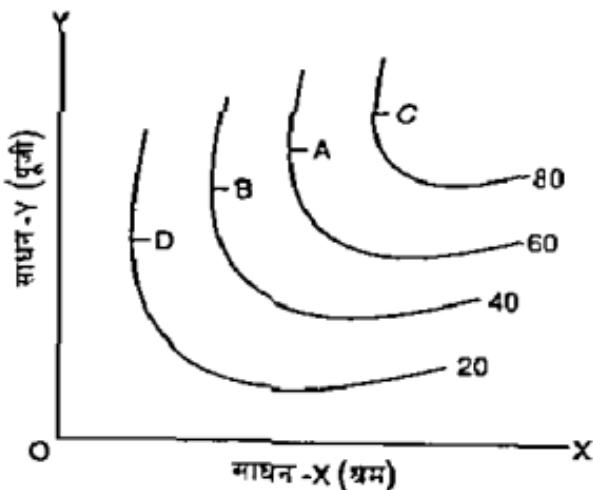
चित्र 2—(अ) समोत्पत्ति-मानचित्र

चित्र 2 (अ) में एक उत्पादक के लिए समोत्पत्ति वक्रों का एक समूह दर्शाया गया है जो समोत्पत्ति मानचित्र कहलाता है। यह फर्म के उत्पादन फलन को रेखाचित्र के रूप में प्रकट करता है। चित्र में A बिन्दु साधनों के उस सयोग को बतलाता है जो 60 इकाई माल उत्पन्न करता है। इसके दाहिनी तरफ ऊपर की ओर के समोत्पत्ति वक्र पर C बिन्दु 80 इकाई माल उत्पन्न करने वाले X व Y के सयोग को व्यक्त करता है। इसी प्रकार A से नीचे के सयोग, जैसे B व D कम उत्पत्ति की मात्रा (क्रमश 40 इकाई व 20 इकाई) के सूचक होते हैं। समोत्पत्ति वक्रों को उत्पत्ति की मात्रा के अनुसार दर्शाने पर चित्र को देखने से आवश्यक जानकारी प्राप्त हो जाती है। स्मरण रहे कि तटस्थता वक्रों में यह सुविधा नहीं होती। उनको प्राप्त सन्तुष्टि की मात्रा के अनुसार प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, क्योंकि कुल सन्तुष्टि का माप सम्भव ही नहीं होता।

अग्र चित्र में चार समोत्पत्ति वक्र दर्शाये गए हैं जो क्रमश 100, 200, 300 तथा 400 इकाई माल उत्पन्न करने में सम्बन्धित साधन सयोगों को प्रकट करते हैं। पहले बतलाया जा चुका है कि एक समोत्पत्ति वक्र उत्पत्ति की एक विशिष्ट मात्रा को उत्पन्न करने के लिए साधनों के विशिष्ट सयोगों को प्रकट करता है। अतएव एक समोत्पत्ति वक्र पर एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक जाने पर उत्पत्ति की मात्रा तो स्थिर रहती है, लेकिन साधनों का अनुपात (input ratio) निरन्तर बदलता जाता है। जैसे
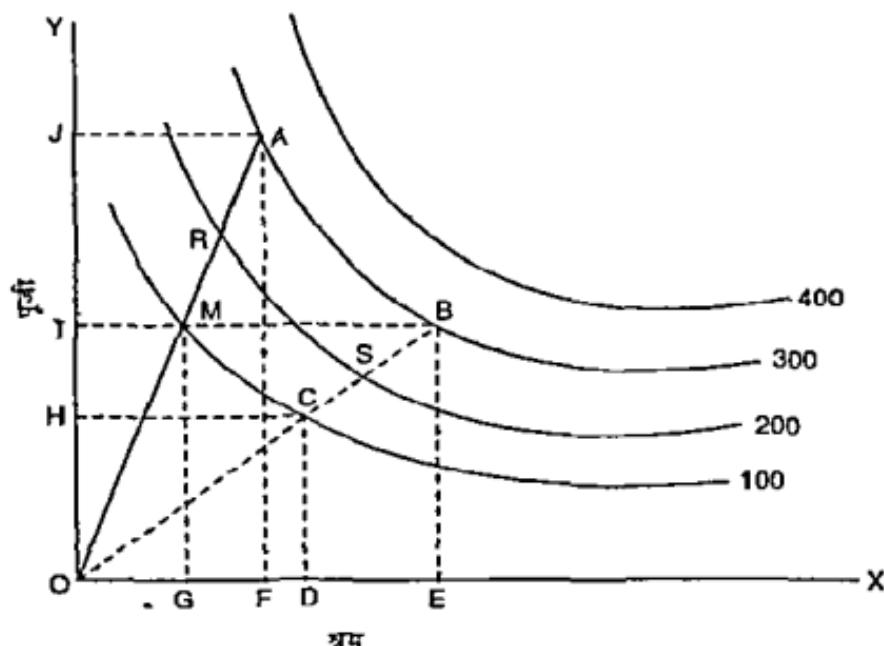
चित्र 2-(आ) समोत्पत्ति मानचित्र पर किरणों (Rays) का उपयोग

100 इकाई माल के समोत्पत्ति वक्र पर M बिन्दु पर OG श्रम व MG पूँजी का उपयोग होता है, जबकि C बिन्दु पर OD श्रम व CD पूँजी का उपयोग होता है। इसी प्रकार एक समोत्पत्ति वक्र समान उत्पत्ति की मात्रा तथा साधनों के परिवर्तनशील या विभिन्न सयोगों का सूचक होता है।

अब हम OA व OB दो सीधी रेखाएँ खींचते हैं जो किरणें (rays) कहलाती हैं। OA किरण तीन समोत्पत्ति वक्रों को क्रमश M, R व A बिन्दुओं पर काटती है। •˜ किरण की यह विशेषता होती है कि M, R व A पर उत्पत्ति की मात्रा तो भिन्न भिन्न होती है (क्रमश 100, 200 तथा 300 इकाइयाँ), लेकिन इन पर साधनों का अनुपात (input ratio) समान बना रहता है, जैसे M पर पूँजी-श्रम अनुपात $\frac{MG}{OG}$ तथा A पर यह $\frac{AF}{OF}$ होता है। ये दोनों अनुपात एक दूसरे के समान होते हैं। इसी प्रकार दूसरी किरण (ray) OB के C, S व B बिन्दुओं पर साधन अनुपात समान पाए जाते हैं, हालाकि उत्पत्ति की मात्राएँ भिन्न भिन्न होती हैं। C पर पूँजी-श्रम अनुपात $\frac{CD}{OD}$ होता है, जो B पर पूँजी-श्रम अनुपात BE/OE के समान होता है। इस प्रकार हमें समोत्पत्ति वक्र तथा किरण के मूलभूत भेद को समझना चाहिए। एक समोत्पत्ति वक्र **(isoquant) पर उत्पत्ति की मात्रा स्थिर व साधन-अनुपात परिवर्तनशील होता है, जबकि एक किरण (ray) पर उत्पत्ति की मात्रा परिवर्तनशील तथा साधन-अनुपात स्थिर रहता है।**

—

समोत्पाद वक्र का मूलबिन्दु के उन्नतोदर हो जाना। यह बात चित्र 3 (अ) से स्पष्ट हो जाती है।

चित्र 3 (अ) —तकनीकी प्रतिस्थापन की घटती हुई सीमान्त दर — दो बिन्दुओं के बीच
(Diminishing Marginal Rate of Technical Substitution between two points on the curve)

चित्र (अ) में A से B तक श्रम की एक इकाई, अर्थात् ΔL या EB बढ़ने के लिए पूँजी की ΔC मात्रा, अथवा AE मात्रा, कम की जाती है। पुन: B से C तक जाने में श्रम की एक इकाई = FC बढ़ाने के लिए पूँजी की BF मात्रा कम की जाती है। चित्र से स्पष्टतया प्रकट होता है कि BF मात्रा AE से कम है। अत: पूँजी के लिए श्रम की तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर ($MRTS_{LforC}$) घटती हुई होती है। इसी प्रकार C से D तक जाने में पुन: श्रम की एक इकाई = GD बढ़ाने के लिए पूँजी की CG मात्रा घटाई जाती है। पूँजी की CG मात्रा BF मात्रा से भी कम है। इस प्रकार चित्र में पूँजी के लिए श्रम की तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर घटती हुई दर्शाई गई है। A से B तक समोत्पाद वक्र का ढाल $\frac{\Delta C}{\Delta L} = \frac{MP_l}{MP_c}$ होता है, जो श्रम की सीमान्त उत्पत्ति व पूँजी की सीमान्त उत्पत्ति का अनुपात होता है।

इसका स्पष्टीकरण नीचे दिया जाता है—

A से B तक जाने पर श्रम की मात्रा ΔL बढ़ जाती है तथा पूँजी की मात्रा ΔC कम हो जाती है, अत: श्रम की मात्रा के बढ़ने से उत्पादन की जो वृद्धि होती है, वह पूँजी की मात्रा के घटने से उत्पादन में होने वाली हानि से पूरी हो जाती है।

अत: श्रम की मात्रा में वृद्धि से होने वाली उत्पादन की वृद्धि

$= \Delta L \times MP_l$ (श्रम की मात्रा का परिवर्तन X श्रम की सीमान्त उत्पत्ति)
होती है तथा पूँजी की मात्रा में कमी से होने वाली उत्पादन की हानि

$= \Delta C \times MP_c$ (पूँजी की मात्रा का परिवर्तन × पूँजी की सीमान्त उत्पत्ति) होता है।

समान उत्पत्ति की शर्त के अनुसार

$$\Delta L \times MP_l = \Delta C \times MP_c$$

$$\frac{\Delta C}{\Delta L} = \frac{MP_l}{MP_c} = MRTS_{l\ for\ c}$$ (निशान छोड़ते हुए)

अत साधनों के बीच तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर साधनों की सीमान्त उत्पत्ति के अनुपात के बराबर होती है।

स्मरण रहे कि $MRTS_{c\ for\ l}$ में $\frac{\Delta L}{\Delta C} = \frac{MP_c}{MP_l}$ हो जाएगा। इसमें पूँजी की मात्रा बढ़ती है तथा श्रम की मात्रा घटती जाती है।*

चित्र 3 (अ) में हमने दो बिन्दुओं के बीच तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर का विवेचन किया है लेकिन समोत्पत्ति वक्र के एक बिन्दु पर भी तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर होती है, जो उस बिन्दु पर वक्र के ढाल के बराबर होती है। इसके लिए वक्र के एक बिन्दु पर स्पर्श-रेखा (tangent) डालकर उसका ढाल ज्ञात किया जाता है। इसे चित्र (आ) की सहायता से स्पष्ट किया जाता है—

स्पष्टीकरण II

समोत्पत्ति वक्र 50 इकाई माल की मात्रा के लिए श्रम व पूँजी साधनों के विभिन्न सयोगों को दर्शाता है। वक्र के A बिन्दु पर MN स्पर्श रेखा है अत इस पर तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर = OM/ON (ऋणात्मक) होती है। इसी प्रकार B बिन्दु पर *तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर = OR/OS (ऋणात्मक) होती है।* स्पष्ट है कि OM/ON > OR/OS है, अर्थात् A पर $MRTS_{l\ for\ c}$ की मात्रा B पर $MRTS_{l\ for\ c}$ से अधिक होती है। दूसरे शब्दों में, **तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर उत्तरोत्तर घटती जाती है।**

(3) दो समोत्पत्ति वक्र एक-दूसरे को काटते नहीं है। यह लक्षण बहुत सरलता से समझा जा सकता है। यदि दो समोत्पत्ति वक्र एक-दूसरे को काटते हैं तो उसका आशय यह होगा कि उस बिन्दु पर वस्तु की दो भिन्न भिन्न मात्राएँ साधनों के एक ही सयोग से उत्पादित की जा सकती हैं, जिसे अव्यावहारिक माना जाता है। अत दो समोत्पत्ति वक्र एक-दूसरे को काट नहीं सकते।

समोत्पत्ति वक्रों के उपर्युक्त परिचय के बाद हम इनकी सहायता से स्थिर अनुपातों का उत्पादन फलन (Fixed Proportions Production Function) समझा सकते हैं, जो आगे के चित्र में दर्शाया गया है। इसका विवेचन उत्पादन फलन के पिछले अध्याय में भी किया गया था।

* पाठकों को ध्यान से इन दोनों का अभ्यास करना चाहिए।
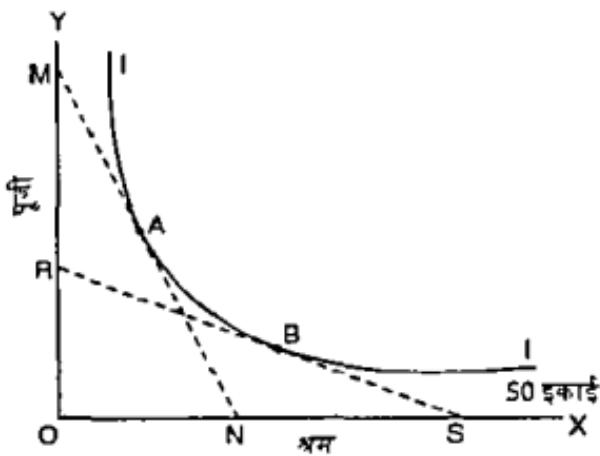
चित्र 3-(आ) तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर—वक्र के किसी भी बिन्दु पर
(MRTS$_l$ for $_c$ at some point on the curve)

स्थिर अनुपातों का उत्पादन-फलन (समोत्पत्ति मानचित्र पर) (साधनों के बीच पूर्ण पूरकता (perfect complementarity) की दशा) यहाँ साधनों की परस्पर स्थानापन्नता शून्य होती है।

समोत्पत्ति वक्रों का उपयोग करके स्थिर अनुपातों का उत्पादन-फलन आसानी से स्पष्ट किया जा सकता है। स्थिर अनुपातों का आशय यह है कि उत्पादन के दो साधन एक ही अनुपात में प्रयुक्त किये जा सकते हैं, जैसे एक बस व एक ड्राइवर, दो बसें व दो ड्राइवर, तीन बसें व तीन ड्राइवर, आदि। चित्र 4 (अ) में हम मान लेते हैं कि 3 इकाई श्रम व 2 इकाई पूँजी से 100 इकाई माल बनता है। अत OR किरण (ray) पर यह A बिन्दु से प्रकट किया जाता है। फिर साधन दुगुने करने पर 6 इकाई श्रम +4 इकाई पूँजी से 200 इकाई माल बनता है जो B बिन्दु से सूचित किया जाता है तथा साधन तिगुने करने पर 9 इकाई श्रम + 6 इकाई पूँजी से 300 इकाई माल बनता है, जो C बिन्दु से सूचित किया जाता है। I_1, I_2 व I_3 तीन समोत्पत्ति वक्र L-आकृति के हैं, जो इनकी सामान्य आकृति से भिन्न किस्म के हैं। इसका आशय यह है कि I_1 वक्र पर श्रम की 3 से अधिक इकाइयां एव पूँजी की 2 से अधिक इकाइयाँ व्यर्थ मानी जाती हैं, क्योंकि A से ऊपर की ओर MP_c (पूँजी की सीमान्त उत्पत्ति) शून्य होती है तथा A के दाहिनी तरफ MP_l (श्रम की सीमान्त उत्पत्ति) शून्य होती है। L-आकृति के समोत्पत्ति वक्र लियोंटीफ समोत्पत्ति वक्र (Leontief Isoquants) कहलाते हैं, क्योंकि डब्ल्यू डब्ल्यू लियोंटीफ ने अपने इन्पुट-आउट विश्लेषण में इनका सर्वप्रथम उपयोग किया था। साधनों की पूर्ण पूरकता की दशा में साधन-प्रतिस्थापन की लोच $\sigma = 0$ होती है।
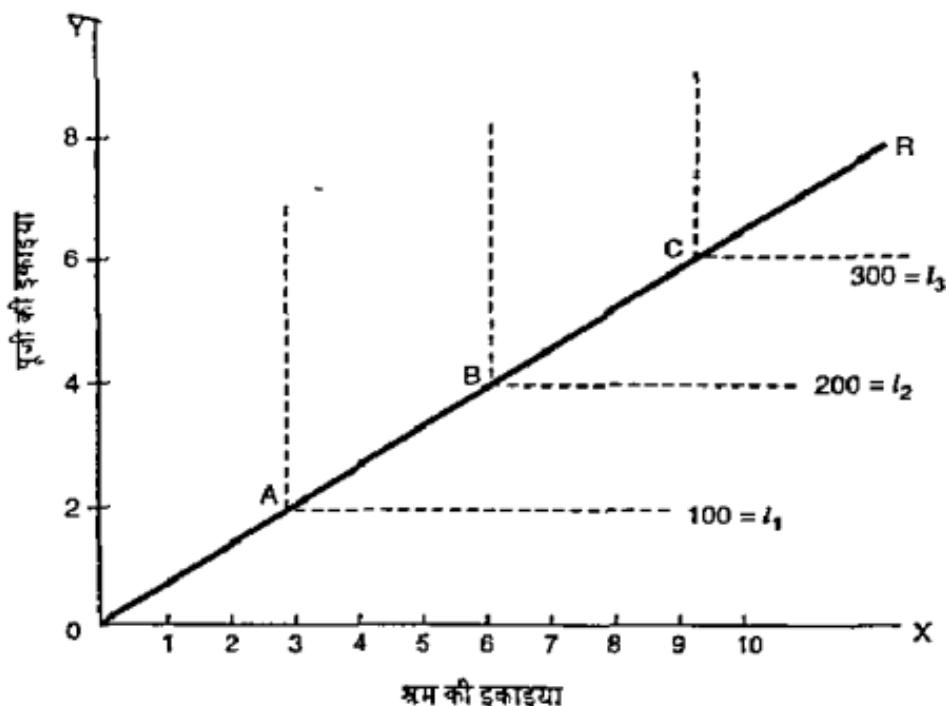
चित्र 4 (अ) स्थिर अनुपातों का उत्पादन-फलन
(Fixed Proportions Production-Function)

[प्रमाण $\sigma = \dfrac{\text{साधनों के अनुपात का परिवर्तन}}{\text{साधनों के तकनीकी प्रतिस्थापन की दर का परिवर्तन}}$

$= \dfrac{0}{\text{साधनों के तकनीकी प्रतिस्थापन की दर का परिवर्तन}} = 0$]

साधनों के बीच पूर्ण स्थानापन्नता (perfect Substitutability) की स्थिति में समोत्पत्ति वक्र, रैखिक उत्पादन-फलन (Linear Production Function) की दशा—

स्पष्टीकरण—यदि साधनों के बीच पूर्ण स्थानापन्नता होती है तो समोत्पत्ति वक्र रैखिक (linear) हो जाते हैं, जैसाकि चित्र 4(आ) में दर्शाए गए हैं। यहाँ उत्पत्ति अकेले श्रम अथवा अकेले पूँजी अथवा इनके अनेक संयोगों से प्राप्त की जा सकती है। दूसरे शब्दों में, उत्पादक 2 इकाई श्रम के लिए 4 इकाई पूँजी की स्थिर दर पर पूँजी के लिए श्रम का प्रतिस्थापन करके उत्पत्ति का समान स्तर प्राप्त कर सकता है। चित्र में 100 इकाई उत्पत्ति की मात्रा 2 इकाई श्रम, अथवा 4 इकाई पूँजी से प्राप्त हो सकती है। इसी प्रकार 200 इकाई उत्पत्ति की मात्रा 4 इकाई श्रम अथवा 8 इकाई पूँजी से तथा 300 इकाई उत्पत्ति की मात्रा 6 इकाई श्रम अथवा 12 इकाई पूँजी से प्राप्त की जा सकती है।
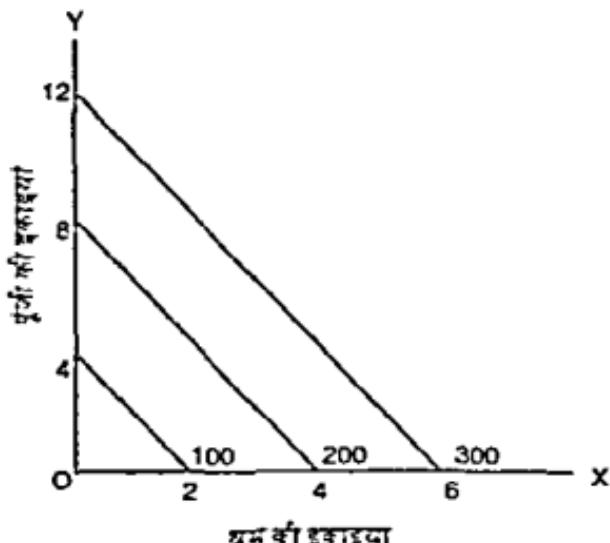
चित्र 4 (आ) —साधनों के बीच पूर्ण स्थानापन्नता की स्थिति में समोत्पत्ति वक्र
(Isoquant with perfect factor-substitution)

अब साधनों के बीच पूर्ण स्थानापन्नता होने पर समोत्पत्ति वक्र रैखिक (linear isoquant) होता है जिससे तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRTS) सर्वत्र समान (constant) बनी रहती है। यहाँ साधन प्रतिस्थापन की लोच (elasticity of factor substitution), $\sigma = \infty$ होती है।

$$[\text{क्योंकि} \quad \sigma = \frac{\text{साधनों के अनुपात का परिवर्तन}}{\text{साधनों की तकनीकी प्रतिस्थापन की दर का परिवर्तन}}$$

$$= \frac{\text{साधनों के अनुपात का परिवर्तन}}{0} = \infty]$$

समलागत रेखा (*Isocost Line*)

समलागत-रेखा का अर्थ—उत्पादन में समलागत रेखा की अवधारणा उपभोग में कीमत-रेखा या बजट-रेखा (price line or budget-line) की अवधारणा के समान होती है। समलागत रेखा साधनों के उन विभिन्न संयोगों को दर्शाती है जिन्हें एक फर्म एक दिए हुए लागत परिव्यय या खर्च (given cost-outlay) और साधनों की दी हुई कीमतों (given factor prices) पर खरीद सकती है। मान लीजिए एक फर्म के पास दो साधनों पर व्यय करने के लिए कुल राशि M होती है और X व Y साधनों की कीमतें क्रमश P_x व P_y प्रति इकाई होती है। यदि वह समस्त राशि साधन X पर व्यय करती है तो उसे इसकी M/P_x इकाइयाँ प्राप्त हो सकती हैं और इसे Y पर व्यय करने से उसकी M/P_y इकाइयाँ प्राप्त हो सकती हैं। यदि व्यय हेतु राशि 50 रु हो और X व Y साधनों के भाव क्रमश 5 रु व 10 रु हो तो समस्त राशि को X

पर व्यय करने से इसकी $\frac{50}{5}$ = 10 इकाइयाँ प्राप्त होंगी और Y की $\frac{50}{10}$ = 5 इकाइया प्राप्त होंगी। यही बात निम्न चित्र पर स्पष्ट की गई है।
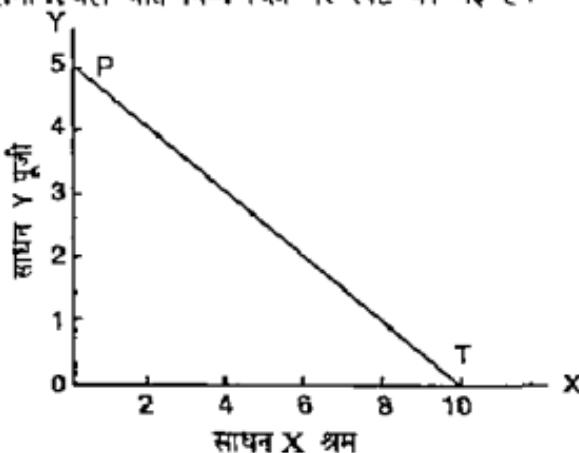
चित्र 5—समलागत रेखा (Isocost Line)

चित्र में OX अक्ष पर X साधन की मात्राएँ एव OY-अक्ष पर Y-साधन की मात्राएँ मापी गई हैं। समस्त लागत व्यय को X पर व्यय करने से इसकी OT मात्रा मिलती है और Y पर व्यय करने से OP मात्रा मिलती है। PT रेखा समलागत रेखा कहलाती है। फर्म इस रेखा पर X और Y साधनों के किसी भी सयोग को चुन सकती है। यह उसके लिए दोनों साधनों के प्राप्य सयोगों को प्रदर्शित करती है। फर्म इस रेखा से ऊपर दायीं तरफ कोई सयोग प्राप्त नहीं कर सकेगी, क्योंकि उसके पास व्यय करने के लिए जो राशि है, वह उसके लिए अपर्याप्त रहती है। इस रेखा के बायीं तरफ या नीचे की ओर यह फर्म कोई सयोग नहीं चुनेगी। अत PT समलागत रेखा दिए हुए लागत परिव्यय व साधनों की दी हुई कीमतों की स्थिति में साधनों के प्राप्त हो सकने वाले विभिन्न सयोगों को प्रदर्शित करती है। लागत परिव्यय के बढ जाने एव साधनों की कीमतों के स्थिर रहने पर समलागत रेखा समानान्तर रूप में ऊपर की ओर खिसक जाती है और लागत परिव्यय के घट जाने से यह नीचे की ओर आ जाती है। उपभोग के क्षेत्र में कीमत रेखा या बजट-रेखा की यही स्थिति उपभोक्ता की आय के परिवर्तित होने पर (दोनों वस्तुओं की कीमतों के यथास्थिर रहने पर) होती है।

समलागत रेखा का ढाल OP/OT होता है।

लेकिन जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है OP = M/P_y, और OT = M/P_x होती है,

इसलिए समलागत रेखा का ढाल = $M/P_y \div M/P_x = P_x/P_y$ होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि समलागत-रेखा का ढाल X और Y साधनों के मूल्यों के अनुपात में होता है तथा यह रेखा पर सर्वत्र समान बना रहता है।

साधनो का अनुकूलतम सयोग (Optimum Combination of Factors) अथवा साधनो का न्यूनतम लागत सयोग (The Least Cost Combination of Factors)

समोत्पत्ति वक्रों व समलागत-रेखाओं का उपयोग करके फर्म के लिए दो साधनों के सर्वोत्तम या अनुकूलतम सयोग की स्थिति स्पष्ट की जा सकती है। यह सयोग उस बिन्दु पर होता है जहाँ पर सम्बन्धित समलागत रेखा एक समोत्पत्ति वक्र का स्पर्श करती है। यही साधनों का न्यूनतम लागत वाला सयोग भी होता है। यह निम्नाकित चित्र 6 में दर्शाया गया है।
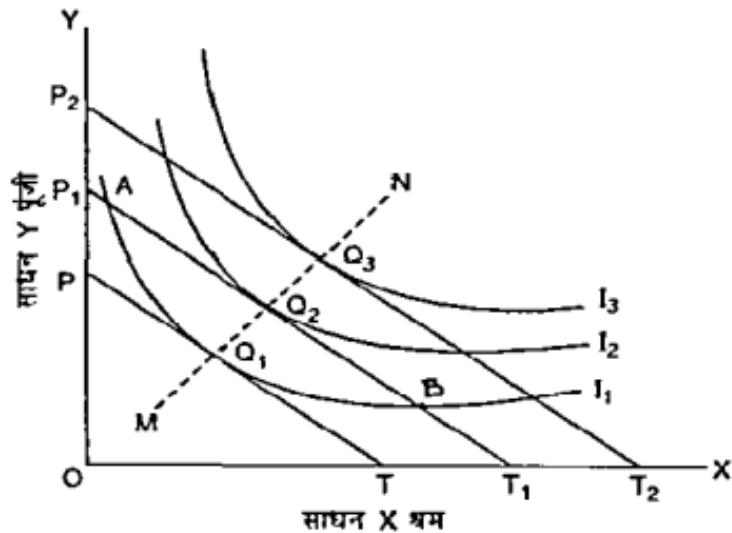
चित्र 6-साधनों का न्यूनतम लागत सयोग अथवा साधनों का अनुकूलतम सयोग

चित्र 6 में I_1 समोत्पत्ति वक्र को PT समलागत रेखा Q_1 बिन्दु पर स्पर्श करती है। अत Q_1 बिन्दु न्यूनतम लागत सयोग को प्रदर्शित करता है। दूसरी समानान्तर P_1T_1 समलागत रेखा पर A और B बिन्दु साधनों के उन सयोगों को प्रदर्शित करते हैं जो I_1 समोत्पत्ति वक्र पर आते हैं। I_1 वक्र पर उत्पत्ति की मात्रा I_2 समोत्पत्ति-वक्र पर उत्पत्ति की मात्रा से कम होती है। अत Q_2 बिन्दु Q_1 तथा A और B बिन्दुओं से ज्यादा अच्छा होता है क्योंकि उस पर समान लागत लगाकर अधिक मात्रा में माल उत्पन्न किया जाता है। लागत परिव्यय के बढने एव साधनों की कीमतों के स्थिर रहने पर P_1T_1 समलागत रेखा I_2 समोत्पत्ति वक्र को Q_2 बिन्दु पर स्पर्श करती है। अत नई स्थिति में Q_2 बिन्दु साधनों के न्यूनतम लागत सयोग को प्रदर्शित करता है। इसी प्रकार आगे बढते जाने पर P_2T_2 समलागत रेखा समोत्पत्ति वक्र I_3 को Q_3 बिन्दु पर छूती है जिससे Q_3 अनुकूलतम लागत सयोग बन जाता है। Q_1, Q_2 व Q_3 को मिलाकर थोड़ा दोनों तरफ बढाने पर MN रेखा बन जाती है जिसे फर्म का विस्तार-पथ (expansion path) अथवा पैमाने की रेखा (scale line) कहते है, अर्थात् फर्म इस पथ पर आगे बढती जायेगी क्योंकि इसी पर उसे न्यूनतम लागत के विभिन्न संयोग मिलते जाएँगे।

फर्म का विस्तार-पथ कई प्रकार की आकृतियाँ धारण कर सकता है। इसकी आकृति पर साधनों की सापेक्ष कीमतों व समोत्पत्ति वक्रों की आकृति का प्रभाव पड़ता है। स्मरण रहे कि पैमाने के समान प्रतिफलों की दशा में यह मूलबिन्दु से गुजरने वाली एक सरल रेखा का रूप धारण कर लेता है।

न्यूनतम लागत सयोग का समीकरण (Equation of Minimum Cost Combination) – जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, समोत्पत्ति वक्र के एक बिन्दु पर वक्र का ढाल दोनो साधनों की सीमान्त उत्पत्ति के सापेक्ष अनुपात के बराबर होता है।

अत Q_1 बिन्दु पर वक्र का ढाल = MP_x/MP_y होगा।

लेकिन Q_1 बिन्दु समलागत रेखा पर भी है, इसलिए इस बिन्दु पर समलागत रेखा का ढाल P_x/P_y के भी बराबर होता है।

अत न्यूनतम लागत सयोग का समीकरण = $MP_x/MP_y = P_x/P_y$ होता है

अथवा $MP_x/P_x = MP_y/P_y$ होता है,

(उपर्युक्त समीकरण को व्यवस्थित करने पर)

यह समीकरण परम्परागत सन्तुलन स्थिति से पूर्णतया मिलता जुलता है। इसका अर्थ यह है कि एक साधन पर एक रुपये के व्यय से प्राप्त सीमान्त उत्पत्ति की मात्रा दूसरे साधन पर एक रुपये के व्यय से प्राप्त सीमान्त उत्पत्ति की मात्रा के बराबर होनी चाहिए।

जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, चित्र 6 मे MN रेखा फर्म के लिए विस्तार पथ (expansion path) को सूचित करती है। उसका अर्थ यह है कि फर्म इस रेखा के द्वारा प्रदर्शित बिन्दुओं का उपयोग करती हुई आगे बढती जाएगी। इस रेखा के विभिन्न बिन्दु साधनो के न्यूनतम लागत सयोगो को ही सूचित करते है। इसे फर्म की पैमाने की रेखा (scale line) भी कहते है, क्योंकि यह उत्पादन का पैमाना बदलने पर एक उद्यमकर्ता द्वारा दो साधनो की मात्राओ में किए जाने वाले परिवर्तनों को दर्शाती है। हम आगे चलकर पैमाने के प्रतिफलों का विवेचन करते समय इस रेखा का विशेष रूप से उपयोग करेंगे।

समोत्पत्ति वक्रों की सहायता से उत्पत्ति की तीन अवस्थाओ का विवेचन* – समोत्पत्ति वक्र की सहायता से उत्पत्ति की तीन अवस्थाओं का वर्णन बडी आसानी से किया जा सकता है। यह अग्र चित्र में दर्शाया गया है।

चित्र 7 में X_0, X_1, X_2 व X_3 उत्पत्ति की मात्राओं को सूचित करने वाले चार समोत्पत्ति वक्र दर्शाये गए हैं, तथा OA तथा OB दो परिधि रेखाएँ (two ridge lines) हैं। OA परिधि रेखा के ऊपर की ओर Y-साधन की सीमान्त उत्पत्ति ऋणात्मक (marginal product of Y is negative) होती है, अत इस रेखा तक X की

* उत्पत्ति की तीन अवस्थाओं का विवेचन अगले अध्याय में उत्पत्ति के नियमों के साथ अधिक विस्तार से दिया गया है।
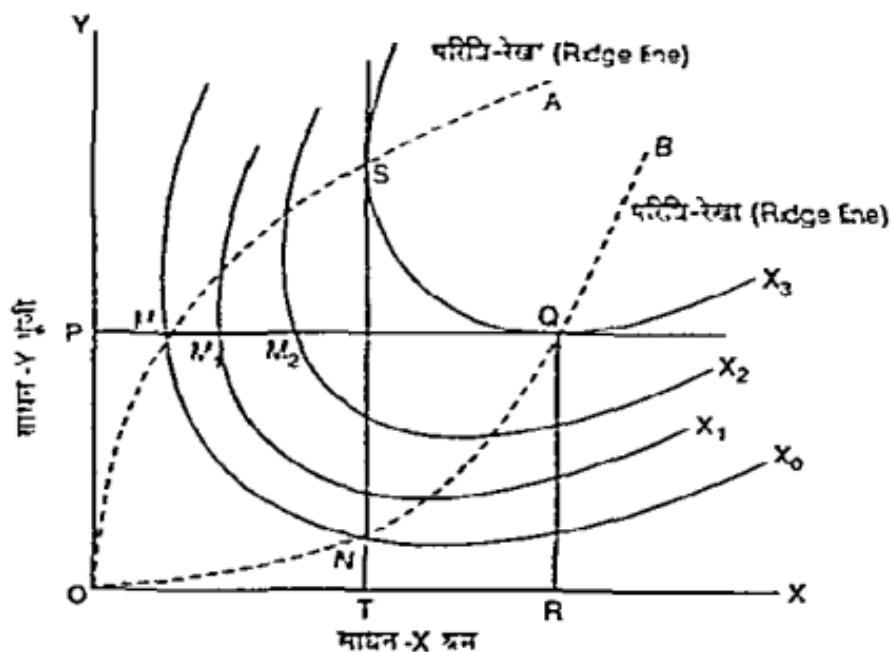
चित्र 7-समोत्पत्ति वक्रों पर उत्पादन की तीनों अवस्थाएँ
(Three Stages of Production on Isoquants)

औसत उत्पत्ति घटती जाती है। इसी प्रकार OB परिधि-रेखा से आगे X-साधन की सीमान्त उत्पत्ति ऋणात्मक (marginal product of X is negative) होती है, एवं Y की औसत उत्पत्ति घटती जाती है। अतः OA और OB परिधि-रेखाओं के बीच में सभी समोत्पत्ति वक्र उत्पत्ति की अवस्था II को प्रदर्शित करते हैं। अवस्था II को ही दोनों ही उत्पादन के लिए सार्थक मानी जाती है, क्योंकि वह इसी परिधि में उत्पादन का कोई बिन्दु चुनेगा।

X_3 समोत्पत्ति वक्र पर S से ऊपर का अंश X साधन के लिए अवस्था I का सूचक है, क्योंकि इसमें X की औसत उत्पत्ति बढ़ती है। S से Q तक X-साधन के लिए अवस्था II होती है, इसमें इसकी औसत उत्पत्ति व सीमान्त उत्पत्ति दोनों घटते हैं। Q बिन्दु पर X की सीमान्त उत्पत्ति शून्य हो जाती है। Q से आगे X की सीमान्त उत्पत्ति के ऋणात्मक हो जाने से उसके लिए उत्पत्ति की अवस्था III आ जाती है।

साधन X के लिए जो अवस्था I, अवस्था II व अवस्था III होती है, वही साधन Y के लिए क्रमशः अवस्था III, अवस्था II व अवस्था I होती है। अब समोत्पत्ति वक्रों पर तीनों अवस्थाओं का स्पष्टीकरण अधिक सुगम हो जाता है।

उपर्युक्त चित्र में हम एक साधन को स्थिर रखकर दूसरे साधन की मात्राओं को बढ़ाकर उसका उत्पत्ति पर प्रभाव देख सकते हैं। जैसे पूंजी की OP मात्रा के साथ

श्रम की PM मात्रा को लगाने से X_0 उत्पत्ति प्राप्त होती है, श्रम की PM_1 मात्रा लगाने पर X_1 उत्पत्ति, इसी प्रकार PM_2 श्रम की मात्रा लगाने पर X_2 उत्पत्ति तथा PQ = OR श्रम की मात्रा लगाने पर X_3 उत्पत्ति प्राप्त होती है। इस स्थिति को हम इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि Y-साधन की OP मात्रा के साथ X-साधन की बढ़ती हुई इकाइयों का उपयोग किया जाता है। X साधन की PM मात्रा तक इसकी औसत उत्पत्ति बढती है। Q बिन्दु पर इसकी कुल उत्पत्ति अधिकतम X_3 हो जाती है, अर्थात् सीमान्त उत्पत्ति शून्य हो जाती है, और बाद में कुल उत्पत्ति घटने लगती है, जिससे सीमान्त उत्पत्ति ऋणात्मक हो जाती है।

इसी प्रकार X साधन की OT मात्रा के साथ Y साधन की बढती हुई मात्राओं का उपयोग करने से Y-साधन की TN मात्रा तक इसकी औसत उत्पत्ति बढती है, N से S के बीच इसकी औसत उत्पत्ति व सीमान्त उत्पत्ति दोनों घटती हैं, S बिन्दु पर इसकी कुल उत्पत्ति अधिकतम (पुन X_3) तथा सीमान्त उत्पत्ति शून्य हो जाती है, और इसके बाद इसकी कुल उत्पत्ति घटने लगती है, तथा सीमान्त उत्पत्ति ऋणात्मक हो जाती है। यहाँ पर भी श्रम की OT स्थिर मात्रा के साथ पूँजी की TN मात्रा का उपयोग करने पर कुल उत्पत्ति X_0 मिलती है, तथा TS पूँजी का उपयोग करने पर कुल उत्पत्ति X_3 मिलती है।

निष्कर्ष—समोत्पत्ति समलागत (isoquant-isocost) विश्लेषण व्यक्तिगत फर्म के लिए दो साधनों के न्यूनतम लागत-संयोग को दर्शाने का एक आधुनिक तरीका माना गया है। इसके निष्कर्ष परम्परागत विधि के निष्कर्षों में बदले जा सकते हैं। लेकिन इस विधि में दो साधनों को ही चित्र पर प्रदर्शित किया जाता है। अत व्यावहारिक दृष्टि से इसकी उपयोगिता भी सीमित हो जाती है। लेकिन विश्लेषण के उपकरण के रूप में इसका महत्त्व अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए। हम ऊपर के चित्र में देख चुके हैं कि समोत्पत्ति वक्रों की सहायता से एक साधन स्थिर रखकर दूसरे साधन को परिवर्तित करके कुल उत्पत्ति की मात्रा पर उसका प्रभाव ज्ञात किया जा सकता है। (जैसा कि OP पूँजी की मात्रा के साथ श्रम की विभिन्न मात्राओं को प्रयुक्त करने पर कुल उत्पत्ति X_0 से X_3 तक बढती है)।

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 100 इकाई माल की उत्पत्ति के लिए श्रम व पूँजी के निम्न संयोग दिए गए हैं। समोत्पत्ति वक्र की प्रकृति बताइए

श्रम	पूँजी
1	1
2	1
3	1
4	1
1	2

उत्तर यह L आकृति का समोत्पत्ति वक्र है (लियोंतीफ समोत्पत्ति वक्र) जो दोनों साधनों मे **पूर्ण पूरकता** (perfect complementarity) दर्शाता है।

2 200 इकाई माल उत्पादित करने के लिए समोत्पत्ति वक्र MM की आकृति निम्न प्रकार की होने पर उसका स्वरूप बताइए।
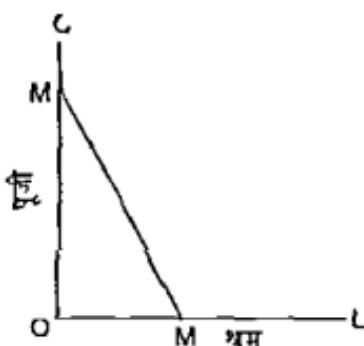
उत्तर—यह रैखिक समोत्पत्ति वक्र है जो दो साधनों की **पूर्ण स्थानापन्नता** (Perfect substitutability) को दर्शाता है।

3 यदि एक उत्पादक को 100 रु की लागत से दो साधन खरीदने हैं जिनमें एक की कीमत (श्रम की) 10 रु प्रति इकाई है, और दूसरे की (पूँजी की) 20 रु प्रति इकाई है तो सम लागत रेखा का ढाल होगा

(अ) 2 (ब) 1/2

(स) 0 (द) अनिश्चित (ब)

4 सामान्यतया समोत्पत्ति वक्र मूलबिन्दु के उन्नतोदर क्यों होते हैं?

(अ) $MRTS_{LC}$ (पूँजी के लिए श्रम की तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर) बढती है।

(ब) $MRTS_{LC}$ घटती है

(स) $MRTS_{LC}$ स्थिर रहती है

(द) $MRTS_{LC}$ शून्य होती है (ब)

5 $MRTS_{LC}$ का सूत्र साधनों की सीमान्त उत्पादकता के अनुपात में व्यक्त कीजिए। यहाँ L श्रम को व C पूँजी को सूचित करते हैं।

(अ) $\frac{MP_L}{MP_C}$ (ब) $\frac{MP_C}{MP_L}$

(स) $MP_L + MP_C$ (द) $MP_L - MP_C$ (अ)

अन्य प्रश्न

1 समोत्पत्ति वक्रों का अर्थ स्पष्ट कीजिए तथा इनकी विशेषताओं को बतलाइए। **(MLSU Udaipur, 2001)**

2 समोत्पाद वक्रों की विशेषताओं का परीक्षण कीजिए। ये वक्र उपभोग में तटस्थता वक्रों से कैसे भिन्न होते हैं?

3 समोत्पत्ति वक्र तथा सम लागत वक्र को समझाइये। इन वक्रों की सहायता से उत्पादन के दो साधनों के अनुकूलतम सयोग का निर्धारण कीजिए।

4 रिज रेखाओं से आप क्या समझते हैं? यह स्पष्ट कीजिए कि श्रम व पूँजी का इष्टतम प्रयोग इन्हीं रेखाओं के बीच में क्यों होता है?

5 (अ) समोत्पाद वक्र रेखाओं की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं? लाभ को अधिकतम करने वाली एक फर्म के अनुकूलतम साधन सयोग के निर्धारण में समोत्पाद वक्र रेखा के उपयोग को स्पष्ट रूप से समझाइये।

(ब) परिधि रेखाएँ क्या होती हैं?

6 'टेक्नीकल (तकनीकी) प्रतिस्थापन की सीमान्त दर' की विचारधारा को समझाइए और यह प्रदर्शित कीजिए कि—

(अ) यह समोत्पाद रेखा के ढाल को मापता है, तथा

(ब) यह दो साधनों की सीमान्त उत्पादकताओं के अनुपात को बताता है।

7 संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(i) समलागत रेखाएँ (ii) परिधि रेखाएँ (iii) समोत्पत्ति वक्र

8 श्रम की मात्रा को एक इकाई बढाने पर एक फर्म पूँजी की तीन इकाइयों का त्याग करती है और फिर भी समान उत्पादन करती है, तब $MRTS_{LK}$ होगा— (यहाँ L श्रम की मात्रा को तथा K पूँजी की मात्रा को सूचित करते हैं)

(अ) 1 (ब) 1/3

(स) 3 (द) 4 (स)

$\left(\text{संकेत} = \frac{\Delta K}{\Delta L}\right)$

(ऋणात्मक निशान छोडते हुए)

□ □ □

13

परिवर्तनशील अनुपातों का नियम*

(Law of Variable Proportions)

जिस प्रकार एक उपभोक्ता अपनी सीमित आमदनी से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने का प्रयास करता है, उसी प्रकार एक व्यावसायिक फर्म भी अपने सीमित साधनों से अधिकतम लाभ प्राप्त करने का प्रयास करती है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए फर्म को माल की एक दी हुई मात्रा को न्यूनतम लागत पर उत्पन्न करने का प्रयत्न करना होता है। अल्पकाल मे फर्म के लिए कुछ साधन स्थिर (fixed) और कुछ परिवर्तनशील (variable) होते हैं। अत उसे विभिन्न साधनों के बीच ऐसा सयोग *स्थापित करना होता है जिस पर माल की दी हुई मात्रा न्यूनतम लागत पर उत्पादित की* जा सके। इस सम्बन्ध में एक दी हुई टेक्नोलॉजी (a given technology) में फर्म को उत्पत्ति के विभिन्न साधनों का सयोग बदलने का अवसर मिलता है। अर्थशास्त्र में कुछ साधन/साधनों को स्थिर रखकर अन्य साधन/साधनों को परिवर्तित करने पर जो स्थिति होती है उसका अध्ययन परिवर्तनशील अनुपातो के नियम अथवा उत्पत्ति के नियमों (Laws of Returns) के अन्तर्गत किया जाता है।

पहले उत्पादन फलन के अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है कि दीर्घकाल में उत्पादन के सभी साधन परिवर्तित किए जा सकते हैं, और साधनों को एक ही अनुपात में बदलने से उत्पत्ति पर जो प्रभाव पडता है, उसका अध्ययन पैमाने के प्रतिफलों (returns to scale) के अन्तर्गत किया जाता है। हम देख चुके हैं कि इस सम्बन्ध में तीन प्रकार की स्थितियाँ पायी जा सकती है सभी साधनो के दुगुना करने पर उत्पत्ति दुगुनी से अधिक (पैमाने के वर्द्धमान प्रतिफल की स्थिति), उत्पत्ति दुगुनी (पैमाने *के समान प्रतिफल की स्थिति) तथा उत्पत्ति दुगुनी से कम (पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल* की स्थिति) हो सकती है। उत्पत्ति के सभी साधनों के एक साथ एक ही अनुपात में बढ़ने को पैमाने का परिवर्तन (Change of scale) कहा जाता है। अत प्रारम्भ मे **ही यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि परिवर्तनशील अनुपातो के नियम का सम्बन्ध अल्पकाल**

* Laws of Returns को 'प्रतिफल के नियम' भी कहते हैं।

(short period) से होता है, जहाँ कम से कम एक साधन स्थिर होता है और कुछ साधन परिवर्तनशील होते हैं और पैमाने के प्रतिफलों का सम्बन्ध दीर्घकाल (long period) से होता है, जहाँ उत्पादन के समस्त साधन एक साथ परिवर्तनशील होते हैं।

हम इस अध्याय में परिवर्तनशील अनुपातों के नियम की चर्चा करेंगे। पिछले अध्याय में समोत्पत्ति वक्र व समलागत रेखाओं के द्वारा फर्म के लिए साधनों के न्यूनतम लागत सयोग पर प्रकाश डाला गया है और अगले अध्याय में पैमानों के प्रतिफलों (वर्द्धमान, समान व ह्रासमान प्रतिफलों) का विवेचन किया जाएगा। यहाँ इस बात पर बल देना आवश्यक है कि इस समस्त अध्ययन में उत्पादन की टेक्नोलॉजी, अर्थात् उत्पादन फलन (production function) को स्थिर रखा जाएगा।

परिवर्तनशील अनुपातो का नियम (Law of Variable Proportions) अथवा उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns)—आजकल उत्पत्ति ह्रास नियम को परिवर्तनशील अनुपातों का नियम (law of variable proportions) भी कहा जाता है। वैसे शाब्दिक अर्थ के अनुसार तो परिवर्तनशील अनुपातों के नियम का आशय यह है कि एक स्थिर साधन के साथ एक परिवर्तनशील साधन लगाने से साधनों का अनुपात बदल जाता है, और हम उसका प्रभाव उत्पत्ति की मात्रा पर देखते हैं। यह प्रभाव बढते हुए प्रतिफल, समान प्रतिफल व घटते हुए प्रतिफल तीनों रूपों में प्रकट हो सकता है। लेकिन बढते हुए प्रतिफल शुरू में एक सीमा तक ही मिलते हैं, और अन्त में घटते हुए सीमान्त प्रतिफलों की स्थिति आ जाती है। अत मूलत **परिवर्तनशील अनुपातों के नियम मे ह्रासमान प्रतिफल का नियम ही समाया हुआ है।** इसलिए **दोनों को एक ही माना जाता है।** यह अल्पकाल में लागू होता है। इसमें एक स्थिर साधन के साथ एक परिवर्तनशील साधन की बढती हुई मात्राएँ लगायी जाती हैं जिससे एक सीमा के बाद सीमान्त भौतिक उत्पत्ति (marginal physical product) (MPP) घटने लगती है। प्रारम्भ में जब एक स्थिर साधन बडा होता है और एक परिवर्तनशील साधन की मात्राएँ बढायी जाती हैं, तो स्थिर साधन का अधिक अच्छा उपयोग होने से कुछ सीमा तक सीमान्त भौतिक उत्पत्ति बढ सकती है। इसे वर्द्धमान उत्पत्ति या प्रतिफल (increasing returns) की दशा कहा जाता है। एक सीमा के बाद स्थिर प्रतिफल की दशा आ जाती है और परिवर्तनशील साधनों का सयोग अनुकूलतम (optimum) हो जाता है, जहाँ सभी साधन अनुकूलतम अनुपात में मिल जाते हैं। कोई भी साधन कम या अधिक नहीं होता, और यह फर्म अनुकूलतम फर्म (optimum firm) बन जाती है, तथा इसकी प्रति इकाई उत्पादन लागत न्यूनतम होती है। इस सीमा के बाद परिवर्तनशील साधन की मात्राओं के बढाए जाने पर यह अनुकूलतम सयोग भग हो जाता है और स्थिर साधन पर अधिक दबाव पडने से परिवर्तनशील साधन को बढाए जाने पर सीमान्त भौतिक उत्पत्ति (MPP) घटने लगती है। **इस प्रकार साधनों के सयोग में एक सीमा के बाद ह्रासमान सीमान्त उत्पत्ति की प्रवृत्ति लागू हो जाती है।** विभिन्न उद्योगों में इस प्रवृत्ति का पाया जाना इतनी सामान्य बात हो गयी है कि इसे अर्थशास्त्र का एक

आधारभूत नियम माना जाने लगा है। ध्यान रहे कि ह्रासमान प्रतिफल नियम के लिए हम साधनों के मूल्यों (factor prices) पर विचार नहीं करते और परिवर्तनशील साधन की सभी इकाइयाँ एक सी कार्यकुशल मान ली जाती हैं। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों व मार्शल ने इस नियम की क्रियाशीलता को कृषि में स्पष्ट किया था। मार्शल ने इस नियम के आधुनिक रूप को भी स्वीकार किया था। यह अन्य उद्योगों में भी समान रूप से लागू होता है। हम उत्पत्ति ह्रास नियम के सम्बन्ध में नीचे मार्शल के कथन को स्पष्ट करके आधुनिक मत का विवेचन करेंगे।

प्रो मार्शल के अनुसार ह्रासमान प्रतिफल के नियम (the law of diminishing returns) अथवा प्रवृत्ति को अस्थायी रूप से (provisionally) निम्न शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है—'भूमि पर खेती करने मे पूँजी और श्रम की वृद्धि से सामान्यतया उपज की मात्रा मे अनुपात से कम वृद्धि होती है, बशर्ते कि कृषि की कला मे कोई सुधार न हो।'[1]

उपर्युक्त कथन में मार्शल ने भूमि को स्थिर रखकर पूँजी और श्रम की मात्राओं में परिवर्तन किया है। मार्शल के कथन में 'सामान्यतया' का अर्थ है कि भूमि पर पूँजी व श्रम की पर्याप्त मात्रा के लगाए जाने के बाद यह नियम लागू होता है। साथ में दूसरी शर्त यह है कि कृषि की कला में कोई सुधार नहीं होना चाहिए। यदि कृषि की कला में कोई सुधार हो जाता है तो सीमान्त उत्पत्ति बढ सकती है। हम आगे चलकर देखेंगे कि नियम के आधुनिक रूप में भी 'टेक्नोलोजी' को स्थिर माना गया है। दूसरे शब्दों में, यह नियम एक दिए हुए उत्पादन फलन की दशा में एक स्थिर साधन के साथ एक परिवर्तनशील साधन की मात्राओं के बढाए जाने से उत्पन्न स्थिति को ही प्रदर्शित करता है।

बोल्डिंग ने इसे अन्त मे ह्रासमान सीमान्त भौतिक उत्पादकता का नियम (law of eventually diminishing marginal physical productivity) कहा है। उसके अनुसार, 'जब हम किसी एक साधन (input) की मात्रा को बढाते है, जो अन्य साधनों की स्थिर मात्रा के साथ मिलाई जाती है, तो परिवर्तनशील साधन की सीमान्त भौतिक उत्पादकता अन्ततोगत्वा अवश्य घटती है।'[2]

रिचार्ड जी लिप्से व के एलक क्रिस्टल ने ह्रासमान प्रतिफल नियम की परिभाषा काफी नपे तुले शब्दों में की है जो इस प्रकार है 'ह्रासमान प्रतिफल नियम यह बतलाता

1 An increase in the capital and labour applied in the cultivation of land causes in general a less than proportionate increase in the amount of produce raised unless it happens to coincide with an improvement in the art of agriculture —Marshall **Principles of Economics**, 8th ed p 125

2 As we increase the quantity of any one input which is combined with a fixed quantity of the other inputs the marginal physical productivity of the variable inputs must eventually decline
—Boulding **Economic Analysis**, Vol 1 p 427

है कि यदि एक परिवर्तनशील साधन की बढती हुई मात्राएँ एक स्थिर साधन की दी हुई मात्रा के साथ प्रयुक्त की जाती है, तो परिवर्तनशील साधन की सीमान्त उत्पत्ति व औसत उत्पत्ति अन्ततोगत्वा घटती है।[1]

इसमे लिप्से व क्रिस्टल ने स्पष्ट रूप से कहा है कि अन्ततोगत्वा (eventually) परिवर्तनशील साधन की सीमान्त उत्पत्ति व औसत उत्पत्ति दोनों घटती है। इसे उत्पत्ति-ह्रास नियम कहते है।

ईकर्ट व लेफ्टविच के अनुसार, 'ह्रासमान प्रतिफल नियम केवल एक साधन की मात्रा के परिवर्तन से फर्म की उत्पत्ति मे होने वाले परिवर्तन की दशा व दर (the direction and the rate of change) का वर्णन करता है। यह बतलाता है कि यदि एक दिए हुए समय मे एक साधन की मात्रा मे समान इकाइयो मे वृद्धि की जाती है और अन्य साधनो की मात्राएँ स्थिर रखी जाती है, तो वस्तु की कुल उत्पत्ति मे वृद्धि होगी, लेकिन एक बिन्दु से परे, उत्पत्ति में होने वाली वृद्धियॉं उत्तरोत्तर कम होती जायेगी।[2]

श्रीमती जोन रोबिन्सन ने ह्रासमान प्रतिफल नियम के बारे में निम्न मत प्रकट किया है, 'थोड़ा सा विचार करने पर यह पता लगेगा कि ह्रासमान प्रतिफल का नियम यह बतलाता है कि एक उत्पादन का साधन दूसरे साधन से एक सीमा तक ही प्रतिस्थापित किया जा सकता है, अथवा, दूसरे शब्दों में, साधनों के बीच प्रतिस्थापन की लोच अनन्त या असीमित (infinite) नही होती।[3]

यहॉं पर श्रीमती जोन रोबिन्सन ने ह्रासमान प्रतिफल नियम के मूल कारण की ओर स्पष्ट रूप से सकेत किया है। उनका कहना है कि यह नियम इसलिए लागू होता है कि एक साधन का काम दूसरा साधन पूर्ण रूप से नही कर सकता, अर्थात् एक साधन दूसरे साधन का स्थान नही ले सकता। यदि एक साधन का काम दूसरा साधन कर लेता तो एक एकड भूमि पर समस्त ससार के लिए अनाज उत्पन्न करना सम्भव हो जाता, क्योंकि हम उस भूमि के टुकडे पर श्रम व पूँजी की मात्राएँ बढाते जाते और

1 'The law of Diminishing returns states that if increasing quantities of variable factor are applied to a given quantity of a fixed factor the marginal product and the average product of the variable factor will eventually decrease' —Richard G Lipsey and K Alec Chrystal **Principles of Economics**, 9th ed 1999 p 122

2. the celebrated law of diminishing returns which describes the direction and the rate of change that the firm s output takes when the input of only one resource is varied It states that **if the input of one resource is increased by equal increments per unit of time while the inputs of other resources are *held constant*, total *product output will increase*, but** beyond some point the resulting output increases will become smaller and smaller —Eckert and Leftwich **Price system and Resource Allocation**, 10th ed, 1988 p 236

3 Joan Robinson **Economics of Imperfect Competition**, 1933 Appendix p 330

उससे उत्पादन बढता जाता, क्योंकि भूमि का काम श्रम व पूँजी करते जाते। यहाँ यह कल्पना कर ली गई है कि श्रम व पूँजी की सप्लाई आवश्यकतानुसार बढायी जा सकती हैं। चूँकि उत्पादन के विभिन साधनों का परस्पर प्रतिस्थापन सीमित मात्रा में ही होता है, इसलिए एक सीमा के बाद सीमान्त उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होना अवश्यम्भावी हो जाता है।

विद्वानो मे इस सम्बन्ध मे मतभेद पाया जाता है कि यह नियम व्यावहारिक ज्ञान पर आधारित है, अथवा केवल तर्क से निकाला गया है। गूल्ड व लेजियर (Gould and Lazear) का स्पष्ट मत है कि "ह्रासमान प्रतिफल का नियम वास्तविकता के सम्बन्ध मे एक अनुभवाश्रित कथन (empirical assertion) है। यह स्वयसिद्ध प्रणाली से प्राप्त थ्योरम या प्रमेय नही है, यह कोई तर्कयुक्त प्रस्थापना (logical proposition) नही है जिसका गणितीय प्रमाण दिया सके, अत. जिसे गलत ठहराया जा सके। यह उन भौतिक सम्बन्धो के बारे मे एक सरल कथन है जो *वास्तविक आर्थिक जगत में* देखे गए है।[1] इसके विपरीत प्रो एन सी रे इस नियम को निगमन तर्क (deductive *reasoning) पर आधरित मानते हैं, न कि अनुभवाश्रित निष्कर्ष के रूप में।*[2]

उत्पत्ति-ह्रास नियम की मान्यताएँ (assumptions) – उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि इस नियम के लागू होने के पीछे निम्न मान्यताएँ पायी जाती हैं—

(1) टेक्नोलॉजी दी हुई होती है। यदि टेक्नोलोजी में सुधार हो जाता है तो नियम का लागू होना कुछ समय के लिए रुक जाता है।

(2) साधनो के अनुपात स्थिर नही रहते, वे बदले जा सकते है। हम एक साधन स्थिर व एक साधन परिवर्ती मान सकते है।

(3) परिवर्ती साधन की सभी इकाइयाँ एक-सी कार्यकुशल मानी जाती हैं।

अब हम एक उदाहरण के द्वारा परिवर्तनशील अनुपातों के नियम अथवा उत्पत्ति-ह्रास नियम को स्पष्ट करेंगे—

सारणी-1 एक हैक्टेयर भूमि पर श्रम की विभिन्न इकाइयो को लगाने से उत्पत्ति पर प्रभाव

भूमि (land)	श्रम (labour)	कुल उत्पत्ति (TP)	सीमान्त उत्पत्ति (MP)	औसत उत्पत्ति (AP)	
1	1	6	6	6	
1	2	14	8	7	अवस्था I
1	3	24	10	8	

1 Gould and Lazear, Ferguson and Gould's Micro economic theory, Sixth ed 1989, p 158

2. N C Ray, An Introduction to Microeconomics 1975, p 95

1	4	32	8	8	
1	5	38	6	$7\frac{3}{5}$	अवस्था II
1	6	42	4	7	
1	7	44	2	$6\frac{2}{7}$	
1	8	44	0	$5\frac{1}{2}$	
1	9	42	–2	$4\frac{2}{3}$	अवस्था III
1	10	30	–12	3	

उपर्युक्त सारणी में श्रम की आठ इकाइयों पर कुल उत्पत्ति अधिकतम हो जाती है। उसके बाद वह घटने लगती है।

सीमान्त उत्पत्ति (MP) कुल उत्पत्ति में होने वाली वृद्धि होती है जो एक अतिरिक्त श्रमिक को लगाने से प्राप्त होती है। इसे $\frac{\Delta TP}{\Delta X}$ से सूचित करते हैं, जहाँ ΔTP का अर्थ है कुल उत्पत्ति (TP) मे होने वाला परिवर्तन तथा ΔX का अर्थ है श्रम की मात्रा में होने वाला परिवर्तन। सीमान्त उत्पत्ति (MP) श्रम की प्रथम तीन इकाइयों तक बढती है। उसके बाद चौथे श्रमिक से यह घटना शुरू होती है, और आठवें श्रमिक को लगाने पर सीमान्त उत्पत्ति शून्य हो जाती है। बाद में यह ऋणात्मक (negative) हो जाती है। नवें व दसवें श्रमिक कुल उत्पत्ति को बढाने की अपेक्षा घटा देते हैं।

औसत उत्पत्ति कुल उत्पत्ति मे श्रमिकों की संख्या का भाग देने से प्राप्त होती है। यदि X श्रमिकों की संख्या को सूचित करें तो औसत उत्पत्ति का सूत्र इस प्रकार होगा— $AP = \frac{TP}{X}$, जहाँ AP औसत उत्पत्ति व TP कुल उत्पत्ति को सूचित करते हैं।[1] यह भी शुरू में बढती है फिर अपनी अधिकतम सीमा पर पहुँचकर धीरे धीरे घटने लगती है। **सीमान्त उत्पत्ति के ऋणात्मक हो जाने पर भी औसत उत्पत्ति धनात्मक ही बनी रहती है, हालांकि इसका घटना लगातार जारी रहता है।**

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होता है कि कुल उत्पत्ति व सीमान्त उत्पत्ति का वर्णन लगभग वैसा ही है जैसा कि कुल उपयोगिता व सीमान्त उपयोगिता का होता है। हम अग्रांकित चित्र 1 में कुल उत्पत्ति, सीमान्त उत्पत्ति व औसत उत्पत्ति को प्रदर्शित करते हैं।

---

1 स्मरण रहे कि यहाँ पर श्रमिकों (परिवर्तनशील साधन की मात्रा) को एक-एक करके बढ़ाकर अलग-अलग समयों में उत्पत्ति पर प्रभाव नहीं देखा जाता, बल्कि एक ही समय में श्रम की अलग-अलग मात्राओं के सम्भावित प्रभावों पर विचार किया जाता है।

चित्र 1 (अ) में TP (कुल उत्पत्ति वक्र) और चित्र 1 (आ) में AP (औसत उत्पत्ति वक्र) व MP (सामान्त उत्पत्ति वक्र) दर्शाये गये हैं। OX अक्ष पर श्रम की विभिन्न मात्राएँ ली गयी हैं और OY अक्ष पर उत्पत्ति की मात्राएँ दर्शायी गयी हैं। चित्र के (अ) भाग में OY अक्ष पर $\frac{\text{उत्पत्ति}}{\text{भूमि}}$ $\left(\frac{\text{Product}}{\text{Land}}\right)$ का मापा गया है, अर्थात् यह एक हैक्टेयर भूमि पर श्रम की बढ़ती हुई मात्राओं से प्राप्त कुल उत्पत्ति TP को सूचित करता है। चित्र के (आ) भाग में OY-अक्ष पर $\frac{\text{उत्पत्ति}}{\text{श्रम}}$ $\left(\frac{\text{Product}}{\text{Land}}\right)$ को मापा गया है, अर्थात् यह प्रति श्रमिक औसत उत्पत्ति व सीमान्त उत्पत्ति (AP व MP) को बतलाता है। इस प्रकार चित्र 1 (अ) पर OY-अक्ष कुल उत्पत्ति (TP) को सूचित करता है, जबकि चित्र 1 (आ) पर OY अक्ष औसत उत्पत्ति व सीमान्त उत्पत्ति (AP व MP) को सूचित करता है।

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है TP वक्र प्रारम्भ में वर्द्धमान-दर (increasing rate) से A तक बढ़ता है, फिर यह ह्रासमान दर (decreasing rate) में बढ़ता है। अन्त में यह अधिकतम बिन्दु पर पहुँच जाता है और फिर नीचे की ओर गिरने लगता है।
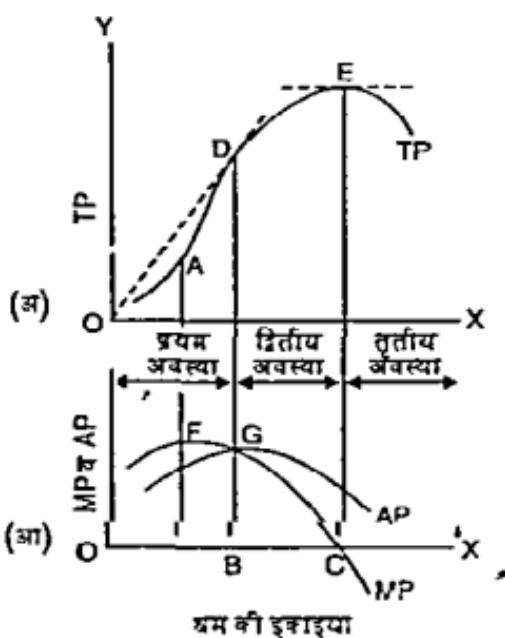
चित्र के (आ) भाग में (प्रथम अवस्था O से B तक, द्वितीय अवस्था B से C तक तथा तृतीय अवस्था C से आगे)
चित्र 1-उत्पादन की तीन अवस्थाएँ (Three Stages of Production)

एक उत्पादक के लिए उत्पादन की द्वितीय अवस्था श्रेष्ठ मानी जाती है। इसको निम्न तर्क के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है। प्रथम अवस्था में स्थिर साधन (यहाँ भूमि) परिवर्तनशील साधन (यहाँ श्रम) की तुलना में अधिक होता है। फलस्वरूप इसमें स्थिर साधन (भूमि) की सीमान्त उत्पत्ति ऋणात्मक (MP of fixed factor is negative) होती है। द्वितीय अवस्था में स्थिर साधन का अधिक उपयोग होने से इसका परिवर्तनशील साधन से उचित सयोग या ताल मेल स्थापित हो जाता है, हालांकि इसमें परिवर्तनशील साधन की सीमान्त उत्पत्ति व औसत उत्पत्ति घटती है। लेकिन तृतीय अवस्था में परिवर्तनशील साधन की मात्रा स्थिर साधन की तुलना में अधिक हो जाती है, जिससे इसमें परिवर्तनशील साधन की सीमान्त उत्पत्ति ऋणात्मक (MP of variable factor is negative) हो जाती है। ऐसी दशा में **उत्पादक के लिए द्वितीय अवस्था में उत्पादन करना ही लाभकारी होगा, जहाँ किसी भी साधन की सीमान्त-उत्पत्ति ऋणात्मक नही होती।**

यदि भूमि निशुल्क (Free) हो तो एक उत्पादक अवस्था II के आरम्भ/सीमा (boundary) तक ही उत्पादन करेगा, और यदि श्रम मुफ्त (Free) हो तो वह अवस्था III के आरम्भ/सीमा तक उत्पादन करेगा। इस प्रकार अवस्था II में उत्पादन का कोई भी बिन्दु चुना जाएगा, जो भूमि व श्रम की सापेक्ष कीमतों पर निर्भर करेगा। यदि भूमि सस्ती होती है तो वह अवस्था II के समीप एव यदि श्रम सस्ता होता है तो वह अवस्था III के समीप उत्पादन करना पसन्द करेगा।

इस प्रकार **उत्पादन का सन्तुलन-बिन्दु साधनो की कीमतो के आधार पर निश्चित किया जाता है।** एक उत्पादक उस स्थान पर अपना उत्पादन बन्द करेगा जहाँ एक साधन पर व्यय किए गए एक रुपए से प्राप्त सीमान्त उत्पत्ति किसी दूसरे साधन पर व्यय किए गए एक रुपए से प्राप्त सीमान्त उत्पत्ति के बराबर या लगभग बराबर हो जाए। इस पर विस्तृत प्रकाश आगे चलकर डाला जाएगा।

ह्रासमान प्रतिफल नियम के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें—इस नियम के उपर्युक्त विवेचन से कुछ उल्लेखनीय बातें सामने आती हैं, जिन पर नीचे ध्यान आकर्षित किया जाता है—

(1) ह्रासमान प्रतिफल से पूर्व वर्द्धमान प्रतिफल तथा समान प्रतिफल की अवस्थाएँ सम्भव—उत्पत्ति के नियम के रूप में तो हम ह्रासमान प्रतिफल नियम की ही चर्चा करते हैं। लेकिन इसके लागू होने से पूर्व कुछ सीमा तक वर्द्धमान प्रतिफल व समान प्रतिफल भी प्राप्त हो सकते हैं। जब एक साधन की मात्रा को बढाने से कुल उत्पत्ति अनुपात से अधिक बढती है, तो उसे वर्द्धमान प्रतिफल की अवस्था कहते हैं। सारणी 1 में श्रम की प्रथम तीन इकाइयों तक सीमान्त उत्पत्ति बढती है। अत तीनों श्रमिकों तक वर्द्धमान प्रतिफल का नियम लागू होता है। हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि वर्द्धमान प्रतिफल का कारण यह है कि स्थिर साधन का उपयोग, प्रारम्भ में परिवर्तनशील साधनों की

इकाइयों को बढ़ाने से, अधिक कार्यकुशल ढंग से होता है। मान लीजिए, एक हैक्टेयर भूमि पर कुछ पूँजी व एक श्रमिक लगाया जाता है जिससे प्रारम्भ में उस भूमि का अपर्याप्त उपयोग ही हो पाता है। बाद में दो श्रमिक तथा तीन श्रमिक आदि लगाने से उस भूमि का अधिक कार्यकुशल ढंग से उपयोग हो पाता है जिससे श्रम की सीमान्त उत्पत्ति बढ़ती है।

वर्द्धमान प्रतिफल की अवस्था के लिए निम्न कारण उत्तरदायी माने गए हैं—(i) **स्थिर साधन की अविभाज्यता (indivisibility of the fixed factor)**—कुछ स्थिर साधन प्रारम्भ में बड़ी मात्रा में लगाए जाते हैं चाहे उत्पादन कुछ सीमा तक थोड़ी मात्रा में ही क्यों न करना पड़े? तकनीकी कारणों से उनकी एक न्यूनतम मात्रा होती है जिससे नीचे उनका विभाजन सम्भव नहीं होता। ऐसी स्थिति में परिवर्तनशील साधनों के बढ़ाए जाने पर इन स्थिर साधनों का ज्यादा अच्छा उपयोग होने लगता है, जिससे वर्द्धमान प्रतिफल प्राप्त होने हैं, (ii) श्रम जैसे परिवर्तनशील साधन के बढ़ने पर आगे चलकर **श्रम-विभाजन व विशिष्टीकरण आदि के लागू होने पर उत्पादकता में वृद्धि होती है** तथा नवीनतम मशीनरी का उपयोग करने से वर्द्धमान प्रतिफल की दशा उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार **अविभाज्यता, श्रम-विभाजन, विशिष्टीकरण तथा नवीनतम मशीनरी** के प्रयोग के फलस्वरूप कुछ सीमा तक वर्द्धमान-प्रतिफल प्राप्त किए जा सकते हैं।

इसी प्रकार समान प्रतिफल की अवस्था भी ह्रासमान प्रतिफल के पूर्व आ सकती है, जहाँ पर कुल उत्पत्ति की वृद्धि साधन की वृद्धि के अनुपात के अनुसार ही होती है। हम यों कह सकते हैं कि **वर्द्धमान प्रतिफल से ह्रासमान प्रतिफल की ओर जाते समय समान प्रतिफल की अवस्था आ सकती है**। इन्हीं कारणों से अर्थशास्त्री उत्पत्ति के नियम के रूप में प्रायः ह्रासमान प्रतिफलों पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं, जो अनुचित नहीं माना जाता।

(2) ह्रासमान प्रतिफल नियम में भौतिक प्रतिफलों पर विचार किया जाता है—ह्रासमान उत्पत्ति नियम में हमारा सम्बन्ध उत्पत्ति की मात्रा से ही होता है, उसके मूल्यों से हमारा कोई सरोकार नहीं होता। हम साधनों के मूल्यों को भी स्थिर मान लेते हैं। अतः यह नियम एक टेक्नोलोजिकल स्थिति को ही सूचित करता है। सच पूछा जाए तो यह *आर्थिक नियम कहलाने की अपेक्षा एक टेक्नोलोजिकल नियम कहलाया* जाना चाहिए। यह एक बड़े आर्थिक महत्त्व का टेक्नोलोजिकल नियम माना जाता है। यह एक उत्पादन फलन का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है।

(3) वर्द्धमान लागत का सूचक—ह्रासमान प्रतिफल नियम को वर्द्धमान लागत का नियम (law of increasing cost) भी कह सकते हैं, क्योंकि कुल उत्पत्ति के घटती हुई दर से बढ़ने के कारण उसी व्यय से कम उत्पत्ति मिल पाती है, जिससे प्रति इकाई लागत का बढ़ना स्वाभाविक होता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है हम यहाँ साधनों के मूल्यों को स्थिर रखते हैं।

(4) परिवर्ती साधन की समरूप इकाइयाँ—परिवर्तनशील साधनों की सभी इकाइयाँ एक-सी कार्यकुशल मानी जाती हैं। उदाहरण के लिए, यहाँ पर सभी श्रमिक एक से कार्यकुशल माने जाते हैं। इनमें कार्यकुशलता के अन्तर नहीं माने जाते।

(5) ह्रासमान प्रतिफल की प्रवृत्ति एक सीमा के बाद सभी क्रियाओं में प्रकट होती है—प्राय यह कहा जाता है कि जहाँ उत्पादन में प्रकृति (nature) की प्रधानता होती है, वहाँ पर ह्रासमान प्रतिफल प्राप्त होते हैं, और जहाँ श्रम व पूँजी की प्रधानता होती है वहाँ पर वर्द्धमान प्रतिफल प्राप्त होते हैं। **भूमि की उर्वरा-शक्ति सीमित होती है, इसलिए इस पर ह्रासमान प्रतिफल की प्रवृत्ति जल्दी लागू हो जाती है।** पूँजी के उपयोग से वर्द्धमान प्रतिफल काफी सीमा तक प्राप्त हो सकते हैं। वास्तव में अब इस भेद के लिए भी कोई विशेष औचित्य नहीं रह गया है। नियम के आधुनिक रूप में हम केवल इसी बात पर बल देते हैं कि एक स्थिर साधन के साथ एक परिवर्तनशील साधन की बढ़ती हुई मात्राओं को लगाने से, एक सीमा के बाद, कुल उत्पत्ति घटती हुई दर से बढ़ेगी। इस रूप में नियम का प्रस्तुतीकरण अधिक व्यापक व अधिक लचीला बन जाता है। **हम एक साधन को स्थिर रखकर अन्य सभी साधनों को परिवर्ती मान सकते हैं, अथवा अन्य सभी साधनों को स्थिर रखकर एक साधन को परिवर्ती मान सकते हैं अथवा कुछ को स्थिर रखकर कुछ को परिवर्ती मान सकते हैं। मुख्य बात यह है कि सभी साधन एक साथ परिवर्तनशील नहीं माने जाते हैं, क्योंकि यह विवेचन अल्पकाल से ही सम्बन्धित होता है, जिसमें संयन्त्र की क्षमता (Plant capacity) दी हुई होती है।** हम अध्ययन की सरलता के लिए एक साधन को स्थिर मान लेते हैं और दूसरे साधन को परिवर्तनशील या बढ़ता हुआ मान लेते हैं।

इस प्रकार ह्रासमान प्रतिफल नियम आर्थिक जीवन के सभी क्षेत्रों में लागू होता है, लेकिन कृषि में यह अपेक्षाकृत जल्दी लागू हो जाता है, क्योंकि इसमें उत्पादन पर प्राकृतिक तत्त्वों का विशेष प्रभाव पड़ता है। हालांकि कृषि में भी टेक्नोलोजिकल परिवर्तनों के माध्यम से खाद, बीज, औजार आदि में सुधार करके इस नियम की क्रियाशीलता को रोकने का प्रयास किया गया है तथा किया जा रहा है, लेकिन उद्योगों में विज्ञान व टेक्नोलोजी के परिवर्तन ज्यादा तेज रफ्तार से हो रहे हैं, जिससे ह्रासमान प्रतिफल की प्रवृत्ति यहाँ अपेक्षाकृत अधिक सरलतापूर्वक व अधिक सफलतापूर्वक रोकी जा सकती है। लेकिन एक सीमा के बाद, स्थिर साधन के साथ परिवर्तनशील साधन के उपयोग से ह्रासमान प्रतिफल की स्थिति का आना अवश्यम्भावी होता है।

(6) उत्पादन की टेक्नोलोजी स्थिर—यह नियम टेक्नोलोजी के स्थिर रहने की दशा में ही लागू होता है। यह 'एक सीमा के बाद' अवश्य क्रियाशील होता है, जहाँ स्थिर साधन पर परिवर्तनशील साधन का दबाव बढ़ जाता है, स्मरण रहे कि उत्पत्ति के नियम अल्पकाल में लागू होते हैं, क्योंकि दीर्घकाल में उत्पादन के सभी साधन परिवर्तनशील

हो सकते हैं। जब उत्पत्ति के सभी साधन परिवर्तनशील होते है तो पैमाने के प्रतिफलो **(returns to scale)** की चर्चा की जाती है। इनका वर्णन अगले अध्याय में किया गया है। पाठकों को उत्पत्ति के नियमों व पैमाने के प्रतिफलों में मूलभूत अन्तर को सदैव स्मरण रखना चाहिए, जिस पर अध्याय के आरम्भ में भी ध्यान आकर्षित किया जा चुका है।

ह्रासमान प्रतिफल-नियम का महत्त्व (Importance of the law of diminishing returns)—हम ऊपर स्पष्ट कर चुके है कि परिवर्तनशील अनुपातों के नियम (Law of variable proportions) में वर्द्धमान प्रतिफल, समान प्रतिफल व ह्रासमान प्रतिफल तीनों की प्रवृत्तियाँ निहित होती हैं। लेकिन इनमें से अन्तिम प्रवृत्ति, अर्थात् ह्रासमान प्रतिफल की प्रवृत्ति ही ज्यादा प्रबल मानी गयी है। **विभिन्न अर्थशास्त्रियो ने परिवर्तनशील अनुपातो के नियम को ही *ह्रासमान प्रतिफलो* का नियम कहा है।**

दी हुई टेक्नोलोजी मे ह्रासमान प्रतिफल की प्रवृत्ति अवश्यम्भावी—जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है ह्रासमान प्रतिफल का नियम बतलाता है कि 'टेक्नोलोजी की दी हुई स्थिति में' एक साधन स्थिर रखकर दूसरे साधन को बढाने पर एक सीमा के बाद ह्रासमान प्रतिफल मिलने लगते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो एक हैक्टेयर भूमि के टुकडे पर सारे ससार के लिए अनाज उगाया जा सकता था, क्योंकि श्रम व पूँजी की मात्राओं को बढाने में विशेष कठिनाई नहीं होती। लेकिन एक सीमित मात्रा में भूमि के टुकडे पर श्रम व पूँजी की मात्राएं लगातार बढाने पर एक सीमा के बाद ह्रासमान प्रतिफल अवश्य मिलने लगते हैं।

निरन्तर वैज्ञानिक व टेक्नोलोजिकल परिवर्तनो की आवश्यकता—ह्रासमान प्रतिफल की प्रवृत्ति का आशय यह नही है कि लोगों का जीवन स्तर ऊँचा नही हो सकता, क्योंकि विज्ञान व टेक्नोलोजी का उपयोग करके उत्पादन का स्तर निरन्तर ऊँचा किया जा सकता है। अत इस नियम से डरने या घबराने की आवश्यकता नही, बल्कि निरन्तर टेक्नोलोजी में सुधार करने की आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ, भारत में कृषि क्रान्ति के आगमन से अधिक उपज देने वाले बीज, खाद, सिंचाई व कीटनाशक दवाइयों का उपयोग करने से पैदावार बढने के लिए अवसर खुले हैं। **इसलिए टेक्नोलोजी मे सुधार करके ह्रासमान प्रतिफल नियम की क्रियाशीलता व प्रवृत्ति को रोका जा सकता है और *रोका जाना चाहिए। विकसित देशों का अनुभव यही सिखाता है कि मानव को विज्ञान* व टेक्नोलोजी के सहारे ह्रासमान प्रतिफल की प्रवृत्ति पर विजय पाने का प्रयास निरन्तर जारी रखना चाहिए; हालांकि नयी टेक्नोलोजी में भी, एक सीमा के बाद, ह्रासमान प्रतिफल की प्रवृत्ति अवश्य लागू हो जाती है।** इस प्रकार हमें निरन्तर अनुसधान, विकास व सुधार की प्रक्रिया जारी रखनी चाहिए। इससे श्रम का औसत उत्पत्ति वक्र ऊपर की ओर खिसकता जाएगा और अकाल व भुखमरी को टालना तथा जीवन स्तर को निरन्तर ऊँचा करना सम्भव हो सकेगा।

साधनों का अनुकूलतम संयोग

(Optimum Combination of Factors)

यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि उत्पादन के साधनों का सर्वोत्तम संयोग कौन सा होता है? यह समझना आसान है कि साधनों का अनुकूलतम संयोग न्यूनतम लागत संयोग (The cost of combination) ही होता है। इस संयोग पर एक फर्म उत्पत्ति की दी हुई मात्रा को न्यूनतम लागत पर उत्पन्न करती है, अथवा दी हुई लागत पर, माल का अधिकतम उत्पादन करती है।

न्यूनतम लागत संयोग का निर्धारण करने के लिए परम्परागत दृष्टिकोण के अनुसार साधनों की सीमान्त उत्पत्ति एवं उनकी कीमतों का उपयोग किया जाता है। मान लीजिए, दो साधनों—A और B—की सीमान्त उत्पत्ति निम्नांकित सारणी के अनुसार है—

सारणी 2—साधन A व B की सीमान्त उत्पत्ति की मात्राएँ

साधन A की इकाइयाँ	A की सीमान्त भौतिक उत्पत्ति (MPP_a)	साधन B की इकाइयाँ	B की सीमान्त भौतिक उत्पत्ति (MPP_b)
1	10	1	6
2	9	2	5
3	7	3	4
4	6	4	3
5	4	5	2
6	2	6	1

कल्पना कीजिए कि एक फर्म दो साधनों पर प्रतिदिन 12 रुपये व्यय करना चाहती है, और साधन A की कीमत 2 रुपये प्रति इकाई है और साधन B की कीमत 1 रुपया प्रति इकाई है। यह स्थिति उपभोक्ता की उस स्थिति से मिलती है जहाँ वह अपनी सीमित आय को दिए हुए मूल्यों पर दो वस्तुओं पर व्यय करके अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करना चाहता है।

उपर्युक्त स्थिति में फर्म अपने व्यय का वितरण इस प्रकार करेगी कि एक साधन पर एक रुपये के व्यय से प्राप्त सीमान्त भौतिक उत्पत्ति प्रयुक्त किए जाने वाले प्रत्येक दूसरे साधन पर एक रुपये के व्यय से प्राप्त सीमान्त भौतिक उत्पत्ति के बराबर या लगभग बराबर हो जाए। यदि हम साधन A और B की कीमतों को क्रमश P_a व P_b से सूचित करें तो साधनों के सर्वोत्तम संयोग, अथवा न्यूनतम लागत संयोग के लिए अग्र शर्त पूरी होनी चाहिए—

$$\frac{MPP_a}{P_a} = \frac{MPP_b}{P_b}, \text{ अथवा } \frac{MPP_a}{MPP_b} = P_a/P_b \qquad (1)$$

इसका अर्थ यह है कि साधनो की सीमान्त उत्पत्ति की मात्राओ का अनुपात उनकी कीमता के अनुपात के बराबर होना चाहिए।

साथ में दोनो साधनों पर व्यय की जाने वाली राशि का भी प्रतिबन्ध रहता है, जिसके लिए निम्न शर्त पूरी होनी चाहिए—

$$(A \times P_a) + (B \times P_b) = I \qquad (2)$$

यहा A इस साधन की मात्रा को, P_a इसकी कीमत को तथा B दूसरे साधन की मात्रा को तथा P_b इसकी कीमत को एव I कुल व्यय राशि को सूचित करते है।

यह शर्त उपर्युक्त स्थिति मे 4 इकाई A व 4 इकाई B के प्रयोग से पूरी हो जाती है। *4 इकाई A पर सीमान्त उत्पत्ति की मात्रा 6 है। 4 इकाई B पर सीमान्त* उत्पत्ति की मात्रा 3 है। A की कीमत 2 रुपये व B की 1 रुपये प्रति इकाई होने से कुल व्यय = (4 × 2) + (4 × 1) = 12 रुपये होगा। सीमान्त उत्पत्ति की मात्राओं का अनुपात, सन्तुलन की स्थिति में 6 3 होता है जो इनकी कीमतों के अनुपात 2 1 के बराबर होता है। दूसरे शब्दो में, $\frac{MPP_a}{MPP_b} = \frac{P_a}{P_b} = \frac{6}{3} = \frac{2}{1}$ की प्रथम शर्त पूरी हो जाती है।

मान लीजिए, फर्म 1 रुपया साधन B से हटाकर साधन A पर व्यय करती है जो उसे 3 इकाई की क्षति व 2 इकाई का लाभ (क्योकि उसे 1 रुपये से साधन A की पाँचवी इकाई का आधा भाग मिलेगा जिससे सीमान्त उत्पत्ति 2 होगी) मिलेगा। अत वह एक इकाई की हानि उठायेगी। इसी प्रकार 1 रुपया साधन A से हटाकर साधन B पर व्यय करने से भी 3 इकाई की हानि व 2 इकाई का लाभ होगा, और कुल मिलाकर 1 इकाई की हानि होगी। अत फर्म को उपर्युक्त सूत्र का पालन करने से ही सर्वाधिक लाभ प्राप्त होगा।

सरल भाषा में हम यों कह सकते हैं कि न्यूनतम लागत सयोग पर पहुचने के लिए एक फर्म महगे साधन के स्थान पर अपेक्षाकृत सस्ता साधन प्रतिस्थापित करेगी। अन्त में प्रत्येक साधन की सीमान्त-उत्पत्ति मे इनकी कीमत का भाग देने से जो परिणाम आयेगा, वह सभी साधनों के लिए समान या लगभग समान हो जाएगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि यदि हमें दो साधनों की सीमान्त उत्पत्ति व कीमतें दी हुई हो तथा कुल व्यय राशि दी हुई हो तो हम सरल बीजगणित का उपयोग करके अधिकतम उत्पत्ति के लिए दोनों साधनों की मात्राएँ निकाल सकते हैं।

इसे एक और उदाहरण की सहायता से समझाया जाता है—

उदाहरण*—मान लीजिए कि साधन K तथा साधन L दोनों की कीमतें 5 रुपये प्रति इकाई है। यदि L की सीमान्त उत्पत्ति $MP_L = 100\,K - L$ है, और K की सीमान्त उत्पत्ति $MP_K = 100\,L - K$ है, तो बतलाइए कि फर्म को अपनी 1000 रुपये की लागत में अधिकतम उत्पादन के लिए K तथा L की कितनी कितनी मात्राओं का प्रयोग करना चाहिए।

हल—अधिकतम उत्पादन की दो शर्तें - $\frac{MP_L}{P_L} = \frac{MP_K}{P_K}$ ——(1)

तथा $(L \times P_L) + (K \times P_K) = I$ ——(2)

दी हुई सूचना के आधार पर, $\frac{100K - L}{5} = \frac{100L - K}{5}$ ——(1)

तथा $(L \times 5) + (K \times 5) = 1000$ ——(2)

प्रथम सूत्र को सरल करने पर $100K + K = 100L + L$

अथवा $101K = 101L$, अर्थात् $K = L$,

द्वितीय सूत्र को सरल करने पर—

$$5L + 5K = 1000$$

$$L + K = 200 \quad \text{——(3)}$$

इसमें $K = L$ रखने पर—

$$L + L = 200 \text{ अथवा } 2L = 200$$

$$L = 100$$

समीकरण (3) में $L = 100$ रखने पर $K = 100$ प्राप्त होता है। अतः अधिकतम उत्पादन के लिए $K = 100$ इकाई व $L = 100$ इकाई का उपयोग करना होगा।

इस प्रकार एक फर्म के लिए साधनों का सर्वोत्तम संयोग निर्धारित करने के लिए एक तरफ साधनों की सीमान्त उत्पत्ति व साधनों की कीमतों का उपयोग करना होता है, और दूसरी तरफ कुल व्यय-राशि के प्रतिबन्ध पर भी ध्यान देना होता है।

हम पिछले अध्याय में न्यूनतम लागत संयोग का अध्ययन समोत्पत्ति वक्रों व समलागत रेखाओं (isoquants and isocosts) की सहायता से कर चुके हैं। यह विवेचन उसी प्रकार का था जैसा कि उपभोक्ता के सन्तुलन में तटस्थता-वक्रों व कीमत-रेखा का हुआ था।

* आजकल संख्यात्मक उदाहरणों का महत्व काफी बढ़ गया है, इसलिए स्नातकोत्तर कक्षाओं के लिए विद्यार्थी ऐसे उदाहरणों को समझने का प्रयत्न अवश्य करें। इनको समझने के लिए गणित का साधारण ज्ञान ही काफी रहता है। स्नातक स्तर पर ऐसे उदाहरणों का अध्ययन हो जाने से स्नातकोत्तर-स्तर के ज्ञान को सर्वांगीण समझने में काफी मदद मिलती है।

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 उत्पत्ति ह्रास नियम की परिभाषा में कौन सा कथन ज्यादा सही माना जाएगा?
   (अ) एक स्थिर साधन के साथ एक परिवर्तनशील साधन की बढ़ती मात्राओं का प्रयोग करने से अन्ततोगत्वा सीमान्त उत्पत्ति व औसत उत्पत्ति घटती है
   (ब) केवल सीमान्त उत्पत्ति घटती है
   (स) केवल औसत उत्पत्ति घटती है
   (द) कुल उत्पत्ति घटती है (अ)

2 उत्पादन की दूसरी अवस्था ही श्रेष्ठ क्यों मानी जाती है? (भूमि स्थिर व श्रम परिवर्तनशील लेने पर)
   (अ) भूमि व श्रम दोनों की कार्यकुशलता बढ़ती है
   (ब) भूमि की बढ़ती हुई कार्यकुशलता का लाभ उठाने के लिए उत्पादन की दूसरी अवस्था को चुनना उत्तम रहता है
   (स) श्रम की कुल उत्पत्ति बढ़ती है
   (द) कोई भी कारण नहीं (ब)

3 उत्पादन की दूसरी अवस्था के अन्त में श्रम की सीमान्त उत्पत्ति (MP_l) की क्या दशा होती है?
   (अ) यह इकाई से अधिक होती है
   (ब) यह इकाई के समान होती है
   (स) यह शून्य होती है
   (द) यह ऋणात्मक होती है (स)

4 उत्पादन की तीसरी अवस्था में क्या नहीं होता है?
   (अ) कुल उत्पत्ति घटने लगती है
   (ब) सीमान्त उत्पत्ति ऋणात्मक हो जाती है
   (स) औसत उत्पत्ति शून्य हो जाती है
   (द) औसत उत्पत्ति का घटना जारी रहता है (स)

5 अधिकतम उत्पादन के लिए उत्पादक द्वारा किन शर्तों का पालन किया जाना चाहिए?

   [उत्तर : शर्त (1) $\frac{MP_L}{P_L}=\frac{MP_K}{K}$, शर्त (2) $(L\times P_L)+(K\times P_k)=I$]

6 परिवर्तनशील अनुपातों के नियम को दूसरे किस नाम से सम्बोधित किया जाता है?
   उत्तर—उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns)

अन्य प्रश्न

1 उत्पादन के परिवर्तनशील साधन की तीन अवस्थाओं की व्याख्या कीजिए और समझाइए कि दूसरी अवस्था ही प्रासंगिक क्यों है? रेखाचित्रों का प्रयोग कीजिए। *(Raj II Yr 1999)*

2 उत्पादन की तीन अवस्थाओ को समझाइये। एक विवेकशील उत्पादक कौनसी अवस्था में उत्पादन करता है? रेखाचित्रों एव समुचित अकीय उदाहरण का प्रयोग कीजिये। **(Raj II Yr 2001)**

3 परिवर्तनशील अनुपातो के नियम तथा इसकी तीन अवस्थाओं को स्पष्ट कीजिये। उत्पादन की दूसरी अवस्था को ही विवेकशील अवस्था क्यों कहते हैं ? *(Raj II Yr. 2002)*

4 उत्पादन की दूसरी अवस्था ही आर्थिक अवस्था क्यों कहलाती है? **(MDSU, Ajmer II Yr 2000)**

5 सयत्र के अनुकूलतम पैमाने को समझाइये। **(MDSU, Ajmer II Yr 2000)**

6 परिवर्तनशील अनुपातों के नियम की पूर्ण व्याख्या कीजिये। *(MLSU, Udaipur I Yr 2001)*

7 (अ) उत्पादन फलन क्या है?
(ब) एक परिवर्तनशील पडत (input) पर आधारित उत्पादन फलन से, किसी फर्म के लिए अग्र अपूर्ण उत्पादन तालिका प्राप्त की गई है—

स्थिर पड़त (input) (भूमि इकाई)	परिवर्तनशील पड़त (श्रम इकाई)	कुल उत्पत्ति	औसत उत्पत्ति	सीमान्त उत्पत्ति
1	1	100	–	–
1	2	220	–	–
1	3	270	–	–
1	4	300	–	–
1	5	320	–	–
1	6	330	–	–
1	7	330	–	–
1	8	320	–	–
1	9	300	–	–
1	10	270	–	–

(i) औसत भौतिक उत्पत्ति (APP) तथा सीमान्त भौतिक उत्पत्ति (MPP) को परिभाषित कीजिए।

(ii) APP तथा MPP की गणना करके फर्म की उत्पादन तालिका को पूर्ण कीजिए।

(iii) पूर्ण की गई तालिका के आधार पर एक रेखाचित्र बनाइए तथा उन बिन्दुओं को दिखाइये जहाँ परिवर्तनशील अनुपातों के नियम की द्वितीय तथा तृतीय अवस्थाएँ आरम्भ होती हैं।

[उत्तर-संकेत

(ii)	AP	MP
श्रम की इकाई		
1	100	100
2	110	120
3	90	50
4	75	30
5	64	20
6	55	10
7	$47\frac{1}{7}$	0
8	40	–10
9	$33\frac{1}{3}$	–20
10	27	–30

(iii) उत्पादन की द्वितीय अवस्था श्रम की दूसरी इकाई से आरम्भ होगी (जहाँ AP सर्वाधिक होती है) और तृतीय अवस्था श्रम की सात इकाइयों से प्रारम्भ होती है जहाँ $MP_L = O$ होती है।]

8 अग्र तालिका की सीमान्त उत्पत्ति (Marginal Product) मालूम कीजिए व इसकी सहायता से ह्रासमान प्रतिफल नियम स्पष्ट कीजिए। चित्र दीजिए व इस नियम की सीमाएँ बताइए—

पूँजी	श्रम	कुल उत्पत्ति (श्रम)	सीमान्त उत्पत्ति (श्रम)
1	1	3	
1	2	7	
1	3	12	
1	4	16	
1	5	19	
1	6	21	
1	7	22	
1	8	22	
1	9	21	
1	10	15	

[उत्तर—सीमान्त उत्पत्ति 3, 4, 5, 4, 3, 2, 1, 0, –1, –6, तत्पश्चात् ह्रासमान प्रतिफल का विवेचन कीजिए।]

9 निम्न कथनों के पक्ष या विपक्ष में तर्क देकर समीक्षा कीजिए—

(i) उत्पादन की द्वितीय अवस्था उस समय शुरू होती है जब सीमान्त उत्पत्ति घटनी प्रारम्भ होती है।

(ii) जब तक औसत उत्पत्ति बढ़ेगी तब तक सीमान्त उत्पत्ति भी बढ़ेगी।

(iii) उत्पादक को उस बिन्दु पर उत्पादन बन्द करना चाहिए जहाँ कुल उत्पत्ति अधिकतम हो जाए।

(iv) ह्रासमान प्रतिफल नियम में कुल उत्पत्ति, औसत उत्पत्ति तथा सीमान्त उत्पत्ति सभी घटते हैं।

संकेत—

(i) नहीं, यह उस समय शुरू होती है जब औसत उत्पत्ति घटनी प्रारम्भ होती है।

(ii) शुरू में ऐसा होता है, लेकिन शीघ्र ही सीमान्त उत्पत्ति अपने अधिकतम बिन्दु पर पहुँचकर घटनी चालू हो जाती है।

(iii) यह आवश्यक नहीं है उत्पादक जिस बिन्दु पर उत्पादन रोकेगा वह साधनों की कीमतों से प्रभावित होगा।

(iv) ह्रासमान प्रतिफल नियम में सीमान्त उत्पत्ति के घटने को ही विशेष महत्त्व दिया जाता है।

10 (अ) निम्न अंकों की सहायता से श्रम की औसत उत्पत्ति तथा सीमान्त उत्पत्ति वक्र खींचिए और उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने का बिन्दु बताइए—

श्रमिकों की संख्या	कुल उत्पत्ति (क्विंटल में)
1	10
2	22
3	36
4	52
5	70
6	90
7	105
8	112
9	117

(ब) भूमि को स्थिर साधन तथा श्रम को परिवर्ती साधन मानकर उत्पादन की तीन अवस्थाओं की विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए। चित्र देकर समझाइए।

11 निम्न तालिका में दो साधनों के विभिन्न संयोगों से प्राप्त उत्पत्ति की मात्राएँ दर्शाई गयी हैं—

मशीनों की संख्या	उत्पत्ति की मात्रा		
6	16	24	30
4	14	20	24
2	10	14	16
	2	4	6
	श्रमिकों की संख्या		

तालिका का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

[उत्तर-संकेत—तालिका में एक उत्पादन फलन (Production function) दिया हुआ है जिससे पैमाने के समान प्रतिफल व ह्रासमान सीमान्त उत्पत्ति दोनों प्राप्त किए जा सकते हैं। जैसे 2 मशीन + 2 श्रमिक 10 इकाइयों की उत्पत्ति करते हैं, 4 मशीन + 4 श्रमिक 20 इकाइयो की तथा 6 मशीन + 6 श्रमिक 30 इकाइयों की। यह स्थिति पैमाने के समान प्रतिफलों की द्योतक है। 2 मशीन स्थिर रखकर श्रमिकों की सख्या क्रमश 2, 4 व 6 करने से कुल उत्पत्ति 10, 14 व 16 इकाई प्राप्त होगी 2 श्रमिक स्थिर रखकर मशीनों को क्रमश 2, 4 व 6 करने से उत्पत्ति क्रमश 10, 14 व 16 इकाई प्राप्त होगी , आदि आदि। इसी प्रकार साधनों के अन्य सयोगो के परिणाम भी बतलाए जा सकते हैं।

12 निम्न कथनों के पक्ष व विपक्ष में कारण सहित तर्क देकर समीक्षा कीजिए

(अ) उत्पादक केवल द्वितीय अवस्था में ही उत्पादन क्यों करेगा और उस सीमा पर उत्पादन बन्द कर देगा जहाँ कुल उत्पाद अधिकतम होता है?

(ब) 'परिवर्तनशील अनुपातों के नियम तथा क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम दोनों एक और समान ही है।'

श्रम व पूँजी की इकाइयाँ	सीमान्त उत्पादन (मीटर)	कुल उत्पादन (मीटर)
1	1000	1000
2	1500	—
3	—	4500
4	2500	—

तालिका को पूरा कीजिये।

[उत्तर—श्रम व पूँजी की दो इकाइयों पर कुल उत्पादन = 2500 मीटर, इनकी तीन इकाइयो पर सीमान्त उत्पादन – 2000 मीटर, तथा चार इकाइयों पर कुल उत्पादन = 7000 मीटर होगा।]

13 अग्र तालिका में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए। इसकी सहायता से उत्पत्ति के नियमों को स्पष्ट कीजिए—

श्रमिकों की संख्या	कुल उत्पादन	सीमान्त उत्पादन	औसत उत्पादन
1	10	–	–
2	22	–	–
3	36	–	–
4	52	–	–
5	70	–	–
6	90	–	–
7	105	–	–
8	112	–	–
9	117	–	–
10	120	–	–

[उत्तर-संकेत—

सीमान्त उत्पादन = 10, 12, 14, 16, 18, 20, 15, 7, 5, 3

औसत उत्पादन – 10, 11, 12, 13, 14, 15, 15, 14, 13, 12

उत्पत्ति के नियम—श्रम की 6 इकाइयों तक सीमान्त उत्पादन बढ़ता है, अत यहाँ तक उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है तथा बाद में उत्पत्ति-ह्रास-नियम लागू हो जाता है, क्योंकि सीमान्त उत्पादन घटने लगता है।]

□□□

14

पैमाने के प्रतिफल*

(Returns to Scale)

हम पहले बता चुके हैं कि अल्पकाल में एक साधन को स्थिर रखकर दूसरे साधन को बढाने पर उत्पत्ति पर जो प्रभाव पडता है, वह परिवर्तनशील अनुपातों के नियम (Law of variable proportions) के द्वारा समझाया जाता है। दीर्घकाल में उत्पादन के सभी साधन एक साथ परिवर्तित किए जा सकते हैं, जिससे किसी भी साधन को स्थिर रखने की आवश्यकता नही होती। पैमाने के प्रतिफलों (returns to scale) में हम उत्पादन के सभी साधनों को एक से अनुपात (same proportion) में परिवर्तित करके उसका उत्पादन पर प्रभाव देखते हैं। इस सम्बन्ध में तीन सम्भावनाएँ हो सकती हैं— (1) पैमाने के वर्द्धमान प्रतिफल (Increasing returns to scale) प्राप्त किए जा सकते हैं। यदि उत्पादन के सभी साधनों को K प्रतिशत बढाने से कुल उत्पत्ति K प्रतिशत से अधिक बढती है तो पैमाने के वर्द्धमान प्रतिफल की स्थिति होगी। (2) पैमाने के समान प्रतिफल (Constant returns to scale) प्राप्त किए जा सकते हैं। यह स्थिति उस समय पाई जाती है जबकि सभी साधनों को K प्रतिशत बढाने से कुल उत्पत्ति भी K प्रतिशत ही बढ जाती है। मान लीजिए, एक मुर्गी प्रतिदिन एक अण्डा देती है। यदि दो मुर्गियाँ प्रतिदिन दो अण्डे दें (अर्थात् साधन दुगुने होने पर उत्पत्ति दुगुनी हो जाए) तो पैमाने के समान प्रतिफल की दशा मानी जाएगी। अर्थशास्त्रियों ने इस स्थिति का भी काफी उल्लेख किया है। (3) पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल (Diminishing returns to scale) प्राप्त किए जा सकते हैं। इस स्थिति में साधनों को K प्रतिशत बढाने पर कुल उत्पत्ति K प्रतिशत से कम बढती है।

प्रारम्भ में ही पाठकों को पैमाने के प्रतिफलों के सम्बन्ध में तीन बातें स्पष्ट हो जानी चाहिए—

---

* स्मरण रहे कि पैमाने के प्रतिफल के स्थान पर 'पैमाने के प्रतिफलों के नियम' कहने की परम्परा नही है लेकिन नियम का उपयोग परिवर्तनशील अनुपातों के नियम अथवा उत्पत्ति के नियमों के साथ अवश्य किया जाता है।

(1) इनका सम्बन्ध दीर्घकाल (long period) से होता है। दूसरे शब्दों में ये दीर्घकालीन उत्पादन-फलन (long period production function) पर आधारित होते हैं।

(2) इनमें सभी साधनों की इकाइयां को एक ही अनुपात में परिवर्तित किया जाता है, अर्थात् साधनों का आपसी अनुपात स्थिर रहता है। जैसे शुरू में एक इकाई श्रम + एक इकाई पूँजी लेते हैं। बाद में इन दोनों को दुगुना करने पर दो इकाई श्रम + दो इकाई पूँजी लेते हैं फिर तीन इकाई श्रम + तीन इकाई पूँजी लेते हैं। इस प्रकार साधनों का आपसी अनुपात तो 1 : 1 ही बना रहता है।

(3) इनमें एक फर्म के लिए साधनों की कीमतें (factor prices) स्थिर मानी जाती हैं, अर्थात् यह माना जाता है कि एक फर्म पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की दशा में उत्पादन करती है।

स्टोनियर व हेग ने पैमाने के प्रतिफलों (returns to scale) एवं परिव्यय के प्रतिफलों (returns to outlay) में भी अन्तर किया है, जो इस प्रकार है। पैमाने के प्रतिफलों में सभी साधन एक-से अनुपात में बढ़े रहते हैं, क्योंकि वे एक-से अनुपात में ही परिवर्तित किए जाते हैं। लेकिन यदि विभिन्न साधन भिन्न-भिन्न अनुपातों में परिवर्तित किए जाते हैं तो परिव्यय के प्रतिफलों (returns to outlay) की स्थिति आ जाती, जिसमें साधनों के अनुपात ही बदल जाते हैं। जैसे श्रम में 50 प्रतिशत वृद्धि एवं पूँजी में 100 प्रतिशत वृद्धि करने से श्रम व पूँजी का परस्परिक अनुपात पहले जैसा नहीं रहता। अतः परिव्यय के प्रतिफलों (returns to outlay) के अन्तर्गत हम केवल साधनों पर व्यय की जाने वाली कुल लागत को दुगुना, तिगुना, चौगुना आदि करते जाते हैं, और इनमें साधनों के संयोग के अनुपात को स्थिर रखने की आवश्यकता नहीं रहती। रिचार्ड जी. लिप्से व के. एलेक क्रिस्टल ने परिव्यय के प्रतिफलों (returns to outlay) को प्रतिस्थापन के प्रतिफल (returns to substitution) कहा है, जो उपर्युक्त स्थिति को अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त करता है।

स्मरण रहे कि पैमाने के प्रतिफलों व परिव्यय के प्रतिफलों, दोनों में साधनों की कीमतों (factor prices) को स्थिर माना जाता है। अब हम पैमाने के प्रतिफलों की तीन दशाओं पर अलग-अलग प्रकाश डालेंगे।[1]

1. पैमाने के समान प्रतिफल (Constant Returns to Scale)—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है जब उत्पत्ति को ठीक उसी अनुपात में बढ़ाते हैं जिसमें कि साधनों की मात्राएँ बढ़ाई जाती हैं, तो उसे पैमाने के समान प्रतिफलों की स्थिति

---

1 Stonier and Hague: A Text book of Economic Theory, 5th ed. 1980, pp. 256-61 एवं G. J. Stigler: The Theory of Price, Fourth edition 1988, का उपयोग करें।

(cosntant returns to scale) करते हैं। एक फर्म के लिए साधनों की कीमतें दी हुई होने के कारण यहाँ कुल लागत भी उत्पत्ति के अनुपात में ही बढती है। मान लीजिए, एक X और एक Y मिलकर Q मात्रा में माल का उत्पादन करते हैं, और 2X व 2Y साधन मिलकर 2Q माल का उत्पादन करते हैं, तो यहाँ पैमाने के समान प्रतिफलों की दशा मानी जाएगी। इसी प्रकार अगली बार जब 4X व 4Y साधनों का उपयोग किया जाता है, तो पिछली स्थिति की तुलना में साधन दुगुने हो जाते हैं, अत पैमाने के समान प्रतिफलों की स्थिति के कारण अब उत्पादन 4Q होगा।

पैमाने के समान प्रतिफलों का स्पष्टीकरण निम्न सारणी 1 से हो जाता है—

सारणी 1—पैमाने के समान प्रतिफल (उत्पत्ति में परिवर्तन के माध्यम से)

स्थितियाँ	श्रम+पूँजी की इकाइयाँ	उत्पत्ति की मात्रा (इकाइयो मे)	श्रम व पूँजी मे पिछली स्थिति की तुलना मे वृद्धि (%)	इसी प्रकार उत्पत्ति मे वृद्धि (%)
स्थिति 1	1+1	1	—	—
स्थिति 2	2+2	2	100	100
स्थिति 3	4+4	4	100	100
स्थिति 4	6+6	6	50	50

उपर्युक्त तालिका में प्रत्येक स्थिति में साधनों (inputs) व उत्पत्ति की मात्राओं (outputs) मे परिवर्तन पिछली स्थिति की तुलना में निकाले गये हैं। जैसे स्थिति 3 में स्थिति 2 की तुलना में श्रम व पूँजी में 100 प्रतिशत की वृद्धि होती है, तथा उत्पत्ति मे भी 100 प्रतिशत की वृद्धि होती है। इसी प्रकार स्थिति 4 में स्थिति 3 की तुलना में श्रम व पूँजी में 50 प्रतिशत की वृद्धि होती है एव उत्पत्ति में भी 50 प्रतिशत की वृद्धि होती है। अत इस दृष्टान्त में पैमाने के समान प्रतिफल मिलते हैं। अब हम इसी परिस्थिति में सीमान्त लागत व औसत लागत की दशाओं पर विचार करते हैं।

मान लीजिए, श्रम व पूँजी के लिए प्रति इकाई कीमत 1 रुपया होती है। सारणी 2 से प्रकट होता है कि श्रम व पूँजी की मात्रा दुगुनी कर देने से उत्पत्ति दुगुनी हो जाती है। इससे कुल लागत भी दुगुनी हो जाती है, लेकिन औसत लागत प्रति इकाई 2 रुपया ही रहती है, जो सीमान्त लागत के बराबर होती है। कुल लागत (TC) एक सरल रेखा के रूप में बढती है। आगे चित्र 1 में पैमाने के समान प्रतिफलों की स्थिति में TC LAC व LMC की आकृति दिखलाई गई है।

सारणी 2—पैमाने के समान प्रतिफल (लागतो के परिवर्तन के माध्यम से)

(रुपयो में)

स्थितियाँ	श्रम+पूँजी की इकाइयाँ	उत्पत्ति की मात्रा (इकाइयो मे)	दीर्घकालीन कुल लागत (LTC)	दीर्घकालीन औसत लागत (LAC)	दीर्घकालीन सीमान्त लागत (LMC)
स्थिति 1	1+1	1	2	2	2
स्थिति 2	2+2	2	4	2	2
स्थिति 3	4+4	4	8	2	2
स्थिति 4	6+6	6	12	2	2

पैमाने के समान प्रतिफलों की दशा में दीर्घकालीन सीमान्त लागत (LMC) स्थिर होती है, और यह दीर्घकालीन औसत लागत (LAC) के बराबर होती है। लागतों का विस्तृत विवेचन अगले अध्याय में किया गया है, लेकिन यहाँ पर यह आसानी से समझ में आ सकता है कि इस स्थिति मे सीमान्त लागत स्थिर क्यों होती है। जब कुल लागत के 10 प्रतिशत बढने से कुल उत्पत्ति भी 10 प्रतिशत बढती है, तो दीर्घकालीन लागत (सीमान्त व औसत) का स्थिर रहना स्वाभाविक है। यह चित्र 1 से स्पष्ट हो जाता है—
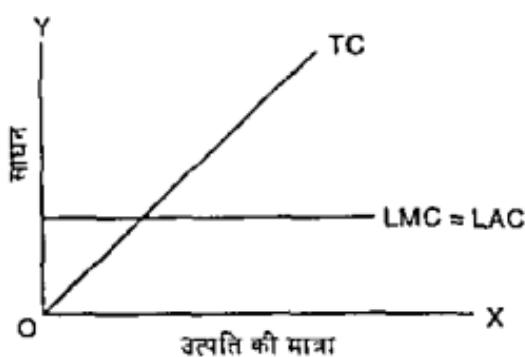
चित्र 1 पैमाने के समान प्रतिफलों (constant returns to scale) की स्थिति मे LMC = LAC तथा दोनों स्थिर रहती हैं।

उपरोक्त चित्र में LMC दीर्घकालीन सीमान्त लागत है जो क्षैतिज (horizontal) होती है। एक फर्म के लिए पैमाने के समान प्रतिफलों की दशा में दीर्घकालीन सीमान्त

लागत ऐसी ही होती है। प्रश्न उठता है कि क्या उद्योग के लागत वक्र की भी इसी प्रकार की स्थिति हो सकती है जबकि इस पर तो साधनों की कीमतों के परिवर्तन का प्रभाव पडता है। वैज्ञानिक अध्ययन मे उद्योग के लिए भी पैमाने के समान प्रतिफलों की मान्यता काफी लोकप्रिय मानी गयी है।

पहले बतलाया जा चुका है कि कोब डूगलस (Cobb Douglas) उत्पादन फलन (production function) इस प्रकार का होता है—

$$Q = aC^{\alpha}L^{1-\alpha}$$

यहाँ Q उत्पत्ति C पूँजी और L श्रम के सूचक हैं। यह उत्पादन फलन पैमाने के समान प्रतिफलों को प्रकट करता है। यह प्रथम अश का समरूप फलन (Homogenous function of the first degree) भी कहलाता है। इस फलन के अनुसार जिस अनुपात मे साधन बढाए जाते हैं, उसी अनुपात में उत्पत्ति भी बढ जाती है।[1]

पैमाने के समान प्रतिफलो (constant returns to scale) को समोत्पति वक्रों व पैमाने की रेखा (scale line) के द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है। यह अग्र चित्र में दर्शाया गया है—

चित्र में तीन समोत्पत्ति वक्र दर्शाए गए हैं जो क्रमश 10 इकाई, 20 इकाई व 30 इकाई उत्पत्ति की मात्राओं को सूचित करते हैं, तथा तीन किरणों (rays) OM, OM_1 व OM_2 दर्शायी गयी हैं, जो पैमाने की रेखाएँ (scale lines) कहलाती हैं अथवा तीन विस्तार पथों (expansion paths) की सूचक होती हैं। ये पैमाने की रेखाएँ फर्म के लिए उत्पत्ति की विभिन्न मात्राओं पर X और Y साधनों के न्यूनतम लागत सयोगों की सूचक होती हैं। चित्र में OM पैमाने की रेखा या विस्तार पथ पर OA = AB = BC होने से स्पष्ट होता है कि इस पर पैमाने के समान प्रतिफल मिल रहे हैं। प्रारम्भ म एक इकाई साधन X तथा एक इकाई साधन Y से 10 इकाई माल का उत्पादन होता है, वाद मे 2 इकाई X व 2 इकाई Y से 20 इकाई माल बनता है अर्थात् प्रत्येक साधन म 100% वृद्धि से उत्पत्ति मे 100% वृद्धि होती है। यह स्थिति A से B तक देखी जाती है। वाद मे B से C तक साधन X की मात्रा मे 50% तक तथा साधन Y की मात्रा मे 50% वृद्धि से, उत्पत्ति म 20 से 30 इकाई की वृद्धि (50%) होती है, जिससे यहाँ भी पैमाने के समान प्रतिफलो की स्थिति होती है।

---

1 मान लीजिए पूजी C से (λC) और श्रम L से (λL) हो जाते हैं अर्थात् दोनों साधन λ (लेम्बडा गुणा बढ जाते हैं तो निम्न परिणाम सामने आएगा)—

$$a(\lambda C)^{\alpha}(\lambda L)^{1-\alpha} = a\lambda^{\alpha+1-\alpha}C^{\alpha}L^{1-\alpha} = a\lambda C^{\alpha}L^{1-\alpha} = \lambda Q$$

($Q = aC^{\alpha}L^{1-\alpha}$ है)

अर्थात् उत्पत्ति भी λ गुणा बढ जाएगी। पाठक को λ (लेम्बडा) निशान से नही चौंकना चाहिए। मामूली बाजगणित की जानकारी से उपर्युक्त परिणाम समझ में आ जाएगा। उच्चस्तराय अध्ययन में तो इसका उपयोग अवश्य किया जाना चाहिए
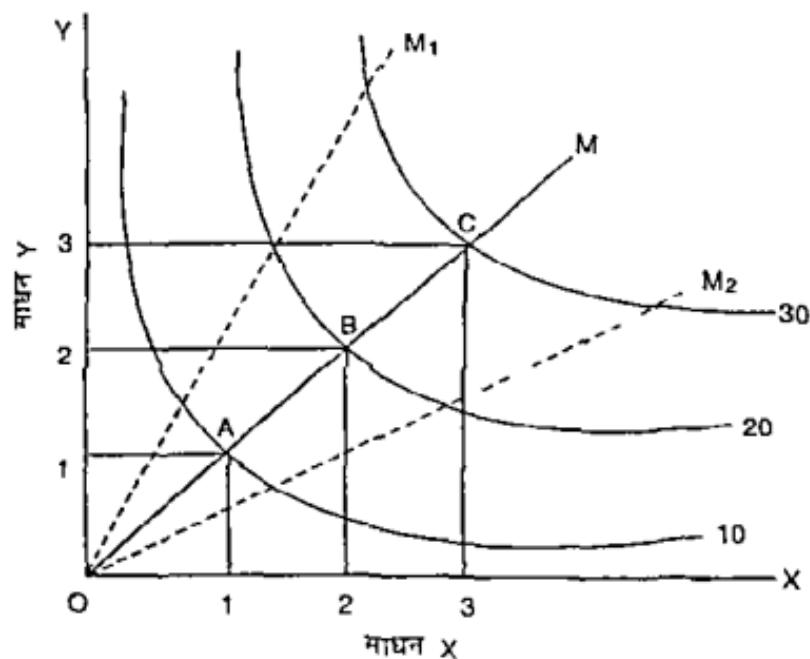
चित्र 2 पैमाने के समान प्रतिफल (Constant returns to scale)
(समोत्पत्ति वक्रों व पैमाने की रेखा की सहायता से)

चित्र में पैमाने की रेखा के OM के बजाय OM_1 अथवा OM_2 होने से भी कोई अन्तर नही पडता, और इन पर भी पैमाने के समान प्रतिफल ही मिलते हैं।

अत जब समस्त साधनो की इकाइयो को एक निश्चित अनुपात मे बढाए जाने पर उत्पत्ति भी उसी अनुपात में बढती है तो उसे पैमाने के समान प्रतिफलों की दशा कहते है। **इस स्थिति मे पमाने की किफायते या बचते (economies of scale) प्राप्त नही होती है।**

2 पमाने के वर्द्धमान प्रतिफल (*Increasing Returns to Scale*)—इसमे उत्पति की मात्रा की वृद्धि साधनों की आनुपातिक वृद्धि से अधिक होती है। यदि उत्पादन के प्रत्येक साधन में 10 प्रतिशत वृद्धि करने से उत्पत्ति 10 प्रतिशत से अधिक बढ जाती है, तो पैमाने के वर्द्धमान प्रतिफल की दशा मानी जाती है। इस दशा में साधन मूल्यों के दिए हुए होने पर दीर्घकालीन औसत लागत व सीमान्त लागत दोनो घटती हैं। यह आगे चलकर चित्र में दर्शाया गया है।

हम अग्रांकित सारणी 3 में पैमाने के वर्द्धमान प्रतिफलों की स्थिति आँकडों से स्पष्ट करते है—

सारणी-3 पैमाने के वर्द्धमान प्रतिफल (उत्पत्ति मे परिवर्तन के रूप में)

स्थितियाँ	श्रम+पूँजी की इकाइयाँ	उत्पत्ति की मात्रा (इकाइयों मे)	श्रम + पूँजी मे पिछली स्थिति की तुलना में वृद्धि (%)	उत्पत्ति में पिछली स्थिति की तुलना मे वृद्धि (%)
स्थिति 1	1+1	1	—	—
स्थिति 2	2+2	3	100	200
स्थिति 3	4+4	12	100	300
स्थिति 4	6+6	22	50	83.3

उपर्युक्त सारणी के अन्तिम दो कॉलम बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। स्थिति 2 में पूर्व स्थिति 1 की तुलना में साधनों में 100 प्रतिशत की वृद्धि होती है तथा उत्पत्ति में 200 प्रतिशत की वृद्धि होती है। इसी प्रकार स्थिति 3 में स्थिति 2 की तुलना में साधनों में 100 प्रतिशत की वृद्धि तथा उत्पत्ति में 300 प्रतिशत की वृद्धि होती है एव अन्त में स्थिति 4 में स्थिति 3 की तुलना में साधनों में 50 प्रतिशत की वृद्धि तथा उत्पत्ति में 83.3 प्रतिशत की (12 इकाइयों पर 10 इकाई वृद्धि, अत 100 पर 83.3 प्रतिशत) वृद्धि होती है, अत सारणी 3 में सर्वत्र पैमाने के वर्द्धमान प्रतिफलों की स्थिति ही दर्शाई गई है।

स्मरण रहे, प्रत्येक बार आनुपातिक रूप मे या प्रतिशतो में ही परिवर्तन मापे गए हे। यहाँ उत्पत्ति के निरपेक्ष सीमान्त परिवर्तनों, जैसे क्रमश 2, 9 व 10 की सहायता से सीधा निष्कर्ष निकालना भ्रमात्मक व गलत हो सकता है।

मान लीजिए, स्थिति 4 में कुल उत्पत्ति 21 इकाई मिलती तो स्थिति 3 की तुलना में उत्पत्ति का निरपेक्ष परिवर्तन (21 12) = 9 इकाई होता है जो स्थिति 2 से स्थिति 3 तक के (12 – 3) = 9 इकाई के बराबर हो जाता है। उस दशा में पैमाने के समान प्रतिफल का भ्रम होने का अंदेशा था, हालांकि यहाँ भी उत्पत्ति का प्रतिशत परिवर्तन 75 प्रतिशत होता (12 इकाइयों पर 9 इकाई की वृद्धि, अत 100 पर 75 प्रतिशत की वृद्धि) जो साधनों के 50 प्रतिशत परिवर्तन से अधिक ही होता। **अत हमें उत्पत्ति के आनुपातिक परिवर्तनो पर ही विचार करना है, न कि निरपेक्ष परिवर्तनो पर। पाठक इस सम्बन्ध मे सम्भावित भूल से सावधान रहे।**

अब हम पैमाने के वर्द्धमान प्रतिफलों का लागतों के परिवर्तनों के रूप में अध्ययन करते हैं।

सारणी 4 : पैमाने के वर्द्धमान प्रतिफल
(साधनों में परिवर्तनों के माध्यम से)

स्थितियाँ	श्रम + पूँजी	उत्पत्ति की मात्रा (इकाइयों में)	दीर्घकालीन कुल लागत (LTC)	दीर्घकालीन औसत लागत $(LAC) = \frac{TC}{Q}$	दीर्घकालीन सीमान्त लागत $(LMC) = \frac{\Delta TC}{\Delta Q}$
स्थिति 1	1 + 1	1	2	2	2
स्थिति 2	2 + 2	3	4	4/3	1
स्थिति 3	4 + 4	12	8	2/3	4/9
स्थिति 4	6 + 6	22	12	6/11	2/5

पिछले उदाहरण की भाँति यहाँ भी श्रम व पूँजी की प्रति इकाई लागत 1 रुपया मानी गयी है। उपर्युक्त सारणी में औसत लागत घटती है और सीमान्त लागत भी घटती है, तथा सीमान्त लागत औसत लागत से नीचे रहती है। पाठक आसानी से औसत लागत व सीमान्त लागत निकाल सकते हैं। औसत लागत निकालने के लिए कुल लागत में उत्पत्ति की मात्रा का भाग देना होता है। सीमान्त लागत निकालने के लिए कुल लागत की वृद्धि में उत्पत्ति की मात्रा की वृद्धि का भाग देना होता है। जैसे श्रम + पूँजी की 4 + 4 इकाइयाँ लगाने पर कुल उत्पत्ति पहले से 9 इकाई अधिक हुई और कुल लागत 4 रुपये बढ़ी। इस प्रकार यहाँ सीमान्त लागत $\frac{4}{9}$ रुपये मानी जायगी। इसी प्रकार 6 + 6 इकाइयाँ लगाने पर सीमान्त लागत $= \frac{12-8}{22-12} = \frac{4}{10} = \frac{2}{5}$ होगी।

अब हम पैमाने के वर्द्धमान प्रतिफलों को समोत्पत्ति वक्रों व पैमाने की रेखा (scale line) की सहायता से स्पष्ट करते हैं। यह चित्र में समझाया गया है। इसके लिए दूसरे आँकड़े प्रयुक्त किए गए हैं।

यहाँ भी चार समोत्पत्ति वक्र खींचे गए हैं जो क्रमशः 10 इकाई, 20 इकाई, 30 इकाई व 40 इकाई उत्पत्ति को दर्शाते हैं तथा OM एक पैमाने की सरल रेखा (scale line) है, क्योंकि X व Y साधनों के सापेक्ष मूल्य स्थिर रहते हैं। चूँकि AB > BC तथा BC > CD है इसलिए यहाँ पैमाने के वर्द्धमान प्रतिफल प्राप्त हो रहे हैं। यहाँ उत्पत्ति की मात्रा में प्रतिशत परिवर्तन साधनों के प्रतिशत परिवर्तन से अधिक होता है। उदाहरण के लिए, A से B तक साधनों में वृद्धि 4 से 7 (75 प्रतिशत) तथा उत्पत्ति में 10 से 20 इकाई (100 प्रतिशत) हुई। अतः यह वर्द्धमान प्रतिफल की दशा

(4) पैमाने की किफायतें बडी सख्याओं के साख्यिकीय नियम के फलस्वरूप भी प्राप्त होती हैं। प्राय यह देखा गया है कि बडी सख्याओं की परिस्थिति में अधिक नियमितता व स्थिरता पायी जाती है। अधिक सख्या में ग्राहकों का व्यवहार अधिक स्थिर रहने से एक फर्म को माल की मात्रा या इन्वेण्टरी अपनी बिक्री के अनुपात में नहीं बढानी पडती। इससे माल के अनावश्यक स्टॉक को जमा करके रखने की आवश्यकता नही रहती।

उपर्युक्त शक्तियों के प्रबल होने से फर्म का दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र (LMC) नीचे की ओर झुकता है।

(3) पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल (Diminishing Returns to Scale)—जब प्रत्येक साधन के 100 प्रतिशत बढाए जाने पर उत्पत्ति 100 प्रतिशत से कम बढती है, तो पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल की दशा कहलाती है। ऐसी स्थिति में दीर्घकालीन औसत व सीमान्त लागत बढती है, जैसा कि आगे चलकर चित्र 5 में दिखलाया गया है—

नीचे सारणी 5 में पैमाने के ह्रासमान प्रतिफलों की स्थिति दर्शायी जाती है—

सारणी 5–पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल (उत्पत्ति में परिवर्तन के रूप में)

स्थितियाँ	श्रम+पूँजी की इकाइयाँ	उत्पत्ति की मात्रा (इकाइयो मे)	श्रम + पूँजी में पिछली स्थिति की तुलना में वृद्धि (%)	उत्पत्ति में पिछली स्थिति की तुलना में वृद्धि (%)
स्थिति 1	1+1	1	—	—
स्थिति 2	2+2	3	100	50
स्थिति 3	4+4	4	100	33.3
स्थिति 4	6+6	4.75	50	18.75

यहाँ भी सारणी के अन्तिम दो कॉलम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। स्थिति 2 में इन्पुटों में 100 प्रतिशत की वृद्धि होती है, जबकि उत्पत्ति में 50 प्रतिशत की वृद्धि होती है। यह पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल की दशा है। इसी प्रकार स्थिति 3 में इन्पुटों में 100 प्रतिशत तथा उत्पत्ति में 33.3 प्रतिशत की वृद्धि तथा स्थिति 4 में इन्पुटों में 50 प्रतिशत की वृद्धि तथा उत्पत्ति में 18.75 प्रतिशत की वृद्धि (4 इकाइयों पर वृद्धि 0.75 इकाई की, इसलिए 100 पर वृद्धि 18.75 की) भी पैमाने के ह्रासमान प्रतिफलों को ही सूचित करती है।

अब हम पैमाने के ह्रासमान प्रतिफलों को लागतों (सीमान्त व औसत) के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

सारणी 6-पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल (लागतो मे परिवर्तन के रूप में)

(रुपयो मे)

स्थितियाँ	श्रम + पूँजी	कुल उत्पत्ति (इकाइयाँ) (Q)	दीर्घकालीन कुल लागत (LTC)	दीर्घकालीन औसत लागत (LAC)=$\frac{TC}{Q}$	दीर्घकालीन सीमान्त लागत (LMC)=$\frac{\Delta TC}{\Delta Q}$
स्थिति 1	1+1	2	2	1 00	1 00
स्थिति 2	2+2	3	4	1.33	2.00
स्थिति 3	4+4	4	8	2 00	4 00
स्थिति 4	6+6	4 75	12	2.53	5.33
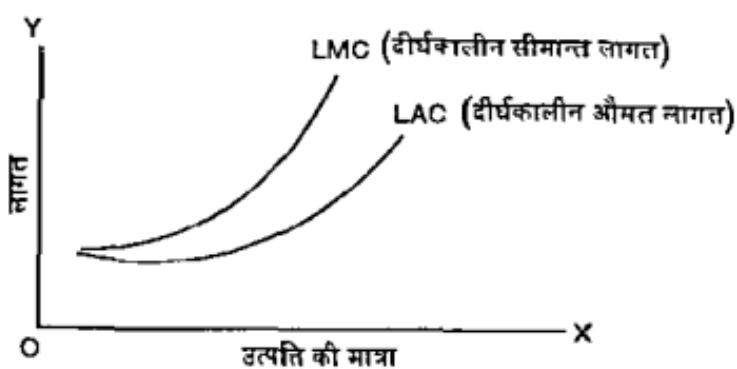
चित्र 5—पैमाने के ह्रासमान प्रतिफलों (Diminishing returns to scale) की स्थिति में बढ़ती हुई LAC व LMC

यहाँ भी श्रम व पूँजी की प्रति इकाई कीमत 1 रुपया मानी गई है। यहाँ पर प्रारम्भ से ही पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल लागू होते हैं। सीमान्त लागत व औसत लागत के बढने पर सीमान्त लागत औसत लागत के ऊपर होती है। चित्र 5 में LAC व LMC को बढता हुआ दिखाया गया है।

अब हम समोत्पत्ति वक्रों व पैमाने की रेखा का उपयोग करके पैमाने के ह्रासमान प्रतिफलों का विवेचन करते हैं—
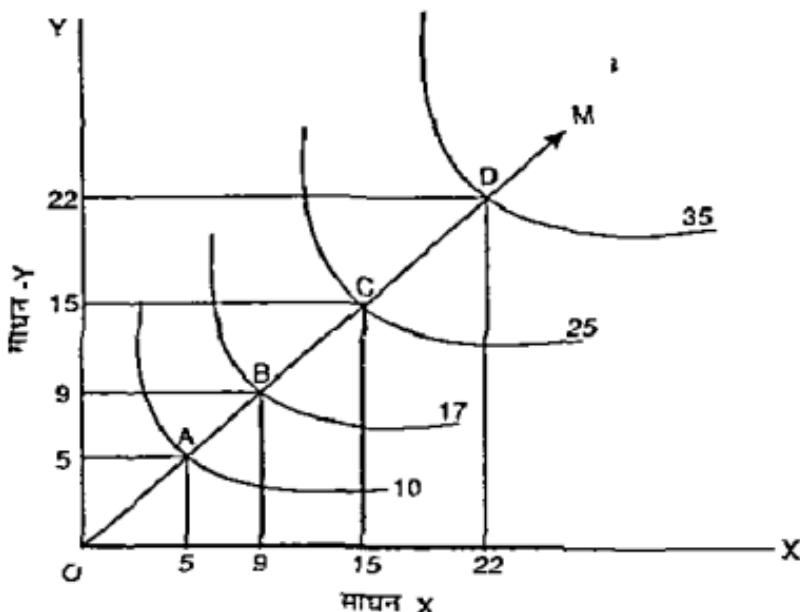
चित्र 6—सर्वत्र पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल
(समोत्पत्ति वक्रों व पैमाने की रेखा की सहायता से)

यहाँ भी चार समोत्पत्ति वक्र दर्शाए गए हैं। OM एक पैमाने की रेखा (scale-line) है। उत्पत्ति में समान रूप से वृद्धि करने के लिए साधनों में उत्तरोत्तर अधिक वृद्धि करनी होती है, जैसे AB < BC < CD की स्थिति है। यहाँ भी OM एक सीधी रेखा है, क्योंकि साधनों की सापेक्ष कीमतें स्थिर बनी रहती हैं। उत्पत्ति को 10 इकाई से 17 इकाई करने के लिए पैमाने की रेखा पर A से B तक जाना होता है, जबकि 17 इकाई से 25 इकाई करने के लिए B से C तक जाना होता है। BC > AB तथा CD > BC होती है, जिससे पैमाने के ह्रासमान प्रतिफलों की स्थिति प्रकट होती है। उपर्युक्त चित्र में ह्रासमान प्रतिफलों की स्थिति का खुलासा निम्न परिणामों से होता है—

	साधनों में वृद्धि	उत्पत्ति में वृद्धि
A से B तक	80%	70%
B से C तक	$66\frac{2}{3}\%$	47% लगभग
C से D तक	$46\frac{2}{3}\%$	40%

इस प्रकार उत्पत्ति मे वृद्धि का प्रतिशत साधनो की वृद्धि के प्रतिशत से प्रत्येक बार कम रहने से यहाँ ह्रासमान प्रतिफल की दशा पायी जाती है।

ह्रासमान प्रतिफलों का कारण—पैमाने के ह्रासमान या घटते हुए प्रतिफल बडे उपक्रम (big enterprise) में प्रबन्ध की कठिनाइयों से उत्पन्न होने हैं। उपक्रम जितना बडा होता जाता है उतनी ही उसकी प्रशासनिक समस्याएँ बढती जाती हैं केन्द्रीय निर्णय लेने में विलम्ब होता है और उनको लागू करने मे कठिनाई होती है। एक बडे सगठन के लिए अपनी नीतियो को कई बार बदलना सुगम नहा होता जिससे वह एक बेलोच किस्म का सगठन हो जाता है। अत एक सीमा के बाद पैमाने की अमितव्ययिताएँ या गैर किफायतें (diseconomics of scale) मिलने से घटते हुए प्रतिफल मिलने लगते हैं। बिलास के अनुसार, एक बिन्दु के बाद सगठनात्मक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती है। अधिक प्रबन्धको की आवश्यकता पड़ने लगती है। कागजी कार्यवाही बढ जाती है तथा प्रबन्ध के पिरेमिड खडे हो जाते है।[1] आन्तरिक अमितव्ययिताएँ प्रबन्ध की कठिनाइयों से उत्पन्न होती हैं, जबकि बाह्य अमितव्ययिताएँ प्राय उद्योग का विकास होने पर दक्ष श्रमिकों की मजदूरी के बढाये जाने के कारण पैदा होती हैं इन दोनों कारणों से लागतें बढने लगती हैं। एक बडे सगठन की उपर्युक्त कठिनाई को दूर करने के लिए विकेन्द्रीकरण का हल सुझाया गया है। लेकिन ऐसा करने पर पैमाने की किफायतों का परित्याग करना होता है तथा बडी मात्रा की खरीद व विज्ञापन आदि के लाभ नहीं मिल पाते हैं।

एक बडे उपक्रम या सगठन में आवश्यकतानुसार परिवर्तन न हो सकने के कारण यह कुछ दशाओं में अनुपयुक्त माना जाता है। स्त्रियों की पोशाक, जूते, नोवल्टी की वस्तुओं, खिलौने आदि के उत्पादन में अपेक्षाकृत छोटी व अधिक लोचदार कम्पनियाँ सगठन के रूप से ज्यादा कुशल प्रमाणित होती हैं।

उपर्युक्त परिस्थिति के कारण बहुधा कुछ उद्योगों में साधनों के बढाए जाने पर उत्पत्ति की मात्रा अनुपात से कम बढती है। अत उनमें पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल पाए जाते हैं।

समोत्पत्ति वक्रों व पैमाने की रेखा का उपयोग करके पैमाने के वर्द्धमान व ह्रासमान प्रतिफलों को आगे एक ही चित्र पर दर्शाया गया है—

अग्रांकित चित्र में OM पैमाने की रेखा या विस्तार पथ है। यहाँ R बिन्दु तक पैमाने के वर्द्धमान प्रतिफल मिलते है, क्योंकि PQ दूरी NP दूरी से कम है तथा QR दूरी PQ से कम है। अत समान मात्रा में उत्पत्ति बढाने के लिए उत्तरोत्तर कम मात्रा में साधन बढाए जाते हैं, जो वर्द्धमान प्रतिफल की स्थिति को प्रदर्शित करते हैं। लेकिन R के बाद ह्रासमान प्रतिफल मिलते हैं। ST दूरी RS से अधिक है और TL दूरी ST से अधिक है। इसलिए समान मात्रा में उत्पत्ति को बढाने के लिए साधनों को

---

1 *After a point however we run into an organizational problem known as the pyramiding of management We need more managers there is more paper work and as a result management pyramids* Bilas op cit, p 150
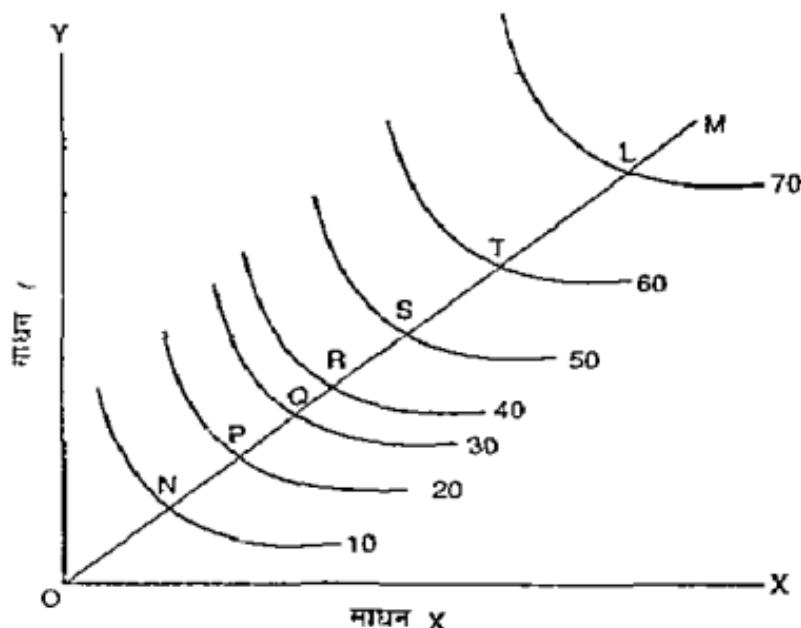
चित्र 7—पैमाने के वर्द्धमान व ह्रासमान प्रतिफल (एक ही चित्र पर)

अनुपात से अधिक मात्रा में लगाना होता है। हमने अध्ययन की सुविधा के लिए पैमाने की रेखा को सरल मान लिया है। व्यवहार में यह वक्र का रूप भी धारण कर सकती है।

यदि पैमाने की रेखा पर RS दूरी ST के बराबर होती तो हम उसे पैमाने के समान प्रतिफलों की स्थिति कह सकते हैं। बहुधा पैमाने के वर्द्धमान प्रतिफलों से पैमाने के ह्रासमान प्रतिफलों की तरफ जाते समय बीच की कड़ी के रूप में पैमाने के समान प्रतिफलों की स्थिति पायी जाती है।

पैमाने के प्रतिफलों व परिव्यय के प्रतिफलों में अन्तर—पैमाने के प्रतिफलों (returns to scale) की स्थिति में सभी साधन एक से अनुपात से बढ़ाए जाते हैं, जबकि परिव्यय के प्रतिफलों (returns to outlay) में ये विभिन्न अनुपातों में बढ़ाए जा सकते हैं। लेकिन दोनों में कुल लागतों की वृद्धि की दृष्टि से विवेचन में अन्तर नहीं होता।

पैमाने के प्रतिफलों (returns to scale) व परिव्यय के प्रतिफलों (returns to outlay) का अन्तर भी एक सरल उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए, पैमाने के समान प्रतिफलों की दशा पर विचार किया जाता है। हम पहले बतला चुके हैं कि यदि सभी साधन दुगुने करने से उत्पत्ति दुगुनी हो जाती है तो पैमाने के समान प्रतिफल की दशा पायी जाती है। लेकिन दुगुनी उत्पत्ति करने के लिए कभी-कभी साधनों का अनुपात भी बदलना पड़ता है, फिर भी कुल लागत तो दुगुनी हो जाती है। यह स्थिति परिव्यय के समान प्रतिफल की होती है, लेकिन पैमाने के समान प्रतिफल

की नहीं होती। मान लीजिए श्रम की कीमत 2 रुपए प्रति इकाई व पूँजी की कीमत 1 रुपए प्रति इकाई है। 5 इकाई माल बनाने के लिए 1 इकाई श्रम + 2 इकाई पूँजी की आवश्यकता है, जिसमे कुल लागत 4 रुपए होती है। अब मान लीजिए, 10 इकाई माल बनाने के लिए $2\frac{1}{2}$ इकाई श्रम व 3 इकाई पूँजी चाहिए तो कुल लागत (5 + 3) = 8 रुपए हो जाती है। इस प्रकार कुल व्यय के दुगुने कर देने से कुल उत्पत्ति दुगुनी हो गयी लेकिन साथ में साधनों का अनुपात भी बदल गया। पहले साधनों का अनुमान 1 2 (एक इकाई श्रम 2 इकाई पूँजी) था जो अब बदलकर 5 6 (5 इकाई श्रम 6 इकाई पूँजी) हो गया। अत यह उदाहरण परिव्यय के समान प्रतिफल का है, न कि पैमाने के समान प्रतिफल का।

समोत्पत्ति वक्रों की सहायता से पैमाने के समान प्रतिफल (constant returns to scale) तथा एक साधन के लिए उत्पत्ति ह्रास (diminishing returns to a factor) एक साथ दर्शाये जा सकते हैं। ऐसा निम्नलिखित चित्र में किया गया है।
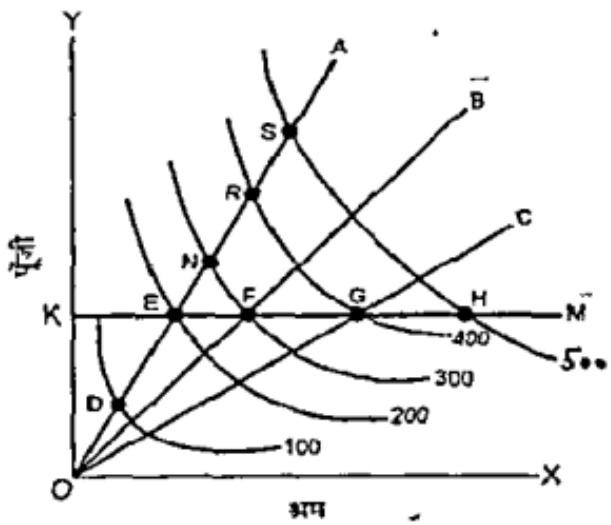
चित्र 8—समोत्पत्ति-वक्रों पर पैमाने के समान प्रतिफलों व एक साधन के ह्रासमान प्रतिफलों का एक साथ चित्रण

स्पष्टीकरण—उपर्युक्त चित्र में पाँच समोत्पत्ति वक्र दिखाए गए हैं जो क्रमश 100 इकाई 200 इकाई आदि उत्पत्ति की मात्राओं को सूचित करते हैं। OA, OB व OC रेखाएँ या किरणें इनको समान दूरियों पर काटती हैं, जैसे, DE = EN = NR = RS हैं। अत OA किरण (ray) पैमाने के समान प्रतिफल दर्शाती है। इसी प्रकार OB व OC किरणें भी पैमाने के समान प्रतिफल ही दर्शाती हैं। इन तीनों किरणों पर श्रम व पूँजी के अनुपात भिन्न भिन्न पाए जाते हैं। 100 इकाई से 200 इकाई माल बनाने के लिए श्रम व पूंजी दोनों को दुगुना करना होगा, 200 से 300 इकाई माल बनाने के लिए 50 प्रतिशत बढाना होगा। KM रेखा पूंजी को स्थिर रखकर श्रम की

मात्रा बढाने से उत्पत्ति पर प्रभाव बतलाती है। उत्पत्ति को 200 से 300 करने के लिए श्रम में EF की वृद्धि की जाती है। 300 से 400 करने के लिए श्रम में FG की वृद्धि तथा 400 से 500 करने के लिए GH की वृद्धि करनी होती है। FG श्रम की मात्रा EF से अधिक होती हे तथा GH मात्रा FG से अधिक होती है। अत उत्पत्ति में प्रत्येक बार 100 इकाई वृद्धि करने के लिए उत्तरोत्तर अधिक श्रमिक लगाने पडते हैं। यहाँ पूँजी की मात्रा OK पर स्थिर रहती है। यह श्रम से प्राप्त घटते हुए प्रतिफलों को सूचित करती है। इस प्रकार समोत्पत्ति वक्रों की सहायता से पैमाने के समान प्रतिफल तथा एक साधन के ह्रासमान प्रतिफल एक ही चित्र पर दर्शाये जा सकते हैं।

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 पैमाने के वर्द्धमान प्रतिफल कब मिलते हैं?

(अ) जब एक बडे स्थिर साधन के साथ शुरू में एक परिवर्तनशील साधन की इकाइया बढायी जाती हैं।

(ब) जब दोनों साधनों को एक साथ जिस अनुपात में बढाया जाता है, उससे अधिक अनुपात में उत्पत्ति बढती है।

(स) जब एक फर्म को आन्तरिक बचतें प्राप्त होती हैं।

(द) जब एक फर्म को बाह्य बचतें प्राप्त होती हैं। (ब)

2 निम्न दृष्टान्त में पैमाने के प्रतिफल ज्ञात कीजिए—

स्थिति	साधन (X)	साधन (Y)	उत्पत्ति की मात्रा (इकाई)
A	2	2	100
B	4	4	300
C	8	8	600
D	12	12	780

[A से B वर्द्धमान प्रतिफल, B से C तक समान प्रतिफल, C से D तक ह्रासमान प्रतिफल]

3 सीमान्त लागत किस स्थिति में घटती है?

(अ) जब समान प्रतिफल मिल रहे हैं

(ब) जब ह्रासमान प्रतिफल मिल रहे हैं

(स) जब वर्द्धमान प्रतिफल मिल रहे हैं

(द) किसी में भी नहीं (स)

4 समान प्रतिफलों की स्थिति को निर्धारित कीजिए—

3K	8	12	15
2K	7	10	12
1K	5	7	8
	1L	2L	3L

यहाँ
K = पूँजी की मात्रा
व L = श्रम की मात्रा के सूचक हैं

[उत्तर

L	K	उत्पत्ति
1	1	5
2	2	10
3	3	15]

5 चार समोत्पत्ति वक्र खींचकर केवल वर्द्धमान प्रतिफलों की दशा का निरूपण करिए।

अन्य प्रश्न

1 निम्नांकित को समझाइये—
(i) उत्पत्ति के नियम और पैमाने के प्रतिफल
(ii) न्यूनतम लागत संयोग (Raj IIyr 2000)

2. 'पैमाने के प्रतिफल' की धारणा से आप क्या समझते हैं? समोत्पाद वक्रों की सहायता से व्याख्या कीजिए। (MDSU, Ajmer IIyr. 2000)

3 उचित चित्रों की सहायता से समझायें।
(i) अनुकूलतम साधन संयोग
(ii) पैमाने का प्रतिफल (MDSU, Ajmer IIyr. 2001)

4 साधनों के प्रतिफल और पैमाने के प्रतिफल में समोत्पाद वक्रों की सहायता से अन्तर बतलाइए और यह भी बतलाइए कि उत्पादन फलन की नीचे दी हुई तालिका (a) किस साधन प्रतिफल, तथा (b) किस पैमाने के प्रतिफल को व्यक्त करती है।

3K	80	120	150
2K	70	100	120
1K	50	70	80
	1L	2L	3L

जहाँ
K = पूँजी की इकाई
व L = श्रम की इकाई

[संकेत—(अ) उपर्युक्त उत्पादन फलन एक साधन के लिए उत्पत्ति ह्रास (diminishing returns to a factor) की स्थिति को प्रदर्शित करता है। जैसे पूँजी की एक इकाई को स्थिर रखकर श्रम की क्रमश इकाइयों को बढाने पर कुल उत्पत्ति 50, 70 व 80 प्राप्त होती है, जिससे सीमान्त उत्पत्ति क्रमश 50, 20 व 10 आती है। इसी प्रकार की स्थिति श्रम की एक इकाई स्थिर रखकर पूँजी की क्रमश इकाइयाँ बढाने से प्राप्त होती है। (ब) इस उत्पादन फलन में पैमाने के समान प्रतिफल (constant returns to scale) की स्थिति

विद्यमान है, क्योंकि एक इकाई श्रम + एक इकाई पूँजी से प्राप्त उत्पत्ति = 50 इकाई, 2 इकाई श्रम + 2 इकाई पूँजी से प्राप्त उत्पत्ति = 100 इकाई तथा 3 इकाई श्रम + 3 इकाई पूँजी से प्राप्त उत्पत्ति = 150 इकाई होती है। इस प्रकार उत्पादन के दोनों साधनों को दुगुना करने से उत्पत्ति दुगुनी तथा बाद में साधनों को 50 प्रतिशत बढाने से उत्पत्ति भी 50 प्रतिशत बढ जाती है। इसके अलावा तालिका में साधनों के अन्य सयोगों के परिणाम भी देखे जा सकते हैं। स्मरण रहे कि यहाँ पर सम्पूर्ण **तालिका एक उत्पादन-फलन (production function)** का साराश प्रस्तुत करती है।]

5 उत्पत्ति ह्रास नियम' तथा 'पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल' के बीच भेद कीजिए। इनके कारणों पर अलग-अलग विचार कीजिए।

[सकेत—उत्पत्ति ह्रास नियम अल्पकाल में एक साधन स्थिर रखकर दूसरे साधन की मात्रा को बढाने पर, एक सीमा के बाद सीमान्त उत्पत्ति के घटने के रूप में लागू होता है, जबकि पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल दीर्घकाल में सभी साधनों को K प्रतिशत बढने पर उत्पत्ति के K प्रतिशत से कम बढने के रूप में प्राप्त होते हैं। उत्पत्ति ह्रास नियम का कारण स्थिर साधन पर परिवर्तनशील साधन का दबाव पडना है, जबकि पैमाने के ह्रासमान प्रतिफलों का कारण बडे पैमाने की अमितव्ययिताएँ या गैर किफायतें (diseconomies of large scale) हैं, जैसे प्रबन्धक की कठिनाइयाँ, आदि। इन्हें विस्तार से समझाइए।]

6 यदि उत्पादन फलन $Q = AK^{\alpha}L^{1-\alpha}$ हो तो पूँजी (K) एव श्रम (L) के सापेक्षिक भागों का परिकलन कीजिए और बतलाइए कि यह उत्पादन फलन किस पैमाने के नियम को व्यक्त करता है।

[उत्तर सकेत—पैमाने के समान प्रतिफल, पूँजी का उत्पत्ति में सापेक्ष भाग = α व श्रम का सापेक्ष भाग = $(1-\alpha)$ होता है।]

7 निम्न आँकडों की सहायता से 'पैमाने के प्रतिफल' (returns to scale) ज्ञात कीजिए—

क्रम-सख्या	उत्पादन का पैमाना श्रम + पूँजी	कुल उत्पादन
1	1+1	10
2	2+2	25
3	3+3	45
4	4+4	70
5	5+5	95
6	6+6	115
7	7+7	130
8	8+8	140

[उत्तर—संकेत—

क्रम संख्या	इन्पुटो मे आनुपातिक परिवर्तन प्रतिशत	उत्पादन म आनुपातिक परिवर्तन प्रतिशत	
1	—	—	
2	100	150	
3	50	80	क्रम सख्या 2 से क्रम सख्या 6 तक पैमाने के वर्द्धमान प्रतिफल (IR to scale)
4	33.3	55.6	
5	25.0	35.7	
6	20.0	21.05	
7	16.7	13.04	क्रम सख्या 7 से क्रम सख्या 8 के लिए पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल (DR to scale)
8	14.3	7.7	

एक महत्वपूर्ण चेतावनी—इस प्रश्न को सीधे सीमान्त उत्पत्ति या प्रतिफल (marginal returns) निकालकर हल करना 'गलत' होगा, जैसे—

क्रम-सख्या	पैमाना श्रम+पूँजी	कुल उत्पादन	सीमान्त प्रतिफल (marginal return)	गलत परिणाम (wrong results)
1	1+1	10	10	
2	2+2	25	15	पैमाने के वर्द्धमान प्रतिफल
3	3+3	45	20	(क्रम 1 से 4 तक)
4	4+4	70	25	पैमाने के समान प्रतिफल
5	5+5	95	25	(क्रम 4 व 5 के बीच)
6	6+6	115	20	पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल
7	7+7	130	15	(क्रम 5 के बाद)
8	8+8	140	10	

आवश्यक नोट—स्मरण रहे कि प्रस्तुत प्रश्न का यह हल 'गलत' है, क्योंकि इसमे कुल उत्पादन की आनुपातिक वृद्धि की तुलना इन्पुटो की आनुपातिक वृद्धि से नही की गई है। इस प्रश्न मे सीधे सीमान्त प्रतिफलों की तुलना करके परिणाम नही निकाले जा सकते। हम पहले बतला चुके हैं कि वर्द्धमान प्रतिफलों में उत्पत्ति की प्रतिशत वृद्धि इन्पुटो की प्रतिशत वृद्धि से अधिक होती है, पैमाने के समान प्रतिफलों मे दोनो की प्रतिशत वृद्धियाँ समान होती हैं, तथा पैमाने के ह्रासमान प्रतिफलों में उत्पत्ति की प्रतिशत वृद्धि इन्पुटो की प्रतिशत वृद्धि से कम होती है। अत सही निष्कर्ष निकालने के लिए आनुपातिक परिवर्तनों या प्रतिशतों की ही तुलना करनी होगी।

8 साधनों के प्रतिफलो और पैमाने के प्रतिफलों की समोत्पाद वक्रों की सहायता से व्याख्या कीजिए और दोनों के बीच अन्तर स्पष्ट कीजिए। क्या यह सम्भव है कि साधनों के प्रतिफल ह्रासमान हों जबकि पैमाने के प्रतिफल समान हों? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिये।

[संकेत—उपर्युक्त अध्याय मे अन्तिम चित्र, अर्थात् चित्र संख्या 8 की सहायता से स्पष्ट करें कि पैमाने के समान प्रतिफलो तथा साधनो के ह्रासमान प्रतिफलो का सहअस्तित्व हो सकता है। ऊपर प्रश्न संख्या 5 का उत्तर संकेत भी पुन ध्यान से पढ़ें। स्नातक स्तर के विद्यार्थियों को इस प्रकार की तालिकाओं व चित्रों को समझने का प्रयास अवश्य करना चाहिए। ये सरल व रुचिप्रद होते हैं। एक बार समझ मे आने से इनकी मुख्य बातें सदैव याद रह सकती हैं।

9 नीचे दी हुई सारणी में उत्पादन फलन के सन्दर्भ में—

3K	80	120	150
2K	70	100	120
1K	50	70	80
	1L	2L	3L

(अ) बतलाइए कि पैमाने के बढते, घटते या स्थिर प्रतिशत नियम क्रियाशील हैं।

(ब) इनमें से कौन से बिन्दु एक ही समोत्पाद वक्र पर हैं?

(स) क्या ह्रासमान प्रतिफल नियम क्रियाशील है ? इस नियम की सीमाओं को स्पष्ट कीजिए।

[उत्तर—संकेत—(अ) पैमाने के समान प्रतिफल, (ब) 70 इकाई, 80 इकाई व 120 इकाई को सूचित करने वाले बिन्दु, (स) हाँ]

15

पैमाने की किफायतें*

(Economies of Scale)

उत्पादन का पैमाना दो प्रकार का माना गया है—बडा एव छोटा। उत्पादन के बडे पैमाने में उत्पादन के साधनों जैसे भूमि, पूँजी, श्रम, प्रबन्ध व उद्यमशीलता या जोखिम का बडी मात्रा में इस्तेमाल होता है, जैसे सूती वस्त्र की मिलों, जूट की मिलों, इस्पात के कारखानों, हवाई जहाज, रेल के इन्जन बनाने के कारखानों में होता है। छोटे पैमाने के उत्पादन में उत्पादन के साधनों का अपेक्षाकृत कम मात्रा में प्रयोग किया जाता है, जैसे भारत में अधिकाश खेती छोटे पैमाने पर होती है, क्योंकि खेतों का आकार छोटा, थोडी पूँजी, प्रत्येक खेत पर श्रमिकों की सख्या थोडी व प्रबन्ध का भी दायरा छोटा होता है। इसके अलावा खुदरा व्यापार, व्यक्तिगत सेवाएँ जैसे नाई, धोबी, दर्जी, आदि की सेवाएँ छोटे पैमाने के अन्तर्गत आती हैं।

बडे पैमाने के उत्पादन (large scale production) व बडी मात्रा में उत्पादन (mass production) के बीच में भी अन्तर करना चाहिए। प्राय बडे पैमाने से बडी मात्रा का उत्पादन होता है, लेकिन अनेक छोटी इकाइयाँ भी कुल उत्पादन अधिक मात्रा में कर सकती है, जैसा कि भारतीय कृषि में होता है, तथा जुलाहे भी वस्त्र का उत्पादन बडी मात्रा में करते हैं, हालाँकि दोनों का उत्पादन का पैमाना छोटा होता है।

उत्पादन के पैमाने का उत्पत्ति की प्रति इकाई लागत से गहरा सम्बन्ध होता है। बडे पैमाने के उत्पादन में प्रति इकाई लागत कम आती है क्योंकि इसमें कई प्रकार की किफायतें प्राप्त होती हैं। ये किफायतें दो प्रकार की होती हैं—एक फर्म के आकार (size of a firm) में वृद्धि होने से जो किफायतें प्राप्त होती हैं उन्हें आन्तरिक किफायतें (internal economies) कहते हैं, और एक उद्योग या उद्योग-समूह का विस्तार होने से सभी फर्मों को जो किफायतें प्राप्त होती हैं, उन्हें बाह्य किफायतें (external economies) कहते हैं।

* पैमाने की किफायतों (economies of scale) के लिए पैमाने की बचतें या पैमाने की मितव्ययिताएँ शब्द भी प्रयुक्त होते हैं।

हमें यहाँ पर पैमाने' (scale) का अर्थ पुन स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। इसमें उत्पत्ति के सभी साधन एक साथ परिवर्तित किये जाते हैं। सेमुअल्सन के अनुसार, पैमाने की अथवा वृहत उत्पादन की किफायतों (economies of mass production or of scale) को प्राय 'पैमाने के वर्द्धमान' प्रतिफल (increasing returns to scale) कहा जाता है। हम आगे चलकर पैमाने के वर्द्धमान प्रतिफलों का विस्तृत वर्णन करेंगे। यहाँ पर इतना समझना ही पर्याप्त होगा कि जब उत्पादन के सभी साधनों के बढ़ने से उत्पत्ति अनुपात से अधिक बढ़ती है, तो पैमाने के वर्द्धमान प्रतिफल माने जाते हैं, जिससे प्रति इकाई लागत कम हो जाती है। बड़े पैमाने के उत्पादन की किफायतों का यही परिणाम होता है कि प्रति इकाई लागत कम होती जाती है। नीचे बड़े पैमाने की आन्तरिक व बाह्य किफायतों पर विस्तार से चर्चा की जाती है।

आन्तरिक किफायत (Internal Economies)[1]

जैसाकि ऊपर बतलाया जा चुका है कि आन्तरिक किफायतें एक फर्म को अपने आन्तरिक विस्तार के फलस्वरूप प्राप्त होती हैं। इनका एक फर्म के आन्तरिक प्रबन्ध से सम्बन्ध होता है।

प्रोफेसर ई ए. जी रोबिन्सन (E A. G Robinson) के अनुसार, आन्तरिक किफायतों को पाच श्रेणियों में बाँटा जा सकता है प्राविधिक, प्रबन्धकीय, व्यावसायिक, वित्तीय व जोखिम से सम्बन्धित। इनका विस्तृत विवेचन नीचे किया जाता है—

1 प्राविधिक या तकनीकी किफायत (Technical Economies)

तकनीकी किफायतें एक अकेले प्रतिष्ठान (single establishment) के आकार को प्रभावित करती हैं क्योंकि हो सकता है कि एक फर्म के सचालन में एक से अधिक प्रतिष्ठान हों। जैसे इस्पात के उत्पादन तथा जल विद्युत शक्ति के सृजन में सयम की बड़ी इकाइयों में ही कार्यकुशलता का स्तर ऊँचा पाया जाता है। केरनक्रोस व सिनक्लेयर ने तीन प्रकार की प्राविधिक किफायतें बतलायी हैं—

(i) उच्चस्तरीय तकनीक (Superior Technique) की किफायत—प्राय देखा जाता है कि बढ़िया किस्म की मशीनरी बहुत छोटे पैमाने पर उत्पादित नहीं की जा सकती है। इसलिए उच्च किस्म की तकनीक का प्रयोग कर सकने के लिए बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जाना आवश्यक होता है। बड़ी मशीनें विद्युत से सचालित होती हैं इसलिए वे छोटी मशीनों से ज्यादा उपयुक्त मानी जाती हैं। कम्प्यूटर व हिसाब लगाने की मशीनें बड़े ऑफिस में किफायती मानी जाती हैं।

(ii) वृहत आयामों का आकार (Increased Dimensions) की किफायत—आकार के बढ़ने से कई प्रकार की किफायतें मिलती हैं, जैसे एक समुद्री जहाज की माल की क्षमता इसके आयामों के घन (cube) के अनुपात में बढ़ती है, जबकि इसकी गति के प्रति अवरोध इसके आयामों म वर्गानुपात में ही बढ़ता है। यही

1 Cairncross & Sinclair Introduction to Economics 1982 ch 10

कारण है कि एक छोटे जहाज की अपेक्षा बडे जहाज मे एक दिये हुए वजन को खीचने में पावर की कम आवश्यकता होती है। इसी प्रकार यदि हम एक पानी के टैंक का आकार दुगुना कर दें (लम्बाई चौडाई व ऊँचाई सभी दुगुनी) तो उसकी पानी सग्रह करने की क्षमता आठ गुनी हो जायेगी। एक 3 फुट घन के आकार के लकडी के बॉक्स मे 1 फुट घन आकार के बॉक्स की तुलना मे 9 गुनी लकडी लगती है लेकिन उसकी सामान रखने की क्षमता 27 गुनी हो जाती है। इन्ही कारणो से बडी भट्टी बडे बाध बडे इन्जन आदि की कार्यक्षमता काफी अधिक होती है।

वृहत आयामो की किफायतो में बडे शहरो मे चलने वाली डबल डैकर बसों का उदाहरण काफी लोकप्रिय हो गया है। इनमें एक ड्राइवर व एक कन्डेक्टर से ही काम चल जाता है जबकि इनकी यात्री ले जाने की क्षमता दुगुनी होती है। इनमें व्यय भी दुगुना नही होता है। एक 20 हॉर्सपॉवर की विद्युत मोटर मे 10 हॉर्सपॉवर की मोटर से दुगुने साज-सामान की आवश्यकता नही पडती।

(iii) **परस्पर जुड़ी हुई प्रक्रियाओं (Linked Process) की किफायते**—विभिन्न प्रक्रियाओं के परस्पर जुडे रहने से भी किफायते प्राप्त होती हैं। इसीलिए अधिकाश फैक्ट्रियाँ अपने पास ही मरम्मत व बॉक्स बनाने की व्यवस्था रखती हैं। इससे सप्लाई की अनिश्चितता भी कम हो जाती है।

इसी मे व्यर्थ पदार्थों की उपोत्पत्ति (by products) के रूप मे बदलने की किफायत भी शामिल की जाती है। माँस उद्योग म उपोत्पत्ति का मूल्य माँस के मूल्य का लगभग 40% आँका गया है। बडे पैमाने के माँस उद्योग मे इतना ज्यादा व्यर्थ पदार्थ निकलता है कि उसका उपोत्पत्ति के रूप म इस्तेमाल करना सम्भव होता है। छोटे सयन्त्रों के साथ काम करने से ये किफायतें प्राप्त नहीं की जा सकती क्योंकि उनमे व्यर्थ पदार्थ कम निकलते हैं जिनको हटाने का व्यय और वहन करना पडता है। इसलिए विभिन्न प्रकार की जुडी हुई प्रक्रियाओ के कारण बडे पैमाने मे तकनीकी किफायतें प्राप्त की जाती हैं।

(iv) **बढ़े हुए विशिष्टीकरण (Increased Specialisation) की किफायतें**—स्टोनियर व हेग ने इसका वर्णन तकनीकी किफायतो (Technical Economies) के अन्तर्गत किया है। विशिष्टीकरण के बढने से श्रम विभाजन बढता है और अधिक किफायतें प्राप्त होती हैं। छोटी फर्म में श्रम विभाजन बहुत सीमित होता है, *इसलिए किफायतें भी कम प्राप्त हो पाती हैं। तकनीकी कारण बडे पैमाने की मितव्ययिताओं या किफायतों को ही उत्पन्न करते हैं, वे कभी भी अमितव्ययिताओं या* अलाभों (diseconomies) को जन्म नही देते हैं। इसलिए फर्म के विस्तार में बाधा अन्य कारणों से आ सकती है, न कि तकनीकी कारणो से। श्रम विभाजन के लाभों के कारण ही अल्पकाल में एक दिये हुए सयन्त्र (plant) की सहायता से उत्पति बढाने पर कुछ सीमा तक प्रति इकाई लागत घट सकती है। इस प्रकार विशिष्टीकरण के बढने मे किफायतें प्राप्त होती हैं, जो तकनीकी किफायते मानी जाती हैं।

2 प्रबन्धकीय किफायत (Managerial Economies)

प्रबन्ध में विशिष्टीकरण दो तरह से प्राप्त किया जाता है— (i) विभिन्न प्रकार के कार्य अन्य व्यक्तियों को सौंप देना (Delegation of detail) इसमें व्यवसाय का मालिक छोटे मोटे कई कार्य अन्य सहायकों को सौंपकर अपना सम्पूर्ण ध्यान महत्त्वपूर्ण निर्णयों में लगा सकता है (ii) कार्यात्मक विशिष्टीकरण (Functional specialisation) प्रबन्ध का कार्य कई विभागीय प्रबन्धकों को सौंपा जा सकता है और एक विभाग के कार्य को भी कई उपविभागों में बाँटा जा सकता है। एक विशेषज्ञ उत्पादन का काम सम्हाल सकता है दूसरा विक्री का तीसरा परिवहन का चौथा मशीनों व इमारत के रख रखाव का आदि आदि।

एक बड़ी फर्म अनुसन्धान पर अधिक व्यय करके लाभ उठा सकती है। नित्य नयी विधियाँ सामने आती रहती हैं जिनका प्रयोग करके लागत कम की जा सकती है। अनुसन्धान पर किया गया व्यय वैसे तो काफी ऊँचा लगता है लेकिन कुल व्यय की तुलना में वह नगण्य सा रहता है।

स्मरण रहे कि एक सीमा से परे प्रबन्ध की कठिनाइयाँ बढ़ने लगती है जिससे प्रबन्ध की अमितव्ययितायें या गैर किफायतें (diseconomies) सामने आने लगती हैं। बड़े पैमाने की प्रबन्ध व्यवस्था में निर्णयों की देरी व अनिश्चितता उत्पन्न होने लगती है। बड़ा व्यवसाय नौकरशाही की प्रवृत्तियाँ अपनाने लगता है। भारत में सार्वजनिक क्षेत्र प्रबन्धकीय कठिनाइयों में उलझा रहता है। कई बार विभिन्न विभागों में प्रभावपूर्ण समन्वय का अभाव भी पाया जाता है।

3 बिक्री सम्बन्धी किफायत (Marketing Economies)

कच्चे माल की खरीद व निर्मित माल की बिक्री में भी कई प्रकार की किफायतें प्राप्त की जा सकती हैं। कच्चे माल की लागत तैयार माल का एक महत्त्वपूर्ण अंश होती है। अतः कच्चे माल की खरीद में किफायत प्राप्त करने से कुल उत्पादन लागत में कमी की जा सकती है। बड़े पैमाने के उत्पादक को नीचे भावों पर कच्चा माल मिल जाता है। उसे कटौतियाँ तथा रिबेट भी मिलते हैं। उसे रेल परिवहन अधिकारियों बैंकों व अन्य संस्थाओं से विशेष सुविधाएँ मिलती हैं। ये सुविधाएँ इसलिए दी जाती हैं कि देने वाले अपनी स्वयं की लागतें ऐसा करके कम कर सकते हैं। सदैव बड़े आर्डरों पर व्यावसायिक शर्तें अधिक अनुकूल होती हैं। एक फर्म एक साथ एक से अधिक वस्तुओं की बिक्री करके अपना प्रति इकाई व्यय कम कर सकती है। यदि एक फर्म दस प्रकार की वस्तुएँ बनाती हैं तो उनकी बिक्री करने में दस गुनी कठिनाई नहीं आती।[1] अतः फर्म के बड़े आकार में कई प्रकार की किफायतें निहित रहती हैं।

---

1 Clearly if more than one product is made and especially if the products are closely related it is not ten times as hard to sell ten different products as to sell one —Stonier and Hague A Textbook of Economic Theory 5th ed 1980 p 128

4 वित्तीय किफायतें (Financial Economies)

बडी फर्म को अपनी ऊँची प्रतिष्ठा के कारण शेयर वगैरह बेचने मे ज्यादा सुविधा रहती है। इन शेयरों का नियमित बाजारों में क्रय विक्रय किया जाता है जिससे शेयरहोल्डरों को विशेष कठिनाई का सामना नहीं करना पडता। इसी प्रकार बडी फर्में बैंकों मे भी उधार ले सकती हैं तथा ऋण पत्रों को भी बेचकर वित्त जुटा सकती हैं। ऐसा करने में उधार देन वाले को बडी फर्म को पूँजी उधार देने में कम लागत आती है तथा उसे पूँजी वसूल करने में भी आसानी रहती है।

5 जोखिम से सम्बन्धित किफायतें (Risk-bearing Economies)

बहुधा बडी फर्मों की जोखिम की मात्रा छोटी फर्मों मे कम होती है। बडी फर्में बहुत सी अनिश्चितताओं का अनुमान लगा सकती हैं, जैसे जीवन बीमा कम्पनियों को अपने अनुभव मे यह पता रहता है कि अमुक वर्ष में उनकी देनदारी की राशि इतनी होगी। बीमा कम्पनियाँ यह तो नहीं बता सकती कि अमुक वर्ष में कौन व्यक्ति मरेगा, लेकिन वे यह अनुमान अवश्य लगा लेती हैं कि कितने लोग मरेंगे, और इसी के अनुसार वे अपने भुगतान की योजना भी बना लेती हैं।

आधुनिक उद्योग ने अपनी जोखिमों को फैलाने का तरीका निकाल लिया है। जोखिमों को छितरा देने के लिए वे अपने उत्पादन में विविधता लाती हैं, बाजारों के सम्बन्ध में विविधता लाती हैं एव अपने सप्लाई के स्रोतों व उत्पादन की प्रक्रियाओं में भी विविधता लाती हैं। इस प्रकार कई किस्म की विविधता लाकर जोखिम कम की जाती है। बडी फर्में कई प्रकार की वस्तुएँ उत्पन्न कर सकती हैं। वे अपने माल के लिए नये बाजार तलाश कर सकती हैं, कच्चे माल के स्रोत बढा लेती हैं और उत्पादन की प्रक्रियाओं में आवश्यक परिवर्तन करके अपनी जोखिम को घटा लेती हैं।

प्राय देखा जाता है कि जोखिम को फैलाने की किफायतें प्रबन्धकीय किफायतों के विपरीत जाती हैं। नए बाजार ढूँढना, नयी वस्तुएँ बनाना, उत्पादन की प्रक्रियाओं में विविधता लाना आदि से प्रबन्ध पर भार बढता है। इसी प्रकार जोखिम को फैलाने की किफायतें तकनीकी किफायतों से भी टकराती हैं। औद्योगिक मन्दी का मुकाबला छोटे उत्पादन की इकाइयाँ ज्यादा सरलतापूर्वक कर सकती हैं। जोखिम को फैलाने से प्राप्त किफायतों व बिक्री की किफायतों का परस्पर मेल हो सकता है, क्योंकि जोखिम फैलाने के सम्बन्ध में बिक्री भी बढायी जाती है जिससे बिक्री की लागत (marketing cost) कम की जा सकती है।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आन्तरिक किफायतें एक फर्म को उसके आकार में वृद्धि होने से प्राप्त होती हैं। इनसे उत्पादन की लागत कम होती है। इनका सम्बन्ध फर्म के आन्तरिक सगठन व व्यवस्था से होता है।

साधनों की अविभाज्यता व आन्तरिक किफायतें (Indivisibility of factors and Internal economies)—प्राय यह कहा जाता है कि आन्तरिक किफायतों को प्राप्त करने का प्रमुख कारण यह है कि उत्पादन के साधन अविभाज्य होते हैं। सामान्यतया

अविभाज्यता का अर्थ यह होता है कि उपकरण या यन्त्र कुछ न्यूनतम आकारों में अथवा कुछ निश्चित आकारों में ही उपलब्ध होते हैं। मान लीजिए, एक मशीन 5 लाख इकाइयाँ उत्पन्न करने की क्षमता रखती है। यदि इससे 5 हजार इकाइयाँ उत्पन्न करनी हैं तो इसे कई टुकडों मे नही बाँटा जा सकता। इसलिए इसकी क्षमता का पूरा उपयोग करने से ही किफायतें प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार एक कुशल मैनेजर, जो एक बडा कारखाना सम्भाल सकता है, छोटे कारखाने के लिए 'छोटा' नही बन सकता। इसलिए बडे कारखानों में ही इसकी दक्षता का पूरा उपयोग हो सकता है।

श्रीमती जोन रोबिन्सन, फ्रेंक नाइट व निकोलस केल्डोर ने पैमाने की किफायतो का सम्बन्ध साधनो की अविभाज्यता से जोडा है। केल्डोर का मत है कि पद्धति की दृष्टि से यह सुविधाजनक होगा कि बडे पैमाने की सारी किफायतें 'अविभाज्यता' के अन्तर्गत रखी जायें। लेकिन प्रो चैम्बरलेन का मत इससे भिन्न है। उसका कहना है कि आन्तरिक किफायतें बढते हुए विशिष्टीकरण व साधनों की तकनीकी दृष्टि से अधिक कुशल इकाइयों के उपयोग से प्राप्त होती हैं।

हम इस सम्बन्ध में यह निष्कर्ष स्वीकार कर सकते हैं कि आन्तरिक किफायतों का साधनों की 'अविभाज्यता से गहरा सम्बन्ध होता है, लेकिन ये किफायतें एकमात्र 'अविभाज्यता' का ही परिणाम नही होती। इन पर अन्य बातों का प्रभाव पडता है, जैसा कि चेम्बरलेन ने सुझाया है। इसके अलावा वाट्सन व होल्मैन का मत है कि पैमाने की किफायतों में 'अविभाज्यता' के तत्त्व का योगदान जल्दी ही समाप्त हो जाता है। इसका कारण यह है कि जैसे एक टाइपराइटर आधा तो नही हो सकता, लेकिन वह आधे समय के लिए किराये पर लिया जा सकता है। इसी प्रकार अकाउन्टेन्ट भी आधा नहीं हो सकता, लेकिन उसकी सेवाएँ पार्ट-टाइम आधार पर ली जा सकती हैं। इस कारण से 'अविभाज्यता' का तत्त्व पैमाने के बढते हुए प्रतिफलों के कारण के रूप में शीघ्र ही समाप्त हो जाता है।

उदग्र-एकीकरण की किफायतें (Economies of Vertical Integration)

उदग्र एकीकरण का अर्थ यह है कि एक फर्म का विस्तार इस प्रकार से होता है कि यह पीछे की क्रिया (backward activity) तथा आगे की क्रिया (forward activity) दोनों का समावेश अपने में कर लेती है, जिससे इसको कई प्रकार की किफायतें मिलने लग जाती हैं। इससे उत्पादन लागत में कमी आती है और अन्य लाभ भी प्राप्त होते हैं, जैसे कच्चे माल की सप्लाई की निश्चितता बढती है, आदि। उदाहरण के लिए, एक पेट्रोलियम रिफाइनरी स्वय ही अपनी क्रूड तेल की सप्लाई प्राप्त करने की व्यवस्था कर ले तथा रिफाइण्ड या परिशोधित पेट्रोल पदार्थों के सग्रह व वितरण की व्यवस्था भी स्वय ही कर ले। यहाँ क्रूड तेल की सप्लाई की व्यवस्था करना पीछे की ओर एकीकरण करना माना जायेगा, तथा रिफाइण्ड या परिशोधित पेट्रोल पदार्थों के सग्रह व वितरण की व्यवस्था करना आगे की ओर एकीकरण करना माना जायेगा। इसी प्रकार एक इस्पात का कारखाना अपने लिए पिग लोहा उत्पन्न कर सकता है (पीछे की ओर

एकीकरण) तथा इस्पात की चद्दरें या तार बना सकता है (आगे की ओर एकीकरण)। इस प्रकार के उदग्र एकीकरण कई प्रकार की किफायतें प्रदान करते हैं। आधुनिक औद्योगिक युग में फर्मों के लिए आगे पीछे की क्रियाओं का एकीकरण करके विस्तार करने तथा किफायतें प्राप्त करने के अवसर काफी बढ गये हैं। इसलिए एक फर्म का विस्तार एक तो क्षैतिज (horizontal) हो सकता है जहाँ उसके सयन्त्र (plant) का विस्तार होता है, (छोटे सयन्त्र से बडे सयन्त्र की ओर जाना) और दूसरा उदग्र (vertical) हो सकता है, जहाँ यह पीछे की क्रिया तथा आगे की क्रिया का एकीकरण कर लेती है। इसे पीछे व आगे की ओर 'कडी (backward and forward linkages) स्थापित करना भी कहा जाता है।

बाह्य किफायते (External Economies)

साधारणतया यह कहा जा सकता है कि ये किफायतें एक फर्म से सम्बन्धित उद्योग का विस्तार होने से सभी फर्मों को समान रूप से प्राप्त होती हैं, इसलिए इनको बाह्य किफायतें कहा गया है। दूसरे शब्दों में, इनका एक फर्म के भीतरी सगठन या आन्तरिक आकार के बढने से कोई सम्बन्ध नहीं होता। केरनक्रोस व मिनक्लेयर के अनुसार, *'बाह्य किफायते वे किफायते होती है जो कुछ फर्मों अथवा उद्योगों के द्वारा उस स्थिति में प्राप्त की जाती है जबकि उत्पादन का पैमाना किसी उद्योग अथवा उद्योग समूह में बढता है। इन पर एक फर्म के आकार के बढने से केवल उसी फर्म का एकाधिकार नहीं हो जाता, बल्कि ये किफायतें एक फर्म को उस दशा में मिलती हैं जबकि किसी अन्य फर्म का आकार बढता है। जब कभी एक फर्म की उत्पत्ति में वृद्धि होने से अन्य फर्मों की कार्यकुशलता पर अनुकूल प्रतिक्रिया होती है, चाहे ये फर्में उसी उद्योग की हों, अथवा अन्य उद्योगों की हों, तो इन फर्मों को बाह्य किफायतों का लाभ हुआ माना जाता है।'*

उपर्युक्त परिभाषा से बाह्य किफायतों के सम्बन्ध में निम्न बातें प्रकट होती हैं (i) ये केवल एक फर्म को प्राप्त न होकर अनेक फर्मों अथवा उद्योगों को प्राप्त होती हैं, (ii) ये उस समय प्राप्त होती हैं जबकि एक उद्योग में अथवा विभिन्न उद्योगों में उत्पादन का पैमाना बढता है। एक प्रदेश में यातायात के साधनों के विकास से लगभग एक उद्योग व विभिन्न उद्योगों की फर्मों को किफायते प्राप्त होती हैं, इन्हें बाह्य किफायतें कहते हैं। ये बाह्य इसलिये होती हैं कि फर्मों को ये उनके आन्तरिक सगठन में परिवर्तन होने से प्राप्त नहीं होतीं, बल्कि ये उसी उद्योग या किसी अन्य उद्योग में विकास होने से प्राप्त होती हैं।

बाह्य किफायतों को भी तीन श्रेणियों में बाँटा गया है—

(i) केन्द्रीयकरण की किफायतें (Economies of Concentration)—जब कुछ फर्में एक ही प्रदेश में स्थापित हो जाती हैं, तो उन्हें दक्ष श्रमिकों के प्रशिक्षण, उत्तम परिवहन की सुविधाओं, उद्योगों में सुधार आदि के रूप में आपसी लाभ प्राप्त होते हैं। प्रत्येक मालिक को अपनी आवश्यकता का श्रमिक ढूँढने में कोई कठिनाई नहीं होती

और उसे अपने माल को बेचने में भी सुविधा होती है क्योंकि विशिष्ट फर्में उनका यह काम भी सम्भाल लेती हैं। प्रत्येक नयी फर्म या नये उद्योग की स्थापना से रेलवे को अपने परिवहन चार्जेज घटाने का अवसर मिलता है। अत केन्द्रीयकरण से किफायतें उत्पन्न होती हैं।

(ii) सूचना-सम्बन्धी किफायतें (Economies of Information)—बडे उद्योग में व्यावसायिक व तकनीकी किस्म की पत्र पत्रिकाएँ निकाली जाती हैं, जिनसे सभी फर्मों को लाभ होता है। इस प्रकार फर्मों को सामूहिक अनुसन्धान के लाभ प्राप्त करने का अवसर मिलता है। उन्हें स्वतन्त्र रूप से अनुसन्धान करने की आवश्यकता बनी रहती है। सूचना सम्बन्धी किफायतों का अकेले उद्योग के साथ साथ सभी उद्योगों के लिए महत्त्व होता है। प्राय इस अनुसन्धान के व्यय का भार सरकार के कन्धों पर पडता है जिससे सम्पूर्ण उद्योग लाभान्वित होता है।

(iii) विघटन की किफायतें (Economies of Disintegration)—इनकी चर्चा उद्योग के स्थानीयकरण के अन्तर्गत की जा चुकी है। उद्योग के विकास से कुछ क्रियाएँ पृथक् हो जाती हैं जो एक विशिष्ट फर्म या उद्योग के द्वारा अधिक कार्यकुशलता से पूरी की जा सकती हैं। इस प्रकार विशिष्ट फर्मों की सेवाओं से एक उद्योग की सभी फर्मों को लाभ पहुँचता है। जब एक प्रदेश में कई चीनी की मिलें स्थापित हो जाती हैं तो गन्ने का रस निकालने के बाद उसके छिलकों का उपयोग करने के लिए अलग से फर्म स्थापित हो जाती हैं, अथवा शीरे का उपयोग करने के लिए पावर एल्कोहल बनाने वाली फर्में विकसित हो जाती हैं। इन फर्मों की स्थापना से चीनी की मिलों को बाह्य किफायतें मिलने लग जाती हैं। यदि चीनी की मिलें स्वय अपने व्यर्थ या अवशिष्ट पदार्थों का उपयोग करने लगें तो यह उनके लिए आन्तरिक किफायत कहलायेगी।

ऊपर कहा जा चुका है कि बाह्य किफायत और आन्तरिक किफायत का भेद इस बात पर निर्भर करता है कि किफायत किस रूप में उत्पन्न होती है। एक ही प्रकार की किफायत एक के लिए आन्तरिक किफायत और दूसरे के लिए बाह्य किफायत हो सकती है। जैसे मान लीजिए एक प्रदेश मे रेलवे परिवहन का विकास होता है तो रेलवे परिवहन का यह विकास स्वय रेलवे उद्योग के लिए आन्तरिक किफायत और अन्य फर्मों के लिए बाह्य किफायत माना जायेगा। इसी प्रकार पहले के उदाहरण में यदि पावर अल्कोहल बनाने के लिए शीरे का उपयोग करने वाली नयी फर्म स्थापित हो जाती है तो चीनी उद्योग के लिए यह बाह्य किफायत होगी, और यदि कोई चीनी मिल स्वय अपने शीरे का उपयोग करती है तो यह उसके लिए आन्तरिक किफायत मानी जायेगी। इस प्रकार दृष्टि-भेद से एक ही किफायत एक परिस्थिति में बाह्य और दूसरी में आन्तरिक कहलाती है। यही कारण है कि प्रोफेसर रोबर्टसन ने सभी किफायतों को एकत्र करके उनको आन्तरिक-बाह्य किफायतें (Internal-external economies) कहना ज्यादा उचित समझा है।

किफायतों के सम्बन्ध में मार्शल के विचार

प्रोफेसर मार्शल ने किसी भी किस्म की वस्तु के उत्पादन के पैमाने में वृद्धि होने से उत्पन्न किफायतों को दो वर्गों में बाँटा है—सर्वप्रथम वे जो उद्योग के सामान्य विकास पर निर्भर करती हैं और द्वितीय, वे जो व्यक्तिगत व्यावसायिक घराना के साधनों उनके संगठन और उनके प्रबन्ध की कार्यकुशलता पर निर्भर करती है। मार्शल ने प्रथम को बाह्य किफायतें और द्वितीय को आन्तरिक किफायतें कहा है।

आलोचकों का मत है कि मार्शल द्वारा दिया गया पैमाने की किफायतों का विवेचन बहुत उच्च कोटि का नहीं है। इस सम्बन्ध में उसके विवेचन में निम्न दोष बतलाये गये हैं—

(1) उसने तकनीकी किफायतों (technical economies) व संगठनात्मक किफायतों (organisational economies) के बीच बहुत स्पष्ट अन्तर नहीं किया है। मार्शल ने इस बात की चर्चा अवश्य की है कि कुछ किफायतें एक उत्पादक को अपनी उत्पत्ति में काफी वृद्धि करने से प्राप्त होती हैं और कुछ उस उत्पत्ति को बेचने के सम्बन्ध में प्राप्त होती हैं। लेकिन अधिक उत्पत्ति से प्राप्त सारी किफायतें तकनीकी नहीं होती, क्योंकि अनुसन्धान, श्रम विभाजन वगैरह से प्राप्त किफायतें संगठनात्मक होती हैं, हालांकि उनसे उत्पत्ति बढ़ती है।

(2) बाह्य किफायतों के सम्बन्ध में मार्शल का विश्लेषण अस्पष्ट बतलाया गया है। वास्तव में बाह्य किफायतें भी दो तरह की होती हैं—(अ) जो स्वयं एक उद्योग के विस्तार से ही उत्पन्न होती हैं, *इन्हें अन्तर्जात बाह्य किफायतें* (endogenous external economies) *कह सकते है,* (आ) जो *अन्य उद्योगों के विस्तार से उत्पन्न होती हैं, इन्हें बहिर्जात बाह्य किफायतें* (exogenous external economies) कह सकते हैं। बहिर्जात बाह्य किफायतों में सर्वप्रथम हम परिवहन सेवाओं का विकास ले सकते हैं। सूती वस्त्र उद्योग में एक मिल या फर्म के लिए परिवहन सेवा के विस्तार से प्राप्त होने वाली किफायत बहिर्जात बाह्य किफायत मानी जायेगी। इसी प्रकार देश में शक्ति का विकास एक फर्म के लिए इसी श्रेणी में आयेगा। अतः इस प्रकार की बाह्य किफायतें आर्थिक विकास व नियोजन का परिणाम होती हैं। प्रोफेसर मार्शल ने अपने विश्लेषण में अन्तर्जात बाह्य किफायतों, अर्थात् प्रथम श्रेणी की बाह्य किफायतों पर ज्यादा ध्यान केन्द्रित किया है, हालाँकि वह बहिर्जात बाह्य किफायतों का उल्लेख अवश्य करता है। मार्शल ने अन्तर्जात बाह्य किफायतों पर ही अधिक ध्यान दिया है क्योंकि वह मूल्य निर्धारण में रुचि रखता था और आंशिक सन्तुलन विश्लेषण (partial equilibrium analysis) में एक वस्तु की कीमत के निर्धारण में अन्य उद्योगों को यथास्थिर माना जाता है। एक उद्योग में अधिक उत्पत्ति के लिए उन उद्योगों के अन्दर उत्पन्न होने वाली किफायतों पर ही ध्यान दिया जाता है, अन्य उद्योगों के विस्तार से उत्पन्न किफायतों पर ध्यान नहीं दिया जाता।

इस प्रकार मार्शल का पैमाने की किफायतों का विवेचन अपर्याप्त माना गया है। फिर भी उसने आन्तरिक किफायतों व अन्तर्जात बाह्य किफायतों का विवेचन उदाहरण सहित दिया है, जो काफी महत्वपूर्ण माना गया है। आजकल बहिर्जात बाह्य किफायतों

(exogenous external economies) का महत्त्व आर्थिक विकास व नियोजन के सिद्धान्त में काफी बढ़ गया है क्योंकि इससे सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के विभिन्न अंगों के परिवर्तनों की परस्पर निर्भरता प्रकट हो जाती है। अन्तर्गत बाह्य किफायतों (endogenous external economies) का वर्णन तो एक उद्योग के लागत वक्र निर्धारित करने में ही सहायक होता है।

पैमाने की अमितव्ययिताएं या गैर किफायत (Diseconomies of Scale)

ये भी आन्तरिक (internal) व बाहरी (external) दोनों प्रकार की हो सकती हैं। पैमाने की आन्तरिक अमितव्ययिताओं का सम्बन्ध एक फर्म के आन्तरिक संगठन से होता है। बाह्य अमितव्ययिताओं का सम्बन्ध उद्योग के आकार में वृद्धि से होता है जिससे व्यक्तिगत फर्मों की लागत बढ़ जाती है।

हमने ऊपर देखा था कि एक सीमा के बाद एक फर्म के लिए बड़े पैमाने के उत्पादन की किफायतें समाप्त हो जाती हैं और इनके स्थान पर पैमाने की अमितव्ययिताएँ (diseconomies of scale) उत्पन्न हो जाती हैं। दूसरे शब्दों में दीर्घकालीन औसत लागत (long run average cost) पैमाने की अमितव्ययिताओं के आरम्भ होने पर बढ़ने लगती हैं। बड़े पैमाने में प्रबन्ध की कार्यकुशलता की मर्यादाएँ होती हैं। इसमें उत्पादन परिवहन, वित्त बिक्री आदि से सम्बन्धित क्रियाएँ आती हैं। इन सब कार्यों को करने के लिए सही सूचना की आवश्यकता होती है अन्यथा गलत निर्णय लिये जाने का खतरा बना रहता है। एक फर्म के संयन्त्र का आकार बढ़ने से एक बिन्दु के बाद प्रबन्ध का कार्य नीचे के लोगों को सौंपना पड़ता है। कागजी कार्यवाही व लालफीताशाही बढ़ जाती है और उत्पादन लागत बढ़ने लगती है।

बाह्य अमितव्ययिताएं या गैर किफायतें (External Diseconomies)—एक उद्योग का विस्तार होने पर उसकी फर्मों को बाह्य अमितव्ययिताओं का सामना करना पड़ सकता है। मान लीजिए एक उद्योग का विस्तार होता है जिससे दक्ष श्रमिकों (skilled workers) की माँग बढ़ती है। एक फर्म को ये दक्ष श्रमिक दूसरे उद्योगों से आकर्षित करने पड़ सकते हैं जिससे उन्हें ऊँची मजदूरी देनी पड़ती है और परिणामस्वरूप इन फर्मों की लागत बढ़ जाती है अथवा यह हो सकता है कि उसी मजदूरी पर पहले से घटिया श्रमिकों से काम चलाना पड़े जिससे कम उत्पादकता के कारण लागतें बढ़ जाती हैं। इस प्रकार एक उद्योग का विस्तार होने से उस उद्योग की फर्मों के समक्ष बढ़ती हुई लागत की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसे बाह्य अमितव्ययिता कहा जाता है। आन्तरिक व बाह्य अमितव्ययिताओं से फर्म का लागत वक्र बढ़ने लगता है।

गूल्ड व फर्गुसन के पैमाने की अमितव्ययिताओं पर विचार[1]—यह कह सकना कठिन है कि पैमाने की अमितव्ययिताएँ कहाँ से प्रारम्भ होती हैं। जिन व्यवसायों में पैमाने की किफायतें कम मिलती हैं उनमें अमितव्ययिताएं जल्दी चालू हो जाती हैं।

1 Gould and Lazear, Microeconomic Theory, 6th ed., 1989, pp. 240-241

इसलिए इनका दीर्घकालीन औसत लागत वक्र उत्पत्ति की थोड़ी मात्राओं पर ही बढ़ने लगता है। यह नीचे चित्र 1 (अ) में बतलाया गया है। कहीं कहीं प्रबन्ध की कार्यकुशलता तो जल्दी ही घटने लगती है लेकिन तकनीकी किफायतें जारी रहती हैं जो प्रबन्ध की अकार्यकुशलता का प्रभाव मिटा देती हैं जिससे उत्पत्ति की काफी अधिक मात्राओं तक औसत लागत का घटना जारी रहता है। तत्पश्चात् औसत लागत बढ़ती है, जैसा कि चित्र 1 (आ) में दर्शाया गया है। ऐसा प्राकृतिक एकाधिकार (natural monopoly) की स्थिति में देखा जाता है।

कुछ स्थितियाँ ऐसी भी होती हैं जिनमें पैमाने की सारी किफायतें तो जल्दी ही प्राप्त हो जाती हैं, लेकिन अमितव्ययिताएँ काफी अधिक मात्रा में उत्पत्ति करने तक प्रारम्भ नहीं होतीं। ऐसी दशा में औसत लागत वक्र काफी दूर तक क्षैतिज (horizontal) बना रहता है और बाद में बढ़ता है। यह स्थिति चित्र 1 (इ) में दिखलायी गयी है। ऐसा माना जाता है कि अमरीकी अर्थव्यवस्था में अधिकांश उत्पादन की प्रक्रियाएँ ऐसी ही पायी जाती हैं। इस तरह LAC की तीन प्रकार की आकृति हो सकती है।
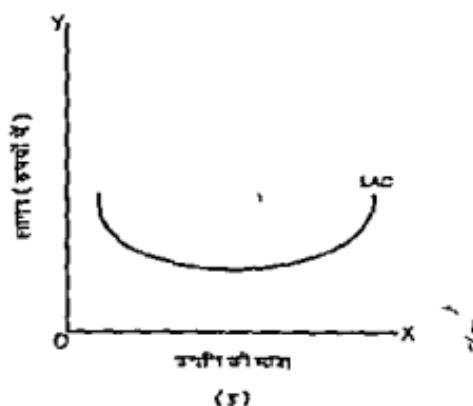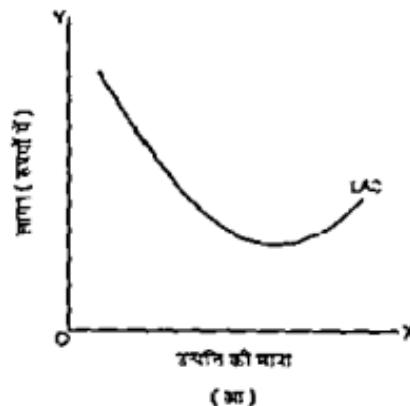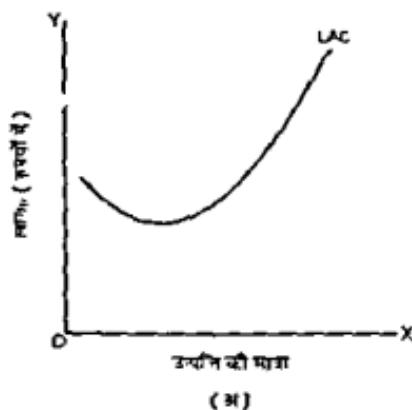
चित्र 1-LAC की विभिन्न आकृतियाँ

सारांश—इस अध्याय में हमने देखा कि बड़े पैमाने के उत्पादन से कई किस्म की आन्तरिक व बाह्य किफायतें प्राप्त होती हैं जिनके कारण उत्पादन की औसत लागत घट जाती है। लेकिन एक सीमा के बाद बड़े पैमाने के उत्पादन में भी अमितव्ययिताएँ या गैर किफायतें मिलने लगती हैं जिनसे औसत लागत बढ़ने लगती है। अतः बड़े पैमाने से जो किफायतें या बचतें प्राप्त होती हैं वे असीमित नहीं होतीं।

प्रश्न

1 संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—

(अ) आन्तरिक अमितव्ययिताएँ या गैर किफायतें (internal diseconomies)।

(ब) बाह्य किफायतें या बचतें (external economies)।

(स) बाह्य अमितव्ययिताएँ या गैर-किफायतें (external diseconomies)।

2 संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(अ) पैमाने की बचतें।

(ब) पैमाने की अमितव्ययिताएँ।

(स) बाह्य और आभ्यन्तरिक मितव्ययिताएँ।

16

विभिन्न लागत-अवधारणाएँ, उनके परस्पर सम्बन्ध व लागतों के अनुभवाश्रित प्रमाण

(Different Concepts of Cost, their Interrelation and Empirical Evidence on Costs)

एक फर्म की उत्पत्ति की मात्रा पर लागत की दशाओ का गहरा प्रभाव पडता है। वस्तु की कीमत के दिए हुए होने पर एक फर्म का उत्पादन उस बिन्दु तक करती है जहाँ पर उसकी सीमान्त लागत (marginal cost) उस वस्तु की कीमत (price of product) के बराबर होती है। इस अध्याय के प्रारम्भ में हम वास्तविक लागत, अवसर लागत (*opportunity cost*) व मौद्रिक लागत का अन्तर स्पष्ट करेंगे। बाद में अल्पकाल व दीर्घकाल में लागत वक्रों के स्वरूप का विस्तृत अध्ययन किया जाएगा। लागतों के विवेचन में हमें उत्पत्ति के नियमों एव पैमाने के प्रतिफलों का भी उपयोग करना होता है।

वास्तविक लागत (Real Cost)

वस्तु के उत्पादन में जो प्रयत्न व त्याग (efforts and sacrifices) करने होते हैं, उन्हें वास्तविक लागत कहा जाता है। प्रोफेसर मार्शल के शब्दों में, 'एक वस्तु के निर्माण मे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे सभी किस्म के श्रम को जो प्रयास या परिश्रम करना होता है, और साथ ही इसके निर्माण मे प्रयुक्त पूँजी की बचत के लिए जो प्रतीक्षा करनी होती है, या सयम रखना होता है, ये सब प्रयास व त्याग मिलकर वस्तु के उत्पादन की वास्तविक लागत कहलाते है।[1] उत्पादन के कार्य में श्रमिक, प्रबन्धक व उद्यमकर्ता को प्रयत्न करने होते हैं। पूँजी उपभोग को कम करने से उत्पन्न होती है,

---

1 "The exertions of all the different kinds of labour that are directly or indirectly involved in making it together with the abstinences or rather the waitings required for saving the capital used in making it all these efforts and sacrifices together will be called the real cost of production of the commodity
—Marshall op cit 8th ed p 282

इसलिए इसमें वर्तमान उपभोग के त्याग का समावेश होता है। अत इन विविध किस्म के प्रयासों व त्यागो से उत्पादन की वास्तविक लागत बनती है। सामाजिक दृष्टि से भूमि प्रकृति की मुफ्त भेंट होने मे इसकी कोई वास्तविक लागत नही होती।

वास्तविक लागत को मापने मे कठिनाई होती है क्योंकि इसमें मूल्याकन करने की समस्या उत्पन्न हो जाती है और प्रयत्न व त्याग को जोडना भी कठिन होता है, इसी वजह से आजकल अर्थशास्त्र में वास्तविक लागत के विचार का महत्त्व बहुत कम हो गया है। इसके स्थान पर वैकल्पिक लागत या अवसर लागत और मौद्रिक लागत की अवधारणाओं का उपयोग किया जाने लगा है।

वैकल्पिक लागत अथवा अवसर लागत (Opportunity Cost)

हम जानते हैं कि उत्पादन का एक साधन एक से अधिक उपयोगों में लगाया जा सकता है। मान लीजिए, एक फर्म किसी साधन की एक इकाई का उपयोग करती है। उसे उस साधन को उतनी मुद्रा अवश्य देनी होगी, जो उसे अपने सर्वश्रेष्ठ वैकल्पिक उपयोग (best alternative use) में मिल सकती है। यदि उसे उतनी मुद्रा नही दी जाएगी तो वह साधन दूसरी जगह अन्य उपयोग में चला जाएगा। यदि एक वरिष्ठ अध्यापक को उतना वेतन नहीं मिलता जितना उसे अन्यत्र किसी सर्वश्रेष्ठ वैकल्पिक उपयोग में, जैसे सरकारी विभाग के कर्मचारी के रूप में, मिल सकता हो, तो वह अध्यापन कार्य में नहीं रहेगा, और सरकारी कर्मचारी बनना पसन्द करेगा। यह सिद्धान्त वैकल्पिक लागत का सिद्धान्त अथवा अवसर लागत का सिद्धान्त कहलाता है।

यह सिद्धान्त सम्पूर्ण समाज पर एव एक फर्म पर लागू होता है। जब साधनों की इकाइयाँ एक वस्तु के निर्माण में लगा दी जाती हैं, तो वे दूसरी वस्तु के लिए उपलब्ध नही हो पातीं। एक भूमि का टुकडा कपास की खेती में लगाया जा सकता है अथवा, मान लीजिए, अपने सर्वश्रेष्ठ वैकल्पिक उपयोग, तिलहन में लगाया जा सकता है। अत उस भूमि के टुकडे पर कपास की खेती करने की लागत उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार, तिलहन की वह पैदावार है जो इस पर प्राप्त की जा सकती थी। मान लीजिए, लकडी व नाइलोन के धागे सितार अथवा वायोलिन को बनाने में लगाए जा सकते हैं। यहाँ सितार के उत्पादन में वृद्धि का अर्थ वायोलिन के उत्पादन में कमी करना है। अत समाज के लिए सितार की लागत वायोलिन का वह मूल्य है जिसका त्याग सितार के उत्पादन में सामग्री प्रयुक्त करके किया जाता है।

हम आगे चलकर लगान के विवेचन में वैकल्पिक लागत अथवा अवसर लागत की अवधारणा का अधिक विस्तार से उपयोग करेंगे। आधुनिक लागत सिद्धान्त के अनुसार एक साधन, चाहे वह श्रम, भूमि, पूँजी व उद्यम कुछ भी हो, की वर्तमान आय और वैकल्पिक आय [स्थानान्तरण आय (transfer earnings)] का अन्तर लगान कहलाता है। हम देखेंगे कि इस दृष्टिकोण के अनुसार ब्याज में लगान का तत्त्व एवं मजदूरी में लगान का तत्त्व शामिल हो सकता है। इस प्रकार वैकल्पिक लागत या अवसर लागत की अवधारणा काफी महत्वपूर्ण मानी जाती है।

फर्म के लिए अवसर लागत का माप

जैसा कि ऊपर बतलाया गया है एक साधन की अवसर लागत उसके सर्वश्रेष्ठ वैकल्पिक उपयोग में उससे प्राप्त होने वाले लाभ (benefit) के बराबर होती है। सिद्धान्तत अवसर लागत को मापना आसान होता है। लिप्से व क्रिस्टल के अनुसार, यदि किसी उद्योग मे सभी फर्मों की आय अवसर-लागत से अधिक होती है तो उस उद्योग मे फर्में शुद्ध मुनाफा अर्जित कर पाती है।[1]

यदि एक फर्म कोयले के लिए 200 रु प्रति क्विन्टल देती है तो यह कोयले के उपयोग की अवसर लागत का उचित माप मानी जा सकती है। श्रमिकों की मजदूरी व वेतन में बीमा व पेंशन कोषों की राशि भी जोडी जाती है।

अवसर लागत में एक फर्म के स्वय के साधनों की अनुमानित लागतें (imputed costs) भी जोडी जाती हैं। इनमें निम्न लागतें आती है—(i) स्वय की पूँजी की लागत जो प्राय बाजार में प्रचलित ब्याज की दर के बराबर होती है (ii) विशेष लाभ जैसे कोका कोला आदि लोकप्रिय ब्रांडों अथवा अधिक उपयुक्त स्थान व पेटेण्ट से प्राप्त होने वाले लाभ, (iii) वर्तमान उपकरण पर मूल्य ह्रास (depreciation) इसमें वास्तविक मूल्य ह्रास की राशि ही लगायी जानी चाहिए। यदि कोई मशीनरी खरीद ली गई है और अब उसका कोई वैकल्पिक उपयोग नहीं है, तो फर्म के लिए इसका वैकल्पिक उपयोग शून्य होगा। ऐसी स्थिति में माल की बिक्री में से अन्य लागतें घटाने से जो शेष बचेगा, वही फर्म का प्रतिफल कहलाएगा।

इसी प्रकार पूँजी का प्रतिफल भी तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(i) बिना जोखिम के विनियोग में लगायी गयी पूँजी पर शुद्ध प्रतिफल, (ii) जोखिम का प्रीमियम, (iii) अवसर लागत से ऊपर का मुनाफा। इसे शुद्ध लाभ या आर्थिक लाभ भी कह सकते हैं। इस प्रकार अवसर लागत के माप में कच्चे माल की कीमत व श्रमिकों की मजदूरी व पेंशन कोष की राशियाँ उद्यमकर्ता के द्वारा प्रदान किए गए स्वय के साधनों की लागतें, मूल्य ह्रास व पूँजी के प्रतिफल, आदि शामिल होते हैं।

मौद्रिक लागत (Monetary Cost)

एक उत्पादक उत्पादन के विभिन्न साधनों पर जो कुछ नकद रूप में व्यय करता है एव जिन राशियों को लागत में जोडता है उनको मौद्रिक लागत (monetary cost) अथवा उत्पादन व्यय (expenses of production) कहते हैं। इनमें सभी प्रकार के उत्पादन के व्यय शामिल होते हैं, जैसे पूँजी का ब्याज, भूमि का किराया, श्रम की मजदूरी, प्रबन्धक का वेतन एव उद्यमकर्ता का सामान्य लाभ।

---

1 'When resources are valued by the opportunity-cost principle their costs show how much these resources would earn if used in their best alternative uses If the revenues of all the firms in some industry exceed opportunity cost the firms in that industry will be earning pure profits
—Lipsey & Chrystal **Principles of Economics** 9th ed 1999 p 120

प्राय व्यक्त लागतों या स्पष्ट लागतों (explicit costs) व अव्यक्त लागतों या अन्तर्निहित लागतों (implicit costs) मे भी अन्तर किया जाता है। खरीदे या किराए पर लिए गए साधनों पर जो प्रत्यक्ष व्यय किया जाता है वह व्यक्त लागतों के अन्तर्गत आता है। एक लेखाकार इसे फर्म के हिसाब किताब में शामिल कर लेता है।

लेकिन कुछ लागतें अव्यक्त रूप मे (implicit) भी रहती हैं, जैसे व्यवसाय के स्वामी के द्वारा किए गए श्रम या प्रबन्ध का मूल्य एव उसके स्वय के फर्नीचर या साज समान का मूल्य जो उसने अपने व्यवसाय मे लगा रखा है। **एक अर्थशास्त्री के लिए अव्यक्त लागतो का भी उतना ही महत्त्व होता है जितना व्यक्त लागतो का होता है, क्योंकि वह समस्त लागतो पर विचार करता है।** वह व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकार की लागतों पर ध्यान केन्द्रित करता है। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि अव्यक्त लागतों को कैसे निर्धारित किया जाता है? इस सम्बन्ध में अवसर लागत सिद्धान्त से मदद मिलती है। किसी भी व्यवसायी के श्रम की मजदूरी इस बात से आँकी जा सकती है कि वह अपने सर्वश्रेष्ठ वैकल्पिक व्यवसाय या उद्योग में क्या कमा सकता है? एक भूस्वामी कृषक जो अपने पारिवारिक खेत पर काम करता है, वह अन्यत्र मजदूरी भी कर सकता था। अत स्वय के पारिवारिक खेत पर उसकी मजदूरी का अनुमान अन्यत्र प्राप्त हो सकने वाली मजदूरी के आधार पर लगाया जा सकता है। इसी प्रकार स्वय की पूँजी का ब्याज भी आँका जा सकता है। भारत में पारिवारिक खेतों पर कुल उत्पादन लागत का हिसाब लगाने के लिए व्यक्त लागतों में कई प्रकार की अव्यक्त लागतें भी जोड़नी आवश्यक होती हैं। हमारे देश मे कृषिगत लागत व मूल्य आयोग (Commission on Agricultural Costs and Prices) (CACP) अनाज की खरीद के भाव निर्धारित करने के लिए उत्पादन लागत का अनुमान लगाता है जिसमें व्यक्त व अव्यक्त दोनों प्रकार की लागतों को शामिल किया जाता है। इस प्रकार इन दोनों किस्म की लागतों का व्यावहारिक दृष्टि से काफी महत्त्व होता है।

अल्पकालीन लागत वक्र (Short Period Cost Curve)

लागत पर समय तत्त्व का बहुत प्रभाव पड़ता है। अल्पकाल में फर्म के सयन्त्र का आकार (size of plant) स्थिर होता है और उत्पादन में वृद्धि करने के लिए दिये हुए सयत्र के आकार का गहरा उपयोग किया जाता है। अल्पकाल में फर्म के साधनों को स्थिर व परिवर्तनशील (fixed and variable) दो भागों में बाँटा जा सकता है। परिवर्तनशील साधनों के नियम के अध्याय में बतलाया जा चुका है कि एक स्थिर साधन के साथ एक परिवर्तनशील साधन की मात्राओं को बढ़ाने से एक सीमा के बाद घटते हुए प्रतिफल मिलते हैं। अत अल्पकाल में लागतों पर उत्पत्ति के नियमों का प्रभाव पड़ता है।

दीर्घकाल में कोई भी साधन स्थिर नही होता। सभी साधनों के परिवर्तनशील होने के कारण स्वय सयन्त्र का आकार बदल जाता है और दीर्घकालीन लागतों पर

पैमाने के प्रतिफलों (returns to scale) का प्रभाव पड़ता है, जिनका उल्लेख पहले एक अध्याय में किया जा चुका है।[1]

हम नीचे अल्पकालीन लागत की अवधारणाओं को स्पष्ट करने के लिए सारणी व रेखाचित्र का उपयोग करेंगे, लेकिन इससे पूर्व उनकी परिभाषाएँ दी जाती हैं। पहले स्थिर लागत और परिवर्तनशील लागत का अन्तर स्पष्ट किया जाता है।

(1) कुल स्थिर लागत (Total fixed cost अथवा TFC)—मार्शल ने इसे पूरक लागत (supplementary cost) कहा है। कुल स्थिर लागत वह वयी हुई लागत होती है जिसका उत्पत्ति की मात्रा से सम्बन्ध न होकर, केवल संयन्त्र के आकार से ही सम्बन्ध होता है। यह शून्य उत्पत्ति से लेकर अधिकतम उत्पत्ति तक एक-सी बनी रहती है। एक फर्म के लिए अल्पकाल में मशीनरी आदि में लगी पूँजी का ब्याज, भूमि व इमारत का किराया, बीमे का प्रीमियम, उच्च कोटि के प्रबन्धकों का वेतन, आदि स्थिर लागत के ही अंश होते हैं। इसे ऊपरी लागत (*overhead cost*) भी कहा जाता है।

(2) कुल परिवर्तनशील लागत (Total variable cost अथवा TVC)—मार्शल ने इसे प्रमुख लागत (prime cost) कहा है। कुल परिवर्तनशील लागत या घटती-बढ़ती लागत वह लागत होती है जो उत्पत्ति की मात्रा के साथ-साथ परिवर्तित होती रहती है। अधिक उत्पत्ति करने पर यह अधिक हो जाती है और कम उत्पत्ति करने पर यह कम हो जाती है। कच्चे माल की लागत, श्रमिकों की मजदूरी, ईंधन या पावर की लागत, मशीनरी के उपयोग में मूल्य ह्रास, आदि व्यय उत्पादित माल की मात्रा के साथ साथ बदलते रहते हैं, इसलिए ये परिवर्तनशील लागत के अंश होते हैं। शून्य उत्पत्ति पर कुल परिवर्तनशील लागत भी शून्य होती है। फिर उत्पत्ति के बढ़ने के साथ साथ यह बढ़ती जाती है। बढ़ते हुए प्रतिफल के नियम की स्थिति में वह घटती हुई दर से बढ़ती है, और घटते हुए प्रतिफल के नियम की स्थिति में यह बढ़ती हुई दर से बढ़ती है। यह बात आगे चलकर एक उदाहरण से सुगमतापूर्वक समझ में आ जायगी।

(3) कुल लागत (Total cost अथवा TC)—इसे अल्पकालीन कुल लागत (STC) भी कह सकते हैं, क्योंकि इसका सम्बन्ध अल्पकाल से होता है। यह उत्पत्ति की प्रत्येक मात्रा पर कुल स्थिर लागत (TFC) और कुल परिवर्तनशील लागत (TVC) का जोड़ होती है। रेखाचित्र पर यह TVC जैसी ही लगती है और यह TVC वक्र में TFC की मात्रा के बराबर ऊपर खिसका देने से प्राप्त हो जाती है, अतः $TC = TFC + TVC$ होती है।

---

1 स्मरण रहे कीमत-सिद्धान्त में अल्पकाल व दीर्घकाल का सम्बन्ध समय की अवधि जैसे घण्टों, दिनों, महीनों आदि से नहीं होता। इनका अन्तर केवल इस बात को लेकर किया जाता है कि अल्पकाल में फर्म के लिए संयन्त्र का आकार दिया हुआ होता है और दीर्घकाल में यह बदला जा सकता है। अल्पकाल में उत्पत्ति के नियम लागू होते हैं और दीर्घकाल में पैमाने के प्रतिफलों की स्थिति पायी जाती है।

(4) सीमान्त लागत (Marginal cost अथवा MC)—फर्म के द्वारा माल की एक इकाई अधिक उत्पन्न करने से कुल लागत में जो वृद्धि होती है, उसे सीमान्त लागत कहते हैं। हम आगे चलकर बतलायेंगे कि सीमान्त लागत एक फर्म के सन्तुलन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग अदा करती है। अल्पकालीन सीमान्त लागत (SMC) और दीर्घकालीन सीमान्त लागत (LMC) दोनों का अलग अलग महत्त्व होता है। सूत्र के रूप में MC = ΔTVC/ΔQ होती है, जहाँ ΔTVC कुल परिवर्तनशील लागत की वृद्धि को सूचित करती है, तथा ΔQ उत्पत्ति की वृद्धि को। मान लीजिए, TVC में 100 रु की वृद्धि होती है तथा उत्पत्ति में 10 इकाइयों की, तो MC = 100/10 = 10 रु मानी जाएगी। **सीमान्त लागत (MC) पर कुल स्थिर लागत (TFC) का प्रभाव नहीं पड़ता,** इसलिए उपर्युक्त सूत्र में इसका कुल परिवर्तनशील लागत (TVC) से ही सम्बन्ध जोड़ा गया है। **उत्पत्ति के बढ़ने से (TVC) बदलती है, इसलिए यही सीमान्त लागत को प्रभावित करती है।**

(5) **औसत स्थिर लागत** (Average fixed cost या AFC)—*कुल स्थिर लागत में वस्तु की इकाइयों का भाग देने से औसत स्थिर लागत प्राप्त होती है।* यह निरन्तर घटती हुई होती है, क्योंकि उत्पत्ति की मात्रा के बढ़ते जाने पर यह अधिक इकाइयों पर फैला दी जाती है। लेकिन यह कभी शून्य नहीं हो सकती। AFC वक्र के प्रत्येक बिन्दु पर कुल स्थिर लागत समान बनी रहती है, इसलिए इसकी आकृति एक आयताकार हाइपरबोला (rectangular hyperbola) की आकृति होती है। इसके दोनों किनारे दोनों अक्षों के समीप आ सकते हैं, लेकिन इन्हें छूते नहीं हैं। प्रत्येक बिन्दु पर औसत स्थिर लागत को उत्पत्ति की मात्रा से गुणा करने से एक-सी राशि प्राप्त होती है। AFC को निम्न उदाहरण की सहायता से समझाया जा सकता है—

सारणी 1 औसत स्थिर लागत (AFC)

उत्पत्ति की मात्रा (इकाइयों में)	कुल स्थिर लागत (TFC) रु.	औसत स्थिर लागत (AFC) रु.
0	10	$\frac{10}{0} = \infty$ = अनन्त
1	10	10
2	10	5
5	10	2

औसत स्थिर लागत (AFC) का चित्र नीचे दिया जाता है—
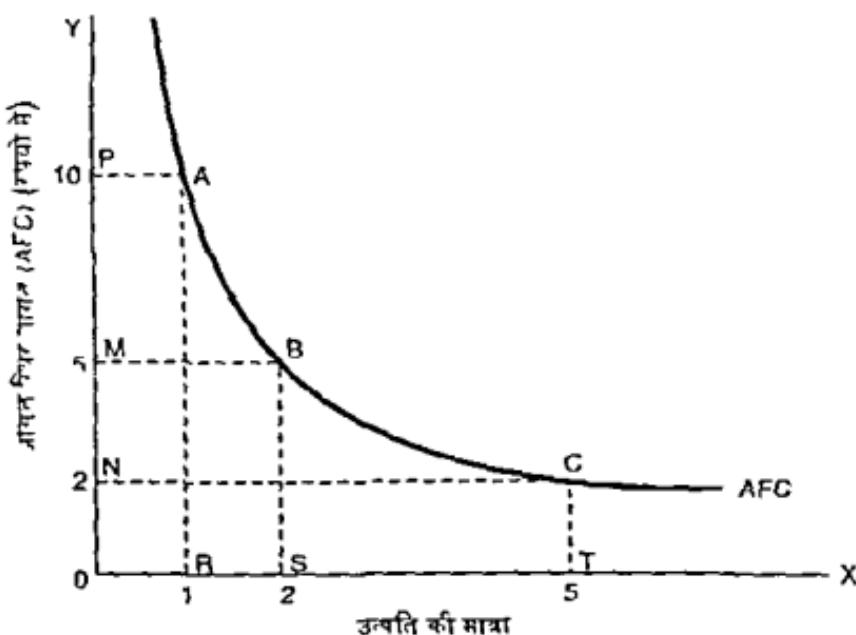
चित्र 1 औसत स्थिर लागत का चित्र (एक आयताकार हाइपरबोला)

OX अक्ष पर उत्पत्ति की मात्रा व OY अक्ष पर AFC मापी गई है। AFC वक्र पर A, B, C बिन्दु पर उत्पत्ति की 1 इकाई, 2 इकाई व 5 इकाई पर औसत स्थिर लागत को 10 रु, 5 रु व 2 रु राशि को सूचित करते हैं। चित्र में ORAP = OSBM = OTCN = 10 रु है, जो कुल स्थिर लागत की स्थिरता को सूचित करते हैं।

(6) **औसत परिवर्तनशील लागत** (Average variable cost या AVC)—कुल परिवर्तनशील लागत में वस्तु की इकाइयों का भाग देने से औसत परिवर्तनशील लागत प्राप्त होती है। यह प्राय शुरू में घटती है (वर्द्धमान प्रतिफल के नियम के कारण) और बाद में बढ़ती है (ह्रासमान प्रतिफल के नियम के कारण)। यह U आकृति की होती है।

(7) **औसत लागत** (Average cost या AC)—कुल लागत में वस्तु की इकाइयों का भाग देकर औसत लागत निकाली जा सकती है, अथवा यह उत्पत्ति की प्रत्येक मात्रा पर (AFC + AVC) के बराबर होती है। इसे अल्पकालीन औसत लागत (SAC) कहना ज्यादा उपयुक्त माना जाता है। यह भी U-आकृति की होती है। शुरू में AFC व AVC दोनों के घटने से यह घटती है, बाद में कुछ दूरी तक AFC के घटने का प्रभाव AVC के बढ़ने के प्रभाव से अधिक होने से भी इसका घटना जारी रहता है, और आगे चलकर AVC के बढ़ने का प्रभाव AFC के घटने के प्रभाव से अधिक हो

जाने से यह बढ़ने लगती है। इस प्रकार SAC वक्र की आकृति का निर्माण AFC वक्र व AVC वक्र के मेल से होता है।

हम एक सख्यात्मक उदाहरण लेकर आगे सारणी 2 में इन सभी लागतों को स्पष्ट करते हैं।

सारणी 2 अल्पकालीन लागतें

उत्पादन की मात्रा (प्रति सप्ताह)	कुल स्थिर लागत (TFC)	कुल परिवर्तनशील लागत (TVC)	अल्पकालीन कुल लागत (STC)	अल्पकालीन सीमान्त लागत (SMC)	औसत स्थिर लागत (AFC)	औसत परिवर्तनशील लागत (AVC)	अल्प कालीन औसत लागत (SAC)
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)	(7)	(8)
0	100	0	100	–	–	–	–
1	100	30	130	30	100	30	130
2	100	50	150	20	50	25	75
3	100	65	165	15	$33\frac{1}{3}$	$21\frac{2}{3}$	55
4	100	77	177	12	25	$19\frac{1}{4}$	$44\frac{1}{4}$
5	100	97	197	20	20	$19\frac{2}{5}$	$39\frac{2}{5}$
6	100	132	232	35	$16\frac{2}{3}$	22	$38\frac{2}{3}$
7	100	182	282	50	$14\frac{2}{7}$	26	$40\frac{2}{7}$
8	100	247	347	65	$12\frac{1}{2}$	$30\frac{7}{8}$	$43\frac{3}{8}$
9	100	332	432	85	$11\frac{1}{9}$	$36\frac{8}{9}$	48
10	100	442	542	110	10	$44\frac{1}{5}$	$54\frac{1}{5}$

हम शुरू में प्रथम चार कॉलमों का उपयोग करके चित्र 2 पर TFC, TVC व STC वक्रों को दिखलायेंगे और बाद में कॉलम (1) के साथ कॉलम (5) से (8)

तक का उपयोग करके दूसरे चित्र पर AFC AVC SAC व SMC वक्रों को दिखायेंगे।[1]
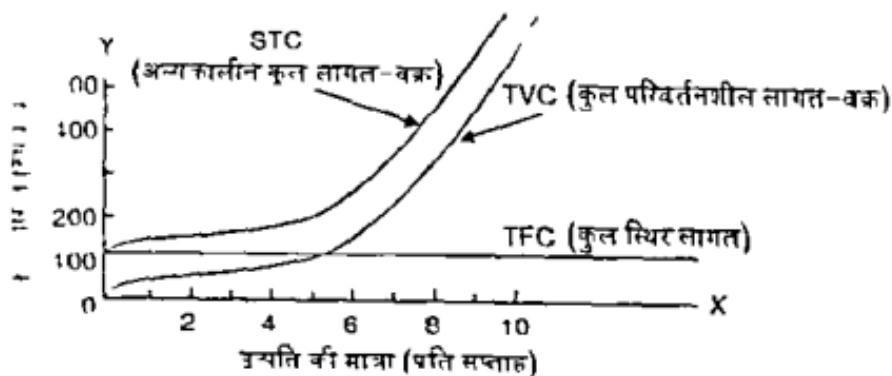
चित्र 2* एक फर्म के कुल लागत वक्र
(कुल स्थिर लागत, कुल परिवर्तनशील लागत तथा कुल लागत) (अल्पकालीन)

चित्र 2 में फर्म के कुल लागत वक्र दिखलाए गए हैं। TFC वक्र पूर्णतया क्षैतिज (horizontal) होता है, क्योंकि उत्पत्ति की प्रत्येक मात्रा पर कुल स्थिर लागत 100 रु बनी रहती है। TVC वक्र 4 इकाइयों तक घटती हुई दर से बढता है, फिर यह बढती हुई दर से बढता है (देखिए कॉलम 3)। इसका अर्थ यह है कि वस्तु की
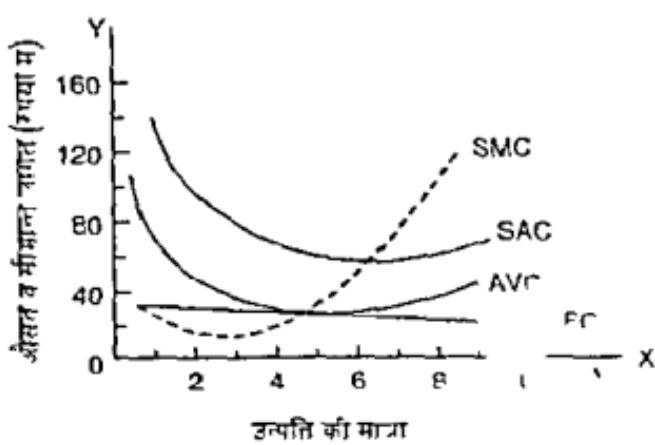
चित्र 3 फर्म के औसत लागत व सीमान्त लागत वक्र

1 STC SAC SMC को क्रमश TC AC व MC भी कहा जा सकता है लेकिन यहाँ S का उपयोग अल्पकालीन स्थिति पर जोर देने के लिए किया गया है। आगे चलकर LMC LAC का उपयोग दीर्घकालीन स्थिति को व्यक्त करने के लिए किया जाएगा।

2 Y-अक्ष पर कुल लागतों को दिखाने के कारण 100 रु 200 रु 300 रु अंकित करने होंगे।

चार इकाइयो तक वर्द्धमान प्रतिफल का नियम अथवा घटती हुई सीमान्त लागत का नियम लागू होता है और बाद मे ह्रासमान प्रतिफल का नियम अथवा बढती हुई सीमान्त लागत का नियम लागू हो जाता है। यह ध्यान रहे कि TVC वक्र उत्पत्ति की प्रत्येक मात्रा के लिए न्यूनतम लागत को सूचित करता है जैसे 4 इकाई माल के लिए TVC = 77 रु है जो इसकी न्यूनतम लागत है। **अत TVC के प्रस्तुतीकरण म न्यूनतम परिवतनशील लागत की अवधारणा निहित ह, अर्थात् उत्पत्ति की अमुक मात्रा पर TVC की कम स कम अमुक मात्रा पायी जाती ह।**

औसत लागत वक्रों का स्पष्टीकरण

आसत लागत वक्रों को चित्र 3 पर दर्शाया गया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है AFC वक्र प्रारम्भ में तेजी से नीचे आता है और बाद में धीरे धीरे घटने लगता है। लेकिन यह कभी भी शून्य नही हो सकता। यह एक आयताकार हाइपरबोला के आकार का होता है। इसके प्रत्येक बिन्दु पर कुल स्थिर लागत (TFC) समान बनी रहती है। यह चित्र 1 पर अधिक विस्तार से समझाया जा चुका है।

AVC वक्र शुरू में घटता है और फिर बढता है। इस पर उत्पत्ति के नियमों का प्रभाव पडता है। SAC वक्र भी कुछ सीमा तक घटता है और एक सीमा के बाद बढता है। अल्पकाल मे एक स्थिर साधन के साथ एक परिवर्तनशील साधन की मात्राओं के बढाए जाने पर प्रारम्भ में कई प्रकार की किफायतें (economies) मिलती हैं जिनका सम्बन्ध श्रम विभाजन सयन्त्र के आकार विक्री व प्रबन्ध आदि से होता है। हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि SAC वक्र शुरू में इसलिए घटता है कि AFC व AVC दोनों वक्र घटते हैं जिनसे इसका निर्माण होता है। फिर AVC तो बढने लगता है लेकिन AFC की घटने की तीव्रता ज्यादा होने से SAC का घटना जारी रहता है। एक सीमा के बाद AVC क बढने का प्रभाव AFC के घटने के प्रभाव से अधिक तीव्र हो जाता है जिससे SAC वक्र भी ऊपर की ओर जाने लगता है। इस प्रकार SAC वक्र की आकृति U किस्म की होती है।

अल्पकाल म आसत लागत व सीमान्त लागत का सम्बन्ध (Relation between AC and MC in the short period) – औसत लागत और सीमान्त लागत का परस्पर निश्चित सम्बन्ध पाया जाता है। जब तक औसत लागत वक्र घटता है तब तक सीमान्त लागत औसत लागत से नीचे होता है। इसी प्रकार जब औसत लागत बढती है तो सीमान्त लागत औसत लागत स ऊपर होती है। लकिन केवल औसत लागत के परिवर्तन को देखकर ही यह पता नहा लगाया जा सकता कि सीमान्त लागत किस दिशा में जा रही है। **जब आसत लागत घट रही होती है तो सीमान्त लागत घट सकती है, एव कुछ दूरी तक बढ भी सकती ह। लेकिन यह औसत लागत के नीचे ही बनी रहती है।**[1] *सीमान्त लागत औसत लागत को इसके न्यूनतम बिन्दु (minimum point)*

1 यह कहना गलत है कि जब तक औसत लागत घटता है तब तक सीमान्त लागत भी घटती है। औसत लागत क घटने पर भी कुछ दूरी तक सीमान्त लागत बढ सकती है लेकिन यह रहती है औसत लागत [illegible] उच्चस्तरीय अध्ययन में इसका [illegible] कलन्यूलस की सहायता [illegible] है

पर काटती हुई आगे निकल जाती है। जब औसत लागत बढ़ती है तो सीमान्त लागत भी बढ़ती है और यह औसत लागत के ऊपर रहती है।

औसत और सीमान्त लागत का सम्बन्ध एक-दूसरे तरीके से भी स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए एक कार दो घण्टे में 100 किलोमीटर जाती है तो कार की औसत रफ्तार प्रति घंटा 50 किलोमीटर होगी। अब कल्पना कीजिए कि तीसरे घंटे में इसकी रफ्तार (सीमान्त रफ्तार) 45 किलोमीटर प्रति घंटा हो जाती है तो औसत रफ्तार घटकर (145/3) $48\frac{1}{3}$ किलोमीटर प्रति घण्टा हो जायगी। अतः औसत रफ्तार घटेगी लेकिन यह सीमान्त रफ्तार जितनी नहीं घटेगी। इस प्रकार जब सीमान्त मूल्य घटता है तो यह औसत मूल्य को भी नीचे की ओर खींचता है। उपर्युक्त दृष्टान्त में यदि तीसरे घंटे में रफ्तार बढ़कर 80 किलोमीटर प्रति घंटा हो जाती है, तो औसत रफ्तार भी बढ़कर (180/3) = 60 किलोमीटर प्रति घंटा (पहले से अधिक) हो जाती है। अतः जब सीमान्त मूल्य बढ़ता है तो यह औसत मूल्य को भी ऊपर की ओर खींचता है। यदि सीमान्त रफ्तार उतनी ही (50 किलोमीटर प्रति घंटा) रहती तो औसत रफ्तार भी उतनी ही रहती अर्थात् सीमान्त रफ्तार स्थिर रहने पर यह औसत रफ्तार को क्षैतिज रूप में अपनी तरफ खींचती है। यह सम्बन्ध निम्न सरल चित्र 4 (अ) में स्पष्ट हो जाता है—

चित्र 4 (अ) सीमान्त व औसत लागत का सम्बन्ध

औसत लागत व सीमान्त लागत (AC व MC) का सम्बन्ध इन दोनों वक्रों की सहायता से पुनः अग्र चित्र 4 (आ) में अलग से दर्शाया गया है।

स्पष्टीकरण—चित्र 4 (आ) में OQ उत्पत्ति की मात्रा पर औसत लागत = सीमान्त लागत होती है। R बिन्दु AC वक्र का न्यूनतम बिन्दु है, जिस पर AC = MC होती है, और MC वक्र AC वक्र को काटती हुई आगे निकल जाती है। R बिन्दु के बायीं तरफ औसत लागत घटती हुई होती है, जिसे AR से दर्शाया गया है। उस स्थिति में MC वक्र AC वक्र के नीचे होता है जिसे CR से सूचित किया गया है। R के दायीं तरफ AC वक्र बढ़ता है (जो RB से स्पष्ट होता है) उस समय MC वक्र उससे ऊपर रहता है, जो RD से स्पष्ट होता है।

अतः औसत लागत और सीमान्त लागत के सम्बन्ध में हम यही कह सकते हैं कि जब औसत लागत घटती है तो सीमान्त लागत इससे नीचे रहती है, और जब औसत लागत बढ़ती है तो सीमान्त लागत उससे ऊपर रहती है। सीमान्त लागत औसत लागत को इसके न्यूनतम बिन्दु पर काटती हुई आगे निकल जाती है। ये बातें चित्र 4(आ) के ध्यानपूर्वक अध्ययन से स्पष्ट हो जाती हैं।
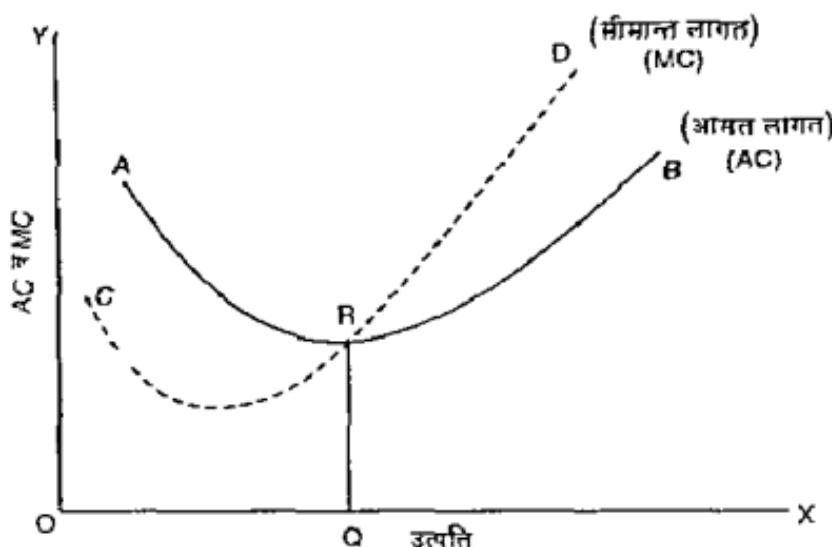
चित्र 4 (आ) AC व MC का सम्बन्ध

प्रश्न 1 AC व MC की जानकारी को बढ़ाने के लिए एक प्रश्न दिया जाता है। निम्न सूचना के आधार पर सीमान्त लागत (MC) के कॉलम को भरिए—

(रुपयों में)

उत्पत्ति की मात्रा	AC	MC
(1)	(2)	(3)
9	41	
10	40	
17	31	
18	30	
29	20·3	

हल करने की विधि—इसके लिए हम पहले कुल लागत (TC) निकालेंगे जो कॉलम (1) को कॉलम (2) से गुणा करने पर प्राप्त होगी, फिर सीमान्त लागत निकाली जाएगी।

(रुपयों में)

उत्पत्ति की मात्रा	कुल लागत (TC)	सीमान्त लागत (MC)
9	369	(3)
10	400	31
17	527	$18\frac{1}{7}$
18	540	13
29	588.7	4.4

यहाँ पर उत्पत्ति की मात्रा के 9 होने पर सीमान्त लागत (MC) का पता नहीं लग सकता। उत्पत्ति की मात्रा के 17 इकाई होने पर सीमान्त लागत $= \frac{527-400}{17-10} = \frac{127}{7} = 18\frac{1}{7}$ रुपए होगी। इसी प्रकार 29 इकाई पर सीमान्त लागत $\frac{588.7-540}{29-18} = \frac{48.7}{11} =$ लगभग 4.4 रुपए होगी। इसी प्रकार अन्य उत्पत्ति की मात्राओं पर सीमान्त लागत (MC) निकाली गयी है।

प्रश्न 2. विभिन्न लागतों की जानकारी को अधिक सुनिश्चित करने के लिए निम्न तालिका को पूरा करिए—

उत्पत्ति	स्थिर लागत (FC)	औसत स्थिर लागत (AFC)	कुल लागत (TC)	औसत लागत (AC)	औसत परिवर्तनशील लागत (AVC)
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)
1	12		16		
2					2.0
3				5.6	
4			17.6		
5					2.6
6				6.8	
7			71.4		
8					14.3

हल करने की विधि—कॉलम (2) व कॉलम (3) को भरना बहुत आसान होता है। कॉलम (2) में सारी दूर 12 रख दीजिए और उत्पत्ति की मात्राओं का भाग देते हुए AFC निकालिए। AC = AFC + AVC का उपयोग कीजिए। TC = AC × उत्पत्ति की मात्रा का प्रयोग कीजिए। AC = $\frac{TC}{\text{उत्पत्ति की मात्रा}}$ का भी यथास्थान उपयोग किया जा सकता है।

तालिका भरी जाने पर इस प्रकार होगी—

उत्पत्ति	FC	AFC	TC	AC	AVC
1	12	12	16	16 0	4 0
2	12	6	16	8 0	2 0
3	12	4	16 8	5 6	1 6
4	12	3	17 6	4 4	1 4
5	12	2 4	25 0	5 0	2 6
6	12	2	40 8	6 8	4 8
7	12	1 7	71 4	10 2	8 5
8	12	1 5	126 4	15 8	14 3

एक फर्म का दीर्घकालीन औसत लागत वक्र (LAC)—दीर्घकाल में फर्म अपने संयत्र के आकार (size of plant) को बदल सकती है। इसे आवश्यकतानुसार बढाया या घटाया जा सकता है। वस्तुत दीर्घकाल में संयत्र के अनेक आकारों की वैकल्पिक अल्पकालीन सम्भावनाओं को शामिल किया जाता है।

मान लीजिए, एक उद्योग में संयत्रों के तीन आकार (three sizes of plants)—एक छोटा, एक मध्यम आकार का और एक बडा पाये जाते हैं। इन तीनों के लिए अल्पकालीन औसत लागत वक्र होते हैं, जो अग्र चित्र में दिखलाए गए हैं।

चित्र 5 में SAC_1, SAC_2 व SAC_3 तीन अल्पकालीन औसत लागत वक्र हैं। फर्म दीर्घकाल में इनमें से किसी पर भी आ जा सकती है, अर्थात् आवश्यकतानुसार किसी का भी उपयोग कर सकती है। प्रश्न यह है कि फर्म इसमें से किस संयन्त्र का निर्माण व उपयोग करेगी ?

इसका निर्णय उत्पत्ति की मात्रा पर निर्भर करेगा। फर्म किसी भी उत्पत्ति की मात्रा को यथासम्भव न्यूनतम लागत पर उत्पन्न करना चाहेगी। जैसे उत्पत्ति की Q मात्रा के लिए SAC_1 संयन्त्र उपयुक्त होगा, क्योंकि इस पर औसत लागत C_2 सबसे
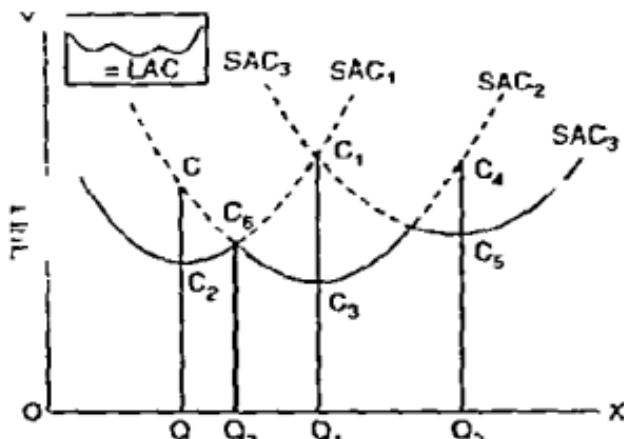
चित्र 5—दीर्घकालीन औसत लागत-वक्र का निर्माण

कम होती है। Q_3 मात्रा के लिए SAC_1 व SAC_2 में से कोई भी संयन्त्र चुना जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक पर औसत लागत C_6 के बराबर है। इसी प्रकार Q_1 मात्रा के लिए SAC_2 सर्वश्रेष्ठ होगा, क्योंकि C_3 बिन्दु पर न्यूनतम औसत लागत होती है, और SAC_1 व SAC_3 पर इसके लिए C_1 लागत C_3 से काफी अधिक होती है। Q_2 मात्रा SAC_3 संयन्त्र पर C_5 लागत से उत्पन्न की जा सकती है। इसके लिए SAC_2 संयन्त्र पर C_4 लागत होती है, इसलिए उसका उपयोग नहीं किया जाएगा।

फर्म का दीर्घकालीन औसत लागत वक्र उन न्यूनतम सम्भव औसत लागतों को दर्शाता है, जिन पर उत्पत्ति की विभिन्न मात्राएँ उत्पन्न की जा सकती हैं, और फर्म को संयन्त्र के विभिन्न आकारों में से चुनने की पूरी स्वतन्त्रता होती है। अतः चित्र 5 में SAC_1, SAC_2 व SAC_3 के गहरे अंश (heavy portions) LAC को सूचित करते हैं।

साधारणतया दीर्घकालीन औसत लागत-वक्र (LAC) ज्यादा नियमित व ज्यादा सरल प्रतीत होता है, क्योंकि फर्म के लिए संयन्त्र के अनेक आकार उपलब्ध होते हैं। यहाँ पर कई तरह की मान्यताएँ स्वीकार की जा सकती हैं।

मान लीजिए सभी साधनों का असीमित मात्रा में विभाजन हो सकता है, और श्रम-विभाजन आदि से कई किफायतें (economies) प्राप्त नहीं होती हैं। इसका अर्थ यह है कि दीर्घकाल में सभी साधनों का अनुपात इस तरह से व्यवस्थित हो जाता है कि वस्तु का उत्पादन सम्बन्धित अल्पकालीन लागत वक्र के न्यूनतम बिन्दु पर होने लगता है। ऐसी स्थिति में फर्म का LAC वक्र एक क्षैतिज रेखा (horizontal line) के रूप में होगा और पैमाने के स्थिर प्रतिफल प्राप्त होंगे। हालाँकि एक दिए हुए पैमाने पर परिवर्तनशील दिखाए जाएँगे। यह आगे के चित्र में दर्शाया गया है।
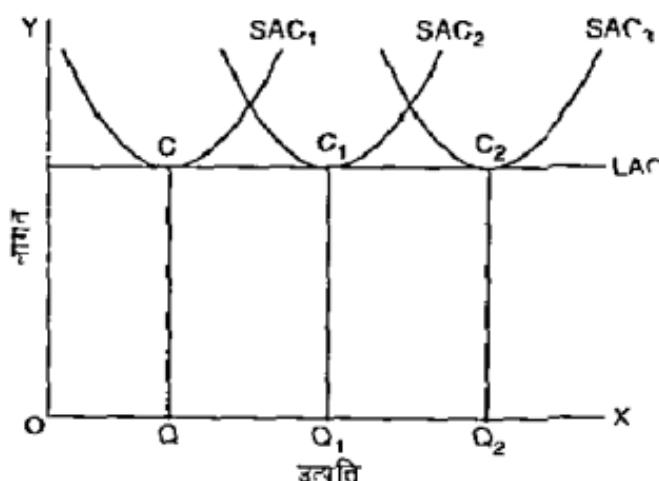
चित्र 6 क्षैतिज दीर्घकालीन औसत लागत-वक्र (पैमाने के समान प्रतिफल)

इस चित्र में Q, Q_1 व Q_2 सभी उत्पत्ति की मात्राओं पर औसत लागतें समान रहती हैं और LAC वक्र क्षैतिज आकार का होता है। यह पैमाने के समान प्रतिफल की स्थिति का सूचक होता है।

व्यवहार में LAC वक्र भी प्राय U आकृति का होता है। यह शुरू में घटता है और एक न्यूनतम बिन्दु पर पहुँच कर बाद में बढ़ने लगता है। यह 'लिफाफा वक्र' (envelope curve)* कहलाता है, जैसा कि चित्र 7 में दर्शाया गया है। यह विभिन्न SAC वक्रों को घेर लेता है। यह कुछ SAC वक्रों को उनके गिरते हुए अंशों पर छूता है एवं एक वक्र को इसके न्यूनतम बिन्दु पर छूता है (जो इसका भी न्यूनतम बिन्दु होता है), और कुछ वक्रों को उनके ऊपर की ओर उठते हुए अंशों पर छूता है। इसीलिए व्यवहार में एक LAC वक्र के लिए सभी SAC वक्रों के न्यूनतम बिन्दुओं को स्पर्श कर सकना सम्भव नहीं होता। सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री जेकब वाइनर ने 1931 में अपने ड्राफ्ट्समैन को एक ऐसा LAC वक्र बनाने के लिए कहा था जो सभी SAC वक्रों के न्यूनतम बिन्दुओं को छूता हो। लेकिन बाद में वाइनर ने अपनी भूल स्वयं महसूस की, क्योंकि ऐसा वक्र सामान्यतया बन ही नहीं सकता।

आगे चित्र 7 में LAC वक्र छ SAC वक्रों (जो क्रमशः 1, 2, 3, 4 आदि से सूचित किये गये हैं) के विभिन्न बिन्दुओं को मिलाकर बनाया गया है। LAC वक्र SAC_1, SAC_2 व SAC_3 के गिरते हुए अंशों को छूता है, यह SAC_4 के न्यूनतम बिन्दु को छूता है और SAC_5 व SAC_6 के ऊपर की ओर उठते हुए अंशों को छूता

* कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार यह ⌊____ आकृति का एवं कुछ के अनुसार यह ⌊____⌋ आकृति का भी हो सकता है।

है। Q मात्रा SAC_1 पर C लागत पर उत्पन्न की जाती है, जो इस मात्रा के लिए इसकी न्यूनतम लागत होती है। Q_1 मात्रा SAC_2 वक्र पर C_2 लागत पर उत्पन्न की जाती है। यदि यह SAC_1 पर उत्पन्न की जाती, तो लागत C_1 आती, जो C_2 से अधिक होती। ध्यान रहे कि SAC_1 वक्र पर न्यूनतम लागत C_1 होती है, फिर भी Q_1 मात्रा उत्पन्न करने की दृष्टि से SAC_2 सयन्त्र पर लागत के गिरते हुए अंश पर C_2 लागत ही इसके लिए ज्यादा उपयुक्त होती है।

इसी प्रकार Q_2 मात्रा के लिए C_3 लागत न्यूनतम होती है जो SAC_4 वक्र पर न्यूनतम लागत का बिन्दु है और यही LAC वक्र का भी न्यूनतम बिन्दु है।

एक दिए हुए सयन्त्र के आकार पर जब उत्पादन उस बिन्दु तक किया जाता है जहाँ पर औसत लागत न्यूनतम होती है, तो इसे उत्पत्ति की अनुकूलतम दर (optimum rate of output) कहते हैं। इसे सयन्त्र का अनुकूलतम उपयोग (optimum use of plant) भी कहते हैं। चित्र में SAC_1 वक्र पर यह C बिन्दु पर है। यह आवश्यक नहीं है कि दीर्घकाल में एक फर्म किसी दिए हुए सयन्त्र के आधार पर न्यूनतम औसत लागत के बिन्दु पर ही अपना उत्पादन करे, यह इससे पीछे ठहर सकती है, अथवा इससे आगे भी जा सकती है।
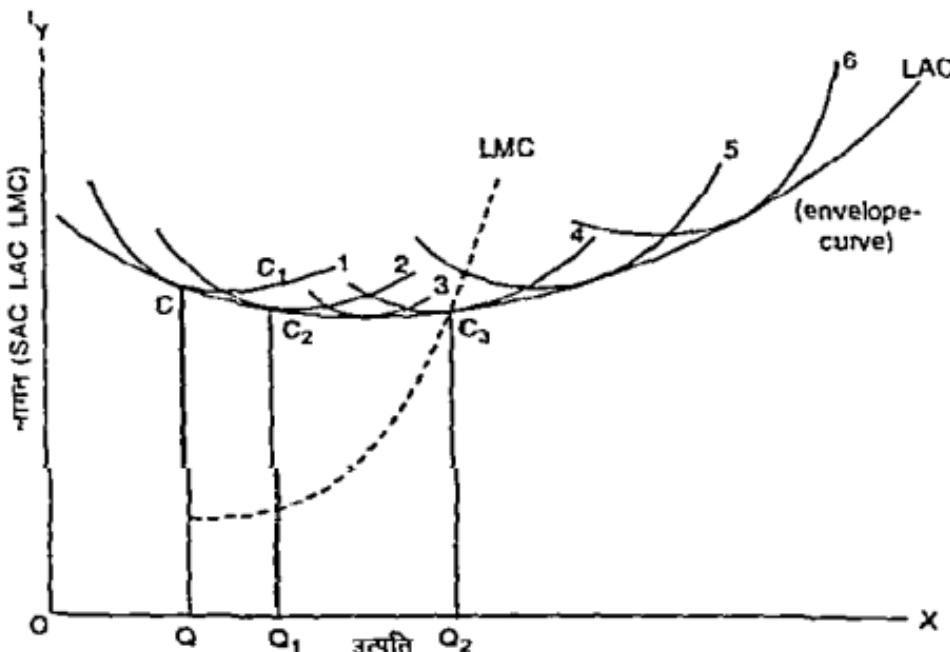
चित्र 7-दीर्घकालीन व अल्पकालीन औसत लागतों (LAC व विभिन्न SACs) का सम्बन्ध

चित्र 7 में C_3 बिन्दु पर SAC_4 सयन्त्र की न्यूनतम औसत लागत आती है, और Q_2 उत्पत्ति की मात्रा का उत्पादन इसी पर किया जाता है। सयन्त्र के सभी आकारों में से यह अनुकूलतम आकार (optimum size) का होता है, क्योंकि यह सबसे ज्यादा कार्यकुशल आकार को सूचित करता है और यह LAC वक्र के न्यूनतम बिन्दु को भी स्पर्श करता है। इसे अनुकूलतम फर्म (optimum firm) भी कहते हैं। **इस प्रकार सयन्त्र के अनुकूलतम आकार अथवा अनुकूलतम फर्म के लिए न्यूनतम औसत लागत की राशि दीर्घकालीन औसत लागत वक्र (LAC) की न्यूनतम लागत के बराबर होती है।**

सयन्त्र के अनुकूलतम आकार की यह विशेषता होती है कि यह इतना बडा होता है कि पैमाने की किफायतें (economies) तो प्राप्त कर लेता है, लेकिन यह इतना बडा नही होता कि पैमाने की अमितव्ययिताएँ या गैर किफायतें (diseconomies) प्राप्त करने लग जाए।

यह आवश्यक नहीं कि एक फर्म दीर्घकाल में सयन्त्र के अनुकूलतम आकार का ही निर्माण करे। पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि सयन्त्र के आकार का चुनाव उत्पत्ति की मात्रा पर निर्भर करेगा, जैसा कि पहले बतलाया गया, Q मात्रा के लिए SAC_1 सयन्त्र का चुनाव सर्वोत्तम रहेगा, Q_1 मात्रा के लिए SAC_2 सयन्त्र का, तथा Q_2 मात्रा के लिए SAC_4 (सयन्त्र के अनुकूलतम आकार) का निर्माण किया जाना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पैमाने की किफायतों के प्रभाव से LAC वक्र नीचे की ओर आता है (जैसे श्रम विभाजन व बडी मशीनों के उपयोग की सुविधा, आदि से) और पैमाने की अमितव्ययिताओं के प्रभाव से यह ऊपर की ओर आता है (जैसे एक सीमा के बाद प्रबन्ध व समन्वय की कठिनाई, निर्णय लेने में विलम्ब, आदि के कारण)।

दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र (LMC)—चित्र 7 में LMC वक्र भी दिखलाया गया है। इसका LAC से वही सम्बन्ध होता है जो SMC का SAC से होता है। जब LMC की मात्रा LAC की मात्रा से अधिक होती है तो यह LAC को ऊपर की ओर खींचती है, जब यह इससे नीचे होती है तो यह LAC को नीचे की ओर खींचती है। LMC वक्र LAC वक्र को इसके न्यूनतम बिन्दु पर काटता है।

निष्कर्ष—ऊपर हमने फर्म के अल्पकलीन लागत वक्रों व दीर्घकालीन लागत वक्रों का विवेचन किया है। अल्पकालीन लागत वक्रों में हमने पहले TFC, TVC व TC (अथवा STC) का वर्णन किया है और बाद में औसत लागतों जैसे AFC, AVC व SAC का उल्लेख किया है और बाद में SMC से इनका सम्बन्ध बतलाया है। अन्त में, दीर्घकालीन औसत लागत वक्र (LAC) के निर्माण की विधि को स्पष्ट करके इसका LMC से सम्बन्ध दर्शाया गया है। इनकी आकृति मूलत SAC व SMC जैसी ही होती है। जब औसत लागत घटती है तो सीमान्त लागत उससे नीचे रहती है सीमान्त लागत औसत लागत को उसके न्यूनतम बिन्दु पर काटते हुए आगे निकल जाती है एव

जब औसत लागत बढ़ती है तो सीमान्त लागत उससे ऊपर रहती है। ऐसा अल्पकाल व दीर्घकाल दोनों दशाओं में होता है।

लागत वक्रों के इस ज्ञान का उपयोग आगे चलकर फर्म के उत्पादन की मात्रा के निर्धारण में व्यापक रूप से किया जाएगा।

लागतों के अनुभवाश्रित प्रमाण (Empirical Evidence on costs)

1940 के दशक के प्रारम्भ में अल्पकालीन लागतों के कई सांख्यिकीय अध्ययन प्रकाशित किये गये हैं। जॉन जोन्स्टन ने 1960 में अपनी पुस्तक **Statistical Cost Analysis** नामक पुस्तक में लागतों के परिणाम प्रकाशित किये हैं। जोल डीन ने बतलाया है कि औसत लागत में धीमी गति से गिरावट आती है और इसमें उत्पत्ति के बढ़ने के साथ बढ़ने की कोई प्रवृत्ति नहीं दिखायी देती।

अनुभवाश्रित प्रमाण यह बतलाता है कि फर्म ऐसे संयन्त्रों का निर्माण करती है जिनमें रिजर्व क्षमता (*reserve capacities*) पायी जाती है जिससे उस संयन्त्र में लचीलापन होता है जिसकी वजह से वह फर्म अल्पकाल में लागत बढ़ाये बिना उत्पत्ति बढ़ाने में समर्थ हो जाती है।

रिजर्व क्षमता की वजह से फर्म माँग के मौसमी व चक्रीय उतार चढ़ावों का आसानी से सामना कर सकती है। आज के युग में रिजर्व क्षमता का संयन्त्र लगाना एक तकनीकी आवश्यकता बन गयी है। ऐसी स्थिति में औसत स्थिर लागत (AFC) निरन्तर घटती जाती है, और अल्पकाल में औसत परिवर्ती लागत (AVC) व सीमान्त लागत (MC) निम्न चित्र के अनुसार पाये जा सकते हैं।
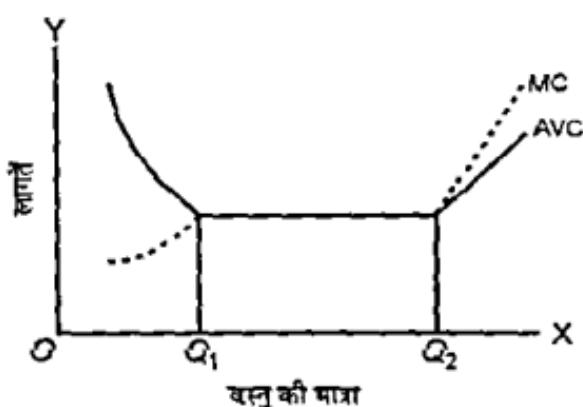
चित्र 8—(लागतों के आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार)

स्पष्टीकरण—चित्र 8 में औसत परिवर्ती लागत शुरू में घटती है और बाद में Q_1 से Q_2 उत्पत्ति की मात्रा तक समान रहती है (रिजर्व क्षमता का उपयोग करने की वजह से) और Q_2 के बाद मशीनरी की टूट फूट, ओवरटाइम भुगतानों, श्रमिकों की नीची उत्पादकता के कारण यह बढ़ती है। जब AVC गिरती है तो MC इससे नीचे रहती

है, और बाद में Q_1Q_2 दूरी तक यह AVC के समान रहती है, और Q_2 के बाद MC > AVC हो जाती है।

औसत लागत = AFC + AVC होती है। आधुनिक अध्ययनों के अनुसार इनके व MC के निम्न प्रकार के रूप पाये जाते हैं।
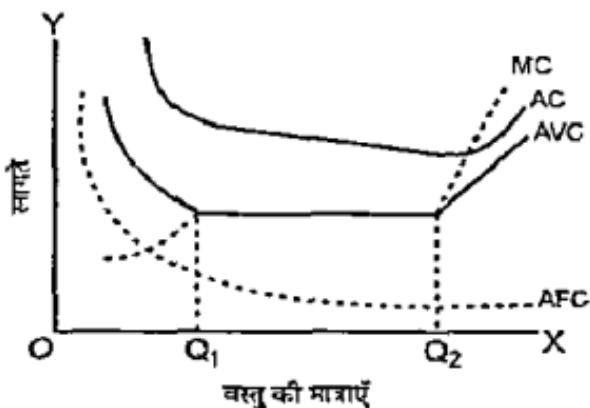
चित्र 9 —(AC, AFC, AVC व MC) (अल्पकाल में)

यहाँ भी Q_1 से Q_2 तक AVC = MC रहती है। Q_1 से पहले MC < AVC तथा Q_2 के बाद MC > AVC होती है। Q_2 बिन्दु पर सयन्त्र की रिजर्व क्षमता पर पूरा उपयोग हो जाता है।

दीर्घकालीन लागतो की स्थिति

अनुभवाश्रित प्रमाण से पता चलता है कि दीर्घकालीन लागत वक्र (LAC) उत्पादन के बड़े पैमाने पर भी नही बढता है, क्योंकि फर्म बड़े पैमाने की तकनीकी किफायतो का बराबर उपयोग करती जाती है। इसलिए LAC वक्र L-आकृति का पाया जाता है न कि U-आकृति का। यह निम्न चित्र पर दर्शाया गया है
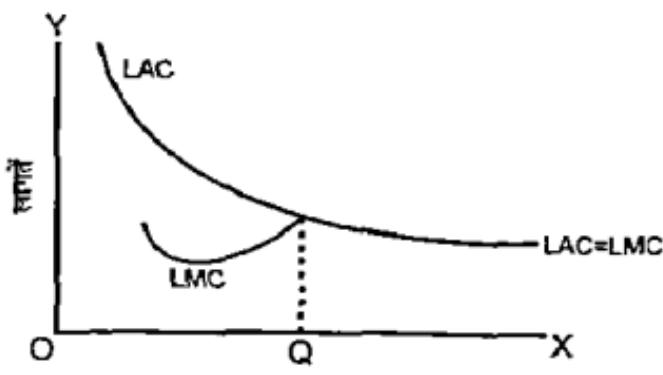
चित्र 10— (LAC व LMC)

चित्र 10 में LAC लगातार गिरती जाती है और Q बिन्दु पर पैमाने की सारी किफायतें प्राप्त कर ली गयी हैं। यहाँ तक LMC वक्र LAC वक्र से नीचे रहता है। Q से परे उत्पादन के पैमाने पर LMC = LAC हो जाती है।

स्टोनियर व हेग का मत है कि दीर्घकालीन औसत लागत वक्र U-आकृति की अपेक्षा L आकृति के केवल टक्नोलोजिकल परिवर्तन से ही नहीं होते हैं, बल्कि ये 'सीखने की प्रक्रिया' (learning process) के कारण भी होते हैं, क्योंकि एक ही वस्तु का निर्माण बारम्बार करने से प्रति इकाई लागत कार्यकुशलता के बढने से भी कम हो सकती है।[1] साराश के रूप में हम कह सकते हैं कि दी हुई टेक्नोलोजी की दशा में LAC की आकृति U-जैसी होती है, लेकिन तीव्र टेक्नोलोजिकल प्रगति के फलस्वरूप यह L-आकृति की हो जाती है।

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 अवसर लागत कहते हैं—

(अ) उत्पादक के समक्ष उत्पादन के कितने अवसर हैं?

(ब) एक साधन अपने सर्वश्रेष्ठ वैकल्पिक उपयोग में क्या प्राप्त कर सकता है?

(स) एक उत्पादन के साधन की न्यूनतम लागत होती है

(द) इनमें से कोई नहीं (ब)

2 औसत लागत व सीमान्त लागत का सम्बन्ध बताइए—

(अ) जब औसत लागत घटती है तो सीमान्त लागत भी घटती है

(ब) जब औसत लागत घटती है तो सीमान्त लागत उससे नीचे बनी रहती है

(स) जब औसत लागत बढती है तो सीमान्त लागत भी बढती है

(द) सभी कथन सही (ब)

3 निम्न में से कौन सा वक्र आयताकार हाइपरबोला होता है?

(अ) TFC (ब) AFC

(स) AVC (द) AC (ब)

4 AC किसके बराबर होती है?

(अ) AFC + AVC (ब) $\frac{TC}{Q}$

(स) $\frac{TFC+TVC}{Q}$ (द) सभी के (द)

5 यदि TFC = 100 रु हो तो शून्य उत्पत्ति पर AFC कितनी होगी?

उत्तर— $\frac{100}{0} = \infty$ (अनत) होगी

---

1 Stonier & Hague A Text book of EconomicTheory, Fifth ed ELBS ed., 1980 p 141

अन्य प्रश्न

1 अल्पकालीन लागत वक्रों की प्रकृति को समझाइए। अल्पकालीन औसत लागत (AC) और सीमान्त लागत (MC) वक्रों के बीच सम्बन्ध बताइए। रेखाचित्रों का प्रयोग कीजिए।

2 स्थिर लागतों और परिवर्तनशील लागतों के अन्तर को स्पष्ट कीजिए और कीमत निर्धारण में इनके महत्त्व की विवेचना कीजिए।

3 (अ) निम्न तालिका को पूर्ण कीजिए—

उत्पादन इकाइयाँ (प्रति सप्ताह) (1)	कुल स्थिर लागत (रु. में) (2)	कुल परिवर्तनशील लागत (रु. में) (3)	अल्पकालीन कुल लागत (रु. में) (4)	अल्पकालीन सीमान्त लागत (रु. में) (5)	औसत स्थिर लागत (रु. में) (6)	औसत परिवर्तनशील लागत (रु. में) (7)	अल्पकालीन प्रति इकाई औसत लागत (रु. में) (8)
1	100	30					
2	100	50					
3	100	65					
4	100	77					
5	100	97					
6	100	132					
7	100	182					
8	100	247					
9	100	332					
10	100	442					

(ब) एक काल्पनिक तालिका (तालिका बनाने की आवश्यकता नहीं) के आधार पर रेखाचित्र बनाते हुए प्रति इकाई औसत लागत, औसत स्थिर लागत, औसत परिवर्तनशील लागत एवं सीमान्त लागत का सम्बन्ध बताइए। आपको केवल रेखाचित्र बनाना है।

[उत्तर-संकेत कॉलम (6) में औसत स्थिर लागत निकालने के लिए कुल स्थिर लागत (कॉलम 2 में) उत्पादन की इकाइयों (कॉलम 1) का भाग दें। कॉलम (7) के लिए कॉलम (3) में कॉलम (1) का भाग दें। कॉलम (8) के लिए कॉलम 6 व 7 को जोड़ें। कॉलम (4) के

लिए कॉलम (2) व (3) को जोड़ें। कॉलम (5) को कॉलम (4) से बनाएँ।]

4. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—
   (i) दीर्घकालीन सीमान्त लागत एवं दीर्घकालीन औसत लागत का सम्बन्ध।
   (ii) अल्पकालीन लागतें (Raj. II Yr 2002)
   (iii) LAC (दीर्घकालीन औसत वक्र) एक आच्छादन वक्र (envelope curve) है।
   (iv) अल्पकालीन लागत-वक्र व दीर्घकालीन लागत-वक्र
   (v) स्थिर एवं परिवर्तनशील लागतें।

5. निम्न तालिका पूर्ण कीजिए—

उत्पादन	कुल स्थिर लागत (रु. में)	कुल परिवर्तनशील लागत (रु. में)	कुल लागत (रु. में)	सीमान्त लागत (रु. में)	औसत स्थिर लागत (रु. में)	औसत परिवर्तनशील लागत (रु. में)	औसत कुल लागत (रु. में)
1	60	30					
2	60	40					
3	60	45					
4	60	55					
5	60	75					
6	60	120					

[उत्तर : कुल लागत (रु. में) : 90, 100, 105, 115, 135, 190
सीमान्त लागत (रु. में) : –, 10, 5, 10, 20, 25
औसत स्थिर लागत (रु. में) : 60, 30, 20, 15, 12, 10
औसत परिवर्तनशील लागत (रु. में) : 30, 20, 15, $13\frac{3}{4}$, 15, 20
औसत कुल लागत (रु. में) : 90, 50, 35, $28\frac{3}{4}$, 27, 30]

6. निम्न अनुसूची में रिक्त स्थानों को भरिए और अग्रांकित प्रश्नों के उत्तर दीजिए—
   (अ) उत्पत्ति की किस मात्रा पर औसत स्थिर लागत (AFC) व औसत परिवर्तनशील लागत (AVC) बराबर होंगी?
   (ब) औसत लागत किस उत्पत्ति की मात्रा पर न्यूनतम होगी?

(स) औसत परिवर्तनशील लागत उत्पत्ति की मात्रा पर न्यूनतम होगी?

उत्पत्ति	FC	AFC	TC	AC	AVC
1	6		8		
2					1 0
3				2 8	
4			8.8		
5					1.3
6				3 4	
7			35 7		
8					7 15

हल करने पर अनुसूची—

उत्पत्ति	FC	AFC	TC	AC	AVC
1	6	6	8	8	2
2	6	3	8	4	1 0
3	6	2	8 4	2 8	0 8
4	6	1.5	8.8	2.2	0 7
5	6	1.2	12.5	2.5	1.3
6	6	1 0	20 4	3 4	2 4
7	6	$\frac{6}{7}$=0 85	35 7	5 1	$4\frac{17}{70}$=4.24
8	6	$\frac{3}{4}$=0 75	63.2	7 9	7 15

[उत्तर—(अ) लगभग 5 इकाइयों पर AFC = AVC होगी,

(ब) 4 इकाइयों पर AC न्यूनतम होगी,

(स) 4 इकाई पर AVC भी न्यूनतम होगी।

अन्य संकेत—अनुसूची में स्थानों को भरने के लिए FC व AFC कॉलम तो बहुत आसान हैं। फिर प्रत्येक पंक्ति में दी हुई सूचना का उपयोग करते हुए आगे बढ़िए और

TC = AC × उत्पत्ति की मात्रा,

TV = AVC × उत्पत्ति की मात्रा

AC = AFC + AVC, तथा

$$AC = \frac{TC}{\text{उत्पत्ति की मात्रा}}$$

आदि सम्बन्धों का प्रयोग करते जाएँ।]

7 निम्न सारणी में औसत एवं सीमान्त लागत मालूम कीजिए। दिए हुए ग्राफ-पेपर पर औसत एवं सीमान्त लागत वक्र बनाइए। (रुपयों में)

कुल उत्पादन की इकाइयाँ	कुल लागत	औसत लागत	सीमान्त लागत
1	50	50	50
2	96	48	46
3	140		
4	171		
5	198		
6	220		
7	234		
8	256		
9	290		
10	354		

[उत्तर : औसत लागत : 50, 48, $46\frac{2}{3}$, $42\frac{3}{4}$, $39\frac{3}{5}$, $36\frac{2}{3}$, $33\frac{3}{7}$, 32, $32\frac{2}{9}$ व $35\frac{2}{5}$ सीमान्त लागत 50, 46, 44, 32, 17, 22, 14, 22, 34 व 64 इन्हें ग्राफ-पेपर पर अंकित करने के लिए X-अक्ष पर उत्पादन की इकाइयाँ तथा Y-अक्ष पर AC व MC दिखाएँ।

8. (अ) एक फर्म के उत्पादन की औसत और सीमान्त लागतों के बीच अन्तर स्पष्ट कीजिए।

   (ब) अवसर-लागत की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

9 औसत लागत तथा सीमान्त लागत के मध्य सम्बन्धों को स्पष्ट कीजिए। क्या सीमान्त लागत बढ़ेगी जब औसत लागत गिर रही हो?

   [संकेत : जब औसत लागत घटती है तब सीमान्त लागत उससे नीचे रहती है, सीमान्त लागत औसत लागत को उसके न्यूनतम बिन्दु पर काटती है एवं जब औसत लागत बढ़ती है तो सीमान्त लागत उससे ऊपर रहती है। जब औसत लागत गिर रही हो, तब कुछ दूरी तक सीमान्त लागत बढ़ सकती है, लेकिन रहेगी यह औसत लागत से नीचे ही।]

10 विभिन्न अल्पकालीन और दीर्घकालीन लागत वक्रों के ढालों का सम्पूर्ण स्पष्टीकरण प्रस्तुत कीजिये। (MDSU, Ajmer IIyr. 2001)

17

फर्म तथा उद्योग का सन्तुलन

(Equilibrium of the Firm and Industry)

इस अध्याय में हम फर्म के सन्तुलन एव उद्योग के सन्तुलन का विवेचन करेंगे। (एक उद्योग में प्राय कई फर्में होती हैं, हालांकि एकाधिकार की दशा में फर्म व उद्योग का अन्तर नहीं रहता। एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में वस्तु विभेद के कारण 'उद्योग' की जगह 'समूह' (group) की चर्चा की जाती है। इस प्रकार उद्योग की अपेक्षा फर्म की अवधारणा अधिक स्पष्ट होती है।

फर्म के सन्तुलन या साम्य का अर्थ

एक फर्म उस समय सन्तुलन में मानी जाती है जबकि उसमें अपनी उत्पत्ति को बढाने या घटाने की प्रवृत्ति नहीं रहती। यहाँ पर एक फर्म के उद्देश्य (objective of the firm) का प्रश्न सामने आता है। प्राय एक फर्म का उद्देश्य अथवा मौद्रिक लाभ अधिकतम करना होता है। अत एक फर्म उस समय सन्तुलन में मानी जाती है जब वह अपना लाभ अधिकतम कर लेती है। इस बिन्दु से जरा भी इधर उधर जाने पर उसका लाभ अधिकतम नहीं रह पाता है, अर्थात् कुल लाभ कम हो जाता है। लेकिन जब फर्म के उद्देश्य बदल जाते हैं तो सन्तुलन की स्थिति भी बदल जाती है, जैसे एक फर्म का उद्देश्य बिक्री को अधिकतम करना हो सकता है, अथवा उत्पत्ति को अधिकतम करना हो सकता है, अथवा विकास की दर को तेज करना हो सकता है। ऐसी स्थिति में फर्म के उद्देश्य के अनुकूल ही उसके सन्तुलन की चर्चा करनी होती है। प्रारम्भिक अध्ययन में फर्म का उद्देश्य लाभ अधिकतम करना ही माना जाता है। अत हम भी इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए नीचे एक फर्म के सन्तुलन की चर्चा करेंगे।

एक फर्म के सन्तुलन या साम्य की मान्यताएँ

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है कि हम यह मानकर चलते हैं कि जिस प्रकार एक उपभोक्ता का व्यवहार विवेकपूर्ण (rational) होता है, वह अधिकतम सन्तोष प्राप्त करने का प्रयास करता है, उसी प्रकार एक फर्म का व्यवहार भी विवेकपूर्ण होता है और वह अपने लाभ को अधिकतम करने का प्रयास करती है। एक फर्म के लिए

लाभ अधिकतमकरण (*profit maximisation*) का उद्देश्य उचित माना जा सकता है। अत फर्म उस समय सन्तुलन में मानी जाती है जब वह अपना लाभ अधिकतम करने में समर्थ होती है। इसके लिए उसे कम से कम लागत पर अपना माल उत्पन्न करना पड़ता है, और ऐसा उत्पादन की दी हुई दशाओं में किया जाता है।

अध्ययन की सुविधा के लिए हम यह भी कल्पना कर सकते हैं कि एक फर्म एक ही वस्तु का उत्पादन करती है तथा उत्पादन के साधनों की कीमतें एक फर्म के लिए दी हुई होती हैं। वह दी हुई कीमतों पर अपनी आवश्यकता के अनुसार चाहे जितने उत्पादन के साधन प्राप्त कर सकती है, अर्थात् उसके लिए साधनों की पूर्ति पूर्णतया लोचदार मानी जाती है। साथ में हम यह भी मान लेते हैं कि उत्पादन के साधनों की कार्यकुशलता भी एक सी होती है। एक श्रमिक दूसरे श्रमिक से ज्यादा या कम कार्यकुशल नहीं होता। इस प्रकार एक फर्म के सन्तुलन के पीछे निम्न मान्यताएँ स्वीकार की जाती हैं—

(1) लाभ अधिकतमकरण का उद्देश्य,

(2) लागत न्यूनतम करना,

(3) एक वस्तु का उत्पादन,

(4) साधनों की कीमतों का अपरिवर्तित रहना, तथा

(5) साधनों की कार्यकुशलता का एक-सा होना।

लाभ की मात्रा कुल आय (total revenue) व कुल लागत (total cost) का अन्तर होती है। हम पहले कुल लागत पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाल चुके हैं। अत यहाँ कुल आय,* औसत आय व सीमान्त आय का चित्र द्वारा स्पष्टीकरण किया जाएगा। फिर लागत-वक्रों की सहायता से एक फर्म के सन्तुलन की शर्तें स्पष्ट की जायेंगी।

फर्म के आय-वक्र (Revenue Curves of Firms)

(1) कुल आय (Total Revenue)—एक फर्म अपने माल की विभिन्न इकाइयों को बेचकर जो कुल आय प्राप्त कर सकती है उसे कुल आय (TR) कहते हैं। जैसे आगे की सारणी में एक इकाई पर कुल आय 20 रुपए होती है, दो इकाइयों पर यह 39 रुपए और तीन इकाइयों पर 57 रुपए होती है, आदि, आदि।

(2) औसत आय (Average Revenue)—कुल आय में वस्तु की इकाइयों का भाग देने से औसत आय (AR) प्राप्त होती है। औसत आय को कीमत भी कहते हैं। एक फर्म का औसत आय वक्र विभिन्न कीमतों पर फर्म के द्वारा बेची जा सकने वाली विभिन्न मात्राओं को दर्शाता है। औसत आय और औसत लागत का अन्तर प्रति इकाई लाभ (कीमत के औसत लागत से अधिक होने पर) व्यक्त करता है।

* कुछ लेखक 'आय' के लिए 'आगम' शब्द भी प्रयुक्त करते हैं।

सारणी 1—कुल आय, औसत आय और सीमान्त आय

(रुपयों में)

वस्तु की मात्राएँ	कुल आय (TR)	औसत आय (AR) अथवा कीमत (P)	सीमान्त आय (MR)
1	20	20.00	20
2	39	19.50	19
3	57	19.00	18
4	74	18.50	17
5	90	18.00	16
6	105	17.50	15
7	119	17.00	14
8	132	16.50	13
9	144	16.00	12
10	155	15.50	11

(3) सीमान्त आय या आगम (Marginal Revenue)—वस्तु की एक इकाई और बेचने से कुल आय में जो वृद्धि होती है, उसे सीमान्त आय (MR) कहते हैं। सारणी 1 में एक इकाई से कुल आय, औसत आय व सीमान्त आय सभी 20 रुपए होती है। दो इकाइयों की कुल आय 39 रुपये होती है, जिससे दूसरी इकाई की सीमान्त आय (39 − 20) = 19 रुपय होती है। सीमान्त आय की अवधारणा का कीमत सिद्धान्त में महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। हम आगे चलकर बतलायेंगे कि एक फर्म का सन्तुलन उस बिन्दु पर होता है जहाँ सीमान्त आय (MR) सीमान्त आगम (MC) के बराबर होती है। सीमान्त आय की अवधारणा सीमान्त उपयोगिता व सीमान्त लागत की भाँति ही होती है। सीमान्त विश्लेषण में ये सभी अवधारणाएँ अपना विशेष स्थान रखती हैं।

इस सारणी के आँकड़ों को उपर्युक्त चित्र 1 में दर्शाया गया है। इस चित्र में तीनों आय वक्र दिखलाये गए हैं। सीमान्त आय औसत आय के नीचे होती है। हम माँग की लोच के अध्याय में औसत आय (कीमत), सीमान्त आय और लोच के परस्पर सम्बन्ध को स्पष्ट कर चुके हैं। हम ज्यामितीय विधि का उपयोग करके TR वक्र से AR व MR वक्र निकाल सकते हैं। इसे चित्र द्वारा आगे स्पष्ट किया जाता है।

जिस प्रकार कुल लागत वक्र (TC) से ज्यामितीय विधि द्वारा AC और MC निकाली जा सकती है, उसी प्रकार कुल आय वक्र (TR) से AR और MR निकाली जा सकती है। यह अग्र चित्र से स्पष्ट हो जाएगा TR वक्र के P बिन्दु पर औसत
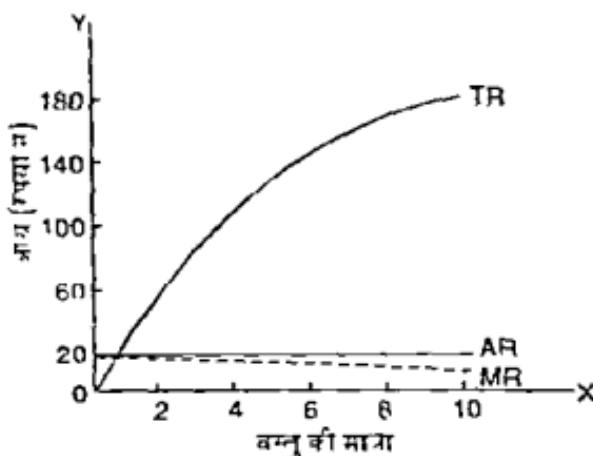
चित्र 1-कुल आय, औसत आय और सीमान्त आय

आय (AR) = PR/OR = OP का ढाल (P को मूलबिन्दु से जोड़ने से प्राप्त रेखा का ढाल) एव इसी बिन्दु पर सीमान्त आय (MR) = P बिन्दु पर स्पर्श रेखा MN के ढाल के, जो PR/MR के बराबर होती है। इसी प्रकार अन्य बिन्दुओं पर AR व MR निकाले जा सकते हैं। स्मरण रहे कि यहाँ MN का ढाल निकालने के लिए OX-अक्ष को बायीं तरफ बढ़ाना पड़ा है, ताकि यह MN स्पर्श रेखा (tangent) को काट सके।
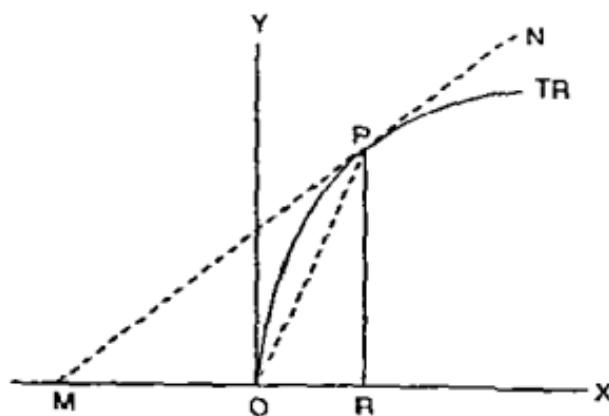
चित्र 2-TR से AR व MR निकालने की विधि

फर्म का सन्तुलन (Equilibrium of the Firm)

फर्म के लागत व आय वक्रों का अध्ययन करने के बाद अब हम फर्म के सन्तुलन पर विचार कर सकते हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि फर्म का सन्तुलन

उस बिन्दु पर होता है जहाँ फर्म को अधिकतम लाभ प्राप्त होता है। अधिकतम लाभ का पता निम्न विधियों से लगाया जा सकता है—

(1) कुल आय व कुल लागत-वक्रों (TR व TC) का उपयोग करके—कुल आय व कुल लागत वक्रों का अन्तर जहाँ सर्वाधिक होता है, वहाँ फर्म के लिए अधिकतम लाभ अथवा फर्म के सन्तुलन का बिन्दु होता है।

आगे सारणी में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा या एकाधिकार में एक फर्म के लिए कुल आय, अल्पकालीन कुल लागत व कुल लाभ की मात्राएँ दर्शायी गयी हैं, जिन्हें आगे चित्र 2 पर दिखाया गया है—

सारणी 2-कुल आय, अल्पकालीन कुल लागत व कुल लाभ

(रुपयों में)

कीमत (रु.)	वस्तु की मात्रा (X)	कुल आय (TR)	अल्पकालीन कुल लागत (STC)	कुल लाभ (Total profit) = (3) − (4)
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)
9	0	0	5	(-) 5
8	1	8	7	+1
7	2	14	8	+6
5.5	3.5	19.25	10	+9.25
5	4	20	12	+8
4	5	20	16	+4
3	6	18	21	(-) 3
2	7	14	27	(-) 13

स्पष्टीकरण—चित्र 2 (अ) में OX-अक्ष पर वस्तु की मात्रा व OY-अक्ष पर कुल आय व कुल लागत (TR and TC) माने गये हैं। इसके लिए सारणी 2 के आँकड़ों का उपयोग किया गया है। वस्तु की 3.5 इकाई पर लाभ की मात्रा 9.25 रु होती है, जो AB दूरी से दिखायी गयी है। चित्र के ऊपरी भाग में A पर स्पर्श रेखा MN, B पर स्पर्श-रेखा RS के समानान्तर (parallel) होती है। अतः यह दोनों वक्रों की सर्वाधिक दूरी को सूचित करती है। अन्य बिन्दुओं पर ऐसा नहीं होता है। फर्म का सन्तुलन 3.5 इकाई माल पर आता है। नीचे के भाग में चित्र 2 (आ) में कुल लाभ का वक्र दिखाया गया है। शून्य इकाई पर 5 रुपये घाटा दिखाया गया है और 3.5
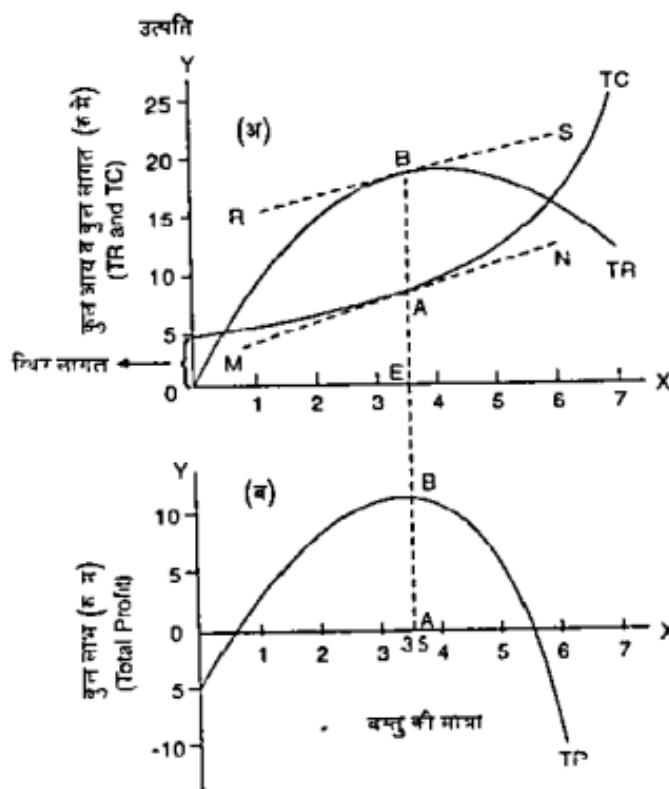
चित्र 2 (अ) TR व TC द्वारा फर्म का सन्तुलन,
(ब) कुल लाभ (TP) अधिकतम होने पर फर्म का सन्तुलन

इकाई पर कुल लाभ वक्र अपने सर्वोच्च बिन्दु पर आ जाता है। अत यही फर्म का सन्तुलन बिन्दु होता है। उसके बाद कुल लाभ वक्र घटता जाता है और 6 इकाई माल पर ऋणात्मक हो जाता है। इससे आगे यह अधिक ऋणात्मक हो जाता है।

फर्म के सन्तुलन को दर्शाने की यह विधि वैज्ञानिक नही मानी जाती क्योंकि इसमें चित्र को देखते ही सन्तुलन के बिन्दु का पता नही लग पाता है। दूसरी बात यह है कि इसमें प्रति इकाई कीमत का पता भी देखते ही नही चल पाता है। जैसे कुल आय BE में वस्तु की OE मात्रा का भाग देने से कीमत का ज्ञान हो जाता है (चित्र 2 (अ) में)।

उपर्युक्त कमी को दूर करने के लिए फर्म के सन्तुलन की दूसरी विधि का उपयोग किया जाता है।

(2) सीमान्त आय = सीमान्त लागत (MR = MC) की विधि का उपयोग करके अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए फर्म को उस बिन्दु तक उत्पादन करना चाहिए जहाँ MR 'C हो जाए। इस सम्बन्ध में हम चित्र 3 का उपयोग करते हैं।
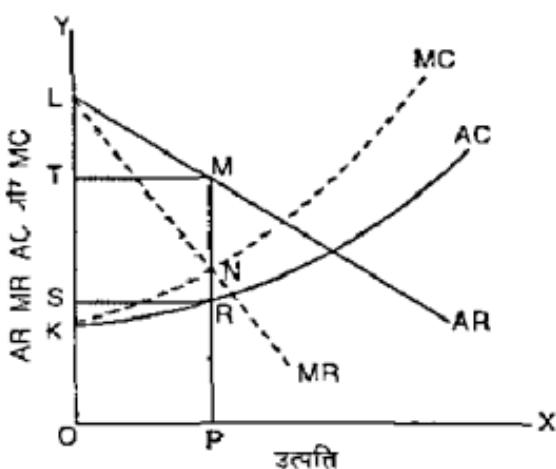
चित्र 3 फर्म का सन्तुलन MR = MC के माध्यम से

चित्र 3 में AR, MR, AC व MC वक्र खीचे गये हैं। MR वक्र MC वक्र को N बिन्दु पर काटता है। अत फर्म का सन्तुलन OP मात्रा पर होता है। यहाँ पर वस्तु की प्रति इकाई कीमत MP होती है और औसत लागत RP होती है। अत प्रति इकाई लाभ की मात्रा (MP − RP) = RM होती है। अत कुल लाभ की मात्रा RSTM होती है। यह लाभ की अधिकतम मात्रा होती है, क्योंकि OP से ज्यादा माल उत्पन्न करने में MC की मात्रा MR से अधिक हो जाती है, जिससे प्रत्येक अगली इकाई पर घाटा होता है। इसी प्रकार OP से कम माल उत्पन्न करने में MR की मात्रा MC की मात्रा से अधिक रहती है। अत OP बिन्दु तक माल उत्पन्न करते जाने पर फर्म को लाभ होता जाता है। इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि OP उत्पत्ति की मात्रा पर लाभ अधिकतम होता है। यही फर्म का सन्तुलन बिन्दु होता है।

लाभ को दर्शाने की दूसरी विधि—लाभ को प्रकट करने की एक विधि और होती है। सीमान्त आय वक्र, सीमान्त लागत वक्र और Y-अक्ष के बीच का क्षेत्र LNK रेखांकित भाग भी लाभ को ही सूचित करता है जो RSTM क्षेत्र के बराबर होता है। वास्तव में, LNK क्षेत्र उत्पत्ति की OP मात्रा पर कुल आय OPNL में से कुल लागत OPNK को घटाने से प्राप्त क्षेत्रफल होता है। अत यह भी अधिकतम लाभ को ही प्रकट करता है। इस प्रकार अधिकतम लाभ की मात्रा तीन प्रकार से व्यक्त की जा सकती है—

(1) लाभ = कुल आय − कुल लागत

(चित्र 2 (अ) व (आ) दोनों में AB मात्रा)

(2) लाभ = (औसत आय × उत्पत्ति) − (औसत लागत × उत्पत्ति)

(चित्र 3 में OPMT − OPRS = RSTM आयताकार)

(3) लाभ = Σ सीमान्त आय = Σ सीमान्त लागत[1]

(चित्र 3 में OPNL – OPNK = LNK क्षेत्र)

हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि फर्म के सन्तुलन को दर्शाने की MR = MC की विधि ही ज्यादा सुनिश्चित होती है, क्योंकि चित्र को देखते ही इसका पता चल जाता है। प्राय यह प्रश्न उठाया जाता है कि क्या व्यावहारिक जगत में व्यवसायी लोग सीमान्त लागत व सीमान्त आय को बराबर कर पाते हैं। इसका उत्तर 'नकारात्मक' ही दिया जाता है। इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उद्यमकर्त्ता अपने उत्पादन की मात्रा कुल लागत और कुल आय, अथवा औसत लागत व औसत आय के आधार पर निश्चित करते हैं। लेकिन इस विषय में मुख्य तर्क यह होता है कि यदि फर्म 'विवेकशील' होती है और अपने लाभ अधिकतम करना चाहती है तो उसे माल का उत्पादन उस बिन्दु तक करना चाहिए जहाँ सीमान्त आय सीमान्त लागत के बराबर हो जाए। अत फर्म के सन्तुलन को दर्शाने के कई तरीके होते हैं जिनमें से एक तरीका MR = MC का भी होता है, जो काफी सुविधाजनक तथा सुनिश्चित माना गया है। सन्तुलन की यह शर्त विश्लेषण का एक महत्त्वपूर्ण साधन मानी गयी है।

MR = MC की विधि मे दूसरी शर्त

सीमान्त आय = सीमान्त लागत के द्वारा सन्तुलन ज्ञात करने की दूसरी शर्त यह है कि सीमान्त लागत सन्तुलन के बिन्दु पर सीमान्त आय को नीचे से काटेगी (MC will cut MR at the point of equilibrium from below) यदि इस शर्त का पालन नहीं हुआ तो फर्म अपना सन्तुलन प्राप्त नही कर सकेगी। ध्यान रहे कि जब MC रेखा MR को काटती है तो यह बढती हुई हो सकती है (**जैसा कि चित्र 3 मे दर्शाया गया है, अथवा स्थिर रह सकती है, अथवा घट सकती है। फर्म के सन्तुलन के लिए केवल यह आवश्यक है कि MC रेखा MR को नीचे से काटे, तभी फर्म सन्तुलन मे मानी जाती है।**)

इस बात को चित्र 4 की सहायता से भी समझाया जा सकता है। यहाँ एक फर्म की अल्पकाल में पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा पर विचार किया जाता है।

स्पष्टीकरण—पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में AR = MR होती है। यहाँ MC वक्र MR को एक बार D बिन्दु पर, तथा बाद में C बिन्दु पर काटता है। D बिन्दु पर MR = MC की शर्त तो पूरी हो जाती है, लेकिन यह पर्याप्त नही होती है। D बिन्दु पर फर्म को अधिकतम लाभ नही मिलते। इसका कारण यह है कि OA उत्पत्ति से थोडा अधिक माल बनाने से सीमान्त आय सीमान्त लागत से अधिक होती है, जिससे फर्म का लाभ बढता है। ऐसा A से B तक होता रहता है। अत फर्म को OB माल उत्पन्न करने से अधिकतम लाभ प्राप्त होता है। OA की बजाय OB माल बनाने से फर्म का कुल लाभ DEC बढ जाता है। यदि फर्म OA बिन्दु पर ठहर

1 Σ ग्रीक 'सिगमा' है जिसका अर्थ है 'योग' (summation)
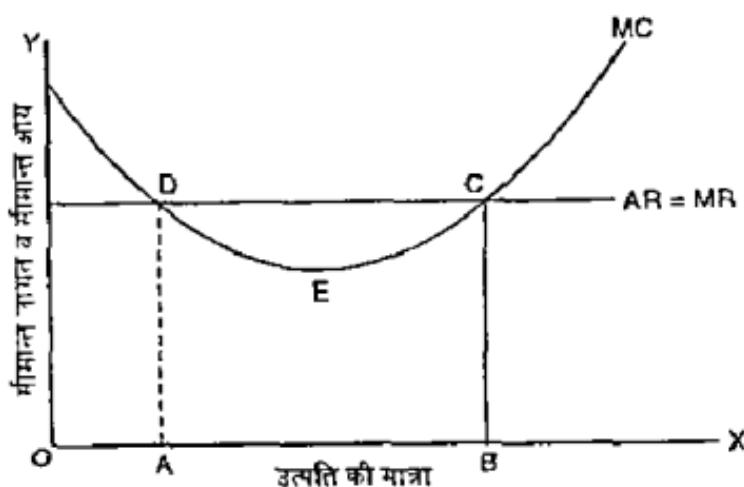
चित्र 4–सन्तुलन के बिन्दु पर MC वक्र MR को नीचे से ही काटे

जाती तो वह DEC लाभ से वंचित रह जाती। लेकिन OB उत्पत्ति पर MC वक्र MR को नीचे से काटता है। यहाँ सन्तुलन की दूसरी शर्त भी पूरी हो जाती है।

अत MR = MC एक आवश्यक शर्त (necessary condition) मानी जाती है, जबकि MC वक्र MR वक्र को नीचे से काटे तब यह पर्याप्त शर्त (sufficient *condition*) *मानी जाती है।*

यह अप्रांकित चित्र 5 व चित्र 6 में भी पूरी हो रही है, लेकिन चित्र 7 में पूरी नहीं हो रही है। अत चित्र 7 पर फर्म सन्तुलन में नहीं हो पाती है।

चित्र 5 व चित्र 6 में MC वक्र MR को नीचे से काटता है। अत दोनों में C बिन्दु पर OB उत्पत्ति की मात्रा सन्तुलन को सूचक होती है। B_1 उत्पत्ति की मात्रा पर MR राशि MC से अधिक होती है। अत इससे आगे उत्पादन बढाने से फर्म को लाभ होता है। B पर फर्म का सन्तुलन बिन्दु आ जाता है।

चित्र 7 में C बिन्दु सन्तुलन का सूचक नहीं है, क्योंकि इससे आगे उत्पादन करने से MR की मात्रा MC से अधिक होती है जिससे फर्म का लाभ बढता जाता है। अत फर्म OB पर नहीं ठहरेगी, बल्कि आगे बढना चाहेगी, जैसे B_2 जैसे बिन्दु पर *MR > MC की स्थिति पायी जाती है।*

दूसरी शर्त को हम यों भी लिख सकते हैं कि सन्तुलन की स्थिति में MC वक्र के ढाल का बीजगणितीय मूल्य (algebraic value) MR वक्र के ढाल के बीजगणितीय मूल्य से अधिक होना चाहिए। चित्र 5 में MC वक्र का ढाल शून्य है, तथा MR वक्र का ढाल ऋणात्मक (negative) है। अत शून्य मूल्य ऋणात्मक मूल्य से अधिक होने के कारण यह शर्त पूरी हो जाती है। चित्र 4 में सन्तुलन के बिन्दु पर MC वक्र का ढाल
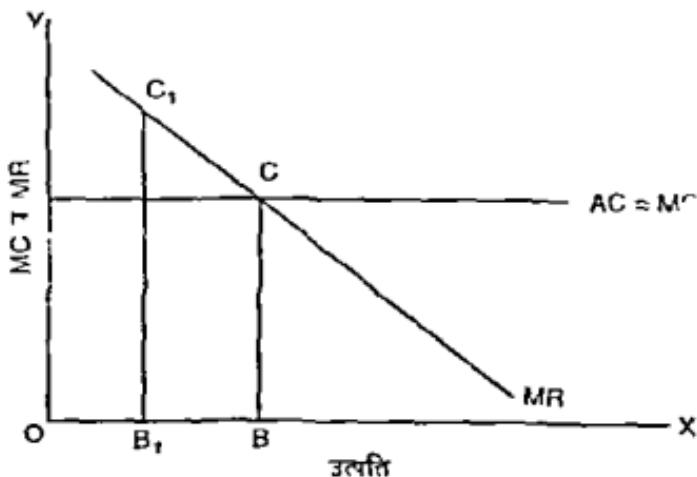
चित्र 5-MC स्थिर रहने पर फर्म का सन्तुलन

(slope) धनात्मक (positive) है तथा MR का ढाल शून्य है। अत यहाँ भी यह दूसरी शर्त पूरी हो जाती है। चित्र 6 में MR व MC दोनों के ढाल ऋणात्मक हैं, लेकिन MR का अधिक ऋणात्मक (जैसे-2) व MC का कम ऋणात्मक (–1/2) ढाल है। अत. बीजगणितीय मूल्य के रूप में यहाँ भी MC वक्र का ढाल MR वक्र के ढाल से अधिक है, क्योंकि –1/2 राशि –2 से बीजगणितीय रूप से अधिक होती है।
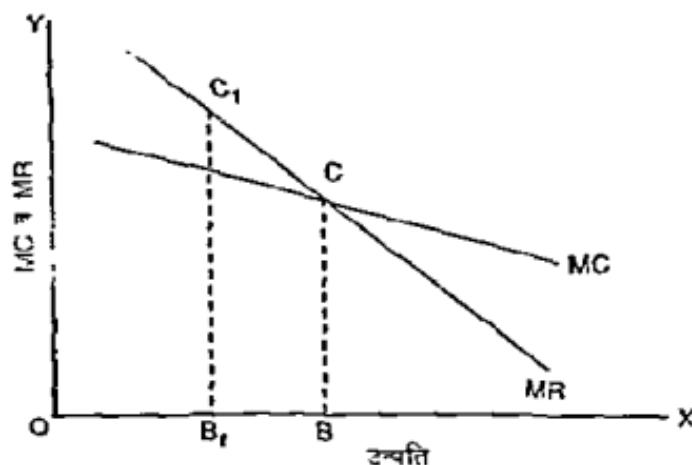
चित्र 6 MC के घटने पर फर्म का सन्तुलन

अत फर्म के सन्तुलन की निम्न दो शर्तें लागू होनी चाहिए—

(1) MR = MC, (2) MC वक्र MR वक्र को सन्तुलन के बिन्दु पर नीचे से काटे।

चित्र 7 फर्म सन्तुलन में नहीं
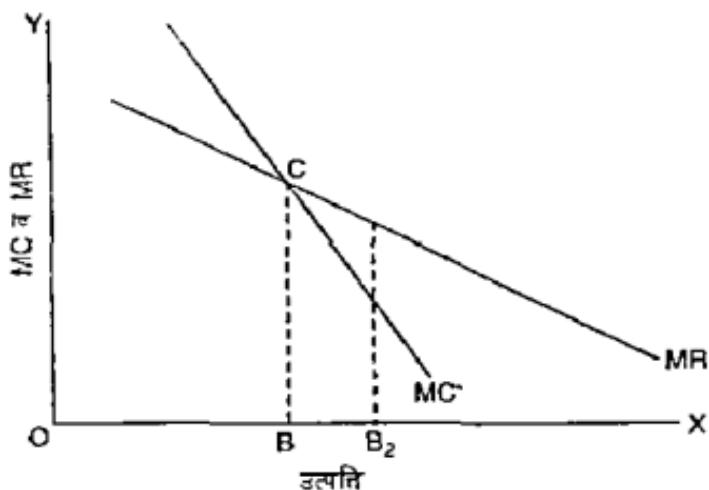
उद्योग का सन्तुलन (Equilibrium of the Industry)

फर्म के सन्तुलन की विस्तृत चर्चा करने के बाद अब हम उद्योग के सन्तुलन का विवेचन करते हैं। एक उद्योग एक सी वस्तु उत्पन्न करने वाली समस्त फर्मों का एक समूह होता है। उद्योग की चर्चा ज्यादातर पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में की जाती है। एकाधिकार में फर्म व उद्योग का भेद नहीं रहता। अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में प्राय वस्तु विभेद की दशा पायी जाती है, जिससे उद्योग को परिभाषित करना कठिन हो जाता है।

एक उद्योग उस स्थिति में सन्तुलन में होता है जब वस्तु की माँग उसकी पूर्ति के बराबर होती है। यहाँ हम पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में अल्पकाल व दीर्घकाल में उद्योग के सन्तुलन पर विचार करते हैं।

अल्पकाल में उद्योग का सन्तुलन अस्थायी किस्म का होता है। इसमें कुछ फर्मों को असामान्य लाभ हो सकते हैं, जिससे इस उद्योग में नयी फर्मों का प्रवेश होने लगता है। इसी प्रकार अल्पकाल में कुछ फर्मों को घाटा हो सकता है, जिससे उनमें उद्योग को छोड़ने की प्रवृत्ति पायी जाती है। अत फर्मों के आने-जाने से उद्योग में माल की पूर्ति में परिवर्तन आता रहता है।

लेकिन दीर्घकाल में सभी प्रकार के समायोजन (adjustments) पूरे हो जाते हैं जिससे फर्मों का आना-जाना बन्द हो जाता है और उद्योग में कायम रहने वाली फर्मों को केवल सामान्य लाभ (normal profit) ही मिल पाते हैं। अत दीर्घकाल में पूर्ण प्रतिस्पर्धा में उद्योग में स्थायी किस्म का सन्तुलन स्थापित हो जाता है। हम आगामी अध्यायों में विभिन्न बाजारों की परिस्थितियों में फर्म व उद्योग के सन्तुलनों का अध्ययन करेंगे जिससे इस सम्बन्ध में अधिक जानकारी हो सकेगी। एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा

में उद्योग के सन्तुलन की जगह 'समूह सन्तुलन' (Group-equilibrium) की चर्चा की जाती है। वहाँ विभिन्न फर्मों की वस्तुओं में भेद पाया जाता है। इनका विस्तृत विवेचन आगे के अध्यायों में किया गया है।

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. लाभ के लिए कौन सा सूत्र सही है ?
   (अ) कुल आय – कुल लागत
   (ब) (औसत आय या कीमत × वस्तु की मात्रा) – (औसत लागत × वस्तु की मात्रा)
   (स) Σ MR – Σ MC
   (द) सभी (द)
2. एक फर्म के सन्तुलन की आवश्यक शर्त व पर्याप्त शर्त लिखिए।
   उत्तर—
   (i) आवश्यक शर्त MR = MC
   (ii) पर्याप्त शर्त MC वक्र MR वक्रों के नीचे से अथवा बायीं ओर से क्षैतिज रेखा या घटती रेखा के रूप में काटे। (MC का ढाल MR के ढाल से अधिक हो) (बीजगणितीय रूप में)
3. TC व TR वक्रों की सहायता से फर्म का सन्तुलन कैसे निकाला जाता है?
   उत्तर—जब TR व TC वक्रों के बीच की दूरी अधिकतम हो, यह तब होती है जब TR के एक बिन्दु पर स्पर्श रेखा TC के एक बिन्दु पर स्पर्श रेखा के समानान्तर हो।
4. फर्म के सन्तुलन की कौन सी विधि ज्यादा उपयुक्त होती है?
   (अ) जहाँ TR – TC अधिकतम हो
   (ब) जहाँ MC = MR हो एव MC, MR को नीचे से काटे। (ब)

अन्य प्रश्न

1. फर्म और उद्योग की साम्यावस्था का अर्थ समझाइए। इस प्रकार की साम्यावस्थाएँ पूर्ण प्रतियोगिता में कब और किस प्रकार स्थापित होती हैं?
2. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—
   (i) पूर्ण प्रतियोगी बाजार में फर्म व उद्योग के साम्य की शर्तें
   (ii) अनुकूलतम फर्म
   (iii) सीमान्त आय = सीमान्त लागत की शर्त।

3 निम्न आकडों की सहायता से TR व TC विधि तथा MR व MC विधि लागू करके फर्म का सन्तुलन बिन्दु ज्ञात कीजिए, जहाँ फर्म अधिकतम लाभ प्राप्त करती है। आवश्यक रेखाचित्र भी दीजिए—

(रुपयों में)

मात्रा	कीमत	कुल लागत
0	100	72
1	90	87
2	80	100
3	70	110
4	60	125
5	50	150
6	40	185
7	30	230
8	20	285

[उत्तर—

(रुपयों मे)

मात्रा (x)	कीमत (AR)	कुल लागत (TC)	कुल आय (TR)= AR × x	सीमान्त आय (MR)	सीमान्त लागत (MC)	कुल लाभ (Total Profit) π = (TR−TC) (4) − (3)
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)	(7)
0	100	72	0			−72
1	90	87	→	90	15	
			90	80	14	3
2	80	100	→	70	13	
			160	60	11.5	60
3	70	110	→	50	10	
			210	40	12.5	100
4	60	125	→	30	15	115 = सन्तुलन की
			240	20	20→	स्थिति (MR=MC)

5	50	150	→	10	25	
			250	0	30	100
6	40	185	→	-10	35	
			240	-20	40	55
7	30	230	→	-30	35	
			210	-40	50	-20
8	20	285	→	-50	55	
			160			-125

निष्कर्ष—

(i) 4 इकाई पर कुल लाभ = 115 रु है जो सर्वाधिक है। अत TR, TC विधि के आधार पर फर्म का सन्तुलन 4 इकाई की उत्पत्ति पर होगा।

(ii) सेमुअल्सन व नोरढाउस ने MR व MC की गणना दो तरह से की है। सर्वप्रथम, प्रत्येक मात्रा पर TR या TC की राशि में से पिछली मात्रा पर TR या TC घटायी गयी है और प्राप्त शेष राशियाँ केन्द्र (centre) में रखी गयी हैं, जैसे इकाई 1 व इकाई 2 के बीच MR = (160 - 90) = 70 रु. की राशि इनके बीच में रखी गयी है। इसी प्रकार इकाई 2 व इकाई 3 के बीच (210 - 160) = 50 रु की राशि रखी गयी है। इसी तरह MC कॉलम में किया गया है। लेकिन ये अक वस्तु की किसी भी मात्रा के सामने नहीं आये हैं। अत वस्तु की मात्रा के सामने लाने के लिए दो-दो अकों का औसत लिया गया है। जैसे इकाई 1 के सामने MR = $\frac{90+70}{2}$ = 80 रु तथा MC = $\frac{15+13}{2}$ = 14 रु. आये हैं।

इनको गहरे अकों में दिखाया जा सकता है। इसी प्रकार आगे की इकाइयों के लिए भी औसत लेकर दिखाया गया है। औसत लेते जाने पर 4 इकाई पर MR व MC दोनों के 20 रु के बराबर होने से फर्म के सन्तुलन की दूसरी विधि से भी यही सन्तुलन की मात्रा प्रमाणित हो जाती है। अन्त में विद्यार्थी आवश्यक चित्र भी खींचें। अधिक स्पष्टीकरण के लिए देखिए Samuelson and Nordhaus, ECONOMICS, *16th edition, 1998, pp 161-167, विशेषतया पृष्ठ 162.*

4. विवेचना कीजिए—

(i) 'फर्म के साम्य' की मान्यताएँ एव शर्तें।

(ii) 'एक फर्म के साम्य' एव 'एक उद्योग के साम्य' में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

18

बाजार के विभिन्न रूप-पूर्ण व अपूर्ण बाजार

(Different Market Forms—Perfect and Imperfect Markets)

साधारण बोलचाल की भाषा में बाजार का अर्थ एक स्थान विशेष से लगाया जाता है जहाँ एक वस्तु के क्रेता व विक्रेता एकत्र होकर उस वस्तु का क्रय विक्रय करते हैं। लेकिन अर्थशास्त्री बाजार शब्द का थोडा भिन्न अर्थ लगाते हैं। उनके अनुसार, बाजार की परिभाषा में क्रेताओं व विक्रेताओं का एक स्थान पर उपस्थित होना आवश्यक नहीं होता। वे टेलीफोन व डाक-तार द्वारा परस्पर सम्पर्क बनाए रख सकते हैं, भाव तय कर सकते हैं एवं लेन देन कर सकते हैं। इसलिए बाजार के अस्तित्व के लिए क्रेताओं व विक्रेताओं में निरन्तर समीप का सम्पर्क होना ज्यादा आवश्यक होता है। स्टोनियर व हेग के अनुसार, संक्षेप में, वे (अर्थशास्त्री) इसे एक ऐसा संगठन मानते हैं जिसके माध्यम से एक वस्तु के क्रेता व विक्रेता एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में रखे जाते हैं।

इस प्रकार बाजार शब्द की परिभाषा में क्रेताओं व विक्रेताओं पर परस्पर सम्पर्क ज्यादा महत्त्वपूर्ण बतलाया गया है। सम्पर्क के स्थान पर हम 'प्रतिस्पर्धा' (competition) का उल्लेख भी कर सकते हैं, क्योंकि यह बाजार का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व होती है। यदि दिल्ली के ग्राहक मकान बनाने के लिए दिल्ली के आस पास के पत्थर व ईंट ही प्रयोग में लाते हैं तो वे जयपुर के ग्राहकों से प्रतिस्पर्धा नहीं करते जो अपने आस पास के पत्थर व ईंटें काम में लेते हैं। इसलिए बाजार शब्द में 'प्रतिस्पर्धा' का तत्त्व महत्त्वपूर्ण माना जाता है। यदि किसी वस्तु के लिए क्रेताओं व विक्रेताओं में विस्तृत क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा पायी जाती है तो उस वस्तु का बाजार विस्तृत माना जाएगा। बाजार का विस्तृत होना कई बातों पर निर्भर करता है, जैसे वस्तु की माँग व पूर्ति का विस्तृत होना, वस्तु का टिकाऊपन, आदि। परिवहन व संचार के साधनों के विकास ने भी बाजारों के विस्तार में सहायता पहुँचाई है। सोने का बाजार अन्तर्राष्ट्रीय माना जाता है। अमरीका के गेहूँ की माँग रूस, चीन, भारत तथा अन्य कई देशों में होने के कारण गेहूँ का बाजार अन्तर्राष्ट्रीय बन गया है। इसलिए आजकल बाजार का अर्थ किसी स्थान विशेष से नहीं लगाया जाता, जहाँ कोई व्यक्ति जाकर अपनी किसी आवश्यकता की

वस्तु खरीदता है बल्कि बाजार तो एक क्षेत्र होता है जिसमें क्रेता व विक्रेता परस्पर सम्पर्क करके लेन देन का कार्य सम्पन्न करते रहते हैं। लिप्से व क्रिस्टल के अनुसार, 'हम बाजार की परिभाषा एक क्षेत्र के रूप मे करते हे जहाँ क्रेता व विक्रेता एक निश्चित वस्तु के विनिमय का कार्य सम्पन्न करते हे। इसके लिए यह जरूरी है कि क्रेता व विक्रेता परस्पर सम्पर्क बनाए रखे तथा सम्पूर्ण बाजार में कोई सार्थक लेनदेन कर सके।'[1]

इस प्रकार लिप्से व क्रिस्टल की बाजार की परिभाषा में निम्न तत्त्व पाए जाते हैं—

(i) यह एक 'स्थान' न होकर एक क्षेत्र होता है।

(ii) इसमें एक सुनिश्चित व ठीक से परिभाषित वस्तु के विनिमय की बात की जाती है।

(iii) क्रेता व विक्रेता परस्पर सम्पर्क बनाए रखते हैं, तथा

(iv) सम्पूर्ण बाजार में वे सार्थक लेन देन करते हैं।

अत विभिन्न वस्तुओं के अलग अलग बाजार होते हैं। इस अलगाव या पृथकता के लिए परिवहन की लागतें व प्रशुल्क (tariffs) आदि भी जिम्मेदार होते हैं। परिवहन की ऊँची लागतों के कारण प्राय एक वस्तु को दूसरे देश में भेजना कठिन हो जाता है। वहाँ लगे ऊँचे आयात शुल्कों व अन्य बन्धनों के कारण माल भेजने में बाधा उत्पन्न हो जाती है। इन सब कठिनाइयों के बावजूद विभिन्न वस्तुओं के बाजारों में परस्पर सम्बन्ध भी देखने को मिलता है। विभिन्न वस्तुएँ उपभोक्ताओं की आमदनी को अपनी तरफ खींचने के लिए प्रतिस्पर्धा करती हैं। परिवहन की लागतों व प्रशुल्क की बाधाओं के बावजूद वस्तुएँ अवसर मिलने पर एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजी जाती हैं। अत व्यवहार में विभिन्न वैयक्तिक बाजारों में परस्पर सम्बन्ध भी पाया जाता है।

प्राय यह प्रश्न उठाया जाता है कि वस्तु के बाजार का आकार किन बातों पर निर्भर करता है? दूसरे शब्दों में, कुछ वस्तुओं का बाजार सीमित व कुछ का विस्तृत क्यों होता है? इस सम्बन्ध में जो कारण होते हैं उनको दो भागों में बाँटा जा सकता है—

(अ) वस्तु की प्रकृति, (आ) बाहरी तत्त्व। इन पर आगे प्रकाश डाला जाता है।

वस्तु के बाजार को प्रभावित करने वाले तत्त्व

(अ) वस्तु की प्रकृति

(1) माँग का स्वरूप—जिन वस्तुओं की माँग देश विदेश में विस्तृत रूप से पाई जाती है उनका बाजार विस्तृत होता है, जैसे आधुनिक मशीनें, कारें, पेट्रोल, कोयला, गेहूँ, कपास, सोना आदि। इनकी माँग विश्वव्यापी होती है।

---

1 .. "a market may be defined as an area over which buyers and sellers negotiate the exchange of some product or related group of products It must be possible therefore for buyers and sellers to communicate with each other and to make meaningful deals over the whole market." Richard G Lipsey and K Alec Chrystal Principles of Economics, 9th ed 1999 p 45

(2) टिकाऊ व शीघ्रनाशी वस्तुएँ—टिकाऊ वस्तुओं की माँग विस्तृत होती है, जबकि फल, सब्जी व मछली आदि शीघ्रनाशी वस्तुओं की माँग सीमित होती है, क्योंकि उनको सुदूर इलाकों में भेजने की परिवहन सम्बन्धी कठिनाइयाँ पाई जाती हैं। लेकिन आजकल कोल्ड स्टोरेज व रेफ्रिजरेशन की सुविधाओं के बढने से तथा परिवहन के विकास से शीघ्रनाशी वस्तुओं को सुदूर इलाकों में भेजना आसान हो गया है। इसलिए यदि वस्तु की माँग होती है तो दूर के स्थानों से भी उसे मगाने की व्यवस्था की जा सकती है।

(3) वस्तु की वहनीयता (Portability)—वजन में भारी व कम मूल्य वाली वस्तुओं, जैसे ईंट, साधारण पत्थर, मिट्टी, चूना आदि के परिवहन में दिक्कतें आती हैं। इनमें परिवहन की लागतें भी ऊँची होती हैं। इसलिए इनका बाजार प्राय स्थानीय होता है। इनमें भी सगमरमर का पत्थर अथवा ग्रेनाइट स्टोन्स आदि अपने ऊँचे मूल्य की वजह से अपेक्षाकृत अधिक दूर के स्थानों तक भेजे जाते हैं। अत साधारणतया अधिक मूल्य वाली वस्तुओं का बाजार अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत होता है।

(4) वस्तु की पूर्ति—प्राय पर्याप्त व अत्यधिक पूर्ति वाली वस्तुओं के बाजार व्यापक व अन्तर्राष्ट्रीय पाए जाते हैं, जैसे गेहूँ, कच्चा लोहा, कोयला आदि। सीमित पूर्ति वाली वस्तुओं के बाजार सीमित होते हैं। ये सीमाएँ स्थानीय व ज्यादा से ज्यादा राष्ट्रीय हो सकती हैं। लेकिन कुछेक अपवाद भी देखने को मिलते हैं, जैसे कलात्मक मूर्तियों व विख्यात कलाकारों के बनाए हुए चित्रों आदि के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बाजार होते हैं। इनकी दूर दूर तक प्रतिष्ठा होती है, जिससे इनकी माँग भी विस्तृत होती है।

(5) ग्रेडिंग व प्रमापीकरण का प्रभाव—जिन वस्तुओं को आकार व किस्म के आधार पर विभिन्न सुनिश्चित श्रेणियों में बाँटा जा सकता है, उनके बाजार विस्तृत होते हैं, क्योंकि उनकी बिक्री नमूने व श्रेणी के आधार पर हो सकती है। ये वस्तुएँ मानक व प्रमापीकृत मानी जाती हैं। यही कारण है कि चाय, कपास, गेहूँ आदि के बाजार विश्वव्यापी बन गए हैं।

इस प्रकार स्वय वस्तु के गुण उसके बाजार की सीमा को निर्धारित करते हैं।

(आ) बाहरी तत्त्व

(1) आर्थिक विकास की आवश्यकता—विभिन्न देश अपना आर्थिक विकास करने के लिए विदेशों से अनेक प्रकार की वस्तुओं का आयात करते हैं जिससे सामान्यतया बाजारों का विस्तार हुआ है। जापान अपने इस्पात उद्योग के लिए भारत व अन्य देशों से कच्चे लोहे का आयात करता है। इसी प्रकार आजकल अनेक किस्म के कच्चे मालों का आदान प्रदान विश्वव्यापी स्तर पर होने लगा है।

(2) परिवहन व सचार के साधनो का विकास—पिछले वर्षों में यातायात व सदेशवाहन के साधनों में क्राति हो गई है जिसके फलस्वरूप सडक, रेल, जल व वायु परिवहन में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गए हैं। इसी प्रकार तार टेलीफोन आदि सचार के साधन काफी विकसित हो गए हैं। इनकी वजह से क्रेताओं व विक्रेताओं में व्यावसायिक

सम्बन्ध स्थापित करना बहुत सुगम हो गया है। इन कारणों से बाजार विस्तृत हो गए हैं।

(3) बैंकिंग, बीमा आदि का तीव्र गति से विकास—आर्थिक विकास ने मुद्रा, बैंकिंग, बीमा आदि क्षेत्रों को पूर्णतया बदल डाला है। आज प्रत्येक देश में सुदृढ़ मुद्रा प्रणाली, बैंकिंग व बीमा व्यवस्था व अन्य सुविधाएँ पाई जाती हैं, और इनका तेजी से विकास हो रहा है। इससे विदेशी व्यापार की सम्भावनाएँ काफी बढ़ गयी हैं, जो इनके अभाव में कम थी।

(4) विश्व में संरक्षणवाद की नीति इसको सीमित करती है तथा स्वतन्त्र व्यापार की नीति इसको बढ़ाती है—यह तो सर्वविदित है कि विभिन्न देशों के बीच स्वतन्त्र व्यापार की नीति के अपनाए जाने से व्यापार बढ़ता है तथा संरक्षणवाद (protectionism) की नीति से व्यापार घटता है, क्योंकि एक देश के द्वारा आयातों पर प्रतिबन्ध लगाने अथवा आयात शुल्क लगाने से वहाँ दूसरे देशों का माल सीमित मात्रा में ही आ पाता है। आज अमरीका व अन्य विकसित देश संरक्षणवाद के मार्ग पर चल रहे हैं, जिससे विकासशील देशों को अपना माल निर्यात करने में काफी कठिनाई हो रही है। अतः विकासशील देशों की वस्तुओं का बाजार विकसित देशों की व्यापार नीति से भी प्रभावित होता है।

(5) राजनीतिक स्थिरता व शान्ति—विभिन्न देशों में राजनीतिक स्थिरता, कानून व व्यवस्था की सुदृढ़ स्थिति व आन्तरिक शान्ति के पाए जाने पर ही वस्तुओं के बाजार अधिक विस्तृत होते हैं। यही नहीं, बल्कि एक देश के किसी भी भाग में अशान्ति व अराजकता पाए जाने से वहाँ का आन्तरिक व्यापार भी खतरे में पड़ जाता है।

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि बड़े पैमाने के उत्पादन, विशिष्टीकरण, आधुनिकीकरण, परिवहन-क्रान्ति व आर्थिक विकास की आवश्यकताओं के फलस्वरूप वस्तुओं के बाजारों का विस्तार हुआ है। इस प्रक्रिया के भविष्य में जारी रहने की सम्भावना है। विश्व तेजी से सिमट कर एक छोटी सी इकाई बनता जा रहा है, लेकिन कुछ राष्ट्रों की संकीर्ण भावनाएँ व संरक्षणवादी नीतियाँ इस प्रक्रिया को अपनी चरम सीमा पर नहीं पहुँचने दे रही हैं।

बाजारों का वर्गीकरण
(Classification of Markets)

आर्थिक साहित्य में बाजारों के वर्गीकरण कई आधारों पर देखने को मिलते हैं। जैसे क्षेत्र के अनुसार (स्थानीय, राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय); समय के अनुसार (अति अल्पकाल, अल्पकाल, दीर्घकाल व अति दीर्घकाल); कानूनी वैधता के अनुसार (सामान्य बाजार व काला बाजार); वस्तु-बाजार व साधन बाजार, स्वतन्त्र बाजार व नियन्त्रित बाजार तथा प्रतियोगिता के आधार पर पूर्ण व अपूर्ण बाजार जैसे विक्रेताओं के बीच पूर्ण प्रतियोगिता, एकाधिकार, एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा, अल्पाधिकार, आदि पायी जा सकती है। इसी प्रकार क्रेताओं के बीच प्रतिस्पर्धा के आधार पर क्रेता एकाधिकार, क्रेता अल्पाधिकार, आदि की दशाएँ भी पाई जा सकती हैं। अतः बाजारों में विभिन्न प्रकार से अन्तर किए जा

सकते हैं और उनका अपना अपना महत्त्व होता है। एक देश की अर्थव्यवस्था की प्रकृति का सही ज्ञान प्राप्त करने के लिए विभिन्न आधारों पर वहाँ के बाजारों की स्थिति का अध्ययन करना लाभकारी होता है। भारतीय सन्दर्भ में प्राय यह कहा जाता है कि यहाँ गैर कानूनी या काले बाजार का विस्तार हो रहा है। नियोजित अर्थव्यवस्था के कारण सरकारी हस्तक्षेप व नियन्त्रित बाजार प्रणाली का विस्तार हुआ है तथा आधुनिक औद्योगिक क्षेत्र में अल्पाधिकार एव कृषिगत क्षेत्र में बहुत कुछ पूर्ण प्रतियोगिता की दशाएँ पाई जाती हैं।

नीचे बाजार के विभिन्न रूपों का विवेचन किया गया है।

(अ) क्षेत्र के अनुसार वर्गीकरण

जब एक वस्तु की माँग व पूर्ति स्थानीय क्षेत्र तक सीमित होती है तो उसे स्थानीय बाजार कहते हैं। भूतकाल में ऐसा प्राय दूध, फल, सब्जी आदि के सम्बन्ध में पाया जाता था। आजकल ईंट व पत्थर आदि में स्थानीय बाजार की स्थिति देखने को मिलती है। स्थानीय दस्तकारों के द्वारा निर्मित मिट्टी के बर्तनों, जूतों, खिलौनों व कुटीर उद्योगों में बनी अनेक घरेलू वस्तुओं की माँग भी प्राय स्थानीय ही होती है।

जब किसी वस्तु की माँग व पूर्ति राष्ट्रव्यापी होती है तो उसका बाजार राष्ट्रीय बाजार कहलाता है। भारत में गेहूँ, दालों, अनेक उपभोग्य वस्तुओं जैसे—साबुन, तेल, टूथपेस्ट आदि का बाजार राष्ट्रीय माना जाता है। कई वस्तुओं का बाजार अन्तर्राष्ट्रीय होता है, जैसे भारतीय आमों विशेषतया हापुस आमों (Alphonso mangoes) की माँग विदेशों में भी होती है। इसी प्रकार भारतीय चाय, सिले सिलाये वस्त्रों, भारतीय चलचित्रों आदि की माँग भी अन्तर्राष्ट्रीय कहलाती है।

(आ) समय के अनुसार वर्गीकरण

(1) अति अल्पकाल (Very short period)—अति अल्पकाल में वस्तु की पूर्ति स्थिर रहती है और कीमत पर माँग के परिवर्तनों का अधिक प्रभाव पडता है। माँग के बढने पर कीमत बढ जाती है और माँग के घटने पर कीमत घट जाती है। उदाहरण के लिए, किसी भी दिन दूध की सप्लाई स्थिर रहती है और इसकी कीमत पर माँग का अधिक प्रभाव पडता है। स्मरण रहे कि यहाँ अवधि की परिभाषा वर्ष, महीने, सप्ताह, दिन अथवा घंटों में नहीं की जाती है, बल्कि माँग व पूर्ति की शक्तियों में होने वाले परिवर्तनों के माध्यम से की जाती है। अत अति अल्पकाल में **वस्तु की पूर्ति स्थिर रहती है और उसे माँग के अनुसार घटाया-बढ़ाया नहीं जा सकता।**

(2) अल्पकाल (Short Period)—इसमें मशीन या सयत्र की वर्तमान उत्पादन क्षमता का गहरा उपयोग करके कुछ सीमा तक वस्तु की पूर्ति बढाई जा सकती है, एव आवश्यकता पडने पर इसका कम मात्रा में उपयोग करके कुछ सीमा तक पूर्ति घटाई जा सकती है। लेकिन अल्पकाल में सयत्र का आकार स्थिर रहता है (size of the plant remains fixed)। अत माँग के परिवर्तनों के अनुसार कुछ सीमा तक पूर्ति में

परिवर्तन करना सम्भव होता है, लेकिन माँग व पूर्ति में पूरा सामंजस्य स्थापित करना सम्भव नहीं होता। यहाँ भी दूध के दृष्टान्त को जारी रखते हुए यह कहा जा सकता है कि माँग के बढ़ने पर गाय-भैंस आदि दुधारू पशुओं की खुराक में कुछ परिवर्तन करके दूध की सप्लाई बढ़ाने का आवश्यक प्रयास किया जाता है। इसी प्रकार किसी भी औद्योगिक वस्तु की माँग के बढ़ने पर संयंत्र की वर्तमान उत्पादन-क्षमता का अधिक उपयोग करके (जैसे मशीन को ज्यादा शिफ्टों या पालियों में चलाकर) उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। माँग के घटने पर संयंत्र का उपयोग कम करने का प्रयास किया जाता है ताकि पूर्ति में कुछ सीमा तक कमी की जा सके।

अल्पकाल में पूर्ति में माँग के परिवर्तनों के अनुसार आवश्यक परिवर्तन करना तो सम्भव नहीं होता, फिर भी यथासम्भव संयंत्र की उत्पादन-क्षमता का उपयोग कुछ सीमा तक बढ़ाया या घटाया जा सकता है।

(3) दीर्घकाल (Long period)—दीर्घकाल में संयंत्र का पैमाना व आकार बदला जा सकता है जिससे पूर्ति में माँग के परिवर्तनों के अनुकूल पूरा सामंजस्य बैठाया जा सकता है। आधुनिक औद्योगिक टेक्नोलोजी के कारण संयंत्र के कई प्रकार के आकार उपलब्ध हो गए हैं जिससे उत्पादन को माँग के अनुसार व्यवस्थित करना सम्भव हो गया है। अतः दीर्घकाल में संयंत्र का आकार या पैमाना बदल कर उत्पत्ति में माँग के अनुसार परिवर्तन किया जा सकता है। पुनः दूध वाले दृष्टान्त को लेने पर, दीर्घकाल में दुधारू पशुओं की संख्या बढ़ाकर दूध की सप्लाई बढ़ाई जा सकती है एवं आवश्यकता पड़ने पर इनकी संख्या को कम करके इसकी सप्लाई घटाई जा सकती है।

आधुनिक टेक्नोलोजी के फलस्वरूप औद्योगिक वस्तुओं के संयंत्र के आकार को बदलकर पूर्ति में माँग के अनुसार परिवर्तन करना सम्भव हो गया है, लेकिन जिस अवधि में यह सम्भव हो पाता है, उसे दीर्घकाल एवं उस बाजार को दीर्घकालीन बाजार कहा जाता है।

(4) अति दीर्घकाल (Very long period)—अति दीर्घकाल में स्वयं टेक्नोलोजी में परिवर्तन हो सकता है। इसका अर्थ यह है कि इन्पुटों की पहली वाली मात्राएँ पहले की तुलना में उत्पत्ति की भिन्न मात्राएँ उत्पन्न करने की स्थिति में आ जाती हैं। अतः अति दीर्घकाल में उत्पादन की तकनीक में परिवर्तन, उत्पादित वस्तुओं के स्वरूप में परिवर्तन, तथा इन्पुटों की किस्मों के परिवर्तन वस्तु की सप्लाई के परिवर्तनों को प्रभावित करते हैं। अभी तक (अल्पकाल व दीर्घकाल में) हम उत्पादन की दी हुई तकनीक, दी हुई वस्तुएँ व इन्पुटों की दी हुई मात्राओं के दायरे में बँधे थे, लेकिन अति दीर्घकाल में ये सारे बंधन टूट जाते हैं और टेक्नोलोजी के परिवर्तनों के कारण उत्पादन व उत्पादकता व्यापक रूप से प्रभावित होते हैं। आविष्कारों व नये-नये प्रयोगों के कारण उत्पादन के क्षेत्र में कायापलट हो सकती है। आविष्कार का सम्बन्ध तो किसी नई खोज से होता है, जिसके अन्तर्गत उत्पादन की नई तकनीक, नई प्रक्रिया व नई वस्तु आदि की शुरुआत की जाती है और नये प्रयोगों का सम्बन्ध आविष्कार को किसी नये

अब हम प्रतिस्पर्धा के आधार पर पाये जाने वाले बाजारों के विभिन्न रूपों का विस्तृत रूप से विवेचन करते हैं।

विशुद्ध एवं पूर्ण प्रतिस्पर्धा
(Pure and Perfect Competition)

विशुद्ध प्रतिस्पर्द्धा बाजार की वह दशा होती है जिसमें एक वैयक्तिक फर्म की वस्तु की माँग पूर्णतया लोचदार होती है। इस स्थिति में फर्म प्रचलित बाजार भाव पर चाहे जितना माल बेच सकती है, लेकिन वह स्वयं कीमत को प्रभावित नहीं कर सकती। ऐसी स्थिति में एक फर्म का औसत आय वक्र क्षैतिज (horizontal) आकार का होता है और वह X-अक्ष के समानान्तर पाया जाता है। यह नीचे चित्र 1 में दर्शाया गया है।

इस चित्र के अनुसार वस्तु की कीमत OP है, जो बाजार में कुल माँग व कुल पूर्ति की शक्तियों में निर्धारित हुई है। यह फर्म OP कीमत पर चाहे जितना माल बेच सकती है। यदि वह कीमत तनिक-सी घटा देती है तो उसके पास ग्राहकों की भीड़ लग जाएगी जिससे उसका माल शीघ्र बिक जाएगा। अत प्रचलित कीमत पर

चित्र 1—विशुद्ध प्रतिस्पर्धा में एक फर्म के समक्ष वस्तु का माँग-वक्र

फर्म की वस्तु की माँग पूर्णतया लोचदार (perfactly elastic) होती है। यही फर्म का औसत आय वक्र (AR) होता है। औसत आय अथवा कीमत के स्थिर रहने से सीमान्त आय (MR) भी स्थिर रहती है और यह औसत-आय के बराबर होती है।
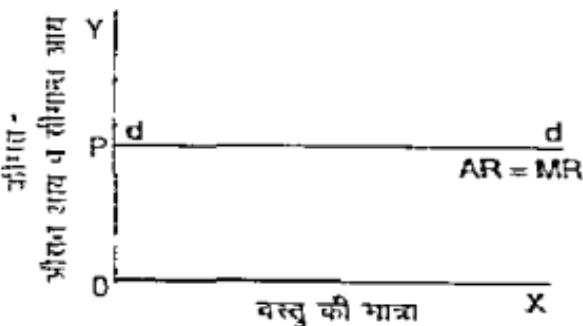
विशुद्ध प्रतिस्पर्धा में AR = MR एव दोनों का क्षैतिज होना आगे सारणी 1 से स्पष्ट हो जाएगा।

यहाँ वस्तु की कीमत 5 रु है जो स्थिर रहती है। कॉलम 3 में कुल आय दिखाई गई है जो कीमत को वस्तु की मात्रा से गुणा करने से प्राप्त होती है। अन्तिम कॉलम में सीमान्त आय (MR) दिखाई गई है जो कॉलम (3) में प्रत्येक बिन्दु पर कुल आय में से पिछले बिन्दु की कुल आय को घटाने से प्राप्त होती है। उदाहरण के लिये दो इकाइयों पर कुल आय = 10 रु है जबकि एक इकाई पर यह 5 रु है। अत दूसरी इकाई के लिए सीमान्त आय (10–5) = 5 रु होगी। इसी प्रकार आगे भी यह 5 रु के बराबर बनी रहेगी।

सारणी-1 विशुद्ध प्रतिस्पर्धा में एक फर्म की औसत आय व सीमान्त आय

वस्तु की इकाई	औसत-आय या कीमत (AR or price)	कुल आय (TR)	सीमान्त आय (MR)
(1)	(2)	(3)	(4)
1	5	5	5
2	5	10	5
3	5	15	5
4	5	20	5
5	5	25	5

अब हमें यह देखना है कि उत्पादकों में विशुद्ध प्रतिस्पर्धा के अस्तित्व के लिए कौनसी शर्तें आवश्यक होती हैं।

विशुद्ध प्रतिस्पर्धा की शर्तें (Conditions of Pure Competition)

स्टेनियर व हेग के अनुसार विशुद्ध प्रतिस्पर्धा के लिए निम्न तीन शर्तें आवश्यक होती हैं—

(1) अनेक फर्में (Many Firms)—एक उद्योग में विशुद्ध प्रतिस्पर्धा की पहली शर्त यह है कि इसमें अनेक फर्में होती हैं। इसलिए अकेली फर्म का समस्त उद्योग की उत्पत्ति व कीमत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह अपनी उत्पत्ति को घटा-बढ़ा सकती है, लेकिन इससे उद्योग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। एक फर्म समस्त उद्योग की कुल उत्पत्ति का इतना थोड़ा सा अंश उत्पन्न करती है कि उसके द्वारा अपनी उत्पत्ति में काफी मात्रा में परिवर्तन कर लेने पर भी उस उद्योग की कुल उत्पत्ति व कीमत पर कोई भी असर नहीं पड़ता। इस प्रकार एक वैयक्तिक फर्म कीमत को स्वीकार करने वाली (price taker) होती है, न कि कीमत का निर्धारण करने वाली (price maker)।

(2) समरूप वस्तुएँ (Homogeneous goods)—विशुद्ध प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत सभी फर्में ऐसी वस्तुएँ बनाती हैं जिन्हें ग्राहक एक-सी या समरूप मानते हैं। यही कारण है कि कोई भी उत्पादक अपनी वस्तु की कीमत ऊँची नहीं रख सकता। यदि वह ऊँची कीमत लेने लगता है तो ग्राहक दूसरे विक्रेताओं के पास चले जाते हैं। समरूप वस्तुओं के कारण ही समस्त बाजार में उस वस्तु की कीमत एक-सी पाई जाती है। यहाँ पर यह स्मरण रखना होगा कि उपभोक्ता ही इस बात का निर्णय करता है कि दो वस्तुएँ समरूप हैं अथवा नहीं। यदि उसके मस्तिष्क में दो वस्तुओं के बीच वास्तविक या कृत्रिम भेद पैदा हो जाते हैं तो उनके भावों में भी अन्तर उत्पन्न हो जाएगा। इन दो मान्यताओं के कारण ही एक फर्म का औसत आय वक्र क्षैतिज हो जाता है, क्योंकि अनेक फर्में होने के कारण एक फर्म कीमत को प्रभावित नहीं कर सकती और वस्तुओं की समरूपता के कारण कीमत का अन्तर उत्पन्न नहीं हो पाता।

(3) परिवहन लागत नही होनी—पूर्ण प्रतिस्पर्धा मे समस्त उत्पादक परस्पर इतने समीप रहकर काम करते है कि कोई परिवहन लागत नही लगती। परिवहन लागतो के पाये जाने पर कीमतों के अन्तर उत्पन्न हो जाते है जिससे पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा नही रह पाती।

इस प्रकार पूर्ण प्रतिस्पर्धा के लिए अनेक फर्मा, समरूप वस्तु, स्वतन्त्र प्रवेश, बाजार का पूर्ण ज्ञान, साधनो की पूर्ण गतिशीलता एव परिवहन लागतो की अनुपस्थिति की शर्ते होनी ह। इस विवेचन मे अनेक क्रेता भी माने जाते ह जो परस्पर प्रतियोगिता करते ह।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति प्राय कुछ कृषिगत पदार्थों जसे गेहूँ या कपास आदि के बाजारो में पाई जा सकती है जहाँ अनेक उत्पादक एक सा माल लेकर बाजार मे आते हैं और अकेला उत्पादक वस्तु की कीमत को दिया हुआ मानकर चलता है। वह अपने कार्यों से कीमत को परिवर्तित या प्रभावित नही कर सकता। वह कुल उत्पत्ति का बहुत छोटा सा अश उत्पन्न करता है जिससे वह कीमत को प्रभावित नही कर पाता।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा के मॉडल में उत्पत्ति व कीमत के निर्धारण का अध्ययन बहुत सुगम होता है। इसको आधार मानकर हम वास्तविक जगत में पाई जाने वाली बाजार की दशाओं का अध्ययन ज्यादा अच्छी तरह से कर सकते हैं। इसीलिए अर्थशास्त्रियों ने पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशाओं के अध्ययन पर काफी बल दिया है। प्रतिस्पर्धा की दृष्टि से एक छोर पर पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा पाई जाती है तो दूसरे छोर पर एकाधिकार की, जिसमे प्रतिस्पर्धा का पूर्णतया अभाव होता है। स्मरण रहे कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा वाले बाजार को पूर्ण बाजार *(perfect market)* कहते है तथा शेष सभी बाजारो, जैसे एकाधिकार, एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा व अल्पाधिकार के बाजारो को अपूर्ण बाजार (imperfect market) कहते है।

अब हम एकाधिकार वाले बाजार की विशेषताओं का उल्लेख करेंगे।

एकाधिकार
(Monopoly)

एकाधिकार के अन्तर्गत एक ही फर्म एक दी हुई वस्तु की एकमात्र उत्पादक होती है और उस वस्तु के कोई निकट के प्रतियोगी स्थानापन्न पदार्थ नहीं होते हैं।[1] एकाधिकार की इस परिभाषा में दो बातों पर ध्यान आकर्षित किया गया है। (1) एकाधिकार के अन्तर्गत एक उत्पादक एक वस्तु की कुल पूर्ति को नियन्त्रित करता है, (2) वह जिस

1 For a more realistic analysis we turn to a producer who is called a 'monopolist in the real world We consider the producer who controls the whole supply of a single commodity which has no close substitutes —Stonier and Hague op cit p 192

वस्तु का निर्माण करता है, उसके कोई निकट या समीप के स्थानापन्न पदार्थ नही होते हैं क्योंकि तभी उसका एकाधिकार चल पाता है। एकाधिकार में फर्म व उद्योग का भेद समाप्त हो जाता है और एक फर्म का औसत आय वक्र (AR curve) नीचे की ओर झुकता है।

इस प्रकार एकाधिकार मे एक फर्म की वस्तु के कोई स्थानापन्न पदार्थ नही पाये जाते। एक फर्म उस वस्तु के सम्पूर्ण बाजार पर स्वय कब्जा कर लेती है। एकाधिकारी फर्म यह नहीं सोचती कि इसके कार्यों से अन्य उद्योगों की फर्मों में किसी प्रकार की प्रतिशोध की भावना पैदा होगी। इसी प्रकार स्वय एक एकाधिकारी फर्म अन्य उद्योगों की फर्मों के कार्यों पर भी ध्यान नहीं देती। एकाधिकारी फर्म अपनी वस्तु की कीमत व उत्पत्ति के बारे मे निर्णय लेने मे पूर्ण स्वतन्त्र होती है। टेलीफोन सेवा एकाधिकार का एक सर्वोत्तम दृष्टान्त माना जाता है। गैस सर्विस भी एकाधिकार का दूसरा उत्तम दृष्टान्त माना जा सकता है।

यहाँ पर एकाधिकार की एक विशेष स्थिति, अर्थात् 'विशुद्ध' एकाधिकार का अर्थ जान लेना उचित होगा। स्टेनियर व हेग के अनुसार, विशुद्ध एकाधिकार में एक उत्पादक इतना शक्तिशाली होता है कि वह सदैव उपभोक्ताओ की सम्पूर्ण आय को स्वय ही ले लेने की स्थिति में होता है, उसकी अपनी उत्पत्ति की मात्रा चाहे जितनी हो। लेकिन 'विशुद्ध एकाधिकार' की यह स्थिति व्यवहार में नहीं पाई जा सकती, क्योंकि कोई एकाधिकारी सदैव उपभोक्ताओं की सम्पूर्ण आय को अपनी तरफ आकर्षित करने में सफल नहीं हो सकता। विभिन्न उत्पादक उपभोक्ताओं की सीमित आमदनियों को लेने के लिए आपस में प्रतिस्पर्धा करते रहते हैं। अत विशुद्ध एकाधिकार के अस्तित्व के लिए एक उत्पादक को सभी वस्तुओं का उत्पादन करना होगा जो सम्भव नहीं होता। व्यवहार में जो एकाधिकार की दशा पाई जाती है उसमें बहुत निकट की प्रतिस्पर्धा तो नहीं बल्कि थोडी प्रतिस्पर्धा अवश्य पायी जाती है। 'विशुद्ध एकाधिकार' में तो जरा भी प्रतिस्पर्धा नहीं होती। अत यह अवधारणा अवास्तविक तथा केवल सैद्धान्तिक महत्त्व की मानी गई है।[1]

जैसा कि एकाधिकार के विवेचन के शुरू में कहा गया है वास्तविक जगत का एकाधिकारी एक वस्तु की सम्पूर्ण पूर्ति को नियन्त्रित करता है और उसकी वस्तु के निकट के स्थानापन्न पदार्थ नहीं होते हैं। ऐसे एकाधिकारी के लिए औसत आय वक्र समस्त दूरी तक नीचे की ओर झुकेगा। उसके लिए सीमान्त आय वक्र (MR) उसके औसत आय-वक्र (AR) से नीचे होगा।

आगे सारणी में एकाधिकार की दशा में औसत आय व सीमान्त आय को दर्शाया गया है—

1 लेफ्टविच व ईकर्ट 'विशुद्ध एकाधिकार' को 'एकाधिकार' के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं।

सारणी-2 एकाधिकार में सीमान्त आय तथा औसत आय*

(रुपयों में)

वस्तु की मात्रा	कीमत या औसत आय (AR)	कुल आय (TR)	सीमान्त आय (MR)
(1)	(2)	(3)	(4)
0	20	0	20
1	18	18	18
2	16	32	14
3	14	42	10
4	12	48	6
5	10	50	2
6	8	48	–2
7	6	42	–6

एकाधिकारी को माल की अधिक मात्रा बेचने के लिए कीमत घटानी पड़ती है। प्रस्तुत दृष्टान्त में वस्तु की 1 इकाई तो 18 रु में बेची जा सकती है, लेकिन इसकी 7 इकाइयाँ बेचने के लिए एकाधिकारी को कीमत घटाकर 5 रु प्रति इकाई करनी होगी। कॉलम (3) में कुल आय निकाली गई है, जो p×q के बराबर होती है, जहाँ q वस्तु की मात्रा होती है। कॉलम (4) में सीमान्त आय निकाली गई है। वस्तु की प्रत्येक मात्रा पर कुल आय में से पिछली मात्रा पर कुल आय को घटाने से सीमान्त आय निकल आती है। औसत आय (AR) घट रही है, और सीमान्त आय (MR) भी घट रही है। सीमान्त आय औसत आय से नीचे रहती है। वस्तु की 6 इकाइयों पर सीमान्त आय ऋणात्मक हो जाती है जो आगे भी ऋणात्मक ही रहती है।

यह चित्र 2 की सहायता से समझाया जा सकता है।

चित्र 2–एकाधिकार में औसत आय व सीमान्त आय (AR and MR)

चित्र 2 में एकाधिकार की स्थिति में औसत आय (AR) व

* इन्हें सामान्य आय व औसत आय भी कहते हैं।

सीमान्त आय (MR) वक्र दर्शाए गए हे। ये दोनो नीचे की ओर झुकते हैं। OP कीमत पर वस्तु की मात्रा शून्य है तथा ON वस्तु की मात्रा पर कीमत शून्य है। MR रेखा AR रेखा मे नीचे होती है, जिसका स्पष्टीकरण ऊपर सारणी 2 में दिया जा चुका है। इस प्रकार जहाँ पूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे AR = MR होती ह, वहाँ अपूर्ण प्रतियोगिता अथवा एकाधिकार की दशा में AR व MR दोनों घटते ह आर MR < AR (MR की राशि AR की राशि से कम) होती हे। M बिन्दु पर MR शून्य हो जाती है, तथा उसके बाद यह ऋणात्मक हो जाती है। अत एकाधिकार में सीमान्त आय की राशि औसत आय अथवा कीमत से नीचे होती है। चित्र में M व N मात्राओं के बीच MR की राशि ऋणात्मक होती है।

यहाँ पर सक्षेप में एकाधिकारी की शक्ति का स्रोत एव एकाधिकार के विभिन्न रूपों का भी परिचय दिया जाता है।

एकाधिकारी शक्ति के स्रोत (Souces of Monopoly Power)

एकाधिकार के अस्तित्व के लिए यह आवश्यक है कि उद्योग में नई फर्मों के प्रवेश पर रोक हो। ऐसा कई तरह से हो सकता है और उसी के आधार पर प्राय तीन प्रकार के एकाधिकार का उल्लेख किया जाता है—

(1) प्राकृतिक एकाधिकार—यह भौगोलिक दशाओं व उद्योग की प्रकृति के कारण हो सकता है। यदि एक फर्म का कच्चे माल पर नियन्त्रण हो जाता है तो प्राकृतिक एकाधिकार को जन्म मिलता है। कई बार एक बहुत बडी फर्म स्थापित हो जाती है और उसे बडे पैमाने की किफायतें मिलने लगती है। अन्य छोटी फर्में उसके समक्ष प्रतियोगिता में नहीं टिक पाती, इसलिए उस फर्म का उत्पादन पर एकाधिकार स्थापित हो जाता है।

(2) वैधानिक या सामाजिक एकाधिकार वाली फर्में—नई वस्तु या नई विधि पर एकाधिकार रखने वाली फर्म को पेटेण्ट का अधिकार मिल जाने से वैधानिक एकाधिकार को जन्म मिलता है। रेल, टेलीफोन, विद्युत तथा जल की पूर्ति के सम्बन्ध में जो एकाधिकार की दशा पाई जाती है वह वैधानिक या समाजिक एकाधिकार की स्थिति ही होती है।

(3) ऐच्छिक एकाधिकार—जब कट्टर प्रतियोगिता से उत्पादकों को हानि होने की सम्भावना होती है तो वे ऐच्छिक सहयोग व सगठन स्थापित कर लेते हैं, जिनके प्राय निम्न रूप होते हैं—

(अ) कीमत के सम्बन्ध में ऐच्छिक समझौता—उत्पादकों के बीच न्यूनतम कीमत लेने के बारे में समझौता कर लिया जाता है। कई बार कुल उत्पत्ति को सीमित करके एव विभिन्न उत्पादकों के बीच इसका वितरण निश्चित करके भी कीमतें ऊँची रखी जाती हैं। व्यवहार में प्राय ऐच्छिक समझौतों को टालने की कोशिश की जाती है।

(आ) संयोजन (Pooling) कारक प्रत्येक फर्म के अंश का निर्धारण—यह मात्रा किस्म क्षेत्र व समय के अनुसार हो सकता है। विभिन्न फर्मों की कुल उत्पत्ति में अंश तय कर दिया जाता है अथवा माल की किस्म के अनुसार या क्षेत्र व स्थान के अनुसार विभाजन कर दिया जाता है। कई बार उत्पादन का अलग अलग समय बाँट लिया जाता है। कुछ स्थितियों में इन चारों का एक साथ समन्वय स्थापित कर दिया जाता है।

(इ) कार्टेल—कार्टेल को बिक्री की व्यवस्था के लिए बनाया जा सकता है। इसके अधिकार विस्तृत या सीमित हो सकते हैं। यह बातचीत व आपसी सहयोग पर आधारित होता है। इसमें शामिल होने वाली फर्मों को उत्पादन के क्षेत्र में काफी स्वतन्त्रता रहती है। प्राय एक शक्तिशाली तथा बडी फर्म कार्टल के निर्णयों को प्रभावित कर पाती है।

(ई) ट्रस्ट—यह एक स्थायी संगठन होता है जो कई फर्मों को मिलाकर अथवा एक फर्म में सबको विलीन करके बनाया जाता है। इससे बडे पैमाने की किफायतें बढ जाती हैं तथा लागतें कम हो जाती हैं।

भारत में व्यावसायिक समूहों व परिवारों के निर्माण से अर्थव्यवस्था में एकाधिकारी प्रवृत्ति को बढावा मिला है। एक बडे व्यावसायिक घराने के अन्तर्गत कई कम्पनियाँ होती हैं जिन पर प्रमुख नियन्त्रण उसी विशिष्ट व्यावसायिक घराने या औद्योगिक समूह का होता है।

अपूर्ण प्रतिस्पर्धा (Imperfect Competition) या अपूर्ण बाजार (Imperfect Market)

पूर्ण प्रतिस्पर्धा एवं एकाधिकार तो बाजार की दो विशेष दशाएँ होती हैं। व्यवहार में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की कई दशाएँ और पाई जाती हैं जिनमे फर्मों की संख्या व वस्तु की समरूपता या वस्तु भेद को लेकर काफी अन्तर होते हैं। यहाँ पर हम अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की दो प्रमुख दशाओं की चर्चा करेंगे। इनमें एक तो एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा की दशा है और दूसरी अल्प विक्रेताधिकार या अल्पाधिकार की। इनका नीचे क्रमश वर्णन किया जाता है—

(1) एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा (Monopolistic competition)—बाजार के इस रूप में अनेक फर्में पाई जाती हैं और साथ में वस्तु विभेद या अन्तर भी पाया जाता है। बाजार के इस रूप में अनेक फर्मों के होने से प्रतिस्पर्धा की स्थिति पाई जाती है और वस्तु विभेद के कारण प्रत्येक फर्म का थोडा एकाधिकार भी होता है अर्थात् एक फर्म अपनी वस्तु की कीमत को कुछ सीमा तक प्रभावित कर पाती है। ग्राहक अपनी पसन्द के कारण कुछ विक्रेताओं को उनके माल की थोडी ऊँची कीमत भी दे सकते हैं। कुछ मिठाई बेचने वाले अपने माल की कीमत थोडी ऊँची रखकर भी ग्राहकों को आकर्षित कर पाते हैं क्योंकि ग्राहक किसी न किसी कारण से उनकी मिठाई को दूसरों की मिठाई से अधिक उत्तम समझते हैं। लेकिन ये प्रतिस्पर्धा के भय से कीमत को बहुत ऊँचा भी नहीं रख सकते अन्यथा उनके लगभग सभी ग्राहक दूसरी तरफ चले

जाएँगे। एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में विशेषतया अल्पकाल में फर्म का औसत आय वक्र प्राय काफी लोचदार होता है जो चित्र 3 में दर्शाया गया है।

एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में एक फर्म के द्वारा कीमत के थोडा घटाने से (चित्र 3 में Op से OP_1 तक) उसके माल की माँग काफी बढ जाती है (OQ से OQ_1 तक) क्योंकि कई ग्राहक अन्य विक्रेताओं से हटकर इसकी तरफ आने लगते हैं। यदि यह फर्म कीमत थोडी बढा देती है (OP_1 से OP तक) तो इसके काफी ग्राहक अन्य प्रतिस्पर्धी फर्मों की ओर चले जाते हैं जिससे इसके लिए माँग काफी घट जाती है (OQ_1 से OQ तक)। अत कीमत घटाने पर इस फर्म के माल की माँग काफी बढ जाएगी, हालाँकि अन्य फर्मों में से प्रत्येक को विशेष हानि नही होगी। इसी तरह कीमत बढाने से इस फर्म के माल की माँग काफी घट जाएगी, हालाँकि अन्य फर्मों मे से प्रत्येक को इसमे कोई विशेष लाभ नही मिल पाएगा, क्योंकि इसके ग्राहक अन्य कई फर्मों में बँट जाएँगे।

कीमत या AR व MR
Y
P
P_1
AR = dd
MR
O
Q
Q_1
X
उत्पत्ति
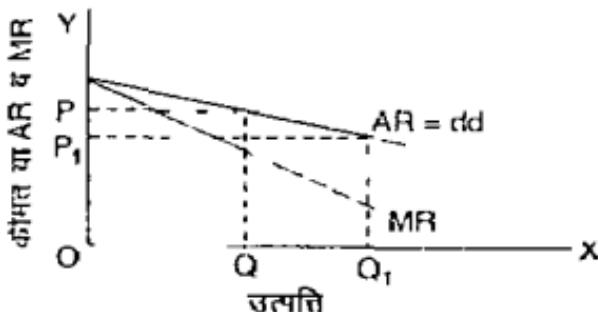
चित्र 3—एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा (अल्पकाल में) AR व MR

एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा की मुख्य विशेषता यह होती है कि इसमें विभिन्न फर्मों के कीमत व उत्पत्ति निर्णय एक दूसरे से स्वतन्त्र होते हैं। एक फर्म कीमत निर्धारित करते समय या बदलते समय इस बात की परवाह नही करती कि अन्य फर्मों पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होगी। कारण यह है कि इसमें फर्मों की सख्या काफी अधिक होती है।

प्रोफेसर चेम्बरलेन ने एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा का वर्णन अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक The Theory of Monopolistic Competition मे किया है। अमरीका मे इस तरह के बाजार का रूप काफी विकसित हुआ है। भारत मे कई प्रकार के नहाने के साबुन, हेयर ऑयल, टूथपेस्ट, ब्रुश एव सेवाओ के क्षेत्र में खुदरा व्यापारियों ड्राइक्लीनरा टेलरा हेयर कटिंग सैलूनों व होटलों तथा विश्रान्ति गृहों के सम्बन्ध मे एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा की दशा देखने को मिलती है। पाश्चात्य देशों में तथा भारत में भी महानगरों मे प्राय स्त्रियों के होजियरी उद्योग विभिन्न प्रकार के वस्त्रों तथा सेवा व्यापारों में एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा की स्थिति देखने को मिलती है।

(2) अल्पविक्रेताधिकार या अल्पाधिकार (Oligopoly)—इसमे थोड़े से विक्रेता होते हैं और वस्तु एक-सी हो सकती है या वस्तु-भेद भी पाया जा सकता है। जब कुछ फर्में एक सी वस्तु बेचती हैं तो उसे विशुद्ध अल्पविक्रेताधिकार (pure oligopoly) कहते हैं। यह स्थिति प्राय सीमेन्ट एल्यूमीनियम व इस्पात जैसे उद्योगों मे पाई जाती

है। जब वस्तु भेद पाया जाता है तो उसे भेदात्मक अल्पविक्रेताधिकार (differentiated oligopoly) कहते हैं। प्राय यह देखा जाता है कि किसी एक विषय पर बाजार म तीन चार प्रमुख पाठ्य पुस्तकें उपलब्ध होती हैं, जिनमें परस्पर कुछ अन्तर भी पाए जाते हैं। यह वस्तु विभेद वाले अल्पविक्रेताधिकार का उदाहरण माना जा सकता है। मोटरगाडियाँ, स्कूटर, मोपेड रेडियो टीवी, आदि भेदात्मक अल्पविक्रेताधिकार की स्थिति में शामिल किए जाते हैं।

अल्पविक्रेताधिकार म प्रतियोगी फर्मो के व्यवहार व प्रतिक्रियाओ का एक फर्म के व्यवहार पर काफी प्रभाव पड़ता है। मान लीजिए, टेलीविजन का निर्माण करने वाली चार बडी फर्में होती हैं। उनमें से एक फर्म अपने टीवी के भाव घटा देती है और हम उसकी माँग पर उसका प्रभाव देखना चाहते हैं। इस सम्बन्ध मे कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस फर्म की माँग पर प्रतियोगी फर्मों की प्रतिक्रियाओं का प्रभाव पडेगा। यदि अन्य फर्में स्वय कीमतें घटाकर बदला नहीं ले तो पहली फर्म अपनी कीमत घटाकर उनके ग्राहक तोड लेगी। यदि वे भी उतनी ही कीमतें घटाते हैं तो दूसरा ही प्रभाव पडेगा। यह भी सम्भव है कि अन्य फर्में अपनी कीमतें और भी ज्यादा घटाकर इस फर्म को ऐसा मुँहतोड जवाब दे कि उसकी माँग की मात्रा पहले से भी कम हो जाए। इसलिए अल्पविक्रेताधिकार में एक फर्म का माँग वक्र या औसत आय वक्र बनाना काफी कठिन होता है क्योंकि प्रतिस्पर्धी फर्मों की प्रतिक्रियाओं का सुगमता से पता नहीं लगाया जा सकता।
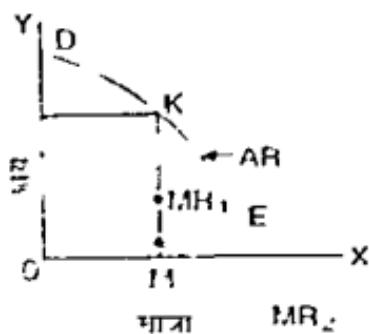
चित्र 4—अल्पविक्रेताधिकार में मोडयुक्त या विकुंचित माँग-वक्र (kinked demand curve)

अल्पविक्रेताधिकार फर्म के लिए कीमत बेलोचता (price-rigidity) की स्थिति में 'विकुंचित' या 'मोडयुक्त' माँग वक्र (kinked demand curve) की चर्चा की जाती है। यह चित्र 4 में दर्शाई गई है।

इसमें K कीमत से ऊपर कीमत बढाने से वस्तु की माँग काफी घट जाती है, क्योंकि माँग लोचदार होती है। लेकिन K कीमत से नीची कीमत करने से माँग मामूली ही बढती है, क्योंकि माँग बेलोच होती है। फर्म का माँग वक्र या AR वक्र DKE होता है जिसमें K पर मोड पाया जाता है। MR_1 तथा MR_2 वक्र के बीच में रिक्त स्थान होता है।

सारणी 3—प्रतिस्पर्धा के आधार पर विभिन्न प्रकार के बाजारों में अन्तर का संक्षिप्त परिचय

	प्रतिस्पर्धा की किस्म	उत्पादकों की संख्या तथा वस्तु विभेद का अंश	अर्थव्यवस्था के किस भाग में पाई जाती है?	कीमत पर नियन्त्रण का अंश	बिक्री की विधियाँ
1	पूर्ण प्रतिस्पर्धा (Perfect Competition)	अनेक उत्पादक एक सी वस्तुएं	कुछ कृषिगत पदार्थों (जैसे गेहूँ या कपास का बाजार)	जरा भी नहीं	बाजार में विनिमय या नीलामी
2	एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा• (Monopolistic competition)	अनेक उत्पादक वस्तु में असली व काल्पनिक भेद (वस्तु भेद)	टूथपेस्ट, खुदरा व्यापार, कम्पनियां	कुछ	विज्ञापन व वस्तु की किस्म के अनुसार प्रतियोगिता
3	अल्पविक्रेताधिकार या अल्पाधिकार (Oligopoly)	थोड़े उत्पादक या विक्रेता वस्तु में बहुत थोड़ा भेद या कोई भेद नहीं	इस्पात, एल्यूमीनियम		
4	पूर्ण एकाधिकार	अकेला उत्पादक विशेष वस्तु जिसके निकट के स्थानापन्न नहीं होते	कुछ सार्वजनिक उपयोगिता के उद्योग (public utilities) (विद्युत, गैस जल, आदि)	काफी	बिक्री प्रोत्साहन का विज्ञापन जिसके द्वारा जनता से सम्पर्क बढ़ाया जाता है।

• सेमुअल्सन व नोरडाउस ने यहाँ पर अपूर्ण प्रतिस्पर्धा शब्द का उपयोग किया है।

बाजार के विभिन्न रूपों को उपर्युक्त सारणी में स्पष्ट किया गया है। प्रस्तुत सारणी में बाजार के विभिन्न रूपों में निम्न आधारों पर भेद किया गया है—

(i) उत्पादकों की संख्या,

(ii) वस्तु विभेद का अंश,

(iii) यह अर्थव्यवस्था के किस भाग में पाया जाता है?

(iv) कीमत पर नियन्त्रण का अंश कितना होता है?

(v) बिक्री किस तरह की जाती है?

हमने देखा कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा में अनेक उत्पादक होते हैं तथा वस्तुएँ एक-सी होती हैं। एक उत्पादक का कीमत पर जरा-सी प्रभाव नहीं पड़ता। एकाधिकार में वस्तु के निकट के स्थानापन्न पदार्थ नहीं पाये जाते और उत्पादक का अपनी वस्तु की कीमत पर काफी नियन्त्रण रहता है।

अल्पाधिकार व एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा दोनों अपूर्ण प्रतिस्पर्धा या अपूर्ण बाजार की दशाएँ मानी जाती हैं। विशुद्ध अल्पाधिकार की दशा को पहचानना भी कठिन नहीं होता क्योंकि इसमें थोड़े से उत्पादक एक सी वस्तु का उत्पादन करते हैं। ग्राहक उनमें अन्तर नहीं करते। ऐसा प्रायः सीमेन्ट, चीनी या इस्पात आदि वस्तुओं में देखा जाता है बशर्ते की क्रेता इनमें परस्पर अन्तर न मानें और वे इनमें से किसी भी उत्पादक की वस्तु को खरीदने को उद्यत रहें।

लेकिन व्यवहार में विभेदात्मक अल्पाधिकार तथा एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में अन्तर करने में कुछ कठिनाई होती है। इन दोनों में वस्तु-भेद तो पाया जाता है, लेकिन एक में फर्मों की संख्या कम होती है और दूसरे में ज्यादा होती है। फिर अल्पाधिकार में विभिन्न फर्मों के कीमत-उत्पत्ति निर्णय परस्पर निर्भर होते हैं, जबकि एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में वे एक-दूसरे से स्वतन्त्र होते हैं।

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर हम बाजार के विभिन्न वर्गीकरणों का सारांश निम्न सारणी में प्रस्तुत करते हैं—

सारणी—1 बाजार के विभिन्न रूप

क्षेत्र के अनुसार	समय/अवधि के अनुसार	कानूनी वैधता के अनुसार	वस्तु या साधन का आधार	स्वतन्त्र या नियन्त्रित	प्रतिस्पर्धा के अनुसार
(i) स्थानीय	(i) अति अल्पकाल	(i) सामान्य बाजार	(i) वस्तु-बाजार	(i) स्वतन्त्र बाजार	(i) विक्रेता पक्ष*
(ii) राष्ट्रीय	(ii) अल्पकाल	(ii) काला बाजार	(ii) साधन-बाजार	(ii) नियन्त्रित बाजार	(ii) क्रेता पक्ष+
(iii) अन्तर्राष्ट्रीय	(iii) दीर्घकाल				
	(iv) अति दीर्घकाल				

*विक्रेता पक्ष - (अ) पूर्ण प्रतिस्पर्धा (पूर्ण बाजार) [अपूर्ण प्रतिस्पर्धा (अपूर्ण बाजार) (i) एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा (ii) एकाधिकार (iii) अल्पाधिकार]

+क्रेता पक्ष (अपूर्ण प्रतिस्पर्धा या अपूर्ण बाजार) (अ) क्रेता-एकाधिकार (monopsony) (ब) क्रेता-अल्पाधिकार (स) द्विपक्षीय एकाधिकार (इसे विक्रेता-पक्ष में भी दिखाया जा सकता है।)

विभिन्न प्रकार के बाजारों की पहचान से सम्बन्धित प्रश्न

निम्न दशाओं में बाजार के ढाँचे को पहचानिए और उसके समर्थन में अपने तर्क दीजिए—

(अ) भारत की मण्डियों में गेहूँ का बाजार।

(ब) प्रीमियर ऑटोमोबाइल्स, हिन्दुस्तान मोटर्स लि, मारुति लि तथा हिन्दुस्तान हुण्डई द्वारा कारों का उत्पादन।

(स) नहाने का साबुन हमाम।

(द) भिलाई इस्पात के कारखाने का बिक्री योग्य इस्पात।

(ए) बडे शहर में नगरपालिका निगम द्वारा जल की पूर्ति।

(ऐ) ओनिडा टी वी।

उत्तर—(अ) भारत की मण्डियों में गेहूँ का बाजार पूर्ण प्रतिस्पर्धा या पूर्ण बाजार के समीप माना जा सकता है, क्योंकि इसमें अनेक क्रेता व अनेक विक्रेता, समरूप वस्तु, आदि शर्तें पूरी होती हैं। एक मण्डी में बहुत से किसान अपना गेहूँ बिक्री के लिए लाते हैं। एक किसान गेहूँ की कीमत को प्रभावित नही कर सकता। वैसे मण्डी में कई तरह का गेहूँ पाया जा सकता है, लेकिन यहाँ यह कल्पना कर ली गई है कि एक मण्डी में ज्यादा मात्रा में एक से गेहूँ की ही आवक होती है। वैसे भी यदि गेहूँ की कई किस्मों की आवक मानें, जैसे कल्याण, सोना, लाल गेहूँ, आदि तो भी इनमें से प्रत्येक किस्म के अनेक क्रेता विक्रेता होते हैं, जिससे प्रत्येक किस्म के गेहूँ के सम्बन्ध में पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति मानी जा सकती है, अथवा समस्त गेहूँ के बाजार की दृष्टि से गेहूँ की कई किस्मों के होने के कारण एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा (वस्तु विभेद के कारण) की स्थिति मानी जा सकती है।

(ब) यहा चार कार उत्पादकों द्वारा भिन्न भिन्न किस्म की कारों के बनाने की स्थिति होने के कारण भेदात्मक अल्पाधिकार (differentiated oligopoly) की दशा होती है। कारों के ग्राहक अपनी अपनी पसन्द के अनुसार कारें खरीदने का निर्णय लेते हैं, इसलिए उनके मस्तिष्क में इनकी कारें एक सी नहीं होती।

(स) हमाम नहाने का साबुन एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा की बाजार स्थिति में माना जा सकता है क्योंकि इसकी माँग काफी लोचदार होती है। हमाम साबुन की कीमत प्रति टिकिया 9 50 रुपये से घटाकर 9 00 रुपये कर देने से (अन्य नहाने की साबुनों के भाव यथावत् रहने पर) इस ब्राण्ड की माँग काफी बढ जाएगी, क्योंकि रेक्सोना, सिन्थोल, फेयर ग्लो, लक्स, सतूर, डेटोल सोप, लाइफबॉय आदि के ग्राहक सम्भवत हमाम की तरफ आकर्षित होने लगेंगे। इसी प्रकार हमाम के दाम बढने पर इसकी माँग काफी कम भी हो सकती है, क्योंकि ग्राहक अन्य साबुनें खरीदने लग जाते हैं।

चूंकि नहाने की साबुन के बहुत से ब्राण्ड चल पड़े हैं इसलिए यह एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा की दशा में लिया जा सकता है अन्यथा यदि केवल तीन चार ब्राण्डों में ही परस्पर प्रतिस्पर्धा होती तो यह भेदात्मक अल्पाधिकार की दशा भी मानी जा सकती थी।

(द) भिलाई इस्पात के कारखाने का इस्पात अल्पाधिकार (oligopoly) की स्थिति में शामिल किया जाएगा क्योंकि सार्वजनिक क्षेत्र में इस्पात के अन्य कारखाने दुर्गापुर, राउरकेला व बोकारो में स्थित हैं तथा निजी क्षेत्र में टाटा का कारखाना है। अतः यह कुछेक उत्पादकों की स्थिति है। इस्पात को एक-सा मानने पर इसे विशुद्ध अल्पाधिकार के अन्तर्गत लिया जाएगा। यदि इनके इस्पात में अन्तर माना गया तो भेदात्मक अल्पाधिकार की दशा बन जाएगी। वैसे अक्सर लोग इस्पात का दृष्टान्त सदैव विशुद्ध अल्पाधिकार में ही लिया करते हैं।

(य) बड़े शहर में नगरपालिका निगम द्वारा 'जल की पूर्ति' सार्वजनिक उपयोगिता की वस्तु या सेवा से सम्बन्ध रखने के कारण एकाधिकार की दशा में आती है।

(र) ओनिडा टी वी भेदात्मक अल्पाधिकार की स्थिति में लिया जाएगा क्योंकि इसे टीवी के अन्य उत्पादकों जैसे बी पी एल, वीडियोकॉन, आदि से प्रतिस्पर्धा करनी होती है।

भारत में बाजार का कौनसा रूप सबसे ज्यादा लोकप्रिय है?

भारत एक विकासशील राष्ट्र है, यहाँ नई-नई वस्तुओं के कारखाने खोले जा रहे हैं और देश का औद्योगीकरण किया जा रहा है। देश में कृषिगत पदार्थों में तो बहुधा पूर्ण प्रतिस्पर्धा के बाजार की स्थिति देखने को मिलती है और परिवहन, जल की पूर्ति विद्युत, गैस आदि में बहुत कुछ एकाधिकार की दशाएँ पायी जाती हैं। लेकिन अधिकांश औद्योगिक वस्तुओं जैसे सीमेन्ट, कागज, इस्पात, कारों, मशीनों आदि में प्रत्येक में थोड़े से उत्पादकों का प्रभाव होने से भारतीय उद्योगों में अल्पाधिकार की दशा काफी प्रचलित हो गई है। मुम्बई विश्वविद्यालय के औद्योगिक अर्थशास्त्र के प्रोफेसर जे सी सण्डेसरा (J C Sandesara) ने बताया है कि भारत में 1970 में चोटी की 4 फर्मों का इन्जीनियरी व रसायन उद्योगों में उच्च श्रेणी का नियन्त्रण पाया गया था। 33% व अधिक का केन्द्रीयकरण, अर्थात् ऊँचा केन्द्रीयकरण, जूतों, रबड़ व रबड़ पदार्थों, पेट्रोल-पदार्थों, कोयला, मनोरंजन की सेवाओं (सिनेमा वगैरा) में पाया गया था। अल्पाधिकार की दशा में उत्पत्ति पर प्रतिबन्ध तथा मुनाफाखोरी को प्रोत्साहन मिलता है

लेकिन देश का तेजी से औद्योगिक विकास होने तथा वस्तु-विभेद के बढ़ने एवं उत्पादकों की संख्या के बढ़ने से एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा का वातावरण भी बनता व बढ़ता जा रहा है। औद्योगिक दृष्टि से विकसित राष्ट्रों, जैसे अमरीका, कनाडा, जापान आदि में एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा का अधिक प्रभाव देखने को मिलता है।

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 बाजार के किस रूप मे एक फर्म की वस्तु की माँग वक्र पूर्णतया लोचदार होता है ?
(अ) पूर्ण प्रतिस्पर्धा (ब) एकाधिकार
(स) एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा (द) अल्पाधिकार (अ)

2 एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में कौनसी विशेषता नही होती ?
(अ) अनेक क्रेता व अनेक विक्रेता (ब) वस्तु समरूप
(स) वस्तु भेद (द) नई फर्मो का प्रवेश (ब)

3 एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा और अल्पाधिकार मे अन्तर का मुख्य आधार छाँटिए—
(अ) फर्मों या विक्रेताओं की सख्या
(ब) क्रेताओं की सख्या
(स) वस्तु भेद
(द) कोई नही (अ)

4 बाजारों के वर्गीकरण का आधार बतलाइए—
(अ) समयावधि (ब) कानूनी
(स) प्रतियोगिता (द) सभी (द)

5 टी वी मैटस के बाजार का नाम लिखिए—
(अ) एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा (ब) अल्पाधिकार (विशुद्ध)
(स) विभेदात्मक अल्पाधिकार (द) पूर्ण प्रतिस्पर्धा (स)

अन्य प्रश्न

1 पूर्ण प्रतियोगिता एव एकाधिकार में विभेद कीजिए।

2 निम्नलिखित की व्याख्या कीजिए—
(i) पूर्ण प्रतियोगिता एव अपूर्ण प्रतियोगिता के बाजारों में अन्तर
(ii) एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता

3 बाजार की परिभाषा दीजिए। पूर्ण प्रतियोगी एव अपूर्ण प्रतियोगी बाजारों में अन्तर कीजिए।

4 निम्नलिखित को स्पष्ट कीजिए—
(अ) एकाधिकृत प्रतियोगिता और अल्पाधिकार।

5 व्याख्या कीजिए—
(i) पूर्ण प्रतियोगी एव एकाधिकार बाजार मे विभेद कीजिए।

□ □ □

19

पूर्ण प्रतिस्पर्धा में कीमत व उत्पत्ति-निर्धारण—फर्म का सन्तुलन

(Pricing and Output Under Perfect Competition—Equilibrium of a Firm)

पिछले अध्याय मे स्पष्ट किया जा चुका हे कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा या पूर्ण प्रतियोगिता के लिए अनेक फर्मे, समरूप वस्तु, स्वतन्त्र प्रवेश, बाजार का पूर्ण ज्ञान, साधनो की पूर्ण गतिशीलता एव परिवहन लागतो की अनुपस्थिति की शर्तें मान ली जाती है। इस विवेचन मे अनेक क्रेता भी माने जाते हे, जो परस्पर प्रतियोगिता करते हे।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति प्राय कुछ कृषिगत पदार्थों, जैसे गेहूँ या कपास आदि के बाजारों में पायी जा सकती है, जहाँ अनेक उत्पादक एक सा माल लेकर बाजार में उपस्थित होते हैं और अकेला उत्पादक वस्तु की कीमत को दिया हुआ मानकर चलता है। वह अपने कार्यो से कीमत को परिवर्तित नही कर सकता। वह कुल उत्पत्ति का बहुत छोटा अश उत्पन्न करता है जिससे वह कीमत को प्रभावित नही कर पाता।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा के मॉडल में उत्पत्ति व कीमत के निर्धारण का अध्ययन बहुत सुगम होता है। इसको आधार मानकर हम वास्तविक जगत मे पायी जाने वाली बाजार की दशाओं का अध्ययन ज्यादा अच्छी तरह से कर सकते हैं। इसलिए अर्थशास्त्रियों ने पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशाओं के अध्ययन पर काफी बल दिया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में एक फर्म के लिए वस्तु की कीमत दी हुई होती है। वह अपने कार्यों से कीमत को प्रभावित नहीं कर सकती। कीमत का निर्धारण उद्योग में सभी फर्मों की कुल पूर्ति और सभी क्रेताओं की कुल माँग के आधार पर होता है। इस प्रकार वस्तु की कीमत उस बिन्दु पर निर्धारित होती है जहाँ कुल माँग की मात्रा कुल पूर्ति की मात्रा के बराबर होती है। एक फर्म दी हुई कीमत पर यह तय करती है कि वह वस्तु की कितनी मात्रा का उत्पादन करेगी ताकि उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके।

कीमत सिद्धान्त मे समय तत्त्व का महत्त्व
(Importance of Time Element in Price Theory)

वस्तु के कीमत निर्धारण पर समय तत्त्व का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडता है। प्रो मार्शल ने समय को चार भागों में बाटा है जिनका परिचय नीचे दिया जाता है—

(1) अति अल्पकाल अथवा बाजारावधि (very short period or market period) (2) अल्पकाल (short period) (3) दीर्घकाल (long period) एव अति दीर्घकाल (very long period or secular period) यहाँ हम विभिन्न समयों का कीमत सिद्धान्त के सन्दर्भ में अर्थ स्पष्ट करते हैं।

(1) अति अल्पकाल—इस अवधि में वस्तु की बिक्री के लिए उपलब्ध मात्रा नहीं बदली जा सकती। इसलिए कीमत पर माग के परिवर्तनो का प्रभाव ज्यादा पड़ता है। माँग के बढने से कीमत बढ जाती है और माँग के घटने से कीमत घट जाती है। आज बाजार में जो दूध फल या सब्जी की पूर्ति होती है उसे बढाया नही जा सकता। इसलिए इनकी कीमतो पर माँग की दशा का ही अधिक प्रभाव पडता है। अति अल्पकाल को एक घण्टा एक दिन या एक सप्ताह अथवा किसी एक निर्धारित महीने व वर्ष के रूप में व्यक्त नही किया जा सकता। इसका अर्थ कार्यात्मक (operational) दृष्टि से लगाया जाता है। इस अवधि में वस्तु की पूर्ति मौजूदा स्टाक के बराबर होती है। गेहूँ के लिए अति अल्पकाल एक फसल से दूसरी फसल के बीच का समय होता है जो बहुधा एक वर्ष का हो सकता है। पिछडे देशों में हवाई जहाज उद्योग में अति अल्पकाल में एक वर्ष से अधिक का भी समय लिया जा सकता है क्योंकि एक नये हवाई जहाज की सप्लाई बढाने में एक वर्ष से भी अधिक का समय लग सकता है।

अति अल्पकाल में उद्योग में जो सन्तुलन स्थापित होता है उसे बाजार सन्तुलन (market equilibrium) एव इस अवधि की कीमत को बाजार कीमत (market price) कहकर पुकारते हैं। बाजार सन्तुलन अस्थायी सन्तुलन (unstable equilibrium) होता है क्याकि वह माँग के परिवर्तनों के अनुसार बदलता रहता है। इसका आगे सचित्र वर्णन किया गया है।

(2) अल्पकाल—अल्पकाल में फर्म के सयन्त्र का आकार (Size of the plant) स्थिर माना जाता है। अत एक फर्म अपने दिए हुए सयन्त्र (given plant) का गहरा उपयोग करके कुछ सीमा तक उत्पादन बढा सकती है और उसका उपयोग कम करके कुछ सीमा तक उत्पादन घटा सकती है लेकिन वह अपने सयन्त्र के आकार को नहीं बदल पाती। इस अवधि में एक फर्म वस्तु की माँग के बदलने पर पूर्ति को बदलने का प्रयास करती है। सयन्त्र के स्थिर आकार के कारण उसकी लागत पर उत्पत्ति के नियमों (laws of returns) का प्रभाव पडता है। अत उद्योग का अल्पकालीन पूर्ति वक्र ऊपर की ओर उठता हुआ होता है। वस्तु की कीमत पर माँग के साथ साथ पूर्ति का अथवा उत्पादन की लागत का प्रभाव भी पडने लगता है। अल्पकाल के सन्तुलन को अल्पकालीन सन्तुलन व कीमत को अल्पकालीन सामान्य कीमत (short period normal price) भी कहा जाता है। हम आगे चलकर अल्पकाल में फर्म के सन्तुलन का अध्ययन करेंगे।

(3) दीर्घकाल—यह अवधि इतनी लम्बी होती है कि इसमें नयी फर्मों का उद्योग में प्रवेश व चालू फर्मों के लिए उद्योग को छोडकर जाना सम्भव हो सकता है, और पुरानी फर्में आवश्यक्ता के अनुसार अपने सयन्त्रों के आकार को भी बदल सकती हैं। अत इस अवधि में माँग के परिवर्तन के अनुसार पूर्ति को परिवर्तित या समायोजित किया जा सकता है। वस्तु की कीमत पर अब उत्पादन लागत का प्रभाव और बढ जाता है। उद्योग में बढती हुई, समान व घटती हुई लागत की दशाओं का कीमत व उत्पत्ति की मात्रा पर प्रभाव पडता है। इस अवधि के सन्तुलन को दीर्घकालीन सन्तुलन कहते हैं और कीमत को दीर्घकालीन 'सामान्य' कीमत (long period 'normal' price) भी कहा जाता है। हम आगे चलकर स्पष्ट करेंगे कि यह ऐसी कीमत होती है जिसके दीर्घकाल में माँग व पूर्ति की दशाओं के अन्तर्गत पाये जाने की सम्भावना होती है। दीर्घकाल में प्रत्येक फर्म को केवल सामान्य लाभ ही मिलता है। प्रत्येक फर्म सयन्त्र के अनुकूलतम आकार (optimum size of plant) का निर्माण करके उसका अनुकूलतम सीमा (optimum level) तक उपयोग करती है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक फर्म अनुकूलतम फर्म (optimum firm) होने का प्रयास करती है और वह सयन्त्र के अनुकूलतम आकार व न्यूनतम औसत लागत के बिन्दु तक उत्पादन करती है।

(4) अति दीर्घकाल—मार्शल ने अति दीर्घकाल का भी उल्लेख किया है। इसमें उत्पादन की टेक्नोलोजी बदल जाती है। नये आविष्कार हो जाते हैं जिससे नई वस्तुएँ व नई प्रक्रियाएँ सामने आ जाती हैं तथा उद्यमकर्ता उनको व्यावसायिक दृष्टि से काम में लेने लगते हैं। आविष्कारों व नवप्रवर्तनों (inventions and innovations) का क्रम जारी रहता है। इस अवधि में माँग व पूर्ति दोनों की दशाएँ काफी परिवर्तित हो जाती हैं। इसमें जनसख्या का आकार, कच्चे माल की पूर्ति, पूँजी की पूर्ति, उत्पादन की तकनीक, लोगों की आदतों, रुचियों आदि में परिवर्तन आ जाते हैं। इस अवधि में कीमत निर्धारण का कार्य और भी जटिल हो जाता है एव आर्थिक सिद्धान्त के लिए कोई सन्तोषप्रद निष्कर्ष प्रस्तुत करना कठिन हो जाता है।

प्रोफेसर मार्शल ने कीमत सिद्धान्त में समय तत्त्व के महत्त्व का उल्लेख करते हुए लिखा है कि सामान्य नियम के रूप में यह कहा जा सकता है कि हम जितना कम समय लेते हैं, उतना ही मूल्य पर माँग का प्रभाव अधिक होता है और समय जितना अधिक लेते हैं उतना ही मूल्य पर उत्पादन-लागत का या पूर्ति का प्रभाव अधिक होता है। इसका कारण यह है कि माँग के परिवर्तनों के प्रभावों की तुलना में उत्पादन लागत के परिवर्तनों का प्रभाव अपेक्षाकृत देर से उत्पन्न होता है।[1] बाजार कीमत पर वर्तमान दशाओं तथा ऐसे तत्त्वों का अधिक प्रभाव पडता है जो अनियमित व अल्पकालिक होते

---

1 "Thus we may conclude that, as a general rule, the shorter the period which we are considering the greater must be the share of our attention which is given to the influence of demand on value and the longer the period the more important will be the influence of cost of production on value For the influence of changes in cost of production takes as a rule a longer time to work itself out than does the influences of changes in demand" —Marshall Principles of Economics, 1949 p 291

हैं लेकिन दीर्घकाल में ऐसे अनिश्चित व अनियमित कारण एक दूसरे का प्रभाव मिटा देते है ताकि अधिक स्थायी तत्त्वा का मूल्यों पर प्रभाव रह जाता है। मार्शल का मत है कि अधिकाश स्थायी कारणो मे भी परिवर्तन होता रहता है। एक पीढी से दूसरी पीढी तक विभिन्न पदार्थों की सापेक्ष उत्पादन लागते स्थायी रूप से बदल जाती हैं।

हम नीचे अति अल्पकाल अल्पकाल व दीर्घकाल मे पूर्ण प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत फर्म व उद्योग में सन्तुलन की दशाओं का विवेचन करेगे।

अति अल्पकाल अथवा बाजार-अवधि मे कीमत निर्धारण

(Determination of price in the very short period or market period)

(i) शीघ्रनाशी वस्तुओ (perishable goods) **की बाजार कीमत का निर्धारण**—जैसा कि पहले कहा जा चुका है अति अल्पकाल में जो कीमत निर्धारित होती है उसे बाजार कीमत (market price) कहते हैं। इस अवधि मे शीघ्रनाशी वस्तु जैसे दूध, फल, सब्जी आदि की पूर्ति स्थिर होती है। अत वस्तु की कीमत पर माँग के परिवर्तनों का अधिक प्रभाव पडता है। बाजार कीमत का निर्धारण इस चित्र की सहायता से दर्शाया जाता है।
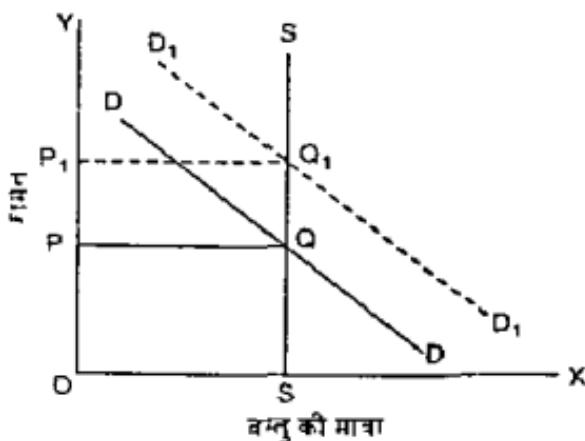
चित्र 1-(अ) अति अल्पकाल में कीमत निर्धारण (शीघ्रनाशी वस्तु)

चित्र में OX-अक्ष पर माँग व पूर्ति की मात्राएँ ली गयी हैं और OY-अक्ष पर कीमत मापी गयी है। पूर्ति की OS मात्रा स्थिर रहती है और यह कीमत के साथ नहीं बदलती। इस प्रकार SS पूर्ति-वक्र लम्बवत् व पूर्णतया बेलोच होता है। प्रारम्भ में DD माँग-वक्र इसे Q पर काटता है जिससे SQ या OP कीमत निर्धारित होती है। माँग वक्र के DD से बढकर D_1D_1 हो जाने से (इसे माँग में वृद्धि कहते हैं) कीमत SQ_1 अथवा OP_1 हो जाती है। इस तरह अति अल्पकाल में कीमत पर माँग का प्रभाव अधिक प्रबल होता है। प्राय दूध, फल मछली व अन्य शीघ्रनाशी वस्तुओं की बाजार कीमतें इसी प्रकार निश्चित होती हैं। सच पूछा जाये तो बाजार कीमत के निर्धारण में पूर्ति का

या उत्पादन लागत का प्रभाव नहीं पड़ता है। इस पर तो मुख्यतया इस बात का प्रभाव पड़ता है कि उपभोक्ता वस्तु की अमुक मात्रा के लिए क्या कीमत देने को तैयार होते हैं। अति अल्पकाल में शीघ्रनाशी वस्तु के स्टॉक व वस्तु की पूर्ति में अन्तर नहीं होता, और यह मान लिया जाता है कि समस्त स्टॉक बिक्री हेतु बाजार में प्रस्तुत किया जाता है। वस्तु की पूर्ति स्थिर रहती है चाहे माँग कम हो या अधिक। व्यवहार में प्रायः देखा जाता है कि शीघ्रनाशी वस्तुओं में अति अल्पकाल में कीमत के निर्धारण में माँग का प्रभाव अधिक प्रबल होता है माँग के अधिक होने पर कीमत ऊँची व माँग के कम होने पर कीमत नीची हो जाती है।

(ii) टिकाऊ-वस्तुओं (durable goods) की बाजार-कीमत का निर्धारण—कुछ वस्तुएँ टिकाऊ होती हैं जैसे टेलीविजन सेट रेडियो, वल फर्नीचर, गलीचे, घड़ियाँ आदि, जिनमें स्टॉक व पूर्ति (stock and supply) में अन्तर होता है। यदि इनकी कीमत कम होती है तो विक्रेता माल का कुछ अंश अपने गोदाम में स्टॉक के रूप में रख देते हैं जिसे वे बाद में कीमत ऊँची होने पर ही निकालते हैं। इस प्रकार आवश्यकतानुसार वस्तु के स्टॉक में परिवर्तन होता रहता है। लेकिन अति अल्पकाल में यदि माँग बढ़ती है तो पूर्ति एक सीमा तक (मौजूदा स्टॉक की मात्रा तक) ही बढ़ाई जा सकती है। जब सारा स्टॉक बाजार में सप्लाई हो जाता है तो उससे आगे पूर्ति वक्र पुनः लम्बवत् (vertical) हो जाता है और कीमत पर पुनः माँग का प्रभाव प्रबल हो जाता है।

निम्नांकित चित्र 1 (अ) की सहायता से टिकाऊ वस्तु की बाजार-कीमत का निर्धारण समझाया गया है।
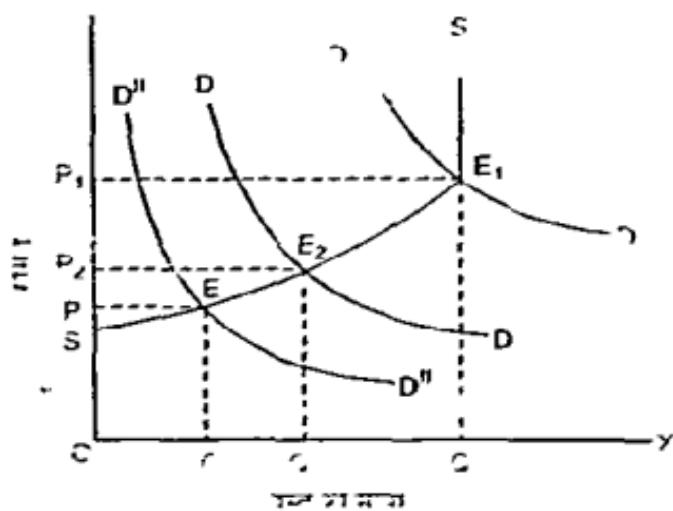
चित्र 1 (अ) —टिकाऊ वस्तु की बाजार-कीमत का निर्धारण

स्पष्टीकरण—यहाँ SS वक्र E_1 बिन्दु तक बढता है और उसके बाद यह E_1S के रूप में पूर्णतया लम्बवत्, अथवा पूर्णतया बेलोच, हो जाता है। DD व SS एक-दूसरे को E_2 बिन्दु पर काटते हैं जिससे OP_2 कीमत निर्धारित होती है। माँग के बढकर D D हो जाने पर नया सन्तुलन E_1 पर होता है जिससे कीमत बढकर OP_1 हो जाती है। यदि माँग घटकर D D पर आ जाती है तो E सन्तुलन बिन्दु पर कीमत OP होती है।

E_1 से आगे पूर्ति वक्र लम्बवत् (vertical) हो जाता है। अत यहाँ कुल स्टॉक = कुल पूर्ति की स्थिति आ जाती है। इससे आगे माँग के बढने से कीमत बढती है, क्योंकि पूर्ति जरा सी नहीं बढायी जा सकती। E_1 से आगे टिकाऊ वस्तु भी शीघ्रनाशी वस्तु का रूप धारण कर लेती है।

स्मरण रहे कि चित्र में OS कीमत पर वस्तु की पूर्ति शून्य होती है। इसे 'रिजर्व-कीमत' (reserve price) भी कहा जाता है। इस कीमत पर विक्रेता सारा माल गोदाम में रख देते है और कुछ भी माल बेचने के लिए बाहर नही रखते है। बाद में कीमत के बढने पर ही वे इसे बेचने को उद्यत होते हैं। रिजर्व-कीमत पर कई बातों का प्रभाव पडता है, जैसे भविष्य में कीमतों के सम्बन्ध में प्रत्याशाएँ, विक्रेताओं की नक्द-राशि की जरूरतें, संग्रह की लागतें, वस्तु का टिकाऊपन तथा भविष्य में उत्पादन की लागतें, आदि। यदि भावी कीमतों के बढने की आशा है तो रिजर्व-कीमत ऊँची रखी जाएगी। इसी प्रकार यदि विक्रेताओं को नकद-राशि की जरूरत ज्यादा होती है तो वे माल बेचने को अधिक उत्सुक होंगे एव रिजर्व कीमत नीची रखी जाएगी, एव यदि उनकी नक्द राशि की जरूरत कम होती है तो रिजर्व कीमत ऊँची रखी जाएगी। इस प्रकार रिजर्व कीमत पर कई तत्वों का प्रभाव पडता रहता है। S से E_1 तक पूर्ति-वक्र बढता जाता है। S पर पूर्ति शून्य होती है, तथा E_1 पर पूर्ति अधिकतम होती है और यह स्टॉक के बराबर हो जाती है। E_1 से आगे पूर्ति स्थिर रहती है।

इस प्रकार हमने देखा कि बाजार कीमत पर वस्तु की माँग का प्रभाव सर्वोपरि होता है, चाहे वस्तु शीघ्रनाशी हो अथवा टिकाऊ हो। लेकिन इन दोनों स्थितियों में थोडा अन्तर भी होता है, जिस पर आवश्यक ध्यान दिया जाना चाहिए।

बाजार कीमत वस्तु की कुल माँग व कुल पूर्ति से प्रभावित होती है। अत एक फर्म के लिए बाजार-कीमत दी हुई होती है जिस पर उसे उत्पत्ति की मात्रा निर्धारित करनी होती है जो उसे अधिकतम लाभ दे सके।

अल्पकाल में उत्पत्ति व कीमत-निर्धारण

(Price and Output Determination in the Short Period)

फर्म-सन्तुलन—हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं कि अल्पकाल में फर्म के लिए संयन्त्र का आकार दिया हुआ होता है। माँग के बढने पर फर्म अपने दिए हुए संयन्त्र का गहरा उपयोग करके अधिक उत्पादन करती है और माँग के घटने पर इसका कम उपयोग करके कम उत्पादन करती है। फर्म के लिए वस्तु की कीमत भी दी हुई होती है। अत

फर्म को तो केवल यह निर्णय करना होता है कि वह माल का कितना उत्पादन करे ताकि उसको अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके अथवा उसे न्यूनतम हानि हो। हम नीचे स्पष्ट करेंगे कि अल्पकाल में फर्म उस बिन्दु तक माल का उत्पादन करती है जहाँ पर कीमत = सीमान्त लागत हो जाती है। यह कोई नयी शर्त नहीं है। वास्तव में पूर्ण प्रतिस्पर्धा में कीमत = औसत आय = सीमान्त आय (price = AR = MR) होती है। अत फर्म के सन्तुलन बिन्दु पर सीमान्त आय = सीमान्त लागत (MR = MC) के साथ साथ AR या कीमत = सीमान्त लागत (price = MC) भी हो जाती है।

अल्पकाल में एक फर्म को लाभ हो सकता है अथवा हानि हो सकती है। लेकिन फर्म माल का उत्पादन तभी करेगी जबकि वस्तु की कीमत कम से कम औसत परिवर्तनशील लागत (AVC) के बराबर हो जाए। कीमत के औसत परिवर्तनशील लागत से कम होने की स्थिति में उत्पादन बन्द कर दिया जाएगा। अतः कीमत = औसत परिवर्तनशील लागत (price = AVC) का बिंदु फर्म के लिए उत्पादन बन्द करने का बिन्दु (shut-down point) कहलाता है। कीमत = औसत परिवर्तनशील लागत (price = AVC) के बिन्दु पर फर्म उत्पादन कर सकती है, अथवा नहीं भी कर सकती है, अर्थात् वह उत्पादन करने के सम्बन्ध में तटस्थ हो जाती है। इस बिन्दु पर फर्म को स्थिर लागत के बराबर हानि उठानी पड़ती है। लेकिन इस बिन्दु पर उत्पादन जारी रखने पर उसका बाजार से सम्पर्क अवश्य बना रहता है।

हम अल्पकाल में फर्म की उत्पत्ति की मात्रा को निश्चित करने के लिए इसके अल्पकालीन लागत-वक्रों का उपयोग करेंगे। इनका विस्तृत विवेचन लागत-वक्रों के अध्याय
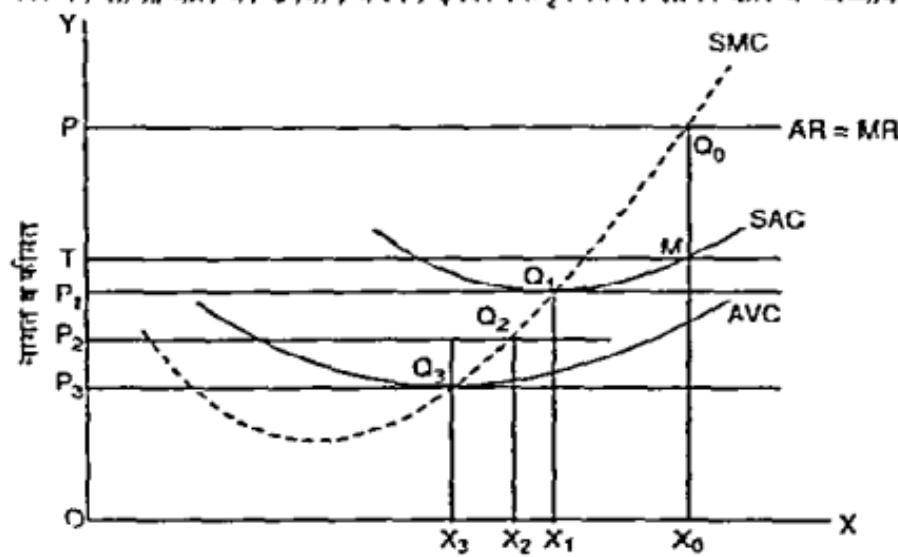
चित्र 2-अल्पकाल में फर्म के द्वारा उत्पत्ति की मात्रा का निर्धारण

में किया जा चुका है। चित्र 2 में AVC (औसत परिवर्तनशील लागत), SAC (अल्पकालीन औसत लागत) और SMC (अल्पकालीन सीमान्त लागत) का उपयोग करके फर्म के लिए विभिन्न स्थितियाँ स्पष्ट की गयी हैं।*

उपर्युक्त चित्र में, OP कीमत पर फर्म माल की OX_0 मात्रा का उत्पादन करती है। P कीमत पर फर्म का AR या MR वक्र SMS वक्र को Q_0 बिन्दु पर काटता है। अतः माल की X_0 मात्रा उत्पन्न की जाती है। यह समझना आसान होगा कि इस उत्पत्ति की मात्रा व कीमत पर फर्म को प्रति इकाई लाभ Q_0M और कुल लाभ $PTMQ_0$ होता है।

OP_1 कीमत पर माल की OX_1 मात्रा उत्पन्न की जाती है और कीमत के अल्पकालीन औसत लागत के बराबर होने पर यहाँ 'न लाभ न हानि' की स्थिति होती है। इसे फर्म का 'लागत कीमत साम्य बिन्दु' (break even point) कहते हैं। इस बिन्दु पर फर्म की कुल आय (कीमत × वस्तु की मात्रा) = कुल लागत (औसत लागत × वस्तु की मात्रा) होती है। फर्म को अधिसामान्य लाभ (abnormal profit) नहीं मिलता। साथ में इसे घाटा भी नही उठाना पडता। इसे केवल सामान्य लाभ (normal profits) ही प्राप्त होता है।

OP_2 कीमत पर माल की OX_2 मात्रा उत्पन्न की जाती है जिस पर कीमत के औसत लागत (SAC) से कम होने से घाटा होता है, फिर भी कीमत के औसत परिवर्तनशील लागत (AVC) से अधिक होने से स्थिर लागत (fixed cost) का कुछ अंश अवश्य निकल आता है और फर्म को उत्पादन जारी रखने में ही लाभ होता है।

OP_3 कीमत पर माल की OX_3 मात्रा उत्पन्न की जाती है। यहाँ पर कीमत बराबर है औसत परिवर्तनशील लागत (AVC) के। अतः फर्म को स्थिर लागत (fixed cost) के बराबर हानि उठानी पडती है। यह हानि तो शून्य उत्पत्ति पर भी उठानी पडती है। फर्म OP_3 से कम कीमत पर तो उत्पादन अवश्य बन्द कर देगी लेकिन प्रश्न यह है कि OP_3 पर उसे उत्पादन जारी रखना चाहिए अथवा बन्द कर देना चाहिए। वास्तव में, फर्म इस बिन्दु के सम्बन्ध में तटस्थ (neutral) रह सकती है। लेकिन इस पर उत्पादन को जारी रखने से फर्म का बाजार से सम्पर्क अवश्य बना रहेगा, जिसका महत्त्व भी कम नहीं है। अतः OP_3 कीमत पर फर्म को उत्पादन जारी रखना चाहिए। वैसे इस बिन्दु पर उत्पादन जारी रखने से आर्थिक दृष्टि से कोई लाभ नहीं है, लेकिन बाजार से सम्पर्क बनाये रखने के लिए उत्पादन जारी रखना उपयोगी रहेगा। पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि OP_3 कीमत (जहाँ कीमत = AVC होती है) फर्म के लिए 'उत्पादन बन्द करो' का बिन्दु (shut down points) होता है।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अल्पकाल में फर्म की उत्पत्ति व लाभ हानि का निर्धारण दी हुई कीमत के साथ अल्पकालीन लागत वक्रों का उपयोग करने से होता है।

* इस चित्र में फर्म के लिए अल्पकाल में लाभ, न लाभ व न हानि, हानि होने पर भी उत्पादन का जारी रहना एवं कीमत के औसत परिवर्तनशील लागत से नीचे आने पर हानि होने से उत्पादन बन्द करने जैसी सभी प्रकार की दशाएँ बतलायी गयी हैं। अतः पाठक इसका ध्यानपूर्वक अध्ययन करें।

फर्म का अल्पकालीन पूर्ति-वक्र
(Short-period Supply-Curve of the Firm)

चित्र 2 से फर्म का अल्पकालीन पूर्ति वक्र भी स्पष्ट हो जाता है। हम बतला चुके हैं कि फर्म Q_3 से नीचे उत्पादन नहीं करती है। Q_3 बिन्दु पर फर्म की सीमान्त लागत (SMC) औसत परिवर्तनशील लागत (AVC) के बराबर होती है। यह फर्म के लिए 'उत्पादन बन्द करने का बिन्दु' (shut-down point) कहलाता है। इस बिन्दु से कीमत के जरा-भी नीचे जाने पर उत्पादन बन्द कर दिया जाएगा। अतः फर्म के SMC वक्र का वह अंश जो Q_3 से ऊपर जाता है, फर्म का अल्पकालीन पूर्ति वक्र कहलाता है। इस पर उत्पादन करके फर्म अपना लाभ अधिकतम अथवा हानि न्यूनतम कर सकती है। इस अवधारणा का बड़ा महत्त्व होता है क्योंकि विभिन्न फर्मों के इन अल्पकालीन पूर्ति-वक्रों को क्षैतिज रूप में (horizontally) जोड़कर ही हम उद्योग का अल्पकालीन पूर्ति-वक्र निकालते हैं।

वास्तव में उद्योग के अल्पकालीन पूर्ति-वक्र की अवधारणा के फर्म के अल्पकालीन पूर्ति-वक्र की अवधारणा पर आश्रित होने से ही हमने अल्पकाल में पहले फर्म की स्थिति का वर्णन किया है। अब हम अल्पकाल में उद्योग में कीमत व उत्पत्ति के निर्धारण पर प्रकाश डालते हैं।

अल्पकाल में उद्योग में उत्पत्ति व कीमत-निर्धारण

उद्योग का पूर्ति-वक्र (Supply Curve for Industry)—विभिन्न फर्मों के SMC के उन अंशों को, जो AVC से ऊपर होते हैं, क्षैतिज रूप में जोड़कर उद्योग का पूर्ति-वक्र बनाया जा सकता है। यह प्रक्रिया निम्नांकित चित्र में दर्शायी गयी है—

चित्र 3 - उद्योग का पूर्ति-वक्र (अल्पकाल)
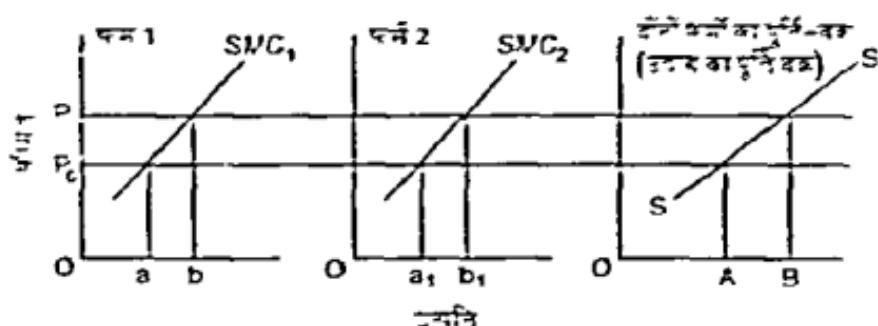
उपर्युक्त चित्र में P_0 कीमत पर फर्म 1 की पूर्ति की मात्रा a और फर्म 2 की a_1 होती है। इस प्रकार उद्योग में दो फर्मों के मानने पर इस कीमत पर दोनों की पूर्ति $(a + a_1) = A$ होती है। इसी तरह P कीमत पर दोनों की कुल पूर्ति B होती है जो $b + b_1$ के बराबर होती है। SMC_1 व SMC_2 क्रमशः दोनों फर्मों के सीमान्त

लागत वक्रों के AVC से ऊपर के अश हैं। अत SS उद्योग का पूर्ति वक्र बन जाता है।

अल्पकालीन 'सामान्य' कीमत का निर्धारण

अब हम अल्पकाल में पूर्ण प्रतिस्पर्धात्मक उद्योग में वस्तु की कीमत के निर्धारण का वर्णन करते हैं। यहाँ भी वस्तु की कीमत कुल माँग व कुल पूर्ति के सन्तुलन से निर्धारित होती है। उद्योग का पूर्ति वक्र ऊपर की ओर उठता हुआ होता है।
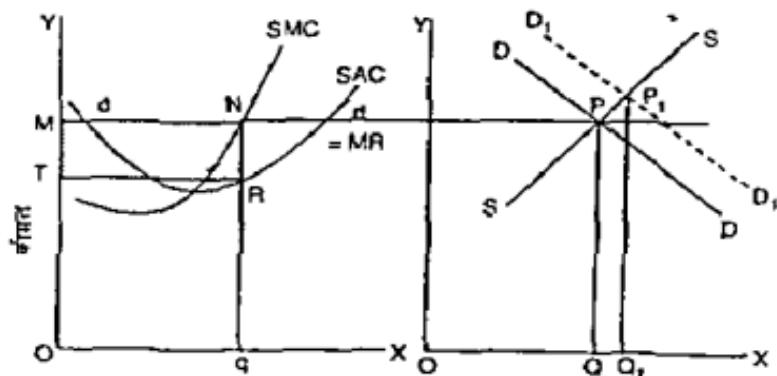
चित्र 4—अल्पकाल में उद्योग में उत्पत्ति व कीमत निर्धारण एव एक फर्म के द्वारा अपनी उत्पत्ति की मात्रा का निर्धारण

उपर्युक्त चित्र के दाहिनी तरफ उद्योग में माँग व पूर्ति की शक्तियों से P कीमत निर्धारित होती है। माँग के बढ जाने से कीमत बढकर P_1 हो जाती है। उद्योग में उत्पत्ति की मात्रा Q से बढकर Q_1 हो जाती है।

P कीमत पर एक फर्म (चित्र का बायाँ भाग) q माल का उत्पादन करती है जहाँ पर SMC वक्र फर्म के माँग वक्र को N बिन्दु पर काटता है। चित्र में दी हुई सूचना के अनुसार फर्म को P कीमत अथवा OM कीमत पर MNRT कुल लाभ प्राप्त होता है जो अधिकतम होता है। उद्योग में माँग के DD से बढकर D_1D_1 हो जाने से कीमत P से बढकर P_1 हो जाती है। P_1 कीमत पर फर्म पुन माल का इतना उत्पादन करती है जहाँ P_1 = MC हो जाए। ऐसा करके ही फर्म अपना लाभ अधिकतम कर पाती है। पाठक P_1 में से गुजरने वाली क्षैतिज रेखा डालकर एक फर्म के SMC के कटान बिन्दु की सहायता से उत्पत्ति की मात्रा व लाभ की मात्रा का निर्धारण कर सकते हैं।

अल्पकाल में उद्योग की कीमत पर माँग के परिवर्तनों व लागत के परिवर्तनों का प्रभाव पडता है। अल्पकालीन 'सामान्य' कीमत वह प्रत्याशित या सम्भावित कीमत होती है जो माँग व पूर्ति की दी हुई दशाओं में पायी जाती है। बाजार कीमत में

'सामान्य' कीमत के पास डोलने की प्रवृत्ति होती है (Market price moves around normal price)। यह 'सामान्य' कीमत से कम या अधिक हो सकती है। 'सामान्य' कीमत की इस प्रवृत्ति को देखकर इसे 'प्रत्याशित' या 'सम्भावित' कीमत कहना अधिक उपयुक्त माना जाता है।

दीर्घकाल में उत्पत्ति व कीमत का निर्धारण
(Determination of Price and Output in the Long Period)

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है दीर्घकाल में फर्में अपने संयन्त्र के आकार को बदल सकती हैं। उद्योग में नयी फर्में आ सकती हैं और पुरानी फर्में बाहर जा सकती हैं। इस प्रकार माँग के एक बार के परिवर्तन के अनुसार पूर्ति में पूर्ण परिवर्तन करने का अवसर मिल जाता है। यदि माँग बढ़ती है तो पुरानी फर्में अपना आकार बढ़ा सकती हैं और नयी फर्मों के प्रवेश से भी पूर्ति बढ़ सकती है। यदि माँग घटती है तो पुरानी फर्में अपना आकार घटा सकती हैं और कुछ घाटा उठाने वाली फर्में उद्योग को छोड़कर बाहर भी जा सकती हैं। इस प्रकार पूर्ति में माँग के अनुरूप परिवर्तन हो जाता है।

अतः दीर्घकाल में पूर्ति को परिवर्तित करने का पर्याप्त अवसर मिल जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि कीमत पर पूर्ति या लागत की दशाओं का प्रभाव अधिक सबल हो जाता है। इस सम्बन्ध में बढ़ती हुई लागत, समान लागत व घटती हुई लागत की दशाएँ पायी जा सकती हैं। हम नीचे इनका क्रमशः वर्णन करते हैं—

(1) बढ़ती हुई लागत (increasing cost) की स्थिति—प्रारम्भ में DD व SS वक्र P कीमत व Q मात्रा तय करते हैं। अल्पकाल में माँग के बढ़कर D_1D_1 हो जाने से कीमत बढ़कर P_1 व मात्रा बढ़कर Q_1 हो जाती है। बढ़ती हुई लागत की
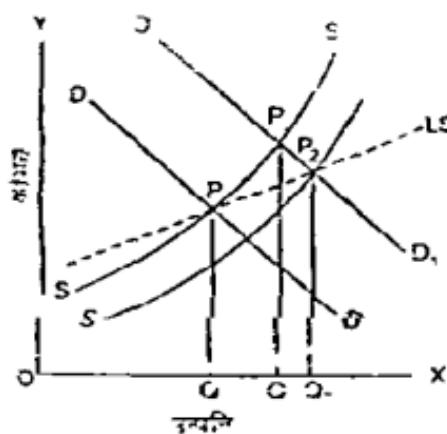
चित्र 5—उद्योग में बढ़ती लागत का प्रभाव (दीर्घकाल में कीमत निर्धारण)
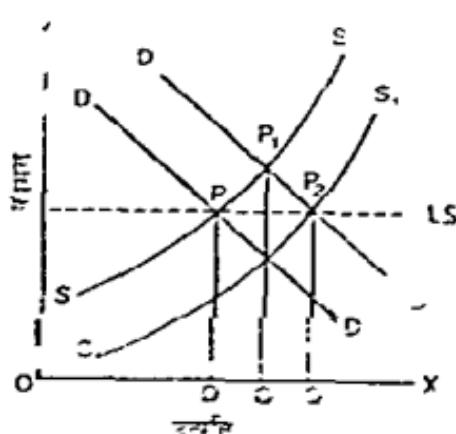
चित्र 6—उद्योग में समान लागत का प्रभाव (दीर्घकाल में कीमत-निर्धारण)

स्थिति में नया S_1S_1 वक्र नये माँग वक्र D_1D_1 को P_2 पर काटता है। अत दीर्घकाल में पूर्ति वक्र LS होगा और कीमत P_2 व वस्तु की मात्रा Q_2 होगी। दीर्घकालीन पूर्ति वक्र (LS) अल्पकालीन पूर्ति वक्र (SS) से अधिक लोचदार होता है। दीर्घकाल में बढती हुई लागत का कारण पैमाने की गैर किफायतें या अमितव्ययिताएँ (diseconomies of scale) होती है। साधनों की कीमतों के बढने से भी लागतें बढ जाती हैं। उत्पादन के साधनो की मात्रा स्थिर होती हैं। अत एक उद्योग में उत्पादन बढाने के लिए उत्पादन के साधन दूसरे उद्योगो से आकर्षित करने के लिए उनको ऊँचे मूल्य देने पडने हैं। फर्म के साधनों की उत्पादकता घट सकती है जिससे भी लागते बढ जाती हैं। आगे चलकर घटिया भूमि एव कम कार्यकुशल श्रमिकों का उपयोग करना होता है जिससे लागतें बढती हैं।

(2) समान लागत (constant cost) **की स्थिति**—यदि साधनो की कीमतें स्थिर रहती हैं और पैमाने के समान प्रतिफल मिलते हैं तो उद्योग का दीर्घकालीन पूर्ति वक्र क्षैतिज हो सकता है। ऐसी स्थिति में माँग के बढने से पूर्ति भी इस प्रकार बढ सकती है कि दीर्घकाल में कीमत नहीं बदलती। केवल उत्पत्ति की मात्रा Q से बढकर Q_2 हो जाती है। चित्र में प्रारम्भ में DD वक्र व SS वक्र एक दूसरे को P पर काटते हैं जहाँ उत्पत्ति की मात्रा Q होती है। फिर माँग वक्र बढकर D_1D_1 हो जाता है जिससे कीमत P_1 व वस्तु की मात्रा Q_1 हो जाती है। माँग के बढने से पूर्ति बढायी जाती है जो S_1S_1 हो जाती है जो D_1D_1 को P_2 कीमत पर काटती है जिससे वस्तु की मात्रा Q_2 हो जाती है। उद्योग मे समान लागत की स्थिति पाए जाने के कारण उद्योग का दीर्घकालीन पूर्ति वक्र अर्थात् LS वक्र, क्षैतिज आकार का (horizontal) होता है।

(3) घटती हुई लागत (decreasing cost) **की स्थिति—दीर्घकाल मे तीव्र गति स औद्योगिक प्रगति होने से कुछ उद्योगो मे घटती हुई लागत की स्थिति आ सकती** है, हालांकि व्यवहार में ऐसा प्राय कम ही देखने को मिलता है। ऐसा बाह्य किफायतों (external economies) के कारण हो सकता है, जैसे परिवहन के साधनों की प्रगति उपोत्पत्ति (byproducts) का उपयोग करने वाले उद्योगों की स्थापना वेयरहाउसिंग की सुविधा आदि। उद्योग के विस्तार की अवधि मे घटती हुई लागत की स्थिति आ सकती है। इससे व्यक्तिगत फर्मों के लागत वक्र नीचे की ओर खिसक जाते हैं। यह दशा अग्र चित्र में दिखलाई गयी है—

उद्योग में दीर्घकालीन लागत के घटने और माँग के बढने पर कीमत कम हो जाती है और वस्तु की मात्रा पहले से काफी बढ जाती है। चित्र में कीमत P से P_2 पर आ जाती है और वस्तु की मात्रा Q मे Q_2 पर चली जाती है।

इकर्ट व लेफ्टविच के अनुसार, हमने ऊपर जिन तीन स्थितियों का विश्लेषण किया है उनमें सम्भवत बढती हुई लागत के बाजार सबसे ज्यादा प्रचलन मे पाए जाते है। घटती हुई लागतों के पाये जाने की बहुत कम सम्भावना होती है। स्थिर लागत

वाला कल' आ जाता है तो वह 'आज' बन जाता है, इसलिए 'आने वाला कल' वस्तुत कभी नहीं आ पाता।

उद्योग में दीर्घकालीन सन्तुलन के सम्बन्ध में मार्शल का तो केवल यही आशय था कि दीर्घकालीन माँग व पूर्ति समान होते हैं। उद्योग में कुछ फर्मों का विस्तार होता है, कुछ में गिरावट आती है और कुछ में उत्पत्ति स्थिर रहती है। इस सम्बन्ध में मार्शल ने एक वन म पाये जाने वाले वृक्षों का दृष्टान्त दिया था। वन का किसी विशेष गति या रफ्तार म विकास होता है। इसमें कुछ वृक्ष अधिक तेजी से बढ़ते हैं, कुछ धीमी गति से बढ़ते हैं, कुछ समस्त वन की ही गति से बढ़ते हैं तथा कुछ वृक्ष नष्ट भी हो जाते हैं।[1] मार्शल के अनुसार, ऐसी ही स्थिति दीर्घकाल में एक उद्योग में विभिन्न फर्मों की पायी जाती है।

दीर्घकाल मे फर्म का सन्तुलन
(Equilibrium of the Firm in the Long Period)

ऊपर हमने दीर्घकाल में उद्योग में उत्पत्ति व कीमत निर्धारण का अध्ययन किया है। अब हम फर्म के दीर्घकालीन सन्तुलन पर विचार करते हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है दीर्घकाल में माँग के बढ़ने से पूर्ति को बढ़ाने के लिए चालू फर्में अपना आकार बढ़ा लेती हैं और नयी फर्मों का प्रवेश भी हो जाता है। पूर्ति के बढ़ने से कीमत घटकर औसत लागत के बराबर हो जाती है। औसत लागत में सामान्य लाभ शामिल कर लिया जाता है। इस प्रकार दीर्घकाल में एक फर्म को अधिसामान्य लाभ (सामान्य से अधिक लाभ) नहीं मिल पाते हैं। एक फर्म को दीर्घकाल में हानि भी नहीं उठानी पड़ती, क्योंकि कीमत के औसत लागत से कम होने पर वह फर्म उद्योग को छोड़ देती है। इस तरह दीर्घकाल में फर्म के सन्तुलन की स्थिति निम्नांकित होती है—
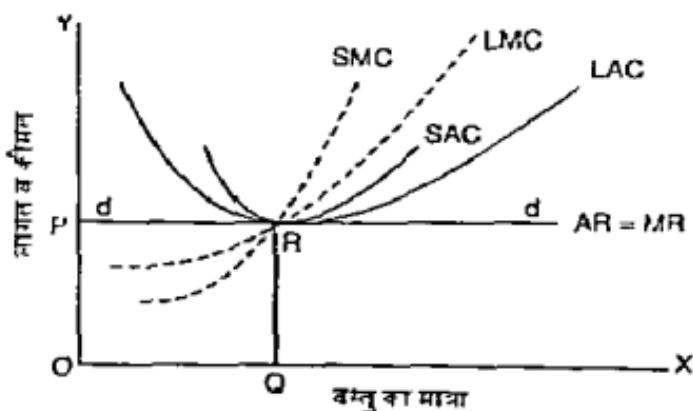
चित्र 8-फर्म का दीर्घकालीन सन्तुलन

1 Watson and Holman Price Theory and Its Uses, 4th ed 1978 pp 257-58

फर्म का दीर्घकालीन सन्तुलन उस बिन्दु पर होता है जहाँ औसत = अल्पकालीन सीमान्त लागत = अल्पकालीन औसत लागत = दीर्घकालीन औसत लागत = दीर्घकालीन सीमान्त लागत होते हैं। उपर्युक्त चित्र में वस्तु की OQ मात्रा पर MR = AR or price = SMC = SAC = LAC = LMC होते हैं। दीर्घकाल में प्रत्येक फर्म संयत्र के अनुकूलतम आकार (optimum size of plant) का निर्माण करके इसका उपयोग उत्पत्ति की अनुकूलतम दर (optimum rate of output) पर करती है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक फर्म न्यूनतम औसत लागत के बिन्दु तक उत्पादन करती है। अतः वह अनुकूलतम फर्म (optimum firm) कहलाती है। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि दीर्घकाल में एक फर्म को केवल सामान्य लाभ ही मिलता है, जो उसकी औसत लागत में शामिल होता है।

लिप्से व स्टिग्लर ने दो फर्मों का निम्न उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि वे अल्पकालीन सन्तुलन में तो होती हैं, लेकिन दीर्घकालीन सन्तुलन प्राप्त करने के लिए उनको अपने संयत्र के आकार बदलने होंगे। (प्रथम फर्म को अपना संयत्र का आकार बढ़ाना होगा और द्वितीय फर्म को अपने संयत्र का आकार घटाना होगा) ताकि दोनों की SAC का न्यूनतम बिन्दु LAC के न्यूनतम बिन्दु को स्पर्श कर सके और वहीं पर प्रत्येक फर्म की सन्तुलन-उत्पत्ति की मात्रा निर्धारित हो सके।

चित्र 9-दो फर्में अल्पकालीन सन्तुलन में, लेकिन दीर्घकालीन सन्तुलन में नहीं
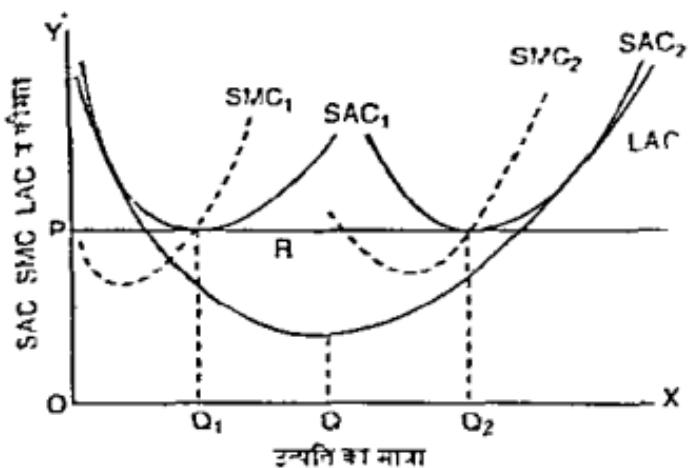
चित्र 9 में SAC_1 व SAC_2 दो फर्मों के अल्पकालीन औसत लागत-वक्र हैं, तथा साथ में उनके सीमान्त लागत वक्र भी दर्शाये गये हैं। OP कीमत उद्योग में निर्धारित हुई है, जिस पर पहली फर्म Q_1 माल तथा दूसरी फर्म Q_2 माल उत्पन्न करेगी। ये दोनों फर्मों के अल्पकालीन सन्तुलन को दर्शाते हैं। (यहाँ केवल सामान्य लाभ मिल रहे हैं)। LAC दीर्घकालीन औसत लागत वक्र है। फर्म 1 को अपना संयत्र का आकार बढ़ाना होगा तथा फर्म 2 को घटाना होगा, ताकि प्रत्येक फर्म LAC के न्यूनतम बिन्दु

तक अर्थात् Q तक उत्पादन कर सके। अतः दोनों फर्मों को दीर्घकाल में अपने संयंत्र के आकार बदलने होंगे तभी सन्तुलन प्राप्त हो सकेगा।

इस प्रकार दीर्घकाल में फर्में अपने संयंत्र के आकार को समायोजित (adjust) कर लेती हैं और अन्त में दीर्घकालीन औसत लागत वक्र के न्यूनतम बिन्दु पर उत्पादन करती हैं। अतः दीर्घकाल में पूर्ण प्रतिस्पर्धात्मक दशा में सभी फर्में 'लागत-कीमत साम्य' बिन्दु (break-even point) पर होती हैं। यदि उद्योग दीर्घकालीन सन्तुलन में होता है तो उसमें प्रत्येक फर्म भी दीर्घकालीन सन्तुलन में होती है। अधिकांश अर्थशास्त्रियों का मत है कि दीर्घकाल में सभी फर्मों के लागत वक्र पूर्णतया एक-से हो जाते हैं।

अति अल्पकाल, अल्पकाल व दीर्घकाल (बढ़ती लागत की स्थिति) में कीमत-निर्धारण का तुलनात्मक विवेचन
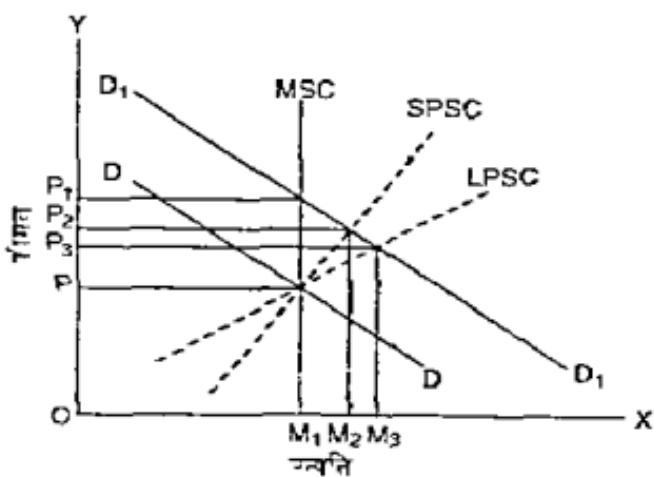
चित्र 10-तीन अवधियों में कीमत निर्धारण की तुलना

चित्र में MSC बाजार पूर्ति-वक्र, SPSC अल्पकालीन पूर्ति वक्र और LPSC दीर्घकालीन पूर्ति वक्र दर्शाये गए हैं। बाजार अवधि या अति अल्पकाल में कीमत P व मात्रा M_1 निर्धारित होती है। माँग के DD से बढ़कर D_1D_1 हो जाने पर कीमत P_1 हो जाती है और मात्रा M_1 ही रहती है। ऐसा अति अल्पकाल में होता है। अल्पकाल में कीमत P_2 व मात्रा M_2 हो जाती है और दीर्घकाल में बढ़ती हुई लागत की दशा में कीमत P_3 व मात्रा M_3 हो जाती है। इस प्रकार अवधि के बढ़ने के साथ-साथ पूर्ति वक्र के बदलने से कीमत व मात्रा पर प्रभाव पड़ता रहता है। अतः दीर्घकाल की कीमत P_3 अति अल्पकाल की कीमत P_1 तथा अल्पकाल की कीमत P_2 से नीची निर्धारित होती है, लेकिन यह प्रारम्भिक कीमत P से ऊँची होती है। कीमत-निर्धारण में समय-तत्त्व का प्रभाव दर्शाने के लिए इस चित्र का उपयोग अवश्य किया जाना चाहिए।

सारांश—ऊपर हमने अति अल्पकाल व दीर्घकाल में उद्योग में उत्पत्ति व कीमत के निर्धारण एवं साथ में एक फर्म के उत्पत्ति निर्धारण अथवा एक फर्म के सन्तुलन का विवेचन किया है। अति अल्पकाल में वस्तु की कीमत पर पूर्ति के स्थिर रहने के कारण माँग का अधिक प्रभाव पड़ता है। लेकिन अल्पकाल व दीर्घकाल में लागत की दशाओं का प्रभाव अधिक हो जाता है। अल्पकाल में एक फर्म के लिए संयंत्र का आकार दिया हुआ होता है जो दीर्घकाल में बदला जा सकता है। अल्पकाल में एक फर्म को लाभ हानि हो सकती है लेकिन कीमत के औसत परिवर्तनशील लागत (AVC) से नीचे आने पर उत्पादन बन्द करना होता है। अल्पकाल में भी औसत परिवर्तनशील लागत अवश्य प्राप्त होनी चाहिए। दीर्घकाल में एक फर्म को केवल सामान्य लाभ ही मिल पाते हैं। इससे अधिक लाभ मिलने पर नई फर्मों का प्रवेश चालू हो जाता है और इससे कम कीमत मिलने पर कुछ फर्में उद्योग को छोड़ देती हैं। अतः दीर्घकाल में फर्में अनुकूलतम आकार का संयंत्र स्थापित करके उसका उपयोग अनुकूलतम स्तर तक करती हैं, जहाँ औसत लागत न्यूनतम हो जाती है। अतः वे अनुकूलतम फर्में (optimum firms) बन जाती हैं।

कीमत के निर्धारण में माँग व पूर्ति दोनों की शक्तियाँ काम करती हैं, लेकिन अति अल्पकाल में माँग अधिक प्रभावशाली होती है और अल्पकाल व दीर्घकाल में पूर्ति अथवा लागत की दशाओं का प्रभाव अधिक होने लगता है। कीमत कभी भी अकेली माँग अथवा अकेली पूर्ति से निर्धारित नहीं होती है। प्रत्येक स्थिति में माँग व पूर्ति के संयुक्त प्रभाव से ही कीमत निर्धारित होती है। इस सम्बन्ध में मार्शल का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि काटने में एक कैंची के दोनों किनारे काम आते हैं। यदि कभी एक किनारे को स्थिर रखकर काटने का काम केवल दूसरे किनारे से किया जाए तो यह कहना गलत होगा कि केवल एक ही किनारा काटने का काम कर रहा है, क्योंकि दूसरा भी तो साथ में रहता है। इसी प्रकार वस्तु की कीमत माँग व पूर्ति दोनों के मेल में निर्धारित होती है, यह बात अलग है कि कभी माँग का प्रभाव अधिक प्रबल होता है तो कभी पूर्ति का।[1]

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 ब्रेक-इवन बिन्दु (लागत-कीमत साम्य बिन्दु) कब आता है?

(अ) जब फर्म के लिए कीमत = अल्पकालीन औसत लागत हो

(ब) जब कीमत = अल्पकालीन सीमान्त लागत हो

---

1 We might as reasonably dispute whether it is the upper or the under blade of pair of scissors that cuts a piece of paper as whether value is governed by utility or cost of production it is true that when one blade is held still and the cutting is effected by moving the other we may say with careless brevity that cutting is done by the second but the statement is not strictly accurate and is to be excused only so long as it claims to be merely a popular and not strictly scientific account of what happens."

—Marshall, Principles of Economics, 8th ed p 290

(स) जब कीमत = औसत परिवर्तनशील लागत हो

(द) जब कीमत = औसत स्थिर लागत हो (अ)

2 फर्म के लिए 'उत्पादन बन्द करो' (shut down point) कब आता है?

(अ) AC = MC (ब) p = AC

(स) p = AVC (द) p = AFC (स)

3 एक फर्म का अल्पकालीन पूर्ति-वक्र कहाँ से प्रारम्भ होता है?

(अ) SMC का वह अंश जो SAC को काटते हुए आगे बढता है

(ब) SMC का वह अंश जो AVC को काटते हुए आगे बढता है

(स) SMC का वह अंश जो AR = MR = p को काटते हुए आगे बढता है

(द) इनमें से कोई नहीं (ब)

यहाँ SMC = अल्पकालीन सीमान्त लागत, SAC = अल्पकालीन औसत लागत, AVC = औसत परिवर्तनशील लागत, AR = MR = p = औसत आय = सीमान्त आय = कीमत के सूचक हैं।

4 पूर्ण प्रतिस्पर्धा के एक उद्योग में दीर्घकाल में कौनसी दशा प्राय कम देखने को मिलती है?

(अ) बढती लागत की दशा (ब) समान लागत की दशा

(स) घटती लागत की दशा (द) सभी दशाएँ (स)

अन्य प्रश्न

1 पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत अल्पकाल एवं दीर्घकाल में रेखाचित्रों की सहायता से एक फर्म के सन्तुलन को समझाइये। (Raj II yr. 2002)

2 एक प्रतियोगी बाजार की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं? अल्पकाल में एक प्रतियोगी फर्म का सन्तुलन दर्शाइये। (Raj II yr. 2000)

3 पूर्ण प्रतियोगिता से आप क्या समझते हैं? एक पूर्ण प्रतियोगी फर्म की अल्पकालीन साम्यावस्था को स्पष्ट कीजिये। (MDSU, Ajmer II yr, 2000)

4 बाजार मूल्य क्या है? यह किस प्रकार निर्धारित होता है? आप बाजार मूल्य को किस प्रकार सामान्य मूल्य से अन्तर (भेदित) करते हैं?

(MLSU, Udaipur I yr 2001)

5 (अ) "पूर्ण प्रतियोगिता एक भ्रम है, जबकि एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता एक वास्तविकता।" इस कथन की पुष्टि कीजिए।

(ब) एक प्रतियोगी फर्म द्वारा अल्पकाल तथा दीर्घकाल में कीमत तथा उत्पत्ति का निर्धारण किस प्रकार किया जाता है? किन परिस्थितियों में फर्म अपने संयत्र को बन्द कर देना पसन्द करेगी?

6 (अ) शुद्ध प्रतियोगिता की व्याख्या कीजिए व इसके अन्तर्गत फर्म का साम्य अल्पकाल में स्पष्ट कीजिए।

(ब) (i) यदि किसी वस्तु की बाजार पूर्ति इस प्रकार है $Q_s = 50,000$ तो बतलाइये कि क्या यह अति अल्पकाल, अल्पकाल अथवा दीर्घकाल की स्थिति को बतलाता है?

(ii) यदि बाजार का माँग फलन $Q_d = 70\,000 - 5000\ P$ है व P रुपयों में है, तो बाजार साम्य कीमत एव मात्रा क्या होगी?

(iii) यदि बाजार माँग फलन बदलकर $Q_d^1 = 1,00\,000 - 5000\ P$ हो जाता है तो नई बाजार साम्य कीमत एव उत्पादन मात्रा क्या होगी?

भाग (i), (ii) व (iii) की स्थितियों का ग्राफ बनाइये।

[उत्तर-सकेत—(i) पूर्ति 50 हजार इकाई पर स्थिर है, अत यह अति अल्पकाल की स्थिति है, (ii) $Q_d = Q_s$ को लेने पर बाजार साम्य कीमत = 4 रुपया तथा वस्तु की मात्रा = 50 हजार इकाई, (iii) बाजार साम्य कीमत = 10 रु तथा वस्तु की मात्रा 50 हजार इकाई।]

7 पूर्ण प्रतियोगिता में अल्पकाल में एक फर्म के सन्तुलन तथा एक उद्योग के सन्तुलन में भेद कीजिए। इस सम्बन्ध मे पूर्ति बन्द (shut-down point) और लागत-कीमत साम्य (break-even point) बिन्दुओं का अर्थ भी समझाइए।

[सकेत—पूर्ति बन्द बिन्दु वह होता है जहाँ कीमत = औसत परिवर्तनशील लागत (price = AVC) होती है। इस बिन्दु से नीचे उत्पत्ति बन्द कर दी जाती है, लेकिन इस बिन्दु पर उत्पादक अनिश्चित स्थिति में होता है कि उत्पत्ति करे या न करे। लेकिन इस बिन्दु पर उत्पादन जारी रखने से उसका बाजार से सम्पर्क बना रहता है। कीमत = अल्पकालीन औसत लागत (p = SAC) का बिन्दु 'लागत कीमत साम्य' का बिन्दु होता है। इस पर उत्पादक को केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होते हैं।]

8 विवेचना कीजिए—

(अ) कीमत सिद्धान्त में 'समय तत्त्व'

(ब) पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत एक उद्योग के दीर्घकालीन साम्य की दशाओं की विवेचना कीजिए।

9 'अल्पकाल में वस्तु का मूल्य अधिकतर माँग की परिस्थितियों द्वारा तय होता है और दीर्घकाल में अधिकतर पूर्ति की परिस्थितियों द्वारा।' व्याख्या कीजिए।

10 पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत एक उद्योग में दीर्घकालीन साम्य की क्या-क्या विभिन्न शर्तें होती हैं? बढ़ती व घटती हुई लागतों के सन्दर्भ में एक उद्योग किस प्रकार कीमत व उत्पादन का निर्धारण करेगा?

11. बाजार मूल्य किसे कहते हैं? पूर्ण प्रतियोगिता बाजार में इसका निर्धारण किस प्रकार होता है?

□□□

20

एकाधिकार में कीमत व उत्पत्ति-निर्धारण, मूल्य-विभेद व एकाधिकारी शक्ति का माप

(Pricing and Output Under Monopoly, Price Discrimination & Measure of Monopoly Power)

एकाधिकार की परिभाषा

लिप्से व क्रिस्टल ने एकाधिकार की सबसे सरल परिभाषा दी है। उसके अनुसार, "एकाधिकार उस समय उत्पन्न होता है जब एक फर्म, जिसे एक एकाधिकारी या एक एकाधिकारी फर्म कहा जाता है, एक उद्योग की सम्पूर्ण उत्पत्ति स्वयं करती है।"[1]

दूसरी परिभाषा के अनुसार, एकाधिकारी एक ऐसी वस्तु का अकेला उत्पादक होता है जिसके समीप के स्थानापन्न पदार्थ (close substitutes) नहीं होते। एकाधिकारी कीमत निर्धारक होते हैं, न कि कीमत स्वीकारक (Monopolists are price makers, not price takers) एकाधिकारी को अपने प्रतिस्पर्धियों के कार्यों का कोई भय नहीं होता तथा उसके निर्णय से अन्य उत्पादक भी प्रभावित नहीं होते। यही कारण है कि एक एकाधिकारी अपने निर्णय लेने में स्वतन्त्र होता है।

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के विशेषज्ञ जोयल डीन (Joel Dean) ने एकाधिकार के अन्तर्गत पायी जाने वाली वस्तु को 'स्थायी विशेषता वाली वस्तु' माना है। इसका अर्थ यह है कि ऐसी वस्तु के कोई स्वीकार करने लायक स्थानापन्न पदार्थ नहीं होते, तथा इसकी यह विशेषता कई वर्षों तक चलती रहती है।

चेम्बरलिन व स्टोनियर तथा हेग ने विशुद्ध एकाधिकार (pure monopoly) उस स्थिति को माना है जहाँ एक एकाधिकारी का समस्त वस्तुओं व सेवाओं की पूर्ति पर नियन्त्रण हो जाता है। लेकिन व्यवहार में ऐसा सम्भव नहीं होता, इसलिए इस परिभाषा का कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

---

1 Lipsey & Chrystal Principles of Economics, Ninth Edition 1999 p 156

हम काल्वो व वाग (Calvo and Waugh) के मतानुसार एकाधिकार में तीन आधारभूत दशाएँ मान सकते हैं—(i) किसी भी समरूप या एक-सी वस्तु का अकेला विक्रेता, (ii) वस्तु के लिए समीप के स्थानापन्न पदार्थों का न होना, तथा (iii) उद्योग में प्रवेश पर प्रभावपूर्ण रुकावटें।[1] इस प्रकार काल्वो व वाग ने एकाधिकार की परिभाषा में उद्योग में प्रवेश की प्रभावपूर्ण बाधाओं को भी शामिल किया है।

उद्योग में प्रवेश के मार्ग में साधारणतया निम्न किस्म की बाधाएँ पायी जा सकती हैं—

(1) बाजार सीमित होने से एक से ज्यादा फर्म की आवश्यकता ही नहीं होती,

(2) एकाधिकारी की कीमत-नीति के कारण अन्य फर्में प्रवेश करने को उत्सुक नहीं होतीं। उनको यह भय रहता है कि एकाधिकारी अपनी सुदृढ़ वित्तीय स्थिति के कारण कीमत कम करके उनको उस उद्योग में ठहरने नहीं देगा,

(3) एकाधिकारी का कच्चे माल व उत्पादन के अन्य साधनों पर नियन्त्रण हो सकता है,

(4) एकाधिकारी को किसी वस्तु के उत्पादन अथवा किसी प्रक्रिया के सम्बन्ध में सरकार की तरफ से पेटेन्ट राइट्स मिल सकते हैं,

(5) एकाधिकारी को सरकारी कॉन्ट्रैक्ट या ठेके पर काम मिले हुए हो सकते हैं,

(6) एकाधिकारी को प्रशुल्कों व आयात-कोटा आदि के अन्तर्गत सुरक्षा मिल सकती है,

(7) पैमाने की किफायतों या बचतों के कारण भी एकाधिकार की दशा उत्पन्न हो सकती है। उत्पादन बढ़ाने से लागतें घटती जाती हैं, जिससे नये प्रतिस्पर्धियों के लिए प्रवेश के अवसर बन्द हो जाते हैं। अतः कई प्रकार की रुकावटों व प्रतिबन्धों के कारण फर्में प्रवेश नहीं कर पातीं तथा एकाधिकार की दशा बनी रहती है।

वास्तविक जगत में एकाधिकार की स्थिति कम ही देखने को मिलती है, फिर भी सार्वजनिक उपयोगिता सम्बन्धी सेवाओं (public utility services) में, जैसे वाटर सप्लाई, विद्युत की सप्लाई, रेल, राष्ट्रीयकृत सड़क-परिवहन, टेलीफोन आदि में जो स्थिति पायी जाती है, वह एकाधिकार के समीप होती है। एकाधिकार की स्थिति का अध्ययन करने से हमारी पूर्ण प्रतिस्पर्धा की जानकारी अधिक विस्तृत व अधिक स्पष्ट होती है और अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की विभिन्न स्थितियों, जैसे एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा व अल्पविक्रेताधिकार या अल्पाधिकार के अध्ययन में भी सुविधा होती है। एकाधिकार की

1 For a monopoly to exist, three basic conditions have to be satisfied (a) a single seller of a homogeneous commodity (b) no close substitutes for the commodity and (c) effective barriers to entry into the industry
—Peter Calvo and Geoffrey Waugh Microeconomics : An Introductory Text, 1979 p 153

स्थिति अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की चरम सीमा मानी जा सकती है। दूसरे शब्दों में, एकाधिकार की स्थिति में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा सबसे ज्यादा अपूर्ण बन जाती है।

हम अल्पकाल व दीर्घकाल में एकाधिकार की स्थिति में कीमत व उत्पत्ति के निर्धारण का वर्णन करके कीमत विभेद (price-discrimination) के विभिन्न पहलुओं का विवेचन करेंगे। एकाधिकार की स्थिति में करारोपण व सब्सिडी या आर्थिक सहायता का भी उत्पत्ति व कीमत पर प्रभाव समझाया जाएगा तथा अध्याय के अन्त में एकाधिकार व पूर्ण प्रतिस्पर्धा की परस्पर तुलना की जाएगी।

एकाधिकारी एक से अधिक माँग की लोच ($e > 1$) अथवा लोचदार माँग के क्षेत्र में उत्पादन करता है।

एकाधिकार में फर्म व उद्योग का भेद समाप्त हो जाता है, क्योंकि एकाधिकारी फर्म ही एकाधिकारी उद्योग का रूप धारण कर लेती है। इसमें अन्य फर्मों का प्रवेश नहीं हो पाता। **एकाधिकार में फर्म के लिए औसत आय (AR) और सीमान्त आय (MR) समान नहीं रहते, जैसा कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा में होता है।** इसका कारण यह है कि एकाधिकारी एक ही कीमत पर चाहे जितना माल नहीं बेच सकता। उसे अधिक *माल बेचने के लिए अपनी वस्तु की कीमत घटानी होती है। इस प्रकार एकाधिकारी* **फर्म** का औसत आय वक्र या उसकी वस्तु का माँग वक्र साधारण माँग वक्र की भाँति नीचे की ओर झुकता है। सीमान्त आय वक्र (MR) औसत आय वक्र (AR) से नीचे रहता है। यह बात निम्नांकित सारणी में स्पष्ट हो जाती है—

सारणी 1-एकाधिकार के अन्तर्गत औसत आय, कुल आय व सीमान्त आय

कीमत (F) (=AR)	बिक्री की मात्रा	कुल आय (रु.) (TR)	सीमान्त आय (रु) (MR)
20	5	100	–
19	6	114	14
18	7	126	12
17	8	136	10
16	9	144	8
15	10	150	6
14	11	154	4
13	12	156	2
12	13	156	0
11	14	154	–2

प्रस्तुत सारणी से स्पष्ट है कि एकाधिकारी को अधिक माल बेचने के लिए कीमत कम करनी होती है। एकाधिकारी के लिए औसत आय व सीमान्त आय वक्र *चित्र 1 में दर्शाये गये है।*

औसत आय वक्र (AR) फर्म की वस्तु का माँग वक्र (DD) भी कहलाता है। यह विभिन्न कीमतो पर एक वस्तु की बेची जाने वाली विभिन्न मात्राओं को सूचित करता है। MR वक्र इससे नीचे होता है और जिस बिन्दु पर यह OX अक्ष को काटता है वहाँ सीमान्त आय (MR) शून्य के बराबर होती है।

चित्र 1–एकाधिकार के अन्तर्गत AR व MR

माँग की लोच के अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है कि जिस स्थान पर MR = 0 होगी, वहाँ AR वक्र पर माँग की लोच इकाई के बराबर होगी। चित्र 1 मे R बिन्दु पर e = 1 होती है। इसके बायी तरफ e > 1 और दायी तरफ e < 1 होती है। इस विवेचन से यह निष्कर्ष भी सामने आ जाता है कि **एकाधिकारी जिस स्थान पर अपनी उत्पत्ति की मात्रा निर्धारित करता है वहाँ पर माँग की लोच एक से अधिक होती है।** R के बायी तरफ माँग की लोच एक से अधिक होती है जिससे सीमान्त आय भी धनात्मक होती है और कीमत के घटने पर कुल आय (TR) बढ जाती है। चित्र से स्पष्ट होता है कि R के दायीं तरफ माँग की लोच के एक से कम होने से कीमत के घटने से कुल आय घटती है और सीमान्त आय ऋणात्मक होती है। अत एकाधिकारी के लिए उत्पत्ति की दृष्टि से **वह क्षेत्र उपयुक्त माना जाता है जहाँ माँग की लोच एक से अधिक होती है, क्योंकि इसी क्षेत्र मे सीमान्त आय धनात्मक पायी जाती है।** स्मरण रहे कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा में AR = MR होती है, और दोनों OX-अक्ष के समानान्तर होते हैं। लेकिन एकाधिकार में AR वक्र नीचे की ओर झुकता है और MR वक्र इससे नीचे रहता है।

एकाधिकार में अल्पकाल मे कीमत व उत्पत्ति का निर्धारण–

इसके लिए दो विधियों का प्रयोग किया जा सकता है–

(1) कुल आय – कुल लागत (TR – TC) की विधि तथा,

(2) सीमान्त लागत = सीमान्त आय (MC = MR) की विधि जहाँ सीमान्त लागत सीमान्त आय को नीचे से काटती है एवं कीमत औसत परिवर्तनशील लागत से अधिक रहती है ($p > AVC$)। नीचे इनका चित्रों सहित वर्णन किया जाता है—
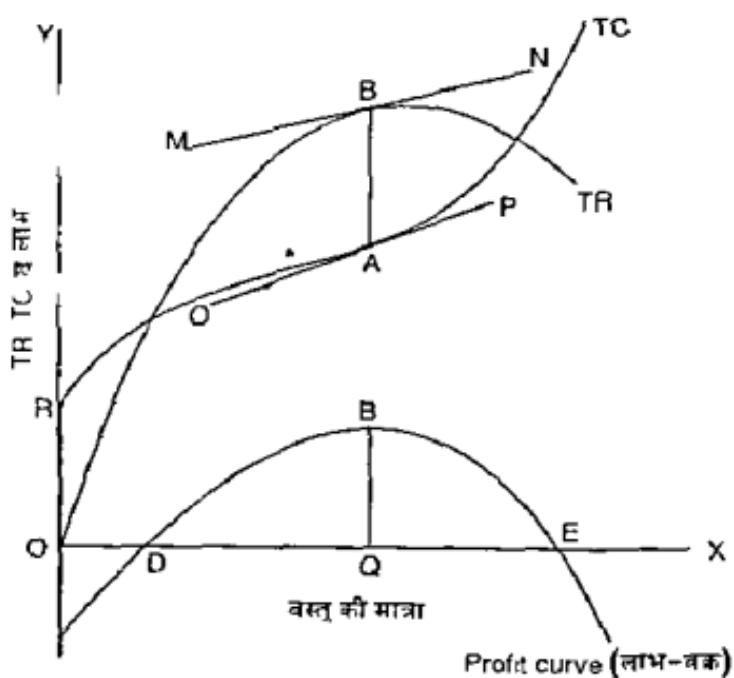
चित्र 2 कुल आय व कुल लागत (TR व TC) विधि के द्वारा अल्पकाल में एकाधिकार के अन्तर्गत उत्पत्ति का निर्धारण

फर्म के सन्तुलन के विवेचन में (TR – TC) विधि को एक संख्यात्मक उदाहरण से स्पष्ट किया गया था। एकाधिकारी अपना लाभ अधिकतम करना चाहता है। अतः वह उस बिन्दु तक उत्पादन करता है जहाँ पर उसका लाभ अधिकतम हो जाता है। इसके लिए उत्पत्ति की वह मात्रा चुनी जाती है जहाँ TR वक्र व TC वक्र की आपस की दूरी अधिकतम हो जाती है। इसे ऊपर चित्र 2 की सहायता से स्पष्ट किया गया है।

स्पष्टीकरण—OX अक्ष पर उत्पत्ति की मात्रा व OY-अक्ष पर TR, TC व लाभ मापे गये हैं। TC वक्र R से प्रारम्भ होता है, अतः OR स्थिर लागत (fixed cost) को सूचित करती है। TR वक्र मूल बिन्दु से प्रारम्भ होकर बढ़ता है और एक सीमा के बाद घटता है। TR व TC की अधिकतम दूरी AB के बराबर होती है, जो B बिन्दु पर MN स्पर्श रेखा व A पर स्पर्श रेखा OP के समानान्तर होने से प्राप्त होती है।

(1) कुल आय व कुल लागत की विधि का उपयोग करके अल्पकाल में एकाधिकारी-सन्तुलन की स्थिति—शुरू में TR = TC होने पर लाभ की मात्रा शून्य होती है, जो लाभ वक्र (profit curve) पर D बिन्दु से सूचित की गई है। अधिकतम लाभ की मात्रा AB होती है जो लाभ वक्र पर BQ दूरी से सूचित की गई है। अतः एकाधिकारी अपना लाभ अधिकतम करने के लिए OQ माल का उत्पादन करेगा। बाद में लाभ पुनः घटने लगता है और अन्त में TR = TC होने पर नीचे E बिन्दु पर शून्य हो जाता है और बाद में ऋणात्मक हो जाता है।

(TR = TC) की यह विधि अधिकतम उत्पत्ति का कोई निश्चित बिन्दु नहीं दे पाती, बल्कि इसमें स्पर्श रेखाएँ खींचकर उसका पता लगाया जाता है। इसके अलावा इसमें चित्र को देखते ही कीमत का ज्ञान नहीं होता, बल्कि TR में उत्पत्ति का भाग देकर उसका पता लगाया जाता है। अतः उत्पत्ति निर्धारण की यह विधि पुरानी व कम निश्चित किस्म की मानी जाती है। इसके स्थान पर आजकल दूसरी विधि MC = MR का उपयोग किया जाने लगा है, जो अधिकतम लाभ का एक स्पष्ट व अधिक निश्चित बिन्दु प्रदान करती है।

(2) सीमान्त लागत = सीमान्त आय (MC = MR) की विधि—इसके अन्तर्गत उत्पत्ति की मात्रा MC = MR के द्वारा निर्धारित होती है। यहाँ पर MC वक्र MR-वक्र को नीचे से काटता है तथा एकाधिकारी फर्म का मुनाफा अधिकतम होता है। स्मरण रहे कि एकाधिकार में कीमत की राशि सीमान्त लागत से अधिक होती है (P > MC) एवं कीमत औसत परिवर्तनशील लागत (AVC) से भी अधिक होती है। कीमत के AVC से कम होने पर उत्पादन बन्द करना होता है।

अल्पकाल में साधारणतया चित्र 3 (अ) का उपयोग करके एकाधिकार के अन्तर्गत कीमत उत्पत्ति निर्धारण को स्पष्ट किया जाता है।

स्पष्टीकरण—चित्र 3 (अ) में AR, MR व SAC तथा SMC वक्र दर्शाये गये हैं। SMC वक्र MR वक्र को E बिन्दु पर काटता है जिससे OQ उत्पत्ति की मात्रा निर्धारित होती है। QE को ऊपर बढ़ाने पर यह AR या DD वक्र को R पर काटती है, जिससे QR कीमत या OP कीमत निर्धारित होती है। OQ उत्पत्ति पर अल्पकालीन औसत लागत SQ होती है जिससे प्रति इकाई लाभ RS होता है। अतः एकाधिकारी का कुल लाभ = TSRP होता है।

मुख्य निष्कर्ष—(1) औसत लागत वक्र *SAC* पर *TSRP* कुल लाभ, (2) औसत लाभ वक्र SAC_1 पर अधिसामान्य लाभ नहीं (no super-normal profit), अर्थात् केवल सामान्य लाभ (normal profits) ही प्राप्त होते हैं।

हमने ऊपर अल्पकाल में एकाधिकार के अन्तर्गत लाभ की स्थिति दर्शायी है। लेकिन यह आवश्यक नहीं कि एकाधिकारी को अल्पकाल में सदैव लाभ ही प्राप्त हो। यह SAC की आकृति पर निर्भर करता है। यदि अल्पकालीन औसत लागत वक्र AR वक्र को कीमत निर्धारण के बिन्दु पर छूता है (जैसा कि, चित्र 3 (अ) में SAC_1 वक्र
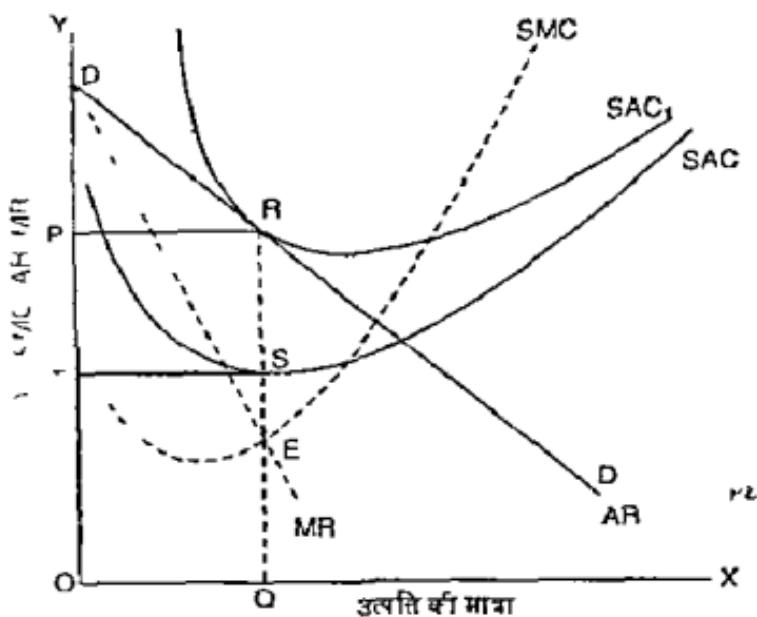
चित्र 3 (अ) MC = MR विधि का उपयोग करके अल्पकाल में एकाधिकार के अन्तर्गत कीमत उत्पत्ति निर्धारण अधिसामान्य लाभ व केवल सामान्य लाभ की दशाएं।

दिखलाया गया है)* तो एकाधिकारी को केवल सामान्य लाभ ही मिल पाते हैं। इससे अधिक लाभ नहीं मिल पाते हैं।

क्या एकाधिकारी को अल्पकाल मे हानि भी हो सकती है?

हमने ऊपर एकाधिकारी के लिए लाभ की स्थिति तथा 'न लाभ न हानि (no profit no loss) की स्थिति का विवेचन किया है। प्राय यह प्रश्न उठाया जाता है क्या एकाधिकारी को अल्पकाल मे हानि भी हो सकती है। इसका उत्तर यह होगा कि उसे अल्पकाल में हानि हो सकती है, लेकिन पूर्ण प्रतिस्पर्धा की भाँति यहाँ भी कीमत औसत परिवर्तनशील लागतों से अधिक होनी चाहिए। यदि एकाधिकारी की लागत ऊँची है तथा बाजार अपेक्षाकृत छोटा होता है तो उसे अल्पकाल मे घाटा हो सकता है, जो चित्र 3 (आ) से स्पष्ट हो जाता है।

चित्र 3(आ) में SAC व SMC क्रमश औसत व सीमान्त लागत वक्र हैं। SMC वक्र MR को E बिन्दु पर काटता है। अत उत्पत्ति की मात्रा OQ होती है, प्रति इकाई कीमत NQ तथा प्रति इकाई लागत RQ होती है, जिससे प्रति इकाई घाटा

* जब लाभ की स्थिति दिखानी हो तब SAC_1 न बनाएं। जब 'न लाभ-न हानि' की स्थिति दिखानी हो तब SAC न दिखाएँ, ताकि चित्र स्पष्ट दिखायी दे। स्मरण रहे कि यहाँ चित्र 3 (अ) में अधिसामान्य लाभ (super normal profit) व सामान्य लाभ (न लाभ-न हानि) (normal profit) दोनों ही दशाएँ एक ही रेखाचित्र की सहायता से समझाई गई हैं।
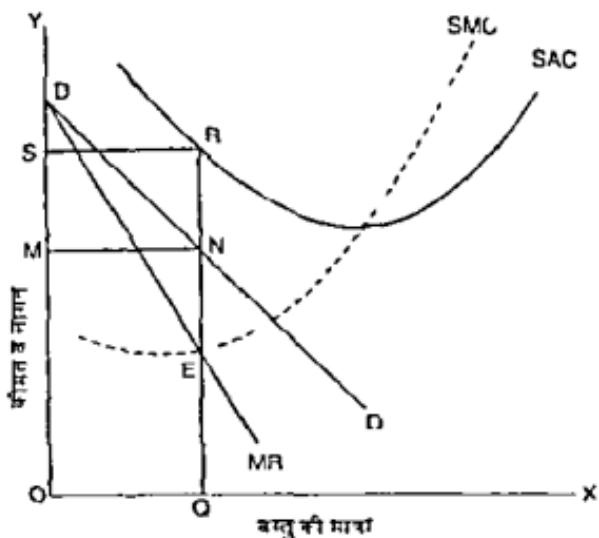
चित्र 3—(आ) एकाधिकारी के लिए अल्पकाल में हानि या घाटे की स्थिति

RN होता है। अतः कुल घाटा (RN×MN) = MNRS होता है जो यहाँ न्यूनतम माना जाता है। अतः एकाधिकारी को अल्पकाल में घाटा भी हो सकता है।

इस प्रकार अल्पकाल में एकाधिकारी को अधि-सामान्य लाभ (super-normal profits) मिल सकते हैं, अथवा उसे केवल सामान्य लाभ मिल सकते हैं, अथवा उसे घाटा भी उठाना पड सकता है। व्यवहार में ये तीनों दशाएँ सम्भव होती हैं। लेकिन ज्यादातर लाभ की दशा ही दर्शायी जाती है।

जहाँ तक लागत वक्रों का प्रश्न है उनके सम्बन्ध में एकाधिकार में कोई नयी बात नहीं होती। अल्पकाल में एकाधिकारी फर्म के लिए भी सयन्त्र का आकार दिया हुआ होता है। लेकिन सन्तुलन के बिन्दु पर सीमान्त लागत बढती हुई, समान व घटती हुई हो सकती है। पूर्ण प्रतिस्पर्धा में फर्म के सन्तुलन पर सीमान्त लागत केवल बढती हुई ही होती है। एकाधिकार में यह बढती हुई, समान व घटती हुई हो सकती है, लेकिन यह शर्त अवश्य लागू होती है कि सन्तुलन के बिन्दु पर सीमान्त लागत वक्र सीमान्त आय-वक्र को नीचे से ही काटता है।

अल्पकाल मे एकाधिकार के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के सीमान्त लागत वक्रों की दशा मे कीमत व उत्पत्ति का निर्धारण

विभिन्न प्रकार की लागत दशाओं में अल्पकाल में एकाधिकारी फर्म का सन्तुलन चित्र 4 की सहायता से स्पष्ट किया जाता है।

आगे चित्र के (अ), (आ) और (इ) में क्रमश बढती हुई सीमान्त लागत, समान सीमान्त लागत व घटती हुई सीमान्त लागत की दशाओं में एकाधिकारी फर्म का सन्तुलन
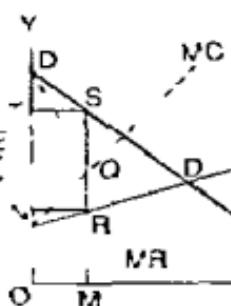
उत्पत्ति की मात्रा (अ)
(बढ़ती सीमान्त लागत)
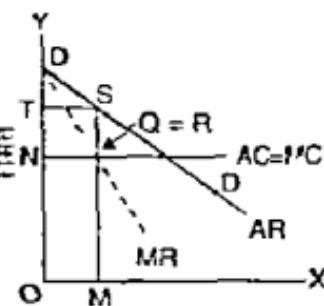
उत्पत्ति की मात्रा (आ)
(समान सीमान्त लागत)
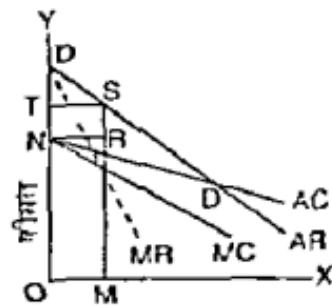
उत्पत्ति की मात्रा (इ)
(घटती सीमान्त लागत)

चित्र 4—एकाधिकारी फर्म का अल्पकालीन सन्तुलन सीमान्त लागत की विभिन्न दशाओं में दर्शाया गया है। प्रत्येक चित्र में AR या DD वक्र, MR, AC व MC वक्र खींचे गये हैं और MC वक्र MR वक्र को Q बिन्दु पर काटता है, और उत्पत्ति की मात्रा OM निर्धारित होती है। वस्तु की कीमत SM, औसत लागत RM और प्रति इकाई लाभ की मात्रा RS होती है। कुल लाभ की मात्रा RSTN होती है चित्र 4 (आ) में Q = R है जिसमें अन्य परिणाम भी ऊपर की भाँति ही सूचित किये गये हैं। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि प्रत्येक स्थिति में MC वक्र MR वक्र को नीचे से अथवा बायीं तरफ से ही काटता है। चित्र 4 (इ) में सीमान्त लागत (MC) घट रही है, लेकिन सीमान्त आय (MR) भी घट रही है। यहाँ MC वक्र MR वक्र को बायीं तरफ से काटता है।

चित्र 4 (ई) में MC रेखा MR से नीचे बनी रहती है और इसे काटती नहीं। ऐसी स्थिति में एकाधिकारी फर्म सन्तुलन में नहीं हो सकती, क्योंकि MC वक्र MR वक्र को काटता नहीं है। अतः केवल इस स्थिति में ही एकाधिकारी फर्म सन्तुलन में नहीं हो पाती। वैसे बढ़ती, समान व घटती सीमान्त लागत की दशाओं में एकाधिकारी फर्म को सन्तुलन प्राप्त हो सकता है।

चित्र 4—(ई)
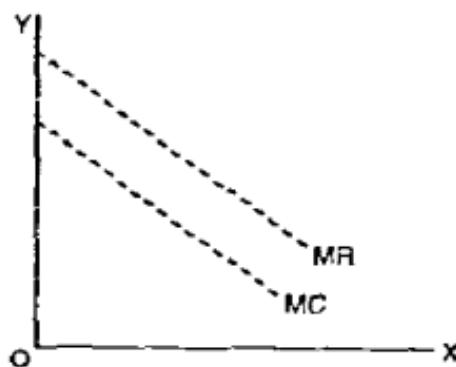
एक एकाधिकारी अपनी वस्तु की कीमत व उत्पत्ति की मात्रा में से किसी एक को ही निर्धारित कर सकता है, दोनों को नहीं—ऊपर हमने अल्पकाल में एकाधिकार के अन्तर्गत उत्पत्ति व कीमत निर्धारण का जो वर्णन किया है उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि एकाधिकारी उत्पत्ति की मात्रा व कीमत में से किसी एक को ही निर्धारित

कर सकता है, एक साथ दोनों को नहीं। अधिकतम लाभ अथवा न्यूनतम हानि के लिए जब उत्पत्ति की मात्रा निर्धारित हो जाती है तो उसके अनुरूप कीमत स्वत AR वक्र की सहायता से निकाली जा सकती है। उदाहरण के लिए चित्र 4 (अ) में OM उत्पत्ति की मात्रा के निर्धारित हो जाने पर वस्तु की कीमत SM अपने आप निश्चित हो जाती है जो एकाधिकारी का लाभ अधिकतम करती है। इसी प्रकार यदि एकाधिकारी SM कीमत निर्धारित करता है तो इस कीमत पर अधिकतम लाभ के लिए वस्तु की OM मात्रा का उत्पादन करना ही सर्वोत्तम माना जाएगा। यहा पर हमने MC = MR का बिन्दु लिया है लेकिन यह तर्क अन्य बिन्दुओं पर भी लागू किया जा सकता है। **कहने का आशय यह है कि एकाधिकारी उत्पत्ति की मात्रा व कीमत दोनों को अलग अलग निर्धारित नहीं कर सकता।** सर्वाधिक लाभ या न्यूनतम हानि के लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए यदि वह उत्पत्ति की मात्रा निर्धारित कर लेता है तो कीमत स्वत तय हो जाती है और यदि वह पहले कीमत निर्धारित कर लेता है तो उसके अनुरूप उत्पत्ति की मात्रा स्वत तय हो जाती है। अत उसके द्वारा उत्पत्ति की मात्रा अथवा कीमत दोनों में से कोई भी एक निर्धारित की जाती है। एक साथ दोनों निर्धारित नहीं किए जाते। एकाधिकार की दशा में इस बात पर विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है। उसे यह या वह जैसी स्थिति का सामना करना पड़ता है।

एकाधिकार के अन्तर्गत दीर्घकाल में कीमत व उत्पत्ति का निर्धारण

एकाधिकार वाले उद्योग में दीर्घकाल में भी फर्मों का प्रवेश अवरुद्ध (entry barrier) होता है। एकाधिकारी को इस बात का प्रयास करना पड़ता है कि वह नयी फर्मों के प्रवेश को रोक सके अन्यथा वह एकाधिकारी नहीं रह सकेगा। जैसा की प्रारम्भ में बतलाया जा चुका है। प्रवेश पर कई तरह से रोक लगायी जा सकती है—

(1) आवश्यक कच्चे माल के स्रोतों पर नियन्त्रण स्थापित कर लिया जाता है।

(2) एकाधिकारी फर्म के कुछ विशेषाधिकार (patent rights) हो सकते हैं जिनकी वजह से अन्य फर्म उसके माल की नकल नहीं कर सकतीं।

(3) बाजार सीमित होने से यदि एकाधिकारी फर्म के अलावा कोई दूसरा फर्म प्रवेश करती है तो दोनों को घाटा होता है। इस प्रकार प्रवेश स्वय रुक जाता है।

(4) सार्वजनिक सेवा के क्षेत्रों में सरकारी या सार्वजनिक उपक्रमों का एकाधिकार स्थापित हो जाता है।

(5) पैमाने की किफायतें मिलने से एकाधिकार बना रहता है।

दीर्घकाल में भी एकाधिकारी के असामान्य लाभ कायम रह सकते हैं और फर्म उस स्थान तक उत्पत्ति करती है जहाँ दीर्घकालीन सीमान्त लागत (LMC) सीमान्त आय (MR) के बराबर होती है। लेकिन दीर्घकाल में एकाधिकारी के लागत वक्र बदल जाते हैं, क्योंकि वह सयन्त्र के आकार (size of the plant) में आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर सकता है।

इस प्रकार एकाधिकार में दीर्घकाल मे नयी फर्मों का प्रवेश निषिद्ध होता है। लेकिन माँग के परिवर्तनों के अनुसार एकाधिकारी फर्म को अपने सयन्त्र के आकार को परिवर्तित करने का पूरा अवसर मिल जाता है। इस सम्बन्ध में निम्न तीन स्थितियाँ पायी जा सकती हैं—

(1) सयन्त्र के सर्वाधिक कार्यकुशल से कम आकार (less than most efficient size of plant) का निर्माण करके उसे उत्पत्ति की सर्वाधिक कार्यकुशल दर से कम (less than most efficient rate of output) पर सचालित करना, इसे **अनुकूलतम आकार से कम वाले सयन्त्र (suboptimal plant) पर अतिरिक्त क्षमता (excess capacity) की दशा भी कह सकते है।**

(2) सयन्त्र के सर्वाधिक कार्यकुशल आकार (most efficient size of plant) का निर्माण करके उसे उत्पत्ति की सर्वाधिक कार्यकुशल दर (the most efficient rate of output) पर सचालित करना **इसे अनुकूलतम आकार के सयन्त्र पर अनुकूलतम क्षमता (optimal plant with optimal capacity) की दशा भी कह सकते है।**

(3) सयन्त्र के सर्वाधिक कार्यकुशल से बडे आकार (greater than most efficient size of plant) का निर्माण करके उसे उत्पत्ति की सर्वाधिक कार्यकुशल दर से अधिक (more than most efficient rate of output) पर सचालित करना। इसे अनुकूलतम आकार से बडे सयन्त्र पर अनुकूलतम क्षमता से आगे के प्रयोग (larger than optimal plant with more than optimal capacity use) की दशा भी कह सकते हैं।

इन तीनों स्थितियों[1] में एकाधिकारी फर्म अधिसामान्य या असामान्य लाभ कमाती है।

यहाँ पर हम केवल प्रथम स्थिति का चित्र द्वारा स्पष्टीकरण करते हैं, जहाँ एकाधिकारी दीर्घकाल में सर्वाधिक कार्यकुशल से कम आकार का सयन्त्र अपनाकार उसका उत्पत्ति की सर्वाधिक कार्यकुशल दर से कम पर उपयोग करता है। इस प्रकार पैमाने की सारी किफायतों का लाभ नही उठाया जाता, अर्थात् कुछ किफायतों का लाभ उठाना बाकी रह जाता है।

---

1 Eckert and Leftwich The price system and resource allocation, 10th ed 1988 pp 363-365 दीर्घकाल में एकाधिकारी कीमत-निर्धारण में पाठक चित्र 5 का प्रयोग करें जो सम्भावित स्थितियों में से एक है। अन्य स्थितियाँ उच्च पाठ्यक्रम में ली जा सकती हैं। प्रथम स्थिति में LAC वक्र दीर्घकाल में अपनाये गए सयन्त्र के आकार के SAC वक्र को उसके गिरते हुए भाग पर छूता है, दूसरी स्थिति में यह SAC वक्र को उसके न्यूनतम बिन्दु पर छूता है (जो LAC वक्र का भी न्यूनतम बिन्दु होता है) और तीसरी स्थिति में LAC वक्र SAC वक्र को इसके ऊपर की ओर उठते हुए हिस्से पर छूता है।

दीर्घकाल मे एकाधिकार के अन्तर्गत उत्पत्ति-कीमत का निर्धारण (प्रथम स्थिति)

मयन्त्र के सर्वाधिक कार्यकुशल मे कम का आकार (Less than most efficient size of plant or suboptimal plant) – छोटे आकार के शहरों में स्थानीय बिजली की कम्पनियाँ प्राय सर्वाधिक कार्यकुशल से नीचे मयन्त्र के आकार को अपनाकार सर्वाधिक कार्यकुशल से कम दर पर बिजली का उत्पादन करती हैं। इसका कारण यह है कि बिजली की स्थानीय माँग बडी सीमित होती है जिसमें बिजली उत्पन्न करने का सयन्त्र इतना छोटा रखना पडता है कि यह सबसे अधिक कार्यकुशल साज सामान व तकनीक का उपयोग नहीं कर सकता। फिर भी जो सयन्त्र प्रयुक्त किया जाता है उसमें कुछ अतिरिक्त क्षमता अवश्य रहती है जिसका उपयोग माँग के बढने की स्थिति में ही किया जाता है।

उपर्युक्त स्थिति में उत्पत्ति व कीमत निर्धारण को चित्र 5 पर दर्शाया गया है।[1] इस चित्र में LMC वक्र MR वक्र को जहाँ काटता है वहाँ उत्पत्ति की मात्रा OX_0 होती है और कीमत PX_0 होती है। इसी सन्तुलन पर LAC वक्र SAC वक्र को गिरते हुए भाग पर छूता है। एकाधिकारी की औसत लागत QX_0 होती है। अत कुल मुनाफा PQRS होता है।
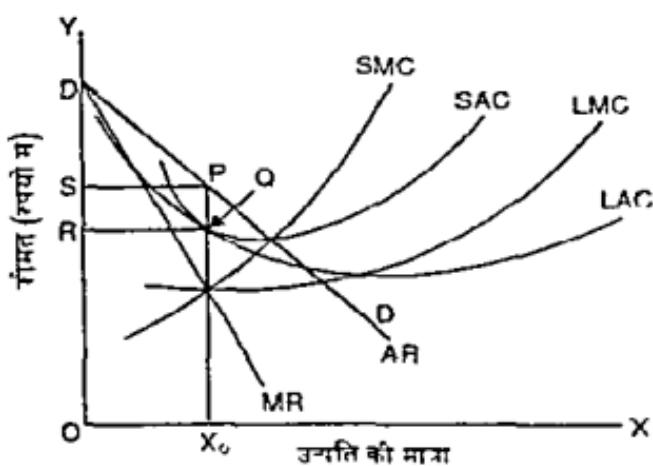
चित्र 5-दीर्घकाल मे एकाधिकार के अन्तर्गत कीमत निर्धारण
(सयन्त्र का सर्वाधिक कार्यकुशल से कम आकार एव उत्पत्ति की सर्वाधिक कार्यकुशल से कम दर)

1 अल्पकालीन व दीर्घकालीन औसत व सीमान्त लागत वक्रों का एक साथ उपयोग प्राय उच्चस्तरीय अध्ययन में ही किया जाता है। अत पाठक इस चित्र का उपयोग आवश्यकतानुसार करें।

यदि फर्म संयन्त्र का आकार अथवा SAC पर उत्पत्ति की दर बदलती रहती है तो उसका मुनाफा कम हो जाता है। इस प्रकार छोटा बाजार होने पर एकाधिकारी संयन्त्र का सर्वाधिक कार्यकुशल से कम आकार (Suboptimal plant) रखेगा, और उसको उत्पत्ति की सर्वाधिक कार्यकुशल से कम दर अर्थात् अतिरिक्त क्षमता (excess capacity) पर संचालित करेगा। उसका बाजार इतना बड़ा नहीं है कि वह संयन्त्र का आकार इतना बड़ा कर ले कि पैमाने की सारी किफायतों का लाभ प्राप्त कर सके। वह जिस संयन्त्र के आकार का उपयोग करता है उसमें कुछ अतिरिक्त क्षमता अवश्य पायी जाती है। यदि वह अपना संयन्त्र का आकार SAC से छोटा कर लेता है ताकि उसमें कोई अतिरिक्त उत्पादन क्षमता न रहे तो वह SAC के द्वारा प्रदान की जाने वाली पैमाने की किफायतों को खो देता है। इस प्रकार लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है।

स्मरण रहे कि सैद्धान्तिक दृष्टि से एक ऐसी स्थिति की भी कल्पना की जा सकती है जहाँ दीर्घकाल में एकाधिकारी को कोई अधिसामान्य लाभ अथवा हानि न हो, अर्थात् उसे केवल सामान्य लाभ ही मिल सके। ऐसे सन्तुलन की स्थिति में MC = MR के साथ-साथ औसत लागत वक्र औसत आय-वक्र को भी स्पर्श करेगा। यह अधिसामान्य लाभ या हानि की स्थिति नहीं होती है।

क्या एकाधिकारी कीमत सदैव प्रतिस्पर्धात्मक कीमत से ऊँची होती है?
(Is Monopoly price always higher than Competitive price ?)

प्राय एकाधिकारी कीमत ऊँची होती है, लेकिन यह आवश्यक नहीं कि यह सदैव प्रतिस्पर्धात्मक कीमत से ऊँची ही रहे। निम्न दो दशाओं में एकाधिकारी कीमत प्रतिस्पर्धात्मक कीमत से नीची भी हो सकती है—

(1) सार्वजनिक एकाधिकार (Public monopoly)—इसमें सरकार प्राय लाभ अधिकतमकरण के उद्देश्य से नहीं चलती, बल्कि 'न लाभ न हानि' के लक्ष्य को ध्यान में रखकर भी चल सकती है। ऐसा सार्वजनिक उपयोगिताओं के क्षेत्रों तथा अनिवार्य उपभोग्य वस्तुओं में पाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में एकाधिकारी कीमत प्रतिस्पर्धात्मक कीमत से नीची पायी जा सकती है। सार्वजनिक हित को ध्यान में रखकर सरकार कम कीमत रख सकती है तथा प्राय रखती भी है।

(2) निजी एकाधिकार (Private monopoly)—इसमें कई बार ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसमें प्रतिस्पर्धात्मक दशाओं की तुलना में उत्पादन की कार्यकुशलता बढ़ जाती है जिससे लागत कम हो जाती है और कीमत भी कम की जा सकती है। मान लीजिए, कुछ ऊँची लागत वाली फर्में अचानक किसी एकाधिकारी फर्म के अधिकार में चली जाती हैं, जो अपने नियन्त्रण में उनकी कार्यकुशलता को बढ़ाकर उत्पादन लागत कम कर देता है। ऐसी दशा में पहले की तुलना में लागत कम हो जाने से कीमत भी कम हो जाती है। यह स्थिति अग्र चित्र में दर्शायी गयी है—
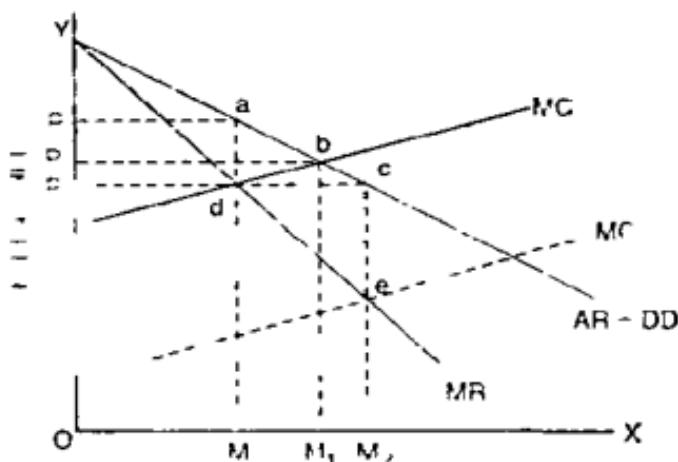
चित्र 6 एकाधिकारी कीमत व प्रतिस्पर्धात्मक कीमत

चित्र 6 में प्रतिस्पर्धात्मक कीमत OP_1 तथा उत्पत्ति की मात्रा OM_1 होती है, क्योंकि MC पूर्ति वक्र DD को b बिन्दु पर काटता है। एकाधिकार स्थापित होने के बाद कीमत बढ़कर OP हो जाती है और उत्पत्ति की मात्रा घटकर OM पर आ जाती है, क्योंकि MC व MR एक-दूसरे को d पर काटते हैं। लेकिन ऐसा अपरिवर्तित MC वक्र की दशा में होता है। अत यहाँ तक तो एकाधिकारी कीमत प्रतिस्पर्धात्मक कीमत से अधिक होती है तथा एकाधिकारी उत्पत्ति प्रतिस्पर्धात्मक उत्पत्ति से कम होती है। बाद में एकाधिकारी के द्वारा कार्यकुशलता में सुधार करने से नयी सीमान्त लागत MC_1 हो जाती है, जिससे उत्पत्ति की मात्रा OM_2 व कीमत OP_2 हो जाती है। इस प्रकार नये सुधारों से लागत घटती है जिससे एकाधिकारी कीमत OP_2 हो जाती है, जो प्रतिस्पर्धातमक कीमत OP_1 से नीची होती है। इस प्रकार एकाधिकार के अन्तर्गत भी कीमत के घटने व उत्पत्ति के बढ़ने की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

अत उपर्युक्त दो दशाओं में एकाधिकारी कीमतें प्रतिस्पर्धात्मक कीमतों से नीची पायी जा सकती हैं।

एकाधिकार में पूर्ति-वक्र की अनुपस्थिति (Absence of a Supply Curve under monopoly) अथवा पूर्ति-वक्र को परिभाषित नहीं किया जा सकता (Supply Curve cannot be defined)

एकाधिकार में वस्तु की बाजार कीमत और पूर्ति की मात्रा में कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं पाया जाता, जैसा कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा में पाया जाता है। एकाधिकारी सीमान्त लागत को सीमान्त आय के बराबर तो करता है ताकि अपने लाभ अधिकतम कर सके, लेकिन उसके लिए सीमान्त आय (marginal revenue) कीमत (price) के बराबर नहीं होती, और इसी वजह से वह सीमान्त लागत को कीमत के बराबर नहीं कर पाता। ऐसी दशाओं में माँग की विभिन्न परिस्थितियों के कारण एक ही उत्पत्ति की मात्रा पर

विभिन्न कीमतें पायी जा सकती हैं। अत एक दी हुई कीमत पर उत्पत्ति की मात्रा जानने के लिए हमें माँग वक्र व सीमान्त लागत वक्र दोनों को जानना होता है।

निम्न चित्रों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि माँग वक्र के नीचे की ओर झुकने के कारण कीमत व उत्पत्ति की मात्रा में कोई सुनिश्चित सम्बन्ध नहीं होता।
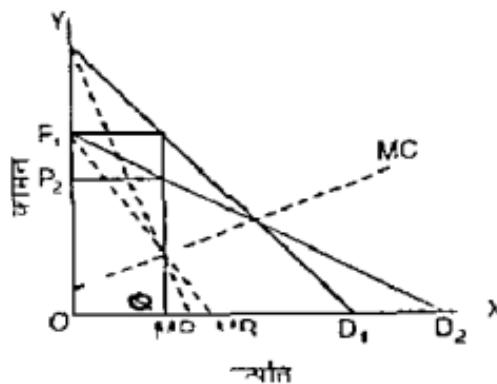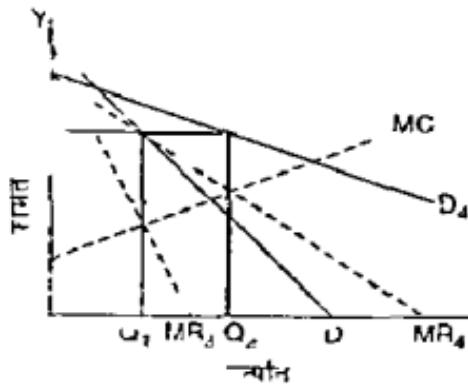
चित्र 7 (अ) एक ही उत्पत्ति की मात्रा पर दो भिन्न भिन्न कीमतें
(आ) - एक ही कीमत पर दो भिन्न भिन्न उत्पत्ति की मात्राएँ

उपर्युक्त चित्र 7 (अ) में D_1 व D_2 दो माँग वक्र हैं और उनके अनुरूप MR_1 व MR_2 सीमान्त आय वक्र हैं। MC सीमान्त लागत वक्र है। जब माँग वक्र D_1 होता है तो $MR_1 = MC$ होने पर उत्पत्ति OQ और कीमत OP_1 होती है। माँग वक्र D_2 पर $MR_2 = MC$ होने पर उत्पत्ति पुन OQ ही रहती है, लेकिन अब कीमत OP_2 हो जाती है। **इस प्रकार भिन्न भिन्न कीमतों पर एक ही उत्पत्ति की मात्रा सम्भव हो सकती है। अत एकाधिकार में पूर्ति वक्र को परिभाषित नहीं किया जा सकता।**

दूसरे चित्र 7 (आ) में एक ही कीमत पर उत्पत्ति की दो भिन्न भिन्न मात्राएँ दर्शायी गई हैं। माग के D_3 होने पर $MR_3 = MC$ पर उत्पत्ति OQ_1 तथा कीमत OP_3 होती है। माँग के D_4 हो जाने पर $MR_4 = MC$ पर उत्पत्ति OQ_2 तथा कीमत पुन वही OP_3 होती है। इस प्रकार एक ही कीमत पर उत्पत्ति की मात्राएँ भिन्न भिन्न हो सकती हैं। **इससे भी स्पष्ट होता है कि एकाधिकार मे पूर्ति-वक्र को परिभाषित नहीं किया जा सकता।**

चित्र 7 (अ) व (आ) का उद्देश्य केवल यह दर्शाना है कि एकाधिकार में बाजार कीमत व पूर्ति की मात्रा में कोई सुनिश्चित सम्बन्ध नहीं पाया जाता है। एक ही उत्पत्ति पर दो कीमतें अथवा एक ही कीमत पर दो उत्पत्ति की मात्राएँ सम्भव हो सकती हैं। पूर्ण प्रतिस्पर्धा में तो एक फर्म की सीमान्त लागत का जो अश औसत परिवर्तनशील

लागत से ऊपर रहता है वह फर्म का पूर्ति वक्र बन जाता है और बाजार में कई फर्मों के पूर्ति वक्र जोड़कर एक उद्योग का पूर्ति वक्र बन जाता है। लेकिन उसी प्रकार की विशेष स्थिति एकाधिकार में नहीं पायी जाती। यहाँ तो एक कीमत पर उत्पत्ति की दो मात्राएँ तथा दो कीमतों पर उत्पत्ति की एक ही मात्रा पायी जा सकती है, जिससे यह कहा जा सकता है कि एकाधिकार में पूर्ति वक्र अनुपस्थित होता है।[1] इससे एकाधिकार व पूर्ण प्रतिस्पर्धा का अन्तर भी सामने आ जाता है।

एकाधिकारी शक्ति का अंश (Degree of Monopoly Power)

काल्वो व वाग के अनुसार एकाधिकारी शक्ति को तीन तरह से मापा जा सकता है—

(i) सीमान्त लागत व कीमत के अन्तर को फर्म की एकाधिकारी शक्ति का माप माना जा सकता है। *सीमान्त लागत व कीमत का अन्तर जितना अधिक होता है,* एकाधिकारी शक्ति भी उतनी ही अधिक होती है।

ए पी लर्नर (A P Lerner) ने इसके लिए निम्न सूत्र दिया है—

$$\mu = \frac{p-c}{p} \quad \text{... (1)}$$

जहाँ μ *एकाधिकार का अंश,* p = *वस्तु की कीमत, तथा* c = *सीमान्त लागत* (MC) के सूचक हैं। माँग की लोच के अध्याय में AR, MR व e का निम्न सम्बन्ध भी स्पष्ट किया जा चुका है—

$$MR = p\left(1-\frac{1}{e}\right)$$

एकाधिकारी-सन्तुलन के लिए, MC = MR होती है।

अत:
$$MC = p\left(1-\frac{1}{e}\right) = p - \frac{p}{e} \quad \text{...(2)}$$

सूत्र (1) में MC का मूल्य रखने पर—

$$\mu = \frac{p-p+\frac{p}{e}}{p} = \frac{\frac{p}{e}}{p} = \frac{1}{e}$$

इस प्रकार एकाधिकार का अंश वस्तु की माँग की लोच का विलोम होता है। ***माँग की लोच जितनी अधिक होती है (अकीय रूप में), एकाधिकार का अंश उतना*** **ही कम होता है। माँग की लोच जितनी कम होती है** (केवल अंकीय मूल्य पर विचार किया जाता है), **एकाधिकार का अंश उतना ही अधिक होता है तथा e = 0 होने पर एकाधिकार का अंश 1/0 = ∞ (अनन्त) हो जाता है।**

1 Richard G Lipsey and K Alec Chrystal **Principles of Economics**, 9th ed 1999 p 159

(ii) एकाधिकारी शक्ति का अश एकाधिकार के अधिसामान्य (supernormal) मुनाफो व प्रतिस्पर्धात्मक सामान्य (normal) मुनाफों के अन्तर से जाना जा सकता है। इन दोनों में जितना अधिक अन्तर होता है एकाधिकारी शक्ति उतनी ही अधिक होती है।

(iii) एकाधिकारी शक्ति का अश बाजार में फर्म के कुल अश को देखकर भी जाना जा सकता है। सामान्यतया बाजार मे 35 से 40 प्रतिशत नियन्त्रण होने पर एक फर्म को एकाधिकारी स्थिति प्राप्त हो जाती है। इससे अधिक अश होने पर एकाधिकारी शक्ति भी बढ जाती है।

एकाधिकार के अन्तर्गत कीमत-विभेद
(Price-Discrimination under Monopoly)

जब एक एकाधिकारी अपनी वस्तु को दो या अधिक कीमतों पर बेचता है तो उस स्थिति को कीमत विभेद अथवा 'भेदात्मक एकाधिकार' (discriminating monopoly) की स्थिति कहते हैं। जैसे पुस्तक के सजिल्द सस्करण व पेपरबेक सस्करण अथवा डीलक्स सस्करण व साधारण सस्करण के मूल्यों में भारी अन्तर पाए जाते हैं। बिजली घरेलू कार्यों के लिए ऊँचे मूल्यों पर तथा औद्योगिक कार्यों के लिए नीचे मूल्य पर दी जा सकती है। इसी प्रकार परिवारों के दो प्रकार के मीटर लगाकर प्राय 'पावर' वाले मीटर पर कम दर से बिजली सप्लाई की जाती है। ट्रेन में फर्स्ट क्लास व सेकिण्ड क्लास की टिकटें दी जाती हैं। **लिप्से व क्रिस्टल ने कीमत विभेद के कई दृष्टान्त दिए** है जैसे कच्चा दूध तरल दूध के रूप में काम में लेने के लिए एक भाव पर दिया जाता है जबकि आइसक्रीम या पनीर बनाने के लिए कम भाव पर दिया जाता है, डॉक्टर प्राइवेट प्रैक्टिस में प्राय अपनी सेवाएँ रोगियो की आमदनी के आधार पर देते हैं, सिनेमा घरो में बच्चों के लिए टिकट की दरें अन्य से कम होती हैं, रेले विभिन्न पदार्थों के लिए प्रति टन प्रति किलोमीटर भिन्न भिन्न माल भाडा लेती हैं विद्युत कम्पनियाँ घरों में बिजली एक दर पर व फर्मों को दूसरी दर पर (विकसित देशों में प्राय कम दर पर) देती हैं तथा एयरलाइन्स प्राय शनिवार रात तक रहने वालों से कम चार्ज करती हैं बनिस्पत उनके जो सप्ताह के अन्दर ही आते हैं और चले जाते हैं।[1] इस प्रकार व्यवहार में अनेक प्रकार के कीमत विभेद पाये जाते है। अत एकाधिकार की स्थिति में कीमत विभेद एक आम बात हो गयी है। कीमत विभेद किस सीमा तक किया जा सकता है यह परिस्थितियों पर निर्भर करता है। पीगू ने जिसे प्रथम श्रेणी का विभेद (first degree discrimination) कहा है, उसमें तो वस्तु की प्रत्येक इकाई की कीमत भिन्न होती है। इसे पूर्ण कीमत विभेद (perfect price discrimination) की स्थिति भी कह सकते हैं। **हम आगे चलकर प्रथम अश (first degree), द्वितीय अश (second degree), तथा तृतीय अश (third degree) के कीमत-विभेदो पर विचार करेंगे।**

पूर्ण प्रतिस्पर्धा का कीमत विभेद से मेल नही खाता, क्योंकि यदि एक विक्रेता अपनी वस्तु का ऊँचा मूल्य लेता है तो ग्राहक तुरन्त दूसरे विक्रेताओं की तरफ चले

1 Lipsey & Chrystal Principles of Economics 9th ed 1999 p 161

जाते हैं। लेकिन एकाधिकार के अन्तर्गत कीमत विभेद सम्भव हो सकता है और प्राय होता भी है।

कीमत विभेद की मूलभूत शर्त—कीमत विभेद की मूलभूत शर्त (Fundamental or basic condition) यह है कि एक उपभोक्ता दूसरे उपभोक्ता को अपना माल न बेच सके। मोहन को एक वस्तु 10 रु में और सोहन को वही वस्तु 5 रु में दी जाती है और यदि सोहन वह वस्तु मोहन को बेच सकता है तो कीमत विभेद विफल हो जाएगा। इस प्रकार कीमत विभेद तभी सफल हो सकता है जबकि एकाधिकारी बाजार के विभिन्न भागों में विभिन्न क्रेताओं के बीच आपसी लेन देन सम्भव न हो सके। इस दशा में माल किसी भी तरह एक क्रेता से दूसरे क्रेता तक नहीं पहुँचाया जा सकता। इस शर्त के पूरा हुए बिना कीमत विभेद नहीं चल सकता।

स्टोनियर व हेग के अनुसार कीमत विभेद की निम्न तीन मुख्य परिस्थितियाँ होती है—

(1) उपभोक्ताओं की विशेषताओं (Consumer's peculiarities) के कारण—कीमत विभेद इस स्थिति में तीन कारणों से हो सकता है जैसे (अ) उपभोक्ताओं को बाजार के विभिन्न भागों में प्रचलित कीमतों का ज्ञान न हो (आ) उपभोक्ता के मन में यह बात अविवेकपूर्ण ढग से बैठ गयी हो कि वह ज्यादा अच्छी वस्तु के लिए ऊँची कीमत दे रहा है [उदाहरण के लिए, सम्भवतः यह सोचना अविवेकपूर्ण होगा कि किसी सिनेमाघर में 25 रुपये वाली सीटों की पंक्ति में बैठकर फिल्म देखने से ज्यादा अच्छा लगेगा, बनिस्बत 10 रुपये वाली सीटों की पिछली पंक्ति (back row) से जहाँ ये दोनों पंक्तियाँ एक दूसरे से पूरी तरह सटी हुई होती हैं।] और (इ) कीमत के मामूली अन्तरों की परवाह न करने से भी कीमत विभेद बना रहता है।

(2) वस्तु की प्रकृति (Nature of the goods) के कारण—उपभोक्ता को मिलने वाली प्रत्यक्ष सेवाओं में प्राय इस तरह का कीमत विभेद पाया जाता है। नाटक या थियेटर एवं सर्कस में आगे की सीटों के भाव पीछे की सीटों से अधिक होते हैं क्योंकि दोनों जगहों से देखने का आनन्द एक सा नहीं होता। सही अर्थ में ये उपभोक्ता को प्रदान की जाने वाली सेवाओं के अन्तर होते हैं जिनके कारण कीमत विभेद का पाया जाना स्वाभाविक होता है। यही बात सेवाओं पर लागू की जा सकती है। परम्परा से इसी शीर्षक के अन्तर्गत डॉक्टर की सेवाओं का उदाहरण भी दिया जाता है। एक डॉक्टर धनी व्यक्ति से ऊँची फीस व निर्धन व्यक्ति से नीची फीस ले सकता है, जिससे कीमत विभेद उत्पन्न हो जाता है।

(3) दूरी व सीमा की रुकावटें (Distance and frontier barriers) के कारण—दो स्थानों में आपसी दूरी के कारण कीमत विभेद पाया जा सकता है। जैसे, यदि एक वस्तु को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाने का एक रुपया परिवहन व्यय हो, तो उन दोनों स्थानों के बीच उस वस्तु की कीमत में एक रुपये का अन्तर पाया जा सकता है। एक देश में एक वस्तु को सुरक्षित बाजार मिला हुआ हो तो घरेलू

बाजार म ऊँची कीमत एव विदेशी बाजार में प्रतिस्पर्धा के पाये जाने के कारण नीची कीमत रखी जा सकती है।

यहाँ पर पुन यह स्पष्ट करना जरूरी है कि लागतों के अन्तरों से उत्पन्न होने वाली कीमतों का अन्तर कीमत विभेद के अन्तर्गत नहीं आता। उसके अलावा कमीशन व डिस्काउण्ट देने, थोक भावों व खुदरा भावों के अन्तर, विभिन्न समयों व विभिन्न मौसमों के कीमत अन्तर कीमत विभेद की श्रेणी में नहीं माने जाते।

कीमत विभेद कब लाभप्रद होता है?—कीमत विभेद उसी स्थिति में लाभप्रद होता है जबकि दो बाजारों म वस्तु की माँग की लोच भिन्न हो। यदि ऐसा नहीं होता है तो कीमत विभेद से एकाधिकारी को लाभ नही होगा। यह आगे के चित्र से स्पष्ट हो जाएगा।

कीमत-विभेद की दशा मे दो बाजारो मे कीमत निर्धारण व माल का वितरण—दो बाजारों में कीमत विभेद की दशा में मूल्य निर्धारण के लिए यह आवश्यक होता है कि प्रत्येक बाजार में सन्तुलन की स्थिति में सीमान्त आय एक-दूसरे के बराबर हो। एकाधिकारी दोनों बाजारों में कुल कितना माल बेचेगा, इसका निर्धारण फर्म की सीमान्त लागत (MC) के सयुक्त सीमान्त आय (Combined marginal revenue) (CMR) के बराबर होने से निर्धारित होगा। हम यहाँ पर दोनों बाजारों में एकाधिकार की स्थिति को मान लेते हैं। ऐसी परिस्थिति में एकाधिकारी फर्म के लिए उत्पत्ति कीमत निर्धारण चित्र 8 के अनुसार होगा।

स्पष्टीकरण—चित्र 8 में एक ही रेखाचित्र पर दोनों बाजारों के औसत आय वक्र, सीमान्त आय वक्र फर्म का सीमान्त लागत वक्र एव सयुक्त सीमान्त आय वक्र (CMR) दिखलाये गये हैं। इससे रेखाचित्र थोडा जटिल प्रतीत होने लगा है, लेकिन ध्यान से देखने पर इसके प्रमुख निष्कर्ष बहुत सरल प्रतीत होंगे।

बाजार न 1 का औसत आय वक्र AR_1 और उसका सीमान्त आय वक्र MR_1 होता है। इसी तरह बाजार न 2 का औसत आय वक्र AR_2 और उसका सीमान्त आय वक्र MR_2 होता है। दोनों बाजारों के सीमान्त आय वक्रों को मिलाकर सयुक्त सीमान्त आय वक्र (CMR) बनाया गया है। फर्म का MC वक्र CMR वक्र को S बिन्दु पर काटता है जिससे फर्म OR उत्पत्ति की मात्रा तय करती है।

S बिन्दु से एक रेखा OX अक्ष के समानान्तर डाली गयी है, जो MR_2 को S_2 पर तथा MR_1 को S_1 पर काटती है और OY-अक्ष को T पर काटती है।

ऐसी स्थिति में बाजार न 1 में कीमत R_1P_1 और माल की बेची जाने वाली मात्रा OR_1 होती है। बाजार न 2 में कीमत R_2P_2 और माल की बेची जाने वाली मात्रा OR_2 होती है।

इस प्रकार बाजार न 1 में कीमत अपेक्षाकृत अधिक ऊँची होती है। जिस बाजार में माँग की लोच कम (inelastic) होती है उसमें एकाधिकारी को कीमत ऊँची रखनी होती है और अधिक लोचदार (elastic) माँग वाले बाजार में कीमत नीची रखी

वाली हैं। माल की ($OR_1 + OR_2$) मात्रा OR के बराबर होती है, जो MC वक्र के संयुक्त सीमान्त-आय (CMR) वक्र को S बिन्दु पर काटने से प्राप्त हुई है।

चित्र 8-विभेदात्मक एकाधिकार में उत्पत्ति-कीमत निर्धारण
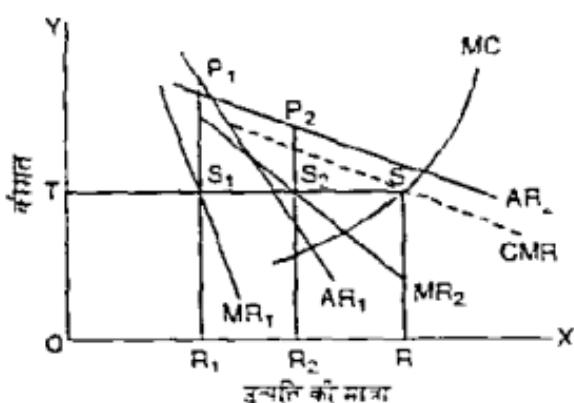
इन विभिन्न वक्रों को अलग-अलग बाजारों के अनुसार दिखाने पर आगे दिए गए चित्र बनेंगे। ये समझने में सुगम प्रतीत होते हैं।
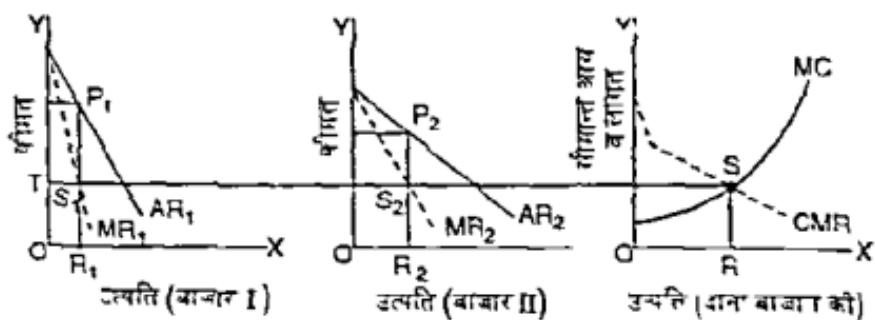
चित्र 9

उपर्युक्त चित्र का स्पष्टीकरण पूर्णतया चित्र 8 के स्पष्टीकरण से मिलता-जुलता है। यहाँ MC = CMR (संयुक्त सीमान्त आय-वक्र) होने पर उत्पत्ति की मात्रा OR निर्धारित होती है। बाजार 1 में MR_1 पर R_1S_1 = RS करने एवं उसे ऊपर बढ़ाने पर इसमें बिक्री की मात्रा OR_1 व कीमत R_1P_1 होती है तथा बाजार 2 में MR_2 पर R_2S_2 = RS करने पर बिक्री की मात्रा OR_2 व कीमत R_2P_2 होती है।

इस प्रकार दोनों बाजारों के चित्र अलग-अलग लेकर भी कीमत विभेद समझाया जा सकता है। विभेदात्मक एकाधिकार में अधिकतम लाभ के लिए निम्न शर्तें पूरी होनी आवश्यक होती हैं, अथवा एकाधिकार के लिए सन्तुलन की आठ दशाएँ होती हैं—

$$MC = CMR$$

एवं $MR_1 = MR_2 = MC$

यहाँ संख्या 1 व संख्या 2 बाजारों को सूचित करते हैं। माँग की लोच के अध्याय में AR, MR व e के सम्बन्ध स्पष्ट किए जा चुके हैं जिनसे पता चलता है कि

$$AR = MR\left(\frac{e}{e-1}\right)$$

अतः $AR_1 = MR_1\left(\frac{e_1}{e_1-1}\right)$ (प्रथम बाजार में)

तथा $AR_2 = MR_2\left(\frac{e_2}{e_2-1}\right)$ (द्वितीय बाजार में)

अथवा $AR_1 = MC\left(\frac{e_1}{e_1-1}\right)$ ($MR_1 = MR_2 = MC$)

तथा $AR_2 = MC\left(\frac{e_2}{e_2-1}\right)$

मान लीजिए, $e_1 = 2$ व $e_2 = 5$ तथा $MC = 10$ हो तो दोनों बाजारों मे AR या कीमत निकालिए—

प्रथम बाजार में कीमत अथवा $AR_1 = 10\left(\frac{2}{2-1}\right) = 20$ रु।

द्वितीय बाजार में कीमत अथवा $AR_2 = 10\left(\frac{5}{5-1}\right) = 12.50$ रु।

अतः कम लोच वाले प्रथम बाजार में कीमत ऊँची और अधिक लोच वाले द्वितीय बाजार में कीमत नीची होती है।

इसी प्रकार विभिन्न बाजारों मे कीमतो व सीमान्त लागत के दिए हुए होने पर हम उनमे माँग की लोच का पता लगा सकते हैं—

पुनः $e = \frac{AR}{AR-MR}$ अथवा $e = \frac{p}{p-MR}$ होता है,

अथवा $e = \frac{p}{p-MC}$ होता है ($MR = MC$)

यदि तीन बाजारों में कीमतें क्रमश 12 रु, 9 रु व 8 रु हों तथा सीमान्त लागत 6 रु हो तो प्रत्येक बाजार में वस्तु की माँग की लोच निकालिए—

चित्र 11 द्वितीय अश का कीमत विभेद (Second Degree Price Discrimination)

एकाधिकारी प्रत्येक उपभोक्ता की सम्पूर्ण बचत ले लेता है, जो मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता स्थिर मानने पर RCB क्षेत्र के बराबर होती है। जोन रोबिन्सन ने इसे पूर्ण विभेद (perfect discrimination) कहा है। यह विभेद थोडे ग्राहकों की स्थिति में ही सम्भव होता है, जहाँ एकाधिकारी इतना दक्ष होता है कि वह उपभोक्ताओं द्वारा दी जा सकने वाली अधिकतम कीमतें जान लेता है। यह कीमत विभेद की चरम सीमा होती है। लिप्से व क्रिस्टल का मत है कि पूर्ण कीमत विभेद में वस्तु की प्रत्येक इकाई एक भिन्न कीमत (यहाँ पर MR) पर बेची जाती है, इसलिये यहाँ भी कीमत = MR = MC (सीमान्त लागत) की शर्त पूरी हो जाती है। अत यह प्रतिस्पर्धात्मक सन्तुलन की स्थिति से मिलती जुलती होती है।

(2) **द्वितीय अश का कीमत विभेद** (Price discrimination of second degree)—इसमें एकाधिकारी उपभोक्ता की बचतों का कुछ अश ही ले पाता है। गैस, बिजली, टेलीफोन आदि सार्वजनिक सेवाओं की बिक्री में प्राय बहुत से क्रेता होते हैं। उनकी रुचि व आमदनी में अन्तर पाये जाते हैं। मान लीजिए, एक विद्युत कम्पनी प्रथम 200 इकाई 16 रु कीमत पर, द्वितीय 200 इकाई 12 रु कीमत पर तथा तृतीय 200 इकाई 8 रु कीमत पर तथा चतुर्थ 400 इकाई 4 रु कीमत पर बेचती है तो उसकी कुल आय (TR) 3200 + 2400 + 1600 + 1600 = 8800 रु होती है। बिना द्वितीय अश के कीमत विभेद के उसकी कुल आय कम होती है। उपर्युक्त चित्र 11 से स्पष्ट होता है कि इस स्थिति में एकाधिकारी को उपभोक्ता की बचतों का सम्पूर्ण अश नही मिलता, बल्कि कुछ अश ही मिलता है।

चित्र 11 में प्रथम आयताकार की ऊँचाई a, द्वितीय की b, तृतीय की c तथा चतुर्थ की e दिखायी गयी है जो क्रमश 16 रु, 12 रु, 8 रु, व 4 रु कीमत को दर्शाती है। इस प्रकार एकाधिकारी की कुल आय आडी रेखा वाले क्षेत्र के बराबर होती है जो 8800 रु के बराबर होती है। अत P a b c e M क्षेत्र उपभोक्ताओं के पास

बचा रह जाता है। इस प्रकार एकाधिकारी उपभोक्ता की बचतों का कुछ अंश ही ले पाता है।

(3) तृतीय अंश का कीमत-विभेद (Price discrimination of third degree)—इस स्थिति में एकाधिकारी कुल उत्पत्ति के कुछ अंश को अपेक्षाकृत ऊँचे भावों पर बेचकर उपभोक्ताओं की बचत का कुछ अंश लेने में सफल हो जाता है। इस प्रकार एकाधिकारी दो या अधिक बाजारों में अलग-अलग कीमतों पर अपना माल बेचता है। हमने पहले चित्र 8 में जिस कीमत विभेद का उल्लेख किया है वह तृतीय अंश का ही कीमत-विभेद है। यहाँ पुनः चित्र 12 में तृतीय अंश के कीमत-विभेद का स्पष्टीकरण किया गया है—

चित्र 12-तृतीय अंश का कीमत-विभेद
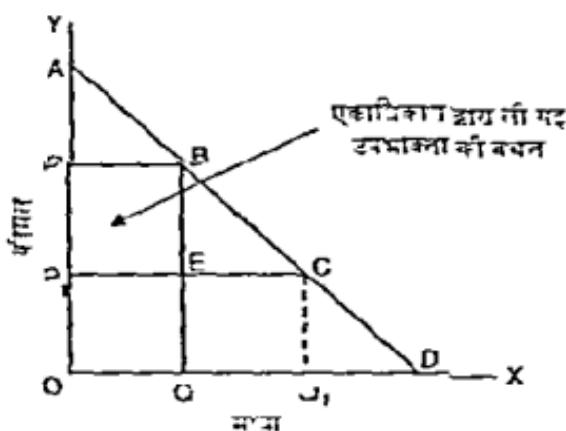
चित्र 12 में एकाधिकारी की कुल उत्पत्ति OQ_1 है जिसे वह दो बाजारों में बेचता है। वह OQ मात्रा बाजार 1 में BQ (या OP) कीमत पर तथा QQ_1 मात्रा बाजार 2 में CQ_1 (या OP_1) कीमत पर बेचता है। ऐसा करने से उसकी कुल आय (TR) $OQBP + QQ_1CE$ होती है। यदि वह OQ_1 कुल उत्पत्ति एक ही कीमत OP_1 पर बेच देता तो उसकी कुल आय OQ_1CP_1 होती। अब कीमत-विभेद से उसकी कुल आय PP_1EB अधिक होती है, जिसे वह उपभोक्ताओं की बचत में से लेने में सफल हो जाता है। इस प्रकार तृतीय अंश के कीमत-विभेद से एकाधिकारी उपभोक्ताओं की बचत का कुछ अंश लेने में सफल हो जाता है।

एकाधिकारी उत्पत्ति-कीमत पर करारोपण (taxation) व सब्सिडी या आर्थिक सहायता का प्रभाव

प्रायः यह प्रश्न किया जाता है कि एक एकाधिकारी के उत्पत्ति-कीमत निर्णयों पर वस्तु की प्रति इकाई के अनुसार कर लगाने अथवा एकमुश्त कर लगाने *(lump*

sum tax) *का क्या प्रभाव पडता है। इसी प्रकार वस्तु की प्रति इकाई के अनुसार* सब्सिडी या आर्थिक सहायता देने अथवा एक मुश्त (lump sum) सब्सिडी देने का क्या प्रभाव पडता है। यह चित्र 13 की सहायता से समझाया गया है।
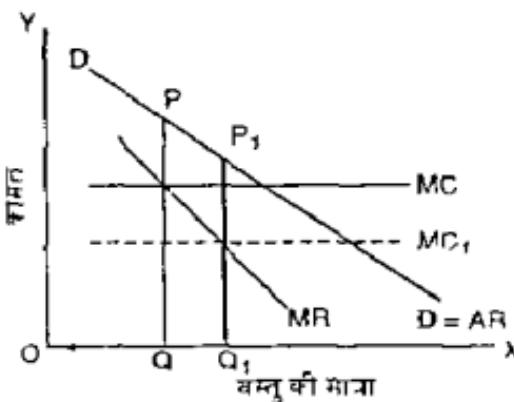
चित्र 13 प्रति इकाई कर/आर्थिक सहायता का एकाधिकारी उत्पत्ति कीमत पर प्रभाव

स्पष्टीकरण—चित्र 13 मे OX अक्ष पर वस्तु की मात्रा व OY अक्ष पर कीमत व लागत मापे गये है। DD या AR माँग वक्र है तथा MR सीमान्त आय वक्र है। प्रारम्भ में सीमान्त लागत वक्र रेखा MC_1 होती है जो MR को काटती है जिससे कीमत P_1Q_1 तथा उत्पत्ति OQ_1 स्थापित होती है। अब, मान लीजिए, प्रति इकाई कर लग जाता है जिससे सीमान्त लागत वक्र बढकर MC हो जाता है। (प्रति इकाई कर के बराबर ऊँचाई तक MC वक्र ऊपर की ओर खिसक जाता है।) इससे नये सन्तुलन में (MR = MC) कीमत बढकर PQ तथा उत्पत्ति की मात्रा घटकर OQ हो जाती है। इस प्रकार वस्तु की प्रति इकाई के अनुसार कर लगने से कीमत बढती है व उत्पत्ति की मात्रा घटती है। कीमत का बढना माँग की लोच पर निर्भर करता है।

इसी चित्र पर MC से प्रारम्भ करके प्रति इकाई सब्सिडी का प्रभाव स्पष्ट किया जा सकता है। वस्तु की प्रति इकाई के अनुसार सब्सिडी देने पर नया सीमान्त लागत वक्र MC_1 हो जाता है जो नये सन्तुलन में P_1Q_1 कीमत तथा उत्पत्ति की मात्रा OQ_1 बतलाता है। इस प्रकार प्रति इकाई सब्सिडी देने से कीमत घटती है व उत्पत्ति की मात्रा बढती है।

एकमुश्त कर अथवा एकमुश्त सब्सिडी देने से लागत-वक्र नहीं बदलते जिससे *उत्पत्ति-कीमत पर कोई प्रभाव नहीं पडता। एकमुश्त कर से एकाधिकारी-लाभ कम हो* जाते है, तथा एकमुश्त सब्सिडी देने से एकाधिकारी लाभ बढ जाते है। अत यदि सरकार किसी एकाधिकारी को सब्सिडी देना चाहे तो जनहित मे प्रति इकाई सब्सिडी देनी चाहिए ताकि कीमते घटे व उत्पत्ति बढे। यह लक्ष्य एकमुश्त सब्सिडी देने से प्राप्त नहीं किया जा सकता। एकाधिकारी फर्म पर कराधान के प्रभावों की विस्तृत चर्चा आगे के एक स्वतन्त्र अध्याय में की जायगी।

एकाधिकार व पूर्ण प्रतिस्पर्धा में तुलना
(Comparison between Monopoly and Perfect Competition)

हम बाजारों के विभिन्न रूपों का अध्ययन करते समय भी एकाधिकार व पूर्ण प्रतिस्पर्धा के बीच कुछ अन्तर स्पष्ट कर चुके हैं। अब दोनों बाजारों में अल्पकाल व दीर्घकाल में कीमत उत्पत्ति निर्धारण का विस्तृत अध्ययन करने के बाद हम इनकी तुलना कर सकते हैं। हम इनके प्रमुख अन्तरों पर पुनः ध्यान आकर्षित करते हैं।

(1) AR व MR के आधार पर—पूर्ण प्रतिस्पर्धा में एक फर्म के लिए वस्तु की कीमत दी हुई होती है। इसलिए इसका माँग वक्र अथवा AR वक्र पूर्णतया लोचदार अथवा क्षैतिज होता है और यह MR वक्र के बराबर होता है। एकाधिकार में AR वक्र घटता हुआ होता है और MR वक्र इसके नीचे होता है। एकाधिकारी को अपना अधिक माल बेचने के लिए वस्तु की कीमत घटानी पड़ती है, लेकिन पूर्ण प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत एक फर्म दी हुई कीमत पर चाहे जितना माल बेच सकती है। इसे अधिक माल बेचने के लिए कीमत घटानी नहीं पड़ती।

(2) सन्तुलन में MC वक्र की स्थिति—पूर्ण प्रतिस्पर्धा में एक फर्म के सन्तुलन पर सीमान्त लागत वक्र ऊपर की ओर उठता हुआ होता है। एकाधिकार में सन्तुलन पर सीमान्त लागत बढ़ती हुई, समान व घटती हुई हो सकती है। लेकिन यह आवश्यक होगा कि MC वक्र MR वक्र को नीचे से या बायीं ओर से ही काटे।

(3) दीर्घकाल में अधिसामान्य लाभ की स्थिति—दीर्घकाल में पूर्ण प्रतिस्पर्धा में एक फर्म को अधिसामान्य लाभ नहीं मिल सकते, क्योंकि नयी फर्मों के प्रवेश व चालू फर्मों के आकार के बढ़ने से पूर्ति बढ़ जाती है, और कीमत घट जाती है। इसके विपरीत दीर्घकाल में भी एकाधिकारी फर्म अधिसामान्य लाभ कमा सकती है, और प्रायः कमाती भी है। हालांकि सैद्धान्तिक दृष्टि से यह कल्पना की जा सकती है कि उसे अधिसामान्य लाभ न भी मिले।

(4) दीर्घकाल में संयन्त्र का आकार—दीर्घकाल में एक फर्म पूर्ण प्रतिस्पर्धा व एकाधिकार दोनों में अपने संयन्त्र का आकार बदल सकती है। लेकिन अन्तर यह होता है कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा में फर्म के दीर्घकालीन सन्तुलन में संयन्त्र के सर्वाधिक कार्यकुशल आकार का सर्वाधिक कार्यकुशल दर (optimal plant at optimal rate) पर ही उपयोग किया जाता है, जबकि एकाधिकार में इससे छोटे व बड़े आकारों का निर्माण भी किया जा सकता है। अतः दीर्घकाल में एकाधिकारी सर्वाधिक कार्यकुशल आकार का संयन्त्र, इससे कम आकार का संयन्त्र तथा इससे अधिक आकार का संयन्त्र इस्तेमाल कर सकता है।

(5) एकाधिकार में प्रायः ऊँची कीमत—एकाधिकार में प्रायः पूर्ण प्रतिस्पर्धा की तुलना में ऊँची कीमत व कम उत्पत्ति की दशा पाई जाती है। एकाधिकारी अपने लाभ को अधिकतम रखने के लिए न्यूनतम लागत के बिन्दु तक जाना आवश्यक नहीं समझता। लेकिन कार्यकुशलता बढ़ाकर लागत कम करके एकाधिकारी कीमत कम भी की जा सकती है।

(6) विज्ञापन की आवश्यकता के आधार पर अन्तर—एकाधिकारी को बिक्री बढ़ाने के लिए संवर्द्धनात्मक विज्ञापन (promotional advertisement) आदि का

सहारा लेना पड़ता है उससे जन सम्पर्क बढ़ता है, लेकिन पूर्ण प्रतिस्पर्धा में एक फर्म को इसकी आवश्यकता नहीं पड़ती।

(7) कीमत विभेद—एकाधिकार में कीमत विभेद किया जा सकता है, जो पूर्ण प्रतिस्पर्धा में सम्भव नहीं होता। विभिन्न बाजारों में माँग की लोच के अन्तर के कारण एकाधिकारी कीमत विभेद कर सकता है।

(8) पूर्ति-वक्र के आधार पर अन्तर—एकाधिकार में वस्तु की बाजार कीमत व उत्पत्ति की मात्रा में कोई सुनिश्चित सम्बन्ध नहीं पाया जाता, जबकि पूर्ण प्रतिस्पर्धा में यह पाया जाता है, हम चित्र 7 (अ) व 7 (आ) में बतला चुके हैं कि एकाधिकार में एक ही उत्पत्ति पर दो कीमतें तथा एक ही कीमत पर उत्पत्ति की दो मात्राएँ सम्भव हो सकती हैं। एकाधिकारी उस स्थान तक उत्पादन नहीं करता है जहाँ कीमत = सीमान्त लागत हो जबकि पूर्ण प्रतिस्पर्धा में एक फर्म सन्तुलन की दशा में कीमत = सीमान्त लागत की शर्त को पूरा करती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन दोनों बाजारों में काफी अन्तर पाए जाते हैं। ये बाजारों की दो चरम सीमाएँ (limiting situations) मानी जाती हैं, जिनके अध्ययन का सैद्धान्तिक दृष्टि से बहुत महत्त्व होता है। हम आगामी अध्याय में एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा या एकाधिकृत प्रतिस्पर्धा में उत्पत्ति-कीमत निर्धारण का विवेचन करेंगे।

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 एकाधिकारी का सन्तुलन किस अवस्था में आता है?

(अ) जब उसकी माँग लोचदार हो

(ब) जब माँग की लोच इकाई के बराबर हो

(स) जब माँग बेलोच हो

(द) सभी अवस्थाओं में (अ)

2 क्या एकाधिकार में पूर्ति वक्र होता है?

(अ) हाँ (ब) नहीं

(स) कभी कभी हो सकता है (द) अनिश्चित (ब)

3 लर्नर का दिया हुआ एकाधिकारी शक्ति के माप का सूत्र छाँटिए—

(अ) $\frac{P-MC}{P}$ (ब) $\frac{P-MR}{P}$

(स) $1/e$ (द) सभी (द)

4 एकाधिकारी उपभोक्ता वर्ग की सम्पूर्ण बचत किस दशा में ले लेता है?

(अ) जब प्रथम अंश का कीमत विभेद हो

(ब) जब द्वितीय अंश का कीमत विभेद हो

(स) जब तृतीय अंश का कीमत विभेद हो

(द) सभी दशाओं में (अ)

दीर्घकालीन लागत-सारणी
(Long run Cost Schedule)

उत्पादन की इकाइयाँ	कुल लागत	औसत लागत	सीमान्त लागत
1	20	20 00	
2	22	11 00	2
3	26	8 66	
4	32	8 00	
5	40	8 00	
6	50	8.33	
7	62	8.85	
8	76	9.50	

[उत्तर-संकेत —

(क)

उत्पादन की इकाइयाँ	सीमान्त आगम (MR)	सीमान्त लागत (MC)
1	–	–
2	22	2
3	20	4
4	18	6
5	16	8
6	14	10
7	12	12
8	10	14

(ख) एकाधिकारी को अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए 7 इकाई माल उत्पन्न करना चाहिए जहाँ MR = MC = 12 रु होती है। उस समय एकाधिकारी कीमत 18 रु होती है तथा लाभ की राशि (TR–TC) = (126–62) 64 रु होती है।]

□□□

21

एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में कीमत व उत्पत्ति-निर्धारण

(Determination of Price and Output Under Monopolistic Competition)

हमने पिछले अध्यायों में पूर्ण प्रतिस्पर्धा व एकाधिकार की दशाओं में कीमत व उत्पत्ति निर्धारण का अध्ययन किया है। व्यवहार में जो बाजार के रूप पाये जाते हैं, वे इन दोनों के बीच में होते हैं और उन्हें बहुधा अपूर्ण प्रतिस्पर्धा (imperfect competition) के बाजार कहते हैं। बाजार पर एक एकाधिकारी के स्थान पर दो बराबर के बडे उत्पादकों का अधिकार हो सकता है जिसे द्वयाधिकार (duopoly) कहते हैं। जब तीन, चार, पाँच अर्थात् थोडे विक्रेता होते हैं तो उसे अल्पविक्रेताधिकार या अल्पाधिकार (oligopoly) कहते हैं। अल्पविक्रेताधिकार दो प्रकार का होता है एक तो विशुद्ध अल्पाधिकार (*pure oligopoly*) *जिसमें सभी विक्रेता एक सी वस्तु बेचते हैं।* इसे वस्तु विभेदरहित अल्पाधिकार भी कहते हैं। इसके अलावा विभेदीकृत अल्पाधिकार (differentiated oligopoly) भी होता है जिसमें विभिन्न विक्रेताओं की वस्तुओं में परस्पर अन्तर पाया जाता है। इसे वस्तु विभेद सहित अल्पाधिकार कहते हैं। अल्पाधिकार में कीमत व उत्पत्ति निर्धारण का विस्तृत विवेचन *अगले अध्याय में किया गया है।* बाजार की एक स्थिति और होती है जिसमें अनेक विक्रेता होते हैं तथा वस्तु विभेद (product differentiation) भी पाया जाता है, हालाँकि इस प्रकार के बाजार में वस्तुएँ एक दूसरे की काफी समीप की स्थानापन्न (substitutes) होती हैं। इसे एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा अथवा एकाधिकृत प्रतिस्पर्धा (monopolistic competition) का नाम दिया *गया है। स्मरण रहे कि एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा व विभेदात्मक अल्पाधिकार में प्रमुख* अन्तर फर्मों की सख्या को लेकर ही किया जाता है। पहले में फर्में अनेक होती हैं जबकि दूसरे में थोडी होती हैं। लेकिन दोनों में वस्तु विभेद अवश्य पाया जाता है। आजकल व्यावहारिक जगत में अल्पाधिकार का प्रचलन अधिक पाया जाता है।

द्वयाधिकार अल्पाधिकार व एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा तीनों बाजार के रूप में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत आते हैं। वास्तव में स्वय एकाधिकार भी अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की ही एक चरम स्थिति मानी जा सकती है। इस प्रकार अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में एक तरफ प्रतिस्पर्धा का काफी जोर रहता है। (एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में), तो दूसरी तरफ इसका नितान्त अभाव भी रहता है। (एकाधिकार में)। अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में कहीं वस्तु एक सी होती है तो कहीं वस्तु विभेद पाया जाता है। इसमें अनेक विक्रेता कुछ विक्रेता व एक विक्रेता सभी प्रकार की दशाएँ पायी जा सकती हैं। इनमें से प्रत्येक दशा के साथ अनेक क्रेता की स्थिति पायी जा सकती है।

इस अध्याय में हम एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत कीमत उत्पत्ति निर्णयों पर प्रकाश डालेंगे।[1]

एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा (Monopolistic Competition) का आशय

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि इसमें अनेक विक्रेता होते हैं, लेकिन साथ में वस्तु विभेद (product-differentiation) पाया जाता है। एक विक्रेता की वस्तु के कई समीप के स्थानापन्न पदार्थ (close substitutes) पाये जाते हैं। पूर्ण प्रतिस्पर्धा में भी अनेक विक्रेता होते हैं, लेकिन उसमें वस्तु एक-सी या समरूप (homogeneous) होती है। **एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा शब्द से ही प्रकट होता है कि इसमें एकाधिकार और प्रतिस्पर्धा दोनों के तत्त्व एक साथ पाये जाते हैं।** एकाधिकार का तत्त्व तो इस रूप में पाया जाता है कि प्रत्येक विक्रेता के अपने कुछ ग्राहक होते हैं जिनसे फर्म विभेद के कारण थोडी ऊँची कीमत लेने में भी समर्थ हो जाती है। इसमें प्रतिस्पर्धा का तत्त्व इसलिए पाया जाता है कि अनेक विक्रेता होते हैं, इसलिए एक फर्म का अपनी वस्तु की कीमत पर अधिक प्रभाव नहीं पड सकता। इसमें प्रतिस्पर्धा का भय निरन्तर बना रहता है।

ईकर्ट व लेफ्टविच के अनुसार '**एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में, विशुद्ध प्रतिस्पर्धा की भाँति, एक वस्तु के बहुत से विक्रेता होते हैं। इनमें से प्रत्येक विक्रेता सम्पूर्ण बाजार की तुलना में इतना छोटा होता है कि इसकी क्रियाओं का बाजार पर अथवा अन्य विक्रेताओं पर कोई असर नहीं पड़ता। फर्मों के परस्पर सम्बन्ध अवैयक्तिक (impersonal) होते हैं। प्रत्येक फर्म इस प्रकार आचरण करती है मानो कि वह बाजार में अन्य फर्मों से स्वतंत्र हो।**'[2] लेकिन स्टोनियर व हेग का मत इससे भिन्न है और वह इस प्रकार है कि एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में एक फर्म का औसत आय वक्र

---

1 *पाठकों से अपूर्ण प्रतिस्पर्धा (imperfect competition) के बारे में पूछे जाने पर उन्हें संक्षेप में एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा व अल्पाधिकार दोनों के बारे में लिखना चाहिए।*

2 "In monopolistic competition as in pure competition there are many sellers of a product Each is so small relative to the market as a whole that its activities have no effect on the market or on other sellers Relationship among firms are impersonal Each firm operates as though it were independent of other firms in the market.—Eckert and Leftwich **The Price System and Resource Allocation**, 10th ed 1988 p 211

(AR curve) केवल उपभोक्ताओं की रुचि व इच्छाओं से ही निर्धारित नहीं होता, बल्कि प्रतिस्पर्धी उत्पादकों के कीमत उत्पत्ति निर्णयों से भी प्रभावित होगा है। उसके अनुसार 'एक फर्म के आगम आय-वक्र की आकृति अब केवल अन्य उद्योगों में दूर के प्रतिस्पर्धियों की प्रतियोगिता से ही प्रभावित नहीं होगी, जिनके कार्यों के बारे में तो चाहे यह वैयक्तिक फर्म फिक्र न करे, लेकिन उसी एकाधिकारी समूह में बहुत समीप के प्रतिस्पर्धियों के कार्यों से यह निर्धारित होगी और इनके कार्यों पर गहरी नजर रखनी पड़ेगी।'[1] इन दोनों मतों में से ईकर्ट व लेफ्टविच मत ही अधिक सही माना गया है। एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा के लक्षण के सम्बन्ध में प्राय यह स्वीकार किया जाता है कि इसमें प्रत्येक विक्रेता कीमत-निर्धारण, विज्ञापन व वस्तु-विभेद के विषय में अपनी स्वतन्त्र नीति अपना सकता है। बाजार में अनेक विक्रेता होते हैं, तथा वस्तु की कई किस्में होती है। इसलिए किसी भी अकेले विक्रेता के कार्य-कलापों पर अन्य विक्रेता विशेष ध्यान नहीं देते। वह कीमत घटाकर अन्य विक्रेताओं को गहरी क्षति नहीं पहुँचा सकता।

लिप्से व क्रिस्टल के अनुसार, एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा का सिद्धान्त निम्न चार प्रमुख मान्यताओं पर आधारित होता है[2]—

(1) प्रत्येक फर्म उद्योग को विभेदीकृत वस्तु (differentiated product) की एक विशेष किस्म या ब्राण्ड का उत्पादन करती है। अत प्रत्येक फर्म का माँग-वक्र काफी लोचदार होता है, क्योंकि अन्य फर्मों द्वारा बेची जाने वाली उसी वस्तु की अन्य किस्में उसके लिए समीप की स्थानापन्न वस्तुएँ (close substitutes) होती है।

(2) प्रत्येक उद्योग में इतनी अधिक फर्में होती हैं कि उनमें से प्रत्येक फर्म जब अपने उत्पत्ति व कीमत सम्बन्धी निर्णय लेती है तो वह अनेक प्रतिस्पर्धियों की सम्भावित प्रतिक्रियाओं की कोई परवाह नहीं करती। वह अपने निर्णय अपनी माँग व अपनी लागत की दशाओं पर आधारित करती है।

(3) फर्मों को उस उद्योग में प्रवेश करने व उससे बाहर जाने की स्वतन्त्रता होती है। जब प्रचलित फर्में मुनाफा कमाती हैं तो नई फर्मों को उस उद्योग में प्रवेश करने की प्रेरणा मिलती है और जब वे प्रवेश करती हैं तो उस उद्योग के माल की माँग अधिक ब्राण्डों में बट जाती है।

(4) उद्योग में प्रति साम्य (symmetry) की दशा पायी जाती है। जब कोई नई फर्म प्रवेश करती है और, मान लीजिए, वह उस वस्तु के बाजार के 5% पर कब्जा

1 The shape of each firm's average revenue curve will now be determined not only by the competition of distant rivals in other industries about whose actions the individual firm need not worry. It will also be determined by the actions of the very close rivals within the same monopolistic 'group', whose actions will need to be carefully watched. —*Stonier and Hauge op cit*, p 216

2. Lipsey & Chrystal **Principles of Economics** 9th ed 1999 p 174

कर लेती है, तो यहाँ यह मान्यता भी होती है कि वह प्रत्येक प्रचलित फर्म की बिक्री के 5% भाग पर अपना कब्जा जमा लेती है। इसे सिमेट्री की मान्यता कहते हैं।

इस प्रकार एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा का सिद्धान्त इन चार मान्यताओं पर आश्रित माना गया है।

एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में एक फर्म के समक्ष दो किस्म के माँग वक्रों की कल्पना की जा सकती है। इनमें से एक तो लोचदार होता है और दूसरा अपेक्षाकृत बेलोच या कम लोचदार होता है। लोचदार माँग वक्र के पीछे मान्यता यह होती है कि एक फर्म अपनी कीमत थोड़ी कम करके अपनी माँग काफी बढ़ा लेती है, क्योंकि अन्य प्रतिद्वन्द्वी फर्में अपनी कीमतें नहीं बदलतीं। बेलोच या कम लोचदार माँग वक्र के पीछे यह मान्यता होती है, कि एक फर्म के द्वारा कीमत घटाने से अन्य फर्में भी अपनी कीमतें घटा देती हैं जिससे पहली फर्म की माँग थोड़ी ही बढ़ पाती है। हम आगे चलकर एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत इन दो माँग वक्रों को चित्र द्वारा स्पष्ट करेंगे। हम पहले देख चुके हैं कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा में एक फर्म का औसत आय वक्र क्षैतिज होता है, और इस पर अन्य उत्पादकों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार एकाधिकारी फर्म का औसत आय वक्र भी पूर्णतया उपभोक्ताओं की माँग पर ही निर्भर करता है, और उस पर अन्य उत्पादकों के कार्यों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वास्तव में एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में अनेक 'एकाधिकारी' एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते हैं। ये प्रतियोगी 'एकाधिकारी' एक सी वस्तुएँ उत्पन्न नहीं करते हैं। लेकिन वे ऐसी वस्तुएँ भी उत्पन्न नहीं करते जो एक-दूसरे से पूर्णतया भिन्न हों। वस्तु विभेद का आशय यह है कि वस्तुएँ कुछ सीमा तक एक दूसरे से भिन्न होती हैं, लेकिन पूर्णतया भिन्न नहीं होतीं। आकर्षक पैकिंग, ट्रेडमार्क आदि का उपयोग करके अथवा वस्तु की किस्म में कुछ सुधार व परिवर्तन करके एक उत्पादक विभिन्न उपभोक्ताओं को यह समझाने का प्रयास करता है *कि उसकी वस्तु दूसरे उत्पादकों से ज्यादा अच्छी है।*

एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में पाये जाने वाले सन्तुलन को 'समूह-सन्तुलन' (group-equilibrium) भी कहते हैं। एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में 'उद्योग' की अवधारणा को भ्रमात्मक माना गया है। इसकी जगह 'समूह' की अवधारणा को अधिक उपयोगी माना जाता है। जैसे पुस्तकों के सम्बन्ध में पाठय पुस्तकें, जासूसी पुस्तकें तथा सामान्य पुस्तकों के समूह हो सकते हैं। बड़े शहरों में प्राय खुदरा दुकानों व विभिन्न सेवा उद्योगों, जैसे होटलों व विश्रान्ति गृहों, ड्राइक्लीनर्स, डॉक्टरी सेवाओं, हजामत की दुकानों, पसारी की दुकानों, शराब की दुकानों, दवाई की दुकानों, आदि में बहुत कुछ एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा की दशा देखने को मिलती है। भारत में आजकल रेडीमेड पोशाकों, सूती वस्त्र, नहाने के अनेक साबुनों, टूथपेस्ट आदि में एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा की स्थिति उत्पन्न हो गयी है। लक्स, रेक्सोना, हमाम, मोती, डव, लाइफबॉय प्लस, फेयर ग्लो, निरमा, विजिल, सन्तूर पोटेक्स एविटा मार्वल ओके बीज, लिरिल आदि बहुत से नहाने को सौन्दर्य साबुनों में एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता की दशा देखने को मिलती है। ये एक दूसरे की निकट की स्थानापन्न वस्तुएँ (close substitutes) मानी जाती हैं। यहाँ पर यह कहना आवश्यक है कि जब एक वस्तु के विभिन्न ट्रेडमार्कों का उत्पादन

कीमत बढ़ने पर भी इसी फर्म से अपना माल खरीदते रहते हैं क्योंकि वे सम्भवतः उसके माल को दूसरों से ज्यादा उत्तम मानते हैं। इस प्रकार हमने आगे चलकर चित्र 1 के dd माँग वक्र का ही उपयोग किया है।

फर्म के सन्तुलन में बाकी सब बातें वही होती हैं जिनका हमने एकाधिकार के अध्ययन में उल्लेख किया जा चुका है। आगे चित्र के द्वारा अल्पकाल में कीमत व उत्पत्ति निर्धारण को स्पष्ट किया गया है।[1]
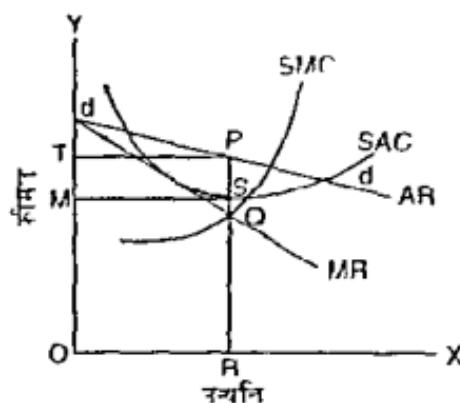
चित्र 2-एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में अल्पकाल में कीमत-उत्पत्ति निर्धारण (लाभ की दशा में)

उपर्युक्त चित्र में फर्म का AR या dd वक्र काफी लोचदार दर्शाया गया है। MR वक्र इससे नीचे होता है। SAC व SMC पहले की भाँति क्रमशः इसके अल्पकालीन औसत लागत व अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र होते हैं। SMC वक्र MR वक्र को Q बिन्दु पर काटता है। फर्म की उत्पत्ति की मात्रा OR, कीमत RP और कुल लाभ PSMT होता है। स्मरण रहे कि अल्पकाल में एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में एक फर्म को घाटा भी उठाना पड़ सकता है। उस स्थिति में SAC वक्र AR वक्र से ऊपर रहेगा।

एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में दीर्घकाल में कीमत-उत्पत्ति निर्धारण

पूर्ण प्रतिस्पर्धा की भाँति एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में भी दीर्घकाल में एक फर्म अपना संयंत्र का आकार परिवर्तित कर सकती है और उद्योग में नयी फर्में आ सकती हैं व पुरानी फर्में बाहर जा सकती हैं। संयंत्र का आकार बदलने पर भी एक फर्म को

1 अन्य पुस्तकों में एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत अल्पकाल में भी एक फर्म का dd वक्र या AR वक्र काफी बेलोच बना दिया जाता है। हमारे विश्लेषण के अनुसार यह सही नहीं है। अल्पकाल में भी फर्म का dd वक्र काफी लोचदार ही बनेगा। इस सम्बन्ध में एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा पूर्ण प्रतिस्पर्धा की तरफ अधिक झुकी हुई होती है।

केवल सामान्य लाभ ही मिल पाते हैं। दीर्घकाल में लागत वक्रों के परिवर्तन इस बात पर निर्भर करते हैं कि उद्योग में लागतें बढ़ रही हैं, समान हैं अथवा घट रही हैं।

दीर्घकालीन सन्तुलन की स्थिति निम्न चित्र में दर्शायी गयी है।
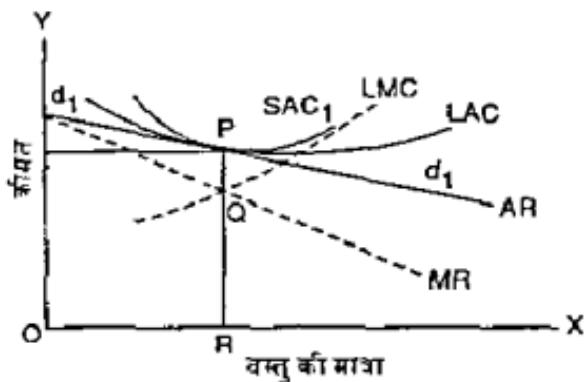
चित्र 3 एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में दीर्घकालीन सन्तुलन

उपर्युक्त चित्र में d_1d_1 या AR दीर्घकालीन औसत आय वक्र और MR दीर्घकालीन सीमान्त आय वक्र हैं। LMC वक्र MR को Q बिन्दु पर काटती है और उत्पत्ति की मात्रा OR निर्धारित होती है। LAC वक्र SAC_1 को P बिन्दु पर स्पर्श करता है और LAC वक्र इसी बिन्दु पर AR या माँग वक्र को भी स्पर्श करता है। अत कीमत व औसत लागत दोनों RP के बराबर होते हैं, जिससे फर्म को असामान्य लाभ प्राप्त नहीं होते। यहाँ पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि LMC = MR के Q बिन्दु की सीध में ऊपर LAC वक्र SAC_1 वक्र को छूता है तथा AR को भी उसी बिन्दु (P) पर छूता है। ऐसा होना स्वाभाविक है, क्योंकि उत्पत्ति की जिस मात्रा पर AR = AC होती है उसी पर MR = MC भी होती है। इसलिए फर्म के दीर्घकालीन सन्तुलन की इन प्रमुख बातों पर पूरा ध्यान दिया जाना चाहिए।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा की भाँति एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में भी दीर्घकाल में असामान्य लाभ समाप्त हो जाते हैं। लेकिन दीर्घकाल में पूर्ण प्रतिस्पर्धा में एक फर्म संयत्र के सर्वाधिक कार्यकुशल (most efficient) दर (न्यूनतम औसत लागत) पर उत्पादन करती है जबकि चित्र 3 के अनुसार एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा मे फर्म न्यूनतम औसत लागत के बिन्दु से पूर्व ही उत्पादन बन्द कर देती है। दीर्घकाल मे एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा मे एक फर्म के वास्तविक उत्पादन व न्यूनतम औसत लागत तक के उत्पादन का अन्तर फर्म की अतिरिक्त क्षमता (excess capacity) माना जाता है, जिसको लेकर अर्थशास्त्रियों में काफी विवाद पाया गया है। इसके महत्त्व को देखते हुए हम अग्र चित्र में दीर्घकाल में सन्तुलन-उत्पत्ति व अतिरिक्त क्षमता दोनों को दर्शाते हैं।

स्पष्टीकरण—चित्र 4 में DD वक्र कम लोचदार दर्शाया गया है। MC = MR पर एक फर्म OQ_1 माल का उत्पादन करती है, तथा LAC वक्र के DD वक्र
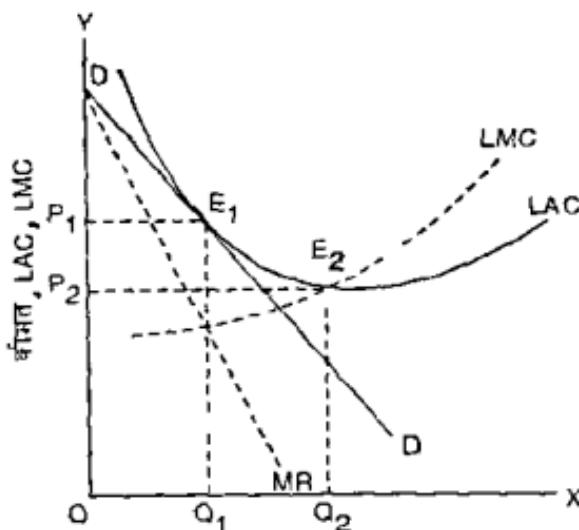
चित्र 4 एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में दीर्घकाल में 'अतिरिक्त क्षमता' = Q_1Q_2

को E_1 बिन्दु पर स्पर्श करने से OP_1 कीमत निर्धारित होती है, जिस पर कोई अतिरिक्त लाभ नही होता। लेकिन LAC का न्यूनतम बिन्दु E_2 है, जहाँ पर उत्पादन OQ_2 होता है, तथा कीमत = न्यूनतम औसत लागत = OP_2 होती है, क्योंकि इसमे कम में घाटा होने से उत्पादन जारी नही रखा जा सकता। अत एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में Q_1Q_2 अतिरिक्त क्षमता (excess capacity) की सूचक होती है।

पहले यह कहा जाता था कि Q_1Q_2 'अतिरिक्त क्षमता' एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में कार्यकुशलता की द्योतक होती है। लेकिन केल्विन लकास्टर (Kelvin Lancaster) ने बतलाया है कि लोगों की रुचि के अनुसार माल की कई किस्मे बनायी जाती है, जिससे प्रत्येक किस्म का उत्पादन LAC के गिरते हुए अश पर ही कही बन्द करना पडता है। LAC के न्यूनतम बिन्दु तक उत्पादन करने में माल तो ज्यादा बनता व कीमत भी घटकर Op_2 हो जाती, लेकिन वस्तु में विविधता (diversity) का अभाव रह जाता। स्मरण रहे कि Q_1 से Q_2 की तरफ जाने पर कीमत घटानी पडती है। अत E_2 की बजाय E_1 पर ठहरने से साधनों का अपव्यय नहीं माना जाता, क्योंकि इसमे उपभोक्ता को वस्तु की अधिक किस्मों के उपभोग का अवसर मिलता है, जिसे उसे अन्यथा छोडना पडता। अत एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा मे 'अतिरिक्त क्षमता' के प्रति एक नया व अधिक प्रगतिशील दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है।[1]

इस प्रकार एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में उत्पादन की मात्रा पूर्ण प्रतिस्पर्धा की सर्वाधिक कार्यकुशल या अनुकूलतम उत्पत्ति की मात्रा से कम होती है।

---

1 Richard G Lipsey and K Alec Chrystal **Principles of Economics**, 9th ed 1999 pp 174

क्या दीर्घकाल में एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में एक फर्म असामान्य लाभ कमा सकती है?

दीर्घकाल में नयी फर्मों के प्रवेश के कारण एक फर्म सामान्य लाभ ही कमा पाती है। लेकिन यदि प्रवेश अवरुद्ध हो तो चालू फर्में असामान्य लाभ भी कमा सकती हैं। एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में वैसे तो प्रवेश अवरुद्ध नहीं होता लेकिन लाइसेंस सम्बन्धी कानूनों के द्वारा प्रवेश को अवरुद्ध किया जा सकता है। फर्में अपने राजनीतिक प्रभाव का उपयोग करके विशेषाधिकार प्राप्त कर लेती हैं। इन दशाओं में एक फर्म दीर्घकाल में भी असामान्य लाभ कमा सकती है।

एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में विज्ञापन का महत्त्व—वस्तु विभेद के कारण एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में विज्ञापन के माध्यम से एक फर्म उपभोक्ताओं के मन में यह बैठाने का प्रयास करती है कि उसकी वस्तु उसी प्रकार की अन्य वस्तुओं से ज्यादा अच्छी है। इसके लिए प्रायः वस्तु का डिजाइन बदला जाता है। हम देख चुके हैं कि एक एकाधिकारी की स्थिति ऐसी होती है जिसमें प्रतिस्पर्धात्मक विज्ञापन (Competitive advertisement) की आवश्यकता नहीं पड़ती और पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में भी एक सी वस्तु के होने एवं कीमत के दिए हुए होने से विज्ञापन का सहारा नहीं लिया जाता।

विज्ञापन दो प्रकार का हो सकता है—एक तो सूचना प्रदान करने वाला (informative) जिसके माध्यम से एक वस्तु का परिचय उपभोक्ताओं को दिया जाता है, और दूसरा एक विशिष्ट फर्म के माल का प्रचार करने वाला, जिसका उद्देश्य एक फर्म की बिक्री को बढ़ाना होता है और उपभोक्ताओं को अपनी वस्तु की तरफ आकर्षित करना होता है। यह विज्ञापन समझा-बुझाकर ग्राहकों को अपने पक्ष में करने वाला (persuasive) होता है। विज्ञापन पर व्यय करने से प्रायः फर्म का औसत आय वक्र (AR) ऊपर दाहिनी ओर खिसक जाता है, क्योंकि प्रत्येक कीमत पर पहले से माँग की मात्रा बढ़ती है। एक फर्म विज्ञापन पर अपना व्यय उस सीमा तक बढ़ाती जाती है जहाँ तक उसकी सीमान्त आय सीमान्त लागत से अधिक रहती है। विज्ञापन से वस्तु के लिए माँग की लोच प्रत्येक कीमत पर पहले की अपेक्षा कम हो जाती है। इसका कारण यह है कि उपभोक्ता विज्ञापन के बाद उसकी वस्तु को पहले से ज्यादा पसन्द करने लगते हैं। बहुधा विज्ञापन से वस्तु की कीमत व उत्पत्ति दोनों में वृद्धि होती है। यही कारण है कि दूरदर्शन पर कई प्रकार के सौन्दर्य साबुनों जैसे नीमा रोज, फेयर ग्लो, डव, ब्रिज, निरमा, सिन्थोल, आदि के विज्ञापन देखने को मिलते हैं। इस प्रकार एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में बिक्री सम्बन्धी लागतों व विज्ञापन का बड़ा महत्त्व होता है, अल्पाधिकार में भी विज्ञापन का काफी उपयोग किया जाता है। विज्ञापन के कारण न केवल वस्तुओं की बिक्री बढ़ती है, बल्कि अनेक तरह की आर्थिक क्रियाओं का विकास भी होता है। विज्ञापन की आय के फलस्वरूप ही समाचार पत्रों की कीमतें नीची रखी जा सकती हैं।

एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा म उत्पादक एक दूसरे से मिलती जुलती वस्तुएँ बनाते ह और व एक दूसरे के डिज़ाइन आदि का ध्यान म रखते रहते है तथा यथासम्भव उनकी नकल करने का भी प्रयास करते ह। उत्पादक प्राय अपनी वस्तु की आकृति या पैकिंग म मामूली अन्तर करके उपभोक्ता के मन म यह बैठाने का प्रयास करते हैं कि उनकी वस्तु दूसरो से बेहतर है और व इसे ही खरीदें। वस्तुओ के भेद वास्तविक या काल्पनिक हो सकते है। लेकिन शर्त यह है कि उपभोक्ता स्वय उनमें भेद माने या समझे।

जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा म प्राय उत्पादन की अतिरिक्त क्षमता (excess capacity) की समस्या पायी जाती है क्योंकि एक फर्म के लिए उस बिन्दु तक उत्पत्ति करना अनिवार्य नही होता जहाँ LAC का न्यूनतम बिन्दु आ जाय बल्कि एक फर्म इस बिन्दु के काफी पहले ही उत्पादन करना बन्द कर देती है। इसलिए एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा म कीमत ऊँची व उत्पत्ति कम पायी जाती है लेकिन ऐसा करने पर ही उपभोक्ताओं को एक वस्तु की अनेक किस्मों के उपभोग का सुअवसर मिल पाता है।

एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा के मॉडल पर टिप्पणी—कोहन व सीयर्ट (Cohen and Cyert) का मत है कि एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा का मॉडल निरर्थक व खोखले किस्म का है क्योंकि यह वास्तविक जगत में पायी जाने वाली किसी भी बाजार स्थिति का अध्ययन नहीं करता। इनका मत है कि वास्तविक जगत में निम्न दशाएँ ही पायी जाती है जिनमे से कोई भी दशा एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा से मेल नहा खाती। अत एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा का मॉडल खोखले या खाली किस्म का मॉडल (empty model) माना गया है। लेकिन आजकल व्यवहार में ब्रेकफास्ट फुड कारो साइकिलों, मोपेडों, साडियो आदि के सम्बन्ध में एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा की दशा देखने को मिलती है और इस प्रकार के बाजार निरन्तर बढते जा रहे हैं।

व्यवहार म निम्न किस्म के बाजार पाये जाते ह—

(1) गेहूँ जैसे बाजार में अनेक फर्मो के पाये जाने व किस्म क मामूली अन्तरों के कारण इसे पूर्ण प्रतिस्पर्धा के समीप माना गया है।

(2) सीमेंट सिगरेट मोटरगाडियों, टी वी सेटस जैसे उद्योगो म थोडी सख्या में बडे आकार की फर्मो के पाये जाने के कारण ये अल्पाधिकार (oligopoly) की श्रेणी में आते है।

(3) टेलीफोन व विद्युत सेवाएँ आदि एकाधिकार के अन्तर्गत आती हैं।

(4) खुदरा दुकानें जैसे दवा की कपडों की जूतों की आदि प्राय एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत ली जाती है लेकिन इनमें भी परस्पर निर्भरता पायी जाती है एव एक फर्म अपने निर्णयों से दूसरों को प्रभावित कर सकती है इसलिए इन्हें भी अल्पाधिकार में शामिल करना बेहतर माना जाता है।

आजकल व्यवहार में अल्पाधिकार की दशा भी काफी मात्रा में देखने को मिलती है। एक फर्म एक ही वस्तु के कई ब्राण्ड बेच सकती है। वह विज्ञापन पर व्यय करती है और मजे की बात तो यह है कि **एक फर्म न केवल अपने प्रतिस्पर्धियों से प्रतिस्पर्धा करती है, बल्कि वह स्वयं अपनी ही वस्तु के अन्य ब्राण्डों से भी प्रतिस्पर्धा करती** है। ऐसा सिगरेट व नहाने के साबुनों में ज्यादातर पाया जाता है। स्वयं हिन्दुस्तान लीवर कम्पनी की साबुनों जैसे रेक्सोना, लक्स, लक्स इन्टरनेशनल आदि में काफी प्रतियोगिता हो रही है। अतः आजकल थोड़ी सी फर्में एक वस्तु की अनेक किस्मों में कट्टर प्रतिस्पर्धा करती हुई पायी जाती हैं।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा व एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा की तुलना

(1) दोनों में अनेक विक्रेता होते हैं, लेकिन पूर्ण प्रतिस्पर्धा में वस्तु समरूप या एक सी होती है जबकि एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत वस्तु विभेद पाया जाता है।

(2) पूर्ण प्रतिस्पर्धा में एक फर्म के लिए उसकी वस्तु का माँग वक्र पूर्णतया लोचदार होता है, अर्थात् यह क्षैतिज (horizontal) होता है। यह प्रचलित कीमत पर चाहे जितना माल बेच सकती है, उसके लिए कीमत घटाने की कोई आवश्यकता नहीं होती और कीमत बढाने पर माँग घटकर शून्य हो जाती है। लेकिन एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत अल्पकाल में फर्म का माँग वक्र (dd) काफी लोचदार होता है और MR वक्र उसके नीचे होता है। इसका अर्थ यह है कि एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में अधिक माल बेचने के लिए कीमत कम करनी होती है। एक फर्म का कुछ सीमा तक मूल्य पर प्रभाव पडता है।

(3) पूर्ण प्रतिस्पर्धा में एक फर्म के सन्तुलन की स्थिति में कीमत = सीमान्त लागत (price = MC) की शर्त लागू होती है जबकि एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में (MR = MC) की शर्त लागू होती है।

(4) पूर्ण प्रतिस्पर्धा में दीर्घकाल में एक फर्म अपने संयत्र का आकार बदल सकती है तथा उद्योग में नयी फर्मों का प्रवेश हो सकता है। एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में भी दीर्घकाल में एक फर्म अपने संयत्र का आकार बदल सकती है, तथा बहुधा नयी फर्मों का प्रवेश भी हो सकता है। लेकिन कुछ दशाओं में प्रवेश अवरुद्ध भी होता है, तब असामान्य लाभ भी प्राप्त किये जा सकते हैं।

(5) पूर्ण प्रतिस्पर्धा में दीर्घकाल में फर्म के सन्तुलन पर कीमत = सीमान्त आय = अल्पकालीन औसत लागत = अल्पकालीन सीमान्त लागत = दीर्घकालीन औसत लागत = दीर्घकालीन सीमान्त लागत होती है (p = MR = SAC = SMC = LAC = LMC)। एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में दीर्घकाल में स्वतन्त्र प्रवेश की स्थिति में, कीमत = अल्पकालीन औसत लागत = दीर्घकालीन औसत लागत (price = SAC = LAC) होती है, लेकिन कीमत अल्पकालीन सीमान्त लागत तथा दीर्घकालीन सीमान्त लागत से अधिक होती है। (price > SMC तथा price > LMC, हालांकि SMC = LMC होती है।)

(द) इसमें दीर्घकाल में उत्पादन की 'अतिरिक्त क्षमता' पायी जाती है।

(ए) सभी (ए)

अन्य प्रश्न

1. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये—
   (i) अतिरिक्त क्षमता की अवधारणा **(Raj II Yr 2002)**
2. एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता से आप क्या समझते है? एकाधिकारात्मक प्रतियोगी फर्म का दीर्घकालीन सन्तुलन समझाइये। **(Raj II Yr 2001)**
3. एकाधिकृत प्रतियोगिता की विशेषताएँ क्या हैं? **(MDSU, Ajmer II Yr 2000)**
4. एकाधिकार और एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता बाजार अवस्थाओं की मान्यताओं की तुलना कीजिए। **(MDSU, Ajmer IIYr 2001)**
5. एकाधिकृत प्रतियोगिता क्या है? इसकी विशेषताएँ बतलाइए और इसके अन्तर्गत मूल्य निर्धारण की विवेचना कीजिए। **(MLSU, Udaipur I Yr 2001)**
6. एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता व पूर्ण प्रतियोगिता में भेद स्पष्ट कीजिए। *एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में अल्पकाल में कीमत उत्पत्ति निर्धारण चित्र देकर समझाइए।*
7. निम्नलिखित को समझाइए—
   (i) एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता एकाधिकार तथा प्रतियोगिता का मिश्रण होती है।
   (ii) *एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में एक फर्म का अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन सन्तुलन।*

□□□

22

द्वयाधिकार व अल्पविक्रेताधिकार में कीमत व उत्पत्ति-निर्धारण

(Determination of Price and Output under Duopoly and Oligopoly)

परिभाषा—अल्पविक्रेताधिकार* (oligopoly) बाजार संगठन का वह रूप होता है जिसमें एक वस्तु के थोड़े-से (बहुधा 2 से 10 तक) विक्रेता होते हैं। द्वयाधिकार (duopoly) इसी का एक रूप माना गया है जिसमें केवल दो विक्रेता होते हैं। इसलिए इसमें प्रत्येक विक्रेता के कार्यों का दूसरे विक्रेताओं पर प्रभाव पड़ता है। परिणामस्वरूप, जब तक हम अन्य फर्मों की प्रतिक्रियाओं के सम्बन्ध में कोई विशिष्ट मान्यताएँ स्वीकार नहीं करते तब तक एक अल्पविक्रेताधिकारी फर्म के माँग वक्र का निर्माण नहीं किया जा सकता और जब तक ऐसी फर्म के माँग वक्र का निर्माण नहीं किया जाता तब तक उसके सम्बन्ध में कीमत उत्पत्ति का निर्धारण नहीं हो सकता। इसलिए अन्य फर्मों की प्रतिक्रियाओं या व्यवहारों के सम्बन्ध में कोई मान्यता लेने पर ही एक अल्पविक्रेताधिकारी फर्म के लिए कोई हल निकाला जा सकता है। यही कारण है कि इस प्रकार के बाजार में फर्म का कोई सामान्य सिद्धान्त नहीं होता। ऐसी स्थिति में हमें कई प्रकार के मॉडल मिलते हैं जो अपने अपने ढंग से हमारे सामने परिणाम प्रस्तुत करते हैं। इस बाजार के सम्बन्ध में कूर्नो मॉडल, बर्ट्रेण्ड मॉडल, एजवर्थ मॉडल, चेम्बरलिन मॉडल, विकुंचित या मोड़युक्त माँग वक्र (Kinked demand curve model) (पॉल एम स्वीज़ी मॉडल), केन्द्रीकृत कार्टेल (उत्पादक-संघ) मॉडल, बाजार सहभाजन कार्टेल मॉडल, तथा कीमत नेतृत्व मॉडल आदि की चर्चा की जाती है, जिनमें से कुछ का यहाँ सरल परिचय दिया जायगा। लेकिन इससे पूर्व हमें अल्पविक्रेताधिकार बाजार की प्रमुख विशेषताओं पर ध्यान देना होगा जो आगे दी जाती हैं।

---

* Oligopoly के लिए पुस्तकों में 'अल्पाधिकार' शब्द का भी प्रयोग देखने को मिलता है। लेकिन इसका सम्बन्ध विक्रेता-पक्ष से होता है इसलिए हमने इसके लिए 'अल्पविक्रेताधिकार' शब्द का प्रयोग ज्यादा उपयुक्त माना है ताकि oligopsony के लिए 'अल्पक्रेताधिकार' शब्द प्रयोग किया जा सके क्योंकि उसमें थोड़े से क्रेता होते हैं।

इसकी विशेषताएँ या लक्षण—

(1) **परस्पर निर्भरता (Interdependence)**—इस बाजार की प्रमुख विशेषता यह होती है कि इसमें फर्मों के निर्णय परस्पर निर्भर करते हैं। एक फर्म के कार्यों की दूसरो पर प्रतिक्रिया होती है, और दूसरी फर्मों के कार्यों की इस फर्म पर प्रतिक्रिया होती है। इसलिए फर्मों के निणय एक दूसरे से स्वतन्त्र नही होते हैं। उदाहरण के लिए पूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे एक फर्म दी हुई बाजार कीमत पर चाहे जितना माल बेच सकती है। एकाधिकारी को किसी दूसरी फर्म के निर्णय की चिंता नहीं होती है। इसी प्रकार एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में भी एक फर्म निर्णय लेने में बहुत कुछ स्वतंत्र होती है।

(2) **इसमे समूह व्यवहार (Group behaviour) का महत्त्व होता है**—बाजार के अन्य रूपो में प्राय वैयक्तिक व्यवहार (individual behaviour) देखने को मिलता है और लाभ अधिकतम करने पर बल दिया जाता है। लेकिन अल्पविक्रेताधिकार में विभिन्न फर्मों के समूह व्यवहार का असर पडता है। वे आपस में सहयोग करके अपने उद्देश्यों की पूर्ति कर सकती हैं, अथवा वे परस्पर सघर्ष कर सकती है। यदि वे आपस में कोई समझौता करती हैं तो वह समझौता निभा सकती हैं, अथवा उसे तोड सकती हैं। इसलिए उनमे समझौतों के भी अनेक प्रारूप पाये जाते हैं। इस लक्षण के कारण बाजार के इस रूप का व्यवस्थित विश्लेषण करना कठिन होता है।

(3) **फर्म का माँग-वक्र बनाना कठिन होता है**—बाजार के इस रूप में माँग वक्र अनिर्णीत (indeterminate) स्थिति में रहता है। इसका कारण यह है कि एक फर्म यह नही बतला सकती कि वह अमुक कीमत पर कितना माल बेच पायेगी। उसे प्रतिद्वन्द्वी फर्मों की प्रतिक्रिया का सामना करना पडता है जिनके बारे में निश्चयात्मक रूप से कुछ भी कहना मुश्किल होता है। इसलिए प्रतिद्वन्द्वी फर्मों की विभिन्न प्रतिक्रियाओं के आधार पर एक फर्म को निर्णय करना होता है।

(4) **इसमे विज्ञापन व बिक्री-लागतो का महत्त्व माना गया है**—पूर्ण प्रतिस्पर्धा व एकाधिकार में उनकी विशेष परिस्थितियों के कारण विज्ञापन व बिक्री सवर्धन पर व्यय करने की जरूरत नही पडती। एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में वस्तु विभेद के कारण विज्ञापन का थोडा बहुत महत्त्व अवश्य होता है। लेकिन अल्पविक्रेताधिकार में तो विज्ञापन व बिक्री लागतों का विशेष रूप से महत्त्व माना गया है। प्रत्येक फर्म अपने माल की डिजाइन व गुणवत्ता तथा सेवा में सुधार करके अपने माल की बिक्री बढाने के लिए आवश्यक प्रचार प्रसार करती है।

अल्पविक्रेताधिकार की दो किस्मे—(i) विशुद्ध अल्पविक्रेताधिकार (pure oligopoly) जिसमें वस्तु समरूप (homogeneous) होती है, जैसे—सीमेंट, इस्पात, ताबा, आजकल के कम्पनी निर्मित पेयजल (बिस्लेरी, किन्ले) आदि। (ii) वस्तु-विभेद सहित अल्पविक्रेताधिकार (differentiated oligopoly or oligopoly with product differentiation), इसमें विभिन्न विक्रेताओं या निर्माताओं की वस्तुओं में अतर पाये

जाते हैं जैसे—टी वी सेट्स, कारें, फ्रिज, सिगरेट, एक विषय की स्टेण्डर्ड (मानक) पुस्तकें, आदि।

हम अपने आगे के विवेचन को विशुद्ध अल्पविक्रेताधिकार (pure oligopoly) की स्थिति तक सीमित रखेंगे ताकि अन्य कई प्रकार की जटिलताओं से बचा जा सके जो वस्तु-विभेद के कारण उत्पन्न होती हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि अल्पविक्रेताधिकार में फर्मों में परस्पर निर्भरता पायी जाती है, इसमें फर्म के माँग-वक्र को ज्ञात करना कठिन होता है, इसमें समूह व्यवहार की प्रधानता होती है तथा विज्ञापन व बिक्री-संवर्धन पर व्यय किया जाता है। अत बाजार का यह रूप अन्य रूपों से काफी भिन्न व काफी जटिल होता है।

अब हम नीचे इसके कुछ अधिक लोकप्रिय मॉडलों का विवेचन प्रस्तुत करते हैं जिसमें द्वयाधिकार (duopoly) व अल्पविक्रेताधिकार (oligopoly) में उत्पत्ति व कीमत-निर्धारण तथा लाभ की स्थिति स्पष्ट हो सकेगी।[1]

(I) कूर्नो-मॉडल (The Cournot Model) (द्वयाधिकार की स्थिति) —
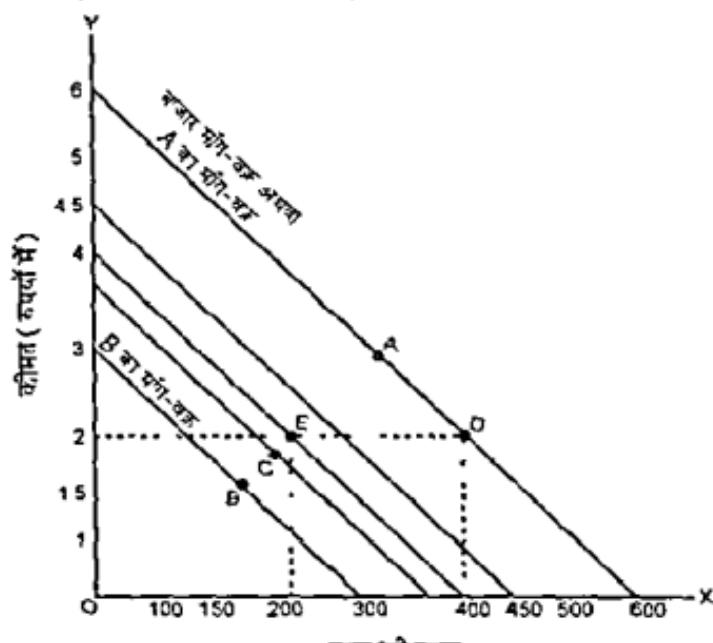
चित्र 1 कूर्नो-मॉडल

1 विभिन्न प्रकार के मॉडलों में विस्तृत विवेचन के लिए देखिए, (Dominick Salvatore की **Theory and Problems of Microeconomic Theory, 3rd ed 1992,** (Schaum's outline Series) chapter 11 particularly, pp 262 266

स्पष्टीकरण*—कूर्नो ने दो फर्मों का उदाहरण लिया था जो झरने का पानी (spring water) बेचती हैं। उनकी उत्पादन लागत शून्य मानी जाती है। प्रत्येक फर्म सीधी माँग रेखा के मध्य बिन्दु पर अपना मुनाफा अधिकतम करती है, जहाँ e = 1 होती है। दूसरी फर्म अपनी उत्पत्ति स्थिर रखती है। इसमें फर्मों की चालों और पुन चालों से अत मे प्रत्येक फर्म, पूर्ण प्रतिस्पर्धा के बाजार की दिशाओं में, कुल झरने के पानी का 1/3 अश बेच पाती है।

प्रारम्भ में (6, 600) बिन्दु पर बाजार माग वक्र होता है, **चूकि यहाँ A ही अकेला विक्रेता है इसलिए वह A बिन्दु पर अपना लाभ अधिकतम कर पाता है,** और 300 इकाई माल 3 रुपया प्रति इकाई कीमत पर बेचता है। **यह एकाधिकारी हल होता है।** अब B बाजार में प्रवेश करता है, जिसका माग वक्र (3, 300) बिन्दु से सूचित किया गया है और वह B बिन्दु पर अपना लाभ अधिकतम कर पाता है और 1 5 रुपये कीमत पर 150 इकाई माल बेचता है। इसमे A फर्म को नीचे की माँग रेखा पर उतरना पडता है और वह (4 5, 450) के बिन्दु वाली मॉग रेखा पर आ जाता है और B ऊपर C रेखा पर चला जाता है। पुन A-फर्म नीचे आती है और B-फर्म ऊपर जाती है और अत में E पर सतुलन स्थापित हो जाता है, जहाँ प्रत्येक फर्म 2 रु कीमत पर 200 इकाई माल बेच पाती है। इस प्रकार प्रत्येक फर्म $\frac{200}{600} = \frac{1}{3}$ अश माल बेच पाती है।

इस प्रकार कूर्नो के द्वयाधिकार मॉडल में दोनों फर्मों की चालों व बदले की चालों (moves and countermoves) के फलस्वरूप अत में सतुलन की स्थिति उत्पन्न होती है। शुरू मे एक फर्म एकाधिकारी स्थिति का लाभ उठाती है, लेकिन बाद में दूसरी फर्म के प्रवेश से स्थिति बदल जाती है। तब पहली फर्म को नीचे की माग वक्र पर उतरना पडता है और दूसरी फर्म ऊपर की ओर जाती है, और ऐसा करते-करते विभिन्न चालो व बदले की चालो के फलस्वरूप अत में प्रत्येक फर्म के द्वारा 1/3 अश माल बेचने की दशा मे दोनो के लिए एक सतुलन बिन्दु आ पाता है।

(2) विकुचित या मोड़युक्त माँग-वक्र मॉडल (Kinked demand curve Model) अथवा पॉल एम. स्वीजी मॉडल (Paul M Sweezy Model)

अल्पविक्रेताधिकार के विश्लेषण में 'स्वीजी मॉडल' काफी लोकप्रिय माना गया है। यह अग्र चित्र की सहायता से स्पष्ट किया गया है।

स्पष्टीकरण—अग्र चित्र में फर्म का माँग वक्र DEH दर्शाया गया है, जिसमें E बिन्दु पर मोड (Kink) आता है। E से पहले फर्म का माग वक्र ज्यादा लोचदार होता है। यदि इस क्षेत्र में फर्म अपनी कीमत बढा देती है तो अन्य फर्में सम्भवत अपनी कीमत बढाने के बजाय घटा देंगी, जिससे इस क्षेत्र में फर्म की माग की मात्रा काफी घट जायेगी। चित्र में DFGN *सीमान्त आय वक्र (mr)* है। *यहाँ सीमान्त आय का* DF का अश DE माग वक्र के अनुरूप है, और GN अश EH अश के अनुरूप है

* इसमें परिवर्तन की दिशा पर ध्यान देना ज्यादा लाभकारी होगा।
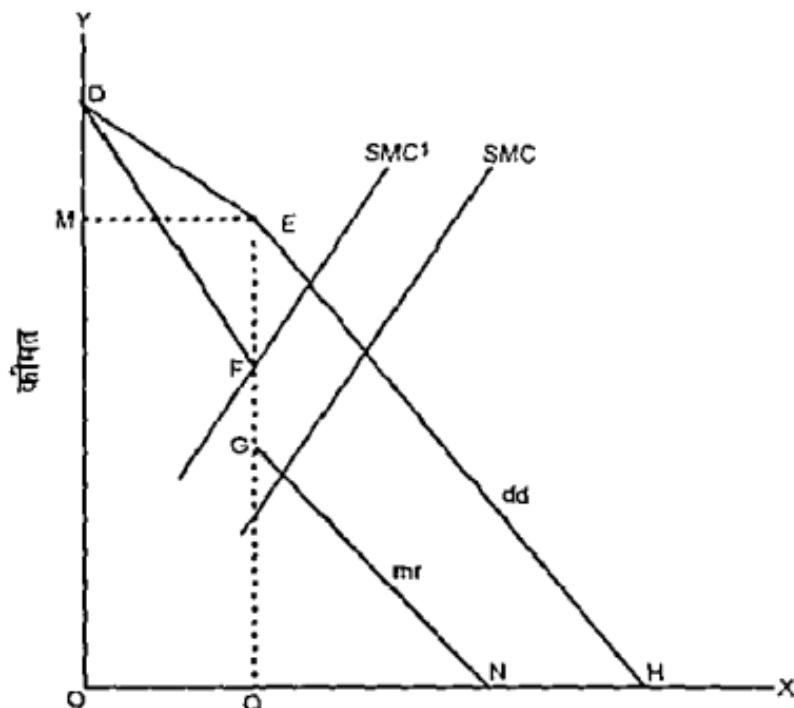
चित्र 2-विकुंचित माँग वक्र का मॉडल

और E पर मोड आने के कारण इसका FG अंश असतत (discontinuous) बना रहता है। SMC अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र सीमान्त आय वक्र को G पर काटता है, जिससे उत्पत्ति की मात्रा OQ, तथा कीमत OM = QE निर्धारित होती है। यदि लागत बढ़कर SMC¹ हो जाती है तो भी फर्म के लिए उत्पत्ति की मात्रा OQ व कीमत OM = QE ही रहती है।

यहाँ लाभ की मात्रा ज्ञात करने के लिए औसत लागत वक्रों (SACs) का प्रयोग करना होगा। हमने सरलता के लिए SMC को रेखीय रूप में दर्शाया है। इन्हें वक्र रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है।

(3) केन्द्रीकृत कार्टेल का मॉडल
(The Centralised Cartel Model)

जब एक उद्योग की सभी फर्में एक सगठन बना लेती हैं जो उनके लिए आवश्यक निर्णय लेता है तो उसे कार्टेल कहते हैं। पूरी साठ-गाठ होने की स्थिति में उसे केन्द्रीकृत कार्टेल कहा जाता है (ओपेक (पेट्रोल निर्यातक देशों का सगठन) आजकल अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल माना जाता है) और वह एकाधिकारी दशा मानी जाती है। इसे अग्र चित्र की सहायता से स्पष्ट किया जाता है।

चित्र 5–कीमत-नेतृत्व मॉडल

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है अल्पविक्रेताधिकार में कई प्रकार के मॉडल हो सकते हैं। शुरू में कूर्नो का मॉडल, प्रस्तुत किया गया था, तथा बाद में अन्य मॉडल सामने आये, जिनमें मोड़युक्त माग, कार्टेल-मॉडल तथा कीमत-नेतृत्व मॉडल आदि काफी चर्चित हुए हैं। ये अल्पकालीन स्थिति में समरूप वस्तु की दशा के लिए प्रयुक्त किये गये हैं। इनसे साफ जाहिर होता है कि अल्पविक्रेताधिकार में फर्मों में परस्पर निर्भरता की स्थिति का बड़ा महत्त्व होता है। एक फर्म के निर्णयों का दूसरी फर्म या फर्मों के निर्णयों पर असर होता है, और दूसरी फर्म या फर्मों के निर्णयों का स्वयं उस फर्म के निर्णयों पर असर पड़ता है। ऐसी दशा बाजार के अन्य रूपों में देखने को नहीं मिलती। इस प्रकार बाजार के इस रूप में फर्मों की चालों (moves) व बाद की चालों (counter-moves) के कारण इस प्रकार का बाजार एक खेल का मैदान बन जाता है।

अल्पविक्रेताधिकार में दीर्घकाल में सतुलन—दीर्घकाल में एक अल्पविक्रेताधिकारी फर्म बाजार में अन्य रूपों की भांति लाभ अर्जित कर सकती है, न लाभ-न-हानि की स्थिति में पहुँच सकती है, अथवा घाटा भी उठा सकती है। **लेकिन इसे दीर्घकाल में लाभ अवश्य होना चाहिए, अन्यथा वह उद्योग को छोड़ देगी।** दीर्घकाल में यह उत्पत्ति का सर्वोत्तम पैमाने का संयत्र लगाती है। फिर भी यदि दीर्घकाल में अल्पविक्रेताधिकारी फर्मों को लाभ होता रहता है, तो इसमें नयी फर्मों का प्रवेश प्रोत्साहित हो सकता है, जिससे यह उद्योग अल्पविक्रेताधिकारी किस्म का नहीं बना रह सकता। उस स्थिति में इस उद्योग में प्रवेश को रोकना या सीमित करना जरूरी हो जाता है।

अल्पविक्रेताधिकार की बाजार-संगठन के अन्य रूपों से तुलना

अल्पविक्रेताधिकार की विशेषताओं को स्पष्ट करने के लिए इसकी तुलना पूर्ण प्रतिस्पर्धा, एकाधिकार व एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा के बाजारों से करना काफी लाभकारी होगा। इस सम्बन्ध में स्थिति नीचे स्पष्ट की जाती है।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा	एकाधिकार	एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा	अल्पविक्रेताधिकार
1 इसमें फर्मों की संख्या अनेक होती है।	इसमें फर्म एक होती है।	इसमें फर्में बहुत सी होती हैं।	इसमें थोड़ी फर्में होती हैं। दो फर्मों की स्थिति में इसे द्वयाधिकार कहते हैं, जो अल्पविक्रेताधिकार का ही एक रूप होता है। oligopoly में प्रायः 2 से 10 फर्में शामिल की जाती हैं।
2. इसमें वस्तु समरूप होती है।	इसमें एक ही वस्तु की चर्चा की जाती है।	इसमें वस्तु विभेद (product differentiation) पाया जाता है।	इसके विशुद्ध रूप (pure oligopoly) में वस्तु समरूप, तथा विभेदात्मक रूप में वस्तु विभेद पाया जाता है। साधारणतया इसका विश्लेषण विशुद्ध या समरूप वस्तु की दशा को मानकर ही किया जाता है।
3 इसमें एक फर्म का माँग वक्र क्षैतिज-आकार का, x-अक्ष के समानान्तर होता है।	इसमें माँग वक्र (AR-curve) नीचे की ओर झुकता है।	इसमें भी माँग-वक्र नीचे की ओर झुकता है और प्रायः लोचदार होता है।	इसमें माँग-वक्र 'अनिर्धारित' (indeterminate) होता है। इसलिए एक फर्म की माँग की मात्रा पर अन्य फर्मों की प्रतिक्रियाओं का असर पड़ता है। इसलिए इसके कई प्रकार के मॉडल प्रचलित रहे हैं। जैसे कूर्नो-मॉडल, मोड़युक्त माँग-वक्र का मॉडल, कीमत-नेतृत्व का मॉडल, आदि।

4	इसमें AR = MR होता है।	इसमें MR<AR होती है।	इसमें भी MR <AR होती है।	इसमें सामान्यतया MR<AR होती है, लेकिन मोड़युक्त माग वक्र में MR वक्र पर एक असतत टुकड़ा (discontinuous portion) आता है।
5	इसमें अल्पकाल में फर्म को लाभ या हानि हो सकती है। फर्म अधिसामान्य लाभ कमा सकती है।	इसमें भी फर्म प्राय अल्पकाल में लाभ अर्जित करती है।	इसमें अल्पकाल में लाभ या हानि की स्थिति पायी जा सकती है।	इसमें प्राय लाभ की दशा पायी जाती है।
6	इसमें दीर्घकाल में केवल सामान्य लाभ ही मिल सकते हैं। फर्म के सतुलन में P = SAC = LAC = SMC = LMC की दशा पायी जाती है।	यह दीर्घकाल में भी सामान्य से अधिक लाभ कमाती है।	यह दीर्घकाल में केवल सामान्य लाभ ही कमा सकती है।	यह दीर्घकाल में लाभ प्राप्त करने पर ही उद्योग में बनी रहेगी, अन्यथा बाहर हो जायेगी।
7	इसमें विज्ञापन व विक्री लागतों की जरूरत नहीं पड़ती।	इसमें भी विज्ञापन व विक्री लागतों की जरूरत नहीं पड़ती।	इसमें विज्ञापन व विक्री सवर्धन पर व्यय करना होता है।	इसमें विज्ञापन व विक्री सवर्धन पर विशेष रूप से व्यय करना होता है।
8	यह ज्यादातर काल्पनिक स्थिति मानी जाती है। यह बाजार के रूप की एक चरम सीमा होती है।	यह भी व्यवहार में कम पायी जाती है। यह भी बाजार के रूप की एक दूसरी चरम सीमा होती है।	यह व्यवहार में काफी देखने को मिलती है।	इसे भी आजकल बाजार के रूप में काफी लोकप्रियता मिल गयी है। यह अनेक उद्योगों व सभी विकसित देशों में पायी जाती है।

2 विकुंचित या मोडयुक्त माग वक्र के मॉडल में उत्पत्ति व कीमत निर्धारण को स्पष्ट कीजिए।

3 केन्द्रीकृत कार्टेल मॉडल व बाजार सहविभाजन कार्टेल मॉडल में क्या अतर होता है ? चित्र देकर समझाइए।

4 अल्पविक्रेताधिकार मे नव प्रवर्तन (innovation) पूर्ण प्रतिस्पर्धा व एकाधिकार से अधिक होता है। इस कथन को स्पष्ट रूप में समझाइए।

5 अल्पविक्रेताधिकार व एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में अतर स्पष्ट कीजिए।

रही थी तो दीर्घकाल में कुछ फर्में उद्योग को छोड़ देंगी जिससे बाजार में पूर्ति वक्र बायीं ओर खिसक जायेगा। परिणामस्वरूप नये संतुलन में कीमत ऊंची, उत्पत्ति की मात्रा कम व फर्मों की संख्या घट जायेगी।

(iii) **विशिष्ट बिक्री कर का प्रभाव (Effect of a specific sales tax)**—यह प्रति इकाई उत्पत्ति के अनुसार मुद्रा के रूप में (जैसे प्रति इकाई एक रुपया या और कोई राशि) लगाया जाता है। यह कर सीधा फर्म की सीमान्त लागत (MC) को प्रभावित करता है जिससे फर्म का पूर्ति वक्र बायीं तरफ खिसक जाता है जिससे उत्पत्ति की मात्रा घट जाती है और कीमत बढ़ जाती है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि कीमत में वृद्धि विशिष्ट कर से कम होगी, उसके बराबर होगी अथवा उससे अधिक होगी। यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसी से यह तय होगा कि विशिष्ट बिक्रीकर का भाग उपभोक्ता तथा फर्म में से किस पर कितना कितना पड़ेगा।

इस प्रश्न का उत्तर वस्तु की पूर्ति की कीमत लोच (price elasticity of supply) पर निर्भर करेगा। स्मरण रहे कि जब तक बाजार पूर्ति का ढाल धनात्मक (positive slope) होगा तब तक विशिष्ट कर का भार उपभोक्ताओं व फर्म के बीच विभाजित होगा। यदि पूर्ति की लोच कम होती है, तो फर्म पर कर का भार अधिक होगा और उपभोक्ता पर कम होगा। इसके विपरीत यदि पूर्ति की लोच अधिक होती है तो फर्म पर कर का भार कम होगा और उपभोक्ता पर अधिक होगा। ये दोनों

चित्र 1—पूर्ति की लोच के कम होने की स्थिति में कर-भार फर्म पर अधिक व उपभोक्ता पर कम

चित्र 2—पूर्ति की लोच के अधिक होने की स्थिति में
कर का भार फर्म पर कम व उपभोक्ता पर अधिक

स्थितियाँ क्रमशः चित्र 1 व चित्र 2 में दर्शायी गयी हैं। दोनों चित्रों में बाजार माँग एकसी रहती है।

स्पष्टीकरण—चित्र 1 व चित्र 2 दोनों पर DD माँग-वक्र एक सा है। चित्र 1 में पूर्ति-वक्र कम लोचदार है जो AB बिक्री कर लगाने पर SS के बायें तरफ खिसक कर S'S' पर आने से कीमत में PP' वृद्धि करता है और कर की मात्रा AB होती है। स्पष्ट है कि इससे उपभोक्ता पर भार PP पड़ा और फर्म पर (AB − PP') भार पड़ा। चित्र 2 में पूर्ति-वक्र अधिक लोचदार है। इससे SS से S'S' पर आने से कीमत PP बढ़ी और कर की मात्रा AB रही। इस प्रकार चित्र 2 में उपभोक्ता पर भार PP' पड़ा जो चित्र 1 में PP' से ज्यादा है। यहाँ फर्म पर कर का भार चित्र 1 की तुलना में कम दिखाई देता है। अतः कर-भार का उपभोक्ताओं व फर्म के बीच आवंटन पूर्ति की कीमत-लोच से प्रभावित होता है।

यदि पूर्ति की कीमत-लोच अनन्त (infinite) होती है तो कर का सारा भार उपभोक्ताओं पर कीमत वृद्धि के रूप में खिसका दिया जाता है। जैसा कि चित्र 3 पर दर्शाया गया है। इस स्थिति में फर्म पर कर-भार बिल्कुल नहीं पड़ता। यदि पूर्ति-वक्र का ढाल ऋणात्मक (negative) होता है, तो कीमत-वृद्धि कर की मात्रा से अधिक होती है, जैसा कि चित्र 4 पर दर्शाया गया है। इन दोनों स्थितियों के चित्र आगे दिये जाते हैं।

चित्र 3—पूर्ति वक्र की लोच के अनन्त होने पर पूरा कर भार उपभोक्ता पर

चित्र 4—पूर्ति-वक्र का ढाल ऋणात्मक (negative) होने पर
कीमत-वृद्धि कर की मात्रा से अधिक

स्पष्टीकरण—चित्र 3 में पूर्ति वक्र S की लोच अनन्त या असीमित है और उसके खिसक कर S' हो जाने पर कीमत वृद्धि PP' होती है जो कर की मात्रा AB के समान है। अतः इस स्थिति में सारा कर उपभोक्ता पर खिसका दिया जाता है।

चित्र 4 में पूर्ति-वक्र SS का ढाल ऋणात्मक है और कर लगने पर यह वक्र S'S' हो जाता है। यहाँ कीमत वृद्धि PP' कर की मात्रा AB से अधिक है। अतः इस स्थिति में उपभोक्ता पर कर का भार (PP') कर की मात्रा (AB) से भी ऊँचा बैठता है।

अतः उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विशिष्ट बिक्री कर का भार उपभोक्ताओं और फर्म के बीच किस प्रकार विभाजित होगा—यह पूर्ति वक्र की कीमत लोच (price elasticity of supply curve) से प्रभावित होता है। पाठकों को इन चारों चित्रों को भलीभाँति समझने का प्रयास करना चाहिए।

एकाधिकार की दशा में करारोपण का फर्म के संतुलन पर प्रभाव

(i) एक मुश्त कर का प्रभाव—एकाधिकार की दशा में अल्पकाल और दीर्घकाल की स्थिति में अंतर करने की आवश्यकता नहीं पड़ती जैसी कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में पड़ती है क्योंकि एकाधिकारी दोनों अवधियों में अतिरिक्त मुनाफा प्राप्त करता है। यहाँ भी एक मुश्त कर से उसकी कुल स्थिर लागत बढ़ जाती है, लेकिन उसकी सीमान्त लागत (MC) पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और उसकी उत्पत्ति व कीमत नहीं बदलते। एक मुश्त कर से उसका कुल मुनाफा अवश्य कम हो जाता है। दीर्घकाल में भी एकाधिकारी फर्म का संतुलन पूर्ववत् ही बना रहेगा, बशर्ते कि एक मुश्त कर की मात्रा उसके अधिसामान्य मुनाफों (supernormal profits) से अधिक नहीं हो। यदि एक मुश्त कर की मात्रा उसके अधिसामान्य मुनाफों से अधिक होती है तो उसे दीर्घकाल में घाटा होगा और उसे उत्पादन बंद करना होगा। ये स्थितियाँ निम्न एवं अग्र चित्रों में दर्शायी गयी है।
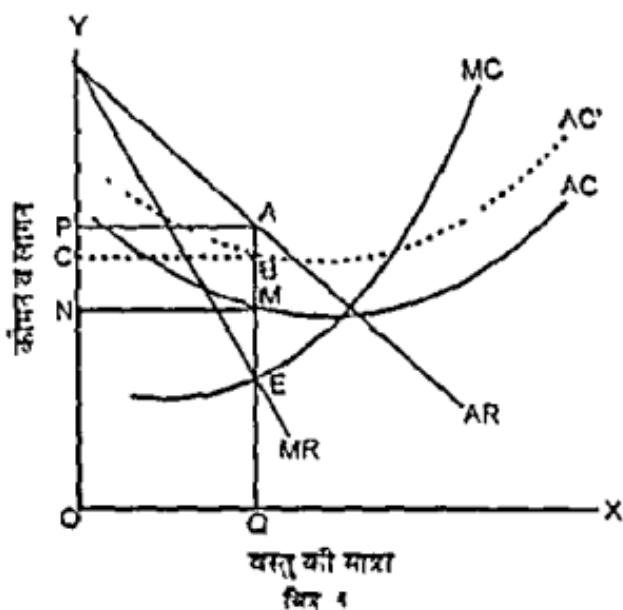
चित्र 5

स्पष्टीकरण—चित्र 5 पर MR वक्र MC को E बिन्दु पर काटता है और AR वक्र की सहायता से कीमत OP = OA निर्धारित होती है, जिस पर एकाधिकारी को प्रारम्भ में AC वक्र पर PAMN मुनाफा प्राप्त होता है। एकमुश्त कर के लगने से स्थिर लागत के बढ़ने से AC' नया औसत लागत वक्र बन जाता है जिससे एकाधिकारी
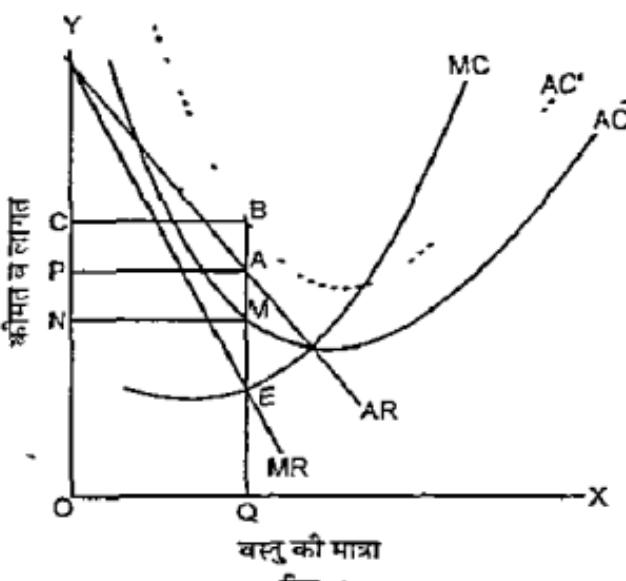
चित्र 6

का मुनाफा घट कर PABC रह जाता है, लेकिन वस्तु की उत्पत्ति की मात्रा OQ व कीमत OP ही बनी रहती है।

चित्र 6 पर MR वक्र MC को E बिन्दु पर काटता है, और यहाँ भी कीमत OP = QA निर्धारित होती है। एकाधिकारी फर्म पर एकमुश्त कर लग जाने से AC वक्र ऊपर AC' पर चला जाता है। AC वक्र की स्थिति में उसे PAMN मुनाफा हो रहा था, लेकिन अब AC' वक्र के बनने पर (एक मुश्त कर के बाद) उसे PCBA शुद्ध घाटा होता है। ऐसी स्थिति में दीर्घकाल मे उसे उत्पादन बद करना होगा। अत एक मुश्त कर की मात्रा के अधिसामान्य मुनाफों से अधिक होने पर (चित्र में BM > AM), एकाधिकारी फर्म को उत्पादन बद करने का निर्णय लेना पडेगा।

(ii) लाभ पर कर का प्रभाव—लाभ पर कर का प्रभाव एकाधिकारी फर्म के सतुलन पर उसी प्रकार का होता है जैसा कि ऊपर एक मुश्त कर के सम्बन्ध में दर्शाया गया है। इससे फर्म का कुल अधिसामान्य मुनाफा कम हो जाता है, लेकिन उसके सतुलन पर कोई प्रभाव नहीं पडता। यदि लाभ पर कर इतना भारी होता है कि वह सामान्य मुनाफों को ही मिटा देता है, और फर्म को घाटे में ला देता है तो एकाधिकारी को उद्योग छोडने का निर्णय लेना होगा।

(iii) विशिष्ट बिक्री कर का प्रभाव—विशिष्ट बिक्री कर के लगने से एकाधिकारी फर्म की औसत परिवर्तनशील लागतें (AVC) बढ जाती हैं जिससे उसका सीमान्त लागत वक्र ऊपर की ओर खिसक जाता है। इससे एकाधिकारी फर्म का सतुलन प्रभावित होता है।
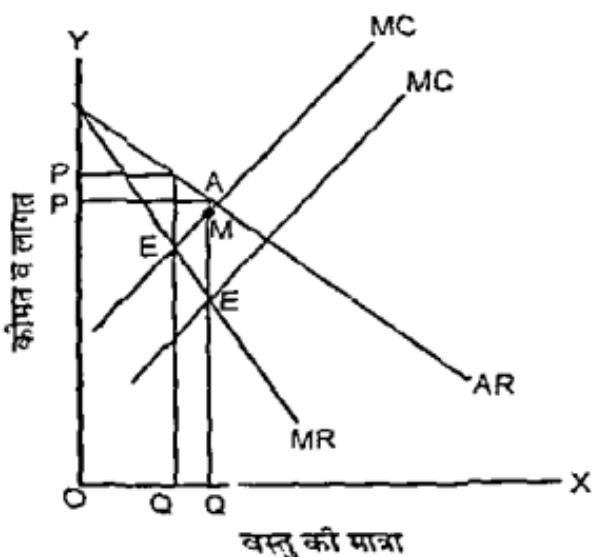
चित्र 7 MC वक्र का ढाल धनात्मक होने पर एकाधिकारी फर्म का सतुलन

हम चित्र 7 व चित्र 8 पर MC के धनात्मक ढाल (positive slope) तथा इसकी अनत लोच की दशा में एकाधिकारी फर्म के सतुलन को दर्शायेंगे। दोनों चित्रों में एक बात समान है और वह यह कि कीमत की वृद्धि कर की मात्रा से कम रहती
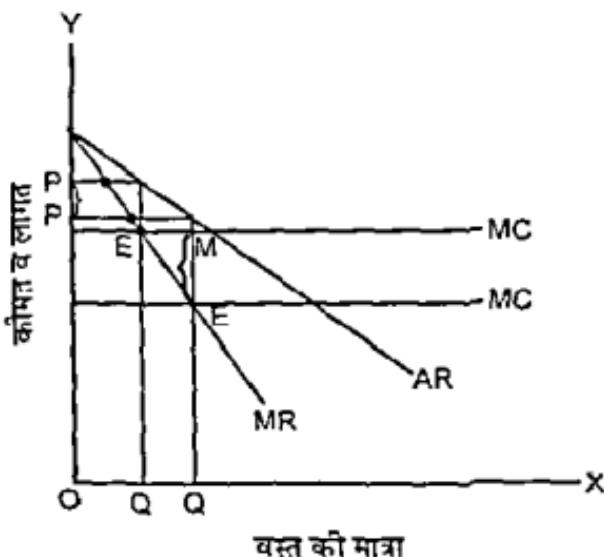
चित्र 8–MC वक्र की लोच अनत होने पर एकाधिकारी फर्म का सतुलन

है। अत कर का कुछ भार एकाधिकारी फर्म को भी वहन करना होता है। इसका सारा भार उपभोक्ता पर नहीं खिमकाया जा सकता।

स्पष्टीकरण—चित्र 7 पर MR = MC का सतुलन E पर आता है। विशिष्ट वस्तु बिक्री कर ME लगने पर MC वक्र ऊपर खिमक कर MC पर चला जाता है। कीमत OP से बढ कर OP पर चली जाती है और उत्पत्ति OQ से घट कर OQ पर आ जाती है। यहाँ कीमत की वृद्धि PP विशिष्ट बिक्री कर की मात्रा ME से कम है। अत कर का कुछ भार स्वय एकाधिकारी फर्म को वहन करना पडता है।

चित्र 8 में MC वक्र की लोच अनन्त होती है। ME कर के लगने पर यह ऊपर MC पर आ जाती है। नयी स्थिति में कीमत बढ कर PP पर आ जाती है। यहाँ भी कीमत की वृद्धि विशिष्ट बिक्री कर की मात्रा से कम रहती है। इसलिए एकाधिकारी फर्म को इस स्थिति में भी कर का कुछ भार स्वय वहन करना पडता है।

वे दशाएँ जिनमें एकाधिकारी फर्म कर का सारा भार उपभोक्ताओं पर डाल पाती हैं, अथवा कर की मात्रा से भी ज्यादा राशि का भार उपभोक्ताओं पर डाल पाती है, काफी जटिल होती है। उन्हें उच्चतरीय अध्ययन में लिया जाना चाहिए।

निष्कर्ष—हमने देखा कि कराधान का पूर्ण प्रतिस्पर्धा व एकाधिकार की दशा में फर्म के सतुलन पर विशिष्ट बिक्री कर अथवा उत्पाद शुल्क की स्थिति में विशेष रूप से प्रभाव पडता है। इससे फर्म की उत्पत्ति की मात्रा कम होती है और कीमत में वृद्धि होती है। कीमत की वृद्धि कर की मात्रा से कम, समान व अधिक हो सकती है—यह वस्तु की पूर्ति की कीमत लोच से प्रभावित होता है। लेकिन एकमुश्त कर अथवा लाभ कर से पूर्ण प्रतिस्पर्धा व एकाधिकार की दशाओं में फर्म का सतुलन नहीं बदलता है। वस्तु की उत्पत्ति की मात्रा व कीमत कर से पूर्व की अवस्था जैसे ही बने रहते हैं। एकाधिकार की दशा में अल्पकाल व दीर्घकाल की स्थिति मे कोई अतर नहीं करना पडता। अत कराधान का फर्म के सतुलन पर प्रभाव देखा जा सकता है। यह प्रभाव पूर्ण प्रतिस्पर्धा व एकाधिकार की दशाओं के अलावा बाजार के अन्य रूपों जैसे बोमल के बिक्री आय अधिकतमकरण के मॉडल, (sales revenue maximisation model) आदि में भी देखा जा सकता है, जो उच्चस्तरीय अध्ययन में लिये जाते हैं।

प्रश्न

1 कराधान में फर्म का सतुलन किस कर से ज्यादा प्रभावित होता है?

(अ) एकमुश्त कर

(ब) लाभ कर

(स) विशिष्ट बिक्री कर (स)

24

नियन्त्रित व प्रशासित कीमतें

(Controlled and Administered Prices)

कीमतों के सम्बन्ध में प्राय यह चर्चा पायी जाती है कि ये उस बिन्दु पर निर्धारित होती हैं जहाँ बाजार शक्तियों के माध्यम से वस्तु की कुल माग कुल पूर्ति के बराबर होती है। अर्थशास्त्र में यह कथन काफी महत्त्वपूर्ण माना गया है। लेकिन वास्तविक जगत में कीमतों की अन्य स्थितियाँ भी देखने को मिलती हैं जिनका परिचय नीचे दिया जाता है

(i) **नियन्त्रित कीमते अथवा कीमत नियत्रण** (Controlled prices or price controls)—जब सरकार बाजार शक्तियों के बजाय कानून के द्वारा कीमतों को प्रभावित करती है तब उसे कीमत नियन्त्रण कहा जाता है।[1] इस प्रकार कीमत नियन्त्रण के माध्यम से सरकार का कीमत निर्धारण में हस्तक्षेप हो जाता है जिसके आजकल व्यवहार में कई उदाहरण देखने को मिलते है जैसे सरकार कृषकों से कृषिगत पदार्थ खरीदने के लिए न्यूनतम समर्थन मूल्य घोषित करती है, किराया नियत्रण (rent control) कानून के अन्तर्गत, सरकार द्वारा भवनो का किराया तय किया जाता है तथा आवश्यकता पड़ने पर सरकार द्वारा कुछ वस्तुओ के अधिकतम मूल्य निर्धारित किये जाते हैं। इस प्रकार सरकार न्यूनतम मूल्य (minimum prices) या (price floor) तय कर सकती है, अथवा अधिकतम मूल्य (price ceiling) तय कर सकती है। हम आगे चलकर इनका चित्रों की सहायता से विवेचन प्रस्तुत करेंगे। आर्थिक विश्लेषण में न्यूनतम मूल्यो व अधिकतम मूल्यों का सरकारी हस्तक्षेप के सदर्भ में उपयोग किया जाता है। इनका काफी आर्थिक प्रभाव पड़ता है।

(ii) **प्रशासित कीमते** (Administered Prices)—हम पहले देख चुके हैं कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा के अलावा बाजार के अन्य रूपों में फर्में अपनी कीमतें निर्धारित करती हैं जिन पर वस्तु की माग के अनुसार बिक्री की मात्रा निर्धारित होती है। प्रचलित

---

1 Price controls refer to ...... influencing prices by laws, rather than by market forces Lipsey & Chrystal Principles of Economics, 9th ed 1999 p 75

प्रशासित कीमत पर एक फर्म अपना जितना माल बेच पाती है उसके परिवर्तनो को देख कर उसे अपनी वस्तु की बाजार दशाओ की जानकारी होती है। विशेषतया वस्तु विभेद वाले अल्पविक्रेताधिकार (differentiated oligopoly) की स्थिति मे फर्म अपनी कीमते स्वय निर्धारित करती हैं और आवश्यकतानुसार उनमे परिवर्तन करती है। उदाहरण के लिए विभिन्न कार कम्पनियाँ समय समय पर अपने अपने ब्राडो की कीमते घोषित करती है और उनमे आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी किये जाते हैं। विशेषतया उनकी लागतो मे परिवर्तनो के होने पर उनकी कीमते परिवर्तित की जाती है। इस प्रकार अल्पविक्रेताधिकार बाजार की दशा में थोडी सी फर्मों के होने के कारण उन्हें अपनी वस्तु की कीमत तय करने का अवसर मिल जाता है हालाकि उन्हे अपने प्रतिद्वन्द्वियो की प्रतिक्रियाओ को अवश्य ध्यान मे रखना पडता है। **हम पहले देख चुके है अल्पविक्रेताधिकार के कीमत नेतृत्व मॉडल मे एक प्रभावशाली व बड़ी फर्म द्वारा निर्धारित कीमत पर अन्य छोटी फर्में अपना माल बचती है और बाद मे बड़ी फर्म बाजार म प्रवेश करके शेष माग की पूर्ति करती है।** अत अल्पविक्रेताधिकारियों द्वारा कीमतें प्रशासित की जाती हैं (prices are administered by oligopolists)। इस श्रेणी के उत्पादक व विक्रेता अपनी बिक्री की मात्रा पर नजर रखते हैं। जब इनकी लागतों मे वृद्धि होती है तो वे कीमतें बढाने व उत्पत्ति घटाने की बात सोचते हैं। जब उनके माल की माग बढती है तो ऐसी फर्म उत्पादन बढाने का प्रयास करती हैं। तब वे इस पर भी विचार करती हैं कि वे अपनी प्रशासित कीमतें बदले या नही। अत अल्पविक्रेताधिकार की दशा मे **प्रशासित कीमतो का विशेष रूप से उपयोग किया जाता है।**

अब हम प्रारम्भ मे कीमत नियत्रण के दो रूपों—न्यूनतम कीमत (price floor) व अधिकतम कीमत (price ceiling) का आर्थिक विश्लेषण चित्रों के द्वारा प्रस्तुत करेंगे। उसके बाद कृषिगत क्षेत्र मे कीमत स्थिरीकरण (price stabilisation) व आय स्थिरीकरण (*revenue stabilisation or income stabilisation*) के मामलों पर प्रकाश डाला जायगा जिससे कृषिगत कीमतो में सरकारी हस्तक्षेप का प्रभाव स्पष्ट हो सकेगा।

(i) न्यूनतम कीमत (minimum price or price floor) की नीति का विवेचन--

सरकार प्राय किसी वस्तु या सेवा के लिए न्यूनतम कीमत निर्धारित कर देती है, जैसे श्रमिकों के लिए न्यूनतम मजदूरी (minimum wages) तय कर दी जाती है जिससे नीचे मजदूरी कानूनन नहीं दी जा सकती। ऐसा मजदूरो के हितों को ध्यान में रखकर किया जाता है। इसके लिए न्यूनतम मजदूरी कानून पास किया जाता है। इसी प्रकार सरकार किसानों से अनाज खरीदने के लिए न्यूनतम समर्थन मूल्य घोषित करती है जिन पर वह किसानों से उनका अनाज खरीदने की व्यवस्था करती है। यहाँ, अच्छी फसल के वर्षों में किसानों को लाभप्रद मूल्यों की गारटी देने का उद्देश्य सर्वोपरि होता है। सरकार इस बफर स्टॉक का उपयोग आगे चल कर अनाज के मूल्यों के बढने पर इसको बाजार में बेचकर मूल्यों को उचित स्तर पर बनाये रखने के लिए कर सकती है। इस प्रकार सरकार न्यूनतम कीमतें कानून बना कर निर्धारित कर सकती है, और उन्हें लागू कर सकती है। इसका प्रभाव अग्र चित्र पर स्पष्ट किया जाता है।
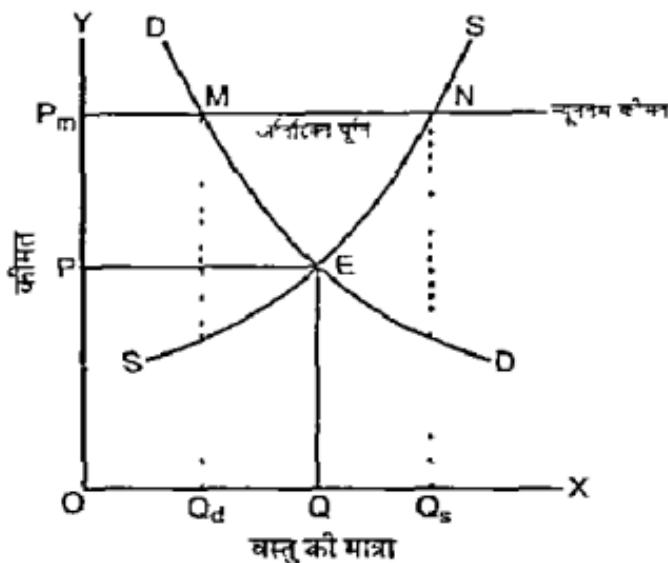
चित्र 1–न्यूनतम कीमत निर्धारित करने का प्रभाव

स्पष्टीकरण—बाजार में माँग व पूर्ति के सतुलन से E विन्दु पर सतुलन स्थापित होता है, जहाँ OQ माँग व पूर्ति की मात्राएँ व कीमत OP निर्धारित होती है। यह तो बाजार का सतुलन है। अत न्यूनतम कीमत इस स्तर पर या इससे नीचे के स्तर पर निर्धारित करने का प्रश्न नहीं है। मान लीजिए, सरकार न्यूनतम कीमत OP_m पर निर्धारित करती है तो इस पर पूर्ति की मात्रा माग की मात्रा से MN अधिक होगी। यह अतिरिक्त पूर्ति सरकार द्वारा खरीदी जायेगी जिसे आगे चल कर बफर स्टॉक के रूप में प्रयुक्त किया जायगा क्योंकि बाजार में उपभोक्ताओं की माग तो P_mM तक ही होगी। इस प्रकार न्यूनतम कीमत निर्धारित करने का प्रभाव यह होगा कि अतिरिक्त पूर्ति की मात्रा $MN = Q_dQ_s$ होगी, जिसको खरीदने की व्यवस्था सरकार को करनी होगी, अन्यथा इतना माल पूर्तिकर्ताओं के पास एकत्र हो जायगा। लेकिन इस स्थिति में कोई 'कालाबाजारी' की दशा उत्पन्न नहीं होगी। यदि यहाँ वस्तु के स्थान पर श्रमिकों को लिया जाय तो न्यूनतम मजदूरी के OPm के स्तर पर रखने पर (बाजार में मजदूरी OP में पाये जाने पर), श्रमिकों में MN बेरोजगारी पायी जायगी।

(2) अधिकतम कीमत (Maximum price or price-ceiling) निर्धारित करने का प्रभाव—यदि बाजार की शक्तियों के कारण कीमत बहुत ऊँची तय होती है तो सरकार किसी वस्तु या सेवा की अधिकतम कीमत निर्धारित कर देती है ताकि कीमतों को नियन्त्रण में रखा जा सके, वस्तुओं के उत्पादन को सीमित किया जा सके एव राशनिंग के द्वारा उस वस्तु का समाज में उचित रूप से वितरण किया जा सके। इसलिए सरकार वस्तु की अधिकतम कीमत सतुलन-कीमत से नीची निर्धारित कर देती है जिसका सम्भावित प्रभाव अग्र चित्र में दर्शाया गया है।

चित्र 2—अधिकतम कीमत निर्धारित करने का प्रभाव (काले बाजार का उदय)

व्याख्यात्मक—चित्र 2 में बाजार की शक्तियों से E बिन्दु पर सन्तुलन स्थापित होने से माँग व पूर्ति की मात्रा OQ तथा OP कीमत निर्धारित होती है। लेकिन सरकार OP कीमत को ऊँचा समझती है, इसलिए वह OPmax पर (OP से नीचे) अधिकतम कीमत निर्धारित कर देती है। इस अधिकतम कीमत पर MN अतिरिक्त माँग की दशा उत्पन्न हो जाती है (माँग OQ_2 तथा पूर्ति OQ_1, अतः अतिरिक्त माँग = $OQ_2 - OQ_1 = Q_1Q_2$)। अतिरिक्त माँग की दशा में उत्पादक सीमित पूर्ति को अपनी पसन्द के ग्राहकों को बेचने का प्रयत्न करते हैं, अथवा राशनिंग पद्धति से इसका वितरण करते हैं। लेकिन माँग के आधिक्य के कारण कुछ ग्राहक बाजार-कीमत से भी अधिक कीमत देकर माल लेने की कोशिश करते हैं। चित्र के अनुसार OPmax कीमत पर पूर्ति केवल $P_{max}M$ होती है। लेकिन यदि इसके बराबर माँग P_1F की जाए तो कीमत OP_1 करनी होगी जिससे उत्पादक को P_1FMP_{max} गैरकानूनी मुनाफा (illegal profit) होगा जो काले बाजार का मुनाफा माना जाएगा। लेकिन यह स्थिति तो तब होगी जब सारा माल OQ_1 काले बाजार में बेचा जाता है। अक्सर में सारा माल काले बाजार में नहीं बेचा जाता, क्योंकि सारे क्रेता या उपभोक्ता और सारे विक्रेता काले बाजार का उपयोग नहीं करते। इसलिए काले बाजार के मुनाफे की मात्रा इस बात पर निर्भर करती है कि काले बाजार का क्रेता व विक्रेता किस सीमा तक उपयोग करते हैं।

कृषिगत क्षेत्र में कीमत-नियंत्रण की नीति के प्रयोग

(अ) कीमत-स्थिरीकरण के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए (For price-stabilisation)—

सरकार कृषिगत बाजारों में दो उद्देश्यों को लेकर प्रवेश कर सकती है—एक तो कृषिगत पदार्थों के कीमत-स्थिरीकरण के लिए और दूसरे कृषकों की आमदनी के

स्थिरीकरण के लिए। हम पहले कीमत-स्थिरीकरण की स्थिति को लेते हैं। हम जानते हैं कि फसल खराब हो जाने से कृषिगत पदार्थों की कमी आ जाने से वस्तुओं के भाव बढ़ते हैं। ऐसी दशा में सरकार को बाजार-कीमतों को स्थिर करने के लिए अपने पास के स्टॉक में से कृषिगत पदार्थ, विशेषतया खाद्यान्नों, को बेचने की व्यवस्था करनी पड़ती है। जब उत्तम फसलों के कारण बाजार में सप्लाई काफी बढ़ जाती है और कीमतें घटने लगती हैं, तो सरकार को न्यूनतम समर्थन मूल्यों पर कृषिगत पदार्थ खरीदने की व्यवस्था करनी पड़ती है।

कृषिगत क्षेत्र में कीमत-स्थिरीकरण के लिए न्यूनतम समर्थन कीमत की स्थिति निम्न चित्र में स्पष्ट की गयी है—
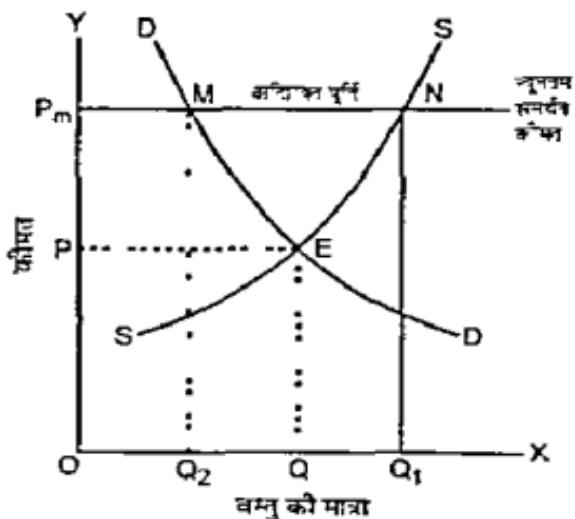
चित्र 3–उत्तम फसल की दशा में न्यूनतम समर्थन मूल्य निर्धारित करके कीमत स्थिरता की दशा

स्पष्टीकरण—बाजार की शक्तियों से कृषिगत माल की मात्रा OQ तथा कीमत OP निर्धारित होती है। मान लीजिए उत्तम फसल के कारण उत्पादन की मात्रा OQ_1 हो जाती है। ऐसी स्थिति में कृषकों के हितों में सरकार न्यूनतम समर्थन मूल्य OP_m निर्धारित करती है जिस पर बाजार में उपभोक्ताओं की माँग Pm M होती है और पूर्ति P_m N होती है। इस प्रकार अतिरिक्त पूर्ति MN = Q_2Q_1 होती है। चूँकि न्यूनतम समर्थन कीमत OP_m पर उपभोक्ता केवल P_mM मात्रा खरीदते हैं, इसलिए शेष अतिरिक्त पूर्ति MN मात्रा को सरकार खरीदकर अपने गोदामों में भर लेती है। इसका उपयोग बफर स्टॉक के रूप में किया जाता है।

इस प्रकार उत्तम फसल के वर्ष में सरकार को बाजार में प्रवेश करके न्यूनतम समर्थन भावों पर कृषिगत पदार्थ को खरीदने की व्यवस्था करनी पड़ती है।

इस तरह बहस करके हम 'अधिकतम कीमतें' (*price ceiling*) के निर्धारण का प्रभाव बतला सकते हैं। उस स्थिति में सरकार को अपने गोदामों में से निर्धारित भावों पर अनाज को बेचने की व्यवस्था करनी पड़ती है। इससे कीमतों की स्थिरता का लक्ष्य प्राप्त करने में काफी मदद मिलती है।

(आ) कृषकों के लिए आय-स्थिरीकरण की नीति

(The policy of Income-stabilisation for farmers)[1]

यदि कीमत स्थिरीकरण के बजाय कृषकों के लिए आय स्थिरीकरण की नीति अपनानी पड़े, तो स्थिति निम्न चित्र के अनुसार दर्शायी जायगी।
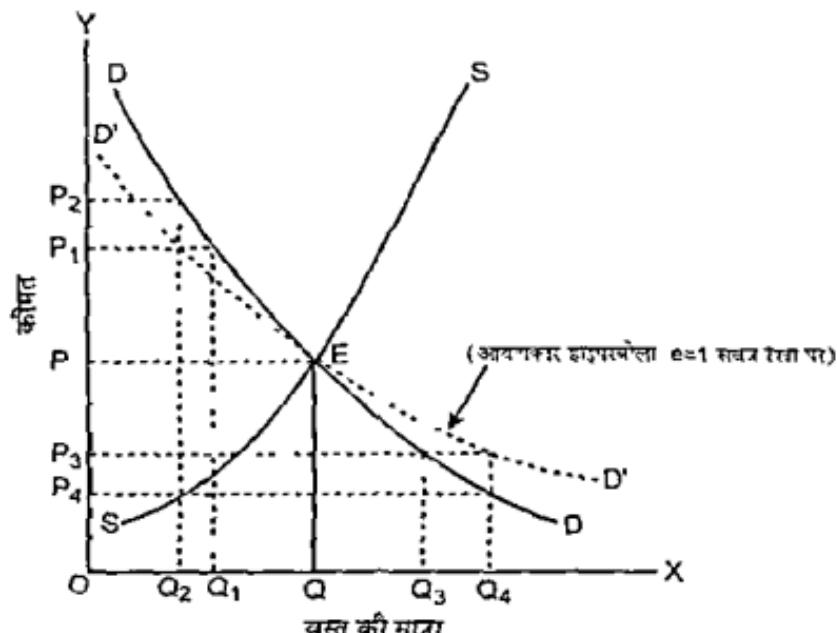
चित्र 4-आय स्थिरीकरण की दशा

स्पष्टीकरण—बाजार शक्तियों के आधार पर संतुलन E बिन्दु पर आता है जहाँ वस्तु की मात्रा OQ व कीमत OP होती है। आय-स्थिरीकरण के लिए कीमत व उत्पत्ति की मात्रा एक दूसरे के विपरीत दिशा में जाते हैं। वास्तविक उत्पादन के उतार-चढ़ावों के फलस्वरूप बाजार-कीमत P_2 व P_4 के बीच में रहेगी।

D'D' एक इकाई लोच का वक्र बनाते हैं जो E में से गुजरता है। इसे आयताकार हाइपरबोला कहा जाता है। आय-स्थिरीकरण के लिए D'D' वक्र का प्रयोग करना होगा। जब उत्पादन Q_4 हो तो बाजार कीमत P_3 होनी चाहिए, तभी आमदनी स्थिर रह पायेगी। लेकिन P_3 कीमत पर उपभोक्ता केवल Q_3 खरीदना चाहेंगे। इसलिए

1 Lipsey & Chrystal, Principles of Economics, 9th ed 1999 p 81

सरकार को $Q_4 - Q_3$ मात्रा खरीदनी होगी और अपना स्टॉक बढाना होगा। कृषकों की आय $P_3 \times Q_4 - P \times Q$ होगी जा स्थिर मानी जायगी। (आयताकार हाइपरबोला के कारण)। उत्पादन के Q_2 पर हाने पर कीमत बढ कर P_1 होनी चाहिए ताकि यहाँ भी $P_1 \times Q_2 = P \times Q$ हाने पर आय स्थिरीकरण हो सके। लेकिन P_1 पर उपभोक्ता Q_1 खरीदेंगे इसलिए सरकार का $Q_1 - Q_2$ मात्रा अपने स्टाक से बेचने के लिए व्यवस्था करनी चाहिए।

इस प्रकार हमने ऊपर न्यूनतम कीमत (price floor) व अधिकतम कीमत (price ceiling) की दशाओं में कीमत नियत्रण (price control) का अध्ययन प्रस्तुत किया है। कृषिगत पदार्थों के बाजारों में कीमत स्थिरीकरण व आमदनी स्थिरीकरण के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए इन विधियों का उपयोग किया जाता है। कृषकों की आमदनी में स्थिरीकरण के लिए बाजार माँग वक्र के साथ सर्वत्र इकाई लोचवाले माँग वक्र या आयताकार हाइपरबोला (माँग वक्र पर सर्वत्र $e = 1$) का प्रयोग करना भी आवश्यक होता है।

अत कीमत निर्धारण में बाजार की शक्तियों के अलावा नियन्त्रित कीमतों व प्रशासित कीमतों का भी प्रभाव देखा जा सकता है। व्यावहारिक जगत में नियन्त्रित कीमतों व प्रशासित कीमतों के ज्ञान की विशेष रूप से आवश्यकता होती है। इनके आधार पर महत्त्वपूर्ण नीति सम्बन्धी निर्णय लिये जाते हैं।

प्रश्न

1 सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—
   (i) कीमत नियत्रण/नियन्त्रित कीमतें
   (ii) प्रशासित कीमतें
2. 'न्यूनतम कीमत' निर्धारित करने का कारण व प्रभाव चित्र द्वारा दर्शाइए।
3 'अधिकतम कीमत' निर्धारित करने के कारण स्पष्ट करिए। इसके प्रभावों का चित्र द्वारा निरूपण करिए।
4 कृषिगत जगत में निम्न नीतियों का प्रयोग चित्र देकर समझाइए—
   (i) कीमत स्थिरीकरण की नीति
   (ii) आय स्थिरीकरण की नीति।
5 कृषिगत क्षेत्र में कृषकों के लिए आय स्थिरीकरण के लिए सरकार की क्या भूमिका होती है ? इसमें इकाई लोचवाली माँग वक्र रेखा को बनाना क्यों आवश्यक होता है ?

□□□

भाग 5 : साधन-कीमत-निर्धारण
(Module 5 Factor-pricing)

25

वितरण का सामान्य परिचय तथा साधन कीमत-निर्धारण से सम्बद्ध अवधारणाएँ

(Distribution—A General Introduction & Concepts Related with Factor-Pricing)

इस अध्याय में वितरण का सामान्य परिचय दिया जायगा और साधन कीमत निर्धारण से सम्बद्ध अवधारणाओं को स्पष्ट किया जायगा।

यह प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण होता है कि समाज में कुछ परिवारों व व्यक्तियों को अधिक वस्तुएँ व सेवाएँ उपलब्ध हो पाती हैं, जबकि बहुत से परिवारों व व्यक्तियों को बहुत थोडी वस्तुएँ व सेवाएँ ही मिल पाती हैं। समाज में वस्तु का वितरण आय के वितरण के अनुसार ही होता है। इसलिए हम वस्तु के वितरण का अध्ययन करने के साथ साथ आय के वितरण के क्षेत्र में पहुँच जाते हैं। विश्व में समाजवादी व साम्यवादी विचारधाराओं का प्रादुर्भाव प्रमुखतया आमदनी के वितरण को अधिक समान व अधिक न्यायसंगत बनाने के लिए ही हुआ है।

आय के वितरण के सम्बन्ध में हम सर्वप्रथम राष्ट्रीय आय की सरल परिभाषा देंगे। उसके बाद आय के कार्यानुसार वितरण (functional distribution) व वैयक्तिक वितरण (personal distribution) का अन्तर स्पष्ट किया जाएगा। इस सम्बन्ध में भारतीय परिस्थिति से उदाहरण दिए जायेंगे। वैयक्तिक वितरण में लॉरेंज वक्र (Lorenz curve) की अवधारणा का भी उपयोग किया जाएगा।

आय के वितरण के अध्ययन में साधनों की माँग व पूर्ति की विशेषताओं का प्रभाव सर्वोपरि माना जाता है। अत हम साधनों की माँग व पूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्त्वों या कारकों का विश्लेषण करेंगे। साधनों के मूल्य निर्धारण के सम्बन्ध में सीमान्त भौतिक उत्पत्ति (marginal physical product) (MPP), सीमान्त उत्पत्ति के मूल्य (value of marginal product) (VMP) (पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में) तथा सीमान्त आय-उत्पत्ति (marginal revenue product) (MRP) (अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में) की अवधारणाओं का सरल परिचय दिया जायगा ताकि आगे चलकर पूर्ण

प्रतिस्पर्धा व अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशाओं में साधनों का मूल्य निर्धारण (factor-pricing) आसानी से समझ में आ सके।

राष्ट्रीय आय की परिभाषा—सेमुअल्सन व नोरढाउस के अनुसार, "**राष्ट्रीय आय श्रम, पूँजी व भूमि द्वारा प्राप्त कुल साधन-आय को सूचित करती है। यह मुख्यतया सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति (GNP) में से मूल्य-ह्रास व परोक्ष करों को घटाने से प्राप्त होती है। राष्ट्रीय आय मजदूरी, मुनाफो, लगान व ब्याज के जोड़ के बराबर होती है।**"[1]

इस परिभाषा में स्पष्टतया इस बात पर बल दिया गया है कि राष्ट्रीय आय उत्पादन के विभिन्न साधनों जैसे श्रम, भूमि व पूँजी को प्राप्त करने वाली आमदनियों का जोड-मात्र होती है। श्रम को मजदूरी मिलती है, भूमि को लगान व पूँजी को ब्याज व मुनाफा प्राप्त होते हैं। वैसे मुनाफा उद्यम या जोखिम का प्रतिफल माना जाता है। सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति (GNP) की राशि राष्ट्रीय आय (NI) नहीं कहलाती। **इसमे से मूल्य-ह्रास (depreciation) व परोक्ष करों (indirect taxes) को घटाने तथा सब्सिडी को जोडने से प्राप्त राशि राष्ट्रीय आय या विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति (NNP) कहलाती है, क्योंकि वही उत्पत्ति के साधनो को प्राप्त होती है।** मूल्य ह्रास तो स्थिर पूँजी की घिसाई या इसके ह्रास को दर्शाता है, और परोक्ष कर बिकी-मूल्यों में जुडकर सरकार को प्राप्त होते हैं। इसलिए इन दोनों की राशियाँ उत्पत्ति के साधनों को प्राप्त न होने के कारण राष्ट्रीय आय मे शामिल नही होती। सब्सिडी की राशि उत्पत्ति के साधनों को प्राप्त होने से इसमें जोडी जाती है। यही कारण है कि **राष्ट्रीय आय मजदूरी, लगान, ब्याज व मुनाफो का जोड़-मात्र होती है।**

इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि राष्ट्रीय आय वस्तुओं व सेवाओं के वार्षिक प्रवाह का मूल्य होती है। लेकिन इसमें दोहरी गिनती नही होनी चाहिए। जैसे, गेहूँ का मूल्य, इसके आटे का मूल्य व गेहूँ की रोटी का मूल्य सभी को शामिल करने से एक वस्तु का मूल्य तीन बार जुड जाएगा। अत राष्ट्रीय आय में अन्तिम वस्तु, अर्थात् रोटी का मूल्य ही शामिल करना चाहिए। अर्थशास्त्रियों में राष्ट्रीय आय की परिभाषा को लेकर कुछ मतभेद रहा है। इस सम्बन्ध में हम सक्षेप में मार्शल, पीगू व फिशर के विचार प्रस्तुत करेंगे, हालाँकि आजकल इस विवाद का विशेष महत्त्व नहीं रह गया है।

प्रोफेसर मार्शल के द्वारा राष्ट्रीय आय की परिभाषा—प्रोफेसर मार्शल ने राष्ट्रीय आय व राष्ट्रीय लाभाश को एक ही माना है। मार्शल के अनुसार, 'एक देश में श्रम व पूँजी इसके प्राकृतिक साधनों पर काम करके, भौतिक व अभौतिक वस्तुओं, सभी किस्म की सेवाओं सहित, की एक शुद्ध समग्र या इकट्ठी राशि (net aggregate) प्रति वर्ष उत्पन्न करते हैं। सीमा को सूचित करने वाले शब्द 'शुद्ध' की आवश्यकता इसलिए

---

1 NI represents the total factor incomes received by labour, capital and land It is constructed by subtracting depreciation and indirect taxes from GDP National income equals total compensation of labour, rental income, net interest, income of proprietors and corporate profits'
—Samuelson & Nordhaus, Economics, 16th ed, 1998 p 403

पड़ती है कि कच्चे माल व अर्द्ध-निर्मित माल के प्रयोग की व्यवस्था की जा सके एवं उत्पादन में संलग्न संयन्त्र के मूल्य ह्रास (depreciation) व घिसावट की व्यवस्था की जा सके ये सभी व्यर्थ राशियाँ (waste) कुल उत्पत्ति में से घटाई जाती हैं ताकि असली या शुद्ध आय का पता लगाया जा सके। इसमें विदेशी विनियोग से प्राप्त शुद्ध आय जोड़ी जानी चाहिए। यह देश की सच्ची शुद्ध वार्षिक आय या रेवेन्यू, या राष्ट्रीय लाभांश होगी। हम इसकी गणना एक वर्ष के लिए अथवा किसी अन्य अवधि के लिए कर सकते हैं।[1]

मार्शल की यह परिभाषा काफी व्यापक है। इसमें सकल आय में से कच्चे माल व अर्द्ध-निर्मित माल के मूल्य ह्रास को घटाने की व्यवस्था की गई है जो सही है। इसमें विदेशों से प्राप्त आय भी जोड़ी गयी है। यह आधुनिक दृष्टिकोण के काफी समीप है। मार्शल ने राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में उत्पत्ति-दृष्टिकोण (product approach) अपनाया था।

पीगू के विचार—पीगू के अनुसार, "राष्ट्रीय लाभांश समुदाय की वस्तुगत आय का, विदेशों से प्राप्त आय को शामिल करके, वह अंश होता है जो मुद्रा में मापा जाता है।' पीगू ने मौद्रिक माप पर बल दिया है। पिछड़े देशों में जहाँ मुद्रा का प्रचलन कम होता है वहाँ काफी मात्रा में माल का मुद्रा से विनिमय नहीं किया जाता। अतः उन देशों में पीगू की परिभाषा के अनुसार राष्ट्रीय आय का हिसाब लगाने से इसकी मात्रा काफी कम आती है। स्वयं पीगू ने मौद्रिक माप को लेकर कई जटिल समस्याएँ बतलाई हैं। फिर भी मुद्रा के मापदण्ड के कारण राष्ट्रीय आय की अवधारणा अधिक स्पष्ट व अधिक सुनिश्चित हो सकी है।

फिशर के विचार—'*राष्ट्रीय लाभांश या आय अन्तिम उपभोक्ताओं के द्वारा प्राप्त* सेवाओं का समूह होती है, चाहे ये सेवाएँ भौतिक वातावरण से प्राप्त हों, अथवा मानवीय वातावरण से प्राप्त हों।' फिशर के अनुसार, इस वर्ष बने पियानो या ओवरकोट का मूल्य इस वर्ष की आय में नहीं, बल्कि इस वर्ष की पूँजी में जोड़ा जाना चाहिए। इस वर्ष की आय में तो इनके इस वर्ष का उपभोग मूल्य ही जुड़ेगा। मान लीजिए, 5000 रुपये का पियानो 10 वर्ष चलेगा। अतः इस वर्ष की आय में 500 रुपये ही शामिल किया जाएगा, न कि 5000 रुपया।

---

1 The labour and capital of the country, acting on its natural resources, produce annually a certain net aggregate of commodities material and immaterial, including services of all kinds. The limiting word 'net' is needed to provide for the using up of raw and half-finished commodities and for the wearing out and depreciation of plant which is involved in production all such waste must of course be deducted from the gross produce before the true or net income can be found. And net income due on account of foreign investments must be added in. This is the true net annual income, or revenue, of the country, or the national dividend we may of course estimate it for a year or for any other period.—*Marshall* Principles Economics, 8th ed., p 434

फिशर की परिभाषा व्यावहारिक दृष्टि से बड़ी जटिल मानी गयी है। इसमें टिकाऊ माल का सम्पूर्ण जीवन काल ज्ञात करना होता है, जो आसान नहीं होता। वैसे एक देश के उपभोग का ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि से यह परिभाषा ज्यादा उपयुक्त मानी जाती है। इसके अलावा देशवासियों के जीवन स्तर के अध्ययन में इस परिभाषा का उपयोग किया जा सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) के नवीन अध्ययन के अनुसार सकल घरेलू उत्पत्ति (GDP) की गणना की नई विधि—(क्रय शक्ति समता PPP के आधार पर)

आजकल प्रत्येक देश की सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति (GNP) (सकल व प्रति व्यक्ति) के अनुमान पहले की विधि व नयी क्रय शक्ति समता (PPP) विधि, दोनों प्रकार की विधियों से दिए जाते हैं **जिसमें इनकी कुल आय व प्रति व्यक्ति आय के अनुमान काफी बदल गए हैं। जैसे भारत की 2000 में कुल आय लगभग 471.2 अरब डालर (पुरानी विधि) से बढ़कर लगभग 2432 अरब (नई विधि) डालर या 2 432 ट्रिलियन डालर पर आ गयी है, तथा प्रति व्यक्ति आय इसी वर्ष 460 डालर से बढ़कर 2390 डालर पर आ गयी है,**[1] और भारतीय अर्थव्यवस्था अमेरिका, जापान, चीन, जर्मनी व फ्रांस के बाद विश्व की एक महत्त्वपूर्ण बड़ी अर्थव्यवस्था बन गयी है। पहले राष्ट्रीय आय का आकलन बाजार में प्रचलित विनिमय दर (official exchange rate) पर किया जाता था, **जैसे यदि भारत में प्रति व्यक्ति आय 22540 रुपये आती और बाजार में विनिमय दर 49 रुपये प्रति डालर होती तो (डालर में) प्रति व्यक्ति आय $\frac{22540}{49} = 460$ डालर मानी जाती है।** लेकिन अब गणना का आधार देश में करेंसी की क्रय शक्ति (purchasing power of its own currency at home), अथवा क्रय शक्ति समता (PP Parity) का आधार माना गया है, अर्थात् स्वयं भारत में रुपये की क्रय शक्ति को आधार स्वरूप मान लिया गया है। इससे 2000 के लिए भारत की प्रति व्यक्ति आय 460 डॉलर न रहकर 2390 डॉलर हो गयी है। गणना का नया आधार क्रय शक्ति समता (purchasing power parity) (PPP) लिया गया है। इसका अर्थ यह है कि यदि व्यापार में शामिल किसी वस्तु (traded goods) का मूल्य प्रति इकाई भारत में एक डालर व अमेरिका में पाँच डालर है तो भारत में इसका आकलन पाँच डालर प्रति इकाई लगाने पर क्रय शक्ति समता नियम का पालन होगा और इससे भारत की कुल आय व प्रति इकाई आय अधिक आँकी जाएगी। हालाँकि इसमें कई प्रकार की कठिनाइयाँ आती हैं लेकिन क्रय शक्ति समता का आधार विनिमय दर के आधार से भिन्न होने पर इसके परिणाम भी काफी भिन्न होते हैं।

आय के वितरण के दो रूप

(1) आय का कार्यानुसार वितरण (Functional Distribution of Income)—इसमें आय का वितरण मजदूरी, लगान, ब्याज व लाभ आदि के अनुसार देखा जाता है। पहले बतलाया जा चुका है कि उत्पादन के साधन भूमि, श्रम, पूँजी, प्रबन्ध व उद्यम होते हैं। ये उत्पादन में अपना योगदान देने के फलस्वरूप उसमें से

---

1 World Development Report 2002 p 232.

अपना हिस्सा प्राप्त करते हैं। इसलिए इसे साधनानुसार आय-वितरण (factoral distribution of income) भी कहते हैं। इस सम्बन्ध में प्राय श्रम व पूँजी के अनुसार राष्ट्रीय आय के वितरण पर अधिक बल दिया जाता है। इसके अन्तर्गत राष्ट्रीय आय में *मजदूरी का अश व उत्पादन के अन्य साधनों का अश जैसे ब्याज, मुनाफे, आदि का* अश देखा जाता है। प्राय भारत मे मजदूरी का कुल राष्ट्रीय आय मे 1/3 से कुछ अधिक अश पाया जाता है। यह काफी वर्षों से लगभग स्थिर बना रहा है।

भारत में काफी लोग निजी काम धन्धों में लगे हुए हैं, इसलिए मजदूरी, ब्याज, किराया व लाभ की चार श्रेणियों के अलावा, एक मिश्रित आय की श्रेणी भी बनाई जाती है जिसमे स्वय के रोजगार में सलग्न व्यक्तियों (self-employed persons) की मिश्रित आय दिखाई जाती है। भारत में कर्मचारियों का पारिश्रमिक राष्ट्रीय आय के 1/3 मे कुछ अधिक अश रहा है, और सचालन-अधिशेष व मिश्रित आय 2/3 से कुछ कम रहा है। भारत में साधन-आय के वितरण मे मिश्रित आय के मिले रहने के कारण स्थिति पूर्णतया स्पष्ट नही हो पाती है।

हमारे देश मे ऑकडों के अभाव में राष्ट्रीय आय के कार्यानुसार या साधनानुसार वितरण के अध्ययन में कई प्रकार की कठिनाइयाँ पायी जाती हैं। भारत में निजी धधों में लगे हुए व्यक्तियों की सख्या काफी ऊँची पायी जाती है। ऐसे व्यक्तियों की आय के श्रम से प्राप्त आय व स्वय की पूँजी से प्राप्त आय में विभाजित करना कठिन होता है। देश में बडे उद्योगों में लगे हुए श्रमिकों की सख्या भी कम पाई जाती है।

आय के कार्यानुसार वितरण में हमें यह जानकारी नही होती कि देश में कुछ परिवार धनी और बहुत से परिवार निर्धन क्यों हैं। *प्राय यह कल्पना की जाती है कि* धनिक व्यक्ति तो पूँजी की आय पर निर्भर करते हैं और निर्धन व्यक्ति केवल श्रम की आय पर जीते हैं। लेकिन यह स्पष्टीकरण पर्याप्त नहीं माना जाता है।

(2) आय का वैयक्तिक वितरण (Personal Distribution of Income)—आय के वैयक्तिक वितरण से हमें आय के कार्यानुसार वितरण की तुलना में अधिक उपयोगी सूचना मिलती है। इससे हमें यह पता लगता है कि देश में विभिन्न परिवार या व्यक्ति (families or persons) राष्ट्रीय आय में किस प्रकार से हिस्सा ले रहे हैं। *इसमे हमें धनिकों की सख्या, निर्धनों की सख्या व उनके बीच आय के* अन्तरों का पता लगता है। इसे आय का आकारानुसार वितरण (size distribution of income) भी कहते हैं। इसमें परिवारों को विभिन्न आय-समूहों में विभाजित किया जाता है, तथा विभिन्न समूहों में आय या उपभोग का प्रतिशत वितरण बतलाया जाता है। इससे हमें इस बात की भी जानकारी होती है कि सर्वसाधारण का आर्थिक कल्याण एक समयावधि में किस दिशा में गतिमान हो रहा है। प्राय राजनीतिज्ञ आय के वैयक्तिक वितरण की असमानता को कम करने पर बल दिया करते हैं। हमारे देश में भी योजनाकाल में आय के वैयक्तिक वितरण को अधिक समान बनाने का प्रयास किया

गया है। लेकिन उस दिशा में प्रगति की रफ्तार संतोषजनक नहीं रही है। बहुधा यह भी प्रश्न किया जाता है कि योजनाकाल के लगभग पाँच दशकों में आमदनी का वैयक्तिक वितरण अधिक असमान हुआ है, या कम असमान हुआ है, या पहले जैसा ही बना हुआ है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि आमदनी का वैयक्तिक वितरण आज भी काफी असमान पाया जाता है। देश में थोड़े से व्यक्ति धनी हैं और अधिकाश व्यक्ति अत्यधिक निर्धन हैं। यदि निर्धनता की उचित सीमा निर्धारित की जाए तो यह निश्चय है कि करोड़ों व्यक्ति सभवत उस सीमा से नीचे ही आएँगे। भारत में आज भी नीची राष्ट्रीय आय और इसके असमान वितरण को ठीक करने की कठिन चुनौती विद्यमान है। इस चुनौती का सफलतापूर्वक मुकाबला करने से ही देश में जनतत्र की जड़ें मजबूत हो सकती हैं।

भारत में उपभोग के व्यय में भी भारी असमानताएँ पाई जाती हैं। आय के वैयक्तिक पारिवारिक वितरण में असमानता की पुष्टि विश्व विकास रिपोर्ट, 1999-2000 में दिए गए आँकड़ो से होती है जो इस प्रकार है[1]—

1994 मे भारत मे प्रति व्यक्ति व्यय (per capita expenditure) का वितरण इस प्रकार रहा था—

क्रम	परिवारों का प्रतिशत	पारिवारिक व्यय का प्रतिशत अश
1	निम्नतम 20	9 2
2	अगले 20	13 0
3	अगले 20	16 8
4	अगले 20	21 7
5	सर्वोच्च अथवा चोटी के 20	39.3
	कुल	100 0

इस प्रकार 1994 में निर्धनतम 20% परिवारों में कुल पारिवारिक व्यय का अश 9.2% तथा चोटी के 20% परिवारों में लगभग 39.3% पाया गया था जो वितरण की भारी असमानता का सूचक था। चोटी के 10% का अश तो 25% (1/4 अश) पाया गया था। 1997 में निम्नतम 10% परिवारों का उपभोग में अश 3 5% तथा उच्चतम 10% परिवारों का 33.5% पाया गया।[2] यह व्यय व फलस्वरूप आय के वितरण की असमानता को सूचित करता है।

1 World Development Report 1999-2000 p 238

2 World Development Report 2002 p 234

व्यय के वितरण की असमानता को लॉरेंज वक्र (Lorenz curve) की सहायता से समझाया जा सकता है। यह नीचे चित्र में दर्शाया गया है—
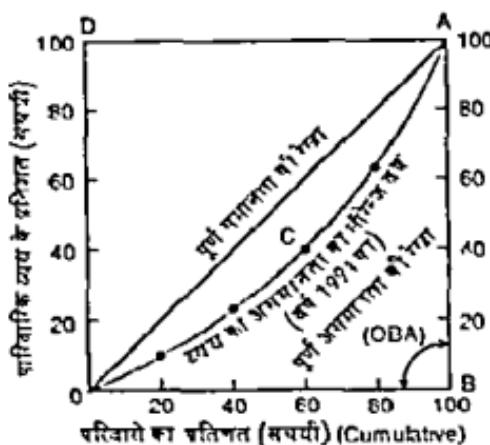
चित्र 1-लॉरेंज वक्र-पारिवारिक व्यय की असमानता का सूचक

स्पष्टीकरण—चित्र में OB-अक्ष पर परिवारों के प्रतिशत व OD अक्ष पर पारिवारिक व्यय के प्रतिशत दर्शाये गए हैं, जो परोक्ष रूप में आय के प्रतिशत अंशों को सूचित करते हैं। OA रेखा पूर्ण समानता की रेखा कहलाती है, अर्थात् 20% परिवार 20% व्यय करते हैं, 40% परिवार 40% व्यय करते हैं तथा यही क्रम आगे भी जारी रहता है। इसके विपरीत OBA पूर्ण असमानता का वक्र माना जाता है, अर्थात् केवल एक परिवार ही सम्पूर्ण व्यय (100%) करता है। OA व OBA के बीच OCA लॉरेंज वक्र वास्तविक व्यय का वितरण दर्शाता है। यह वक्र जितना OA के समीप होता है वितरण की असमानता उतनी ही कम होती है, तथा यह OBA के जितना समीप होता है वितरण की असमानता उतनी ही अधिक होती है। चित्र में स्पष्ट होता है कि *भारत में व्यय/आय की असमानता काफी ऊँची पायी जाती है।*

आय के वैयक्तिक वितरण के आँकड़ों का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। लेकिन इस अध्याय में हम साधनों के अनुसार आय के वितरण का अध्ययन करेंगे। एक साधन के प्रतिफल का निर्धारण एक वस्तु की कीमत निर्धारण से काफी मिलता जुलता होता है। प्रत्येक साधन की आय दो बातों पर निर्भर करती है—एक तो साधन की मात्रा और दूसरी साधन की कीमत। उदाहरण के लिए, एक श्रमिक की आय उसके काम के घण्टों एवं प्रति घण्टे मजदूरी पर निर्भर करती है। इसी प्रकार, एक पूँजीपति की आय उसके पास पूँजी की मात्रा एवं प्राप्त होने वाली ब्याज की दर पर निर्भर करती है। एक भूस्वामी की आय भूमि की मात्रा व लगान की दर पर निर्भर करती है। इस प्रकार एक साधन की आय का प्रतिफल उस साधन की कुल मात्रा व उसके लिए निर्धारित प्रतिफल की दर पर निर्भर करता है।

नव क्लासिकल सिद्धान्त (Neo-classical theroy) बतलाता है कि आय का वितरण कीमत-सिद्धान्त का ही एक विशेष रूप माना जाता है। जिस प्रकार एक वस्तु की कीमत उसकी माँग व पूर्ति से निर्धारित होती है, उसी प्रकार एक उत्पादन के साधन, जैसे भूमि, श्रम, पूँजी व उद्यम की कीमतें भी इनकी माँग व पूर्ति से निर्धारित होती हैं। इसलिए वितरण के सिद्धान्त में कोई पूर्णतया नई बात सामने नहीं आती है। लेकिन साधन की कीमत व वस्तु की कीमत के निर्धारण में निम्न अन्तर भी आए जाते हैं जिन पर ध्यान देना आवश्यक होता है। ये अन्तर माँग पक्ष व पूर्ति पक्ष दोनों तरफ पाए जाते हैं। आगे बढ़ने से पूर्व इनको स्पष्ट करना आवश्यक है।

(अ) एक साधन की माँग की विशेषताएँ

(Features of the demand for a factor)

(1) एक वस्तु की माँग प्रत्यक्ष माँग (direct demand) होती है, क्योंकि यह सीधी उपभोक्ताओं की तरफ से उत्पन्न होती है और उनकी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने से सम्बन्ध रखती है। लेकिन एक उत्पादन के साधन की माँग व्युत्पन्न माँग (derived demand) कहलाती है, और यह उन वस्तुओं की माँग से उत्पन्न होती है जिनके उत्पादन में यह साधन सहायता पहुँचाता है। उदाहरण के लिए, विश्वविद्यालय में अध्यापकों की माँग छात्रों की संख्या पर निर्भर करती है। विद्यार्थियों की संख्या के बढ़ने से अधिक अध्यापकों की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार गेहूँ की माँग के बढ़ने पर इसकी खेती के लिए भूमि की माँग बढ़ती है। इसलिए वस्तु की माँग का सम्बन्ध उपभोक्ताओं की माँग, अर्थात् उनको प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता से होता है, जबकि साधन की माँग का सम्बन्ध उत्पादकों को मिलने वाली साधन की सीमान्त भौतिक उत्पादकता से होता है।

(2) उत्पादन के साधन की माँग संयुक्त माँग (joint demand) होती है, क्योंकि विभिन्न साधनों का एक साथ उपयोग किया जाता है। प्रायः श्रम व पूँजी उत्पादन में एक साथ प्रयुक्त किए जाते हैं। इस प्रकार कृषि में श्रम, भूमि तथा पूँजी का एक साथ उपयोग किया जाता है। विभिन्न साधनों में परस्पर प्रतिस्थापन भी किया जा सकता है, जैसे कभी पूँजी का अधिक उपयोग किया जाता है तो कभी श्रम का। इस प्रकार एक साधन की माँग व एक वस्तु की माँग में ये मूलभूत अन्तर पाए जाते हैं। यही कारण है कि एक वस्तु की माँग की लोच व एक साधन की माँग की लोच में भी परस्पर अन्तर पाए जाते हैं।

(आ) एक साधन की पूर्ति की विशेषताएँ

(Features of the supply of a factor)

इसी प्रकार एक वस्तु की पूर्ति व एक साधन की पूर्ति में भी दो प्रकार के अन्तर पाए जाते हैं—

(1) सर्वप्रथम, वस्तु की पूर्ति पर उत्पादन की लागत का प्रभाव पड़ता है, जबकि उत्पादन के साधन की लागत का विचार सदैव स्पष्ट नहीं होता। जैसे सामाजिक दृष्टि

से भूमि की कोई लागत नही मानी जाती है। यह प्रकृति की निःशुल्क भेंट मानी जाती है। इसी प्रकार श्रम की लागत का विचार भी थोडा अस्पष्ट सा ही प्रतीत होता है, हालाँकि माल्थस ने जीवन निर्वाह के स्तर की चर्चा की थी जिसे श्रम की न्यूनतम लागत माना जा सकता है। पूँजी की लागत (cost of capital) का विचार भी पूर्णतया सरल व सुनिश्चित नही होता।

(2) वस्तु की कीमत व पूर्ति की मात्रा का सम्बन्ध प्राय प्रत्यक्ष माना जाता है। कीमत के बढने पर पूर्ति बढती है तथा कीमत के घटने पर पूर्ति घटती है। लेकिन साधन की कीमत व उसकी पूर्ति का सम्बन्ध सदैव सुनिश्चित नहीं होता। प्राय भूमि की पूर्ति स्थिर होती है और इसे कीमत बढने के साथ साथ नही बढाया जा सकता। इसी तरह *श्रम का पूर्ति वक्र एक बिन्दु के बाद पीछे की ओर मुडता हुआ (backward bending)* माना गया है, अर्थात् एक सीमा के बाद, मजदूरी के बढने पर श्रम की पूर्ति घट जाती है, क्योंकि लोग विश्राम (leisure) को अधिक पसन्द करने लगते हैं। पूँजी की पूर्ति भी इसकी कीमत, अर्थात् ब्याज की दर के साथ साथ सदैव नही बढती है।

साधन की माँग व पूर्ति की इन विशेषताओं के कारण साधन की कीमत निर्धारण व वस्तु की कीमत निर्धारण मे आवश्यक अन्तर का उत्पन्न होना स्वाभाविक माना जाता है। लेकिन मूलत दोनों तरफ माँग व पूर्ति की शक्तियाँ ही काम करती हैं। अत वितरण का आधुनिक सिद्धान्त साधन की माँग व पूर्ति का सिद्धान्त माना जाता है।

अब हम निम्न चित्र की सहायता से साधन की कीमत निर्धारण की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हैं।
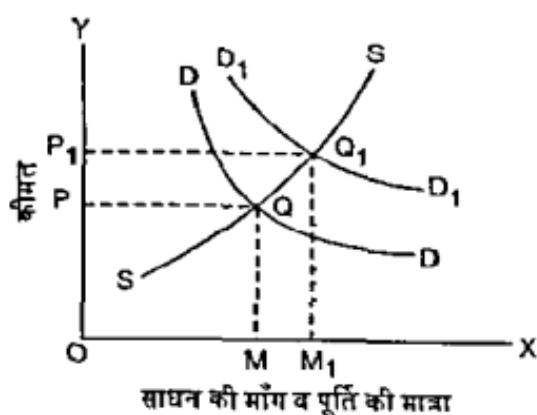
चित्र 2-एक साधन की कीमत का निर्धारण

साधन का प्रारम्भिक माँग वक्र DD व पूर्ति वक्र SS है, जो एक दूसरे को Q बिन्दु पर काटते हैं। सन्तुलन की स्थिति में साधन की कीमत OP व साधन की मात्रा OM निर्धारित होती है। साधन के द्वारा प्राप्त कुल आय OPQM होती है। यदि साधन की माँग वक्र बढकर D_1D_1 हो जाता है, तो साधन की कीमत बढकर OP_1 व

साधन की मात्रा OM_1 हो जाती है और साधन की कुल आय बढ़कर $OP_1Q_1M_1$ हो जाती है। मान लीजिए साधन की कुल आय Y स्थिर रहती है, जो साधन की आय का कुल आय में अनुपात $OPQM/Y$ से बढ़कर $OP_1Q_1M_1/Y$ हो जाता है। साधन के बाजारो में एकाधिकार सरकारी हस्तक्षेप, ट्रेड यूनियन आदि का प्रभाव निरन्तर पड़ता रहता है जिनका आगे चलकर यथास्थान विवेचन किया जाएगा।

उत्पादन के एक साधन की माँग का आशय (Meaning of Demand for a Factor of Production) – ऊपर हमने साधन की माँग व पूर्ति की चर्चा की है, लेकिन हमें साधन की माँग का आशय स्पष्ट रूप से समझना होगा और साथ में उस विधि का अध्ययन करना होगा जिसके द्वारा पहले एक फर्म के लिए एक साधन के माँग वक्र का निर्माण किया जाता है एव बाद में एक उद्योग के लिए एक साधन का माँग वक्र बनाया जाता है। इनका विस्तृत विवरण अगले अध्याय में वितरण के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त (marginal productivity theory) के अन्तर्गत किया गया है।

उत्पादन के साधनो की माँग इसलिए की जाती है कि इनका उपयोग करके समाज के लिए आवश्यक वस्तुएँ उत्पन्न की जा सकें। पहले बतलाया जा चुका है कि साधनों की माँग व्युत्पन्न माँग (derived demand) होती है। यह उन उपभोग्य वस्तुओं की माँग से उत्पन्न होती है जिनके निर्माण में उत्पादन के विभिन्न साधन लगाए जाते हैं। यही कारण है कि जिन उपभोग्य वस्तुओं की माँग अधिक होती है, उनके लिए आवश्यक उत्पादन के साधनों की माँग भी अधिक होती है। जिन उपभोग्य वस्तुओं की माँग कम होती है उनके लिए आवश्यक साधनो की माँग भी कम होती है। यदि चीनी की माँग अधिक होती है तो इसके उत्पादन के लिए गन्ने चीनी मिल मशीनरी व श्रमिकों आदि की माँग भी बढ़ जाती है। एक उत्पादन का साधन कई उद्योगों में काम में आ सकता है। अत इसकी कुल माँग विभिन्न उद्योगों में इसके लिए व्युत्पन्न माँगों का योग होती है। इस्पात कई उद्योगों में काम आता है। अत इसकी कुल माँग विभिन्न उद्योगों में इसकी व्युत्पन्न माँगो को जोड़कर निकाली जा सकती है।

उत्पादन के एक साधन की माँग को प्रभावित करने वाले तत्त्व—एक उत्पादन के साधन की माँग निम्न तत्त्वो पर निर्भर करती है—

(1) यह उन पदार्थों की माँग के स्तर पर निर्भर करती है जिनके निर्माण में यह साधन लगाया जाता है। यदि मकानों की माँग बढ़ती है तो इनको बनाने वालों की भी माँग बढ़ती है। फलस्वरूप मकान बनाने वाले मिस्त्रियों, कारीगरों आदि की माँग में भी वृद्धि होती है। सूती वस्त्र की माँग के बढ़ने से कपास, सूती वस्त्र बनाने वाली मशीन आदि की माँग भी बढ़ती है।

(2) यदि इस साधन की कीमत अन्य साधनों की कीमतों की तुलना में कम होती है तो उत्पादक इसकी अधिक माँग करते हैं, क्योंकि वे अन्य महगे साधनों के स्थान पर इसका प्रतिस्थापन करने लग जाते हैं। इसलिए एक साधन की अन्य साधन की तुलना में पायी जाने वाली कीमत का भी उसकी माँग पर प्रभाव पड़ता है। मान लीजिए, पूँजी की तुलना में श्रम अधिक सस्ता होता है तो एक फर्म अधिक श्रमिकों

का उपयोग करना चाहेगी। एक उत्पादक सदैव महँगे साधन के स्थान पर अपेक्षाकृत सस्ते साधन का अधिक उपयोग करना पसद करता है। अत एक साधन की माँग पर उसकी सापेक्ष कीमत (relative price) का भी प्रभाव पडता है।

(3) एक साधन की माँग की मात्रा उस साधन की उत्पादकता (productivity) पर भी निर्भर करती है। उत्पादकता के ज्यादा होने से साधन की माँग भी अधिक होती है। उससे उद्यमकर्ता को अधिक लाभ मिलता है। नीची उत्पादकता से फर्म को कम लाभ होने से उसकी माँग भी नीची पायी जाती है।

एक साधन की माँग की लोच (elasticity of demand for a factor) पर निम्न बातो का प्रभाव पड़ता है[1] —

(1) उस साधन द्वारा उत्पन्न अन्तिम वस्तु की माँग की लोच—एक साधन की माँग की लोच उस साधन के द्वारा उत्पन्न अन्तिम वस्तु (final product) की माँग की लोच से काफी प्रभावित होती है। एक उत्पादन के साधन की कीमत के बढने से अन्तिम वस्तु की लागत बढ जाती है जिससे कीमत काफी बढ जाती है। यदि वस्तु की कीमत के बढने से उसकी माँग काफी घट जाती है (वस्तु की लोचदार माँग के कारण) तो साधन की माँग भी काफी घट जाएगी। इसके विपरीत यदि वस्तु की माँग कम लोचदार होती है तो साधन की माँग भी कम लोचदार होगी, क्योंकि यदि वस्तु की कीमत के बढने से उसकी माँग मे अपेक्षाकृत कम गिरावट आएगी, जिससे साधन की माँग मे भी अपेक्षाकृत कम गिरावट आएगी। इस प्रकार एक साधन की माँग की लोच अन्तिम वस्तु की माँग की लोच के अनुरूप ही होती है।

(2) साधन की लागत का कुल लागत मे अश, अथवा उस साधन का महत्त्व (importance of the factor)—यदि एक साधन की लागत वस्तु की कुल लागत का काफी छोटा अश होती है तो इसकी माँग बेलोच होगी। उदाहरण के लिए पोशाक बनाने की कुल लागत मे सिलाई के धागे अथवा बटनो की लागत बहुत कम होती है। इसलिए धागे या बटनो की कीमत के बढ जाने पर भी इनकी माँग बेलोच ही रहेगी। विद्वानो ने इस स्थिति को 'महत्त्वहीन होने का महत्त्व (the importance of being unimportant) कहकर सम्बोधित किया है। इसके विपरीत यदि एक साधन की लागत कुल लागत का बडा अश होती है तो इसकी माँग लोचदार होगी, क्योंकि उसकी कीमत के बढ जाने से कुल उत्पादन लागत पर गहरा असर पडेगा, जिसकी वजह से उस साधन को कम मात्रा मे लगाने का प्रयास किया जाएगा। उसके स्थान पर दूसरे साधनो का प्रतिस्थापन करने का भी प्रयास किया जाएगा।

(3) साधन के लिए स्थानापन्न साधनो की उपलब्धि—हम माँग की लोच के अध्याय मे बतला चुके हैं कि लोच की मात्रा स्थानापन्न पदार्थों (substitutes) के पाए जाने पर भी निर्भर करती है। यदि एक साधन के लिए कई स्थानापन्न साधन पाए जाते

1 Richard G. Lipsey and K. Alec Chrystal Principles of Economics, 9th ed., 1999 pp 224-225

हैं तो इसकी माग लोचदार होगी क्योंकि इसकी कीमत के बढने पर इसके बदले में अन्य साधन प्रयुक्त किए जा सकेंगे जिससे इसकी माँग में काफी कमी आ सकती है। इसके विपरीत यदि एक साधन के बदले में कम स्थानापन्न साधन पाए जाते हैं तो इसकी माँग कम लोचदार होगी अर्थात् इसकी कीमत के बढने पर इसकी माँग में थोडी कमी आयेगी क्योकि इसके लिए स्थानापन्न साधनों का अभाव पाया जाता है।

(4) **सहयोगी साधनो की पूर्ति की लोच**—यदि अन्य साधनों की पूर्ति की लोच कम होती है तो एक साधन की माँग की लोच भी कम होगी। जब अन्य साधनों की पूर्ति अपेक्षाकृत बेलोच होती है तो उनकी माँग में गिरावट आने से उनकी कीमतें काफी घट जाती हैं। इसलिए विचाराधीन साधन लाभ की स्थिति में रहता है क्योंकि इसकी कीमत के बढने से वस्तु की कीमत बढ जाती है जिससे उस वस्तु की माँग में गिरावट आने से इस साधन की माँग ज्यादा प्रभावित नही होती है। उत्पादक इस साधन को ऊँची कीमत देने में समर्थ होते हैं क्योंकि वे अन्य साधनों को नीची कीमत देकर कुछ बचत कर लेते हैं जिसका उपयोग करके वे इस साधन को ऊँची कीमत देने में समर्थ हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में उत्पादक अन्य साधनों को 'निचोड़कर' (after squeezing other factors) इस साधन को ऊँचा प्रतिफल देने में समर्थ हो जाते हैं।

एक साधन की माँग के सम्बन्ध में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह होती है कि **साधनों की माँग अनिवार्यत. सयुक्त माँग (joint demand) होती है।** भूमि श्रम व पूँजी आदि की माँग किसी वस्तु के उत्पादन में सयुक्त रूप से की जाती है। इसका भी पहले उल्लेख किया जा चुका है।

इस प्रकार साधन माँग (factor demand) व्युत्पन्न माँग व सयुक्त माँग (derived demand and joint demand) दोनों प्रकार की होती है।

साधनों की पूर्ति की चर्चा करने से पूर्व हम एक साधन की माँग के विषय में निम्न निष्कर्षों पर पुन ध्यान केन्द्रित करते हैं—

एक साधन की माँग एक उद्योग में निम्न दशाओं में लोचदार होती है—

(1) जब उस साधन द्वारा उत्पन्न वस्तु की माँग लोचदार हो (2) कुल लागत में उस साधन को किए जाने वाले भुगतान का अश अधिक हो तथा (3) उस साधन के बदले में अन्य साधन आसानी से प्रयुक्त किए जा सकें।

साधनो की पूर्ति (The supply of factors)[1]

अब हम सक्षेप में साधनों की पूर्ति पर प्रकाश डालते हैं क्योंकि साधनों की कीमत निर्धारण पर माँग के बाद पूर्ति का ही प्रभाव पडता है।

---

1 Richard G Lipsey and K Alec Chrystal Principles of Economics 9th ed 1999 pp 227 230

यहाँ हम सर्वप्रथम साधनों की कुल पूर्ति (total supply of factors) को लेते हैं तथा बाद में विशेष उपयोगों में साधनों की पूर्ति (supply of factors in particular uses) को लेंगे—

(1) साधनों की कुल पूर्ति—श्रम की पूर्ति पर जनसंख्या के आकार, जनसंख्या में काम करने वालों के अनुपात व काम के घंटों का प्रभाव पड़ता है। मजदूरी के बढ़ने पर श्रम की पूर्ति बढ़ सकती है घट सकती है एवं यथास्थिर रह सकती है। कृषियोग्य भूमि की सप्लाई भी सिंचाई व नई भूमि को तोड़ने (reclamation) से बढ़ सकती है। यदि भू-संरक्षण के उपायों पर ध्यान नहीं दिया जाए तो यह घट भी सकती है। मिट्टी के कटाव की वजह से व संरक्षण के अभाव में काफी कृषियोग्य भूमि बंजर हो जाती है। काफी लम्बी अवधि को लेने पर पूँजी के स्टॉक में नियमित रूप से वृद्धि होती रहती है।

(2) विशेष उपयोगों में साधनों की पूर्ति—विभिन्न साधनों का विभिन्न उद्योगों व एक ही उद्योग की विभिन्न फर्मों के बीच आवंटन करना होता है। एक साधन के स्वामी उन उपयोगों में अपनी सेवाएँ हस्तान्तरित करते हैं जहाँ उनके विशुद्ध लाभ (net advantages) अधिकतम होते हैं। इसमें मौद्रिक व गैर-मौद्रिक दोनों प्रकार के लाभों को शामिल किया जाता है। इस प्रकार एक साधन एक उद्योग से दूसरे उद्योग में गतिमान होता रहता है। इस पर सापेक्ष कीमतों का प्रभाव पड़ता है। भूमि भी एक उपयोग से दूसरे उपयोग में गतिशील होती है। शहरों के समीप की कृषिगत भूमि धीरे धीरे रिहायशी भूमि में रूपान्तरित की जाती है ताकि मकानों की सप्लाई बढ़ाई जा सके। लेकिन भूमि में स्थान गतिशीलता (location-mobility) नहीं होती है।

भौतिक पूँजी अल्पकाल में गतिशील नहीं होती, क्योंकि एक बार मशीन के बन जाने पर उसे एक विशिष्ट प्रयोग या एक विशिष्ट काम में ही लेना पड़ता है। लेकिन दीर्घकाल में मूल्य-ह्रास से वह धीरे धीरे समाप्त हो जाती है। यदि उसकी जगह दूसरी मशीन नहीं लगायी जाती है तो उसका पूर्ण रूप समाप्त हो जाता है।

श्रम भी अल्पकाल की बजाय दीर्घकाल में अधिक गतिशील होता है। लेकिन श्रम ज्यादातर एक ही स्थान पर विभिन्न धन्धों या व्यवसायों के बीच गतिशील होता रहता है। मजदूर संघों का श्रम की गतिशीलता पर प्रतिकूल प्रभाव पाया गया है। वे गतिशीलता में कई प्रकार की बाधाएँ उत्पन्न कर देते हैं। इस प्रकार उत्पादन के साधनों की पूर्ति व माँग के सन्तुलन से साधनों की कीमतें निर्धारित होती हैं।

साधन के मूल्य-निर्धारण से सम्बद्ध अवधारणाएँ
(Concepts related with factor-pricing)

हम अगले अध्याय में वितरण के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त का विवेचन करेंगे और बाद में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में साधन के मूल्य निर्धारण का विश्लेषण किया जाएगा। साधन के मूल्य निर्धारण के सम्बन्ध में साधन की सीमान्त भौतिक उत्पत्ति

(MPP), पूर्ण प्रतिस्पर्धा में साधन के सीमान्त उत्पत्ति मूल्य (VMP) व अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में सीमान्त आय उत्पत्ति (MRP) की अवधारणाओं का विशेष रूप से उपयोग किया जाता है। इनसे साधन की माँग के निर्धारण में मदद मिलती है। इसका विस्तृत वर्णन आगामी दो अध्यायों मे यथास्थान किया जाएगा, लेकिन यहाँ पर इनका सरल व परिचयात्मक विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

(1) एक साधन की सीमान्त भौतिक उत्पत्ति (marginal physical product of a factor) (MPP)—जैसा कि परिवर्तनशील अनुपातों के नियम के अध्याय में बतलाया जा चुका है, एक साधन की मात्रा स्थिर रखकर जब दूसरे साधन की मात्रा बढ़ायी जाती है तो कुल उत्पत्ति में होने वाली वृद्धि सीमान्त भौतिक उत्पत्ति कहलाती है।

(2) सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य (Value of marginal product) (VMP)—*वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में एक फर्म के लिए वस्तु की कीमत दी हुई होती है। वह इसको प्रभावित नही कर सकती। इसलिए सीमान्त भौतिक* उत्पत्ति को वस्तु की स्थिर कीमत से गुणा करने से प्राप्त करने परिणाम सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य माना जाता है। इसके आधार पर एक फर्म के लिए एक साधन का माँग वक्र निकाला जा सकता है। पूर्ण प्रतिस्पर्धा में सीमान्त उत्पत्ति के मूल्य (VMP) को उस साधन की सीमान्त आय उत्पत्ति (marginal revenue product) (MRP) भी कह सकते हैं, हालांकि इस अवधारणा का अधिक उपयोग अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में किया जाता है, जबकि एक फर्म के लिए वस्तु की कीमत स्थिर नही रहती, बल्कि एक फर्म को अपना अधिक माल बेचने के लिए कीमत घटानी पड़ती है। उस स्थिति में साधन की सीमान्त भौतिक उत्पत्ति को वस्तु की उत्तरोत्तर घटती हुई कीमतों से गुणा करके *सीमान्त आय-उत्पत्ति (MRP) निकाली जाती है।*

(3) सीमान्त-आय-उत्पत्ति (marginal revenue product) (MRP)—जैसा कि ऊपर बतलाया गया है **अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में एक साधन की सीमान्त आय-उत्पत्ति ज्ञात करने के लिए उसकी सीमान्त भौतिक उत्पत्ति की मात्राओ को क्रमश वस्तु की उत्तरोत्तर घटती हुई कीमतो से गुणा किया जाता है।** इससे अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में साधन की माँग का निर्धारण होता है।

इन बातों को निम्न उदाहरणों से समझाया जाता है।

उदाहरण 1—नीचे श्रम की विभिन्न इकाइयों के लिए भौतिक उत्पत्ति की मात्राएँ दी हुई हैं। वस्तु की कीमत 8 रुपये पर स्थिर रहती है।

फर्म के लिए श्रम का माँग-वक्र निकालिए। इसे चित्र द्वारा प्रदर्शित कीजिए।

दी हुई सूचना इस प्रकार है—

श्रम की मात्राएँ	0	1	2	3	4	5
उत्पत्ति की मात्राएँ	0	10	18	24	28	30

हल—

श्रम की इकाइयाँ	उत्पत्ति की मात्राएँ	श्रम की सीमान्त भौतिक उत्पत्ति (MPP_l)	वस्तु की कीमत (रु.) (p)	सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य (VMP) (रु.)
0	0	–	8	–
1	10	10	8	80
2	18	8	8	64
3	24	6	8	48
4	28	4	8	32
5	30	2	8	16

उपर्युक्त सारणी में प्रथम कॉलम और अन्तिम कॉलम मिलकर एक फर्म के लिए श्रम के माँग-वक्र का निर्माण करते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सन्तुलन में मजदूरी = श्रम की सीमान्त उत्पत्ति के मूल्य के ($W = VMP_1$) होती है। अतः 80 रुपये मजदूरी होने पर एक श्रमिक की नियुक्ति की जाएगी, 64 रुपये मजदूरी पर 2 श्रमिकों की, 48 रुपये मजदूरी पर 3 श्रमिकों की, 32 रुपये पर 4 श्रमिकों की तथा 16 रुपये पर 5 श्रमिकों की नियुक्ति की जाएगी। अतः फर्म के लिए श्रम का माँग-वक्र इस प्रकार होगा—

मजदूरी की दर (रु) में	श्रम की माँग की मात्रा
80	1
64	2
48	3
32	4
16	5

इसे चित्र पर भी दर्शाया जा सकता है। यहाँ मजदूरी के घटने से श्रम की माँग बढ़ती जाती है। अतः यह वस्तु के साधारण माँग-वक्र की भाँति ही होता है।

उपर्युक्त सूचना के आधार पर फर्म के लिए श्रम का माँग-वक्र इस प्रकार का होगा—
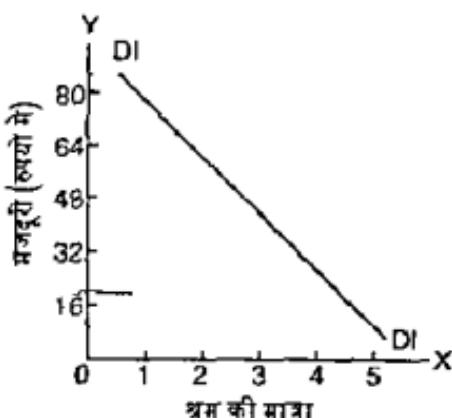
चित्र 3-एक फर्म के लिए श्रम का माँग वक्र
(वस्तु व साधन बाजारों में पूर्ण प्रतिस्पर्धा)

स्पष्टीकरण—DD रेखा एक फर्म के लिए श्रम के माँग वक्र को प्रदर्शित करती है। यहाँ OX-अक्ष पर श्रम की माँग की मात्रा व OY-अक्ष पर मजदूरी की दर मापी गयी है। उपर्युक्त सारणी के अकों को चित्र पर दर्शाने से DD श्रम का माँग वक्र बनता है।

स्पष्ट है कि यहाँ 80 रुपये मजदूरी पर श्रम की माँग एक इकाई व 16 रुपये पर यह पाँच इकाई होगी।

उदाहरण 2—उपर्युक्त दृष्टान्त में यदि वस्तु की कीमत स्थिर न होकर क्रमशः 8, 7.50, 7, 6.50 व 6.40 रुपए होती, तो श्रम की सीमान्त आय-उत्पत्ति (MRP) व श्रम की माँग सारणी ज्ञात कीजिए।

हल—

श्रम की इकाइयाँ (L)	कुल उत्पत्ति (TP)	सीमान्त भौतिक उत्पत्ति (MPP)	वस्तु की कीमत (रु.) (p)	कुल आय (TR)=(2) × (4) (रु.) (TP×p)	सीमान्त-आय-उत्पत्ति (MRP) (रु.) (ΔTR) (कॉलम 5 से प्राप्त)
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)
0	0	—	—	—	—
1	10	10	8.00	80	80
2	18	8	7.50	135	55
3	24	6	7.00	168	33
4	28	4	6.50	182	14
5	30	2	6.40	192	10

उपर्युक्त सारणी के अन्तिम कॉलम (6) में सीमान्त आय-उत्पत्ति (MRP) दर्शायी गयी है। यह कॉलम (5) से निकाली गयी है। कॉलम (5) में कुल आय (TR), कॉलम (2) में कुल उत्पत्ति की मात्राओं को क्रमश कॉलम (4) की घटती हुई कीमतों से गुणा करके ज्ञात की गई है।

इस प्रकार यहाँ फर्म के लिए श्रम का माँग वक्र इस प्रकार होगा—

मज़दूरी की दर (रु.) में	श्रम की माँग की मात्रा
80	1
55	2
33	3
14	4
10	5

अत यहाँ पर 80 रु मजदूरी पर एक श्रमिक लगाया जाएगा और 10 रु मजदूरी पर 5 श्रमिक लगाये जायेंगे।

इस प्रकार यहाँ कॉलम (1) व कॉलम (6) का उपयोग करके श्रम का माँग-वक्र निकाला गया है। इसको आसानी से रेखाचित्र पर भी दर्शाया जा सकता है।

हमने यहाँ सीमान्त भौतिक उत्पत्ति (MPP), सीमान्त उत्पत्ति के मूल्य (VMP) व सीमान्त-आय-उत्पत्ति (MRP) का सख्यात्मक उदाहरणों से सरल विवेचन प्रस्तुत किया है। आगामी अध्यायों में इनका विस्तृत विवेचन किया जायेगा।

इस प्रकार हमने देखा कि साधन का मूल्य निर्धारण वस्तु के मूल्य निर्धारण से काफी मिलता-जुलता होता है, लेकिन साधनों की अपनी-अपनी विशेषताओं का भी उनके मूल्य निर्धारण पर प्रभाव पडता रहता है, जिसकी चर्चा आगे के अध्यायों में की जाएगी।

आजकल साधन की हस्तान्तरण-आय (transfer earnings) व आर्थिक लगान (economic rent), की अवधारणाओं का महत्त्व भी बढ गया है। एक साधन को वर्तमान व्यवसाय या उपयोग में लगाये रखने के लिए उसे दूसरे सर्वश्रेष्ठ वैकल्पिक उपयोग की आय के बराबर राशि अवश्य देनी होती है, जिसे हस्तान्तरण आय कहा जाता है। इससे ऊपर की आय आर्थिक लगान होती है, जो उत्पादन के सभी साधनों को प्राप्त हो सकती है।

हम इन विविध अवधारणाओं का साधन कीमत निर्धारण में आगे चलकर यथास्थान उपयोग करेंगे।

••

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 आय का कार्यानुसार वितरण होता है—

(अ) मजदूरी की दर, ब्याज की दर व लगान की दर आदि का निर्धारण—साधन कीमत निर्धारण

(ब) कुछ परिवारों की आमदनी अधिक व कुछ की काफी कम होती है

(स) विभिन्न व्यक्तियों के बीच आमदनी का वितरण

(द) राष्ट्रीय आय में मजदूरों, भूस्वामियों व पूँजीपतियों का अंश (द)

2 एक साधन के सीमान्त उत्पत्ति के मूल्य (VMP) को ज्ञात करने के लिए किसकी आवश्यकता होती है ?

(अ) एक साधन की सीमान्त भौतिक उत्पत्ति (MPP) की

(ब) उस वस्तु के पूर्ण प्रतिस्पर्धा वाले बाजार में निर्धारित कीमत (p) की

(स) MPP × p की

(द) सभी की (स)

3 पूर्ण प्रतिस्पर्धा (वस्तु-बाजार में) के अन्तर्गत मजदूरी की दर कहाँ निर्धारित होती है ?

(अ) $W = MPP \times p$

(ब) $W = MRP \times p$

(स) $W = \dfrac{\text{total wages}}{\text{total workers}} = \dfrac{\text{कुल मजदूरी}}{\text{कुल श्रमिक}}$

(द) कोई नहीं (अ)

4 निम्न उदाहरण में 22 रु मजदूरी पर एक फर्म कितने श्रमिक लगायेगी ? कारण सहित बताइये।

श्रमिक	कुल उत्पत्ति	वस्तु की कीमत	कुल आय	सीमान्त-आय-उत्पत्ति
1	10	5	50	—
2	18	4	72	22
3	23	3.5	80.5	7.5
4	27	3	81	0.5

[एक फर्म 2 श्रमिक लगायेगी जहाँ W = MRP (श्रम की) यहाँ वस्तु-बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता की दशा है।]

5 एक देश में उपभोग या आय की असमानता को जानने के लिए किस प्रकार के ज्ञान या तथ्यों की अवश्यकता होती है ?

(अ) आय के कार्यात्मक वितरण की

(ब) साधन कीमत निर्धारण सिद्धान्त की

(स) आय के आकारानुसार या वैयक्तिक वितरण की

(द) सभी की (स)

अन्य प्रश्न

1 एक साधन का मूल्य निर्धारण किन बातों में वस्तु के मूल्य निर्धारण से मिलता जुलता होता है ? विवेचना कीजिए।

2 संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(i) एक साधन की माँग की लोच को प्रभावित करने वाले तत्त्व

(ii) सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य (VMP)

(iii) सीमान्त आय-उत्पत्ति (MRP)

(iv) आय का कार्यात्मक वितरण

(v) आय का आकारानुसार वितरण या वैयक्तिक वितरण

(vi) लॉरेंज वक्र

3 पूर्ण प्रतिस्पर्धा व अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में एक फर्म के लिए श्रम का माँग वक्र निकालने की विधि संख्यात्मक उदाहरण व चित्र देकर समझाइए।

□ □ □

26

वितरण का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त

(Marginal Productivity Theory of Distribution)

सामान्य परिचय

वितरण का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त परम्परागत सिद्धान्त का आधा भाग माना गया है। इसका सम्बन्ध साधनों की माँग से होता है। पैश व कुलियर (Paish and Culyer) ने 'बेन्हम के अर्थशास्त्र' नामक पुस्तक में कहा है कि "सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त स्वय मे कोई वितरण का सिद्धान्त नही है। यह तो उत्पादन के साधनो की माँग का सिद्धान्त है, अत यह वितरण के सिद्धान्त का आधा भाग है। दूसरा भाग उत्पादन के साधनों की पूर्ति का सिद्धान्त माना गया है।[1]"

इस अध्याय में हम सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त का वर्णन करेंगे और अगले अध्याय में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में साधन के मूल्य-निर्धारण का सरल परिचय दिया जायगा। साथ में वितरण के आधुनिक सिद्धान्त की रूपरेखा भी प्रस्तुत की जायेगी।

वितरण के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त का विवेचन जे बी क्लार्क (J B Clark) जेवन्स, विकस्टीड, मार्शल व हिक्स आदि विद्वानों ने किया है। इस सिद्धान्त को जिस रूप में प्रस्तुत किया जाता है, उसी के अनुरूप इसकी आलोचना की जाती है। अधिकाश पाठ्यपुस्तकों में इस सिद्धान्त की एक दर्जन से अधिक आलोचनाएँ देखने को मिलती हैं, वे ज्यादातर क्लार्क द्वारा वर्णित स्वरूप की ही होती हैं। यदि इसी सिद्धान्त को थोडा भिन्न रूप में प्रस्तुत किया जाए, जैसा कि रिचार्ड जी लिप्से व क्रिस्टल[2] ने किया है, तो इसका स्वरूप बदल जाता है और इसकी अधिकाश प्रचलित आलोचनाएँ निरर्थक व भ्रामक सिद्ध हो जाती हैं। हम यहाँ पर क्लार्क, मार्शल व हिक्स के विचारों को सक्षेप में प्रस्तुत करके सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त का सम्पूर्ण विवेचन

---

1 Paish and Culyer Benham's Economics 9th ed 1973 pp 361-62

2 Richard G Lipsey and K Alec Chrystal An Introduction to Positive Economics 8th ed 1995 ch 18 and ch 21 particularly p 385 for some Fallacious Criticisms of Marginal Productivity Theory, लेखकों ने नये संस्करण 1993 में वितरण सिद्धान्त के सम्बन्ध में माँग व पूर्ति दोनों के प्रभावों पर अधिक बल दिया है।

प्रोफेसर लिप्से व क्रिस्टल के मतानुसार प्रस्तुत करेंगे, ताकि पाठकों को इस विषय की स्पष्ट व सुनिश्चित जानकारी हो सके जो हमारे विचार में अन्यथा नहीं हो पाती है।

जे. बी. क्लार्क के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त पर विचार—अमरीकी अर्थशास्त्री जेबी क्लार्क इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में हेनरी जॉर्ज के विचारों से प्रभावित हुआ था। क्लार्क का मत था कि समस्त श्रमिकों की मजदूरी, पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में श्रम की पृथक रूप से मानी जाने वाली उत्पत्ति के बराबर होती है। उसने एक पूर्णतया स्थैतिक या गतिहीन समाज (completely static society) की कल्पना की थी जिसमें विकास या परिवर्तन से उत्पन्न हलचलें नहीं होतीं। दूसरे शब्दों में, उसने जनसंख्या, पूँजी व उत्पादन की तकनीक को स्थिर माना था, साथ ही उसने साधन-बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की कल्पना भी की थी। क्लार्क का कहना था कि एक उद्यमकर्ता श्रमिकों को उस बिन्दु तक लगाता जाता है जहाँ मजदूरी की दर श्रम की सीमान्त उत्पत्ति के बराबर हो जाती है। इस बिन्दु पर उसको अधिकतम मुनाफा प्राप्त होता है। इससे आगे जाने पर उसे घाटा होता है। क्लार्क ने अर्थव्यवस्था में श्रम की कुल पूर्ति को स्थिर माना था, जिससे उसके सिद्धान्त में श्रम का पूर्ति-वक्र बेलोच हो गया था। इस प्रकार, श्रम की दी हुई मात्रा पर, देश में मजदूरी की दर श्रम की सीमान्त उत्पादकता से निर्धारित होती है। इस सिद्धान्त के विवेचन में क्लार्क ने अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की मान्यता भी स्वीकार की थी।

मार्शल-हिक्स का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के बारे में दृष्टिकोण

मार्शल व हिक्स के अनुसार सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त केवल श्रम की माँग को निर्धारित करता है। मार्शल का कहना था कि यह सिद्धान्त 'मजदूरी का सिद्धान्त' नहीं है। मजदूरी श्रम की माँग व पूर्ति से निर्धारित होती है और सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त केवल माँग-पक्ष पर विचार करता है।

इसके अलावा मार्शल ने क्लार्क की 'स्थिर स्थिति की मान्यता' को स्वीकार नहीं किया था। उसने अपने सिद्धान्त में जनसंख्या की वृद्धि, पूँजी-संचय के परिवर्तनों, आदि का समावेश किया था, जबकि क्लार्क ने इनको स्थिर माना था। मार्शल ने श्रम की शुद्ध उत्पादकता (net productivity of labour) का विचार दिया था जिसके अनुसार श्रम व पूँजी की मात्रा को एक साथ बढ़ाने (चूँकि पूँजी का रूप नहीं बदला जा सकता) से प्राप्त सीमान्त उत्पत्ति में से अतिरिक्त पूँजी की लागत घटायी जाती है। अल्पकाल में श्रम की मात्रा में आवश्यक फेर-बदल करने के लिए उद्यमकर्ता के लिए सीमान्त शुद्ध उत्पत्ति का विचार ज्यादा सार्थक माना गया है। स्मरण रहे कि पीगू, टॉबर्टसन व हिक्स ने मार्शल के श्रम की शुद्ध उत्पादकता के सिद्धान्त को नहीं माना था, क्योंकि उनके मत में पूँजी के रूप को परिवर्तित करके श्रम की मात्रा को बढ़ाकर इसकी सीमान्त उत्पत्ति ज्ञात की जा सकती है। इन्होंने पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में सीमान्त उत्पादकता को मजदूरी को प्रभावित करने वाला एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना था। इस प्रकार मार्शल-हिक्स दृष्टिकोण को स्वीकार करने पर साधन की कीमत निर्धारित करने के लिए उसकी माँग व पूर्ति दोनों पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

अब हम वितरण के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त का वर्णन प्रस्तुत करते हैं और यहाँ पर लिप्से व क्रिस्टल के दृष्टिकोण [illegible] का आधार बनाया गया है।

वितरण का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त*

(Marginal Productivity Theory of Distribution)

कीमत सिद्धान्त के अन्तर्गत बतलाया जा चुका है कि एक अधिकतम लाभ प्राप्त करने वाली फर्म उस समय सन्तुलन में मानी जाती है जबकि वस्तु की सीमान्त लागत उसकी सीमान्त आय के बराबर (MC = MR) होती है। यह शर्त बाजार की सभी दशाओं (पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा, एकाधिकार, एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्द्धा आदि) में लागू होती है। इसी प्रकार एक फर्म उत्पादन के एक परिवर्तनशील साधन की विभिन्न इकाइयों को उस बिन्दु तक लगाती जाती है जहाँ पर साधन की कीमत (factor price) उसकी सीमान्त आय-उत्पत्ति** (marginal revenue product अथवा MRP) के बराबर होती है।

जब एक फर्म साधनों की खरीद पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में करती है तो उसके लिए साधन की कीमत (factor price) दी हुई होती है। वह साधन की कम या अधिक मात्रा खरीद कर इसकी कीमत को प्रभावित नहीं कर सकती। मान लीजिए, एक फर्म एक अतिरिक्त श्रमिक को काम पर लगाती है तो उसे श्रमिक को प्रचलित मजदूरी ही देनी होगी। अत जब एक फर्म साधनों की खरीद पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में करती है तो सतुलन की दशा में साधन की कीमत = साधन की सीमान्त आय-उत्पत्ति, अथवा F_p = MRP होती है जहाँ F_p साधन की कीमत है, तथा MRP साधन की सीमान्त आय-उत्पत्ति है।

इस कथन को प्राय वितरण का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त कहा जाता है। रिचार्ड जी लिप्से व के एलक किस्टल के अनुसार, यह सिद्धान्त दो मान्यताओं के आधार पर निकाले गए निष्कर्षों को प्रस्तुत करता है। **एक मान्यता तो यह है कि फर्म अपना लाभ अधिकतम करती है, और दूसरी यह है कि फर्म के लिए साधन की कीमत दी हुई होती है, अर्थात् यह साधनो को पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में खरीदती है।**[1] फर्म साधनों को

---

* पाठकों को इस सिद्धान्त की मान्यताओं व अन्य विवेचन का ध्यान से अध्ययन करना चाहिए ताकि वे इसके निष्कर्षों को ठीक से समझ सकें। जैसा कि पहले बतलाया गया था कि वितरण के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त को सही ढग से न समझने के कारण कुछ लेखकों ने इसकी कई अनावश्यक व निरर्थक आलोचनाए की हैं।

** सीमान्त आय उत्पत्ति (MRP) की अवधारणा पिछले अध्याय में उदाहरण सहित स्पष्ट की जा चुकी है लेकिन इसका व्यापक प्रयोग इस अध्याय व आगे चलकर किया जाएगा।

1 **स्टोनियर व हेग के अनुसार सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त निम्न मान्यताओं (assumptions) पर आधारित है—**

(1) **साधन बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा होती है,** अर्थात् साधन के बहुत से क्रेता व बहुत से विक्रेता होते हैं।

(2) **वस्तु बाजार में भी पूर्ण प्रतिस्पर्धा पायी जाती है।**

(3) यदि श्रम-साधन को लिया जाए तो यह मान लिया जाता है कि **सभी श्रमिक एक से कार्यकुशल होते हैं।** दूसरे शब्दों में श्रम समरूप माना जाता है (labour is homogeneous) अर्थात् सभी श्रमिक एक से दक्ष माने जाते हैं।

(4) **प्रति सप्ताह काम के घटे दिए हुए हैं,** अर्थात् **ओवरटाइम भुगतान की समस्या नहीं होती है।** इससे हम श्रम की मात्राओं को व्यक्तियों की सख्या में माप सकते हैं जहाँ प्रत्येक व्यक्ति प्रति सप्ताह स्थिर घटे काम करता है। अत अतिरिक्त श्रम की मात्रा बाजार में अधिक व्यक्तियों के रूप में प्रस्तुत होती है, न कि प्रति व्यक्ति काम के अधिक घटों के रूप में। इससे हमें समरूप श्रम का एक स्पष्ट माप मिल जाता है।

(5) **एक अकेले परिवर्तनशील साधन की कीमत पर विचार किया जाता है।** एक या अधिक स्थिर साधनों के साथ एक अकेला परिवर्तनशील साधन ही लगाया जाता है और उसी के परिणाम देखे जाते हैं (स्टोनियर व हेग, पूर्वोद्धृत पुस्तक पृष्ठ 272 73)।

उस सीमा तक लगाती है जहाँ F_p = MRP होती है। ऐसा करने से ही फर्म को अधिकतम लाभ प्राप्त हो सकते हैं। इस बिन्दु से पहले रुक जाने से फर्म उन लाभों से वंचित हो जाती है जो उसे अन्यथा मिल सकते थे। इस बिन्दु से आगे जाने से फर्म साधन को जो कीमत देती है वह इसकी सीमान्त आय-उत्पत्ति (MRP) से अधिक हो जाती है जिससे फर्म का कुल लाभ कम हो जाता है। अत इस बिन्दु से आगे जाने का तो प्रश्न ही नही उठता।

मान लीजिए, मजदूरी की दर 10 रु है तथा एक अतिरिक्त श्रमिक को लगाने से फर्म की कुल आय में 15 रु की वृद्धि होती है, तो फर्म इस श्रमिक को काम पर अवश्य लगायेगी, तथा इससे अगले श्रमिक को भी काम पर लगाएगी, यदि उसको लगाने से फर्म की कुल आय में 10 रु या इससे अधिक, जैसे 13 रु या 14 रु की वृद्धि होती है। लेकिन मजदूरी = सीमान्त आय-उत्पत्ति = 10 रु पर फर्म अधिक श्रमिक लगाना बन्द कर देती है। इसी प्रकार फर्म यदि यह देखती है कि मजदूरी तो 10 रु है, तथा सीमान्त आय-उत्पत्ति 9 रु है, तो वह अंतिम श्रमिक को काम पर नहीं लगायेगी, क्योंकि उसने मजदूरी 10 रु ली और फर्म की आय में केवल 9 रु की ही बढ़ोतरी की। इसलिए सीमान्त-आय-उत्पत्ति (MRP) की अवधारणा की गहराई में जाए बिना यह आसानी से समझ में आ सकता है कि अपने लाभ अधिकतम करने के लिए एक फर्म एक साधन की उतनी ही मात्रा लगाती है जहाँ साधन को दी जाने वाली कीमत उसको लगाने से कुल आय में होने वाली वृद्धि के बराबर हो जाती है। उससे आगे जाने अथवा उससे पीछे ठहर जाने से फर्म सतुलन की स्थिति, अर्थात् अधिकतम लाभ की स्थिति प्राप्त नहीं कर पाती है।

सीमान्त-आय-उत्पत्ति (MRP) की अवधारणा का उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण

(1) जैसा कि पिछले अध्याय में भी स्पष्ट किया गया था, वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में MRP = MPP (Marginal Physical Product)×Price = VMP (value of marginal product), अर्थात् साधन की सीमान्त आय-उत्पत्ति बराबर होती है साधन की सीमान्त भौतिक उत्पत्ति × साधन की कीमत के। सीमान्त आय-उत्पत्ति मुद्रा में व्यक्त की जाती है। इसे वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य (VMP) कहा जाता है। परिवर्तनशील अनुपातों के
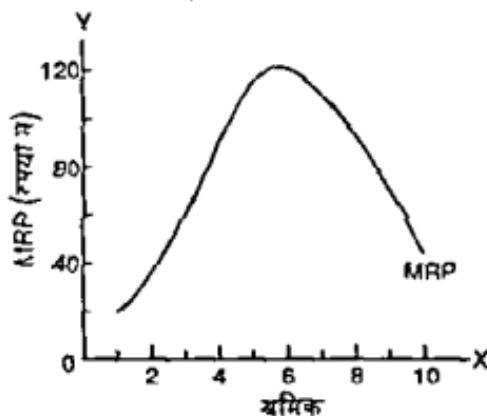
चित्र 1-पूर्ण प्रतिस्पर्धा में एक फर्म के लिए साधन की MRP=VMP होती है

नियम के अध्ययन में बतलाया जा चुका है कि एक स्थिर साधन के साथ एक परिवर्तशील साधन की मात्राओं के लगाए जाने पर, एक बिन्दु के बाद, सीमान्त भौतिक उत्पत्ति घटने लगती है। यह ह्रासमान प्रतिफल नियम के कारण होता है। पूर्ण प्रतिस्पर्धा में साधन की कीमत एक फर्म के लिए दी हुई होती है।

(2) वस्तु बाजार में एकाधिकार या अपूर्ण प्रतिस्पर्धा (monpoly or imperfect competition in the product market) की दशा के पाए जाने पर MRP = (MRP×MR) होती है। एक एकाधिकारी फर्म को अपना अधिक माल बेचने के लिए वस्तु की कीमत घटानी होती है। एकाधिकारी फर्म के लिए औसत आय-वक्र (AR curve) घटता है, और सीमान्त आय वक्र (MR curve) उससे नीचे होता है। अत (MRP) वक्र और भी तेजी से घटता है।

उपर्युक्त चित्र 1 में साधन (श्रम) की सीमान्त-आय-उत्पत्ति रेखा (MRP) खीची गयी है जो निम्नांकित सारणी 1 के आंकडों पर आधारित है।

उपर्युक्त चित्र 1 MRP वक्र एक पूर्ण प्रतिस्पर्धात्मक फर्म के लिए साधन की सीमान्त-आय-उत्पत्ति की मात्राओं को प्रदर्शित करता है। यहाँ पर यह VMP भी कहा जा सकता है। यह वक्र शुरू में बढता है, क्योंकि प्रारम्भ में साधन MPP (सीमान्त भौतिक *उत्पत्ति) बढती है, और एक बिन्दु के बाद यह वक्र घटता है, क्योंकि MPP घटती है।* फर्म के लिए वस्तु की कीमत 4 रु प्रति इकाई दी हुई है (वस्तु-बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा को मान लेने पर)। अत यहाँ पर MRP = MPP × Price = VMP होती है।

सारणी 1-पूर्ण प्रतिस्पर्धा मे MRP अथवा VMP

श्रमिको की सख्या	कुल उत्पत्ति (TP)	सीमान्त भौतिक उत्पत्ति (MPP)	पूर्ण प्रतिस्पर्धा में वस्तु की कीमत (price) प्रति इकाई 4 रु. (P)	पूर्ण प्रतिस्पर्धा में MRP = MPP × Price = VMP कॉलम (3) × (4) (रु. मे)
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)
1	5	5	4	20
2	11	6	4	24
3	22	11	4	44
4	40	18	4	72
5	65	25	4	100
6	95	30	4	120
7	122	27	4	108
8	146	25	4	100
9	167	20	4	80
10	180	13	4	52

उपर्युक्त सारणी में वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति म साधन की MRP = VMP की स्थिति दर्शायी गयी हैं।*

सारणी 1 के अनुसार 100 रु मजदूरी पर यह फर्म 5 मजदूर रख सकती है और 8 मजदूर भी। लेकिन अधिकतम लाभ प्राप्त करने की दृष्टि से 100 रु मजदूरी पर 8 मजदूर रखना ही उचित होगा। इससे फर्म छठ व सातवें श्रमिक को लगाकर भी अपने लाभ बढा सकेगी। 5 मजदूर लगाने की दशा में वह उन लाभो से वंचित रह जाती है जो छठे व सातवें मजदूर का काम पर लगाने से प्राप्त होते है। इसी प्रकार 80 रु मजदूरी पर फर्म को 9 श्रमिक लगाने होगे और 52 रु मजदूरी पर 10 श्रमिक। इस तरह हम एक फर्म के लिए एक साधन का माँग वक्र निकाल सकते है जो चित्र 2 (अ) मे दर्शाया गया है।
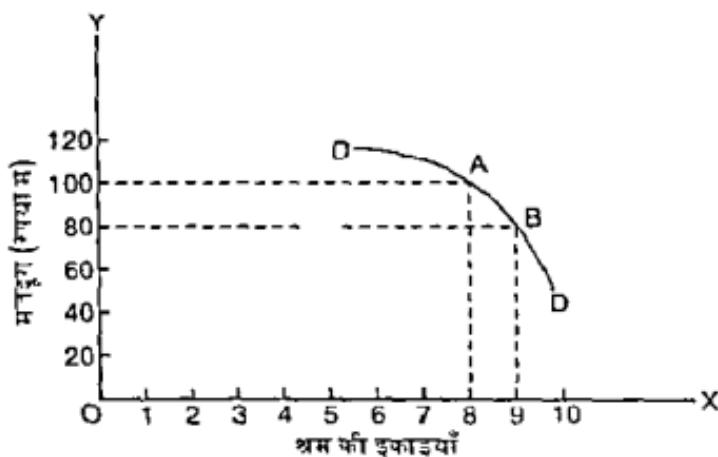
चित्र 2 (अ) -एक फर्म के लिए एक साधन का माँग वक्र
(Demand curve of a f tor for a firm)

चित्र 2 (अ) एक फर्म के लिए एक साधन का जो माँग वक्र दिखलाया गया है, वह चित्र 1 मे MRP वक्र का नीचे की ओर झुकता हुआ अश ही होता है। यह विभिन्न मजदूरी की दरो पर श्रम की लगायी जाने वाली इकाइयो को सूचित करता है। स्पष्ट है कि मजदूरी के कम होने पर एक फर्म अधिक श्रमिक लगायेगी और अधिक मजदूरी पर कम श्रमिक लगायेगी। चित्र के अनुसार 100 रु मजदूरी पर 8 मजदूर लगाए जाएँगे जिन्हे DD वक्र पर A बिन्दु से सूचित किया गया है। इसी प्रकार 80 रु मजदूरी पर 9 मजदूर लगाए जाएँगे, जिन्हें चित्र में B बिन्दु से दर्शाया गया है। अत DD वक्र एक फर्म के लिए श्रम का माँग वक्र होता है।

---

* जैसा कि पहले कहा जा चुका है फर्म साधन बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में होती है। अत इसके लिए साधन की कीमत दी हुई होती है।

एक साधन के लिए उद्योग के दृष्टिकोण से माँग-वक्र* (Demand Curve for a Factor from the Point of View of an Industry)—जिस प्रकार वैयक्तिक उपभोक्ताओं के लिए एक वस्तु के माँग वक्रो को जोडकर उस वस्तु का बाजार माँग वक्र बनाया जा सकता है, उसी प्रकार फर्मों के लिए एक साधन के माँग वक्रों को जोडकर उस साधन का उद्योग के लिए माँग वक्र बनाया जा सकता है, जो उपर्युक्त वक्र की भाँति नीचे की ओर झुकता हुआ होता है। लेकिन इस जोड की प्रक्रिया में एक कठिनाई आती है। यदि एक साधन की कीमत घट जाए तो सभी फर्में इसका अधिक मात्रा मे उपयोग करके माल का उत्पादन बढा देती हैं जिससे उस वस्तु की कीमत भी घट जाती है और अन्त में स्वयं MRP भी प्रभावित हो जाती है। फिर भी एक साधन का उद्योग माँग वक्र नीचे की ओर झुकता हुआ ही होता है।

हम निम्नांकित चित्र 2 (आ) में मजदूरी के घटने की स्थिति में एक फर्म के लिए श्रम के MRP वक्र पर पडने वाले वाले प्रभाव को स्पष्ट करेंगे।
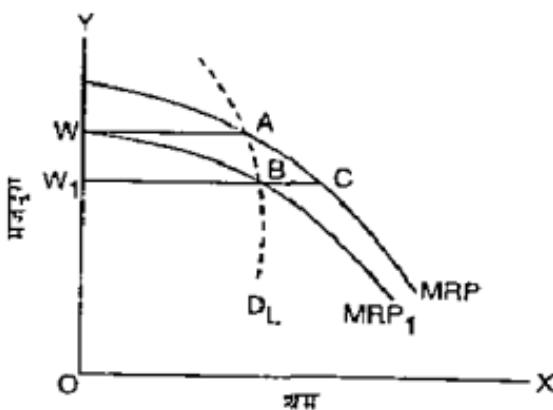
चित्र 2 (आ) -एक फर्म के लिए श्रम का माँग वक्र (मजदूरी की दर के घटने का प्रभाव)

चित्र 2 (अ) में एक साधन का माँग वक्र इस मान्यता के आधार पर बनाया गया था कि मजदूरी की दर के घटने से फर्म के लिए वस्तु की कीमत अपरिवर्तित बनी रहती है। अब हम इस मान्यता को छोड देते हैं, ताकि एक उद्योग के लिए साधन का माँग वक्र बना सकें। मजदूरी की दर के घटने से सभी फर्में अधिक मात्रा में श्रम का उपयोग करके अधिक उत्पादन करती हैं, जिससे वस्तु की कीमत घट जाती है। अत सभी फर्मों के लिए वस्तु की कीमत कम हो जाती है, जिससे फर्म का MRP वक्र भी नीचे की ओर खिसक जाता है। चित्र 2 (आ) में मजदूरी की दर के W से घटकर W_1 हो जाने से फर्म का MRP वक्र घटकर MRP_1 पर आ जाता है। अत W मजदूरी पर श्रम की माँग WA थी, जो W_1 मजदूरी पर W_1B होती है, न कि W_1C।

* एक साधन के लिए उद्योग के माँग-वक्र (industry demand curve) को ही उसका बाजार माँग-वक्र (market demand curve) भी कहा जाता है।

है। हम नीचे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं कि सीमान्त आय उत्पत्ति (MRP) कुल आय मे होने वाला वह परिवर्तन है जो परिवर्तनशील साधन की एक अतिरिक्त इकाई से प्राप्त उत्पत्ति की बिक्री से उत्पन्न होता है। इसे कॉलम (6) में दर्शाया गया है।

चूँकि एकाधिकारी को अधिक माल बेचने के लिए कीमत घटानी होती है। अत कॉलम (4) म कीमत 4 रुपये प्रति इकाई से क्रमश घटती हुई दर्शायी गयी है, जो अन्त में 3 10 रुपये प्रति इकाई हो जाती है। कॉलम (5) में उत्पत्ति की विभिन्न मात्राओं को बेचने से प्राप्त कुल आय (TR) दिखाई गई है। अतिम कॉलम (6) में, MRP दिखालाई गई है, जो एक अतिरिक्त श्रमिक से प्राप्त उत्पत्ति की बिक्री से कुल आय में होने वाली वृद्धि को सूचित करती है।

हमने सारणी 2 मे सीमान्त आय (MR) का कॉलम अलग से नही बनाया है। लेकिन उसे बनाने मे कोई कठिनाई नही होती है, जसे माल की छ इकाई (कॉलम 3) पर कुल आय की वृद्धि (कॉलम 6) 22 90 रुपये होती है। अत: एक इकाई पर कुल आय वृद्धि = MR = $\frac{22\ 90}{6}$ रु. होगी। इसी प्रकार अगली MR की मात्रा $\frac{40\ 70}{11}$ *रुपए होगी, और यह क्रम आगे भी जारी रहेगा। अत यह समझना आसान है* कि MR को लेने पर MRP = MPP × MR परिभाषित की जा सकती है, जैसे ऊपर MRP की प्रथम राशि (कॉलम 6 में) = MPP × MR = 6 × $\frac{22\ 90}{6}$ = 22 90 रुपए होगी, दूसरी राशि = 11 × $\frac{40\ 70}{11}$ = 40 70 रुपए होगी, आदि, आदि। लेकिन व्यवहार मे MR के माध्यम मे MRP निकालने की जरूरत नही पड़ती है, क्योंकि MRP को निकालने के लिए केवल ΔTR (TR की वृद्धि) जानने से हमारा काम चल जाता है। लेकिन यहाँ MRP = MPP × MR को जानना इसलिए आवश्यक है कि वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा के पाए जाने पर MRP = MPP × price (AR) = VMP होती है। लेकिन वस्तु-बाजार मे एकाधिकार के पाए जाने पर MRP = MPP × MR होती है। इससे दोनो दशाओ का मूल-भेद पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है, जो अध्ययन के लिए बहुत आवश्यक होता है।

वस्तु-बाजार मे एकाधिकार की स्थिति मे फर्म का MRP वक्र पहले की भाँति बढ़ता है और एक बिन्दु के बाद घटता है। लेकिन यह अधिक तेजी से घटता है। यहाँ भी MRP वक्र का नीचे की ओर झुकता हुआ हिस्सा ही फर्म के लिए उस साधन के माँग वक्र का सूचक होता है। यहां पर भी साधन की कीमत फर्म के लिए दी हुई होती है। उसे दी हुई कीमत पर साधन की लगाई जाने वाली मात्रा का निश्चय करना होता है। उपर्युक्त दृष्टान्त में 98.50 रुपये मजदूरी की दर पर फर्म 6 मजदूर लगाएगी, 82.30 रुपये मजदूरी पर 7 मजदूर, 70 30 रुपये मजदूरी पर 8 मजदूर लगाएगी, इत्यादि। इस प्रकार साधन-बाजार मे पूर्ण प्रतिस्पर्धा व वस्तु-बाजार मे एकाधिकार की स्थिति मे फर्म के लिए एक साधन का माँग वक्र उस साधन के MRP वक्र का नीचे की ओर झुकता हुआ अश ही होता है।

फर्म का सतुलन—जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है एक फर्म के लिए एक साधन की कीमत दी हुई होती है। इसलिए इस साधन की इकाइयाँ उस सीमा तक लगानी होती है जहाँ पर साधन को दी जाने वाली कीमत इसकी सीमान्त-आय-सम्पत्ति (MRP) के बराबर हो जाती है। यह स्थिति निम्न चित्र में दर्शायी गयी है।
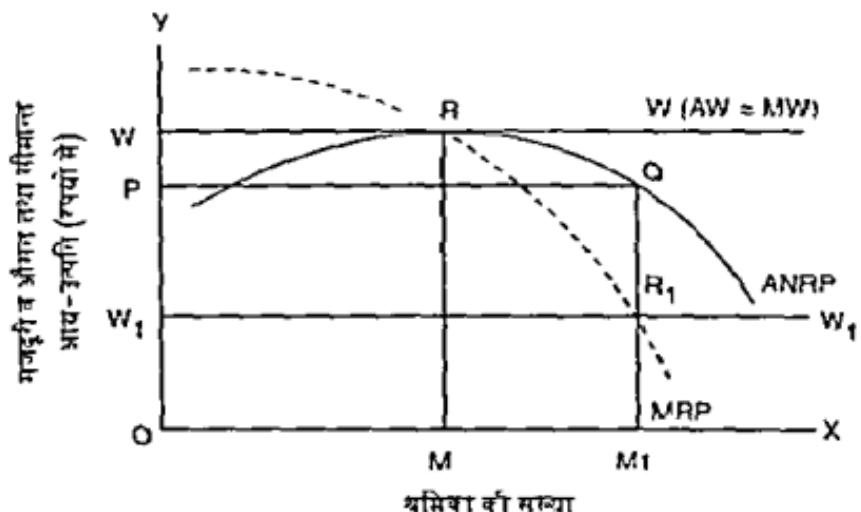
चित्र 3-फर्म का सतुलन (साधन बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा तथा वस्तु बाजार में एकाधिकार)

चित्र 3 में OW मजदूरी की दर पर फर्म श्रमिकों की OM मात्रा लगाती है। WW रेखा औसत मजदूरी (AW) व सीमान्त मजदूरी (MW) को सूचित करती है। MRP वक्र साधन की सीमान्त आय उत्पत्ति का वक्र होता है और ANRP वक्र साधन की औसत विशुद्ध आय उत्पत्ति (average net revenue product) का वक्र होता है। श्रमिकों की OM मात्रा को लगाने से फर्म को केवल सामान्य लाभ ही मिल पाता है। लेकिन मजदूरी के घटकर OW_1 हो जाने से फर्म OM_1 श्रमिक लगाती है, जिससे फर्म को PW_1R_1Q असामान्य लाभ (Abnormal profit) प्राप्त होता है। कुल आय में श्रमिकों की संख्या का भाग देने से औसत आय-उत्पत्ति (ARP) निकल आती है। यह औसत सकल आय-उत्पत्ति (AGRP) होती है। इसमें से अन्य साधनों का प्रतिफल निकाल देने से यह *औसत विशुद्ध आय-उत्पत्ति (ANRP) बन जाती है।* स्टोनियर व हेग ने बतलाया है कि श्रम की शुद्ध उत्पादकता इस मान्यता के आधार पर निकाली जा सकती है कि हमें अन्य सहयोगी साधनों के समय प्रतिफल की स्वतंत्र रूप से जानकारी होती है। श्रमिकों के प्रत्येक रोजगार की मात्रा पर हम फर्म की सकल आय (gross revenue) में से अन्य साधनों का समग्र प्रतिफल घटा देते हैं, जिससे श्रम की कुल शुद्ध आय उत्पादकता का ज्ञान हो जाता है।

साराश—ऊपर हमने सीमान्त आय उत्पत्ति वक्र (MRP curve) का विस्तृत विवेचन करके यह बतलाया है कि यदि एक फर्म अपना लाभ अधिकतम करना चाहती है और साधन की खरीद प्रतिस्पर्धात्मक दशाओं में की जाती है, तो साधन के सीमान्त आय उत्पत्ति वक्र से ही फर्म के लिए उस साधन के माँग वक्र का निर्माण किया जा सकता है। ऐसा प्रत्येक स्थिति में सही होगा, चाहे वस्तु की बिक्री पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में की जाए अथवा अपूर्ण प्रतिस्पर्धा या एकाधिकार की दशाओं में की जाए। **सन्तुलन की स्थिति मे एक साधन की कीमत उसकी सीमान्त आय उत्पत्ति के बराबर होती है (factor-price = MRP of a factor) यही सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त का सार है जिस पर गहराई से ध्यान देने की आवश्यकता हे।**

वितरण के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के पक्ष विपक्ष में बहुत कुछ कहा गया है। वास्तव में इस सिद्धान्त के निष्कर्ष बहुत थोडे माने गए हैं और वे ज्यादा विवादग्रस्त भी नही हैं। इनके मुख्य निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

(1) साधनों की माँग साधनों के द्वारा निर्मित वस्तुओं की माँग पर निर्भर करती है और यह उसी के अनुसार परिवर्तित होती है,

(2) साधन की माँग पर उत्पादन की तकनीकी दशाओं का प्रभाव पडता है,

(3) साधन के पूर्ति वक्र के अपरिवर्तित रहने पर साधन कीमत में परिवर्तन होने से साधन द्वारा निर्मित वस्तुओं की माँग में भी परिवर्तन हो जाते हैं, तथा

(4) साधन कीमतों में परिवर्तन होने पर विभिन्न फर्मों व उद्योगों के बीच साधन गतिशील होते हैं।

ये निष्कर्ष विवादास्पद नही हैं और नीति सम्बन्धी मामलों में इनका काफी महत्त्व होता है।

लिप्से व क्रिस्टल के अनुसार, सीमान्त-उत्पादकता सिद्धान्त उत्पादन के साधनो की माँग को समझाता है। जैसा कि अध्याय के आरम्भ में बतलाया गया है कि यह वितरण के परम्परागत सिद्धान्त का आधा भाग होता है। दूसरा आधा भाग पूर्ति सिद्धान्त होता है, जो यह बतलाता है कि साधन विभिन्न व्यवसायों के बीच अधिकतम शुद्ध लाभों (maximum net advantages) की खोज मे गतिमान होते रहते हैं। **अधिकतम शुद्ध लाभो का आकलन करने के लिए मौद्रिक व गैर मौद्रिक (monetary and non monetary) दोनो प्रकार के लाभो पर विचार करना होता है, क्योंकि श्रमिको की गतिशीलता पर गैर-मौद्रिक तत्त्वो का भी विशेष रूप से प्रभाव पड़ता है।** श्रमिक प्राय जलवायु भाषा, दूरी आदि कारणों से अपना स्थान छोडने में कठिनाई महसूस करते हैं। वे एक ही प्रदेश में व एक ही व्यवसाय में तो गतिमान होते रहते हैं, लेकिन भिन्न भिन्न प्रदेशों व भिन्न भिन्न व्यवसायों में गतिमान होने में कठिनाई महसूस करते हैं।

वितरण के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की आलोचनाएँ कुछ मिथ्या धारणाएँ (Some common misconceptions)—पहले बतलाया जा चुका है कि वितरण के सीमान्त-उत्पादकता सिद्धान्त की काफी आलोचनाएँ की गई हैं। लेकिन अधिकाश

आलोचनाएँ मिथ्या धारणाओं पर आश्रित होने के कारण निरर्थक, अनावश्यक व गलत मानी जाती हैं। हम नीचे कुछ मिथ्या धारणाओं व गलत आलोचनाओं का उल्लेख करते हैं—

(1) सभी बाजारों में पूर्ण प्रतिस्पर्धा की मान्यता—आलोचकों का मत है कि इस सिद्धान्त में सभी बाजारों में पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति मान ली गई है। यह बात सही नहीं है क्योंकि हम प्रारम्भ में कह चुके हैं कि इस सिद्धान्त में केवल साधन-बाजार में ही पूर्ण प्रतिस्पर्धा मानी जाती है एवं उसमें फर्म साधन कीमत को स्वीकार करके चलती है। लेकिन वस्तु-बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा अथवा एकाधिकार में से कुछ भी पाया जा सकता है। प्रत्येक स्थिति में साधन के सीमान्त आय उत्पत्ति (MRP) वक्र से ही उस साधन का माँग वक्र निर्धारित होता है। इसके अलावा भी सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त कई प्रकार की मान्यताओं पर आश्रित माना गया है लेकिन हमने फर्म के द्वारा लाभ-अधिकतमकरण व साधन-बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा की मान्यताओं के आधार पर इसके प्रमुख निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं, जो तार्किक दृष्टि से सही माने जा सकते हैं।

(2) पूर्ण रोजगार की मान्यता—दूसरी आलोचना यह की जाती है कि इस सिद्धान्त में साधन की कीमत तभी निर्धारित होती है जबकि साधन की उपलब्ध मात्रा का उद्योग में पूर्ण उपयोग किया जाए, जैसे, श्रम के सम्बन्ध में पूर्ण रोजगार की स्थिति होनी चाहिए। लेकिन इस मान्यता से कोई कठिनाई नहीं होती, क्योंकि साधन की कीमत निर्धारण में साधन की पूर्ति के सम्बन्ध में कोई मान्यता तो स्वीकार करनी ही होगी। यदि साधन की उपलब्ध मात्रा बढ़ जाती है तो इस सिद्धान्त के अनुसार साधन की कीमत घट जाती है। अतः यह निष्कर्ष गलत नहीं माना जा सकता है।

(3) फर्मों के लिए सीमान्त उत्पत्ति के मूल्य का ज्ञान मान लिया गया है—तीसरी आलोचना यह है कि इस सिद्धान्त में यह मान लिया गया है कि एक साधन की सीमान्त उत्पत्ति की मात्रा व मूल्य का उद्यमकर्त्ताओं या फर्मों को ज्ञान होता है। यह आलोचना भी निरर्थक है। सिद्धान्त का तो केवल यह कहना है कि जब तक फर्म अपने लाभ अधिकतम करना चाहती है तब तक साधनों को उनकी सीमान्त उत्पत्ति के मूल्य के बराबर प्रतिफल मिल सकेगा। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि सीमान्त आय उत्पत्ति के अनुसार भुगतान स्वतः होता जाता है। इसमें यह प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता चूंकि फर्मों को सीमान्त आय उत्पत्ति का पता नहीं होता, इसलिए इसके बराबर साधन की कीमत कैसे निर्धारित होगी ?

(4) मालिकों द्वारा साधनों का शोषण नहीं हो सकता—आलोचकों का कहना है कि इस सिद्धान्त के अनुसार मालिकों के द्वारा उत्पादन के साधनों का शोषण नहीं हो सकता, क्योंकि सभी साधनों का प्रतिफल उनकी सीमान्त आय उत्पत्ति के बराबर होता है। यह आलोचना भी सही नहीं है। पहले बतलाया जा चुका है कि यह सिद्धान्त साधन बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा को मानकर चलता है। एक फर्म के लिए साधन की कीमत दी हुई होती है। उसे तो दी हुई साधन कीमत पर साधन की लगाई जाने वाली मात्रा ही निर्धारित करनी होती है। मान लीजिए मजदूरी 3 रुपये होती है और 10

श्रमिकों के लगाए जाने पर श्रम की सीमान्त आय उत्पत्ति (MRP) 4 रु होती है, तो फर्म को अधिक श्रमिक लगाने चाहिए ताकि वह अपने लाभ को अधिकतम कर सके। अत लाभ अधिकतमकरण की मान्यता पर साधन की कीमत उसकी सीमान्त-आय-उत्पत्ति के बराबर हो जाती है। साधन बाजार में क्रेता एकाधिकार (monopsony) की स्थिति में मजदूरी की मात्रा सीमान्त आय उत्पत्ति (MRP) से कम हो सकती है। लेकिन इससे प्रतिस्पर्धात्मक साधन बाजार का यह सिद्धान्त गलत सिद्ध नही हो जाता।

(5) सिद्धान्त अमानवीय व निष्ठुर किस्म का है—कुछ आलोचकों का मत है कि यह सिद्धान्त अमानवीय व क्रूर किस्म का है क्योंकि यह मानवीय साधन श्रम व भौतिक साधन कोयला, खाद और मशीन आदि में कोई भेद नहीं करता। सभी कीमतों को उसकी सीमान्त आय उत्पत्ति से जोड देता है। लिप्से व क्रिस्टल ने भी माना है कि इन्सान की मजदूरी को मात्र श्रम के पूर्ति वक्र व श्रम के सीमान्त आय वक्र से जोड देना अखरने वाला लगता है। लेकिन इस आलोचना में भी कोई सार नही है, क्योंकि सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र में ऐसा होना अनुचित या अस्वाभाविक नहीं माना जाता है। **यह सिद्धान्त साधनें के माँग पक्ष पर विचार करता है और मानवीय व गैर मानवीय सभी प्रकार के साधनो का एक ही प्रकार से अध्ययन करता है।**

(6) एक साधन की प्रत्येक उद्योग में समान कीमत—आलोचकों का कहना है कि सिद्धान्त में यह मान लिया गया है कि साधन की प्रति इकाई कीमत प्रत्येक उद्योग में एक सी होती है। यह आलोचना भी ठीक नही है, क्योंकि सिद्धान्त में ऐसा कुछ भी नही माना गया है। सिद्धान्त तो केवल यह कहता है कि शुद्ध लाभों के बराबर होने तक श्रमिक विभिन्न उद्योगों के बीच गतिमान होते रहते हैं। लेकिन श्रम की गतिशीलता में कमी तथा अन्य गैर मौद्रिक कारणों से एक साधन के लिए असमान भुगतान भी पाए जा सकते हैं।

(7) एक साधन की इकाइयाँ एक सी मान ली गयी है—आलोचकों का कहना है कि यह सिद्धान्त एक साधन की सभी इकाइयों को एक सी या समरूप मान लेता है, जबकि व्यवहार में ये भिन्न होती हैं। लेकिन यह आलोचना भी सारपूर्ण नहीं है क्योंकि एक साधन की इकाइयों को एक सा माने बिना सिद्धान्त की रचना करने में कठिनाई होती है। फिर यह मान्यता विशेषतया श्रम के सम्बन्ध में अव्यावहारिक भी नहीं है।

(8) साधन की पूर्ण विभाज्यता की मान्यता—आलोचकों का विचार है कि इस सिद्धान्त में एक साधन की पूर्ण विभाज्यता (perfect divisibility) मान ली गयी है, जो व्यवहार में सभव नहीं होती है। इससे साधन कीमत को साधन की सीमान्त आय-उत्पत्ति के बराबर करने में कठिनाई होती है। मान लीजिए 20 श्रमिकों के लिए MRP = 5 रुपए और 21 श्रमिकों के लिए MRP=4 रुपए होती है तो 5 रुपए मजदूरी होने पर 20 श्रमिक एव 4 रुपए मजदूरी होने पर 21 श्रमिक लगाए जाएँगे। लेकिन आलोचक पूछते हैं कि $4\frac{1}{2}$ रुपए मजदूरी पर कितने श्रमिक लगाए जाएँगे। 20 से 21 के बीच श्रमिकों की कोई संख्या नहीं होती है। वास्तव में यह कठिनाई काल्पनिक ठीक है

क्योकि अर्थशास्त्र के नियमो को केवल प्रवृत्ति के रूप मे ही लिया जाना चाहिए। एक फर्म यथासम्भव अपने लाभ को अधिकतम करने का प्रयास कर सकती है और उसमे साधन की कीमत = साधन की सीमान्त आय उत्पत्ति का नियम काफी सहायक होता है।

(9) साधनो का सयोग परिवर्तनशील मान लिया गया है—आलोचक कहते हैं कि इस सिद्धान्त म साधनो के सयोग का परिवर्तन माना गया है जबकि व्यवहार में कभी कभी साधनो के *अनुपात स्थिर (fixed factor proportions)* रहते हैं जैसे बस व बस चालक। यह तो निश्चित है कि यह सिद्धान्त ह्रासमान प्रतिफल नियम पर आधारित है जिसम साधनो के अनुपातो को परिवर्तशील माना जाता है। एक या अधिक स्थिर *साधनो के साथ एक या परिवर्तनशील साधन की मात्राएँ बढायी जाती हैं जिसमे* एक सीमा के बाद सीमान्त भौतिक उत्पत्ति (MPP) घटती है। आधुनिक टेक्नोलोजी ने साधन-अनुपातो को काफी सीमा तक परिवर्तनशील बना दिया है। स्थिर साधन अनुपात *तो बहुत कम दशाओ मे ही पाया जाता है। अत यह आलोचना भी विशेष सार्थक* या सारपूर्ण नही है।

(10) यह सिद्धान्त साधन के कीमत-निर्धारण को नहीं समझाता—सिद्धान्त के सबध मे एक भ्रम यह भी पाया जाता है कि यह साधन के कीमत-निर्धारण को नही समझाता, बल्कि यह तो केवल दी हुई साधन कीमत पर एक फर्म के द्वारा उसकी लगायी जाने वाली मात्राओ को ही निर्धारित करता है। हम पहले बतला चुके हैं कि फर्मों के लिए एक साधन का MRP वक्र उस साधन का माँग-वक्र होता है, और सभी फर्मों के लिए साधन के माँग-वक्रों को जोडकर (MRP वक्र मे आवश्यक परिवर्तन करके) साधन का उद्योग के लिए माँग वक्र बनाया जाता है। फिर इसके पूर्ति-वक्र की सहायता से इस साधन की कीमत निर्धारित होती है। अत पाठकों को विश्लेषण की विभिन्न कड़ियों में आवश्यक सबध स्थापित करके देखना चाहिए, तभी यह सिद्धान्त पूरी तरह स्पष्ट हो पाएगा।

(11) रोजगार की मात्रा केवल मजदूरी की दर पर ही निर्भर—आलोचको का *मत है कि इस सिद्धान्त के अनुसार, रोजगार की मात्रा केवल मजदूरी की दर पर ही* निर्भर करती है, इसलिए मजदूरी कम करने से देश मे रोजगार बढाया जा सकता है। यह आलोचना भी भ्रमात्मक है, क्योकि मजदूरी की दर तो श्रम के माँग वक्र व पूर्ति वक्र से निर्धारित होती है। दी हुई मजदूरी पर एक फर्म श्रम की लगायी जाने वाली मात्रा निर्धारित करती है। यह तो सही है कि मजदूरी के घटने मे एक फर्म अधिक श्रमिको का उपयोग करके ही अपने लाभ अधिकतम कर सकेगी। अत मजदूरी के घटने से एक फर्म अधिक मात्रा में श्रमिको का उपयोग करेगी। लेकिन इसमे यह निष्कर्ष नही निकलता कि इस सिद्धान्त के अनुसार रोजगार की मात्रा केवल मजदूरी की दर पर ही निर्भर करती है।

(12) इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी के निर्धारण मे मजदूर-सघो का कोई योगदान नही होता—यदि मजदूर सघ ऊँची मजदूरी प्राप्त करने मे सफल हो जाते हैं तो

इस सिद्धान्त के अनुसार उद्यमकर्ता पहले से कम श्रमिक काम पर लगायेंगे जिससे बेरोजगारी की दशा उत्पन्न हो जाएगी। लेकिन हमें यह स्मरण रखना होगा कि साधन बाजार म अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में श्रमिकों का मालिको के द्वारा शोषण होता है, और उन्हें नीची मजदूरी दी जाती है। इसलिए मजदूर सघ ऐसी स्थिति में मजदूरी बढवाकर मजदूरो को शोषण से बचा सकते है। लेकिन हमने **इस सिद्धान्त की रचना म साधन बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति मानी है।** अत मजदूर सघों के हस्तक्षेप अथवा सरकारी हस्तक्षेप के प्रभाव पर अलग से विचार करना होगा।

(13) यदि प्रत्येक साधन को उसका प्रतिफल सीमान्त उत्पादकता के आधार पर दिया जाता है तो समस्त उत्पत्ति की मात्रा वितरण के बाद समाप्त हो जाती है। इसे 'उत्पत्ति समाप्त होने की थ्योरम या प्रमेय' (product exhaustion theorem) कहते हैं। आलोचकों का मत है कि यह थ्योरम पैमाने के स्थिर प्रतिफलों (constant returns to scale) की स्थिति में ही लागू होती है। यह अन्य परिस्थितियों में लागू नहीं होती। यहाँ सिद्धान्त को माइक्रो क्षेत्र से हटाकर मैक्रो क्षेत्र में पेश किया गया है, जबकि हमने सिद्धान्त को केवल माइक्रो क्षेत्र में ही लागू किया है। अत यह आलोचना भी उचित नहीं मानी जा सकती।

(14) साधन की कीमत आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक सगठन पर निर्भर करती है—हम जानते हैं कि श्रम, भूमि व पूँजी आदि के प्रतिफल पूँजीवादी व साम्यवाद में भिन्न भिन्न प्रकार से निश्चित होते हैं। यह सिद्धान्त फर्म द्वारा लाभ अधिकतमकरण का लक्ष्य मानकर चलता है। अत यह निजी उद्यमवाली अर्थव्यवस्था की मान्यता पर ही आधारित है। यह कई प्रकार की दशाओं को स्पष्ट नहीं कर पाता जैसे, पुरुष व स्त्रियों की मजदूरी में अन्तर, चोटी के अधिकारियों के वेतन ऊँचे होना आदि।

हमने ऊपर सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की विभिन्न आलोचनाओं की समीक्षा करके यह निष्कर्ष निकाला है कि अधिकाश आलोचनाएँ अनावश्यक व निरर्थक किस्म की हैं। सिद्धान्त को सही ढग से समझने पर इसकी सरलता व उपयोगिता स्पष्ट हो जाती है। वितरण का कोई भी अन्य सिद्धान्त इससे ज्यादा उत्तम नहीं है। फर्म के लिए लाभ अधिकतमकरण की मान्यता व साधन बाजार में फर्म के लिए पूर्ण प्रतिस्पर्धा की मान्यता से यही निष्कर्ष निकलता है कि सन्तुलन में साधन की कीमत (factor price) इसकी सीमान्त आय-उत्पत्ति (MRP) के बराबर होती है।

सिद्धान्त की कमियाँ—वितरण के सिद्धान्त के रूप में सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त में निम्न कमियाँ अवश्य पाई जाती हैं—(1) **एक कमी तो यह है कि यह साधन के माँग-पक्ष पर ही** विचार करता है और पूर्ति पक्ष पर नहीं। इसलिए इसे **एक-पक्षीय सिद्धान्त माना गया है।** (2) दूसरी कमी यह है कि यह **सिद्धान्त श्रम के अलावा उत्पादन के अन्य साधनो की कीमतो को ठीक से नही समझा पाता।** भूमि, पूँजी व उद्यमकर्त्ता विश्लेषण की दृष्टि से अपने अपने क्षेत्रों में समरूप नहीं होते। पूँजी की चर्चा में हम पूँजीगत पदार्थ मशीनरी आदि को लेते हैं और मशीनरी के प्रतिफल काफी वर्षों तक मिलते रहते हैं। एक मशीन लगाने पर वह कई वर्षों तक काम देती रहती है। (3) इसी

प्रकार उद्यमकर्ता की सीमान्त उत्पादकता का पता लगाना भी आसान नहीं होता। यही कारण है कि पूँजी व उद्यम के प्रतिफल निर्धारित करने के लिए अन्य सिद्धान्तों का उपयोग किया गया है।

श्रीमती जोन रोबिन्सन ने सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की काफी आलोचना की है। इसी प्रकार श्राफा (Sraffa) तथा निकोलस केल्डोर ने भी इस सिद्धान्त के प्रति अपनी असहमति प्रकट की है। इन अर्थशास्त्रियों का विचार है कि रिकार्डो व मार्क्स आदि के क्लासिकल सिद्धान्तों का सहारा लेकर वितरण का समष्टि सिद्धान्त (macro-theory of distribution) विकसित किया जाना चाहिए। अतः वितरण का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त व्यष्टि-समस्याओं (micro-problems) के लिए उपयुक्त है, लेकिन समष्टि-समस्याओं की दृष्टि से यह उपयुक्त नहीं है। इसलिए आधुनिक अर्थशास्त्री वितरण के समष्टि-सिद्धान्त को विकसित करने में प्रयत्नशील हैं।

वेब्लन का भी मत है कि वितरण का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त एक व्यष्टिमूलक आर्थिक सिद्धान्त है और इसके साथ कीन्स के उत्पत्ति व रोजगार के सिद्धान्त का समावेश करने की नितान्त आवश्यकता है। लेकिन सिद्धान्त के प्रति सही दृष्टिकोण अपनाते हुए यह कहना उचित होगा कि यदि एक फर्म अपना लाभ अधिकतम करना चाहती है और उस साधन-बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा पायी जाती है तो एक साधन की कीमत उस साधन की सीमान्त आय उत्पत्ति (MRP) के बराबर ही होती है। इस प्रकार इस सिद्धान्त का निष्कर्ष काफी सरल व सारपूर्ण माना गया है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते हैं कि सीमान्त-आय-उत्पत्ति (MRP) के माप में कठिनाइयाँ होने पर भी इसके निष्कर्ष काफी सरल व महत्वपूर्ण माने गये हैं। अधिकांश आलोचनाओं में इस सिद्धान्त की मान्यताओं पर ही आपत्ति उठायी गई है, लेकिन मान्यताओं पर निरंतर प्रहार करना उचित नहीं माना जाता, क्योंकि सम्पूर्ण सिद्धान्त का ढाँचा, उसके तर्क व निष्कर्ष इन्हीं पर आधारित होते हैं। प्रत्येक आर्थिक सिद्धान्त की अपनी मान्यताएँ होती हैं जिनके आधार पर इसकी रचना की जाती है।

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. एक साधन की माँग पर कौन-सा कथन सही माना जाता है ?
   (अ) यह व्युत्पन्न माँग होती है
   (ब) यह संयुक्त माँग होती है
   (स) यह प्रत्यक्ष माँग नहीं होती है
   (द) सभी कथन (द)
2. एक साधन की माँग की लोच कब अधिक होती है ?
   (अ) जब उसके स्थानापन्न अधिक होते हैं

(ब) 'जब कुल लागत में उसका अंश ऊँचा होता है'
(स) जब उसके द्वारा उत्पादित वस्तु की माँग की लोच अधिक होती है
(द) सभी दशाएँ (द)

3 एक साधन की कीमत निर्धारण में सीमान्त आय उत्पत्ति (MRP) की अवधारणा का उपयोग कब बहुत आवश्यक माना जाता है ?
(अ) जब साधन-बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा व वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा हो
(ब) जब साधन बाजार में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा व वस्तु-बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा हो
(स) जब साधन बाजार में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा व वस्तु बाजार में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा हो
(द) जब दोनों प्रकार के बाजारों में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा हो (स)

4 सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की मुख्य कमी क्या है ?
(अ) यह केवल साधन के माँग पक्ष पर विचार करता है
(ब) इसकी मान्यताएँ गलत हैं
(स) यह व्यवहार में लागू नहीं होता है
(द) सभी (अ)

अन्य प्रश्न

1 वितरण के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
[Raj IIyr. 2000, MDSU, Ajmer 2000]

2 निम्न आँकड़ों की सहायता से सीमान्त उत्पादकता (MRP) ज्ञात कीजिए और बतलाइए कि यदि मजदूरी की दर रु 8 90 होती है तो श्रम की कितनी इकाइयों का प्रयोग किया जाएगा ?

श्रम (इकाइयाँ)	2	3	4	5	6
कुल उत्पादन (इकाइयाँ)	25	37	47	55	60
वस्तु की कीमत (रु प्रति इकाई)	2 00	1 90	1.80	1 70	1 60

[उत्तर-संकेत—यहाँ वस्तु-बाजार में एकाधिकार/अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति पायी जाती है। अत

TR = कुल उत्पादन × वस्तु की कीमत

= 50 00, 70.30, 84 60, 93.50 तथा 96 रुपए होगा।

अत श्रम की इकाइयाँ	3	4	5	6
MRP = ΔTR = (रु)	= 20.30	14.30	8 90	2.50

अत 8 90 रुपए मजदूरी की दर पर 5 श्रमिक लगाए जायेंगे।]

3 निम्न अनुसूचियाँ एक उत्पादन के साधन की पूर्ति व माँग से सम्बधित है—

साधन का मूल्य (रुपयो मे)	पूर्ति की मात्रा	माँग की मात्रा
9	0	25
10	6	15
15	6	8
20	7	7
25	10	5
30	30	5

निम्नलिखित के उत्तर दीजिए—

(अ) 10 रु व 15 रु के बीच के साधन की पूर्ति की लोच क्या है ?

(ब) साधन की सतुलन-कीमत क्या है ?

(स) साधन का कुल भुगतान क्या है ?

(द) 25 रु व 30 रु के बीच साधन की माँग की लोच क्या है ?

उत्तर—(अ) $e_s = 0$

(ब) 20 रु जहाँ साधन की कुल माँग = कुल पूर्ति = 7 इकाई के

(स) साधन का कुल भुगतान = 140 रु

(द) $e_d = 0$]

4 निम्नलिखित में अन्तर स्पष्ट कीजिए—

(i) वस्तु मूल्य निर्धारण तथा साधन मूल्य निर्धारण।

5 उत्पादन के उपादानों (Factors of Production) की कीमत पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत किस प्रकार निर्धारित होती है ? समझाइए। साधनों (factors) के मूल्य निर्धारण तथा वस्तु के मूल्य निर्धारण में क्या अन्तर होता है ?

6 निम्न सारणी के आधार पर MPP व MRP निकालिए—

साधन की मात्राएँ	कुल उत्पत्ति (TP)	वस्तु की कीमत (रुपयो में)
1	40	2
2	100	2
3	180	2
4	250	2
5	310	2
6	360	2

(अ) 100 रु प्रति इकाई लागत पर साधन की कितनी इकाइयाँ लगायी जाएँगी?

(ब) साधन की कीमत के 140 रु हो जाने पर कितनी इकाइयाँ लगायी जाएँगी?

(स) साधन की माँग-अनुसूची बताइये।

[उत्तर MPP = 40, 60, 80, 70, 60, 50

MRP = *80 रु, 120 रु, 160 रु, 140 रु, 120 रु, 100 रु,*

(अ) 6, (आ) 4, (इ) साधन की कीमत (रु) 160, 140, 120 व 100 होने पर श्रम की माँग की मात्रा क्रमश 3, 4, 5 व 6 होगी।]

7 यदि प्रश्न संख्या 6 में वस्तु की कीमत क्रमश 3.20, 3.00, 2.70, 2.50, 2.10 तथा 1.80 रुपए होती तो MRP कॉलम कैसा होता? साधन की माँग-अनुसूची निकालिए।

[उत्तर— रुपए

TP	MPP	Price (AR)	TR	MRP=ΔTR
(1)	(2)	(3)	(4)=(1)×(3)	(5)
40	40	3.20	128	128
100	60	3.00	300	172
180	80	2.70	486	186
250	70	2.50	625	139
310	60	2.10	651	26
560	50	1.80	648	−3

साधन की कीमत क्रमश 186 रु 139 रु. व 26 रु होने पर माँग की मात्रा क्रमश 3, 4 तथा 5 होगी।]

8 निम्न आँकड़ों के आधार पर एक साधन की माँग-अनुसूची का निर्माण कीजिए—

साधन की मात्राएँ (Quantities of the Factor)	कुल उत्पत्ति (TP)	वस्तु की कीमत (रुपयों में) (Product-Price)
1	4	2
2	10	2
3	18	2
4	25	2
5	31	2
6	36	2

[उत्तर—

साधन की मात्राएँ (Factor-quantities)	कुल उत्पत्ति (TP)	वस्तु की कीमत (Product-Price)	सीमान्त भौतिक उत्पत्ति (MPP) कॉलम 2 से प्राप्त	MRP=VMP= MPP×price (3)×(4)
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)
1	4	2	4	8
2	10	2	6	12
3	18	2	8	16
4	25	2	7	14
5	31	2	6	12
6	36	2	5	10

अत साधन की माँग अनुसूची इस प्रकार होगी—

साधन की कीमत	माँग की मात्रा
16	3
14	4
12	5
10	6

9 निम्न आँकडों का उपयोग करके सीमान्त आगम-उत्पत्ति (MRP) का कॉलम बनाइए तथा 26 रु की साधन कीमत पर उसकी माँग की मात्रा ज्ञात कीजिए—

साधन की मात्रा	कुल उत्पत्ति	वस्तु की कीमत (रु. मे)
1	40	3.20
2	100	3 00
3	180	2 70
4	250	2.50
5	310	2 10
6	360	1 80

27

वितरण का आधुनिक सिद्धान्त तथा अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में साधन-कीमत-निर्धारण

(Modern Theory of Distribution and Factor-Pricing Under Imperfect Competition)

वितरण का माँग व पूर्ति का सिद्धान्त

जिस प्रकार एक वस्तु की कीमत उसकी माँग व पूर्ति के सन्तुलन से निर्धारित होती है उसी प्रकार एक साधन की कीमत भी मूलतया इसकी माँग व पूर्ति की शक्तियों से निर्धारित होती है। लेकिन एक साधन की माँग और वस्तु की माँग का निर्धारण एक-सा नहीं होता, क्योंकि साधन की माँग व्युत्पन्न माँग (derived demand) होती है, (यह उस वस्तु की माँग पर निर्भर करती है जिसके उत्पादन में वह साधन लगाया जाता है) और वस्तु की माँग प्रत्यक्ष माँग (direct demand) होती है। यह उपभोक्ता की प्रत्यक्ष माँग को पूरा करती है। इसी प्रकार एक साधन की पूर्ति और वस्तु की पूर्ति में अन्तर पाया जाता है। वस्तु की कीमत व पूर्ति की मात्रा का सम्बन्ध प्रायः प्रत्यक्ष माना जाता है। कीमत के बढ़ने पर पूर्ति की मात्रा बढ़ती है तथा कीमत घटने पर पूर्ति की मात्रा घटती है। लेकिन एक साधन की कीमत व उसकी पूर्ति की मात्रा का सम्बन्ध सदैव सुनिश्चित नहीं होता। प्रायः भूमि की पूर्ति स्थिर होती है और इसे कीमत बढ़ने के साथ साथ नहीं बढ़ाया जा सकता। इसी तरह श्रम का पूर्ति-वक्र पीछे की ओर मुड़ता हुआ (backward bending) माना गया है, अर्थात् एक सीमा के बाद, मजदूरी के बढ़ने पर श्रम की पूर्ति घट जाती है, क्योंकि लोग विश्राम (leisure) को अधिक पसन्द करने लगते हैं। पूँजी की पूर्ति भी इसकी कीमत, अर्थात् ब्याज की दर के साथ साथ सदैव नहीं बढ़ती है।

इस विचार के सामान्य परिचय के अध्याय में बताया। चूँकि है कि साधन की माँग व पूर्ति की विशेषताओं के कारण साधन के कीमत निर्धारण व वस्तु के कीमत निर्धारण में कुछ अन्तर अवश्य होते हैं, फिर भी मूलतः दोनों में माँग व पूर्ति की शक्तियाँ ही काम करती रहती हैं।

सारणी-1

साधन की मात्रा (श्रम की इकाइयाँ) (q_a)	उत्पादित वस्तु की मात्रा (कुल) (Q_x)	साधन की सीमान्त भौतिक उत्पत्ति (MPPa)	वस्तु की कीमत (P_x) रु.	सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य (VMP) रु. (3)×(4)	साधन की कीमत (प्रति इकाई) (Pa) रु.
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)
3	6	–	10	–	20
4	12	6	10	60	20
5	17	5	10	50	20
6	21	4	10	40	20
7	24	3	10	30	20
8	26	2	10	20	20
9	27	1	10	10	20

यहाँ q_a साधन की मात्रा व Q_x उत्पादित वस्तु की मात्रा को सूचित करते हैं। a निशान प्रत्येक जगह साधन के लिए आया है। उपर्युक्त सारणी में एक फर्म साधन
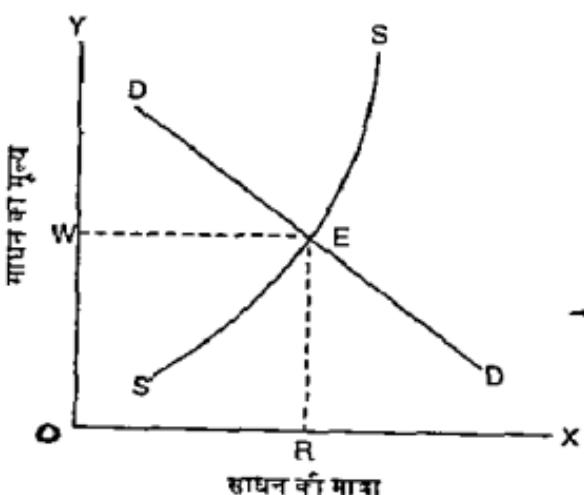
चित्र 2(अ) उद्योग में साधन की कीमत का निर्धारण

सारणी 2

साधन की मात्रा (q_a)	उत्पादित वस्तु की मात्रा (कुल) (Q_x)	साधन की सीमान्त भौतिक उत्पत्ति (MRP_a)	वस्तु की कीमत (P_x) (रु.)	कुल आय (TR) (रु.)	साधन की सीमान्त आय – उत्पत्ति (MRP_a) (रु.)	साधन की कीमत (P_a) (रु.)
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)	(7)
3	6	–	10	60	–	28
4	12	6	9	108	48	28
5	17	5	8	136	28	28
6	21	4	7	147	11	28
7	24	3	6	144	–3	28
8	26	2	5	130	–14	28
9	27	1	4	108	–22	28

सारणी में सन्तुलन की स्थिति ($P_a = MRP_a$) उस समय आती है, जब फर्म साधन की 5 इकाइयाँ काम में लेती है। यहाँ पर साधन की कीमत = साधन की सीमान्त आय-उत्पत्ति – 28 रु होती है। फर्म का सन्तुलन अग्रांकित चित्र 3 में दर्शाया गया है।

यहाँ पर साधन की कीमत (OW) उद्योग से निर्धारित होकर आयी है, तथा यह एक फर्म के लिए दी हुई होती है। अत साधन की औसत लागत = साधन की सीमान्त लागत की रेखा क्षैतिज होती है। *OW साधन कीमत पर फर्म साधन की OL* मात्रा लगाएगी तथा OW_1 पर उसकी OL_1 मात्रा लगाएगी।

(3) **साधन-बाजार मे क्रेता एकाधिकार (monopsony in the factor-market)** – की स्थिति साधन बाजार में क्रेता एकाधिकार की स्थिति वह होती है जहां उत्पादन के किसी साधन का केवल एक ही खरीददार होता है। मान लीजिए, किसी गाँव में एक खान का मालिक है और केवल वही श्रम को काम देने वाला एक मात्र उद्यमकर्ता है। ऐसी दशा में वह क्रेता एकाधिकारी (monopsonist) कहलाएगा। क्रेता एकाधिकारी के लिए साधन का पूर्ति वक्र ऊपर की ओर जाता है। इसका अर्थ यह

कालम (2) को Y अक्ष पर तथा कालम (1) को X अक्ष पर दिखाने पर एक साधन का पूर्ति वक्र (factor supply curve) (S_a) प्राप्त होता है। इसी प्रकार कालम (4) को Y अक्ष पर तथा कॉलम (1) को X अक्ष पर दिखाने पर साधन का सीमान्त लागत वक्र (MfC_a) बनता है। इसे चित्र 4 में दर्शाया गया है।

चित्र 4 मे OX अक्ष पर साधन की मात्राएँ मापी गई हैं तथा OY अक्ष पर साधन की कीमत व इसकी सीमान्त लागत मापी गई है। दोनों रेखाएँ ऊपर की ओर जाती हैं तथा साधन की सीमान्त लागत रेखा इसके पूर्ति वक्र से ऊपर रहती है। हमने पहले देखा था कि साधन बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा के पाए जाने पर इसका पूर्ति वक्र व सीमान्त लागत वक्र दोनों OX अक्ष के समानान्तर व क्षैतिज होते हैं। अत क्रेता एकाधिकार में स्थिति पूर्णतया बदल जाती है।

अब हम नीचे एक साधन के MRP वक्र की सहायता से साधन की कीमत इसकी लगायी जाने वाली मात्रा व क्रेता एकाधिकारी द्वारा किए जाने वाले शोषण (monopsonistic exploitation) को स्पष्ट करते हैं।

चित्र में Sa व MfC_a के साथ साधन की सीमान्त आय-उत्पत्ति (MRP) का वक्र भी दिखाया गया है। MRP व MfC एक-दूसरे को E बिन्दु पर काटते हैं और क्रेता एकाधिकारी साधन की OQ मात्रा का उपयोग करता है (सन्तुलन की यह स्थिति वस्तु बाजार में MR = MC की स्थिति में मिलती जुलती होती है)। साधन की OQ मात्रा पर इसकी प्रति इकाई कीमत OM होती है। लेकिन इसी मात्रा पर साधन की
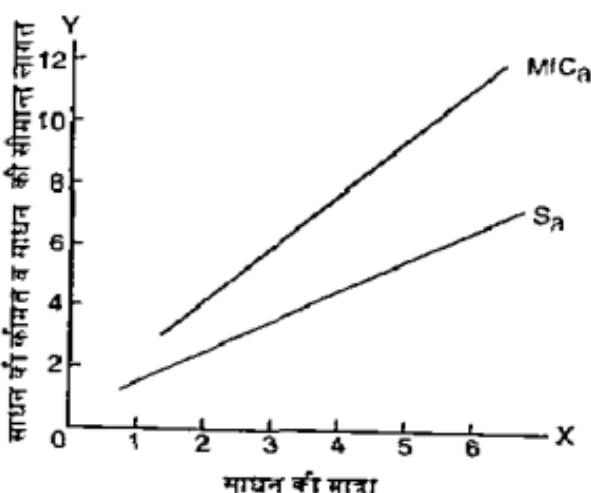
चित्र 4-क्रेता-एकाधिकार (monopsony) की स्थिति में साधन का पूर्ति वक्र (S_a) तथा साधन का सीमान्त लागत वक्र (MfC_a)

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. एक साधन का आर्थिक शोषण कब होता है?
   (अ) जब साधन बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा व वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा हो
   (ब) जब साधन बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा व वस्तु बाजार में एकाधिकार हो
   (स) जब साधन बाजार में क्रेता एकाधिकार व वस्तु बाजार में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा हो
   (द) किसी में भी नहीं (स)
2. साधन बाजार में क्रेता एकाधिकार की दशा में होता है—
   (अ) साधन का पूर्ति वक्र साधन के सीमान्त लागत वक्र से नीचे (लेकिन दोनों बढते हुए)
   (ब) पूर्ति वक्र सीमान्त लागत वक्र से ऊपर (लेकिन दोनों बढते हुए)
   (स) दोनों वक्र घटते हुए
   (द) साधन का पूर्ति वक्र बढता हुआ और उसका सीमान्त लागत वक्र घटता हुआ (अ)

अन्य प्रश्न

1. एक फर्म के लिए साधन की माँग और साधन की कीमत निर्धारण समझाइये जब—
   (i) वस्तु और साधन बाजार दोनों में पूर्ण प्रतियोगिता हो।
   (ii) साधन बाजार में क्रेता एकाधिकार और वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता हो।
   (MDSU, Ajmer II Yr 2001)
2. साधनों के मूल्यों का आधुनिक सिद्धान्त माँग और पूर्ति का सिद्धान्त होता है। वितरण में सीमान्त उत्पादनशीलता के सिद्धान्त की अपर्याप्तता के सदर्भ में इस कथन की विवेचना कीजिए।
3. साधन-बाजार में क्रेता एकाधिकार (monopsony) की स्थिति में साधन के आर्थिक शोषण को चित्र द्वारा प्रदर्शित कीजिए।
4. निम्न तीन दशाओं में एक फर्म के लिए एक साधन की माँग व कीमत निर्धारण का विवेचन कीजिए—
   (i) साधन-बाजार व वस्तु बाजार दोनों में पूर्ण प्रतिस्पर्धा
   (ii) साधन-बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा व वस्तु बाजार में एकाधिकार
   (iii) साधन-बाजार में क्रेता एकाधिकार (monopsony) की स्थिति।
5. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—
   (i) क्रेता एकाधिकार द्वारा साधन का आर्थिक शोषण।

□ □ □

28

मजदूरी-निर्धारण के सिद्धान्त—सामूहिक सौदाकारी व मजदूरी-विभेद

(Theories of Wage-Determination—Collective Bargaining and Wage-Differentials)

विकसित व विकासशील दोनों प्रकार के देशों में अधिकाश परिवारों की आमदनी मजदूरी से होती है। अत वितरण में मजदूरी का विशेष स्थान होता है। एक देश में कई किस्म के श्रमिक पाये जाते हैं, जिससे मजदूरी की दरों में अन्तर उत्पन्न हो जाते हैं। लेकिन मजदूरी का एक सामान्य स्तर भी होता है, जैसे, प्राय कहते हैं कि आज के श्रमिक को पचास वर्ष पूर्व के श्रमिक की तुलना में अधिक मजदूरी मिलती है, अथवा अमरीका में सामान्य मजदूरी का स्तर भारत की तुलना में काफी ऊँचा है, आदि।

यहाँ पर मजदूरी निर्धारण का विशेष रूप से विवेचन किया जाएगा। इसलिए जिस श्रेणी के मजदूरों की चर्चा की जाएगी उनकी परिभाषा करना उचित होगा। स्टोनियर व हेग के अनुसार, 'हम उन लोगों की समस्याओं पर विचार करेंगे जिनकी एकमात्र आमदनी उनके हाथों या मस्तिष्क से काम करके प्राप्त की जाती है और जो अपना जीवन-काल एक उद्यमकर्ता के लिए या अधिक समान्य रूप मे, एक बड़ी फर्म में उच्च अथवा मध्यम श्रेणी के प्रबन्ध के सहायको के रूप में काम करते हुए व्यतीत करते है। ये लोग बहुधा ऐसे होते है जिन्हे साधारणत अपने काम मे बहुत रुचि नहीं होती, लेकिन जो काफी व्यापक देखरेख के अन्तर्गत अपने अपेक्षाकृत नीरस कामो को बहुत प्रसन्नता के साथ करते रहते है।'[1]

हम उत्पादन के साधनों के अध्ययन में बतला चुके हैं कि श्रम की अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं जो इसे उत्पादन के अन्य साधनों से पृथक् करती हैं। इन विशेषताओं का मजदूरी पर प्रभाव पडना स्वाभाविक है। हम पुन मार्शल द्वारा बतलायी गई श्रम

1 Stonier and Hague op cit p 296

की पाँच विशेषताओं का उल्लेख करते हैं जो मजदूरी पर अपना प्रभाव डालती हैं—(1) श्रमिक अपना श्रम बेचता है, लेकिन वह स्वय का मालिक होता है (2) श्रमिक को श्रम के स्थान पर स्वय उपस्थित होना पडता है, (3) श्रम नाशवान होता है, एक दिन श्रम न करने पर वह सदैव के लिए नष्ट हो जाता है और पुन नहीं किया जा सकता, (4) प्राय श्रमिकों की मोलभाव करने की शक्ति (bargaining power) कम होती है, और (5) विशिष्ट योग्यता के श्रमिकों की पूर्ति बढाने मे काफी समय की आवश्यकता होती है। स्टोनियर व हेग ने भी निम्न तीन बातों की ओर ध्यान आकर्षित किया है जो श्रम में पायी जाती हैं, लेकिन भूमि व पूँजी मे नही पायी जाती। सर्वप्रथम, **श्रमिक मजदूर सघो (trade unions) का निर्माण करके उद्यमकर्ता से मोलभाव करते है, दूसरे वे कुछ सीमा तक यह निर्णय करने के लिए स्वतन्त्र होते है कि वे अमुक दिन काम करेंगे या नही करेंगे एव तीसरे, वे सन्तानोत्पत्ति करके श्रम की पूर्ति को प्रभावित करते है।** इस प्रकार श्रमिक कुछ सीमा तक अपनी रोजगार की शर्त तय करते हैं। कहने का आशय यह है कि मजदूरी के अध्ययन में ऐसी समाजशास्त्रीय व मानवीय समस्याएँ उत्पन्न होती हैं जो उत्पादन के अन्य साधनों के सम्बन्ध में नहीं होती। श्रमिक एक जीवित प्राणी होता है जबकि भूमि व पूँजी निर्जीव पदार्थ होते हैं। अत श्रम की अपनी विशेषताएँ होती हैं जिनका मजदूरी पर गहरा प्रभाव पडता रहता है।

मजदूरी की किस्मे

प्राय मजदूरी के विवेचन में वास्तविक मजदूरी (real wages) व नकद मजदूरी (money or nominal wages) मे अन्तर किया जाता है। जब मजदूरी के साथ कोई विशेषण नहीं लगाया जाता तो आशय नकद या मौद्रिक मजदूरी से ही होता है। मजदूरी के सम्बन्ध म दूसरा अन्तर समयानुसार मजदूरी (time wages) तथा कार्यानुसार मजदूरी (piece wages) में किया जाता है। इन पर नीचे प्रकाश डाला गया है।

वास्तविक मजदूरी का अर्थ तथा इसको प्रभावित करने वाले तत्त्व

नकद मजदूरी में मौद्रिक रूप मे प्राप्त मजदूरी की चर्चा की जाती है, जैसे 1000 रु मासिक, प्रति दिन 30 रु आदि। वास्तविक मजदूरी में वे वस्तुएँ और सेवाएँ आती हैं जिन्हें मजदूर अपनी नकद मजदूरी व्यय करके प्राप्त कर सकते हैं तथा साथ में उस व्यवसाय से प्राप्त अन्य सुख सुविधाएँ भी इसमे शामिल की जाती हैं।

मजदूरों की रुचि नकद मजदूरी के साथ साथ वास्तविक मजदूरी में भी होनी है। सच पूछा जाए तो उन्हें वास्तविक मजदूरी में अधिक रुचि होती है, क्योंकि इससे उनका जीवन स्तर व भौतिक कल्याण निर्धारित होता है। यह बात नीचे वास्तविक मजदूरी को बढाने वाले व घटाने वाले तत्त्वों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाएगी।

वास्तविक मजदूरी को बढाने वाले तत्त्व	वास्तविक मजदूरी को घटाने वाले तत्त्व
1 वस्तुओं व सेवाओ के अपेक्षाकृत नीचे मूल्य जो मन्दी के समय पाये जाते हैं।	1 वस्तुओं व सेवाओं की अपेक्षाकृत ऊँची कीमतें जो मुद्रास्फीति के समय पायी जाती है। इससे मुद्रा की क्रय शक्ति घट जाती है।
2 अन्य सुविधाएँ जैसे, मकान (स्टाफ क्वार्टर्स) दवा, शिक्षा, चिकित्सा पानी बिजली आदि की निशुल्क या कम कीमत पर सुविधाएँ।	2 मकान, पानी-बिजली आदि की सुविधाओं का अभाव।
3 आय बढाने के अवसर, जैसे, डाक्टर के लिए प्राइवेट प्रैक्टिस, अध्यापक के लिए ट्यूशन, परीक्षा की उत्तर पुस्तिकाओं की जाँच व पुस्तक रचना व लेखों से प्राप्त आमदनी।	3 आय बढाने के कोई अतिरिक्त अवसर नहीं।
4 कार्य के घटे कम, काम का वातावरण स्वच्छ, मालिक का उचित व्यवहार, आवश्यक छुट्टियाँ, काम की नियमितता, आश्रितों को भी काम, काम सीखने की अवधि कम, अपनी रुचि व योग्यतानुसार काम मिल जाना।	4 काम के घटे ज्यादा, वातावरण गन्दा, मालिक का अनुचित व्यवहार, छुट्टियों का अभाव, अनियमित काम, काम सीखना कठिन व अवधि ज्यादा, बिना रुचि का व स्वभाव के विपरीत काम का मिलना।
5 बोनस व प्रबन्ध में साझेदारी के लाभ।	5 बोनस व प्रबन्ध में साझेदारी का अभाव।
6 प्रमोशन (पदोन्नति) के अवसर अधिक।	6 प्रमोशन के अवसर कम या नही।
7 काम की समाज में प्रतिष्ठा अधिक जैसे, सरकारी अफसर, विश्वविद्यालयों व कॉलेज के प्रोफेसर।	7 काम की समाज में प्रतिष्ठा का अभाव जैस, अदक्ष कार्य व कम वेतन पर नियुक्त कर्मचारियों के विभिन्न पद।
8 व्यवसाय में रहते हुए उसके सम्बन्ध में कोई व्यय नही।	8 व्यवसाय में रहते हुए उसके सम्बन्ध में व्यय जैसे, अध्यापक के लिए पत्र पत्रिकाओं व पुस्तकों पर न्यूनतम व्यय की आवश्यकता।

बिन्दु एक व दो के अन्तर्गत मौद्रिक मजदूरी को वास्तविक मजदूरी में बदलने के लिए आजकल उपभोक्ता कीमत सूचकांकों (Consumer price index number) का प्रयोग किया जाता है। जैसे, 1960 को आधार वर्ष लेने पर अप्रैल 2002 के लिए भारत में औद्योगिक श्रमिकों के लिए उपभोक्ता कीमत सूचकांक 2311 रहा। इसका अर्थ यह हुआ कि 1960 में जिस जीवन स्तर के लिए 100 रुपए प्रति माह की आवश्यकता थी, उसके लिए अप्रैल 2002 में लगभग 2311 रुपयों की आवश्यकता हुई। इस प्रकार पिछले 42 वर्षों में उपभोक्ता का औसत व्यय लगभग 23 गुना हो गया है।

अत वास्तविक मजदूरी को बढाने के लिए सरकार को मुद्रास्फीति पर नियन्त्रण करना चाहिए। तभी हडतालें व वर्ग सघर्ष काबू में रह सकते हैं। जापान में उत्पादकता व वास्तविक मजदूरी प्रतिवर्ष बढते रहते हैं, जिससे वहाँ अपेक्षाकृत अधिक औद्योगिक शान्ति पायी जाती है।

समयानुसार व कार्यानुसार मजदूरी (Time wages and Piece wages)— समयानुसार मजदूरी प्राय मासिक या दैनिक आधार पर दी जाती है जो आजकल काफी प्रचलित है। कार्यानुसार मजदूरी काम की मात्रा के अनुसार दी जाती है जैसे, कपडे सिलाने के लिए हम दर्जी को देते हैं। अध्यापक परीक्षा की उत्तर पुस्तिकाएँ भी इसी आधार पर जाँचते हैं।

आगे इनकी विशेषताओं की तुलना की गई है।

समयानुसार मजदूरी	कार्यानुसार मजदूरी
1 श्रमिक वर्ग को विशेषतया औद्योगिक अर्थव्यवस्था के विकास के कारण समयानुसार मजदूरी दी जाती है।	1 आजकल इसका प्रचलन कम हो गया है।
2 इसमें काम की निरन्तरता व नियमितता बनी रहती है।	2 इसमें काम की इतनी नियमितता नहीं रहती।
3 काम में गुणात्मक सुधार ज्यादा सम्भव है, क्योंकि श्रमिक मन लगाकर बारीक काम कर सकता है। काम में जल्दबाजी करने की आवश्यकता नहीं रहती।	3 इसमें 'मात्रा' पर अधिक जोर दिया जाता है क्योंकि भुगतान का प्रमुख आधार 'मात्रा' हुआ करता है। लेकिन व्यवसाय की प्रकृति के अनुसार काम का स्टेण्डर्ड भी नियत किया जाता है।
4 काम में धीमापन आने की प्रवृत्ति देखी जाती है। दैनिक मजदूरी पर भवन निर्माण में मजदूर प्राय कम काम करते हैं।	4 काम में तेजी की प्रवृत्ति रहती है। कार्यानुसार मजदूरी पर अधिक काम करके ज्यादा से जयादा मुद्रा कमाने का प्रयास किया जाता है।
5 इसमें प्राय श्रमिक के स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पडता।	5 इसमें अधिक काम करने की प्रवृत्ति से स्वास्थ्य को हानि होने का भय बना रहता है।

इस प्रकार दोनों विधियों के अपने गुण दोष पाए जाते हैं।

हम नीचे मजदूरी के जीवन निर्वाह सिद्धान्त अथवा मजदूरी के लौह नियम एवं सामान्य उत्पादकता सिद्धान्त का वर्णन करके पूर्ण प्रतिस्पर्धा व अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में मजदूरी निर्धारण का विवेचन करेंगे। मजदूरी के सामूहिक सौदाकारी सिद्धान्तों (Collective bargaining theories) के विवेचन में मुख्यतया मजदूर संघों का मजदूरी पर प्रभाव बतलाया जाएगा और अन्त में मजदूरी के अन्तरों या भेदों के कारणों की समीक्षा की जाएगी।

मजदूरी का लौह-नियम अथवा जीवन-निर्वाह सिद्धान्त (Iron Law of Wages or Subsistence Theory of Wages)

माल्थस द्वारा प्रस्तुत रूप—कुछ क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने यह माना था कि मजदूरी जीवन निर्वाह के न्यूनतम स्तर के बराबर होने की प्रवृत्ति रखती है। इस सिद्धान्त का प्रमुख समर्थक माल्थस था। उसके अनुसार, श्रम का दीर्घकालीन पूर्ति वक्र क्षैतिज होता है। इसका अर्थ यह है कि मजदूरी का स्तर न्यूनतम जीवन स्तर के बराबर होता है। यदि मजदूरी न्यूनतम जीवन स्तर से अधिक हो जाती है तो श्रमिक ज्यादा सन्तान उत्पन्न करने लगते हैं जिससे उनकी संख्या के बढ़ने से पुन मजदूरी न्यूनतम जीवन स्तर के बराबर आ जाती है। इसके विपरीत यदि मजदूरी का स्तर न्यूनतम जीवन-स्तर से कम हो जाता है तो श्रमिक मरने लगते हैं जिससे उनकी संख्या घट जाती है और पुन मजदूरी व न्यूनतम जीवन स्तर आपस में बराबर हो जाते हैं। भूतकाल में इस विचारधारा के कारण ही अर्थशास्त्र को एक घृणित विज्ञान कहा गया था।

कार्ल मार्क्स द्वारा प्रस्तुत रूप[1]—कार्ल मार्क्स ने मजदूरी के लौह नियम का एक भिन्न रूप प्रस्तुत किया था। उसने 'बेकारों की एक रिजर्व सेना' (reserve army of the unemployed) पर काफी बल दिया था। मार्क्स का विचार था कि फैक्ट्री के दरवाजों पर बेरोजगार श्रमिकों की भीड़ के पाए जाने से मिल-मालिक मजदूरी को घटाकर जीवन निर्वाह के स्तर पर लाने में समर्थ हो जाते हैं। मार्क्स ने पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में श्रम के आर्थिक शोषण की चर्चा की थी। उसके मतानुसार मिल मालिक श्रमिकों की अधिक संख्या का लाभ उठाकर, उन्हें कम मजदूरी देने में सफल हो जाते हैं और मजदूरी का स्तर घटते घटते अन्त में जीवन निर्वाह के स्तर पर जा पहुँचता है। इस सम्बन्ध में मार्क्स की धारणा व उसमें त्रुटि अग्र चित्र 1 से स्पष्ट हो जाती है।

चित्र के अनुसार 2 रुपए वास्तविक मजदूरी (real wages) पर 'बेरोजगार श्रमिकों की रिजर्व सेना' = AB होती है। कार्ल मार्क्स के अनुसार ऐसी स्थिति में मजदूरी घटकर mm के न्यूनतम जीवन-निर्वाह स्तर पर आ जाती है, जैसा कि प्राय अविकसित देशों में पाया जाता है।

1 Samuelson & Nordhaus ECONOMICS 16th ed 1998, p 237
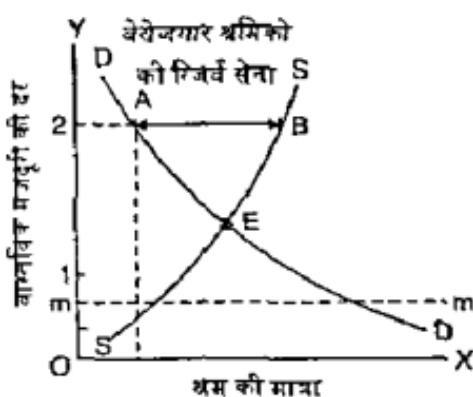
चित्र 1-मजदूरी के जीवन निर्वाह सिद्धान्त का मार्क्स द्वारा प्रस्तुत रूप

आलोचना—आजकल कई कारणों से विकसित व सम्पन्न देशों में मजदूरी का जीवन निर्वाह सिद्धान्त लागू नही होता। मजदूरी का स्तर माँग व पूर्ति की शक्तियों से निर्धारित होता है और उपर्युक्त चित्र में मजदूरी घटकर E बिन्दु तक आ सकती है, लेकिन उससे नीचे जाने का साधारणतया प्रश्न ही नहीं उठता। यदि श्रम की पूर्ति इतनी अधिक हो जाती है कि SS वक्र DD वक्र को mm के स्तर पर काटता है तो मजदूरी न्यूनतम स्तर पर आ सकती है, जैसा कि कई अल्प विकसित देशों में पाया जाता है। मजदूरी के उपर्युक्त नियम की मुख्य आलोचनाएँ इस प्रकार हैं—

(1) मजदूरी के बढने से यह आवश्यक नही कि श्रमिक अधिक सतान ही उत्पन्न करें। वे अपने जीवन स्तर को ऊँचा करने में भी बढी हुई मजदूरी का उपयोग कर सकते हैं। विकसित देशों में प्राय ऐसा ही हुआ है, और विकासशील देशों में भी आजकल कुछ सीमा तक ऐसा ही होने लगा है। लेकिन कुछ विकासशील देशों के पिछडे वर्गों या समुदायों में मजदूरी बढने से अधिक सतान उत्पन्न करने की प्रवृत्ति भी पायी जाती है।

(2) मजदूरी का श्रम की कार्यकुशलता या उत्पादकता से गहरा सम्बन्ध होता है। उत्पादकता ऊँची होने से मजदूरी ऊँची होती है और उत्पादकता नीची होने से मजदूरी भी नीची पाई जाती है। इसका अधिक विवेचन आगे चलकर मजदूरी के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के अन्तर्गत किया जाएगा।

इस प्रकार श्रम बाजार में प्रतिस्पर्धा के पाए जाने पर एक विकसित देश में न्यूनतम जीवन निर्वाह के स्तर तक मजदूरी के गिरने की प्रवृत्ति नही पाई जाती। सन्तुलन की दशा में मजदूरी श्रम की माँग व पूर्ति की शक्तियों से निर्धारित होती है। वैसे मालिक कम मजदूरी देने का प्रयास करते है और मजदूर अधिक मजदूरी लेने का प्रयास करते है। लेकिन मजदूरी उस बिन्दु पर निर्धारित होती है जहाँ श्रम की कुल माँग इसकी कुल पूर्ति के बराबर होती है।

मजदूरी का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त
(Marginal Productivity Theory of Wages)[1]

वितरण के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के विवेचन में बतलाया जा चुका है कि यदि एक फर्म अपना लाभ अधिकतम करना चाहती है और वह साधन बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में होती है (वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा हो अथवा एकाधिकार की दशा हो) तो सन्तुलन में एक साधन की कीमत उस साधन की सीमान्त आय-उत्पत्ति (MRP) के बराबर होती है। हमने सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए ज्यादातर श्रम के ही उदाहरण काम में लिए थे।

हम यहाँ पहले के निष्कर्षों को पुन प्रस्तुत करते हैं—वस्तु-बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा के पाए जाने पर मजदूरी (wages) = MRP अथवा (MPP × price) होगी। इसे सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य (value of marginal product) अथवा VMP भी कहते हैं। वस्तु-बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा के होने से एक फर्म चालू कीमत पर चाहे जितना माल बेच सकती है। अत उसके लिए वस्तु की कीमत अपरिवर्तित बनी रहती है।

वस्तु-बाजार में एकाधिकार के पाए जाने पर अधिक माल बेचने के लिए एकाधिकारी को वस्तु की कीमत घटानी पड़ती है। अत उसके लिए AR वक्र घटता है और MR वक्र उसके भी नीचे होता है। एक फर्म उस सीमा तक श्रमिकों को काम पर लगाती है जहाँ पर $MRP = \Delta TR = MPP \times MR$ हो जाती है, अर्थात् सीमान्त-आय-उत्पत्ति की राशि = कुल आय की वृद्धि (ΔTR) अथवा (सीमान्त-भौतिक उत्पत्ति × सीमान्त-आय) हो जाती है। इसका उदाहरण सहित विस्तृत विवरण वितरण के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के अध्याय में दिया जा चुका है।

हम पहले यह भी स्पष्ट कर चुके हैं कि श्रम का सीमान्त-आय-उत्पत्ति वक्र शुरू में बढ़ता है और फिर घटता है। श्रम के सीमान्त-आय-उत्पत्ति का नीचे की ओर झुकता हुआ अंश फर्म का श्रम के लिए माँग-वक्र होता है। विभिन्न फर्मों के लिए श्रम के माँग-वक्रों को जोड़कर (मजदूरी के घटने पर MRP के नीचे की ओर खिसकने पर एक फर्म के लिए श्रम के माँग-वक्र के आधार पर) उद्योग के लिए श्रम का माँग वक्र अथवा श्रम का बाजार माँग-वक्र निकाला जाता है।

श्रम के माँग-वक्र व पूर्ति-वक्र की सहायता से मजदूरी की दर निर्धारित होती है। इस प्रकार श्रम के उद्योगवार माँग-वक्र का निर्माण विभिन्न फर्मों के लिए श्रम के माँग-वक्रों के जोड़ से होता है। एक फर्म के लिए श्रम के माँग-वक्र के पीछे श्रम की सीमान्त-आय-उत्पत्ति होती है, और सीमान्त-आय-उत्पत्ति मूलत सीमान्त भौतिक उत्पत्ति पर निर्भर करती है, हालाँकि पूर्ण प्रतिस्पर्धा में MRP को कीमत से गुणा करने से MRP निकल आती है, और वस्तु-बाजार में एकाधिकार की स्थिति में MPP को MR से गुणा करने से MRP प्राप्त होती है।

---

1 इसका विस्तृत विवेचन 'सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त' के अध्ययन में किया जा चुका है। अत पाठक उसे पुन ध्यानपूर्वक पढ़ें। यहाँ पर केवल मुख्य तर्कों निष्कर्षों तथा आलोचनाओं को ही दोहराया गया है।

इस प्रकार मजदूरी की दर तो श्रम की माँग व पूर्ति से निर्धारित होती है लेकिन दी हुई मजदूरी की दर पर एक फर्म उस बिन्दु तक मजदूर लगाती है जहाँ पर मजदूरी = सीमान्त आय उत्पत्ति हो जाती है। ऐसा करके ही एक फर्म अपने लाभ अधिकतम कर सकती है। यदि फर्म इस बिन्दु (wages = MRP) से पहले ठहर जाती है तो वह उन लाभों से वंचित हो जाती है जो उसे अधिक श्रमिक लगाने से मिल सकते थे। यदि वह इस बिन्दु से आगे निकल जाती है तो आगे की इकाइयों पर फर्म को स्पष्टतया घाटा होता है क्योंकि अतिरिक्त श्रमिक की मजदूरी उससे प्राप्त सीमान्त आय उत्पत्ति से अधिक होती है।

इन निष्कर्षों को पुन निम्नांकित चित्र 2 की सहायता से समझा जा सकता है। इसमें साधन बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा व वस्तु बाजार में एकाधिकार की स्थिति में एक फर्म का सन्तुलन दर्शाया गया है।
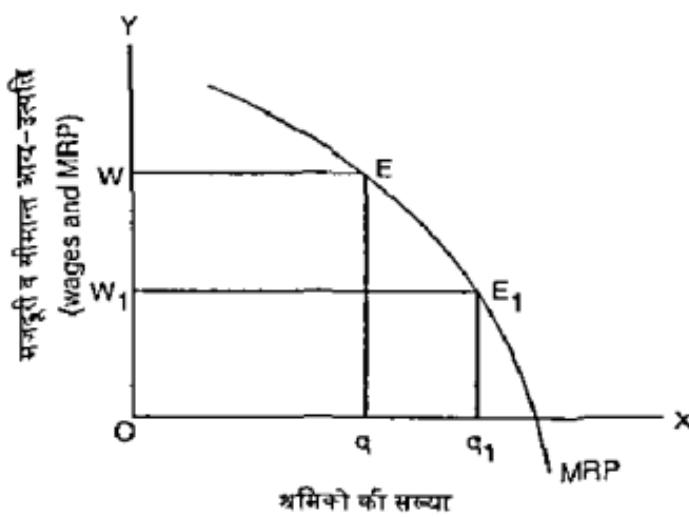
चित्र 2 साधन बाजार म पूर्ण प्रतिस्पर्धा व वस्तु बाजार में एकाधिकार की दशा में फर्म का सन्तुलन $W = MRP = MPP \times MR$

उपर्युक्त चित्र में OX अक्ष पर श्रमिकों की सख्या मापी गई है तथा OY अक्ष पर मजदूरी व MRP मापे गए हैं। MRP वक्र नीचे की ओर झुकता है और यह फर्म के लिए श्रम का माँग वक्र होता है। उद्योग में श्रम की माँग व पूर्ति से OW मजदूरी की दर निश्चित होने पर एक फर्म इस पर Oq श्रमिक लगाकर सन्तुलन प्राप्त करती है। मजदूरी के घटकर OW_1 हो जाने पर श्रमिकों की मात्रा $W_1E_1 = Oq_1$ लगायी जाती है। इस प्रकार सन्तुलन की स्थिति में $W = MRP = MPP \times MR$ होती है। इनका विस्तृत विवेचन सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के अध्याय में दिया जा चुका है।

मजदूरी के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की आलोचना—हम पिछले में सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की आलोचना में बतला चुके हैं कि इस सिद्धान्त की अधिकांश आलोचनाएँ भ्रमात्मक, अनावश्यक व गलत हैं। लेकिन यह कहना सही है कि यह सिद्धान्त केवल श्रम के माँग पक्ष पर ही विचार करता है और श्रम की उत्पादकता का प्रभाव मजदूरी पर देखता है। यह मजदूरी सिद्धान्त के आधे भाग पर ही विचार करता है, क्योंकि बाकी के आधे भाग पर श्रम के पूर्ति पक्ष का प्रभाव पड़ता है। यहाँ हम इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाओं पर पाठकों का ध्यान पुनः केन्द्रित करते हैं।

(1) सभी श्रमिकों की कार्यकुशलता समान मान ली गई है—आलोचकों का मत है कि इस सिद्धान्त में सभी श्रमिकों को एक-सा मान लिया जाता है, जबकि व्यवहार में ऐसा नहीं होता। श्रमिकों की कार्यकुशलता में काफी अन्तर पाए जाते हैं, इसलिए समाज में मजदूरी की दर भी भिन्न-भिन्न पायी जाती हैं।

यह आलोचना सही नहीं है, क्योंकि सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त तो केवल यह बतलाता है कि किसी भी एक श्रेणी के श्रम की मजदूरी उस श्रेणी के श्रमिक की सीमान्त उत्पत्ति के बराबर होने की प्रवृत्ति रखती है। अतः उसमें एक श्रेणी के श्रमिकों की मजदूरी पर ही विचार किया जाता है। समाज के सारे श्रमिकों को एक साथ नहीं लिया जाता।

(2) सीमान्त उत्पादकता की जानकारी नहीं होती—आलोचकों का यह कहना है कि उद्यमकर्ता को श्रम की सीमान्त उत्पादकता की जानकारी नहीं होती, इसलिए इसके अनुसार भुगतान कैसे किया जा सकता है? इसके उत्तर में यह कहा जाएगा कि फर्म को अपना लाभ अधिकतम करने के लिए मजदूरी को अपने आप सीमान्त आय उत्पत्ति के बराबर करना होता है। सिद्धान्त यह वर्णन करने के लिए नहीं बना है कि व्यवसायी कैसे अपना हिसाब लगाते हैं। यह केवल इस बात को बतलाता है कि लाभ अधिकतम करने के लिए वे विभिन्न दशाओं में किस प्रकार की प्रतिक्रिया बतलाते हैं।

(3) सिद्धान्त में मजदूरी की दर पहले से दी हुई मान ली गयी है—कुछ आलोचकों का यह विचार है कि यह सिद्धान्त मजदूरी की दर को दिया हुआ मानता है, और दी हुई मजदूरी पर काम पर लगाए जाने वाले श्रमिकों की संख्या को निर्धारित करता है। अतः इससे मजदूरी की दर के निर्धारण का प्रश्न हल नहीं हो पाता। वास्तव में ये आलोचक इस सिद्धान्त की प्रकृति से पूर्णतया परिचित नहीं है। हम कई बार इस बात पर बल दे चुके हैं कि प्रारम्भ में एक फर्म के लिए श्रम का माँग-वक्र उसके सीमान्त आय उत्पत्ति वक्र के ढलते हुए अंश से निर्धारित होता है। फिर मजदूरी के घटने की स्थिति में MRP वक्र के नीचे की ओर खिसकने तथा एक फर्म के लिए श्रम के नए माँग-वक्र के आधार पर विभिन्न फर्मों के लिए श्रम के माँग-वक्रों को जोड़कर उद्योग में श्रम का माँग-वक्र निकाला जाता है। इसके बाद एक उद्योग के लिए श्रम के माँग-वक्र के साथ श्रम की उपलब्ध पूर्ति का उपयोग करके मजदूरी की दर निश्चित की जाती है। अतः उद्योग में श्रम का माँग वक्र श्रम की सीमान्त उत्पादकता से प्रभावित होता है। इस प्रकार मजदूरी के निर्धारण में श्रम की सीमान्त उत्पादकता का प्रभाव अवश्य पड़ता है। यही कारण है कि श्रम की सीमान्त उत्पादकता को ऊँचा किए बिना मजदूरी का

स्तर ऊँचा नही किया जा सकता। यदि कभी मजदूरी ऊँची कर दी जाती है तो उसको ऊँचे स्तर पर बनाए रखने के लिए सीमान्त उत्पादकता को बढाना भी आवश्यक हो जाता है।

(4) **मजदूरी पर सीमान्त उत्पादकता के अलावा अन्य तत्त्वो का प्रभाव**—मजदूरी पर श्रम की सीमान्त उत्पादकता के अलावा कई समाजशास्त्रीय व राजनीतिक तत्त्वों जैसे मजदूर सघों की शक्ति, मालिकों का एकाधिकार (जिसे क्रेता एकाधिकार कहा जाता है), सरकारी हस्तक्षेप आदि का भी प्रभाव पडता है। प्राय बडे पैमाने के आधुनिक उद्योगों में चोटी के व्यवस्थापकों का वेतन बहुत ऊँचा होता है और उस पर उद्योगपतियों की इच्छा, सामाजिक प्रथा तथा समाज में शक्ति सन्तुलन आदि का प्रभाव पडता है। हम इन तत्त्वो के प्रभाव को अस्वीकार नही करते, लेकिन इस सिद्धान्त में इसका कोई विरोध नही किया गया है। श्रम की सीमान्त उत्पादकता का सिद्धान्त केवल साधन बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा को मानकर चलता है। वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा व एकाधिकार में से कुछ भी हो सकता है। साधन बाजार में यदि मिल मालिक श्रम का अकेला क्रेता है, अर्थात् क्रेता एकाधिकार (monopsony) की दशा पायी जाती है तो श्रमिक की मजदूरी सीमान्त आय उत्पत्ति से कम हो सकती है, जिसका स्पष्टीकरण वितरण के आधुनिक सिद्धान्त वाले अध्याय में किया जा चुका है, और इस अध्याय में भी आगे चलकर उसे दोहराया गया है। लेकिन वह क्रेता एकाधिकार के सिद्धान्त का परिणाम माना जाता है, उससे प्रतिस्पर्धात्मक साधन बाजार की मान्यता पर आधारित सिद्धान्त गलत नही हो जाता।

(5) **इस सिद्धान्त को कठोर माना गया है क्योंकि यह श्रमिक पर भी उसी तरह से विचार करता है जिस तरह से यह भूमि के एक हैक्टेयर या उर्वरक की एक टन की मात्रा पर करता है।** इस प्रकार यह मानवीय व गैर मानवीय दोनों प्रकार के साधनों पर एक ही ढग से विचार करता है। रिचार्ड जी. लिप्से व के. एलक क्रिस्टल **का मत है कि मानवीय व गैर-मानवीय साधनो के लिए एक पृथक् सिद्धान्त का होना आवश्यक नही माना जाता।** यह बात अलग है कि पूर्ति पक्ष की ओर श्रम पर गैर मौद्रिक तत्त्वों का भी प्रभाव पडता है। वैसे सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त उत्पादन में श्रम के योगदान को स्पष्ट करता है। इसलिए श्रम के माँग पक्ष की यह काफी सुनिश्चित व्याख्या प्रस्तुत करता है।

(6) आलोचको का मत है कि इस सिद्धान्त को स्वीकार करने पर मजदूर सघों का महत्त्व घट जाता है अथवा समाप्त हो जाता है, क्योंकि मजदूरी तो श्रम की सीमान्त उत्पादकता से तय होती है तथा उसमें मजदूर सघ अपनी तरफ से कुछ भी नहीं कर सकते। यह आलोचना भी सही नही है क्योंकि क्रेता एकाधिकारी श्रम का शोषण करता है। (मजदूरी की राशि MRP से कम होती है)। ऐसी दशा में मजदूर सघों के प्रवेश से मजदूरी व रोजगार में कुछ सीमा तक वृद्धि सम्भव हो सकती है।*

स्मरण रहे कि यह सिद्धान्त अन्तिम श्रमिक की सीमान्त उत्पत्ति पर जोर देता है और यह नहीं कहता कि प्रत्येक श्रमिक को उसके योगदान या उत्पत्ति के बराबर मजदूरी

* शेष आलोचनाओं के लिए, पाठक वितरण का सीमान्त-उत्पादकता सिद्धान्त पुनः ध्यानपूर्वक पढ़ें।

दी जाती है। अत सारा ध्यान सीमान्त उत्पादकता पर केन्द्रित किया गया है, जो काफी सीमा तक सही माना जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि श्रम का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त मजदूरी के विश्लेषण में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यह वस्तु बाजार में प्रतिस्पर्धा व एकाधिकार दोनों प्रकार की स्थितियों पर विचार करता है। इस सिद्धान्त के निष्कर्ष बहुत सरल हैं तथा बहुत थोड़े हैं और वे अधिक विवादग्रस्त भी नहीं हैं। अब हम क्रमश पूर्ण प्रतिस्पर्धा व अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में मजदूरी के निर्धारण का अध्ययन करेंगे।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा मे मजदूरी का निर्धारण

(Wage Determination under perfect competition)

यहाँ पर साधन-बाजार व वस्तु बाजार दोनों में पूर्ण प्रतिस्पर्धा मानी जाती है। ऐसे बाजार में श्रम का काम पर लगाने वाली अनेक फर्में होती हैं और दूसरी तरफ श्रम बाजार में अनेक श्रमिक होते हैं। भारत में खेतिहर श्रमिकों के सम्बन्ध में प्राय ऐसी ही स्थिति देखने को मिलती है।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा में मजदूरी उद्योग में श्रम के माँग वक्र व उसके पूर्ति वक्र से निर्धारित होती है। अत हमें इन दोनों वक्रों का विशेष रूप से अध्ययन करना होगा।

उद्योग मे श्रम का माँग-वक्र—जैसा कि श्रम के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के वर्णन में स्पष्ट किया जा चुका है, उद्योग में श्रम का माँग वक्र विभिन्न फर्मों के श्रम के माँग वक्रों (ढलते हुए MRP वक्रों के हिस्सों) के जोड़ से बनता है। श्रम की माँग व्युत्पन्न माँग (derived demand) होती है। उद्योग में श्रम के माँग वक्र पर कई बातों का प्रभाव पड़ता है। सर्वप्रथम, श्रम की माँग उस वस्तु की माँग पर निर्भर करती है जिसके निर्माण में श्रम लगाया जाता है। यदि वस्तु की माँग अधिक होती है तो उसके उत्पादन में लगाए जाने वाले श्रम की माँग भी अधिक होगी। दूसरे, यह तकनीकी दशाओं पर निर्भर करती है। यदि साधनों के संयोग का अनुपात स्थिर रहता है, तो श्रम की MRP तेजी से गिरती है, और यदि साधनों का अनुपात परिवर्तनशील होता है और अतिरिक्त श्रमिक लगाकर उत्पत्ति बढ़ाई जा सकती है तो MRP धीरे-धीरे गिरती है। तीसरे, यह अन्य साधनों की कीमतों पर भी निर्भर करती है। यदि पूँजी की कीमत (ब्याज) बढ़ जाती है, तो उद्योगपति पूँजी के स्थान पर श्रम का अधिक उपयोग करने लग जाते हैं।

उद्योग में श्रम का माँग वक्र नीचे की ओर झुकता हुआ होता है। इसका अर्थ यह है कि कम मजदूरी पर अधिक श्रमिकों की माँग की जाती है और अधिक मजदूरी पर कम श्रमिकों की माँग की जाती है।[1]

---

1 इस सम्बन्ध में प्राय: श्रम की माँग की लोच के सूत्र की चर्चा की जाती है। यह प्रारम्भिक छात्रों के लिए काफी जटिल होता है। यहाँ पर इतना कहना ही आवश्यक है कि श्रम की माँग की लोच निम्न बातों पर निर्भर करती है—(1) वस्तु की माँग की लोच (2) प्रतिस्थापन की लोच (3) वस्तु की बिक्री से प्राप्त राशि में श्रम का आनुपातिक हिस्सा (4) गैर श्रम अथवा अन्य साधनों की पूर्ति की लोच। इन पर भी वितरण के सामान्य परिचय के समय पर्याप्त रूप से प्रकाश डाला जा चुका है।

उद्योग में श्रम का पूर्ति वक्र—व्यापक अर्थ में श्रम की पूर्ति श्रमिकों की संख्या, उनके काम की अवधि एवं उनकी कार्यकुशलता पर निर्भर करती है। श्रमिकों की संख्या जनसंख्या की वृद्धि की दर एवं श्रमिकों के बाहर से आने व बाहर जाने की मात्रा पर निर्भर करती है। काम की अवधि इस बात पर आश्रित होती है कि श्रमिक अपने जीवन में कितने वर्ष तक काम करते हैं, और एक वर्ष में कितने दिन या कितने घंटे काम करते हैं। हम पहले देख चुके हैं कि श्रम की कार्यकुशलता पर श्रमिकों के जन्मजात गुणों, स्वास्थ्य व शक्ति, किस गहनता व रुचि से कार्य किया जाता है एवं श्रमिकों का प्रशिक्षण व उनके अनुभव, आदि का प्रभाव पड़ता है।

एक विशेष श्रेणी के श्रम की पूर्ति का मजदूरी से सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। इससे एक उद्योग में श्रम का पूर्ति वक्र निकाला जाता है।

श्रम का पूर्ति वक्र प्रायः दाहिनी ओर ऊपर की तरफ जाता है, जिसका आशय यह है कि मजदूरी के बढ़ने पर श्रम की पूर्ति भी बढ़ती है। लेकिन बहुधा श्रम के पूर्ति वक्र के बारे में यह कहा जाता है कि यह एक बिन्दु के बाद पीछे की ओर मुड़ता हुआ (backward bending) होता है। ऐसा वक्र निम्न चित्र में दर्शाया गया है।

चित्र 3-श्रम का पीछे की ओर मुड़ता हुआ पूर्ति-वक्र (backward bending supply-curve of labour)

चित्र में श्रम का पूर्ति वक्र पीछे की ओर मुड़ता हुआ दर्शाया गया है। मान लीजिए, किसी श्रमिक की प्रति घंटे मजदूरी बढ़ती है। ऐसी स्थिति में वह अधिक घंटे काम कर सकता है, अर्थात् अवकाश के स्थान पर अधिक काम को प्रतिस्थापित कर सकता है। इसे प्रतिस्थापन प्रभाव (substitution effect) कहते हैं। लेकिन मजदूरी के बढ़ने से एक व्यक्ति अधिक अवकाश भी चाहने लग सकता है, इसे आय प्रभाव (Income-effect) कहते हैं। वह अधिक छुट्टी लेने लगता है, अर्थात् ऊँची मजदूरी पर अधिक वस्त्र, उत्तम भोजन व अन्य उपभोग्य वस्तुओं की भाँति उसके लिए विश्राम (leisure) की माँग भी बढ़ सकती है। चित्र 3 में C बिन्दु से आगे मजदूरी की दर बढ़ने से श्रम की पूर्ति घटने लगती है, अर्थात् आय प्रभाव प्रतिस्थापन-प्रभाव से ज्यादा प्रभावशाली हो जाता है। ऊँची आमदनी पर व्यक्ति ज्यादा अवकाश चाहने लगता है, हालांकि अवकाश के प्रत्येक अतिरिक्त घंटे की लागत काफी ऊँची होने लगती है।

हम मजदूरी निर्धारण के लिए श्रम के पूर्ति वक्र को ऊपर उठता हुआ मान लेते हैं, लेकिन पाठकों को श्रम के पीछे की ओर मुड़ते हुए पूर्ति वक्र की जानकारी अवश्य होनी चाहिए।

उद्योग में श्रम के माँग वक्र व पूर्ति वक्र का अध्ययन करने के बाद अब हम पूर्ण प्रतिस्पर्धा में मजदूरी निर्धारण व एक फर्म की स्थिति का अध्ययन कर सकते हैं। निम्न चित्र में ये दोनों बातें एक साथ दर्शायी गयी हैं—
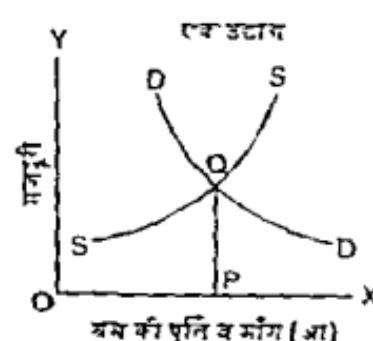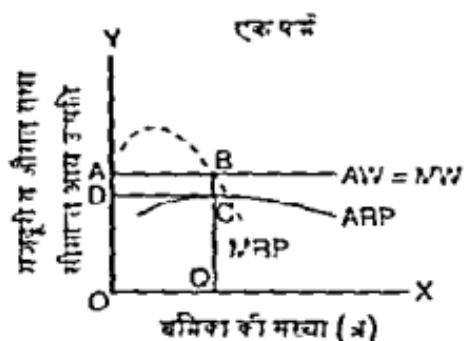
चित्र 4-उद्योग में मजदूरी-निर्धारण तथा एक फर्म के द्वारा लगाए जाने वाले श्रमिकों की संख्या का निर्धारण

चित्र 4 के (आ) भाग में श्रम के DD व SS वक्रों के मेल से PQ मजदूरी निर्धारित होती है। चित्र 4 (अ) में इस मजदूरी पर एक फर्म OQ श्रमिक लगाती है जहाँ पर दी हुई मजदूरी (AW = MW) MRP वक्र को B बिन्दु पर काटती है। चित्र में MRP व ARP वक्र क्रमशः फर्म के लिए श्रम के सदर्भ में सीमान्त आय-उत्पत्ति वक्र व औसत आय-उत्पत्ति वक्र हैं। यहाँ पर फर्म की कुल हानि ABCD के बराबर होती है। MRP व ARP वक्रों के द्वारा दूसरी आकृति व भिन्न स्थिति के पाये जाने पर फर्म को लाभ भी हो सकता है, तथा कभी-कभी 'न लाभ न हानि' की स्थिति भी आ सकती है। दीर्घकाल में फर्म को 'न लाभ न हानि' की स्थिति का ही सामना करना होता है। यह स्थिति निम्न चित्र में दर्शायी गई है—
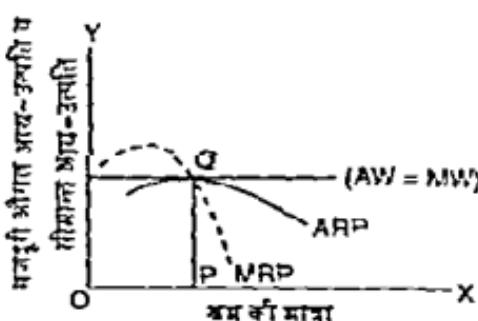
चित्र 5-दीर्घकाल में फर्म का सन्तुलन

उपर्युक्त चित्र में Q बिन्दु पर मजदूरी की दर MRP व ARP दोनों के बराबर होती है, और फर्म OP श्रमिक नियुक्त करती है। उसे 'न लाभ न हानि' की स्थिति प्राप्त होती है। मजदूरी की रेखा (AW) चित्र में ARP वक्र को Q बिन्दु पर स्पर्श करती है। दीर्घकाल में फर्म को घाटा होने से वह उत्पादन बन्द कर देती है और अतिरिक्त लाभ होने पर अन्य फर्मों के प्रवेश से अतिरिक्त लाभ की स्थिति समाप्त हो जाती है और उसे केवल सामान्य लाभ ही मिल पाते हैं।

अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में मजदूरी-निर्धारण[1] (Wage-Determination under Imperfect Competition) अथवा मजदूरी के सामूहिक सौदाकारी सिद्धान्त (Collective Bargaining Theories of Wages)

हमने ऊपर साधन-बाजार व वस्तु-बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा में मजदूरी-निर्धारण का वर्णन किया है, जहाँ किसी अकेले मालिक अथवा किसी अकेले श्रमिक का मजदूरी की दर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। लेकिन वास्तविक जगत में श्रम-बाजार में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा पायी जाती है। इस सम्बन्ध में निम्न तीन प्रकार की सम्भावनाएँ हो सकती हैं। सर्वप्रथम, श्रम का विक्रेता एक अकेला मजदूर संघ (monopoly trade union) और इसके अनेक क्रेता (अनेक उद्यमकर्ता या नियोक्ता) पाए जा सकते हैं। इसे श्रम के सप्लाई पक्ष पर एकाधिकार (monopoly) की दशा कहते हैं। दूसरे, श्रम का केवल एक क्रेता एवं अनेक विक्रेता पाये जा सकते हैं। इसे क्रेता एकाधिकार (monopsony) की दशा कहते हैं। इसके अलावा तीसरी स्थिति में श्रम-बाजार में एक क्रेता तथा एक विक्रेता की स्थिति भी पायी जा सकती है, जिसे द्विपक्षीय एकाधिकार (bilateral monopoly) कहते हैं। वास्तव में **ये ही मजदूरी निर्धारण के सौदाकारी सिद्धान्त (bargaining theories of wages) कहलाते हैं।** हम नीचे चित्रों सहित इनमें से प्रत्येक स्थिति के अन्तर्गत मजदूरी के निर्धारण पर अलग-अलग प्रकाश डालते हैं—

(1) श्रम की पूर्ति एकाधिकारी रूप में लेकिन माँग प्रतिस्पर्धात्मक रूप में (Labour is supplied monopolistically but purchased competitively)—इसे एक मजदूर संघ व अनेक नियोक्ताओं की दशा भी कह सकते हैं। यहाँ एक मजदूर संघ के हाथ में श्रम की समस्त पूर्ति होती है, लेकिन श्रम की खरीददार कई फर्में होती है। ऐसी स्थिति में मजदूर संघ मजदूरी तो ऊँची करवा देते हैं, लेकिन उससे रोजगार की मात्रा में गिरावट आ जाती है। यह अग्र चित्र 6 की सहायता से समझाया गया है—

यहाँ प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति में E_1 बिन्दु पर सन्तुलन होता है, जिसमें OW_1 मजदूरी पर श्रम की माँग Oq_1 होती है और यही श्रम की पूर्ति भी होती है। मजदूर-संघ मजदूरी की दर OW_1 से बढ़ाकर OW_2 करा देते हैं, जिस पर श्रम की पूर्ति Oq_2 होती

1 Richard G. Lipsey and K. Alec Chrystal, Principles of Economics, 9th ed 1999 pp 245-252.
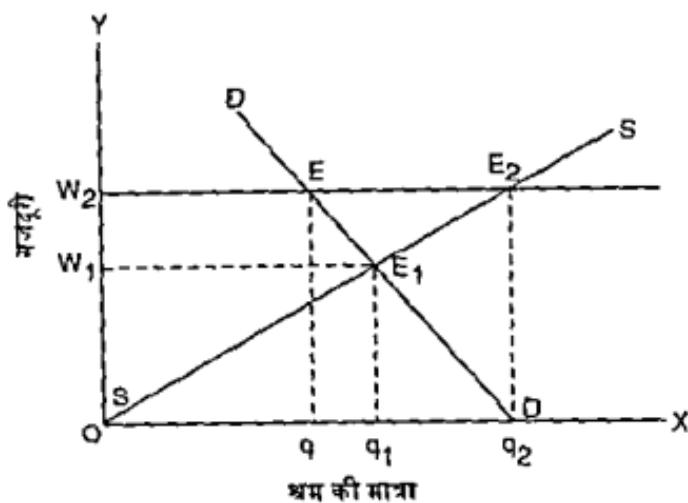
चित्र 6 मजदूर सघ द्वारा श्रम की पूर्ति करना तथा श्रम की माँग का प्रतियोगी होना
(एक मजदूर सघ व अनेक नियोक्ताओं की दशा में मजदूरी निर्धारण)

है, लेकिन श्रम की माँग घटकर $W_2E = Oq$ हो जाती है, जिससे qq_2 अथवा EE_2 श्रमिको को काम नही मिल पाता। इस प्रकार मजदूर सघ मजदूरी बढाने मे सफल होकर भी रोजगार नही बढा पाते, बल्कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा की तुलना में अब रोजगार की मात्रा qq_1 कम हो जाती है। बेरोजगारी बढने से मालिक मजदूरों को कम मजदूरी पर काम देने को उत्सुक होते हैं, लेकिन मजदूर सघ ऐसा नहीं होने देते, अन्यथा उनका मजदूरी बढवाने का प्रयास ही विफल हो जाता है।

(2) श्रम की पूर्ति प्रतिस्पर्धात्मक रूप मे तथा माँग क्रेता एकाधिकारी द्वारा (Labour is supplied competitively, but demanded monopsonistically) — इसे अनेक श्रमिक व एक श्रम के क्रेता (श्रम के क्रेता-एकाधिकारी) की दशा भी कह सकते है। यहाँ पर श्रम का एक व्यक्ति ही खरीददार होता है। अत इसे क्रेता एकाधिकार (monopsony)की दशा कहकर पुकारा जाता है। यहाँ श्रमिकों की सख्या तो अधिक होती है, लेकिन उनका कोई मजदूर सघ नहीं होता है। अत इस स्थिति में श्रम का MRP वक्र तो नीचे की ओर झुकता है, लेकिन यहाँ श्रम के पूर्ति-वक्र व श्रम के सीमान्त लागत वक्र में अन्तर करना होता है।

एक क्रेता एकाधिकारी श्रम की विभिन्न इकाइयों के लिए अलग अलग मजदूरी देना है। आगे कल्पित आँकडों का उपयोग करके श्रम के पूर्ति वक्र व श्रम के सीमान्त लागत वक्र का अन्तर समझाया गया है—

श्रम की इकाइयाँ	मजदूरी की दर (AW)	कुल मजदूरी (TW)	श्रम की सीमान्त लागत (MW)
(1)	(2)	(3)	(4)
1	2.00	2.00	–
2	2.50	5.00	3.00
3	3.00	9.00	4.00
4	3.50	14.00	5.00
5	4.00	20.00	6.00

स्पष्टीकरण—सारणी के कॉलम (2) में मजदूरी की दर दिखलाई गयी है। श्रमिकों की संख्या के बढ़ने के साथ-साथ यह बढ़ती जाती है। कॉलम (3) वस्तुत कॉलम (1) व कॉलम (2) को गुणा करके प्राप्त किया गया है। कॉलम (4) कॉलम (3) से प्राप्त किया गया है। 2 श्रमिकों की सीमान्त लागत (5–2) = 3 रुपए, इसी प्रकार 3 श्रमिकों के लिए यह (9–5) = 4 रुपए होती है और यही आकलन आगे जारी रखा गया है।

कॉलम (1) व (2) को चित्र पर दर्शाने से श्रम का पूर्ति वक्र (SS) या AW बनता है, (X-अक्ष पर श्रम की इकाइयाँ तथा Y-अक्ष पर मजदूरी की दर लेने पर) तथा कॉलम (1) व (4) को चित्र पर दर्शाने से श्रम का सीमान्त मजदूरी वक्र (MW curve) अथवा श्रम का सीमान्त लागत-वक्र (MC_2) बनता है, जो SS वक्र के ऊपर होता है, क्योंकि श्रम की विभिन्न इकाइयों के लिए श्रम की सीमान्त लागत श्रम की मजदूरी की दर से ऊँची होती है।

अब हम क्रेता-एकाधिकार (monopsony) की दशा में मजदूरी-निर्धारण का आवश्यक चित्र देते हैं जो आगे चित्र 7 में दर्शाया गया है।

स्पष्टीकरण—DD वक्र श्रम का माँग-वक्र या MRP वक्र है। SS श्रम का पूर्ति-वक्र है जो मजदूरी की अलग-अलग दरों पर श्रम की पूर्ति दर्शाता है। MC_l श्रम का सीमान्त लागत-वक्र है। MC_L वक्र MRP वक्र को B बिन्दु पर काटता है। जिससे सन्तुलन में OQ श्रम की मात्रा लगाई जाती है। OQ श्रम की मात्रा पर मजदूरी की दर CQ होती है और श्रम की सीमान्त-आय-उत्पत्ति BQ होती है, जिससे प्रति श्रमिक (BQ - CQ) = BC क्रेता-एकाधिकारी द्वारा किया गया प्रति इकाई आर्थिक शोषण होता है, तथा कुल क्रेता-एकाधिकारी शोषण (total monopsonistic exploitation) = ABCE क्षेत्र होता है। स्मरण रहे कि CQ मजदूरी की दर पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में निर्धारित मजदूरी की दर R_1 से कम तथा रोजगार की मात्रा OQ भी R_1 द्वारा प्रदर्शित रोजगार की मात्रा से कम होती है। R_1 सन्तुलन बिन्दु पूर्ण प्रतिस्पर्धा में पाया जाता है। इस प्रकार क्रेता-एकाधिकार (Monopsony) की स्थिति में पूर्ण प्रतिस्पर्धा की तुलना में मजदूरी की दर तथा रोजगार की मात्रा दोनों कम पाए जाते हैं। साथ
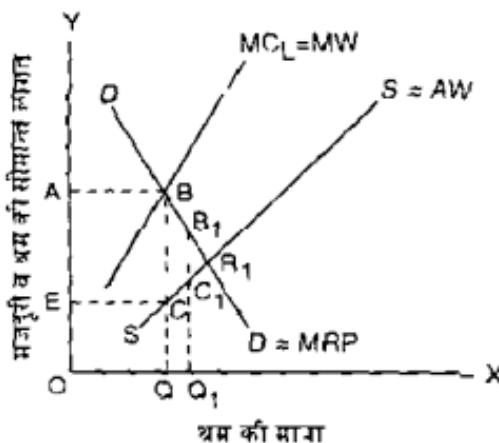
चित्र 7 क्रेता एकाधिकार (Monopsony) की दशा में मजदूरी का निर्धारण व क्रेता-एकाधिकारी-शोषण

इस स्थिति में मजदूर-संघ की स्थापना की जाती है, जो मजदूरी की दर को बढ़ाकर क्रेता-एकाधिकारी द्वारा किए जाने वाले आर्थिक शोषण को कम करने का प्रयास करता है। मान लीजिए, मजदूर संघ मजदूरी की दर CQ से बढ़ाकर C_1Q_1 करा लेता है, तो रोजगार OQ से बढ़कर OQ_1 हो जाता है, और प्रति इकाई आर्थिक शोषण भी BC से घटकर B_1C_1 हो जाता है। चित्र में B_1 व C_1 से OY-अक्ष पर रेखाएँ डालकर नया क्रेता-एकाधिकारी आर्थिक शोषण का क्षेत्र निकाला जा सकता है, जो पहले के ABCE से कम होता है।

(3) *श्रम की पूर्ति एकाधिकारी ढंग पर तथा माँग क्रेता-एकाधिकारी ढंग पर* **की जाती है (Labour is supplied monopolistically and demanded monopsonistically)**—इसे द्विपक्षीय एकाधिकार (bilateral *monopoly*) की दशा भी कहते हैं। द्विपक्षीय एकाधिकार में एक एकाधिकारी मजदूर संघ एक क्रेता-एकाधिकारी मालिक या उद्यमकर्ता को अपना श्रम बेचता है। इसमें काफी मोल-भाव या सामूहिक सौदाकारी (collective bargaining) होती है। इसमें मजदूरी का निर्धारण आगे चित्र 8 पर समझाया गया है।

स्पष्टीकरण—चित्र 8 में OX-अक्ष पर श्रम की मात्रा व OY-अक्ष पर मजदूरी की दर दिखायी गयी है। एक मजदूर-संघ मजदूरी व रोजगार दोनों को एक क्रेता-एकाधिकारी के स्तरों से ऊपर ले जा सकता है। एक क्रेता एकाधिकारी (monopsonist) OW मजदूरी पर Oq_1 श्रमिकों को काम पर लगायेगा। यदि एक मजदूर-संघ मजदूरी W_0 रखवा लेता है तो श्रम के पूर्ति वक्र W_0E_0S पर E_0 सन्तुलन पर रोजगार की मात्रा Oq_0 होती है। यदि मजदूर-संघ किसी तरह मजदूरी और भी ऊँची OW_1 रखवा लेता
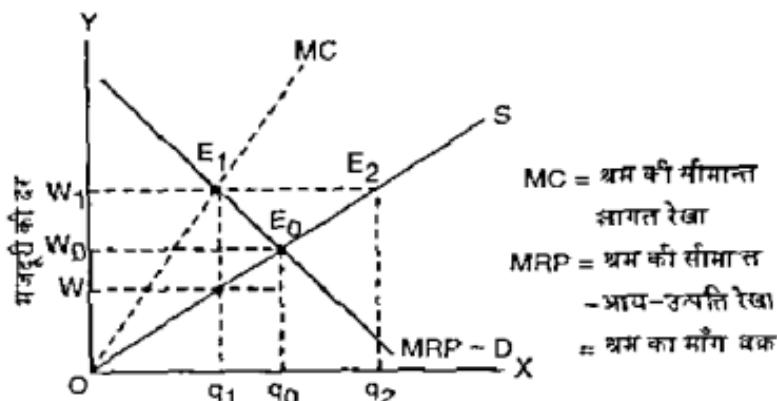
चित्र 8 एक मजदूर संघ व एक नियोक्ता की दशा में मजदूरी निर्धारण

है तो श्रम के पूर्ति वक्र W_1E_2S पर रोजगार तो Oq_1 के स्तर पर ही मिलता है, जो क्रेता एकाधिकार की दशा के बराबर होता है। अत OW_1 मजदूरी की ऊँची दर पर $Oq_2 - Oq_1 = q_1q_2$ श्रमिकों को काम चाहते हुए भी काम नहीं मिल पाता है।

मजदूर संघ व मजदूरी (Trade Unions and Wages)[1]

मजदूर संघ श्रमिकों के हितों की रक्षा के लिए बनाए गए संगठन होते हैं। ये विशेषतया मजदूरी में वृद्धि करने का प्रयास करते हैं। सेमुअल्सन व नोरढाउस के अनुसार मजूदर संघ चार प्रकार से मजदूरी में वृद्धि कर सकते हैं—

(1) श्रम की पूर्ति को नियन्त्रित करके,

(2) स्टैण्डर्ड मजदूरी की दरों में वृद्धि करके,

(3) श्रम के व्युत्पन्न माँग (derived demand curve) को ऊपर खिसका कर, एव

(4) वे क्रेता एकाधिकारी (monopsonist) के द्वारा किए जाने वाले शोषण को कम करवा सकते हैं। इसके लिए उन्हें क्रेता एकाधिकारी की शक्ति के खिलाफ संघर्ष करना पड़ता है, हम इनका चित्र सहित स्पष्टीकरण देते हैं—

(1) श्रम की पूर्ति को नियन्त्रित करके—मजदूर संघ श्रम की पूर्ति को नियन्त्रित करके श्रम के माँग वक्र पर ऊपर की ओर जाने में सफल हो जाते हैं। विदेशों से आने वाले श्रमिकों पर रोक लगाकर, काम के अधिकतम घंटे निश्चित करके, ऊँची फीस रखकर, लम्बा प्रशिक्षण काल एव संघ में नए सदस्यों की भर्ती को बन्द करके श्रम की पूर्ति को नियन्त्रित किया जाता है। चित्र 9 (इ) में श्रम की पूर्ति SS से घटाकर S_1S_1

1 Samuelson & Nordhaus Economics 16th ed 1998 pp 236 240

कर दी जाती है। परिणामस्वरूप मजदूरी A से बढ़कर B पर आ जाती है। अब श्रम की BC मात्रा इस उद्योग में काम नहीं करती क्योंकि इसमें श्रम की पूर्ति घटा दी गई है।

(2) स्टैण्डर्ड मजदूरी की दर में वृद्धि करके—आजकल मजदूर संघ प्रत्यक्ष रूप से ऊँची स्टैण्डर्ड मजदूरी निश्चित करा सकते हैं और इसे कायम भी रख सकते हैं। ऐसी स्थिति में उद्योगपति ऊँची स्टैण्डर्ड मजदूरी की दर पर आवश्यकतानुसार श्रमिक रख लेते हैं और शेष मजदूरों को काम नहीं मिल पाता है। चित्र 9 (आ) में WW स्टैण्डर्ड मजदूरी की दर के निर्धारित हो जाने से BC श्रमिक बेरोजगार हो जाते हैं।
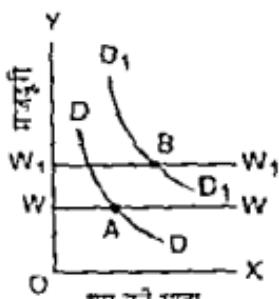
(अ) श्रम के व्युत्पन्न माँग वक्र में वृद्धि करके
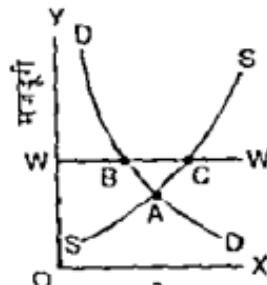
(आ) स्टेण्डर्ड मजदूरी में वृद्धि करके
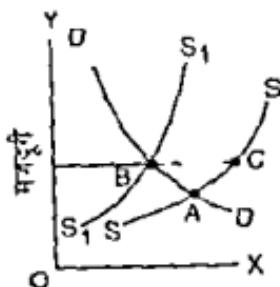
(इ) श्रम की पूर्ति को नियंत्रित करके

चित्र 9 मजदूर संघों के मजदूरी बढ़ाने के विभिन्न तरीके

इस प्रकार श्रम की पूर्ति के नियन्त्रण एवं स्टेण्डर्ड मजदूरी में वृद्धि का एक सा प्रभाव पड़ता है। ऊँची स्टेण्डर्ड मजदूरी की दर पर सम्बन्धित उद्योग में रोजगार के अवसर कम हो जाते हैं।

(3) श्रम के व्युत्पन्न माँग वक्र को ऊपर की ओर खिसका कर—चित्र 9 (अ) में श्रम का माँग वक्र DD से खिसक कर ऊपर की ओर D_1D_1 पर आ जाता है। मजदूर संघ कई उपाय अपनाकर श्रम का माँग वक्र ऊँचा कर सकते हैं। श्रम के उत्पन्न वस्तु की माँग को बढ़ाने के लिए विज्ञापन का उपयोग किया जा सकता है

अथवा श्रम की उत्पादकता बढ़ाकर वस्तु की कीमत कम की जा सकती है, जिससे उसकी माँग बढ़ जाती है।

यदि सामूहिक सौदाकारी से मजदूरी बढ़ती है और ऊँची मजदूरी से श्रम की सीमान्त उत्पादकता बढ़ जाती है तो श्रम अपना माँग-वक्र ऊँचा कर लेता है। चित्र 9 (अ) में मजदूरी के WW से W_1W_1 हो जाने पर श्रम का माँग वक्र DD से बढ़कर D_1D_1 हो जाता है। स्पष्ट है कि B बिन्दु पर मजदूरी व रोजगार दोनों बढ़ जाते हैं। यदि बहुत कम मजदूरी पाने वाले श्रमिकों की मजदूरी बढ़ायी जाती है तो उनकी कार्यकुशलता बढ़ जाती है, जिससे उनका माँग वक्र भी ऊपर की ओर खिसक जाता है।

(4) श्रम के क्रेता-एकाधिकारी अथवा अकेले खरीददार (monopsonist) द्वारा शोषण दूर करके मजदूरी बढ़वाना—मान लीजिए, किसी स्थान पर मजदूरों को काम पर रखने वाला एक ही व्यक्ति होता है। जैसा कि ऊपर समझाया जा चुका है, उसे श्रम का एकाधिकारी खरीददार (monopsonist) कहते हैं। वह मजदूरों की विवशता का लाभ उठाकर उन्हें इस चित्र में M बिन्दु की मजदूरी, अर्थात् OW मजदूरी देता है और उनका शोषण करता है। यदि उस स्थान पर कोई मजदूर-संघ बन जाता है तो मालिक को OW_1 सन्तुलन मजदूरी देनी पड़ सकती है, जिससे मजदूरी व रोजगार दोनों बढ़ जाते हैं। मालिक अनिच्छा से SS वक्र पर ऊपर खिसकता जाता है और अन्त में E सन्तुलन पर ठहर जाता है। यदि मजदूर संघ और ज्यादा दबाव डालता है तो मजदूरी बढ़ने पर बेरोजगारी की स्थिति उत्पन्न होने लगती है। क्रेता एकाधिकारी की दशा में मजदूर-संघ द्वारा श्रमिकों के शोषण को कम करने पर पहले चित्र 7 पर भी प्रकाश डाला जा चुका है।
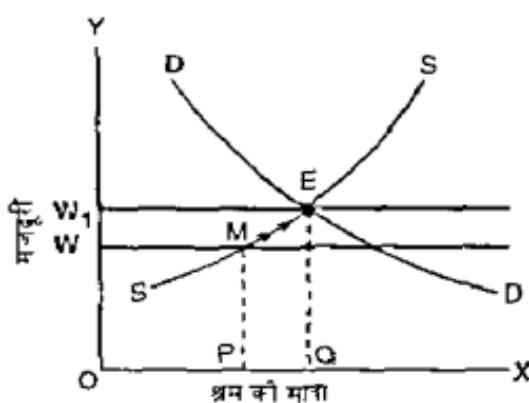
चित्र 9 (ई)

इस प्रकार मजदूर संघ क्रेता-एकाधिकारी के द्वारा किए जाने वाले आर्थिक शोषण को कम करवा सकते हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मजदूर संघों की मजदूरी बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। यदि मजदूरी श्रम की सीमान्त उत्पादकता से कम होती है तो वे इसे बढ़ाकर इसके बराबर करवा सकते हैं, स्वयं श्रम की सीमान्त उत्पादकता के स्तर को ऊँचा करके भी वे मजदूरी बढ़वाने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

न्यूनतम मजदूरी (Minimum Wages)—मान लीजिए, एक उद्योग में सरकार अथवा मजदूर संघ न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करते हैं। हम मान लेते हैं कि मालिकों

में पूर्ण प्रतिस्पर्धा पायी जाती है अर्थात् प्रत्येक मिल मालिक के लिए मजदूरी दी हुई होती है। यदि न्यूनतम मजदूरी सन्तुलन मजदूरी से कम होती है तो उसका कोई अर्थ नहीं होता। यदि वह उसके बराबर होती है तो प्रचलित स्थिति बनी रहती है। न्यूनतम मजदूरी के सतुलन मजदूरी से अधिक होने पर विश्लेषण इस प्रकार होता है।

न्यूनतम मजदूरी की दर के सन्तुलन मजदूरी की दर से अधिक होने पर एक फर्म पहले से कम श्रमिकों को काम पर लगा पाती है। यह निम्न चित्र से स्पष्ट हो जाता है—

चित्र में OW मजदूरी पर OQ श्रमिक काम पर लगाए जाते हैं। यदि न्यूनतम मजदूरी OW_1 निर्धारित की जाती है तो OQ_1 श्रमिक ही लगाए जाएँगे। इस प्रकार QQ_1 श्रमिकों को काम नहीं मिल सकेगा। प्रत्येक फर्म उस बिन्दु तक श्रमिक लगाती है जहाँ पर मजदूरी की दर सीमान्त आय-उत्पत्ति (wages = MRP) के बराबर होती है।

चित्र 10 न्यूनतम मजदूरी का प्रभाव

ऊँची न्यूनतम मजदूरी से बेरोजगारी की मात्रा सीमान्त-आय-उत्पत्ति वक्र की लोच पर निर्भर करती है। इसके बेलोच होने पर बेरोजगारी की मात्रा कम होती है और इसके लोचदार होने पर बेरोजगारी की मात्रा ज्यादा होती है।

ऊँची न्यूनतम मजदूरी के लागू होने पर मिल मालिक इसका कुछ भार उपभोक्ताओं पर डालने का प्रयत्न करते हैं, और इसके लिए वस्तु की कीमत बढ़ाई जाती है। यदि वस्तु की माँग की लोच कम होती है तो वे अपने उद्देश्य में सफल हो सकते हैं। लेकिन वस्तु की कीमत के बढ़ जाने से श्रम का
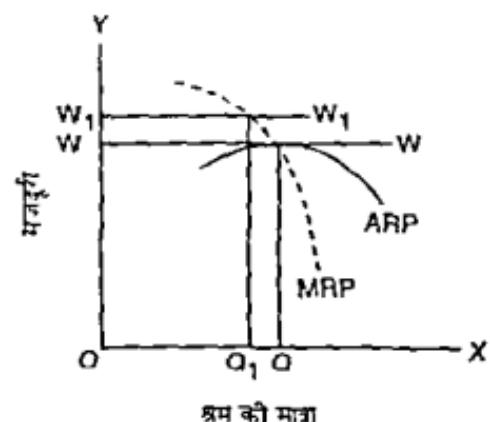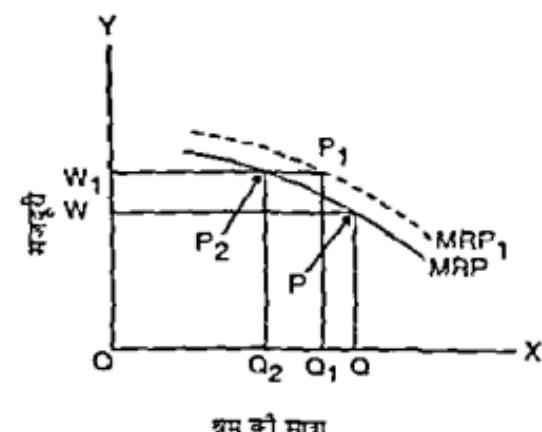
चित्र 11-सीमान्त-आय-उत्पत्ति वक्र के ऊपर खिसकने का प्रभाव

सीमान्त आय उत्पत्ति वक्र भी ऊपर की ओर खिसक जाता है, जिससे बेरोजगारी उतनी नही होगी, जितनी अन्यथा होती। यह चित्र 11 पर स्पष्ट किया गया है।

चित्र मे वस्तु की कीमत के बढने से सीमान्त आय उत्पत्ति वक्र MRP से MRP_1 हो जाता है। न्यूनतम मजदूरी के OW_1 हो जाने पर MRP वक्र के अनुसार रोजगार OQ_2 मिलता है अर्थात् पहले से QQ_2 घट जाता है। लेकिन MRP_1 वक्र के अनुसार OW_1 मजदूरी पर OQ_1 रोजगार मिलेगा अर्थात् पहले से QQ_1 ही घटेगा। इस प्रकार सीमान्त आय उत्पत्ति वक्र के ऊपर की ओर खिसक जाने पर रोजगार की गिरावट उपर्युक्त चित्र के अनुसार Q_1Q_2 तक कम की जा सकती है।

प्राय कम मजदूरी पाने वाले श्रमिकों की न्यूनतम मजदूरी पहले से ऊँची निर्धारित करने से उनकी कार्यकुशलता व उत्पादकता में वृद्धि होती है, जिससे स्वय MRP वक्र ऊपर की ओर चला जाता है। इससे बेरोजगारी कम फैलती है।

मजदूरी के अन्तरों के कारण (Causes of Wage Differences)—मजदूरी के अध्ययन में एक महत्त्वपूर्ण विषय यह है कि विभिन्न श्रेणी के श्रमिकों की मजदूरी में अन्तर क्यों पाए जाते हैं? सेमुअल्सन व नोरढाउस के अनुसार, मजदूरी के अन्तरों का विश्लेषण तीन शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—

(1) समानीकरण के अन्तर (Equalizing Differences),

(2) असमानीकरण के अन्तर (Non equalizing Differences), तथा

(3) श्रम बाजार में अप्रतियोगी समूहों (Non competing Groups) पाए जाने की स्थिति में।

हम इनका नीचे क्रमश वर्णन करते हैं—

(1) समानीकरण के अन्तर—ये अन्तर केवल नकद मजदूरी मे अन्तर पैदा करते है, वास्तविक मजदूरी मे नही। मजदूरी के कुछ अन्तर ऐसे होते ह जो विभिन्न व्यवसायों के गैर-मौद्रिक अन्तरो **(Non-monetary differences)** के कारण उत्पन्न होते है। मान लीजिए दो व्यवसायों में से एक अरुचिकर है तो उसमें लोगों को आकर्षित करने के लिए ऊँची मजदूरी देनी होगी। अत इस स्थिति में विभिन्न श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी में समानता होती है और केवल नकद मजदूरी में ही अन्तर पाए जाते हैं। इसमें वे सब तत्त्व आ जाते हैं जो वास्तविक मजदूरी को प्रभावित करते हैं। इसका स्पष्टीकरण नीचे किया जाता है।

(क) अरुचिकर व घटिया काम—जिन धधों में गदगी, तनाव, थका देने वाली जिम्मेदारी, ऊब, नीची सामाजिक प्रतिष्ठा, अनियमित रोजगार, मौसमी बेकारी, अल्प कार्यकाल और काफी नीरस किस्म का प्रशिक्षण होता है, वे लोगों के लिए कम आकर्षक होते हैं। ऐसे व्यवसायों के लिए श्रमिकों को भरती करने के लिए उनकी मजदूरी ऊँची करनी होती है। इसके विपरीत, रुचिकर व आकर्षक धधों में काफी लोग प्रवेश करना चाहते हैं जिससे उनकी मजदूरी नीची हो जाती है। बहुत से योग्यता प्राप्त व्यक्ति 'व्हाइट

कॉलर' काम (job) पसन्द करते हैं और इसी कारण कभी कभी क्लर्कों में मजदूरी 'ब्ल्यू कॉलर' मजदूरी (शारीरिक श्रम करने वालों को प्राप्त मजदूरी) से कम होती है।

(ख) काम सीखने के समय व व्यय में अन्तर—काम को सीखने में जो समय व व्यय लगता है उसकी वजह से वेतन में जो अन्तर उत्पन्न होता है वह भी इसी शीर्षक के अन्तर्गत आता है। एक दिया हुआ समानीकरण का अन्तर है या नहीं, इसकी जाँच आसानी से की जा सकती है। मान लीजिए दो धंधों में से एक में मजदूरी ऊँची होती है और दूसरे में नीची। एक व्यक्ति दोनों में काम कर सकता है। हम उससे पूछते हैं कि तुम कौन सा काम करोगे। यदि वह अपना चुनाव कर सकने में असमर्थ होता है तो हम यह कहेंगे कि ऊँचे वेतन वाला कार्य मौद्रिक व अमौद्रिक सभी बातों को ध्यान में रखते हुए अधिक आकर्षक नहीं है। दूसरे शब्दों में दोनों धंधों में केवल नकद मजदूरी का ही अन्तर है वास्तविक मजदूरी का नहीं।

(2) असमानीकरण के अन्तर—वास्तविक जगत में मजदूरी के समस्त अन्तर समानीकरण के अन्तर नहीं होते। हम प्राय देखते हैं कि रुचिकर कार्यों में मजदूरी कम होने के बजाए ज्यादा पायी जाती है। असमानीकरण के अन्तर निम्न कारणों से उत्पन्न होते हैं—

(क) अपूर्ण प्रतिस्पर्धा का प्रभाव—ऐसा अपूर्ण प्रतिस्पर्धा के कारण हो सकता है। श्रमिकों को रोजगार के अवसरों का पूर्ण ज्ञान नहीं होता। मजदूर संघों के कार्य, न्यूनतम मजदूरी के कानून, एक विशिष्ट व्यवसाय में श्रमिकों का एकाधिकार, आदि कारणों से असमानीकरण के अन्तर उत्पन्न हो सकते हैं। यदि अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की विभिन्न बाधाओं को दूर किया जाए तो काफी सीमा तक विभिन्न व्यवसायों में मजदूरी समान हो सकती है।

(ख) श्रमिकों में गुणात्मक अन्तर—श्रमिकों के गुणात्मक अन्तर होने से भी मजदूरी में अन्तर पाए जाते हैं। लोगों की योग्यता में बहुत अन्तर होते हैं। इसलिए वास्तविक जगत में योग्यता के अन्तरों से जो मजदूरी के अन्तर उत्पन्न होते हैं, वे असमानीकरण के अन्तरों की श्रेणी में ही आते हैं। प्रोफेसर मिल्टन फ्रीडमैन के अनुसार, योग्यता के अन्तरों को अप्रतियोगी समूहों के कारणों में भी रखा जा सकता है।

(3) श्रम-बाजार में अप्रतियोगी समूह (Non-competing groups)—मजदूरी के अन्तरों का एक महत्वपूर्ण कारण समाज में अप्रतियोगी समूहों का पाया जाना भी होता है, जिससे ऊँचे वेतन वाले व्यवसायों में प्रवेश करने में किसी न किसी प्रकार की बाधा पायी जाती है। कुछ व्यक्ति ऐसे व्यवसायों में प्रवेश करने के लिए स्वतन्त्र होते हैं। कैरनीज ने इनके लिए, 'अप्रतियोगी समूह' शब्द का उपयोग किया है। प्रवेश में अग्रलिखित कारणों से बाधाएँ उपस्थित होती हैं—

(क) प्रवेश पर जान-बूझकर लगाए गए प्रतिबन्ध—दूसरे देशों से श्रमिकों के आने पर प्रतिबन्ध होने के कारण ही अमरीकी श्रमिक अन्य देशों के श्रमिकों की तुलना

में अप्रतियोगी समूह बनाए हुए हैं। एक देश के अन्दर एक व्यवसाय में प्रवेश करने के लिए लाइसेंस लेने की आवश्यकता हो सकती है। मजदूर संघों के द्वारा एक मालिक पर स्वीकृत मजदूरी देने के लिए दबाव डालने से भी एक व्यवसाय में प्रवेश पर प्रतिबन्ध लग जाता है।

(ख) भौगोलिक अगतिशीलता—देश के एक भाग से दूसरे भाग में श्रमिकों के गतिशील न होने से भी अप्रतियोगी समूह उत्पन्न हो जाते हैं। लेकिन आजकल इस तत्व का प्रभाव पहले की अपेक्षा काफी कम हो गया है।

(ग) योग्यता के अन्तर—विभिन्न व्यवसायों में योग्यता के विभिन्न स्तरों की आवश्यकता होती है। जब एक विशेष किस्म की योग्यता की माँग इसकी पूर्ति से अधिक होती है तो इसका मूल्य भी ऊँचा ही आँका जाता है। योग्यता के अन्तरों के कारण समाज में अप्रतियोगी समूह (non competing groups) बने रहते हैं। उच्च कोटि के अभिनेता, अभिनेत्रियाँ, गायक व नर्तक आदि इसी श्रेणी में आते हैं।

(घ) समाज में सामाजिक-आर्थिक श्रेणी विभाजन—विभिन्न व्यवसायों में प्रवेश पर प्रतिबन्ध का एक मुख्य कारण जनता का विभिन्न सामाजिक वर्गों में विभाजित होना भी रहा है। भारत में जाति प्रथा के प्रभाव के कारण कुछ उच्च व्यवसाय विशिष्ट सामाजिक वर्गों के लिए ही खुले रहे हैं और अन्य के लिए बन्द रहे हैं। परिणामस्वरूप, समाज के पिछड़े वर्गों की गतिशीलता में बाधा रहने से प्रतिफल के अन्तर पाए जाते हैं। पिछले वर्षों में इस तत्त्व का प्रभाव कुछ कम हुआ है, लेकिन फिर भी स्थिति पूर्णतया नहीं बदल पायी है। कुछ व्यवसायों में प्रशिक्षण का व्यय बहुत ऊँचा होता है और काफी लम्बी अवधि के बाद प्रतिफल मिल पाते हैं। इससे भी प्रतिफल के अन्तर उत्पन्न हो जाते हैं।

अमरीका में अप्रतियोगी समूहों के पीछे एक कारण काले गोरों का रंग भेद भी माना गया है। नीग्रो लोगों को प्रशिक्षण आदि के उतने अवसर नहीं मिलते जितने गोरे लोगों को मिलते हैं। यही कारण है कि नीग्रो जाति के लोगों के लिए रोजगार के अवसर भी भिन्न व घटिया किस्म के होते हैं।

हमने ऊपर मजदूरी के अन्तरों के लिए तीन प्रकार के कारणों पर प्रकाश डाला है। समानीकरण के अन्तर तो केवल ऊपरी होते हैं, अर्थात् नकद मजदूरी में अन्तर होते हुए भी वास्तविक मजदूरी समान होती है। श्रम-बाजार में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा व श्रम में गुणात्मक अन्तर होने से असमानीकरण के अन्तर उत्पन्न हो सकते हैं। लेकिन मजदूरी के अन्तरों के पीछे एक प्रबल अप्रतियोगी समूह बनने के अन्य कारण भी हो सकते हैं।

स्त्रियों की मजदूरी पुरुषों से कम क्यों होती है?

प्रायः स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा की दशा में एक ही व्यवसाय में स्त्रियों की मजदूरी पुरुषों की तुलना में कम पायी जाती है। इसके कई कारण हो सकते हैं—

(1) गिने चुने सीमित व्यवसायों में स्त्रियों की भरमार पायी जाती है,

(2) महिलाएँ प्राय शादी से पूर्व अधिक नियमित रूप से कार्य करती हैं, लेकिन शादी के बाद वे काम में अनियमित हो जाती हैं, जिससे मालिक भी उन्हें काम देने में हिचकिचाने लगते हैं

(3) इनमें सगठन का अभाव पाया जाता है, -

(4) गतिशीलता में बाधा के कारण वे ज्यादातर परिवार के साथ रहकर ही काम करना चाहती हैं जिससे उन्हें कम मजदूरी स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पडता है,

(5) वे शिक्षा व प्रशिक्षण में ज्यादा समय नहीं लगा पातीं, इससे भी उनकी मजदूरी कम हो सकती है। लेकिन समय के साथ ये दशाएँ तेजी से बदल रही हैं, और पुरुष व स्त्री-श्रमिकों में मजदूरी की समानता दिखाई देने लगी है।

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 मजदूर की सर्वाधिक रुचि किसमें होती है?

(अ) मौद्रिक मजदूरी में (ब) वास्तविक मजदूरी में

(स) दैनिक मजदूरी में (द) कार्यानुसार मजदूरी में (ब)

2. मजदूरी के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त में प्रमुख कमी क्या है?

(अ) यह सभी श्रमिकों को समरूप (एक सा) मानता है।

(ब) व्यवहार में श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता को ज्ञात करना असम्भव है।

(स) यह केवल श्रम के माँग पक्ष पर विचार करता है।

(द) यह गलत किस्म की मान्यताओं पर आधारित है। (स)

3 श्रमिक का आर्थिक शोषण किस दशा में सर्वाधिक होता है?

(अ) एक मजदूर सघ व अनेक नियोक्ता (many employers)

(ब) एक क्रेता एकाधिकारी व अनेक श्रमिक

(स) एक क्रेता-एकाधिकारी व एक मजदूर सघ (द्विपक्षीय-एकाधिकार की दशा)

(द) श्रम बाजार में श्रमिकों की माँग व पूर्ति से मजदूरी के निर्धारण की दशा में (ब)

4 आप मजदूर-सघों की मजदूरी निर्धारण में क्या भूमिका मानते हैं?

(अ) वे मजदूरी की दर को श्रम की सीमान्त उत्पादकता के बराबर करवाने में मदद करते हैं (यदि $W < MP_l$ हो)

(ब) वे मजदूरी की दर को श्रम की सीमान्त उत्पादकता से भी ऊँचा करवा सकते हैं (इसके लिए पहले उन्हें श्रम की सीमान्त उत्पादकता बढानी होगी)

(स) वे श्रमिकों को न्यूनतम मजदूरी दिलाने में मदद कर सकते हैं

(द) सभी (द)

5 मजदूरी निर्धारण में द्विपक्षीय एकाधिकार की दशा कब मानी जाती है?

(अ) जब सरकार मजदूरी निर्धारण में हस्तक्षेप करे

(ब) जब मजदूर सघ मजदूरी निर्धारण में अपना योगदान दें

(स) जब सरकार व मिल मालिक आपस में मिल बैठकर मजदूरी की दर तय करें

(द) जब एक यूनियन व एक नियोक्ता की दशा में मजदूरी का निर्धारण करना हो (द)

अन्य प्रश्न

1 पूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार में मजदूरी निर्धारण को समझाइये।
(MDSU, Ajmer IIyr 2000)

2 सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(i) मजदूरी का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त

(ii) समयानुसार और कार्यानुसार मजदूरियाँ

(iii) वास्तविक मजदूरी व नक्द मजदूरी

(iv) मजदूरी का जीवन निर्वाह सिद्धान्त तथा

(v) मजदूर सघों की मजदूरी के निर्धारण में भूमिका।

3 मजदूरी की परिभाषा देकर मजदूरी निर्धारण का आधुनिक सिद्धान्त समझाइए।

4 'साधन बाजार व वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में मजदूरी श्रम की सीमान्त उत्पत्ति के मूल्य के बराबर होती है।' इस कथन की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए और बतलाइए कि यह मजदूरी का कहाँ तक सही सिद्धान्त है?

5 मजदूरी श्रम की माँग तथा पूर्ति से निर्धारित होती है। उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।

6 मजदूरी के सामूहिक सौदाकारी के सिद्धान्तों का चित्रों सहित विवेचन कीजिए।

7 निम्न दशाओं में मजदूरी के निर्धारण की व्याख्या कीजिए—

(i) एकाधिकारी मजदूर सघ व अनेक मालिक या उद्यमकर्ता

(ii) क्रेता एकाधिकारी (monopsonist) व अनेक श्रमिक, तथा

(iii) द्विपक्षीय एकाधिकार (bilateral monopoly) की दशा।

29

लगान-सिद्धान्त एवं दुर्लभता-लगान, विभेदात्मक लगान तथा आभास-लगान

(Theory of Rent, Scarcity rent, Differential rent and Quasi-rent)

साधारण बोलचाल में अंग्रेजी शब्द 'Rent' का उपयोग मकान, दुकान, गोदाम आदि के लिए नियमित रूप से दिए जाने वाले किराये के अर्थ में किया जाता है। लेकिन अर्थशास्त्र मे 'लगान' शब्द का उपयोग उन उत्पादन के साधनों के भुगतानों के लिए किया जाता है जिनमें पूर्ति की लोच अपूर्ण (*imperfectly elastic supply*) होती है। इस सम्बन्ध मे मुख्य उदाहरण भूमि से लिया जाता है।[1] पूर्ति की लोच अपूर्ण होने का आशय यह है कि किसी साधन की माँग के बढ़ने पर उसकी पूर्ति को बढ़ाना कठिन होता है। अत आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने लगान का सम्बन्ध साधन की बेलोच पूर्ति से किया है, जो आगे चलकर स्पष्ट किया जाएगा।

आर्थिक लगान (Economic rent) का अर्थ

अर्थशास्त्र में प्राय आर्थिक लगान (Economic rent) और ठेका (प्रसविदा) लगान (Contract rent) में अन्तर किया जाता है। आर्थिक लगान केवल भूमि के उपयोग के लिए ही दिया जाता है। इसमें भूस्वामी के द्वारा भूमि मे किए गए पूँजीगत विनियोग के लिए ब्याज शामिल नहीं किया जाता। ठेका लगान भूस्वामी और काश्तकार के बीच भूमि की माँग व पूर्ति की शक्तियों के आधार पर तय होता है। इसमें भूमि के उपयोग की कीमत के अलावा भूस्वामी की पूँजी का ब्याज भी शामिल होता है। अत ठेका-लगान व्यवहार में आर्थिक लगान से अधिक होता है।

रिकार्डो के लगान-सिद्धान्त मे आर्थिक लगान अधिसीमान्त भूमि (supermarginal land) तथा सीमान्त भूमि (marginal land) की उपज का अन्तर होता है। सीमान्त

1 "The term is applied only to payments made for factors of production which are in imperfectly elastic supply—with land as the main example —Stonier and Hague A *Textbook of Economic Theory*, 5th ed, 1980 p 309

भूमि लगानविहीन भूमि (no rent land) होती है। इस पर आर्थिक लगान उत्पन्न नही होता है।

हम आगे चलकर बतलाएँगे कि आजकल आर्थिक लगान का अर्थ एक भिन्न रूप म लगाया जाने लगा है। यह उत्पत्ति के प्रत्येक साधन-श्रम भूमि व पूँजी आदि सभी साधनो को प्राप्त हो सकता है और साधन की वर्तमान आय (present earnings) व इसकी स्थानान्तरण आय (Transfer earnings) के अन्तर के बराबर होता है। एक साधन की स्थानान्तरण आय वह आय होती है जो उसे अपने सर्वश्रेष्ठ वकल्पिक उपयोग (best alternative use) मे प्राप्त होती है। जैसे एक डाक्टर जो हृदय रोग का विशेषज्ञ है उसकी स्थानान्तरण आय वह आय हो सकती है जो वह जनरल प्रैक्टिशनर के रूप में प्राप्त कर सकता है। यदि एक साधन की पूर्ति पूर्णतया बेलोच (perfectly inelastic) होती है तो उसकी सम्पूर्ण आय आर्थिक लगान मानी जाती है। साधन की पूर्ति पूर्णतया बेलोच उस समय होती है जबकि कीमत के बदलने से इसकी पूर्ति बिल्कुल नहीं बदलती। यहाँ तक कि सैद्धान्तिक रूप में शून्य कीमत पर भी इसकी पूर्ति उतनी ही रहती है जितनी कि अपेक्षाकृत ऊँची कीमत पर होती है। हम आगे चलकर लगान के आधुनिक सिद्धान्त के विवेचन में इसका चित्र द्वारा स्पष्टीकरण करेंगे।

आर्थिक लगान व ठेका लगान मे अन्तर

	आर्थिक लगान		ठेका लगान
1	प्रचलित अर्थ के अनुसार यह केवल भूमि के उपयोग के लिए दिया जाता है। इसमें भूमि में लगायी गयी पूँजी का ब्याज शामिल नहीं होता है।	1	इसमें भूमि के उपयोग के प्रतिफल के अलावा पूँजी का ब्याज भी शामिल होता है।
2	यह आधुनकि परिभाषा के अनुसार एक साधन की वर्तमान आय व *स्थानान्तरण आय (सर्वश्रेष्ठ वैकल्पिक* उपयोग में प्राप्त होने वाली आय) का अन्तर होता है।	2	यह भूस्वामी व काश्तकार के बीच भूमि की माँग व पूर्ति की शक्तियों से *निर्धारित होता है। भूमि की माँग* बढने से ठेका लगान बढता है तथा भूमि की माँग घटने से यह घटता है।
3	यह दो राशियों का अन्तर होता है।	3	यह माँग व पूर्ति से निर्धारित होता है।
4	इसमें दो पार्टियों के बीच मोलभाव नही होता है।	4	इसमें दो पक्षों के बीच काफी मोलभाव होता है।

5	रिकार्डो के सिद्धान्त में आर्थिक लगान की मात्रा अधिसीमान्त भूमि (super marginal land) व सीमान्त भूमि (marginal land) की उपज का अन्तर होती है।	5	ठेका लगान सभी भूमि के टुकडों पर मोलभाव से तय किया जाता है इसलिए यह सीमान्त भूमि पर भी लिया जाता है।
6	आधुनिक परिभाषा के अनुसार यह भूमि पूँजी व श्रम सभी साधनों को प्राप्त हो सकता है।	6	यह केवल भूमि के किराये की भाँति होता है अत ठेका लगान केवल भूमि के लिए ही दिया जाता है।

रिकार्डो का लगान सिद्धान्त (Ricardian Theory of Rent)

लगान सिद्धान्त के साथ क्लासिकल अर्थशास्त्री डेविड रिकार्डो का नाम काफी वर्षों से जुडा हुआ है। रिकार्डो ने उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में लगान पर अपने विचार प्रकट किये थे। उन दिनों खाद्यान्नों की कमी के कारण अनाज के भाव काफी ऊँचे हो गए थे और भूमि के लगान काफी बढ गए थे। समाज में सर्वत्र यह भावना फैल गई थी कि भूस्वामी बहुत लाभ कमा रहे हैं। रिकार्डो ने जो लगान का सिद्धान्त प्रस्तुत किया था, उसका उपयोग भूस्वामियों का विरोध करने में किया गया था।

रिकार्डो ने लगान की परिभाषा निम्न शब्दों में दी थी, '**यह भूमि की उपज का वह भाग होता है जो भूस्वामी को मिट्टी की मौलिक व अविनाशी शक्तियो के उपयोग के लिए दिया जाता है।**'[1] मौलिक शक्ति से रिकॉर्डो का आशय उस शक्ति से था जो मिट्टी प्रकृति से प्राप्त करती है, अर्थात् यह मनुष्यकृत नही होती है। एक भूमि के टुकडे की उर्वरा शक्ति वर्षा, तापक्रम मिट्टी की बनावट, आदि प्राकृतिक तत्वों से बनती है। रिकॉर्डो ने मिट्टी की शक्तियों को अविनाशी माना था। हम आगे चलकर देखेंगे कि आधुनिक लेखकों ने भूमि की मौलिक व अविनाशी शक्तियों के सम्बन्ध में सन्देह व्यक्त किए हैं। लेकिन रिकॉर्डो के लगान सिद्धान्त में ये शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माने गए है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन शब्दों का उपयोग करके रिकार्डो सम्भवत इस बात पर बल देना चाहता था कि भूमि की माँग के बढने पर इसकी पूर्ति नही बढायी जा सकती।

रिकार्डो के सिद्धान्त में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसने लगान को प्रकृति की कृपणता या कजूसी (*niggardiness of nature*) का परिचायक माना था। रिकार्डो से पूर्व 'फिजियोक्रेटस' (physiocrats) नामक अर्थशास्त्रियों व विचारकों ने भूमि के लगान को प्रकृति की उदारता (bounty of nature) का सूचक माना था। लेकिन **इसके विपरीत रिकार्डो ने लगान की उत्पत्ति के लिए प्रकृति की कजूसी या कृपणता**

1 Rent is that portion of the produce of the earth which is paid to the *landlord for the use of the original and indestructible powers of the soil*
—Ricardo **The Principle of Political Economy and Taxation** (Everyman's Library edition) p 33

चित्र 1 (अ) में एक साथ कृषि की विस्तृत सीमा व गहरी सीमा दोनों दिखलाई गई हैं। *A, B, C, D वक्र क्रमशः भूमि के चार विभिन्न श्रेणी के टुकड़ों की सीमान्त* उत्पत्ति को सूचित करते हैं। श्रम व पूँजी की प्रति इकाई लागत OP है, जो उपज की मात्रा के रूप में स्थिर रहती है। इसलिए PP रेखा क्षैतिज (horizontal) दिखाई गई है। प्रत्येक कृषक उस सीमा तक उत्पत्ति करता है जहाँ पर प्रति इकाई लागत = भूमि *की सीमान्त उत्पत्ति होती है। अत A श्रेणी पर श्रम व पूँजी की* OA_1 *मात्रा, B पर* OB_1 मात्रा, C पर OC_1 मात्रा व D पर OD_1 मात्रा लगाई जाएगी। प्रत्येक भूमि के टुकडे पर यह कृषि की गहन सीमा मानी जाती है।

D भूमि पर श्रम व पूँजी की प्रथम इकाई ही सीमान्त इकाई होती है। अत इस पर लगान उत्पन्न नहीं होता। यह सीमान्त भूमि का टुकडा कहलाता है। इसे कृषि की विस्तृत सीमा (extensive margin of cultivation) माना जाता है। प्रत्येक भूमि के टुकडे का लगान उसके सीमान्त उत्पत्ति (MP) वक्र व PP के बीच की दूरी के बराबर माना जाएगा। उदाहरण के लिए, C भूमि के टुकड़े का लगान MPP_2 क्षेत्रफल होगा। इसी प्रकार अन्य भूमि के टुकडों का लगान निकाला जा सकता है। ध्यान रहे कि यहाँ विश्लेषण में मौद्रिक लागतों या कीमतों का समावेश नहीं किया गया है। केवल श्रम व पूँजी की सीमान्त उत्पत्ति को भौतिक उत्पत्ति के रूप में दर्शाया गया है। कीमतों का समावेश करने से सीमान्त उत्पत्ति (MP) की जगह सीमान्त आय-उत्पत्ति (MRP) दर्शानी होती है।

चित्र 1 (आ) में विस्तृत खेती में कुल लगान रेखांकित क्षेत्र के रूप में दिखलाया गया है। यह सुगमता से समझ में आ सकता है। A के ऊपर 100 क्विटल, B पर 75 क्विटल C पर 60 क्विटल व D पर 50 क्विटल मापे गए हैं। D भूमि पर कोई लगान नहीं होता है लेकिन A, B व C पर कुल लगान रेखाकत अश के द्वारा प्रकट होता है। यहाँ भी विश्लेषण उत्पत्ति की मात्रा के माध्यम से ही किया गया है।

रिकार्डो के लगान-सिद्धान्त का आधुनिक स्वरूप—रिकार्डो का लगान सिद्धान्त अग्र चित्रों की सहायता से भी स्पष्ट किया जा सकता है। हम यहाँ केवल एक साधन-श्रम के औसत उत्पत्ति व सीमान्त उत्पत्ति वक्रों का प्रयोग करेंगे तथा भूमि के तीन टुकडों A, B व C को लेंगे। श्रम की मजदूरी भी उत्पत्ति के रूप में ही ली गयी है। तीनों भूमि के टुकडों की स्थिति अग्र चित्रों से दर्शायी गयी है।

स्पष्टीकरण—*OX-अक्ष पर श्रम की मात्रा व OY-अक्ष पर औसत उत्पत्ति, सीमान्त* उत्पत्ति व लागत (मजदूरी) मापे गए हैं।

प्रत्येक चित्र में AP_1 श्रम का औसत उत्पत्ति वक्र व MP_1 सीमान्त उत्पत्ति वक्र है। $P_1 = W$ उत्पत्ति के रूप में मजदूरी को सूचित करता है। P_1 रेखा क्षैतिज रूप में खींची गई है। अत भूमि A पर श्रम की OL_1 इकाइयाँ लगायी जाएँगी तथा P_1EBC लगान उत्पन्न होगा। भूमि B पर श्रम की OL_2 इकाइयाँ लगाई जाएँगी तथा इस पर $P_1E_1B_1C_1$ लगान उत्पन्न होगा एवं भूमि C पर मजदूरी = औसत उत्पत्ति
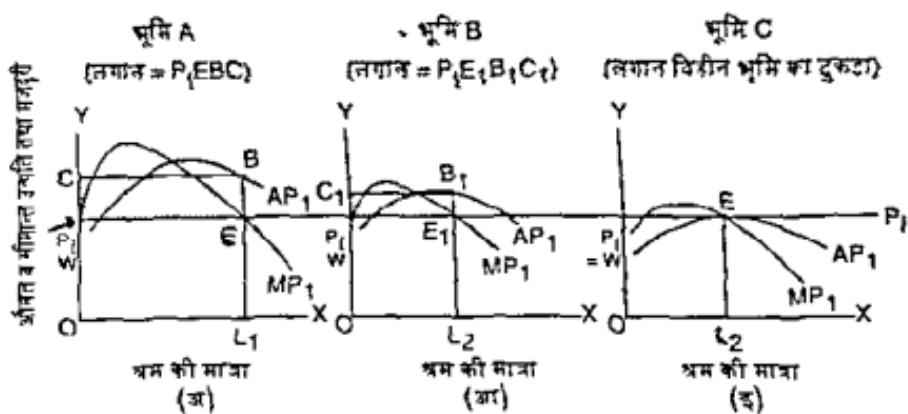
चित्र 2 A, B व C भूमि के टुकडो पर औसत उत्पत्ति व सीमान्त उत्पत्ति वक्रों की सहायता से लगान का विश्लेषण

होने से कोई लगान उत्पन्न नही होगा। सीमान्त उत्पत्ति = मजदूरी ($P_l = W$) पर चित्र 2 में श्रम की प्रयुक्त की जाने वाली इकाइयाँ निर्धारित होती हैं।

रिकार्डो के लगान-सिद्धान्त की आलोचना—रिकार्डो का लगान सिद्धान्त कई बातों को लेकर भारी आलोचना का शिकार रहा है। इनमें से कुछ बातें गम्भीर किस्म की हैं और शेष मामूली हैं जिनसे सिद्धान्त को विशेष क्षति या ठेस नही पहुँचती। हम नीचे रिकार्डो के लगान सिद्धान्त की विभिन्न आलोचनाएँ प्रस्तुत करते हैं—

(1) मिट्टी की मौलिक व अविनाशी शक्तियो को चुनाती—सर्वप्रथम, मिट्टी की 'मौलिक व अविनाशी शक्तियों' के कथन को अस्वीकार किया गया है। आलोचकों के अनुसार यह तय करना बहुत कठिन होता है कि मिट्टी की कौनसी शक्तियाँ मौलिक हैं और कौनसी नहीं। मनुष्य ने भूमि की उर्वरा शक्ति को विकसित करने के लिए अनेक प्रयास किए हैं। आज जो भूमि का स्वरूप है वह उसके मौलिक रूप से काफी बदला हुआ है। मनुष्य ने भूमि को साफ करके इसे कृषि के योग्य बनाने, इस पर बहाव की नालियाँ बनाने, सिचाई की व्यवस्था करने व अन्य सुधार करने में काफी परिश्रम व पूँजी का विनियोग किया है।

भूमि की शक्ति को 'अविनाशी' मानना भी पूर्णतया सही नही है। जलवायु, सिंचाई तथा कृषि की पद्धतियों के परिवर्तन से उपजाऊ भूमि तो धूल भरे मैदानों में बदल सकती है तथा रेगिस्तान हरे भरे मैदानों में परिवर्तित हो सकते हैं। अत भूमि की शक्ति को अविनाशी मानना भी उचित नही है।[1]

---

1 Changes in climate farming methods or the introduction of irrigation can turn good arable land into dust bowls or deserts into farmland It is not reasonable to regard the powers of the land as indestructible '—Stonier and Hague op cit. p 311

हम पहले बतला चुके हैं कि उपर्युक्त कथन के माध्यम से रिकार्डो यह प्रस्तुत करना चाहता था कि भूमि की माँग के बढने पर इसकी पूर्ति नहीं बढाई जा सकती। अत भूमि की 'मौलिक व अविनाशी शक्तियों' के विचार के पीछे भूमि की 'पूर्ति की पूर्ण बेलोचता' की धारणा ही विद्यमान है। स्टोनियर व हेग के अनुसार रिकॉर्डो के मिट्टी की मौलिक व अविनाशी शक्तियों के विचार के पीछे पूर्ति की अत्यधिक बेलोचता तो मौजूद है लेकिन इसका उल्टा सही नही (अर्थात् भूमि की पूर्ति की अत्यधिक बेलोचता से अनिवार्यत मिट्टी की मौलिक व अविनाशी शक्तियाँ उत्पन्न नही हो जाती)।

(2) लगान-विहीन भूमि का अस्तित्व नहीं—रिकार्डो की 'लगान विहीन या सीमान्त भूमि' व्यवहार में नही पाई जाती आज प्रत्येक भूमि के टुकडे पर लगान दिया जाता है। अत सीमान्त भूमि का विचार व्यवहार मे सही नही माना जाता।

(3) लगान का सम्बन्ध केवल भूमि से किया गया—रिकॉर्डो ने लगान का उद्गम केवल भूमि के सम्बन्ध में बतलाया है, लेकिन आधुनिक सिद्धान्त में लगान का सम्बन्ध उत्पादन के प्रत्येक साधन, जैसे श्रम, पूँजी, आदि से भी किया जाता है। दूसरे शब्दों में, मजदूरी, ब्याज आदि में भी 'लगान-तत्त्व' पाया जा सकता है। इसका विस्तृत विवेचन आगे चलकर 'स्थानान्तरण-आय' के अन्तर्गत किया गया है।

(4) भूमि के समरूप होने पर लगान की उत्पत्ति का स्पष्टीकरण नहीं—रिकार्डो के मॉडल के अनुसार भूमि के समरूप या एक सी होने पर लगान को समझना कठिन होता है। उसके लिए दुर्लभता लगान (scarcity rent) के विचार का उपयोग किया जाता है। रिकार्डो ने विभेदात्मक लगान (differential rent) के मॉडल का उपयोग किया था। हम आगे चलकर दुर्लभता लगान का विवेचन करेंगे।

(5) लगान व कीमत के सम्बन्ध को लेकर मतभेद—रिकार्डो के सिद्धान्त में लगान कीमत को निर्धारित करने की अपेक्षा वह स्वय कीमत से निर्धारित होता है। कीमत सीमान्त भूमि की लागत के बराबर होती है, जिसमें लगान शामिल नहीं होता। लेकिन एक छोटी फर्म या छोटे उद्योग के लिए लगान कीमत में शामिल होता है।

(6) पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता—रिकार्डो के सिद्धान्त में पूर्ण प्रतिस्पर्धा की मान्यता के पाए जाने से सिद्धान्त का व्यावहारिक महत्त्व कम हो गया है। आजकल अधिकाश देशों में भूमि की माँग उसकी पूर्ति से अधिक होती है। अत नयी परिस्थितियों में रिकार्डो के सिद्धान्त का महत्त्व काफी घट गया है।

(7) कृषि का क्रम (order) सही नहीं—रिकार्डो ने कृषि का जो क्रम माना था वह व्यवहार में लागू नहीं होता। लेकिन हमें यह ध्यान रखना होगा कि उसके सिद्धान्त की सत्यता कृषि के क्रम पर नही टिकी हुई है। कोई दूसरा क्रम मान लेने पर भी रिकॉर्डो का विभेदात्मक लगान अवश्य उत्पन्न हो जाएगा।

रिकार्डो के सिद्धान्त की विभिन्न आलोचनाओं के अध्ययन से यह प्रकट होता है कि यह सिद्धान्त उत्पादन के साधन की कीमत निर्धारण के आधुनिक माँग व पूर्ति सिद्धान्त के अनुकूल नही है। आजकल वितरण में एक सामान्य सिद्धान्त के द्वारा समस्त

साधनों के प्रतिफलों को समझाने का प्रयास किया जाता है। फिर भी सिद्धान्त का अपना ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य है और इसने मार्क्सवादियों द्वारा भूस्वामियों पर प्रबल रूप से सैद्धान्तिक प्रहार करने के लिए काफी सामग्री प्रदान की थी। मार्क्सवादियों ने रिकार्डो के सिद्धान्त का सहारा लेकर ही भूस्वामियों के शोषण को स्पष्ट किया था।

दुर्लभता-लगान (Scarcity Rent) तथा भूमि की माँग व पूर्ति—स्टोनियर व हेग ने दुर्लभता लगान का विवेचन एक ऐसी परिस्थिति के सदर्भ में किया है जिसमें भूमि समरूप या एक सी होती है, और इसकी पूर्ति माँग की तुलना में सीमित होती है। भूमि के अलावा उत्पादन के अन्य साधनों की कीमतें बढ़ने से, कम से कम दीर्घकाल में, उनकी पूर्ति में अवश्य वृद्धि होती है। लेकिन लगान की वृद्धि से भूमि की पूर्ति में वृद्धि नहीं हो सकती। इसलिए भूमि के लिए अपेक्षाकृत ऊँचे प्रतिफल दीर्घकाल में भी जारी रह सकते हैं। इस प्रकार भूमि की पूर्ति की स्थिरता समरूप भूमि एव दुर्लभता लगान इसे उत्पादन के अन्य साधनों व उनकी कीमतों से पृथक् करते हैं। वास्तविक जगत में भूमि की पूर्ति बेलोच होती है और इसी वजह से दुर्लभता लगान (*scarcity rent*) पाया जाता है। यह रिकार्डो के लगान की अवधारणा से भिन्न होता है, क्योंकि उसके अनुसार लगान एक विभेदात्मक लगान (differential rent) होता है, जिसमें उर्वरता व स्थिति के अन्तर पाए जाते हैं।

दुर्लभता-लगान के सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि भूमि पर लगान तभी उत्पन्न होता है जबकि कृषकों की सख्या इतनी अधिक हो जाती है कि वे इसके लिए लगान देने को तैयार हो जाते हैं सभी कृषकों को लगान देना होगा और उसकी मात्रा भी एक-सी होगी क्योंकि भूमि समरूप है और भूस्वामियों में परस्पर पूर्ण प्रतिस्पर्धा हो रही है। यहाँ कृषक भी एक से कार्यकुशल माने जाते हैं।

दुर्लभता लगान का विवेचन चित्र 3 की सहायता से स्पष्ट हो जाएगा—

चित्र 3-दुर्लभता-लगान का निर्धारण एव एक कृषक की स्थिति
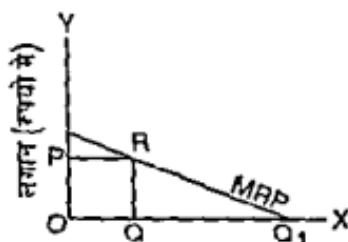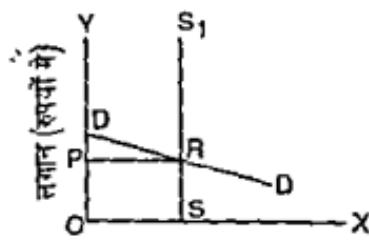
जाएगा। ऐसी स्थिति में स्थानान्तरण आय (transfer earning) 1500 रुपये होगी, और शेष भाग (2000 – 1500) = 500 रुपये आधुनिक परिभाषा के अनुसार आर्थिक लगान (economic rent) होगा। इस प्रकार 2000 रुपये की वर्तमान आय में 1500 रुपये मजदूरी (wages) का अंश और शेष 500 रुपये आर्थिक लगान का अंश माना जाएगा।

अत आधुनिक मत के अनुसार एक साधन की वर्तमान आय और स्थानान्तरण आय का अन्तर ही आर्थिक लगान कहलाता है, वह साधन भूमि श्रम पूँजी, प्रबन्ध व उद्यम में से कोई भी हो सकता है। उपर्युक्त उदाहरण को जारी रखते हुए कुछ और परिस्थितियों के परिणाम आगे दिए जाते हैं—

वर्तमान आय	स्थानान्तरण-आय	आर्थिक लगान
(1)	(2)	(3) = (1)–(2)
2000 रुपये	स्थिति (1) 2000 रुपये	0
	स्थिति (2) 0	2000 रुपये
	स्थिति (3) 1500 रुपये	500 रुपये
	स्थिति (4) 3000 रुपये	साधन अपने वैकल्पिक उपयोग में चला जाएगा, जहाँ पर पहुँचते ही 2000 रुपये इसकी स्थानान्तरण आय बन जाएगी और उसे (3000 – 2000) = 1000 रुपये का आर्थिक लगान मिलने लग जाएगा।

श्रीमती जोन रोबिन्सन के अनुसार, 'लगान के विचार का सार यह है कि यह एक उत्पादन के साधन के विशिष्ट भाग के द्वारा अर्जित वह आधिक्य होता है जो इसको काम करने की प्रेरणा देने के लिए आवश्यक समझी जाने वाली न्यूनतम राशि से अधिक होता है।'[1] लगान की इस परिभाषा में उत्पादन का कोई भी साधन लगान प्राप्त कर सकता है और इसका माप साधन की वर्तमान आय का वह आधिक्य होता है जो इस साधन की न्यूनतम आवश्यक राशि से अधिक होता है। बोल्डिंग ने भी इसी मत को स्वीकार किया है। उसके अनुसार, "आर्थिक लगान एक सप्लायर का वह भुगतान होता है जो इसकी पूर्ति को जारी रखने के लिए आवश्यक न्यूनतम राशि से अधिक

1 'The essence of the conception of rent is the conception of a surplus earned by a particular part of a factor of production over and above the *minimum earnings necessary to induce it to do its work* – Mrs Joan Robinson The Economics of Imperfect Competition, p 162
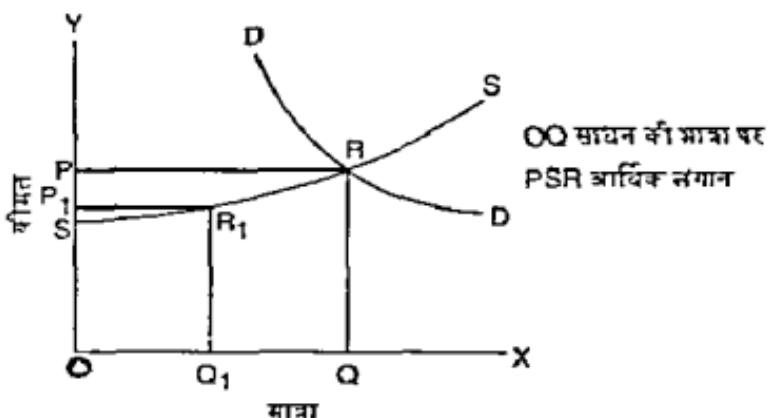
चित्र 6—सम्पूर्ण आय के दो भाग—स्थानान्तरण-आय व आर्थिक लगान

एक साधन की कुल आय का स्थानान्तरण आय व आर्थिक लगान के बीच विभाजन इस बात पर भी निर्भर करता है कि हम किस प्रकार के स्थानान्तरण की चर्चा कर रहे हैं। नीचे स्थानान्तरण के तीन रूप दिए जाते हैं।

स्थानान्तरण के तीन रूप (Three Forms of Transfers)

श्रम के सम्बन्ध में स्थानान्तरण के तीनों रूपों का स्पष्टीकरण—श्रमिक एक फर्म से दूसरी फर्म (एक ही उद्योग में) एक उद्योग से दूसरे उद्योग (उसी व्यवसाय में) एवं एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में गतिशील हो सकता है, और उसी के अनुसार उसकी सम्पूर्ण आय का विभाजन स्थानान्तरण आय व आर्थिक लगान के बीच में होता है। इसको हम निम्न उदाहरण की सहायता से स्पष्ट कर सकते हैं—

(1) एक ही उद्योग में एक फर्म से दूसरी फर्म में जाने पर—मान लीजिए, बढ़ई को एक फर्म 3,000 रु महीना देती है, लेकिन उसी उद्योग में (उदाहरण के लिए, भवन निर्माण उद्योग में) दूसरी फर्म भी 3,000 रु महीना ही देती है। ऐसी स्थिति में बढ़ई की 3000 रु मासिक आय स्थानान्तरण आय भी होगी, और उसकी आय में आर्थिक लगान नहीं होगा। यहाँ शून्य आर्थिक लगान की स्थिति होगी।

(2) एक उद्योग से दूसरे उद्योग में जाने पर—मान लीजिए, एक उद्योग (भवन निर्माण उद्योग) में बढ़इयों को 3,000 रुपये मासिक मिलते हैं। यदि कोई इस उद्योग को छोड़ना चाहे, और दूसरे उद्योग में उसको 2,500 रुपये मासिक मिलें, तो भवन-निर्माण उद्योग में बढ़ई की आय में (3,000 – 2,500) = 500 रु का आर्थिक लगान होगा और 2,500 रु की स्थानान्तरण-आय होगी। इस स्थिति में बढ़ई केवल अपना उद्योग ही बदलते हैं, लेकिन अपना व्यवसाय नहीं बदलते।

(3) एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय की ओर—तीसरी स्थिति वह हो सकती है जहाँ बढ़ई की माँग सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में कम हो जाती है और उन्हें अन्य व्यवसाय

अपनाने को बाध्य होना पडता है। मान लीजिए, अन्य व्यवसाय में उनको 2,000 रु ही मिल पाता है जो बढई के व्यवसाय की दृष्टि से उनकी स्थानान्तरण आय होती है। अत जो बढई वर्तमान में 3000 रु पा रहा है उसकी स्थानान्तरण आय 2,000 रु होने पर वर्तमान में इसकी आय में (3000 – 2000) = 1000 रु का आर्थिक लगान माना जाएगा।

इस प्रकार साधन का स्थानान्तरण एक फर्म से दूसरी फर्म, एक उद्योग से दूसरे उद्योग एव एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय और एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र मे हो सकता है, और उसी के अनुसार उसकी आय मे आर्थिक लगान का निर्धारण किया जाता है। हमने ऊपर मजदूरी में आर्थिक लगान के तत्त्व का अध्ययन किया है। इसी तरह ब्याज में लगान तत्त्व का अध्ययन किया जा सकता है। यदि एक उद्योग में ब्याज की दर 15% हो और दूसरे वैकल्पिक उपयोग में 10% हो, तो पहले उद्योग की दृष्टि से ब्याज में (15% – 10%) = 5% लगान तत्त्व (rent element) माना जाएगा।

साधन की आय को दो भागों में विभाजित करना आर्थिक दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण होता है। सर्वप्रथम, स्थानान्तरण आय को प्रभावित करके साधनों को अन्य उपयोगों में ले जाया जा सकता है। दूसरे, करारोपण की दृष्टि से भी स्थानान्तरण-आय व आर्थिक लगान के भेद का विशेष महत्त्व होता है। यदि किसी साधन की आय में आर्थिक लगान का तत्त्व अधिक होता है तो उस पर अपेक्षाकृत अधिक कर भार डाला जा सकता है।

योग्यता का लगान (Rent of Ability)—हम ऊपर देख चुके हैं कि लगान का उद्‌गम, साधन की बेलोच पूर्ति का परिणाम होता है। यह वर्तमान आय और स्थानान्तरण आय के अन्तर के बराबर होता है। प्राकृतिक योग्यता भी एक ऐसा साधन है जिसकी पूर्ति बेलोच होती है। प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों के पास दुर्लभ योग्यता होती है, जिसे आसानी से नही बढाया जा सकता। यह जन्मजात अधिक होती है और प्राप्त की गई या अर्जित कम होती है। योग्यता की कीमत बढाने मात्र से ही प्रतिभा की पूर्ति नही बढाई जा सकती। प्राकृतिक योग्यता तो सर्वश्रेष्ठ शिक्षा मे भी प्राप्त नही की जा सकती।

योग्यता सामान्य व विशिष्ट दो प्रकार की होती है—विशिष्ट योग्यता की स्थिति में एक व्यक्ति एक विशेष कार्य ही कर सकता है, वह कोई दूसरा कार्य नहीं कर सकता। मान लीजिए, एक महिला सगीत में अत्यधिक पारगत होने के कारण एक गाना गाकर तो 50 हजार रुपया प्राप्त कर सकती है, लेकिन इसके अलावा वह और कोई काम नही कर सकती। ऐसी दशा में उसकी सगीत से प्राप्त सम्पूर्ण आय आर्थिक लगान कहलाएगी। यह पूर्णतया विशिष्ट योग्यता का भुगतान मानी जाएगी।

व्यवहार में योग्यता पूर्णतया विशिष्ट नहीं होती, बल्कि कुछ मात्रा में सामान्य किस्म की भी होती है। हो सकता है कि एक व्यक्ति को एक व्यवसाय में तो काफी

ऊँची आमदनी प्राप्त हो जाए, लेकिन दूसरे में अपेक्षाकृत थोड़ी आमदनी ही प्राप्त हो सके। मान लीजिए, क्रिकेट के किसी सुप्रसिद्ध व्यावसायिक खिलाड़ी को खेल से एक लाख रुपए मासिक मिलते हैं और वैकल्पिक कार्य में, जैसे किसी व्यावसायिक फर्म में कर्मचारी के रूप में काम करने पर, बीस हजार रुपए मासिक ही मिलते हैं तो उसके लिए एक लाख रुपए − 20 हजार रुपए = 80 हजार रु मासिक योग्यता का लगान (rent of ability) माना जाएगा।

लगान का आधुनिक सिद्धान्त रिकॉर्डो के लगान-सिद्धान्त से किन अर्थों मे बेहतर है?

हमने देखा कि लगान का आधुनिक सिद्धान्त रिकॉर्डो के लगान सिद्धान्त से काफी भिन्न है। यह अधिक तर्कसंगत व अधिक व्यापक माना गया है।

लगान का आधुनिक सिद्धान्त रिकॉर्डो के लगान-सिद्धान्त की तुलना में निम्न अर्थों में बेहतर या अधिक उत्तम माना जा सकता है—

(1) आधुनिक सिद्धान्त में उत्पादन के सभी साधन, जैसे श्रम, पूँजी, प्रबन्ध व उद्यम लगान प्राप्त कर सकते हैं, जबकि रिकॉर्डो ने लगान की चर्चा केवल भूमि के संदर्भ में की थी।

(2) आधुनिक सिद्धान्त में स्थानान्तरण-आय एक साधन की अवसर लागत की सूचक होती है। अत वर्तमान आय व स्थानान्तरण-आय का अन्तर आर्थिक लगान कहलाता है। एक साधन की आमदनी में जितना अधिक आर्थिक लगान का तत्त्व होता है, वह साधन उस उपयोग के लिए उतना ही अधिक विशिष्ट माना जाता है। आर्थिक लगान का तत्त्व कम होने पर साधन कम विशिष्ट माना जाता है, अर्थात् उसका उपयोग अन्यत्र भी होता है और आसानी से होता है।

(3) आधुनिक सिद्धान्त काफी व्यावहारिक है और करारोपण की दृष्टि से आर्थिक लगान का विचार अधिक उपयोगी माना जाता है। रिकॉर्डो का सिद्धान्त अब केवल ऐतिहासिक महत्त्व का ही रह गया है।

आभास-लगान अथवा अर्द्ध-लगान (Quasi-rent)

आर्थिक साहित्य में मार्शल ने आभास-लगान या अर्द्ध-लगान (quasi-rent) का समावेश किया है। आर्थिक विश्लेषण में आभास-लगान का प्रयोग दो अर्थों में किया गया है, जो इस प्रकार है—

(i) संकुचित अर्थ में यह अल्पकाल में मानव निर्मित उत्पादन के साधनों जैसे उपकरणों, मशीनों आदि की आमदनी को सूचित करता है, और

(ii) विस्तृत अर्थ में यह अल्पकाल में एक फर्म के लिए उस स्थिति को सूचित करता है जहाँ वस्तु की कीमत उसकी औसत परिवर्तनशील लागत (Average Variable Cost) से अधिक होती है।

दोनों ही अर्थों में यह अल्पकाल तक सीमित रहता है और दीर्घकाल में प्राप्त नहीं होता। इनका स्पष्टीकरण नीचे दिया जाता है—

(i) आभास-लगान मानव-निर्मित मशीनों के संदर्भ में[1]—मनुष्य द्वारा निर्मित मशीनों व अन्य उपकरणों की पूर्ति अल्पकाल में बेलोच और दीर्घकाल में लोचदार होती है। इसलिए अल्पकाल में इनसे प्राप्त होने वाली आमदनी लगान से मिलती जुलती होती है। लेकिन इसे पूरा लगान भी नहीं माना जा सकता क्योंकि दीर्घकाल में मशीनों व उपकरणों आदि की पूर्ति बढ़ायी जा सकती है जिससे यह माँग के अनुसार व्यवस्थित हो जाती है। दीर्घकाल में इनमें लगायी गयी पूँजी या विनियोग पर प्रतिस्पर्धा की दशा में केवल ब्याज ही प्राप्त होता है। इसीलिए मार्शल ने कहा था कि **अल्पकाल में जो आभास-लगान या अर्द्धलगान होता है, वह दीर्घकाल में ब्याज हो जाता है। अत. मानव-निर्मित साधनों को अल्पकाल में जो प्रतिफल मिलता है, वह लगान की भाँति होता है, इसलिए उसे आभास-लगान या अर्द्ध-लगान (quasi rent) कहा जाता है।** यह अन्य साधनों जैसे दक्ष कर्मचारी पर भी लागू किया जा सकता है, जो किसी विशिष्ट काम में दक्ष होता है, और जिसकी पूर्ति अल्पकाल में स्थिर रहती है। उसे भी अल्पकाल में आभास लगान प्राप्त होता है।

(ii) *विस्तृत अर्थ में* एक फर्म के लिए *अल्पकाल* में कीमत के औसत परिवर्तनशील लागत (AVC) से अधिक होने पर अर्द्ध-लगान की स्थिति उत्पन्न होती है।

अल्पकाल में जब एक फर्म को वस्तु की कीमत औसत परिवर्तनशील लागत से अधिक मिलती है तो उस आधिक्य (*surplus*) को अर्द्ध लगान (*quasi-rent*) कहा जाता है, क्योंकि यह भी दीर्घकाल में समाप्त हो जाता है।

यहाँ प्रति इकाई अर्द्ध-लगान की राशि औसत स्थिर लागत (AFC) से अधिक, इसके बराबर अथवा इससे कम हो सकती है। इसे आगे एक उदाहरण व चित्र के द्वारा समझाया गया है।

संख्यात्मक उदाहरण—ऊपर बतलाया जा चुका है कि अल्पकाल **में किसी भी फर्म या उत्पादक को औसत परिवर्तनशील लागत (AVC) से जो भी अधिक राशि माल की बिक्री से प्राप्त होती है उसे आभास-लगान कहते हैं।*** इसका कारण यह है कि अल्पकाल में उत्पादन उस समय तक जारी रहता है जब तक कि वस्तु की कीमत औसत परिवर्तनशील लागत (AVC) से कम नहीं हो जाती। यदि कीमत AVC से अधिक होती है तो यह आधिक्य आभास लगान होता है। मान लीजिए, कीमत प्रति

---

1 N.C.Ray **An Introduction to Microeconomics** Second revised edition 1980, pp 355-357

* आभास-लगान = कीमत − औसत परिवर्तनशील लागत (price − AVC) होता है।

इकाई 10 रु है और औसत परिवर्तनशील लागत AVC = 3 रु है तो आभास लगान (10 – 3) = 7 रु प्रति इकाई होगा। अब यह प्रश्न रह जाता है कि आभास लगान का औसत स्थिर लागत (AFC) से क्या सम्बन्ध होता है। उत्तर मे कहा जाएगा कि आभास लगान प्रति इकाई AFC से अधिक, इसके बराबर व इससे कम हो सकता है। ये स्थितियाँ इस प्रकार हो सकती हैं—

(1) आभास लगान = 7 रु एव AFC = 5 रु,
अत आभास लगान AFC से अधिक,

(2) आभास लगान = 7 रु एव AFC = 7 रु,
अत दोनों बराबर,

(3) आभास लगान = 7 रु एव AFC = 10 रु,
अत आभास लगान AFC से कम।

इस तीनों दशाओं में AVC = 3 रु मानी गयी है। तीसरी दशा में औसत-लागत (AC) = (AFC + AVC) = (10 + 3) = 13 रु होने पर भी आभास लगान 7 रु ही रहेगा, हालाँकि यहाँ पर 10 रु प्रति इकाई कीमत होने पर फर्म को घाटा होता है। अत. आभास-लगान तो वस्तु की कीमत और औसत परिवर्तनशील लागत (AVC) का अन्तर होता है। यह दीर्घकालीन मे विलीन हो जाता है। अत: यह अल्पकाल मे ही पाया जाता है। अल्पकाल में वस्तु की कीमत में AVC से नीचे आने पर फर्म उत्पादन बन्द कर देती है। आभास लगान का वर्णन चित्र 7 द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।
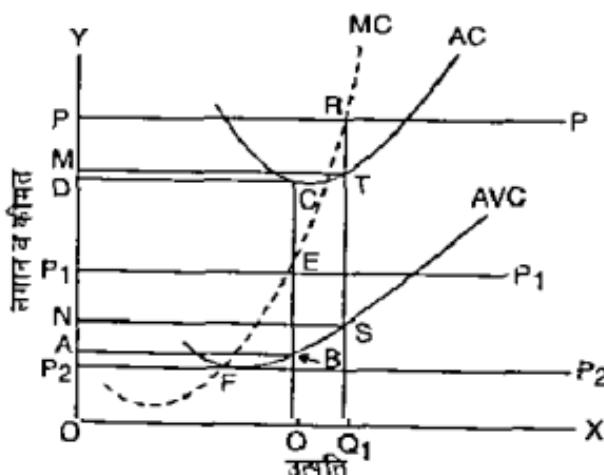
चित्र 7-आभास लगान (Quasi rent)

चित्र में OP कीमत पर PP औसत आय वक्र अथवा माँग वक्र है। यहाँ पर आभास लगान (कुल प्राप्त राशि में से कुल परिवर्तनशील लागत घटाने पर) = RSNP होता है, जो स्थिर लागत MTSN से अधिक होता है। OP_1 कीमत पर P_1P_1 औसत आय वक्र पर आभास लगान $EBAP_1$ होगा जो स्थिर लागत ABCD से काफी कम होता है और इसी प्रकार OP_2 कीमत पर P_2P_2 औसत आय अथवा माँग वक्र पर कीमत = औसत परिवर्तनशील लागत होती है इसलिए यहाँ पर आभास लगान शून्य होता। अतः विभिन्न कीमतों पर स्थिति अलग अलग होती है। F बिन्दु से नीचे उत्पत्ति नहीं की जाती है। हम पहले देख चुके हैं एक फर्म के लिए F बिन्दु उत्पादन-बन्द करने का बिन्दु (shut-down point) माना जाता है।

इस प्रकार आभास लगान या अर्द्ध लगान अल्पकाल में ही पाया जाता है। दीर्घकाल में यह समाप्त हो जाता है क्योंकि दीर्घकाल में सभी लागतें परिवर्तनशील हो जाती हैं और वस्तु की कीमत पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में औसत लागत के बराबर हो जाती है।

लगान के आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार लगान की राशि उत्पादन के सभी साधनों को प्राप्त हो सकती है। लेकिन भूमि की कुल पूर्ति पूर्णतया बेलोच होती है। इसलिए भूमि का लगान अन्य साधनों के लगानों से थोड़ा भिन्न किस्म का माना जा सकता है। यही कारण है कि मार्शल ने भूमि के लगान को एक व्यापक समूह की प्रमुख किस्म (the leading species of a large genus) माना था।

लगान व कीमत का परस्पर सम्बन्ध (Relation between Rent and Price)—*लगान कीमत से निर्धारित होता है, अथवा यह कीमत को निर्धारित करता है,* इस प्रश्न को लेकर अर्थशास्त्रियों में काफी मतभेद पाया गया है। रिकार्डो के लगान सिद्धान्त में लगान व कीमत का संबंध बिल्कुल स्पष्ट है। यहा पर अनाज की कीमत सीमान्त भूमि की लागत से निर्धारित होती है, और चूँकि सीमान्त भूमि की लागत में लगान नहीं होता, इसलिए कीमत में लगान का समावेश नही होता। लेकिन हम देख चुके हैं कि कीमत बढने पर उत्तम श्रेणी की भूमियों पर लगान बढता जाता है और पहले की सीमान्त भूमि पर भी लगान उत्पन्न हो जाता है। अतः रिकार्डो के सिद्धान्त में कीमत से *लगान की मात्रा तय होती है। अनाज के भाव ऊँचे होने से लगान ऊँचे होते हैं* और इसके विपरीत सही नहीं होता। यदि भूस्वामी लगान लेना बन्द कर दे तो भी अनाज सस्ता नही हो जाएगा। इसका कारण यह है कि लगान ऊँचा होने से अनाज का भाव ऊँचा नही है, बल्कि अनाज का भाव ऊँचा होने से लगान ऊँचा है।

वास्तव में लगान व कीमत के सम्बन्ध पर दो प्रकार की दशाओं में अध्ययन किया जा सकता है और दोनों के परिणाम अलग-अलग निकलते हैं।

(1) एक छोटी फर्म व एक छोटे उद्योग की दृष्टि से लगान कीमत को निर्धारित करता है (*Rent determines price*)—*एक कृषक जो लगान की राशि भूस्वामी को* चुकाता है, वह अन्य लागतों की भाँति इसे भी लागत ही मानेगा और यह कीमत में जोड़ी जाएगी। यदि कृषक को अनाज बेचने से *यह राशि नहीं मिलती है तो वह कृषि*

नही करेगा। यदि कृषक स्वय भूस्वामी है तो भी वह अव्यक्त लागत (implicit cost)* के रूप मे लगान को लागत मे शामिल करेगा जैसे वह अपने श्रम की मजदूरी व अपनी पूँजी के ब्याज को अव्यक्त लागतों के रूप में शामिल करता है। अपनी भूमि के लगान का अनुमान इसकी अवसर लागत के आधार पर लगाया जाता है अर्थात् यह देखा जाता है कि इस भूमि को किसी दूसरे को लगान या किराए पर उठाकर कितनी राशि प्राप्त की जा सकती थी। यदि भूमि का उपयोग कई छोटे छोटे उद्योगों में किया जा सकता है तो एक छोटे उद्योग मे बने माल के उपभोक्ताओं को लगान का भार उठाना पडेगा अर्थात् लगान की राश कीमत म शामिल हो जाएगी।

(2) एक प्रमुख उद्योग या सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की दृष्टि से स्वय लगान कीमत से निर्धारित होता है (Price determines rent or rent is price-determined)—भूमि की पूर्ति सम्पूर्ण समाज की दृष्टि से पूर्णतया बेलोच होती है। अत इसकी पूर्ति नीची कीमत पर भी करनी होती है। इसलिए ऐसी स्थिति मे वस्तुओं की कीमतें भूमि के लगान को निर्धारित करती हैं और भूमि का लगान वस्तुओं की कीमतों को निर्धारित नही कर पाता। इसी प्रकार यदि कोई भूमि का टुकडा एक उद्योग के लिए ही प्रयुक्त हो सकता है तो वह या तो उस उद्योग में लगा दिया जाएगा, *अन्यथा उसकी पूर्ति के पूर्णतया बेलोच होने से उसका कोई दूसरा प्रयोग नही हो सकता। ऐसी स्थिति मे भी एक प्रमुख उद्योग के लिए स्वय लगान कीमत से निर्धारित* होने वाला बन जाता है और वह कीमत को निर्धारित नही कर पाता है।

इस प्रकार एक छोटी फर्म या छोटे उद्योग के लिए भूमि की पूर्ति के पूर्णतया लोचदार होने से इनके लिए *लगान लागत मे* जुडकर कीमत को निर्धारित करने वाला बन जाएगा लेकिन एक प्रमुख उद्योग या सम्पूर्ण समाज की दृष्टि से भूमि की पूर्ति के पूर्णतया बेलाच होने से इनके लिए लगान लागत में न जुडने से यह स्वय कीमत द्वारा *निर्धारित हो बना रहेगा और कीमत को निर्धारित नही कर पायेगा।*

लगान को प्रभावित करने वाले विभिन्न तत्त्व

यहाँ हम भूमि के लगान को बढाने वाले व घटाने वाले तत्त्वों पर भी विचार करते हैं। इस पर रिकार्डो के लगान सिद्धान्त अथवा ठेका लगान के दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है—

(1) जनसख्या की वृद्धि व लगान—जनसख्या के बढने से खाद्यान्नों व कच्चे *माल की माँग बढती है जिससे घटिया भूमि पर खेती की जाने लगती है। परिणामस्वरूप* श्रेष्ठ भूमि के टुकडों पर लगान बढ जाता है। इसी प्रकार जनसख्या के बढने पर कृषकों की सख्या भी बढती है जिससे भूमि की माँग पर जोर पडता है और पूर्ति के स्थिर रहने से ठेका लगान में भी वृद्धि होती है।

(2) कृषि मे टेक्नोलोजिकल सुधार—कृषि में तकनीकी सुधार होने से पैदावार बढती है जिससे श्रेष्ठ भूमि के टुकडों पर आर्थिक लगान बढता है। यहाँ हम पैदावार की माँग में वृद्धि की कल्पना करते हैं जिससे कोई भूमि का टुकडा खेती से बाहर नहीं

* अव्यक्त लागत (implicit cost) स्पष्ट रूप में नहीं दिखाई देती, जैसे कि व्यक्त लागत (explicit cost) दिखाई देती है। लेकिन इसका भी अपना काफी महत्त्व होता है।

5 अर्द्ध लगान का माप अल्पकाल में एक फर्म के लिए कैसे होता है ?

(अ) p – AVC (p = वस्तु की कीमत AVC = औसत परिवर्तनशील लागत)

(ब) p – AFC (AFC = औसत स्थिर लागत)

(स) p – AC (AC = औसत लागत)

(द) कोई नही (अ)

6 आभास लगान होता है—

(अ) फर्म के कुल लाभ के समान (ब) फर्म के कुल लाभ से अधिक

(स) फर्म के कुल लाभ से कम (द) इनमें से कोई नहीं (द)

7 हस्तान्तरण आय की अवधारणा से सम्बन्धित है—

(अ) एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता सिद्धान्त

(ब) ब्याज का सिद्धान्त

(स) लगान का आधुनिक सिद्धान्त

(द) लाभ का सिद्धान्त (स)

अन्य प्रश्न

1 रिकॉर्डो के लगान सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये। **(Raj IIyr 2001)**

2 रेखाचित्र का प्रयोग करते हुए आभास लगान को समझाइये। **(Raj IIyr 2000)**

3 लगान के आधुनिक सिद्धान्त को समझाइये। **(Raj II yr 2001)**

4 रिकॉर्डो के लगान सिद्धान्त में क्या कमियाँ हैं ? **(MDSU, Ajmer IIyr 2000)**

5 आभास लगान की धारणा को समझाइये। **(MDSU, Ajmer IIyr 2000)**

6 लगान के आधुनिक सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए तथा सक्षेप में इसकी रिकॉर्डो के लगान सिद्धान्त से तुलना कीजिए। **(MLSU, Udaipur Iyr 2001)**

7 (अ) लगान का आधुनिक सिद्धान्त समझाइये।

(ब) आभास लगान। **(MDSU, Ajmer IIyr 2001)**

8 लगान के आधुनिक सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिये। यह सिद्धान्त रिकार्डो के सिद्धान्त से किस प्रकार श्रेष्ठ है ? **(Raj IIyr 2002)**

9 (अ) लगान तथा लाभ में अन्तर कीजिए।

(ब) 'लगान विशिष्टता का पारितोषण होता है।' इसकी जाँच कीजिए।

(स) लगान व कीमत का सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए।

(द) वर्तमान आय व स्थानान्तरण-आय का अन्तर लिखिए।

□ □ □

30

ब्याज के सिद्धान्त—क्लासिकल, कीन्सियन व अन्य
(Theories of Interest—
Classical, Keynesian and others)

आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं में ब्याज की विभिन्न दरें पायी जाती हैं, जिनमें कुछ नियंत्रित दरें (controlled rates) होती हैं। ये देश के केन्द्रीय बैंक द्वारा विशेष उद्देश्यों को ध्यान में रखकर तय की जाती हैं। लेकिन आमतौर पर ब्याज की दर पूँजी का भुगतान या प्रतिफल होती है। यह वार्षिक प्रतिशत के रूप में व्यक्त की जाती है जैसे 15% वार्षिक ब्याज का आशय यह है कि 100 रुपये की राशि एक वर्ष के लिए उपयोग करने पर 15 रुपए ब्याज दिया जाएगा। अर्थशास्त्र मे ब्याज का विषय काफी विवादग्रस्त रहा है। 1936 में जे एम कीन्स की पुस्तक The General Theory of Employment, Interest and Money के प्रकाशित होने से पूर्व अनेक अर्थशास्त्री ब्याज के क्लासिकल सिद्धान्त 'समय अधिमान सिद्धान्त' (time preference theory) को ही अधिक महत्त्व देते थे। विकसैल (1901) ही एक अपवाद था, जिसने ब्याज के 'मौद्रिक' सिद्धान्त की चर्चा की थी। ब्याज के आधुनिक सिद्धान्त में व्यष्टि व समष्टि अर्थशास्त्र दोनों का समावेश होता है। हम इस अध्याय में ब्याज के क्लासिकल, कीन्सियन (तरलता पसदगी सिद्धान्त), उधारदेय कोष (loanable fund) एव हिक्स हेन्सन सिद्धान्तों का सरल रूप में विवेचन करेंगे।

विशुद्ध ब्याज व सकल ब्याज (Net Interest and Gross Interest)

जिस प्रकार लगान के सबध में आर्थिक लगान एव ठेका लगान में भेद किया जाता है, उसी प्रकार यहाँ विशुद्ध ब्याज एव सकल ब्याज में भेद करना आवश्यक होता है। विशुद्ध ब्याज केवल पूँजी के उपयोग के लिए दिया जाता है। सकल ब्याज पर ऋणो की अवधि, जोखिम, ऋण की प्रकृति, प्रबध-व्यय, विभिन्न किस्म की प्रतिभूतियो के कर-संबंधी लक्षणो एवं अनेक कानूनी, प्रशासनिक एवं कार्यात्मक पद्धतियो के अन्तरो का प्रभाव पड़ता है। इन तत्त्वो मे से प्राय. जोखिम, प्रबध व्यय एव अवधि का प्रभाव ब्याज की बाजार-दर पर विशेष रूप से देखा जाता है। भारतीय गावो मे महाजन कृषक

से जो ब्याज लेता है उसमें जोखिम व प्रबध आदि का प्रतिफल भी शामिल होता है। जोखिम दो प्रकार की होती है— व्यावसायिक जोखिम (business risk) और व्यक्तिगत जोखिम (personal risk)। कृषि में व्यावसायिक जोखिम बहुत होती है, क्योंकि इस पर प्राकृतिक दशाओं का प्रभाव पडता है। व्यक्तिगत जोखिम एक व्यक्ति के स्वभाव, आदत व आर्थिक दशा से निर्धारित होती है। जिस व्यक्ति की नीयत अच्छी नही होती और जो रुपया चुकाने में आनाकानी करता है, उसे रुपया उधार देने में अपेक्षाकृत अधिक जोखिम होती है। कहने का आशय यह है कि जोखिम अधिक होने से ब्याज की दर बढ जाती है। कृषक के लिए ब्याज की दर ऊँची होने का एक कारण जोखिम का अधिक होना माना गया है।

इसके अतिरिक्त रुपया उधार देने वाले को ऋण के प्रबन्ध व्यय का भार भी स्वय उठाना होता है। वह आवश्यक हिसाब किताब रखता है और समय पर उधार लेने वाले से रुपया वसूल करने की व्यवस्था करता है। इन सब कारणों से भी ब्याज की दर बढ जाती है। ऋणदाता को ऋण देने में असुविधा भी होती है, क्योंकि वह कुछ समय तक अपनी मुद्रा के उपयोग से वंचित हो जाता है। अत दीर्घकालीन ऋणों पर असुविधा अधिक होने से ब्याज की दर भी अपेक्षाकृत ऊँची होती है। इनमें जोखिम का अश भी अधिक होता है। अल्पकालीन ऋणों में जोखिम व असुविधा कम होने से ब्याज की दर बहुधा नीची होती है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि **ब्याज की 'विशुद्ध' दर वह दर होती है जिसमे जोखिम, प्रबन्ध, आदि तत्त्व नही पाये जाते है।** प्राय प्रथम श्रेणी की सरकारी प्रतिभूतियों पर जो ब्याज दिया जाता है वह विशुद्ध ब्याज की दर कहला सकता है। अर्थशास्त्र में ब्याज के जितने भी सिद्धान्त पाये जाते हैं उनका सम्बन्ध विशुद्ध ब्याज (pure or net interest) से ही होता है। ब्याज के विभिन्न सिद्धान्तों में इसी विशुद्ध ब्याज के कारणों की जाँच करने एव इसकी दर को निर्धारित करने का विवेचन किया जाता है।

ब्याज की मौद्रिक दर व वास्तविक दर मे अन्तर— ब्याज की दर के सम्बन्ध में इसकी मौद्रिक दर (monetary rate) व वास्तविक दर (real rate) में अन्तर करने का भी काफी महत्त्व होता है। मौद्रिक दर के 10 प्रतिशत होने का अर्थ यह है कि उधार लेने वाला वर्ष के अत में उधार देने वाले को 100 रु मूलधन के साथ 10 रु ब्याज के देगा, जिससे वह कुल मुद्रा 110 रु देगा। लेकिन यह सम्भव हो सकता है कि इस बीच मुद्रास्फीति या महँगाई के कारण मुद्रा की क्रय शक्ति घट जाए। मान लीजिए, वर्ष में मुद्रास्फीति की दर (inflation rate) 10 प्रतिशत होती है, तो ब्याज की वास्तविक दर (10 – 10) = शून्य (प्रतिशत) होगी, अर्थात् उधार देने वाले को शुरू में 100 रु में जो वस्तुएँ व सेवाएँ मिलती थी, वर्ष के अन्त में 110 रु में भी उतनी ही वस्तुएँ व सेवाएं मिलेंगी (क्योंकि महँगाई 10 प्रतिशत बढ गई है) । इसलिए

वस्तुत उसके लिए 100 रु उधार देना व्यर्थ ही रहा। ब्याज की मौद्रिक दर व वास्तविक दर का अन्तर निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है—

ब्याज की मौद्रिक दर	मुद्रास्फीति की वार्षिक दर	ब्याज की वास्तविक दर
(1) 10%	10%	0%
(2) 10%	5%	5%
(3) 10%	12%	–2%

इस प्रकार मुद्रास्फाति की दर के ब्याज की मौद्रिक दर से अधिक होने पर ब्याज की वास्तविक या असली दर ऋणात्मक (negative) भी हो सकती है जिससे बेचारा ऋणदाता घाटे में रहता है। अत जिस प्रकार श्रमिक की रुचि वास्तविक मजदूरी (real wages) में होती है उसी प्रकार ऋणदाता की रुचि ब्याज की वास्तविक दर मे होनी है। सरकार को मुद्रास्फीति पर नियत्रण करके ब्याज की वास्तविक दर को गिरने से रोकना चाहिए, तभी ऋणदाताओं को रुपया उधार देने का आकर्षण बना रहेगा। किसी देश में मुद्रास्फीति की दर के 12 प्रतिशत तथा ब्याज की मौद्रिक दर के 10 प्रतिशत पए जाने पर यही कहा जाएगा कि ब्याज की वास्तविक दर (10 12) = –2% रही, जिससे ऋणदाताओं को हानि तथा ऋणी व्यक्तियों को लाभ हुआ। अब हम विशुद्ध ब्याज के विभिन्न सिद्धान्तों पर प्रकाश डालते हैं।

ब्याज का क्लासिकल सिद्धान्त (Classical Theory of Interest)*

क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के अनुसार, 'ऋणदाता इसलिए ब्याज लेता है कि उसे उधार देने में त्याग करना (abstinence) होता है।' एन सीनियर ने 'त्याग' शब्द का उपयोग किया था। बाद में मार्शल ने इसके स्थान पर प्रतीक्षा (waiting) शब्द का उपयोग किया, क्योंकि धनी लोगों को अपनी मुद्रा उधार देने में त्याग नहीं करना पडता, बल्कि उन्हें रुपया वापस लौटने तक प्रतीक्षा अवश्य करनी होती है।

समय अधिमान सिद्धान्त (Time-preference Theory)—ब्याज के प्रारम्भिक सिद्धान्तों मे समय-अधिमान सिद्धान्त काफी चर्चा का विषय रहा है। इस सिद्धान्त के विकास में आस्ट्रिया के अर्थशास्त्री बोहम बावर्क (Bohm Bawerk) का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इर्विंग फिशर (Irving Fisher) ने भी इसी सिद्धान्त का समर्थन किया था। समय अधिमान सिद्धान्त को नव क्लासिकल सिद्धान्तों की श्रेणी में भी रखा गया है। ब्याज के शुरू के सिद्धान्तों में इसको सर्वोच्च स्थान दिया गया है। हम इसका विवेचन क्लासिकल सिद्धान्त के अन्तर्गत ही करेंगे। यह ब्याज के उन सिद्धान्तों को

---

* वास्तव में ब्याज का कोई एक स्वीकृत क्लासिकल सिद्धान्त नहीं है। जे एम कीन्स ने अपनी पुस्तक में जे. एस मिल, जे.बी.से, एन सीनियर, मार्शल, पीगू, रोबर्टसन आदि के ब्याज सबधी विचारों की आलोचना की है। समय अधिमान-सिद्धान्त को नव-क्लासिकल सिद्धान्त भी कहा गया है।

श्रेणी में आता है जिसमें गैर मौद्रिक तत्त्वों (non monetary factors) अथवा वास्तविक तत्त्वों (real factors) पर अधिक जोर दिया गया है।

ब्याज के समय अधिमान सिद्धान्त के अनुसार ब्याज इसलिए दिया जाता है कि पूँजी की विशुद्ध सीमान्त उत्पादकता (Net marginal productivity of capital) होती है और ब्याज इसलिए देना होता है कि लोग भविष्य में उपभोग करने की बजाय वर्तमान म उपभोग करने को ज्यादा पसन्द करते हैं। लोग वर्तमान उपभोग को कम करके विनियोग के लिए अपनी बचतें तभी उपलब्ध करते हैं जब उन्हें ब्याज के भुगतान के रूप में धनराशि या प्रीमियम दिया जाता है। बोहम बावर्क ने ब्याज के तीन मुख्य कारण बतलाये हैं—

(1) उपभोक्ता को यह आशा होती है कि उसके लिए भावी मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता कम होगी क्योंकि भविष्य में उसकी आमदनी अधिक हो जाएगी

(2) जीवन की अनिश्चितता व अन्य अविवेकपूर्ण कार्यों से वह भावी वस्तुओं के स्थान पर वर्तमान वस्तुओं को अधिक पसन्द किया करता है तथा

(3) उत्पादन की घुमावदार विधियाँ या प्रक्रियाएँ (roundabout methods or processes) तकनीकी दृष्टि से उत्तम मानी जाती हैं। पूँजी की सहायता से उत्पादन अधिक होता है लेकिन इसके लिए पहले पूँजी का निर्माण किया जाता है और उस क्रिया में उपभोग कम करना पड़ता है ताकि आवश्यक बचत की जा सके।

समय अधिमान सिद्धान्त के अनुसार पूँजी उत्पादन का एक पृथक साधन मानी जाती है और यदि इसकी विशुद्ध सीमान्त उत्पादकता धनात्मक (positive) होती है तो इसकी सेवाओं का भुगतान किया जा सकता है। श्रमिक पूँजी का उपयोग करके अधिक उत्पादन कर सकते हैं। पूँजी की विशुद्ध सीमान्त उत्पादकता में से ब्याज दिया जा सकता है लेकिन विशुद्ध सीमान्त उत्पादकता इस बात को नही समझाती कि ब्याज क्यों दिया जाता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज देना इसलिए आवश्यक होता है कि लोग इसके बिना वर्तमान उपभोग को कम करने के लिए तैयार नही होते। दूसरे शब्दों में इस सिद्धान्त में बचत की मात्रा ब्याज की दर पर निर्भर करती है। ब्याज के बढने पर बचत भी बढेगी और ब्याज के घटने पर बचत भी घटेगी। अत बचत के पूर्ति वक्र का ढाल
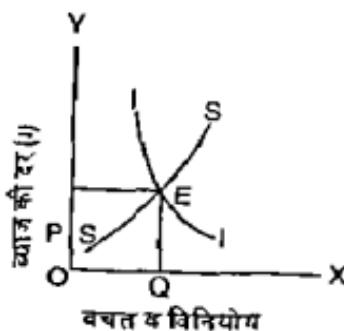
चित्र 1—समय अधिमान सिद्धान्त अथवा प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अनुसार ब्याज की दर का निर्धारण

धनात्मक होगा, अर्थात् यह ऊपर की ओर जाएगा। विभिन्न लेखकों में इसकी लोच के सबध में अवश्य कुछ मतभेद रहा है।

पूँजी का माँग वक्र नीचे दाहिनी ओर झुकता है, क्योंकि यह पूँजी की विशुद्ध सीमान्त उत्पादकता पर आधारित होता है। पूँजी के सबध में, उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने के कारण ऐसा होना स्वाभाविक है। ज्यो ज्यों अन्य साधनो के स्थिर रहने पर पूँजी की मात्रा बढाई जाती है त्यों त्यों पूँजी की सीमान्त उत्पत्ति घटती जाती है। पूँजी की माँग को विनियोग माँग (investment demand) भी कहा जाता है।

उपरोक्त चित्र में समय अधिमान सिद्धान्त के अनुसार ब्याज को सतुलन दर का निर्धारण प्रस्तुत किया गया है।

चित्र में II वक्र पूँजी का विशुद्ध सीमान्त उत्पादकता वक्र अथवा विनियोग वक्र है जो बचत के पूर्ति वक्र SS को E पर काटता है। अत OP ब्याज की दर निर्धारित होती है। इस पर OQ बचत व विनियोग की मात्राएँ आपस में बराबर होती हैं। सन्तुलन में ब्याज की दर पूँजी की विशुद्ध सीमान्त उत्पादकता के बराबर होती है। अत यह सिद्धान्त माँग व पूर्ति के सरल विश्लेषण पर आधारित है। *समय अधिमान सिद्धान्त के अनुसार बचत और विनियोग एक दूसरे से स्वतत्र होते हैं।* बचत व विनियोग की एक दूसरे से स्वतत्रता इस प्रकार स्पष्ट की जा सकती है। मान लीजिए, कभी आविष्कार के कारण विनियोग की क्रिया (investment activity) बढ जाती है तो II वक्र दाहिनी ओर खिसक जाएगा और दिए हुए पूर्ति वक्र SS को ऊँचे बिन्दु पर काटेगा जिससे ब्याज की दर बढ जाएगी। यहाँ हमने यह नही माना है कि **आविष्कार के कारण विनियोग बढने से आय बढ़ेगी और परिणामस्वरूप बचत वक्र भी दाहिनी तरफ खिसक** जाएगा। इसी प्रकार, मान लीजिए, लोग अधिक बचत करने लगते हैं जिससे बचत वक्र दाहिनी तरफ आ जाता है तो वह पुराने II वक्र को इस प्रकार काटेगा कि ब्याज की दर घट जाएगी। *यहाँ भी हम इस बात पर विचार नही करते कि ज्यादा बचत से उपभोग कम हो जाएगा, आय व रोजगार घटेंगे व विनियोग कम हो जाएगा।* इस प्रकार बचत व विनियोग परस्पर स्वतत्र माने गए हैं।

इस सिद्धान्त में विनियोग माँग वक्र में विनियोग की माँग व ब्याज की दर का परस्पर विपरीत सम्बन्ध बतलाया गया है, जो आमदनी व टेक्नोलोजी को स्थिर मानकर चलता है। इन मान्यताओं के अभाव में विनियोग के माँग वक्र को दर्शाना सम्भव नही होता।

न्यूलिन व बूटल (Newlyn and Bootle) के अनुसार, **ब्याज का क्लासिकल सिद्धान्त विशुद्ध रूप से एक प्रवाह सिद्धान्त (flow theory) है,** क्योंकि बचत व विनियोग के विचार प्रवाह के सूचक होते हैं, न कि स्टॉक के। पूँजी बाजार में बचतें आती हैं तथा विनियोगों के रूप में बाहर जाती हैं। इसके अलावा यदि कभी बचतों व विनियोग का परस्पर सतुलन बिगड जाता है तो वह ब्याज की दर के परिवर्तन से पुन स्थापित हो जाता है एव इसके लिए किसी अन्य चलराशि में परिवर्तन नहीं करना पडता। इस प्रकार इस सिद्धान्त में केवल ब्याज प्रभाव (interest effect) को ही महत्वपूर्ण माना गया है।[1]

1 *Newlyn and Bootle Theory of Money 3rd ed 1978 p 87*

आलोचना—(1) कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार **बचत और ब्याज की दर में कमजोर सम्बन्ध होता है,** जबकि इस सिद्धान्त में इनमें परस्पर गहरा सम्बन्ध माना गया है। बचत पर आमदनी का विशेष रूप से प्रभाव पड़ता है। बचत पर बच्चों की शिक्षा, शादी, बुढ़ापे के लिए की गई व्यवस्था आदि तत्त्वों का भी काफी प्रभाव पड़ता है।

(2) इस सिद्धान्त में **साधनों के पूर्ण रोजगार की स्थिति को स्वीकार किया गया है,** क्योंकि सभी साधनों के वर्तमान उपयोग व भावी उपयोग में चुनाव का प्रश्न उपस्थित होता है, और त्याग के लिए ब्याज दिया जाता है। यदि काफी साधन अप्रयुक्त दशा में होते तो उनका चाहे जैसा उपयोग किया जा सकता था।

(3) इस सिद्धान्त में **मुद्रा की सट्टे की माँग (speculative demand for money) व मुद्रा की पूर्ति का प्रभाव ब्याज की दर व आमदनी के स्तर पर नहीं देखा गया है।** कीन्स ने अपने ब्याज के मौद्रिक सिद्धान्त में ऐसा किया है। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि ब्याज के समय अधिमान या क्लासिकल सिद्धान्त में ब्याज को एक मौद्रिक तत्त्व नहीं माना गया है। इसका स्पष्टीकरण आगे चलकर किया जाएगा।

(4) ब्याज के क्लासिकल सिद्धान्त की एक महत्त्वपूर्ण आलोचना यह है कि **इसमें विनियोग का प्रभाव लोगों की आमदनी पर नहीं देखा गया है।** इससे कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि ब्याज की दर पूँजी की सीमान्त उत्पादकता के नीचे आ जाती है, तो पूँजी की पूर्ति ब्याज की नीची दर पर नहीं बढ़ेगी। परिणामस्वरूप, ब्याज की नीची दरों पर विनियोग को बढ़ाना कठिन हो जायेगा। लेकिन व्यवहार में ऐसा नहीं होता। विनियोग के बढ़ने से आमदनी बढ़ती है और ऊँची आमदनी में से बचत भी अधिक होती है। इस प्रकार ब्याज की नीची दरों पर भी विनियोग की मात्रा बढ़ाई जा सकती है।

(5) इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें **ब्याज की दर अनिर्णीत या अनिर्धारित (indeterminate) बनी** रहती है। वैसे यह दोष हिक्स हेन्सन विश्लेषण को छोड़कर ब्याज के अन्य सिद्धान्तों में भी पाया जाता है। लेकिन कीन्स ने यह स्पष्ट किया था कि ब्याज के **क्लासिकल सिद्धान्त में ब्याज** की दर अनिर्धारित बनी रहती है। इसमें घुमावदार तर्क (circular reasoning) सबंधी दोष पाया जाता है। हम आय के स्तर को जाने बिना बचत के बारे में नहीं जान सकते, और बचत के बारे में न जानने से ब्याज की दर नहीं जान सकते। इस प्रकार हम आय के स्तर को जाने बिना ब्याज की दर नहीं जान सकते। लेकिन इसके विपरीत यह भी सही है कि हम ब्याज की दर को जाने बिना आय का स्तर भी नहीं जान सकते, क्योंकि ब्याज की दर का परिवर्तन विनियोग के माध्यम से आय को प्रभावित करता है। हेन्सन के अनुसार, 'बचत अनुसूची' (saving-schedule) वास्तविक आमदनी के स्तर के साथ परिवर्तित होती है।' आमदनी के बढ़ने पर यह दाहिनी तरफ खिसक जाती है। अत हम पहले से आमदनी के स्तर को जाने बिना ब्याज की दर को नहीं जान सकते, क्योंकि ब्याज की नीची दर पर विनियोग की मात्रा अधिक होती है और गुणक (multiplier) के माध्यम से वास्तविक

आमदनी का स्तर ऊँचा होता है। अत क्लासिकल सिद्धान्त ब्याज की दर के निर्धारण की समस्याओ का कोई वास्तविक हल प्रस्तुत नही करता है।

इस प्रकार ब्याज के क्लासिकल सिद्धान्त म वास्तविक तत्वो (real factors), जैसे पूँजी की उत्पादकता (माँग पक्ष की ओर) तथा त्याग (पूर्ति पक्ष की ओर) पर तो जोर दिया गया है लेकिन इसमे ब्याज का मौद्रिक तत्व के रूप म नही देखा जैसा कि कीन्स न अपने सिद्धान्त म देखा है।

कीन्स का ब्याज का तरलता-अधिमान अथवा तरलता-पसदगी सिद्धान्त (Liquidity Preference Theory of Interest of Keynes)

1936 म ज एम कीन्स न अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक The General Theory of Employment, Interest and Money म ब्याज का तरलता-अधिमान सिद्धान्त प्रस्तुत किया था। तब स तरलता अधिमान सिद्धान्त ब्याज के आधुनिक सिद्धान्तो म गिना जाता है। कीन्स के अनुसार, '**ब्याज तरलता के त्याग का प्रतिफल होता है।**'[1] तरलता-अधिमान या पसदगी का आशय यह है कि कुछ कारणों से व्यक्ति अपने पास मुद्रा रखना ज्यादा पसद करते हैं। दूसरे शब्दो म, धन को परिसम्पत्तियो (सिक्यूरिटियों) के रूप में रखने की बजाय मुद्रा के रूप में रखना ज्यादा पसद किया जाता है। ऐसी स्थिति मे लोगो से तरलता का त्याग करवाने की कीमत ब्याज के रूप में देनी होती है।

कीन्स के अनुसार ब्याज की दर मुद्रा की माँग व पूर्ति (demand for and supply of money) से निर्धारित होती है। मुद्रा की माँग प्रमुखतया तीन कारणों से उत्पन्न होती है—

(1) लेन-देन अथवा सौदो का उद्देश्य या प्रयोजन (Transaction motive)— लोग सौदे या लेन देन के उद्देश्य से अपने पास नकद राशि रखना चाहते हैं। आय की प्राप्ति व उसके व्यय के बीच समय का काफी अन्तराल (gap) रहता है, इसलिए परिवारों को लेन देन के उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने पास नकद राशि रखनी पडती है। व्यावसायिक फर्में कच्चे माल, श्रम इत्यादि पर व्यय करने के लिए अपने पास नकद राशि रखती हैं। लेन-देन के उद्देश्य के लिए मुद्रा की माँग पर व्यावसायिक दशाओं व वस्तुओं की कीमतो का अधिक प्रभाव पडता है। राष्ट्रीय आय के एक दिए हुए स्तर पर मुद्रा की यह माँग ब्याज की दर से प्राय स्वतत्र मानी जाती है और यह अल्पकाल में स्थिर रहती है। **अत सौदो के प्रयोजन के लिए मुद्रा की माँग पर आय का प्रभाव पड़ता है, न कि ब्याज की दर का।**

(2) सतर्कता का प्रयोजन (Precautionary motive)—अप्रत्याशित या भावी परिस्थितियों का सामना करने के लिए भी लोग अपने पास मुद्रा रखना पसद करते हैं। एक आम आदमी बीमारी के दिनों के लिए अपने पास कुछ मुद्रा रखना चाहता है।

---

1 In the Keynesian formulation 'Interest is a payment for parting with liquidity "

इसी प्रकार फर्में भी आकस्मिक खर्चों के लिए अपने पास नकद राशि रखती हैं। मुद्रा की यह माग भी व्यावसायिक दशाओ पर अधिक मात्रा में निर्भर किया करती है। यह भी ब्याज की दर से स्वतंत्र मानी जाती है, और अल्पकाल में स्थिर रहती है। इस पर व्यवसाय की प्रकृति साख की सुविधा बॉण्डों को नकद रूप में बदलने की सुविधा, आदि का प्रभाव पडता है।

चूँकि प्रथम व द्वितीय प्रयोजनों के लिए की जाने वाली मुद्रा की माँग विशेषतया आय पर निर्भर करती है इसलिए हम इसे $M_1 = f(Y)$ के रूप में व्यक्त कर सकते हैं जहा M_1 दोनों प्रयोजनों के लिए की जाने वाली मुद्रा की माँग का सूचक होती है और Y आय का और f फलन सबध (functional relation) का द्योतक होता है। इसका अर्थ यह है कि M_1 की मात्रा Y की मात्रा पर निर्भर करती है। इस प्रकार लेन देन व सतर्कता के उद्देश्यों मे रखी जाने वाली मुद्रा की मात्रा राष्ट्रीय आय पर निर्भर करती है। ब्याज की दर के परिवर्तन इसे प्रभावित नहीं करते।

(3) सट्टे का प्रयोजन (Speculative Motive)—लोग ब्याज की दर के परिवर्तनों का लाभ उठाने के लिए भी अपने पास नकद राशि रखना पसद करते हैं। सट्टे के प्रयोजन के लिए मुद्रा की माँग का ब्याज की दर से गहरा सबध होता है। अत कीन्स के तरलता अधिमान सिद्धान्त में इसका केन्द्रीय स्थान माना गया है। यदि एक विनियोगकर्ता यह सोचता है कि भविष्य में ब्याज की दर बढेगी तो वह आज अपने पास नगद राशि रख सकता है ताकि भविष्य में ब्याज के बढने पर वह बॉण्ड कम कीमतों पर खरीद सके। इसके विपरीत यदि वह सोचता है कि भविष्य में ब्याज की दर कम हो जाएगी और बाण्डों की कीमत बढेगी तो वह आज बॉण्ड खरीद सकता है ताकि भविष्य में इन्हें बेचकर लाभ कमा सके। इस प्रकार **सट्टे के प्रयोजन का ब्याज की दर से गहरा सबध होता है।**

ब्याज की दर व बॉण्ड की कीमतो का सबध—यहाँ पर ब्याज की दर व बॉण्ड की कीमतों का सबध सख्यात्मक उदाहरण देकर स्पष्ट करना उचित होगा। बॉण्ड में पूँजी लगाने से स्थिर वार्षिक आमदनी (fixed annual income) प्राप्त होती है। मान लीजिए, 100 रु के बॉण्ड पर 6% की वार्षिक आय प्राप्त होती है। यदि बॉण्ड 120 रु बाजार भाव पर मिलने लगे तो ब्याज की दर $\left(\frac{6}{120} \times 100\right) = 5\%$ पर आ जाएगी। अतः **बॉण्ड के भाव बढने से ब्याज की दर घटेगी।** इसी प्रकार यह स्पष्ट किया जा सकता है कि बॉण्ड का बाजार भाव 80 रु हो जाने पर ब्याज की दर $\left(\frac{6}{80} \times 100\right) = 7\frac{1}{2}\%$ हो जाएगी। अत यदि विनियोगकर्ता यह सोचता है कि भविष्य में बॉण्ड का भाव गिरेगा तो वह आज अपने पास नकद राशि रखेगा, ताकि भविष्य में कम कीमतों पर बॉण्ड खरीदकर अधिक ब्याज कमा सके। इसी प्रकार भविष्य में बॉण्ड के भाव बढने की सभावना होने पर वह आज बॉण्ड खरीदेगा और अपने पास

मनर्कता की माँग को दर्शाता है जिस पर ब्याज की दर (i) का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिए इसे लम्ववत् (vertical) दर्शाया गया है। L_2 (i) का अश मुद्रा की सट्टे की माँग (speculative demand for money) को दर्शाता है जिसे चित्र में अलग से न दिखाकर $L_1(Y)$ को मूल स्थान मान कर दर्शाया गया है। चित्र में M_1 मुद्रा की पूर्ति के बाद मुद्रा की कुल माँग (Md) का वक्र क्षैतिज (horizontal) हो जाता है। अत M_1 की मुद्रा की पूर्ति के बाद "तरलता का जाल" (liquidity trap) माना जाता है। चित्र पर OM की मुद्रा की पूर्ति होने पर मुद्रा की कुल माँग के $Md = L_1(Y) + L_2(i)$ होने पर OR ब्याज की दर निर्धारित होती है और मुद्रा की पूर्ति के OM_1 होने पर ब्याज की दर घट कर OR_1 हो जाती है। मुद्रा की पूर्ति के OM_1 से आगे बढाये जाने से मुद्रा की माँग वक्र के क्षैतिज हो जाने से ब्याज की दर में कमी नहीं आती। अत M_1 के बाद का मुद्रा की कुल माँग का अश 'तरलता का जाल' या 'तरलता का फदा' माना जाता है।

यदि मुद्रा की कुल माँग बढकर ऊपर की ओर खिसक जाती है तो OM मुद्रा की पूर्ति पर ब्याज की दर OR से बढकर OR_2 तथा OM_1 पर OR_1 से बढकर OR_3 हो जाएगी। इसी प्रकार मुद्रा की पूर्ति की कोई और मात्रा लेकर ब्याज की दर ज्ञात की जा सकती है।

कुछ लेखक कीन्स के ब्याज के सिद्धान्त में केवल सट्टे के लिए मुद्रा की माँग और सट्टे के लिए मुद्रा की पूर्ति का ही उपयोग किया करते हैं।

लेकिन हमने चित्र में मुद्रा की कुल माँग और इसकी कुल पूर्ति का उपयोग करके ब्याज की दर का निर्धारण दर्शाया है।

प्राय यह प्रश्न उठाया जाता है कि सट्टे के लिए मुद्रा का माँग वक्र नीचे की ओर क्यों झुकता है ? कीन्स ने इसका उत्तर यह कहकर दिया कि सट्टे के लिए मुद्रा की माँग ब्याज की दर से विपरीत दिशा में चलती है। ब्याज की ऊँची दरों पर सट्टेबाज मुद्रा की बजाय बॉण्ड रखना ज्यादा पसद करते हैं, क्योंकि ऐसी प्रतिभूतियों पर प्रतिफल की दर ऊँची होती है और यह आशा रहती है कि आगे चलकर बॉण्डों के दाम बढेंगे। ब्याज की नीची दरों पर वे बॉण्ड के बजाय मुद्रा को रखना ज्यादा पसद करते हैं। **अत ब्याज की नीची दरो पर तरलता अधिमान या पसदगी अधिक होती है और ब्याज की ऊँची दरो पर तरलता-अधिमान या पसदगी कम पायी जाती है।"**

कीन्स के ब्याज के सिद्धान्त अथवा तरलता पसदगी सिद्धान्त के निष्कर्ष

(1) ब्याज की दर मुद्रा की माँग व पूर्ति से निर्धारित होती है,

(2) मुद्रा की पूर्ति पर मुद्राधिकारियों, अर्थात् केन्द्रीय बैंक व सरकार का अधिकार होने से वे ब्याज की दर को प्रभावित कर सकते हैं। मुद्रा की कुल माँग के दिए हुए होने पर मुद्रा की पूर्ति को बढाने से ब्याज की दर घटती है और मुद्रा की पूर्ति को घटाने से ब्याज की दर बढती है;

(3) मुद्रा की माँग के वक्र के ऊपर की ओर खिसकने से ब्याज की दर बढती है। इस प्रकार कीन्स के सिद्धान्त में ब्याज एक मौद्रिक विषय (monetary phenomenon) बन जाता है।

इसी प्रकार कई वर्षों तक प्रतिफल मिलने पर गणित के निम्न सूत्र का उपयोग करके MEC या बट्टे की दर ज्ञात की जा सकती है।

$$p = \frac{X_1}{1+e} + \frac{X_2}{(1+e)^2} + \qquad \frac{X_n}{(1+e)^n}$$

जहा X_1 X_2 X_n n वर्षों तक मिलने वाले प्रतिफल हैं, P = पूँजी का क्रय मूल्य है तथा e अर्थात् MEC को ज्ञात करना है।

मान लीजिए, एक मशीन का क्रय मूल्य 2000 रु है और वह तीन वर्ष तक लगातार 1000 रु सालाना प्रतिफल देती है, तो MEC या बट्टे की दर ज्ञात कीजिए।

$$2000 = \frac{1000}{1+e} + \frac{1000}{(1+e)^2} + \frac{1000}{(1+e)^3}$$

इसको हल करने पर e = $22\frac{1}{2}\%$ होगी। इसे गणितीय विधि के द्वारा अलग अलग सभावित मूल्यों पर देखकर ज्ञात किया जाता है। यहाँ मुख्य बात यह है कि जब तक MEC, अर्थात् बट्टे की दर ब्याज की दर से अधिक होती है, तब तक निवेश अवश्य किया जाएगा और MEC = ı = ब्याज की दर होने पर यह बद कर दिया जाएगा। यहाँ ब्याज की दर के $22\frac{1}{2}\%$ से कम होने पर रुपया उधार लेकर निवेश किया जाएगा। इस विवेचन से बट्टे की दर (discount rate), अर्थात् MEC व ब्याज की दर (interest rate) का परस्पर सबध स्पष्ट हो जाता है। निवेश के निर्णय मे इन दोनों दरो की परस्पर तुलना की जाती है। बट्टे की दर के ब्याज की दर से अधिक होने पर निवेश किया जाता है तथा इन दोनो के परस्पर बराबर होने पर बद कर दिया जाता है। बट्टे की दर के ब्याज की दर से कम पाए जाने पर निवेश नही किया जाता।

आलोचना—कीन्स के तरलता अधिमान सिद्धान्त में ब्याज को मौद्रिक तत्त्व के रूप में देखा गया है जो उचित है। यह सिद्धान्त ब्याज के क्लासिकल सिद्धान्त से ज्यादा अच्छा माना गया है क्योंकि इसमें ब्याज को तरलता के त्याग का प्रतिफल बतलाया गया है। कीन्स ने बचत और ब्याज के क्लासिकल सबध को अस्वीकार कर दिया और बचत पर अन्य तत्त्वों का प्रभाव भी स्पष्ट किया। इस प्रकार उसके मतानुसार पूँजी की पूर्ति में बचत केवल एक तत्त्व होता है, एकमात्र नहीं होता है।

उसने पूर्ण रोजगार को प्राप्त करने के लिए निवेश में वृद्धि का सुझाव दिया था। निवेश के बढने से आय बढती है, और बढी हुई आय में से बचत भी अधिक की जाती है। इस प्रकार निवेश व बचत आय के परिवर्तनों के माध्यम से परस्पर समान हो जाते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है क्लासिकल सिद्धान्त में बचत व निवेश की समानता ब्याज के परिवर्तनों के माध्यम से स्थापित होती है, जबकि कीन्स के सिद्धान्त में वह आय के परिवर्तनों के माध्यम से स्थापित होती है। इस प्रकार कीन्स ने निवेश व बचत की समानता को स्पष्ट किया है।

की रचना नहीं की। आगे चलकर हिक्स हेन्सन ने ब्याज के आधुनिक सिद्धान्त का निर्माण किया, जो बहुत कुछ कीन्स के द्वारा प्रदान किए गए उपकरणों (tools) का ही व्यापक रूप से उपयोग दर्शाता है। आधुनिक सिद्धान्त पर जाने से पूर्व हम ब्याज के उधारदेय कोष सिद्धान्त का वर्णन करेंगे।

ब्याज का उधारदेय कोष सिद्धान्त (Loanable Fund Theory of Interest)—ब्याज के उधार देय कोष सिद्धान्त की रचना सर्वप्रथम विक्सैल (Wicksell) ने की थी, लेकिन बाद में हेबरलर, बरटिल ओहलिन, मिर्डल व रोबर्टसन आदि ने भी इसे विकसित किया था। यह **ब्याज का नव-क्लासिकल सिद्धान्त (neo-classical theory)** भी कहलाता है। यह भी ब्याज को मौद्रिक तत्त्व के रूप में देखता है। उधारदेय कोष के अर्थ व महत्त्व एवं तरलता अधिमान सिद्धान्त से इसके संबंध को लेकर आर्थिक साहित्य में काफी जटिल किस्म का विवाद रहा है। सरल रूप में इस सिद्धान्त की मुख्य बातें निम्न रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं। उधारदेय कोष सिद्धान्त के अनुसार ब्याज की दर उधारदेय कोषों की माँग व पूर्ति से निर्धारित होती है। अतः हमें इनका स्पष्ट विवेचन करना होगा।

उधारदेय कोषों की पूर्ति (The Supply of Loanable Funds)

(1) बचत (Savings)—उधारदेय कोषों की कुल पूर्ति कई स्रोतों से होती है। इनमें से एक स्रोत बचत का होता है। अर्थशास्त्री बचत के संबंध में कई दृष्टिकोण रखते हैं। एक दृष्टिकोण के अनुसार बचत नियोजित या प्रत्याशित (planned or ex ante) हो सकती है अथवा वास्तविक (actual or ex post) हो सकती है। नियोजित व वास्तविक बचत में अंतर पाया जाता है। दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार वर्तमान बचत पिछली अवधि की आमदनी में से वर्तमान उपभोग को घटाकर प्राप्त की जाती है।

उधारदेय कोष सिद्धान्त में कोषों की पूर्ति पर बचत का प्रमुख रूप से प्रभाव पड़ता है। ब्याज की विभिन्न दरों पर बचत की अनुसूची बनाई जा सकती है। वैसे व्यक्तिगत बचत की मात्रा आमदनी पर भी निर्भर करती है। यह अन्य कई बातों पर भी निर्भर किया करती है, जैसे संकट के लिए मुद्रा बचाकर रखना, बीमा पॉलिसी का भुगतान करना सामाजिक सुरक्षा की राशि भरना आदि। बहुत ऊँची आमदनी पर बचत स्वतः होती है। व्यावसायिक बचत में मूल्य ह्रास, रिजर्व व कम्पनी में रोकी गई आमदनी या अवितरित लाभ राशि आती है। ये कम्पनियों की नीतियों (corporate policies) पर निर्भर करती हैं।

(2) असंग्रह (Dishoarding)—उधारदेय कोषों की पूर्ति असंग्रह (dishoarding) से बढ़ती है और संग्रह (hoarding) से घटती है। इसलिए इस तत्त्व का उधारदेय कोषों की पूर्ति पर प्रभाव पड़ता है। जब लोग अपने पुराने संग्रह में से राशि निकालने लगते हैं तो उधारदेय कोषों की पूर्ति बढ़ जाती है।

(3) बैंक साख (Bank credit)—उधारदेय कोषों की पूर्ति का एक साधन बैंकों द्वारा साख सृजन करना भी माना गया है। बैंक ऋण प्रदान करके उधारदेय कोषों की पूर्ति बढाते हैं। विक्सैल ने इस तत्त्व की ओर ध्यान आकर्षित किया था। बैंकों द्वारा दी जाने वाली साख का ब्याज की दर से सबध होता है। यह ब्याज के बढने से बढती है। अत यह ब्याज से प्रभावित होती है।

(4) अविनियोग या विनिवेश (Disinvestment)—जब मशीनों के घिस जाने के बाद उन्हें पुन स्थापित नही किया जाता अथवा वस्तुओं के स्टॉक को कम होने दिया जाता है तो यह प्रक्रिया का अविनियोग या विनिवेश को जन्म देती है, और ये कोष (funds) बाजार में उधार के लिए उपलब्ध होते हैं। ब्याज की ऊँची दरों पर अविनियोग को प्रोत्साहन मिलता है।

अविनियोग की राशि को विनियोग (माग पक्ष की ओर) में से घटाकर भी दिखाया जा सकता है। लेकिन यहाँ हमने इसे कोषों की पूर्ति की तरफ ही लिया है।

यदि S बचत को, DH असग्रह को, M बैंक-मुद्रा को तथा DI अविनियोग या विनिवेश को सूचित करें तो कोषों की कुल पूर्ति $= S + DH + M + DI$ होगी। ब्याज की विभिन्न दरों पर कोषों की कुल पूर्ति की मात्राएँ अलग अलग होंगी।

उधारदेय कोषो की माँग (The Demand for Loanable Funds)

(1) निवेश (Investment)—फर्में (निजी व सरकारी) पूंजीगत साज सामान खरीदने व वस्तुओं का स्टॉक जमा करने के लिए कोषों की माँग करती हैं। पूंजी की सीमान्त आय-उत्पादकता (MRP) की तुलना ब्याज से की जाती है। ब्याज कम होने पर निवेश के लिए माँग अधिक होती है। व्यक्ति टिकाऊ उपभोग्य वस्तुओं, जैसे मकान, कार आदि के लिए भी कोषों की माँग किया करते हैं।
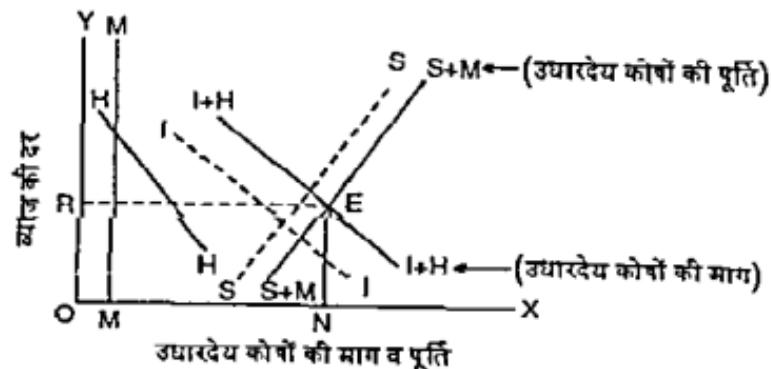
चित्र 3–उधारदेय कोष सिद्धान्त में ब्याज का निर्धारण

आलोचना—उधारदेय कोषों का ब्याज का सिद्धान्त काफी व्यापक है, क्योंकि इसमें ब्याज के मौद्रिक व गैर मौद्रिक सिद्धान्तों का उचित रूप में समन्वय किया गया है। लेकिन कीन्स व उसके समर्थकों ने इस सिद्धान्त की निम्न आधारों पर आलोचना की है—

(1) सिद्धान्त में प्रयुक्त संग्रह (hoarding) का विचार काफी भ्रमात्मक है। कीन्स का कहना है कि मुद्रा की मात्रा के स्थिर रहने पर संग्रह की मात्रा नहीं बदल सकती। लेकिन हॉम का मत है कि मुद्रा का प्रचलन वेग बदलने से संग्रह की मात्रा बदल जाती है।

(2) ब्याज के अन्य सिद्धान्तों की भांति इस सिद्धान्त में भी ब्याज की दर 'अनिर्धारित' (indeterminate) रह जाती है। हम ब्याज की दर को जाने बिना आमदनी नहीं जान सकते और आमदनी को जाने बिना ब्याज की दर नहीं जान सकते। हेन्सन ने इस आलोचना को स्वीकार किया है।

(3) यह साधनों के पूर्ण रोजगार या पूर्ण उपयोग की मान्यता पर आधारित है, जो वास्तविक जगत से मेल नहीं खाती। लेकिन यह आलोचना संदिग्ध (doubtful) मानी जाती है।

(4) इसमें गैर मौद्रिक तत्वों, जैसी पूंजी की उत्पादकता आदि का समावेश हो जाने से, यह उन दोषों से प्रभावित होता है जो आय व टेक्नोलोजी को स्थिर मानने से उत्पन्न होते हैं।

(5) आजकल ब्याज की दर बाजार में उधारदेय कोषों की माँग व पूर्ति से निर्धारित न होकर केन्द्रीय बैंक व केन्द्रीय सरकार के द्वारा कई बातों को ध्यान में रखकर तय की जाती है। इसे प्रशासित ब्याज की दर (administered interest rate) कहते हैं। भारत में इस प्रकार की घोषित ब्याज की दरों का काफी प्रभाव रहा है। ऐसी स्थिति में उधारदेय कोष सिद्धान्त का महत्त्व कम हो जाता है।

(6) इस सिद्धान्त में एक साथ प्रवाह व स्टॉक (flow and stock) की अवधारणाओं के समावेश से भी दोष उत्पन्न हो गया है।

स्वर्गीय प्रोफेसर हैरी जी जॉन्सन (Late Professor Harry G Johnson) ने उधारदेय कोष सिद्धान्त का काफी समर्थन किया था। वास्तव में यह सिद्धान्त कीन्स के सिद्धान्त के साथ मिलकर ब्याज के आधुनिक सिद्धान्त का निर्माण करता है।

ब्याज का नवीनतम सिद्धान्त-हिक्स-हेन्सन विश्लेषण (IS-LM वक्रों के आधार पर)

हिक्स हेन्सन विश्लेषण का प्रारंभ 1937 में जे आर हिक्स के एक लेख से हुआ था। बाद में प्रोफेसर एलविन हेन्सन ने 1949 में इसे विकसित किया। इस सिद्धान्त में बचत, निवेश, मुद्रा की सट्टे के लिए माँग व पूर्ति के चारों तत्वों का समावेश किया

गया है। ब्याज के इस आधुनिक सिद्धान्त में मौद्रिक सतुलन (monetary equilibrium) और वस्तु सतुलन (product-equilibrium) दोनों की शर्तें पूरी हो जाती हैं। LM-वक्र मौद्रिक सतुलन और IS-वक्र वस्तु सतुलन का सूचक होता है। हम आगे IS वक्र व LM वक्र के निर्माण को सारणी व चित्रों के द्वारा स्पष्ट करते हैं।[1]

IS वक्र के निर्माण के लिए आवश्यक ऑकडे

खण्ड 1		खण्ड 2		खण्ड 3	
ब्याज की दर (%) (i)	निवेश की मात्रा (I) (करोड रु.)	आय (करोड रु.) (Y)	बचत (करोड रु.) (S)	ब्याज की दर (%) (i)	आय (करोड रु.) में (Y)
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)
4	25	150	25	4	150
3	50	200	50	3	200
2	75	250	75	2	250
1	100	300	100	1	300
0	125	350	125	0	350

उपर्युक्त सारणी में कॉलम (1) व कॉलम (2) में $I = f(i)$, अर्थात् निवेश ब्याज की दर पर आश्रित बतलाया गया है। ब्याज की दर के घटने पर निवेश की मात्रा बढ़ती जाती है। कॉलम (3) व कॉलम (4) मे आय व बचत का सबध दर्शाया गया है अर्थात् $S = f(Y)$ और अत में कॉलम (5) व कॉलम (6) ब्याज की दर व आय के सबध को इस मान्यता पर दर्शाते हैं कि $I = S$ होती है। इस प्रकार वस्तु सतुलन (product equilibrium) या वास्तविक सतुलन (real equilibrium) के पाये जाने पर ब्याज की दर व आमदनी का सबध IS-रेखा के रूप मे चित्र 4 के खड 4 में दर्शाया गया है।

अब हम चित्र के निर्माण की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हैं—

IS-वक्र का निर्माण—IS वक्र के निर्माण के लिए चित्र 4 में चार खडों (four quadrants) का उपयोग किया गया है। प्रथम खड में निवेश माँग सारणी $I = I(i)$

1 IS व LM वक्रों के निर्माण की विधि के लिए देखिए—
Thomas F Dernburg, Macro-Economics-Concepts, Theories and Policies, 7th ed 1985 ch 9 pp 199-207

एक सरल रेखा के रूप में चित्रित की गई है। इसमें क्षैतिज अक्ष पर निवेश और लम्बवत् अक्ष पर ब्याज की दर प्रस्तुत की गई है। ब्याज की दर के कम होने पर निवेश की मात्रा बढ़ती है। 4% ब्याज पर निवेश की राशि 25 करोड़ रुपए है, 3% की ब्याज की दर पर 50 करोड़ रुपए एवं 1% पर 100 करोड़ रुपए है। खंड दो में निवेश-बचत सन्तुलन दर्शाया गया है। यह रेखा 45 डिग्री का कोण बनाती है। अर्थात् 25 करोड़ रुपए का निवेश 25 करोड़ रुपए की बचत के बराबर है तथा 50 करोड़ रुपए का निवेश 50 करोड़ रुपए की बचत के बराबर है, इत्यादि। तीसरे खंड में बचत सरणी अंकित की गई है। यहाँ पर यह मान लिया गया है कि 100 करोड़ रुपए की आय पर बचत शून्य है। 150 करोड़ रुपए की आय पर बचत 25 करोड़ रुपए एवं 200 करोड़ रुपए की आय पर बचत 50 करोड़ रुपए है। इसका आशय यह है कि बचत की सीमान्त प्रवृत्ति (MPS) 0.5 है अर्थात् बढ़ी हुई आय का आधा भाग बचाया जाता है। चौथे खंड में वस्तु-बाज़ार सन्तुलन (product-market equilibrium), $I = S$ दर्शाया गया है, जिसमें ब्याज की दर व आय की मात्रा का सम्बंध बतलाया गया है, जैसे 4% ब्याज पर आय की मात्रा 150 करोड़ रुपए, 3% ब्याज पर 200 करोड़ रुपए होती है, आदि।
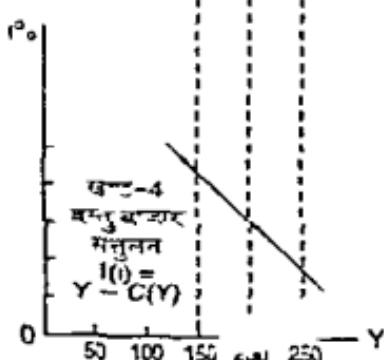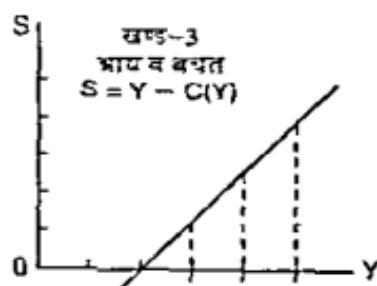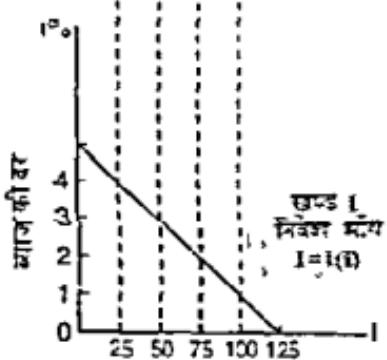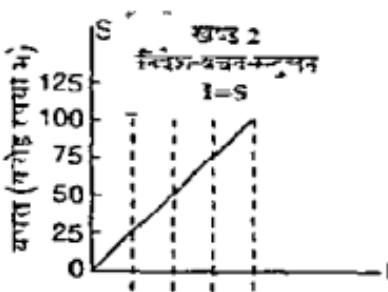
चित्र 4-IS-वक्र के निर्माण की विधि (Derivation of IS-curve)

अब हम प्रथम खड से प्रारभ करके चतुर्थ खड तक पहुँच जाते हैं। मान लीजिए, हम प्रथम खड मे ब्याज की 3% दर से शुरू करते हैं। इस पर निवेश की मात्रा 50 करोड रुपए है। द्वितीय खड में पहुँचने पर 50 करोड रुपए के निवेश के अनुरूप बचत की मात्रा 50 करोड रुपए होती है। तृतीय खड में 50 करोड रुपए की बचत के अनुरूप आय की मात्रा 200 करोड रुपए होती है। **इस प्रकार चौथे खड मे 3% ब्याज पर आय का स्तर 200 करोड रुपए प्राप्त हो गया है।** इसी प्रकार ब्याज की अन्य दरों पर आय की मात्राएँ निकाली जा सकती हैं, जैसे 4% ब्याज पर आय की मात्रा 150 करोड रुपए होगी। चतुर्थ खड का वक्र IS वक्र कहलाता है। यह वस्तु-बाजार का सतुलन बतलाता है। यह ब्याज की विभिन्न सभावित दरों पर नियोजित निवेश व नियोजित बचत का सतुलन (equality of intended investment and intended saving) बतलाता है। IS वक्र का अर्थ दूसरे ढग से भी लगाया जा सकता है। यह ब्याज की विभिन्न दरों पर वस्तुओं व सेवाओं की समग्र माँग (aggregate demand) को बतलाता है। अत यह वास्तविक सतुलन का सूचक होता है।

LM वक्र के निर्माण के लिए आवश्यक आँकडे

खण्ड 1		खण्ड 2	खण्ड 3		खण्ड 4	
ब्याज की दर (%) (i)	मुद्रा की माँग सट्टे के उद्देश्य के लिए (करोड़ रु.) (m_2)	मुद्रा की पूर्ति = मुद्रा की कुल माँग ($Ms = m_1+m_2$)	आय (करोड रु.) (Y)	मुद्रा की माँग लेन-देन के उद्देश्य के लिए (करोड रु.) (m_1)	ब्याज की दर (%) (i)	आय (करोड़ रु.) (Y)
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)	(7)
0	100	125	50	25	0	50
1	75	125	100	50	1	100
2	50	125	150	75	2	150
3	25	125	200	100	3	200
4	0	125	250	125	4	250

उपर्युक्त सारणी के कॉलम (1) व (2) में ब्याज की दर व मुद्रा की सट्टे के प्रयोजन की माँग ($m_2 = f(i)$) का सबध दर्शाया गया है। ब्याज की दर के बढने से सट्टे के प्रयोजन मे की जाने वाली मुद्रा की माँग घटती जाती है। कॉलम (4) व (5) में आय व मुद्रा की लेन देन के प्रयोजन के लिए की जाने वाली माँग ($m_1 = f(Y)$)

का संबंध दिखाया गया है। यह $m_1 = \frac{1}{2}Y$ माना गया है। कॉलम (3) में मुद्रा की पूर्ति (MS) = मुद्रा की माँग = $(m_1 + m_2)$ होती है। अत में कॉलम (6) व (7) में पुन ब्याज की दर व आय का संबंध LM-वक्र पर दर्शाया गया है, जहाँ प्रत्येक बिन्दु पर मुद्रा की माँग = मुद्रा की पूर्ति होती है अर्थात् मौद्रिक संतुलन पाया जाता है। अब हम चित्र के निर्माण की प्रक्रिया स्पष्ट करते हैं।

LM-वक्र का निर्माण—मौद्रिक संतुलन का पता लगाने के लिए निम्न विधि अपनाई गई है—

निम्नांकित चित्र 5 के प्रथम खंड में ब्याज की दर व मुद्रा की सट्टे की माँग (speculative demand for money) का संबंध बतलाया गया है। 1% ब्याज की दर पर मुद्रा की सट्टे की माँग 75 करोड रुपए होती है। 3% ब्याज पर यह 25 करोड रुपए होती है। शून्य प्रतिशत या 0% ब्याज पर यह 100 करोड रुपए या अधिक होती है।

द्वितीय खंड में मुद्रा की पूर्ति का सट्टा माँग व लेन देन की माँग के बीच बँटवारा दिया गया है। यदि मुद्रा की लेन देन की माँग (m_1) 25 करोड रुपए होती
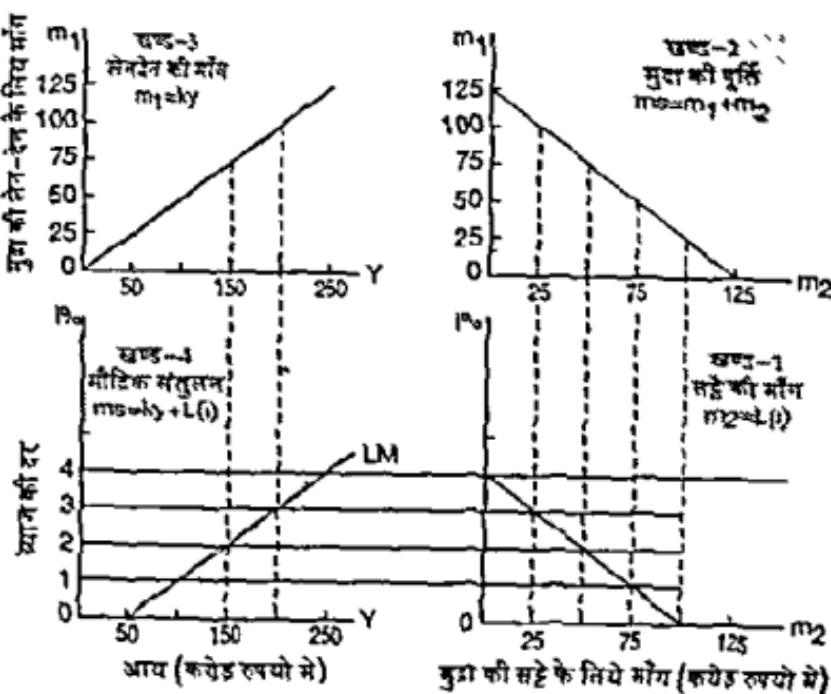
चित्र 5—LM वक्र के निर्माण की विधि (Derivation of LM-curve)

है (खड 2) तो मुद्रा की सट्टे की माँग (m_2) 100 करोड रुपए होती है (खड 1), यदि m_1 = 50 करोड रुपए होती है तो m_2 = 75 करोड रुपए होती है, यदि m_1 = 75 करोड रुपए होती है तो m_2 = 50 करोड रुपए होगी, आदि। तीसरे खड में लेन देन की माँग (transanction demand) व आय के स्तर में 1 2 का अनुपात दर्शाया गया है। यदि m_1 = 75 करोड रुपए है तो Y = आय का स्तर 150 करोड रुपए होता है आदि। चौथे खड में ब्याज की दर व आय के स्तर का सबध, मौद्रिक सतुलन के अनुरूप चित्रित किया गया है, जैसे 3% ब्याज की दर पर आय = 200 करोड रुपए होती है। इस प्रकार LM वक्र मौद्रिक सतुलन को दर्शाता है।

पुन हम प्रथम खड से चलकर चतुर्थ खड में पहुँच जाते हैं। प्रथम खड में 3% ब्याज की दर पर मुद्रा की सट्टा माँग (speculative demand for money) 25 करोड रुपए होती है। दूसरे खड में इसके अनुरूप लेन देन की माँग (transaction demand for money) 100 करोड रुपए होती है। तृतीय खड में m_1 = 100 करोड रुपए के अनुरूप आय की मात्रा 200 करोड रुपए होती है (1 2 का अनुपात)। इस प्रकार चौथे खड में 3% ब्याज पर आय की मात्रा 200 करोड रुपए अकित हो जाती है। 4% ब्याज पर यह 250 करोड रुपए होगी, 2% ब्याज पर यह 150 करोड रुपए होगी, आदि। पाठक काफी ध्यानपूर्वक इन सबधों को समझने का प्रयास करें। एक बार समझने पर ये बहुत रुचिप्रद व आसान लगेंगे। 1% ब्याज पर सट्टा माँग (m_2) = 75 करोड रुपए होती है (खड 1), यह m_1 = 50 करोड रुपए को उत्पन्न करती है (खड 2), जो Y = 100 करोड रुपए को जन्म देती है (खड 3), इस प्रकार खड 4 में 1% ब्याज के अनुरूप आय की मात्रा 100 करोड रुपए पर आ जाती है। **LM-वक्र-रेखा मौद्रिक सतुलन की स्थिति मे ब्याज की दर व आय के स्तर मे परस्पर सबध स्थापित करती है।**

निष्कर्ष (Conclusion) IS वक्र—यह आमदनी की विभिन्न मात्राओं एव ब्याज की दरों के उन विभिन्न सयोगों को प्रकट करता है जिन पर कुल बचत कुल निवेश के बराबर होती है। अत यह वस्तु बाजार के सतुलन (product equilibrium) का सूचक होता है। IS-वक्र नीचे की ओर झुकता है।

LM-वक्र—LM वक्र आमदनी की विभिन्न मात्राओं एव ब्याज की दरों के उन विभिन्न सयोगों को प्रकट करता है जिन पर मुद्रा की कुल माँग इसकी कुल पूर्ति के बराबर होती है। अत यह मौद्रिक सतुलन (monetary equilibrium) का सूचक होता है। LM-वक्र ऊपर की ओर जाता है।

चित्र 6 में E बिन्दु पर IS वक्र (बचत = निवेश या विनियोग) LM वक्र (मुद्रा की कुल माँग = कुल पूर्ति) को काटता है, जिससे वस्तु बाजार का सतुलन व मौद्रिक सतुलन दोनों एक साथ प्राप्त हो जाते हैं, तथा आय और ब्याज की दर साथ साथ निर्धारित हो जाते हैं। ब्याज की O₁ = 3% तय होती है। IS वक्र के खिसक कर ऊपर की ओर चले जाने से ब्याज की दर व आय में वृद्धि होगी। इसी प्रकार LM वक्र के परिवर्तन का प्रभाव भी ब्याज की दर व आय पर सुगमता से जाना जा सकता है। **कीन्स के सिद्धान्त मे केवल मौद्रिक-सतुलन एव उधारदेय कोष सिद्धान्त में केवल**
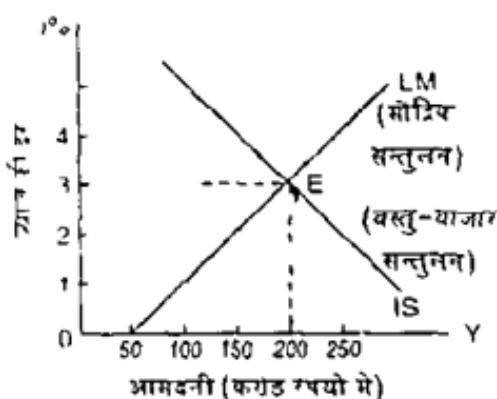
चित्र 6 IS व LM वक्रो के द्वारा ब्याज की दर का निर्धारण अथवा ब्याज के हिक्स हेन्सन या नवीनतम सिद्धान्त मे ब्याज की दर का निर्धारण

वस्तु-बाजार सतुलन की शर्त पूरी होती है, लेकिन हिक्स-हेन्सन विश्लेषण मे एक साथ वस्तु-बाजार और मौद्रिक सतुलन की दोनो दशाएँ पूरी हो जाती है और यह अधिक स्पष्ट हो जाता है कि ब्याज की दर व आमदनी दोनो एक दूसरे से निर्धारित होते है। 3 प्रतिशत ब्याज की दर पर आय का स्तर 200 करोड रुपये है। यही एक दर है जिस पर वस्तु बाजार सतुलन व मौद्रिक सतुलन दोनों एक साथ प्राप्त होते है। चित्र 4 व चित्र 5 की सहायता से यह पता लगाया जा सकता है कि 3 प्रतिशत ब्याज पर निवेश = 50 करोड रुपये = 50 करोड रुपए बचत है, एव इस पर सट्टे के लिए मुद्रा की माँग = 25 करोड रुपये एव लेन देन के लिए मुद्रा की माँग = 100 करोड रुपये है। इस प्रकार मुद्रा की कुल पूर्ति = मुद्रा की कुल माँग = $m_1 + m_2$ होती है। अत में सामान्य सतुलन की स्थिति आ जाती है। किसी भी राशि मे बदलने की प्रवृत्ति नही होती है। इस प्रकार ब्याज का सिद्धान्त व्यष्टि अर्थशास्त्र की सीमा को पार करके समष्टि अर्थशास्त्र की सीमा मे प्रवेश कर जाता है।

साराश—ऊपर हमने ब्याज के क्लासिकल (समय अधिमान) सिद्धान्त, कीन्स के (तरलता अधिमान) सिद्धान्त, उधारदेय कोष सिद्धान्त एव हिक्स हेक्सन सिद्धान्त (ब्याज के नवीनतम सिद्धान्त) का विवेचन किया है। इससे स्पष्ट होता है कि ब्याज के सबध में अर्थशास्त्रियों मे काफी मतभेद पाया गया है। ब्याज के प्रथम दो सिद्धान्तो में ब्याज की दर अनिर्धारित बनी रहती है, लेकिन आधुनिक सिद्धान्त में ब्याज की दर निर्धारित हो जाती है। इस सिद्धान्त मे मौद्रिक सतुलन व वस्तु बाजार सतुलन की दशाएँ एक साथ प्राप्त होती हैं। अत यह ब्याज का एक सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त माना जाता है।*

* ब्याज का वास्तविक सिद्धान्त (real theory) पूछे जाने पर क्लासिकल सिद्धान्त, मौद्रिक सिद्धान्त पूछे जाने पर कीन्स के सिद्धान्त तथा नवीनतम सिद्धान्त (most modern theory) पूछे जाने पर हिक्स हेन्सन अथवा IS/LM पर आधारित सिद्धान्त का वर्णन करना होगा। स्वर्गीय प्रोफेसर जे. के. मेहता ने इनमें परस्पर समन्वय (coordination) स्थापित किया था जो उच्चस्तरीय अध्ययन में लिया जाता है।

आजकल ब्याज अर्थशास्त्र की मानक (स्टैण्डर्ड) रचनाओं में ब्याज के अधिकतर विवेचन में पूँजी की सीमान्त कार्यकुशलता (MEC) का उल्लेख किया जाता है। इसलिए पाठकों को MEC या बट्टे की दर का विचार अवश्य समझना चाहिए, तथा यह बताना चाहिए कि जब MEC बट्टे की दर ब्याज की दर से अधिक होती है, तब पूँजी अवश्य लगानी चाहिए। अर्थात् विनियोग या निवेश के पक्ष में निर्णय किया जाना चाहिए।

वैसे पूँजी सिद्धान्त (capital theory) अर्थशास्त्र के सबसे अधिक जटिल विषयों में गिना जाता है और स्नातक स्तर पर इसकी प्रमुख बातों को समझने का प्रयास करना ही पर्याप्त माना जाता है।

प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 ब्याज का मौद्रिक सिद्धान्त है—
   (अ) उधारदेय कोष सिद्धान्त
   (ब) क्लासिकल ब्याज का सिद्धान्त
   (स) कीन्स का तरलता-पसन्दगी सिद्धान्त
   (द) IS-LM वक्रों पर आधारित ब्याज का सिद्धान्त (स)
2. कीन्स के तरलता-पसन्दगी सिद्धान्त में केन्द्रीय बैंक की भूमिका होती है—
   (अ) मुद्रा की पूर्ति को बढ़ाकर ब्याज की दर को कम कर सकता है।
   (ब) ब्याज की दर को घटाकर निवेश बढ़ा सकता है।
   (स) निवेश की दर को प्रभावित कर सकता है।
   (द) कोई भी नहीं (अ)
3 कौन सा वक्र मौद्रिक सन्तुलन स्थापित करता है ?
   (अ) IS-वक्र
   (ब) LM-वक्र
   (स) तरलता पसन्दगी वक्र
   (द) मुद्रा की पूर्ति व मुद्रा की माँग के परस्पर कटाव का बिन्दु (ब)
4 IS-वक्र क्या सूचित करता है ?
   (अ) I = S की स्थिति में ब्याज की विभिन्न दरों पर राष्ट्रीय आय की विभिन्न मात्राएँ
   (ब) वस्तु-बाजार-सन्तुलन
   (स) वास्तविक सन्तुलन
   (द) सभी (द)

5 ब्याज का नवीनतम सिद्धान्त किसने दिया ?

(अ) जे आर हिक्स ने

(ब) एलविन हन्सन ने

(स) हिक्स व हन्सन ने

(द) एच जी जान्सन ने (स)

अन्य प्रश्न

1 ब्याज के तरलता पसदगी सिद्धान्त को समझाइए। (Raj IIyr 2000)

2 'ब्याज विशुद्ध रूप से मौद्रिक घटक है।' ब्याज के तरलता पसदगी सिद्धान्त के सदर्भ में इस कथन को स्पष्ट कीजिए। (Raj IIyr 2001)

3 ब्याज एक मौद्रिक घटना है। इस सदर्भ में कीन्स के ब्याज सिद्धान्त का परीक्षण कीजिए। (MDSU, Ajmer IIyr 2000)

4 (अ) ब्याज का तरलता पसदगी सिद्धान्त समझाइये।

(ब) प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र में ब्याज के सिद्धान्त की मान्यताओं को समझाइये। (MDSU, Ajmer IIyr 2001)

5 ब्याज पूँजी की माँग व पूर्ति से निर्धारित होता है। उन तत्वो की विवेचना कीजिए जो पूँजी की माँग व पूर्ति को प्रभावित करते हैं।

6 ब्याज उधारदेय कोषों की माँग तथा पूर्ति से निर्धारित होता है। आधुनिक समाज मे उधारदेय कोषों की माँग व पूर्ति के स्रोतों का स्पष्ट विवेचन कीजिए।

31

लाभ के सिद्धान्त-नवप्रवर्तन, जोखिम व अनिश्चितता

(Theories of Profit—Innovation, Risk and Uncertainty)

उद्यमकर्ता के कार्य

लाभ उद्यमकर्ता (entrepreneur) का उत्पादन में भाग लेने का प्रतिफल होता है। ब्याज की भाँति लाभ के भी कई सिद्धान्त होते हैं जो विशुद्ध लाभ (pure profit) को स्पष्ट करते हैं। इस अध्याय मे हम उनका उल्लेख करेंगे। लेकिन प्रारम्भ से यह जानना उचित होगा कि उद्यमशीलता की अपनी विशेषताएँ होती हैं जो लाभ को उत्पादन के अन्य साधनो के प्रतिफलो से पृथक् करती हैं। सर्वप्रथम, उद्यमकर्ता उत्पादन के विभिन्न साधनों मे समन्वय तालमेल स्थापित करता है। उद्यमकर्ता के अभाव में ये साधन काम मे नही लिए जा सकते। द्वितीय, भूमि, श्रम व पूँजी प्रतिफल देकर खरीदे जा सकते है लेकिन उद्यमकर्ता को उसका पारिश्रमिक देकर नही खरीदा जा सकता। यही कारण है कि उद्यमकर्ता अन्य साधनों के जैसा नही होता है। तृतीय उद्यमकर्ता लागत व लाभ के सबध मे अपने अनुमान लगाता है। लेकिन ये अनुमान सही या गलत निकल सकते हैं। अत उद्यमकर्ता को कई प्रकार की अनिश्चितताओं का सामना करना पड़ता है। उत्पत्ति की मात्रा व कीमत निर्धारित करने की प्रक्रिया में ये अनिश्चितताएँ पाई जाती हैं। उद्यमकर्ता कभी यह निश्चित रूप से नही कह सकता कि उसे लाभ होगा या हानि। अत में यह भी स्पष्ट है कि उद्यमकर्ता को घाटा होने पर उसका प्रतिफल ऋणात्मक होता है। लेकिन अन्य साधनों का प्रतिफल सदैव धनात्मक होता है। लाभ के सबध में सर्वप्रथम सकल लाभ, विशुद्ध लाभ एव सामान्य लाभ में भेद किया जाना चाहिए।

सकल एव विशुद्ध लाभ (Gross and net profits)—माल की बिक्री से प्राप्त धनराशि में से दूसरों को चुकाए गए व्यय (paid out costs) घटाने से जो राशि

और इनका मिलना आवश्यक भी होता है। सामान्य लाभ की राशि उत्पादन लागत का अंग होती है। अत यह कीमत में शामिल होती है। हम कीमत निर्धारण के समय देख चुके हैं कि सामान्य लाभ की राशि औसत लागत मे शामिल होती है। जिस प्रकार मजदूरी, लगान व ब्याज उत्पादन लागत के अंग होते हैं उसी प्रकार सामान्य लाभ भी उत्पादन लागत का अंग होता है। सामान्य लाभ एक आवश्यक भुगतान होता है और यह उद्यमकर्ता की सेवाओं का प्रतिफल होता है। अपूर्ण प्रतिस्पर्धा अथवा एकाधिकार में दीर्घकाल में भी एक फर्म को सामान्य लाभ से अधिक लाभ मिल सकते हैं। लेकिन पूर्ण प्रतिस्पर्धा में दीर्घकाल में एक फर्म को केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होते हैं।

सामान्य लाभ उद्यमकर्ताओं की माँग व पूर्ति से निर्धारित होता है। पुराने व भीड भाड वाले उद्योगों व व्यवसायों में सामान्य लाभ की दर अपेक्षाकृत नीची और नये व थोडे उद्यमकर्ता वाले व्यवसायों में सामान्य लाभ की दर ऊँची होती है।

लाभ पूँजीवाद व समाजवाद दोनों प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं में पाया जाता है। पूँजीवाद में निजी या व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा सर्वोपरि होती है। यह साधन आवटन का काम करता है। उत्पादन के साधन उन दिशाओं में गतिशील होते रहते हैं जिनमें ऊँचे लाभ प्राप्त होते हैं तथा उन दिशाओं से हटते जाते हैं जहाँ लाभ घट रहे होते हैं। लाभ ही पूँजी निर्माण का आधार होता है और उसको पुन विनियोजित करके नई उत्पादन की इकाई स्थापित की जा सकती है।

समाजवाद मे लाभ की भूमिका
(Role of Profit under Socialism)

समाजवादी या साम्यवादी अर्थव्यवस्था में निजी लाभ का क्षेत्र तो सीमित या लगभग समाप्त हो जाता है, लेकिन लाभ का अस्तित्व तो उसमें भी स्वीकार किया जाता है। किसी भी आर्थिक इकाई—खेत खलिहान खान, कल कारखाने या परिवहन आदि की कार्य सिद्धि को मापने का यह प्रमुख आधार होता है। समाजवाद में लाभ का भी नियोजन किया जाता है (Profit is also planned under socialism)। योजनाधिकारी उत्पादन व बिक्री की मात्रा के अनुमानों, श्रम की उत्पादकता, विज्ञान व टेक्नोलोजी के उपयोग आदि के आधार पर लाभ के पूर्वानुमान लगाते हैं।

समाजवाद में लाभ का उपयोग सरकार, श्रमिकों व फर्म तीनों के द्वारा किया जाता है। इसलिए यह उपभोग, उत्पादन व निवेश (पूँजी निर्माण) सबको प्रभावित करता है। यह शोषण का साधन न रहकर विकास व कल्याण का साधन बनता है। समाजवाद में लाभ मे से ही ब्याज चुकाया जाता है। इसी में से श्रमिकों के सामाजिक व सास्कृतिक विकास के लिए धनराशि निकाली जाती है। उनको मौद्रिक प्रेरणा दी जाती है तथा उपक्रमों के भावी विकास के लिए वित्तीय व्यवस्था की जाती है।

जे विल्जिन्स्की (J Wilczynski) के अनुसार समाजवाद में लाभ का योगदान निम्न सात प्रकार से पूँजीवाद की तुलना में भिन्न होता है।

मान लीजिए Q = 10 इकाई P = 10 रु व C = 8 रु, F = 80 रु V = 20 रु हो तो लाभ की दर $\frac{10(10-8)}{80+20} \times 100$ (प्रतिशत) = 20% होगी।

अब हम लाभ के प्रमुख सिद्धान्तो का विवेचन करते हैं।

लाभ क प्रमुख सिद्धान्त

(1) लाभ के सम्बन्ध मे योग्यता का लगान सिद्धान्त (Rent of Ability Theory of Profits)—इस सिद्धान्त का सुझाव प्रारम्भ मे सीनियर व मिल ने दिया था लेकिन आगे चलकर अमरीकी अर्थशास्त्री एफ वाकर ने इसे पूर्ण रूप से विकसित किया। इस सिद्धान्त के अनुसार लाभ योग्यता का लगान होता है। इस प्रकार इस सिद्धान्त म लाभ व लगान की प्रकृति को लगभग एक सा माना गया है। हम पहले देख चुके हैं कि रिकार्डो के लगान सिद्धान्त मे लगान एक विभेदात्मक लाभ (differential gain) होता है। यह सीमान्त भूमि व सीमान्त मे ऊपर की भूमि (अधिसीमान्त भूमि) की उपज के अन्तर के बराबर होता है। ठीक उसी प्रकार लाभ भी एक सीमान्त उद्यमकर्त्ता एव अधिसीमान्त उद्यमकर्त्ता का योग्यता के अन्तर से निर्धारित होता है। जिस प्रकार सीमान्त भूमि पर कोई लगान नही होता उसी प्रकार सीमान्त उद्यमकर्त्ता को कोई लाभ प्राप्त नही होता। सीमान्त उद्यमकर्त्ता अपनी वस्तु को उसकी लागत पर बेचता है और वह लाभ प्राप्त नही कर पाता है। अधिसीमान्त उद्यमकर्ता की योग्यता सीमान्त उद्यमकर्ता की योग्यता से अधिक होती है, जिससे उसे लाभ प्राप्त होता ह। उसके लाभ की मात्रा सीमान्त उद्यमकर्त्ता के आधार पर मापी जाती है। वाकर के अनुसार लगान की भाँति लाभ भा कीमत में शामिल नही होता। इसका कारण यह है कि वस्तु की कीमत सीमान्त उद्यमकर्त्ता की उत्पादन लागत के बराबर होती है और उसे लाभ नही मिलता (केवल प्रबन्ध की मजदूरी ही मिलती ह) इसलिए लाभ कीमत मे शामिल नही होता।

आलोचना—(i) लगान व लाभ मे कई प्रकार के अन्तर पाये जाते हैं। लगान प्राय धनात्मक होता है लेकिन घाटा होन की स्थिति में लाभ ऋणात्मक भी हो सकता है।

(ii) लाभ का लगान सिद्धान्त लाभ को केवल उत्तम योग्यता का पुरस्कार मानता ह लेकिन लाभ का वास्तविक कारण अनिश्चितता को झेलना माना गया है जिस पर नाइट के सिद्धान्त मे काफी बल दिया गया है।

(iii) सीमान्त उद्यमकर्ता की अवधारणा भी काल्पनिक होती है, क्योंकि व्यवहार में ऐसा कोई उद्यमकर्ता नही होता जिसे सामान्य लाभ न मिले। सामान्य लाभ प्राप्त न होने पर उद्यमकर्ता उस व्यवसाय को छोड देता है।

(iv) सामान्य लाभ की प्रकृति से परिचित न होने के कारण वाकर ने यह मान लिया था कि लाभ वस्तु की कीमत में शामिल नही होता। लेकिन हम देख चुके हैं कि सामान्य लाभ लागत का ही अश होता है। अत यह कीमत में शामिल होता है।

(v) आधुनिक जगत में सयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों में शेयरहोल्डरों को जो लाभ मिलता है उसका स्पष्टीकरण वाकर के लाभ सिद्धान्त से नही होता। इन शेयरहोल्डरों

का जो लाभांश मिलता है वह ऐसा ही होता है और उससे इनकी योग्यता से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं होता। संयुक्त पूंजी वाली कम्पनियों में वास्तविक प्रबंध व निर्णय लेने के कार्य शेयरहोल्डर स्वयं न करके इनके द्वारा नियुक्त किए गए अन्य व्यक्ति ही किया करते हैं।

कहने का आशय यह है कि वाकर का लाभ का सिद्धान्त लाभ की उत्पत्ति व माप के विवेचन की दृष्टि से अपूर्ण माना गया है। व्यवहार में आजकल इसका कोई महत्त्व नहीं रह गया है।

(2) लाभ का जोखिम सिद्धान्त (Risk Theory of Profits) — यह सिद्धान्त प्रोफेसर हॉले (Hawley) ने 1907 में अपनी पुस्तक 'Enterprise and Productive Process' में प्रस्तुत किया था। इसके अनुसार लाभ उद्यमकर्ता को उत्पादन की जोखिम झेलने के बदले में प्राप्त होता है। जोखिम की मात्रा जितनी अधिक होती है, लाभ की मात्रा भी उतनी ही अधिक होती है।

हॉले ने चार प्रकार की जोखिमों (four types of risks) का उल्लेख किया है— (1) पुनर्स्थापन (*replacement*) की जोखिम (2) मुख्य जोखिम (3) अनिश्चितता से उत्पन्न जोखिम, तथा (4) उपकरण के पुरानेपन की जोखिम। पुनर्स्थापन को मूल्य-ह्रास भी कहा जाता है जिसकी गणना की जा सकती है और इसे लागत में शामिल किया जाता है। 'मुख्य जोखिम' माल की बिक्री की जोखिम होती है तथा अनिश्चितता का संबंध कई अप्रत्याशित तत्त्वों (unexpected elements) से होता है, जो उद्यमकर्ता की योजना को प्रभावित करते हैं। मुख्य जोखिम व अनिश्चितता की जोखिम उठाने के लिए उद्यमकर्ता को लाभ प्राप्त होता है। मशीन के पुरानेपन की गणना करना संभव नहीं होता, क्योंकि तकनीकी प्रगति का अनुमान लगाना भी कठिन होता है। **अतः मुख्य जोखिम व अनिश्चितता की जोखिम पर ही हॉले ने अपने सिद्धान्त में अधिक बल दिया है।**

आलोचना—(क) लाभ का संबंध सभी प्रकार की जोखिमों से नहीं होता है। नाइट के अनुसार, कुछ जोखिमों जैसे आग, चोरी, मृत्यु आदि का बीमा कराया जा सकता है। अतः उद्यमकर्ता के लिए बीमा योग्य जोखिमों (insurable risks) को उठाना आवश्यक नहीं होता है। वह केवल अबीमायोग्य जोखिमों (non-insurable risks) *तक ही अपने को सीमित रखता है। इस पर आगे चलकर अधिक प्रकाश डाला जाएगा।*

(ख) लाभ व जोखिम का संबंध प्रत्यक्ष (direct) नहीं होता है। जोखिम ज्यादा होने पर भी लाभ कम पाया जा सकता है। अतः लाभ जोखिम के अलावा अन्य तत्त्वों पर भी निर्भर करता है। लाभ का संबंध उद्यमकर्ता की योग्यता से भी होता है। कई बार आकस्मिक लाभ प्राप्त हो जाते हैं जिन्हें यह सिद्धान्त नहीं समझा पाता।

फिर भी इस सिद्धान्त में सच्चाई का अंश अवश्य होता है, क्योंकि लाभ का संबंध जोखिम से करना बहुत कुछ व्यावहारिकता से मेल खाता है। प्रायः लोग यह कहते हुए पाये जाते हैं 'जोखिम नहीं तो लाभ-नहीं (no-risk-no-profit), ज्यादा जोखिम ज्यादा लाभ, तथा कम जोखिम कम लाभ, आदि, आदि। ऐसे लोग लाभ का संबंध जोखिम से किया करते हैं। उदाहरण के लिए, जब कोई व्यक्ति अपना रुपया

शेयरो में लगाता है तो दूसरा उसे कहता है कि क्यों जोखिम लेते हो यदि शेयरों के भाव घट गये तो हानि उठानी पडेगी। ऐसी स्थिति में शेयर खरीदने वाला कह सकता है कि शेयरों के दाम बढ भी सकते हैं तब मुझे काफी लाभ होगा। इस प्रकार जोखिम नही तो लाभ नहीं की धारणा काफी प्रचलित है।

(3) लाभ का अनिश्चितता सबधी सिद्धान्त (Uncertainty bearing Theory of Profits)— शिकागो विश्वविद्यालय के प्रोफेसर एफ.एच. नाइट ने लाभ का कारण **अबीमायोग्य जोखिमों (non-insurable risks) को उठाना, अथवा अनिश्चितता को झेलना, माना है।** पहले बताया जा चुका है कि आग मृत्यु, चोरी आदि बीमा योग्य जोखिमें उत्पादक अपने ऊपर नही लेता। वह बीमा कम्पनियों को प्रीमियम देकर इनसे मुक्त हो सकता है। लेकिन उत्पादक के समक्ष फिर भी ऐसी कई प्रकार की अनिश्चितताएँ रह जाती हैं जो उसे स्वय उठानी पड़ती हैं। **नाइट ने जोखिम व अनिश्चितता मे अन्तर किया है। उसके अनुसार अनिश्चितता मे अनिवार्यत जोखिम होती है, लेकिन सभी जोखिमो मे अनिश्चितता नहीं होती।** बीमा योग्य जोखिमों में अनिश्चितता नही पायी जाती है। नाइट के अनुसार उत्पादक के समक्ष जो अनिश्चितता होती है उसका सबध अन्य उत्पादकों के द्वारा की जाने वाली पूर्ति की मात्रा उपभोक्ता की आवश्यकताओं एव उनके पास उपलब्ध क्रय शक्ति आदि से होता है। अबीमायोग्य जोखिमों में बैंकों के द्वारा साख सृजन और अन्य कारणों से उसकी कीमत व लाभ पर पड़ने वाले प्रभाव आते हैं। अत्यधिक दूरदर्शिता व सौभाग्य से ही लाभ प्राप्त करने के उचित अवसर उत्पन्न होते हैं। जनसख्या के परिवर्तनों कच्चे माल के नए स्रोतों की खोज तथा तकनीकी परिवर्तन के परिणामस्वरूप किसी पद्धति के पुराने हो जाने से भी उत्पादकों की जोखिमें बढ जाती हैं। एक प्रावैगिक अर्थव्यवस्था (dynamic economy) में उत्पत्ति के बढने के लिए यह आवश्यक है कि अनिश्चितता का भार उठाने के लिए उद्यमकर्ता को उचित प्रतिफल दिया जाए। इस प्रकार अबीमायोग्य जोखिमें विभिन्न किस्म की हो सकती हैं।

अबीमायोग्य जोखिमों की प्रकृति को ध्यान से समझने की आवश्यकता है। जब किसी वस्तु की उत्पत्ति बढानी या घटानी है तो उद्यमकर्ता को लागत का अनुमान लगाना होता है जो ज्यादा कठिन नहीं होता। लेकिन माग की दशाओं का अनुमान लगाना काफी कठिन होता है। उद्यमकर्ता उत्पादन के विभिन्न साधनों की सेवाएँ निर्धारित कीमतों पर जुटाता है और माल का उत्पादन करता है। लेकिन उत्पादन के साधनों की सेवाएँ जुटाने व उत्पादित माल की बिक्री करने के बीच काफी समय लग जाता है। इस बीच माँग की दशाएँ बदल सकती हैं। इससे उद्यमकर्ता को मुनाफा भी हो सकता है तथा घाटा भी। इसलिए नाइट के अनुसार, मुनाफे का मुख्य कारण माँग व पूर्ति की भावी दशाओं के सबध में अज्ञानता या अनिश्चितता का पाया जाना माना गया है। व्यावसायिक हानियों या घाटों का बीमा करवाना भी सभव नहीं होता।

नाइट के सिद्धान्त में जो अबीमायोग्य जोखिमे होती है वे प्रतिस्पर्धा की जोखिमें, तकनीकी जोखिमे, सरकारी हस्तक्षेप की जोखिमे एव व्यावसायिक तेजी-मंदी की जोखिमे होती है। प्रतिस्पर्धा की जोखिमों में बाजार में प्रतिस्पर्धा की बदलती हुई दशाएँ आती हैं,

(expectations) पर निर्भर करते हैं जो प्रावैगिक समाज मे अनिश्चितता की दशाओ से उत्पन्न होती है। केरस्टेड ने चार प्रकार के आधिक्यों या अतिरेको (Surpluses) की चर्चा की है—रिकार्डियन लगान (अविभाज्यताओं के कारण), एकाधिकारी लाभ नव प्रवर्तक (innovator) के लाभ तथा आकस्मिक लाभ। उसने इन चारों का सबध उद्यमकर्ता की प्रत्याशाओ से जोड़ा है। एकाधिकारी लाभ साधन लागत वक्रो के नीचे की तरफ झुकन के कारण उत्पन्न होते हैं नव प्रवर्तक लागत घटाने वाली पद्धति लागू करता है तथा आकस्मिक लाभ कीमत स्तर के परिवर्तन से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार केरस्टेड ने नाइट के अनिश्चितता सिद्धान्त के साथ लार्ड कीन्स, प्रोफेसर चेम्बरलेन श्रीमती जोन रोबिन्सन व प्रोफेसर शुम्पीटर के विचारों का भी समावेश किया है। इससे केरस्टेड की लाभ की अवधारणा काफी व्यापक बन गई है।

प्रोफेसर मार्टिन ब्रोन्फेनब्रेनर (Martin Bronfenbrenner) ने भी नाइट के लाभ के सिद्धान्त व नव क्लासिकल माँग व पूर्ति सिद्धान्त में परस्पर समन्वय स्थापित किया है। इसके अनुसार अनिश्चितता दो तरह से उत्पन्न होती है—(1) पूजी सचय की मात्रा, प्रकृति व सरचना आदि से तथा (2) लागत व उत्पादन फलनों के रूपों से। इस प्रकार ब्रोनफेनब्रेनर ने नव प्रवर्तन (innovation) को अपने सिद्धान्त मे शामिल नही किया है। उसने पूँजी सचय, लागत फलनो व उत्पादन-फलनो को अपने विश्लेषण में शामिल किया है। पूँजी सचय अधिक होने से लाभ बढता है और कम होने पर लाभ घटता है। पूँजीवादी व्यवस्था में अत्यधिक पूँजी सचय ने लाभ में अभिवृद्धि की है। अन्य बातों के समान रहने पर घटते हुए लागत फलन (diminishing cost functions) कीमतें घटाते हैं और ऊँचे लाभ की दशाएँ उत्पन्न करते हैं। ऐसा बढती हुई माँग की दशाओं में ज्यादा देखने को मिलता है।

कहने का तात्पर्य यह हे कि नाइट का लाभ अनिश्चितता आधारित सिद्धान्त मूलतः अधिक सही व अधिक व्यापक माना गया है। वेस्टन, केरस्टेड व ब्रोनफेनब्रेनर आदि ने नाइट के सिद्धान्त को ही विकसित करने का प्रयास किया है।

(4) **लाभ का प्रावैगिक सिद्धान्त (Dynamic Theory of Profits)**—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन जे.बी. क्लार्क ने किया था। क्लार्क का मत था कि लाभ स्थैनिक समाज (static society) की वस्तु न होकर प्रावैगिक समाज (dynamic society) की वस्तु होता है। स्थैतिक समाज में कोई अनिश्चितता नही होती। पिछले वर्ष की आर्थिक क्रियाएं बिना परिवर्तन के साथ दोहराई जाती हैं। ऐसे समाज में वस्तु की कीमत उत्पादन लागत के बराबर होती है। उद्यमकर्ता के लिए कोई लाभ उत्पन्न नही होता। यदि कभी कीमत उत्पादन लागत से ऊँची हो जाती है तो प्रतिस्पर्धा की वजह से वह शीघ्र ही घटकर उत्पादन लागत के बराबर हो जाती है।

लेकिन समाज प्रावैगिक होता है। इसमें कई प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं, जैसे जनसख्या के आकार, पूँजी की पूर्ति उत्पादन की विधियां, औद्योगिक सगठन के स्वरूप व मानवीय आवश्यकताओं की मात्रा व स्वरूप में परिवर्तन होने रहते हैं। ये

पांच प्रकार के महत्वपूर्ण परिवर्तन वस्तु की माँग व पूर्ति को प्रभावित करते हैं। ये परिवर्तन सामान्य किस्म के होते हैं और समस्त अर्थव्यवस्था को प्रभावित करते हैं। लेकिन कुछ परिवर्तन एक फर्म के द्वारा लागू किए जाते हैं। एक फर्म अपने उत्पादन की विधि को सुधार कर अपनी उत्पादन लागत कम कर सकती है और लाभ कमा सकती है। उत्पादन की नयी विधियों का उपयोग व अन्य कई प्रकार के नव प्रवर्तन (innovations) युद्ध मुद्रास्फीति व अन्य बाहरी परिस्थितियां भी लाभ की दशाओं को उत्पन्न करती हैं। प्रावैगिक या गतिशील परिस्थितियों के कारण उद्यमकर्ताओं के लिए लाभ कमाने के निरन्तर नए अवसर उत्पन्न होते रहते हैं। मान लीजिए किसी नए आविष्कार के कारण उत्पादन लागत तो कम हो जाती है लेकिन किसी वजह से कीमत कम नहीं हो पाती जिससे लाभ की मात्रा बढ़ जाती है।

आलोचना—(क) क्लार्क ने ऐसे परिवर्तन जिनका पहले से अनुमान लगाया जा सकता है और ऐसे परिवर्तन जिनका पहले से अनुमान नहीं लगाया जा सकता के बीच अन्तर नहीं किया है। जिस परिवर्तन से अनिश्चितता उत्पन्न होती है, उसे ही लाभ के लिए उत्तरदायी माना जाता है। अतः नाइट का दृष्टिकोण ज्यादा सही माना गया है और उसे आर्थिक साहित्य में अधिक स्वीकृति मिली है।

(ख) क्लार्क ने लाभ के जोखिम सिद्धान्त को भी नहीं माना है और उसका मत है कि जोखिम झेलने का भार पूँजीपति पर पडता है, न कि उद्यमकर्ता पर।

(ग) इस सिद्धान्त के अनुसार स्थैतिक स्थिति में लाभ नहीं होता, अर्थात् स्थैतिक दशाओं में कोई उद्यमकर्ता नहीं होता। लेकिन प्रश्न उठता है कि ऐसी दशा में साधनों में परस्पर समन्वय कैसे स्थापित किया जाता है ?

सच पूछा जाए तो नाइट के अनिश्चितता सिद्धान्त और क्लार्क के प्रावैगिक सिद्धान्त को मिलाकर लाभ का एक अधिक पूर्ण व अधिक उपयोगी विवेचन प्रस्तुत किया जा सकता है। स्टोनियर व हेग के अनुसार, 'दीर्घकालीन लाभ केवल इसलिए अर्जित किए जाते हैं कि हम एक प्रावैगिक या परिवर्तनशील जगत में रहते हैं, जहां ज्ञान के अभाव में भविष्य के संबंध में अनिश्चितता सदैव विद्यमान होती है। जो लोग ऐसे जगत में व्यावसायिक क्रियाओं में अपनी पूंजी की जोखिम उठाते हैं, वे मुनाफा कमाते हैं।[1]

(5) शुम्पीटर का लाभ का नव-प्रवर्तन सिद्धान्त (Innovation Theory of Profits)—प्रोफेसर जे.ए. शुम्पीटर ने लाभ का जो सिद्धान्त दिया है वह कई बातों में क्लार्क के प्रावैगिक सिद्धान्त से मेल खाता है। शुम्पीटर ने लाभ के लिए उत्पादन की प्रक्रिया में नव-प्रवर्तन, अर्थात् नवीन रीतियों के प्रयोग (innovations), को काफी

1 ... Long run profits will be found to be earned only because we live in a dynamic changing world. With our lack of knowledge uncertainty about the future must always be present. Those who risk their capital in business activities in such a world will therefore earn profits. — Stonier and Hague. A Textbook of Economic Theory, 5th ed. 1980 p 367

देखे जा सकते हैं। सुविधा के लिए हम सभी उद्यमकर्ताओं को समरूप या एक सा मान लेते है। नीचे MRP वक्र व उद्यम पूर्ति वक्र दर्शाया गया है—
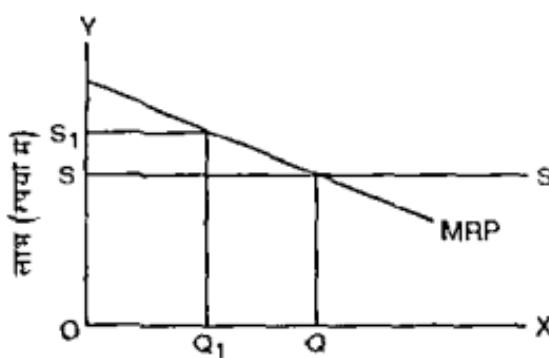
चित्र 1—उद्योग में उद्यम का MRP वक्र व पूर्ति वक्र

स्पष्टीकरण—MRP वक्र उद्यम की सीमान्त आय उत्पादकता का सूचक है। उद्यमकर्ताओं की संख्या के बढ़ने पर उद्योग में MRP का घटना स्वाभाविक है। उद्यम का पूर्ति वक्र SS पूर्णतया क्षैतिज होता है। उद्यमकर्ता एक से कार्यकुशल होने के कारण लाभ की OS राशि कमाते है। यह उनकी स्थानान्तरण आय (transfer earning) मानी जा सकती है। यदि इस उद्योग में यह राशि नही मिलती तो वे अन्यत्र चले जाएगे। अत उद्यम का पूर्ति वक्र एक क्षैतिज सरल रेखा के रूप में खीचा गया है।

उपर्युक्त चित्र में उद्यमकर्ताओं की OQ मात्रा पर सतुलन स्थापित होता है, और सभी उद्यमकर्ता OS रुपए 'सामान्य' लाभ के रूप में कमाते हैं। यह स्थिति दीर्घकाल में पूर्ण प्रतिस्पर्धा में आती है। लेकिन अल्पकाल में OQ_1 उद्यमकर्ता होने पर SS_1 असामान्य लाभ (abnormal profits) भी कमाए जा सकते हैं। ये लाभ दीर्घकाल में पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में समाप्त हो जाते हैं, लेकिन अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में असामान्य लाभ दीर्घकाल में भी कमाए जा सकते हैं।

एकाधिकार व लाभ—अपूर्ण प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत बतलाया जा चुका है कि विशुद्ध एकाधिकार, एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा तथा अल्पविक्रेताधिकार में उत्पादकों को लाभ प्राप्त होते हैं जिनका सबध उत्पत्ति पर नियत्रण व अन्य तत्त्वों से होता है। पूर्ण प्रतिस्पर्धा में दीर्घकाल में एक फर्म को केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होते हैं। कई विद्वानों ने एकाधिकारी शक्ति के कारण लाभ के सृजन पर बल दिया है। लर्नर के अनुसार, एकाधिकारी शक्ति (monopody power) का माप $\frac{P-m}{p}$ होता है, जहाँ p = कीमत, m = सीमान्त लागत होती है। एकाधिकार के अन्तर्गत कीमत निर्धारण के अध्याय में बतलाया जा चुका है कि एकाधिकारी शक्ति = 1/e होती है, अर्थात् यह माग की लोच का विलोम होती है। सूत्र $\frac{P-m}{p}$ में m की जगह MR लेकर

(MC=MR) तथा MR के लिए $p\left(1-\frac{1}{e}\right)$ मूल्य प्रतिस्थापित करने पर एकाधिकारी शक्ति का माप $= \frac{1}{e}$ हो जाता है। (देखिए एकाधिकार का अध्याय) अत आधुनिक जगत में एकाधिकार के कारण लाभ उत्पन्न होने से विद्वानों ने लाभ का सबध एकाधिकार से करना ज्यादा उपयुक्त समझा है।

कार्ल मार्क्स के लाभ पर विचार—महान् साम्यवादी विचारक कार्लमार्क्स ने भी लाभ पर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। उसने पूँजी को स्थिर पूँजी (constant capital) व परिवर्तनशील पूँजी (variable capital) दो भागों में बाँटा है। मशीनरी को स्थिर पूँजी में शामिल करते हैं तथा श्रम को परिवर्तनशील पूँजी में। मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्य की दर (rate of surplus value) व लाभ की दर (rate of profit) की परिभाषा की है, जो इस प्रकार है—

(1) अतिरिक्त मूल्य की दर (Rate of Surplus Value)—यह पूँजीवाद में मजदूरों के शोषण की दर होती है। इसका सूत्र इस प्रकार होता है—

$$K = S/V$$

जहा K = अतिरिक्त मूल्य की दर,

S = अतिरिक्त मूल्य

तथा V = परिवर्तनशील पूँजी को सूचित करते हैं।

मार्क्स के अनुसार पूँजीपति श्रम का शोषण करता है। वह उससे 'अतिरिक्त मूल्य' प्राप्त करने का प्रयास करता है। मान लीजिए, एक श्रमिक को अपने भरण पोषण के लिए छह घटे प्रतिदिन के श्रम की आवश्यकता होती है, और पूँजीपति उससे 12 घटे रोज काम लेता है, तो पूँजीपति उससे (12–6=6) घटे का 'अतिरिक्त मूल्य' (Surplus value) प्राप्त करता है। पूँजीवाद में अतिरिक्त मूल्य श्रम के शोषण का आधार माना गया है।

(2) लाभ की दर (Rate of Profit)—लाभ की दर निकालने के लिए अतिरिक्त मूल्य में कुल पूँजी का भाग दिया जाता है। इसका सूत्र इस प्रकार होता है—

$$\text{लाभ की दर (p)} = \frac{\text{अतिरिक्त मूल्य}}{\text{कुल पूंजी}} = \frac{S}{C+V}$$

मार्क्स ने बतलाया था कि लाभ की दर में दीर्घकालीन प्रवृत्ति गिरावट की ओर होती है। मान लीजिए, अतिरिक्त मूल्य = 100 इकाई मुद्रा है तथा C+V = कुल पूजी = 1000 रु होता है तो p = लाभ की दर $= \frac{100}{1000} = 0.1$ या 10% मानी जाएगी।

7 सामान्य लाभ की प्रकृति होती है—

(अ) यह उद्यमकर्त्ता को अवश्य मिलना चाहिए।

(ब) यह दीर्घकाल में अवश्य मिलना चाहिए।

(स) दीर्घकाल में केवल सामान्य लाभ ही मिल सकते हैं।

(द) यह कीमत में शामिल होता है।

(ए) सभी। (ए)

अन्य प्रश्न

1 नाइट के लाभ के सिद्धान्त को समझाइए। (Raj II Yr 2000)

2 जोखिम अनिश्चितता लाभ सिद्धान्त को समझाइये। (Raj II Yr 2001)

3 बीमा योग्य तथा बीमा अयोग्य जोखिमों में भेद कीजिये। (MDSU, Ajmer II Yr 2000)

4 लाभ की प्रकृति को स्पष्ट कीजिये। (MDSU, Ajmer II Yr 2000)

5 लाभ का अनिश्चितता सहन सिद्धान्त। (MDSU, Ajmer II Yr 2001)

□□□

32

परियोजना-चुनाव की विधियाँ—पे बैक अवधि, प्रतिफल की औसत वार्षिक दर, शुद्ध वर्तमान मूल्य व प्रतिफल की आन्तरिक दर

(Method of Project Selection—Pay back Period, Average Annual Rate of Return, Net Present Value and Internal Rate of Return)

प्रत्येक फर्म को एक महत्त्वपूर्ण निर्णय यह करना पड़ता है कि वह किस वस्तु का उत्पादन करे ? यह प्रश्न केवल नयी फर्म के सामने ही नहीं होता है, बल्कि एक चालू फर्म के सामने भी होता है। एक नयी फर्म को तो निर्णय करना ही पड़ता है कि वह किस वस्तु का उत्पादन करे, लेकिन एक चालू फर्म को भी यह तय करना पड़ता है कि वह उत्पादन की पुरानी लाइन ही रखे, अथवा कोई नई लाइन अपनावे। आज के युग में नित्य नयी उत्पादन की लाइनें सामने आ रही हैं। इसलिए एक फर्म को अपने निवेश के सम्बन्ध में पुरानी लाइन व नयी लाइन के बारे में निर्णय लेना होता है। इस प्रकार के निर्णय के लिए कई प्रकार की विधियाँ काम में ली जाती हैं, जो निवेश विश्लेषण (investmnet analysis) के अन्तर्गत आती हैं। स्मरण रहे कि निवेश कई दिशाओं में किया जा सकता है, जैसे वित्तीय परिसम्पत्तियों में (बैंक जमाओं, शेयरों व ऋण पत्रों की खरीद, आदि में), भौतिक परिसम्पत्तियों में (किराये के लिए मकान बनाने में, अथवा मकान खरीद कर भविष्य में उसे बेचने के लिए, सोना-चांदी जैसे धातु खरीदने में, भूमि व भवन खरीदने में आदि) तथा उत्पादक क्रियाओं में निवेश किया जा सकता है, जैसे टीवी या रेडियो सेट बनाने में, अथवा प्रबन्धकीय सलाहकारी सेवाएँ प्रदान करने में, आदि। परियोजना के चुनाव की विधियों के अध्ययन में हम उत्पादक-क्रियाओं से सम्बन्धित परियोजनाओं पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं।

मान लीजिए एक फर्म 10 करोड़ रुपये का निवेश करना चाहती है। उसके सामने चार प्रोजेक्ट हैं, जिनमें से उसे चुनाव करना है ?

इन चार प्रोजेक्टो मे प्रत्येक मे काल्पनिक निवेश की मात्रा 10 करोड रुपये आँकी गयी है और ये एक साल में उत्पादन में आ जाते हैं और तीन साल तक प्रतिफल देते है जिनका उल्लेख निम्न तालिका मे किया गया है।

तालिका 1–काल्पनिक निवेशो का विवरण

(लाख रुपयों मे)

परियोजना	वर्ष 0 मे निवेश की लागत	वर्ष मे शुद्ध नकद अन्तःप्रवाह या प्राप्तियॉं (net cash inflows)		
		1	2	3
A	1000	1000	50	50
B	1000	500	500	500
C	1000	200	400	1200
D	1000	1000	300	300

सरलता के लिए हम परियोजना चुनाव की निम्न चार विधियों का विवरण प्रस्तुत करते हैं जिनके लिए उपर्युक्त तालिका के आँकडों का उपयोग किया जायगा।

(1) पे बैक अवधि (Pay Back Period)

(2) प्रतिफल की औसत वार्षिक दर
(Average Annual Rate of Return) (AARR)

(3) शुद्ध वर्तमान मूल्य (Net Present Value) (NPV)

(4) प्रतिफल की आन्तरिक दर (*Internal Rate of Return*) (*IRR*)

प्रबधकीय अर्थशास्त्र की पुस्तकों में अन्य विधियो का भी उल्लेख किया जाता है, जैसे लाभ लागत अनुपात (Benefit Cost Ratio) व शुद्ध टर्मिनल मूल्य (Net Terminal Value)(NTV) की विधियाँ आदि। यहाँ प्रारम्भिक अध्ययन मे उपर्युक्त चार विधियों की जानकारी काफी उपयोगी सिद्ध होगी।[1]

(1) पे बैक अवधि (Pay Back Period) –

पे बैक (या पे आफ) अवधि उन वर्षों को सूचित करती है जिनमें परियोजना की प्रारम्भिक निवेश की लागत निकल आती है, या वसूल हो जाती है। इस अवधि को ज्ञात करने के लिए हमें प्रोजेक्ट की शुद्ध नक्द प्राप्तियों को उस समय तक जोडना पडता है जब तक कि वह जोड निवेश लागत के बराबर या उससे अधिक न हो जाय।

1 विस्तृत विवेचन के लिए देखिए G S Gupta **Managerial Economics**, 1988 pp 211 222 इस अध्याय का अधिकाश विवरण इसी स्रोत पर आधारित किया गया है ताकि प्रत्येक निष्कर्ष आसानी से समझ में आ सके।

जितने वर्षों में यह जोड़ का काम सम्पन्न हो जाता है उससे हम पे-बैक अवधि मिल जाती है।

गणितीय रूप में पे बैक अवधि निम्न सूत्र की सहायता से निकाली जाती है—

$$C = \leq \sum_{t=1}^{P} R_t$$

जहाँ C – प्रोजेक्ट की प्रारम्भिक निवेश लागत है

R_t = t वर्ष में शुद्ध नकद अन्त प्रवाह (net cash inflow (NCI) या प्राप्त राशि है

यदि शुद्ध नकद अन्तप्रवाह (NCI) समान होता है तो पे बैक अवधि (P) का सूत्र इस प्रकार होगा

$$P = \frac{C}{R}$$

जहाँ R = एक वर्ष का शुद्ध नकद अन्त प्रवाह है।

ऊपर के काल्पनिक उदाहरणों में चार प्रोजेक्टों की पे बैक अवधि निम्न तालिका में दर्शायी गयी है—

तालिका 2–पे-बैक अवधि (Pay-Back Period)

प्रोजेक्ट	A	B	C	D
पे-बैक अवधि (वर्षों में)	1	2	$2\frac{1}{3}$	1
प्रोजेक्ट का क्रम (rank)	1	3	4	1

पे बैक अवधि के आधार पर एक प्रोजेक्ट तभी स्वीकार्य होगा जब पे बैक की अवधि निवेशकर्ता द्वारा चाही गयी पे बैक अवधि से ज्यादा न हो। चाही गयी पे बैक की अवधि निवेशकर्ता की कोषों की आवश्यकता पर निर्भर करती है। इस पर भविष्य में निवेश के अवसरों की सम्भावना का भी असर पड़ता है। मान लीजिए, एक निवेशकर्ता को अगले वर्ष ही निर्यात व्यवसाय में पैसा लगाने के लिए 10 करोड़ रु की जरूरत पड़ेगी तो उसके लिए वर्तमान प्रोजेक्ट की वांछित पे-बैक अवधि एक वर्ष मानी जायगी। मान लीजिए, वह यह सोचता है कि दो वर्ष बाद निवेश के अवसर आज से बेहतर होंगे तो पे ऑफ या पे बैक अवधि दो वर्ष मानी जायगी।

ऊपर की तालिका के परिणामों के अनुसार A व D प्रोजेक्ट समान रूप से उत्तम हैं, और B का तीसरा व C का चौथा स्थान आता है। प्रोजेक्ट B प्रोजेक्ट C से बेहतर है। यदि निवेशकर्ता को 20 करोड़ रु लगाने हों तो उसे प्रोजेक्ट A व D में लगाना चाहिए और यदि 30 करोड़ रु लगाने हों तो उसे A व D के अलावा B भी चुन लेना चाहिए।

कमी के कारण यह विधि काफी भ्रामक मानी जाती है और इसके परिणाम पूर्णतया विश्वसनीय नही माने जा सकते।[1]

लेकिन गणना की दृष्टि से यह विधि भी काफी सरल मानी जाती है।

(3) शुद्ध वर्तमान मूल्य (Net Present Value)—

एक प्रोजेक्ट में निवेश का शुद्ध वर्तमान मूल्य (NPV) सभी शुद्ध नक्द प्राप्तियों के बट्टा कटे हुए मूल्यों (discounted Value of NCI) में से पूँजीगत लागत (C) को घटाने से प्राप्त परिणाम के बराबर होता है प्रारम्भिक तालिका 1 के अनुसार B प्रोजेक्ट की NPV की गणना बट्टे की दर (discount rate) i = 10 प्रतिशत के आधार पर इस प्रकार होगी—

$$NPV_B = \frac{500}{1+0\ 10} + \frac{500}{(1+0\ 10)^2} + \frac{500}{(1+0\ 10)^3} - 1000$$

$$= (454\ 5 + 413\ 2 + 375\ 6) - 1000$$

$$= 1243\ 3 - 1000 = 243\ 3 \text{ या } 243 \text{ (लगभग)}$$

सूत्र रूप में

$$NPV = \sum_{t=1}^{T} \frac{Rt}{(1+i)^t} - C$$

यहाँ i = 10% बट्टे की दर (*discount rate*) है।

प्रारम्भिक तालिका 1 के अनुसार विभिन्न प्रोजेक्टों के लिए NPV निम्न तालिका में दर्शायी गयी है।

तालिका-4

शुद्ध वर्तमान मूल्य (i=10%) (लाख रुपयों में)

प्रोजेक्ट	A	B	C	D
NPV	−12	243	414	380
क्रम	4	3	1	2

शुद्ध वर्तमान मूल्य (NPV) के आधार पर इसके धनात्मक होने पर प्रोजेक्ट लगाया जा सकता है। यदि NPV ऋणात्मक होती है, तो प्रोजेक्ट नकार दिया जाना चाहिए। यदि NPV = 0 हो तो निवेशकर्ता प्रोजेक्ट को स्वीकारने या नकारने के बीच तटस्थ रहेगा। उपर्युक्त तालिका के अनुसार प्रोजेक्ट A नकार दिया जायगा और B, C, व D स्वीकार करने लायक है। NPV जितनी ऊँची होगी, प्रोजेक्ट उतना ही उत्तम माना जायगा। इसलिए उपर्युक्त तालिका के अनुसार C प्रोजेक्ट सर्वश्रेष्ठ है और A निकृष्टतम है।

1 G S Gupta op cit p 231

स्मरण रहे कि NPV की राशि बट्टे की दर के विपरीत दिशा में जाती है। बट्टे की दर के घटने पर NPV में वृद्धि होती है। उदाहरण के लिए, बट्टे की दर के 10% होने पर A प्रोजेक्ट के लिए NPV की राशि–12 लाख रु थी। लेकिन बट्टे की दर के 5% होने पर यह

$$NPV_A = \frac{1000}{1.05} + \frac{50}{(1.05)^2} + \frac{50}{(1.05)^2} - 1000$$

$$= (952.4 + 45.3 + 43.2) - 1000$$

$$= 1040.9 - 1000 = 40.9$$ अथवा लगभग 41 (लाख रु)

इस प्रकार बट्टे की दर के 10% से घट कर 5% पर आने पर NPV_A की राशि (–)12 (लाख रु) से बढ़कर 41 (लाख रु) की तरफ चली गयी है।

NPV के निर्धारण में पूँजीगत लागत (Cost of Capital) का बड़ा योगदान होता है। NPV की गणना भी ज्यादा कठिन नहीं होती। इसमें बट्टे की दर (discount rate) (i) का उपयोग किया जाता है। इसका भी व्यवहार में काफी प्रयोग किया जाता है।

(4) प्रतिफल की आन्तरिक दर (Internal Rate of Return) (IRR)

इसे कई अन्य नामों से भी सम्बोधित किया जाता है जैसे प्रतिफल (Yield), 'न लाभ न हानि' (break-even) की दर, पूँजी की सीमान्त कार्यकुशलता (Marginal efficiency of Capital), लाभ की आन्तरिक दर (Internal rate of profit) तथा प्रतिफल की बट्टा काटने पर नकद-प्रवाह की दर (Discounted Cash Flow) (DCF) rate of return। यह प्रतिफल की वह दर होती है जो शुद्ध नकद अन्तःप्रवाहों (NCIs) पर बट्टा काटने के लिए प्रयुक्त किये जाने पर उनके कुल योग को पूँजीगत लागत के बराबर कर देती है। दूसरे शब्दों मे यह वह दर होती है जिस पर NPV = 0 होती है।

सूत्र के रूप में,

$$C = \sum_{t=1}^{T} \frac{R_t}{(1+r)^t}$$

जहाँ r = IRR होता है।

ध्यान रहे कि IRR का सूत्र NPV का ही सूत्र होता है, लेकिन यहाँ i का स्थान r ले लेता है और NPV का मूल्य शून्य के बराबर किया जाता है।

IRR व NPV मे अंतर करते समय हमे इस बात का ध्यान रखना होगा कि IRR मे NPV = 0 होता है और r की गणना करनी होती है जबकि NPV मे r दिया हुआ होता है (=i) और NPV की गणना की जाती है।

प्रथम प्रोजेक्ट (A) के लिए IRR की गणना इस प्रकार करनी होगी

$$1000 = \frac{1000}{1+r} + \frac{50}{(1+r)^2} + \frac{50}{(1+r)^3}$$

यहाँ एक चल राशि (r) का एक समीकरण है। लेकिन समीकरण बहुपदी (polynomial) है T अश का (प्रोजेक्ट के जीवन काल के समान)। इसके तीन विभिन्न हल होगे जो बहुपदी का बीजगणित से हल करने पर प्राप्त किये जा सकते हैं, अथवा परीक्षण प्रणाली (trial and error method) से प्राप्त किये जा सकते हैं। यदि T बड़ा होता है तो कम्प्यूटर का प्रयोग जरूरी हो जायगा। r का कोई मूल्य लेकर हम यह पता करने का प्रयास करते है कि उससे समीकरण सही साबित होता है अथवा नही। यदि वह सही होता है तो वही r का मूल्य बन जाता है। यदि उससे समीकरण सही नहीं बैठता तो हम r का कोई दूसरा मूल्य लगाते हैं जो परीक्षण प्रणाली के आधार पर हमे तीन चार फेरो म सही मूल्य पर पहुँचा देता है। r का एक ही ऐसा मूल्य होता है जो समीकरण को सतुष्ट कर पायेगा। IRR के लिए सामान्य रूप में हम समीकरण को इस प्रकार लिख सकते हैं

$$C - \frac{R_1}{(1+r)} - \frac{R_2}{(1+r)^2} - \qquad - \frac{R_T}{(1+r)^T} = 0$$

प्रोजेक्ट A के लिए IRR समीकरण को हल करने पर r = 8 8% आयेगा। अन्य प्रोजेक्टों के लिए IRR के मूल्य निम्न तालिका मे दर्शाये गये हैं।

तालिका-5

प्रतिफल की आन्तरिक दर (IRR) (प्रतिशत में)

प्रोजेक्ट	A	B	C	D
IRR	8 8	23 4	26.5	37 6
क्रम	4	3	2	1

इस विधि में प्रोजेक्ट तभी स्वीकार्य होता है, जब IRR प्रतिफल की वाछित दर (hurdle or desired rate) से अधिक होती है। दोनों दरो (IRR and desired rate)के एक समान होने पर निवेशकर्ता उनके बीच तटस्थ रहेगा। यदि उपर्युक्त दृष्टान्त म वाछित दर 20% मानी जाय तो प्रोजेक्ट D, C, व B क्रम मे स्वीकार किये जायेंगे, और A को नकार दिया जायेगा। अत IRR जितनी ऊँची होगी प्रोजेक्ट उतना ही उत्तम माना जायगा। यहाँ D प्रोजेक्ट सर्वश्रेष्ठ है, और यदि 10 करोड़ रु. का ही निवेश करना हो तो यह राशि D प्रोजेक्ट म लगाना सर्वोत्तम रहेगा। ऊपरवर्णित निवेश निर्णय की चार विधियाँ प्राय एक दूसरे के समान परिणाम देती है, लेकिन इनके

परिणाम परस्पर असंगत (inconsistent) भी हो सकते हैं। प्रारम्भिक चार प्रोजेक्टो के क्रम (ranks) विभिन्न विधियों के अनुसार इस प्रकार रहे

तालिका 6

प्रोजेक्ट	पे बक अवधि	AARR	NPV	IRR
A	1	4	4	4
B	3	3	3	3
C	4	1	1	2
D	1	2	2	1

इस दृष्टान्त में कुछ संगतियाँ हैं और कुछ विसंगतियाँ हैं। AARR व NPV के क्रम चारों प्रोजेक्टों में पूरी तरह एक से हैं। इनका IRR विधि में प्रोजेक्ट C व D के लिए अंतर पाया गया है। प्रश्न उठता है कि जब इस तरह की विसंगति पायी जाय तब किस विधि पर भरोसा किया जाना चाहिए। इस प्रश्न का कोई सुनिश्चित उत्तर नहीं है। व्यवहार में IRR विधि का प्रयोग काफी प्रचलन में आ गया है। स्मरण रहे कि समान विशुद्ध नकद-अन्त.प्रवाहों (Net Cash inflows) (NCIs) व असीमित प्रोजेक्ट अवधि की दशा में IRR का परिणाम पे बैक अवधि का ठीक विलोम होता है। यदि $P = \frac{C}{R}$ होता है तो $r = \frac{R}{C}$ होता है।

इस प्रकार इस अध्याय में हमने निवेशकर्ता के निर्णयों पर प्रकाश डाला है। अगले अध्याय में परियोजना चुनाव में मुद्रास्फीति, जोखिम व अनिश्चितता के प्रभाव की समीक्षा की जायगी।

प्रश्न

1 संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—(परियोजना चुनाव के सम्बन्ध में)

(i) पे बैक अवधि

(ii) प्रतिफल की औसत वार्षिक दर (AARR)

(iii) शुद्ध वर्तमान मूल्य (NPV)

(iv) प्रतिफल की आन्तरिक दर (IRR)

2 परियोजना चुनाव की किस विधि में बट्टा काटने की दर (discount rate) का प्रयोग किया जाता है ?
   (अ) प्रतिफल की आन्तरिक दर में
   (ब) शुद्ध वर्तमान मूल्य में
   (स) प्रतिफल की औसत वार्षिक दर में (ब)

3 निम्न चार निवेश परियोजनाओं में से पे-बैक अवधि की पद्धति का उपयोग करके सर्वश्रेष्ठ प्रोजेक्ट छाँटिए—

(हजार रुपयों में)

प्रोजेक्ट	निवेश-लागत प्रारम्भ में	वर्ष में शुद्ध नकद-प्राप्त राशि (NCI)		
		1	2	3
A	2000	2000	100	100
B	2000	1000	1000	1000
C	2000	400	800	2400
D	2000	2000	600	600

4 निवेश निर्णय के सम्बन्ध में शुद्ध वर्तमान मूल्य (NPV) व प्रतिफल की आन्तरिक दर (IRR) की परस्पर तुलना कीजिए।

5 किन परिस्थितियों में IRR का परिणाम पे-बैक अवधि की विधि का ठीक उल्टा होता है ?

33

परियोजना-चुनाव—जोखिम, अनिश्चितता व कीमत-परिवर्तन

(Project Selection—Risk, Uncertainty and Price-Changes)

हम पिछले अध्याय में स्पष्ट कर चुके हैं कि निवेशों के विश्लेषण में एक समयावधि में लागतों व लाभों का समावेश किया जाता है। लेकिन ये लागतें व लाभ भविष्य से सम्बन्धित होने के कारण प्रत्याशित किस्म के (expected) होते हैं। प्रत्येक निवेश की परियोजना में अनिश्चितता पायी जाती है जिसको समझना बहुत जरूरी होता है परियोजना के जीवन काल में नकद राशियों का बहिर्गमन (Outflows) व अन्तर्गमन (Inflows) निरन्तर होता रहता है। इनके सम्बन्ध में लागतों व प्राप्तियों को लेकर काफी अनिश्चितता की स्थिति बनी रहती है, जैसे प्लान्ट व मशीनरी की कीमतें बदल सकती हैं, इसी तरह कच्चे माल की उपलब्धि व कीमतें बदल सकती हैं, निर्मित माल की कीमतें, मजदूरी व वेतन बदल सकते हैं और वस्तु की माँग परिवर्तित हो सकती है। इसके अलावा फर्म को कई प्रकार की जोखिमों का भी सामना करना पड़ सकता है, जैसे फैक्ट्री को आग से क्षति, माल की चोरी, श्रमिकों की हड़ताल से उत्पादन की क्षति, आदि। यही नहीं बल्कि फर्म को सरकारी नीति के परिवर्तनों, करों के प्रभावों, टैक्नोलोजी के परिवर्तनों, विनिमय दर के उतार चढ़ावों, आदि का भी सामना करना पड़ता है। इनमें कुछ पर निवेशकर्ताओं का प्रभाव होता है और कुछ पर नहीं होता। कुछ का बीमा करवाया जा सकता है जैसे चोरी व अग्नि का, लेकिन अधिकांश परिवर्तन ऐसे होते हैं जिनके बारे में अनिश्चितता बनी रहती है। आज की दुनिया काफी प्रावैगिक हो गयी है। इसमें नित्य नये परिवर्तन हो रहे हैं। इसलिए निवेश के निर्णयों के बारे में हमने नकद राशियों के खर्च व प्राप्तियों के बारे में पिछले अध्याय में जो आँकड़े प्रयुक्त किये हैं उनके सम्बन्ध में काफी अनिश्चितता का पाया जाना एक स्वाभाविक बात मानी जाती है। इनमें प्राप्तराशियों (inflows) के बारे में अनिश्चितता का अंश चुकायी जाने वाली राशियों (Outflows) से ज्यादा होता है, क्योंकि प्राप्तियाँ परियोजना के [illegible] काल

मे ज्यादा लम्बी अवधि तक होती रहती है, जब कि लागतो की अवधि अपेक्षाकृत अधिक सीमित होती है (निवेश के निर्णय व परियोजना के चालू होने तक की अवधि)। विभिन्न परियाजनाओं मे जोखिम व अनिश्चितता के अश भिन्न भिन्न पाये जाते हैं। **उदाहरण के लिए, यदि कोई फर्म पहले जेमा सयत्र ही पुन स्थापित करना चाहती है, तो नई किस्म क सयत्र की तुलना मे जोखिम का** अश कम होगा। इसी प्रकार रिसर्च व विकास पर खर्च में ज्यादा जोखिम का अश पाया जाता है। हो सकता है कि रिसर्च व अनुसधान पर किया गया पूँजीगत व्यय आशा के अनुकूल लाभप्रद न निकले। अन्य बाता के समान रहने पर, यदि पुनर्स्थापन (replacment) पर निवेश खर्च से प्रतिफल 50 लाख रुपये मिले, और विस्तार (expansion) पर निवेश खर्च से भी प्रतिफल 50 लाख रुपये ही मिलने की सम्भावना हो तो पुनर्स्थापन पर खर्च करना ज्यादा पसद किया जायगा, क्योंकि उसमे विस्तार की तुलना मे जोखिम कम होती है।

हमने पिछले अध्याय में परियोजनाओं के चुनाव के सम्बन्ध में पे बैक अवधि, प्रतिफल की औसत वार्षिक-दर (AARR) शुद्ध वर्तमान मूल्य (NPV) व प्रतिफल की-आन्तरिक दर (IRR) का जो विवेचन किया है उसमें जोखिम व अनिश्चितता तथा मुद्रास्फीति व विस्फीति की भावी सम्भावनाओं को ध्यान में रखते हुए आवश्यक सुधार व सशोधन करना होगा। यह काम काफी जटिल है, लेकिन इसके सम्बन्ध मे आवश्यक सुधार करना अत्यावश्यक है। जोखिम व अनिश्चितता के विषय में एक अतर किया जा सकता है। **जोखिम मे किसी भावी घटना की प्रायिकता (probability) की जानकारी होती है, लेकिन अनिश्चितता की प्रायिकता की जानकारी नही होती।** इसलिए अनिश्चितता की स्थिति का विश्लेषण करना अधिक कठिन होता है। अब हम जोखिम व अनिश्चितता में अतर न करते हुए इन दोनो दशाओं में निवेश के निर्णयों में सुधार करने के तरीको पर विचार करते हैं। **परियोजना के चुनाव की किसी एक विधि को लेकर, जैसे NPV विधि को लेकर, उसमे जोखिम व अनिश्चितता का समावेश निम्न तरीको से करने का प्रयास किया जा सकता है।**

(1) अनोपचारिक विधि—व्यवहार मे फर्म की पूँजी की लागत को बट्टे की दर (discount rate) मान कर किसी प्रोजेक्ट का शुद्ध वर्तमान मूल्य (NPV) निकाला जाता है। यदि दो प्रोजेक्टो के NPVs, लगभग समान हैं तो कम जोखिम वाले प्रोजेक्ट को अधिक जोखिम वाले प्रोजेक्ट की तुलना मे ज्यादा पसद किया जायगा। हम पहले सकेत दे चुके हैं कि यदि पुनर्स्थापन (replacement) पर व्यय करने से प्रतिफल (यहाँ NPV) उतना ही मिले जितना विस्तार (expansion) से मिलता है तो पुनर्स्थापन को अधिक पसद किया जायगा, क्योंकि उसमे निवेशकर्ता के लिए जोखिम का अश विस्तार की तुलना में कम माना जाता है।

(2) **बट्टे की दर को जोखिम से समायोजित करने पर**—हमने पिछले अध्याय मे शुद्ध वर्तमान मूल्य (NPV) निकालने के लिए जोखिममुक्त बट्टे की दर (risk free

निकाला जाता है। निवेशकर्ता प्रत्येक वैकल्पिक परिणाम को एक काल्पनिक प्रायिकता (subjective probability) देता है और सभी सम्भव परिणामों के लिए एक प्रत्याशित मूल्य ज्ञात करता है। यदि वह प्रत्याशित मौद्रिक मूल्य धनात्मक होता है तो प्रोजेक्ट स्वीकार्य हो जाता है अन्यथा वह नकार दिया जाता है। NPV का प्रत्याशित मौद्रिक मूल्य (Expected Money Value of NPV) अर्थात EMV एक प्रकार का औसत मूल्य होता है जिसके एक कालम में NPV व दूसरे में प्रायिकता (probability) होती है। इसके लिए एक काल्पनिक उदाहरण निम्न तालिका में दिया गया है।

शुद्ध वर्तमान मूल्य (NPV) (1)	प्रायिकता (Probability) (2)	(NPV × Probability) (3) = (1)×(2)
100	10	10
80	15	12
70	20	14
60	15	9
–20	15	–3
–30	15	–4 5
–50	10	–5
	1 00	32 5 = EMV (प्रत्याशित मौद्रिक मूल्य)

अत यहाँ EMV = 32 5 है जो धनात्मक है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है EMV के धनात्मक होने पर प्रोजेक्ट स्वीकार्य माना जाता है। EMV का मूल्य जितना ऊँचा होगा, प्रोजेक्ट उतना ही बेहतर माना जायगा।

(5) **आदर्श विधि**—इसमें संवेदनशीलता विश्लेषण विधि व प्रत्याशित मौद्रिक मूल्य विधि (पिछली दोनों विधियों) का एक साथ प्रयोग किया जाता है। प्रथम में NPV के अनेक मूल्य हो सकते हैं, और द्वितीय में औसत जोखिम ली जाती है। जब दोनों तकनीकों का एक साथ उपयोग किया जाता है तब हमें EMV से प्रतिफल की केन्द्रीय प्रवृत्ति, अर्थात् औसत की जानकारी होती है और जोखिम के माप के रूप में NPV की सीमा (range) की जानकारी होती है जो ऊपर की तालिका में (कालम 1 में) +100 व -50 के बीच में है। उपर्युक्त तालिका में EMV = 32 5 का उपयोग करके हम प्रमाप विचलन (SD) व विचरण गुणाक (Coefficient of Variation) (CV)

निकाल सकते है। निवेशकर्ताओ की जाखिम झलन की इच्छा व योग्यता के आधार पर यह निश्चय किया जाता है कि प्रोजक्ट का स्वीकार किया जायगा अथवा अस्वीकार किया जायगा।

उपर्युक्त विवेचन मे यह स्पष्ट हाता है कि परियाजना के चुनाव म जाखिम व अनिश्चितता का समावेश करन की कई विधियाँ हाती है जिनमे साख्यिकी का विशेष प्रयाग किया जाता है। इनका उच्चतर अध्ययन म अधिक लाभ हाता ह।

कीमत-परिवर्तन (मुद्रास्फीति व विस्फीति) के लिए समायाजन
(Adjustments for Price Changes)

पूँजी बजट की गणनाआ म प्राय इन्पुट व आउटपुट का कीमत स्थिर मानी जाती है। लेकिन व्यवहार मे ये स्थिर नही रहती। इसलिए स्थिर कीमतो के आधार पर लिये गये निर्णय गलत सिद्ध हो सकते है। अत **प्रत्याशित मुद्रास्फीति/विस्फीति (inflation/deflation) के आधार पर नकद राशियो की देनदारी व लेनदारी मे उचित समायोजन करना जरूरी हो जाता है।** प्लान्ट व मशीनरी की लागत, कच्चे माल की लागत, मजदूरी व वेतन के बिलो बिजली के शुल्क, माल के बिक्री मूल्य, आदि मे सम्भावित वृद्धि या कमी के आधार पर एक प्रोजेक्ट के प्रतिफलो का नये सिरे से आकलन जरूरी हो जाता है। प्रत्याशित मुद्रास्फीति की दर के लिए थोक मूल्य सूचकाक अथवा उपभोक्ता मूल्य सूचकाक का प्रयोग किया जा सकता है। कीमत परिवर्तनों का समावेश करके प्रोजेक्ट के प्रतिफलों का नये सिरे से मूल्याकन करने के बाद यह तय किया जाना चाहिए कि कौन सा प्रोजेक्ट स्वीकार करना चाहिए अथवा क्या उत्पादित किया जाना चाहिए।

निवेश विश्लेषण व निवेश निर्णय का विषय काफी महत्त्वपूर्ण माना गया है। लेकिन यह काफी जटिल भी होता है। हमने पिछले अध्याय मे परियोजना चुनाव के लिए कुछ विधियों का वर्णन किया है लेकिन उसमे हमारी यह मान्यता रही कि निवेशक के समक्ष किसी प्रकार की जोखिम व अनिश्चितता नहीं है और साथ मे कीमतें भी स्थिर रहती है। लेकिन इस अध्याय म हमने यह बतलाने का प्रयास किया कि निवेशक को कई प्रकार की जोखिमो व अनिश्चितताओ का सामना करना पडता है, और कीमतों मे परिवर्तनो की भी सम्भावना बनी रहती है। इन परिवर्तनो का निवेश के निर्णय की प्रक्रिया मे काफी महत्त्व होता है। इससे प्रोजेक्ट की स्वीकार्यता व अस्वीकार्यता पर गहरा प्रभाव पडता है। विभिन्न निवेश चयन की विधियो जैसे पे बैक अवधि, औसत वार्षिक प्रतिफल की दर, शुद्ध वर्तमान मूल्य व प्रतिफल की आन्तरिक दर के परिणाम जोखिम, अनिश्चितता व कीमत परिवर्तनो के समावेश से काफी प्रभावित होते हैं। हमने ऊपर प्रारम्भिक विद्यार्थियो के लिए निवेश विश्लेषण की प्रक्रिया का सरल परिचय दिया

है। लेकिन यह विषय काफी जटिल माना गया है और ज्यादातर इसका अध्ययन उच्चस्तरीय पाठ्यक्रम मे किया जाता है, जहाँ विद्यार्थियो को गणित व सांख्यिकी की भी काफी जानकारी हो जाती है। प्रारम्भ मे विषय की मूल बातों को समझना पर्याप्त होगा।

प्रश्न

1 परियोजना चयन मे जोखिम व अनिश्चितता की दशाओं का समायोजन कैसे किया जाता है ? इस सम्बन्ध में संवेदनशीलता विश्लेषण व प्रत्याशित मौद्रिक मूल्य विधियो की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

2 परियोजना चयन में कुछ जोखिमों व अनिश्चितताओं को छाटिए

(अ) चोरी व आग

(ब) प्लान्ट व मशीनरी की कीमतों की अनिश्चितता

(स) प्रतिस्पर्धा

(द) तकनीकी परिवर्तन

(ए) सभी (ए)

3 कीमत परिवर्तनों का परियोजना चयन की प्रक्रिया में समायोजन कीजिए।

4 यदि निवेशकर्ता को पुनर्स्थापन (replacement) से उतनी ही राशि प्राप्त होती है जितनी विस्तार (expansion) से होती है, तो उसे चुनाव करना चाहिए

(अ) पुनर्स्थापन का

(ब) विस्तार का

(स) उत्पादन का नया काम करने का

(द) अनुसधान व विकास पर व्यय करने का (अ)

5 परियोजना चयन की कोन सी विधि सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है ? उसको समझा कर लिखिए।

□ □ □

34

सामाजिक लागत-लाभ विश्लेषण के तत्त्व

(Elements of Social Cost-Benefit Analysis)

जिस प्रकार निजी क्षेत्र के प्रोजेक्ट के लिए शुद्ध वर्तमान मूल्य (net present value) (NPV) के आधार पर यह तय किया जाता है कि उसे स्वीकार किया जाय अथवा अस्वीकार किया जाय, उसी प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र के किसी प्रोजेक्ट का मूल्यांकन भी किया जा सकता है। चूंकि उसमे निजी लागत लाभ के विश्लेषण के स्थान पर सामाजिक लागत लाभ का विश्लेषण किया जाता है, इसलिए उसे सामाजिक लागत लाभ विश्लेषण कहा जाता है। सामाजिक लागत लाभ विश्लेषण के पीछे मूल विचार बहुत सरल होता है। इसमे सार्वजनिक व्यय या निवेश के लाभो की तुलना उसकी लागतों से समग्र समाज की दृष्टि से की जाती है। इसलिए निजी क्षेत्र की लाभप्रदता की जगह यहाँ सामाजिक लाभप्रदता पर ध्यान केन्द्रित करना होता है। निजी निवेशक निजी लाभो को अधिकतम करने का प्रयास करते है। इसलिए वे उन तत्त्वो पर विचार करते है जिनका सम्बन्ध निजी लागतों व निजी लाभो से होता है। इनकी गणना इन्पुटो व आउटपुटो की बाजार कीमतों के आधार पर की जाती है। हम पहले देख चुके हैं कि विभिन्न वर्षो की प्राप्तियों के वर्तमान मूल्यों को निकालने के लिए बट्टे की दर (discount rate) का प्रयोग किया जाता है। यदि कुल प्राप्तियों व कुल लागतों का अन्तर धनात्मक होता है तो निजी प्रोजेक्ट स्वीकार कर लिया जाता है, अन्यथा अस्वीकार कर दिया जाता है। लेकिन वही निजी प्रोजेक्ट पहले चुना जाता है जो सर्वाधिक शुद्ध वर्तमान मूल्य देने की स्थिति मे होता है। लेकिन सामाजिक लागत लाभ विश्लेषण मे वास्तविक प्राप्तियो को सामाजिक लाभों का सही माप नही मान सकते। इसी प्रकार वास्तविक लागतों को सामाजिक लागतों का सही माप नही मान सकते। इसमे निर्णयों पर बाह्यताओं या बाह्य प्रभावो (externalities) का गहरा प्रभाव पड़ता है। ये बाह्य प्रभाव मामूली किस्म के न होकर प्राय काफी बड़े व व्यापक किस्म के हुआ करते हैं। उदाहरण के लिए, बाध के निर्माण के सम्बन्ध मे निर्णय लेना काफी जटिल काम होता है। इसमें कई गाँव पानी की डूब मे आ सकते हैं, कृषिगत क्षेत्र को क्षति हो सकती है और प्रभावित लोगो के पुनर्वास की समस्या का सामना करना होता है। इसी प्रकार

एक सड़क के निर्माण के प्रोजेक्ट के सम्बन्ध मे मार्ग को तैयार करने के लिए सम्भवत पेड़ो को काटना पड़े एव अन्य बाधाओ को दूर करना पड़े। सार्वजनिक क्षेत्र में एक उद्योग की स्थापना के समय इसका पर्यावरण पर प्रभाव देखना होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि सार्वजनिक लागत व लाभ की गणना का आधार वह नही हो सकता जो निजी लागत व लाभ का होता है। सरकार सामाजिक कल्याण (social welfare) पर ध्यान देती है जब कि निजी निवेशक अपना लाभ अधिकतम करने का प्रयास करता है। **इसलिए सार्वजनिक प्रोजेक्ट मे सामाजिक लाभप्रदता को ज्ञात करने के लिए सामाजिक लाभ व सामाजिक लागत का अन्तर देखा जाता है, जब कि निजी प्रोजेक्ट मे निवेश की निजी लाभप्रदता ज्ञात करने के लिए वास्तविक प्राप्तियों व वास्तविक खर्चों या लागतों का अन्तर देखा जाता है।** इस प्रकार सामाजिक लाभ की गणना काफी कठिन होती है क्योंकि इसमें इन्पुटो की वास्तविक लागतों व आउटपुटों के वास्तविक मूल्यों पर विचार किया जाता है, और साथ में प्रोजेक्ट के अन्य अप्रत्यक्ष प्रभाव भी देखे जाते है जैसे रोजगार पर प्रभाव वितरणात्मक प्रभाव, पर्यावरण पर प्रभाव, पिछड़े प्रदेश के विकास पर प्रभाव, मानवीय विकास पर प्रभाव, आदि। अत सार्वजनिक प्रोजेक्ट में सामाजिक लाभप्रदता या सामाजिक कल्याण का दृष्टिकोण सर्वोपरि होता है। इसको ठीक से ज्ञात कर सकने के लिए हमें निम्न तीन चरणों में से गुजरना पड़ता है।[1]

(1) हम किस चलराशि को अधिकतम करना चाहते है, जैसे रोजगार की मात्रा, प्रति व्यक्ति उपभोग, आय का वितरण, आदि। हमें इन लक्ष्यों को भी क्रम मे रखना होगा, और इनके बीच चुनाव व परस्पर लेन देन के सम्बन्ध मे निर्णय लेने होंगे। सार्वजनिक निवेश के पीछे कई उद्देश्य हो सकते हैं, जैसे आत्म निर्भरता प्राप्त करना, आधुनिकीकरण की तरफ अग्रसर होना, जीवन की गुणवत्ता में सुधार करना, आदि। कभी कभी किसी प्रोजेक्ट का उद्देश्य गरीब लोगों के उपभोग के स्तर को ऊँचा करना होता है। आजकल 'पर्यावरण पर अनुकूल प्रभाव' पर भी बल दिया जाने लगा है।

(2) छाया कीमता व सामाजिक बट्टे की दर (Shadow Prices and Social Discount Rates) को ज्ञात करना—विकासशील देशो के इन्पुटो व आउटपुटो की बाजार कीमते सामाजिक लाभों व लागतो को सही ढग मे व्यक्त नही करती है। इसके निम्न कारण हो सकते हैं—

(i) मुद्रास्फीति व विनिमय दर का ऊँचा पाया जाना—कई विकासशील देशो में मुद्रास्फीति पायी जाती है। जिसके कारण उनमें वस्तुओं के कीमत-नियन्त्रणों की भरमार पायी जाती है। ये नियन्त्रित कीमतें उन देशों में वस्तुओं व सेवाओं की वास्तविक अवसर लागतों को नही व्यक्त करती हैं। इसी प्रकार इन देशों में सरकार द्वारा विदेशी विनिमय की दर निर्धारित की जाती है, जो बाजार में निर्धारित दर से प्राय ऊँची रहती है। **मान लीजिए भारत सरकार रुपये की डालर मे विनिमय दर 45 रु प्रति डालर**

---

1 Michael P Todaro Economic Development, Seventh edition 2000 pp 631-634 हमने इस अध्याय का अधिकाश विवेचन इसी पर आधारित किया है क्योंकि यह काफी सरल है और प्रारम्भिक अध्ययन में इसका उपयोग विशेष रूप से लाभकारी रहेगा।

निर्धारित करती है जब कि विदेशी विनिमय बाजार में माँग व पूर्ति की शक्तियों से यह 19 रु. प्रति डालर पर ठहरती है। रुपये के अतिमूल्यन की इस दशा में सरकार द्वारा निर्धारित विनिमय दर भारत के लिए आयात की कीमतों के माध्यम से विदेशी वस्तुओं की वास्तविक लागत नीची आंकी जायेगी, और निर्यात की कीमत (रुपयों में) देश को होने वाले वास्तविक लाभ का आकलन नीचा कर देगी। इस प्रकार सरकारी विनिमय दर आयातों व निर्यातों की वास्तविक लागतों व लाभों का सही आकलन नहीं कर पायेगी। इस प्रकार सरकार द्वारा निर्धारित कीमतों व बाजार-कीमतों में अन्तर होने के कारण बाजार कीमतें सामाजिक लाभों व लागतों को सही ढंग से व्यक्त नहीं कर पाती हैं। इसलिए इस दोष को दूर करना अच्छा हो जाता है। देश में सार्वजनिक निवेश की लागतों व लाभों का सही आकलन करना आवश्यक होता है।

(ii) मजदूरी व ब्याज की बाजार-दरें इनकी अवसर-लागतों या छाया-कीमतों से प्रायः ऊँची पायी जाती हैं जिससे साधन-कीमतों में विसंगतियाँ व दोष उत्पन्न हो जाते हैं। बेरोजगारी की दशा में मजदूरों के लिए छाया मजदूरी (shadow wage) (अवसर लागत के शून्य होने के कारण) नहीं के बराबर होती है। ब्याज की सरकार द्वारा निर्धारित दर बाजार में ब्याज की दर से प्रायः नीची पायी जाती है। इससे पूँजी-गहन प्रोजेक्टों को बढ़ावा मिलता है क्योंकि उद्यमकर्ताओं को कम ब्याज पर उधार की राशि प्राप्त हो जाती है। लेकिन साथ में श्रम-गहन प्रोजेक्ट हतोत्साहित होते हैं। इसलिए नियन्त्रित मजदूरी व नियन्त्रित ब्याज की दरों पर किये गये लागतों के आकलन सही लागतों को सूचित नहीं करते हैं।

इनके लिए छाया-मजदूरी की दर व छाया ब्याज की दर का उपयोग किया जाना चाहिए जो अवसर-लागत सिद्धान्त के आधार पर निर्धारित होती है।

(iii) आयात-प्रशुल्कों, आयात-कोटा व आयात-प्रतिस्थापन के प्रभाव—*आयात प्रशुल्कों कोटा आदि के कारण कृषिगत निर्यातों पर विपरीत असर पड़ता है, लेकिन आयात प्रतिस्थापन उद्योगों को बढ़ावा मिलता है।* इससे देश में वस्तुओं की कीमतों में विसंगतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनके कारण निर्धन वर्ग को हानि होती है। ऊँची आमदनी वाले समूहों को अपेक्षाकृत अधिक लाभ होता है। आयातक व निर्यातक संरक्षण का लाभ उठाने का भरसक प्रयास करते हैं और इसके लिए गैर-कानूनी तरीकों का प्रयोग करने में भी नहीं चूकते। इस प्रकार संरक्षण की नीति से देश में विभिन्न वस्तुओं की कीमतें प्रभावित होती हैं। कृषिगत व औद्योगिक वस्तुओं में व्यापार की शर्तें बदल जाती हैं। इन परिस्थितियों में बाजार-कीमतें वास्तविक कीमतों को नहीं दर्शा पाती हैं।

(iv) बचत की कमी के दुष्प्रभाव—विकासशील देशों में शुरू के वर्षों में निर्धन वर्ग के उपभोग को बढ़ाने पर जोर देने से बचत की दर के घटने की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसलिए उनके लिए बचत की दर को बढ़ाने पर जोर देना लाभकारी होता है। अतः उन्हें बचत की छाया कीमत (shadow price on saving) को ऊँचा रखना चाहिए ताकि भविष्य में आमदनी व उपभोग को बढ़ाया जा सके। विकासशील

इसका सूत्र $\frac{1}{\frac{\text{छाया विनिमय दर}}{\text{सरकारी विनिमय दर}}}$ अर्थात् $\frac{\text{सरकारी विनिमय दर}}{\text{छाया विनिमय दर}}$ होता है।

इसके अलावा

(i) माल का निर्यात वार्षिक 60 डालर का किया जाता है,

(ii) निवेश की लागत विदेशी अंश के रूप में 20 डालर होती है तथा स्थानीय (गैर व्यापारिक) अंश 1000 रुपयों का होता है,

(iii) व्यापार की इन्पुटें 20 डालर की तथा गैर व्यापार की इन्पुटें 1000 रुपयों की होती हैं,

(iv) ब्याज की हिसाब की दर ब्याज की उपभोग की दर के समान होती है।

प्रोजेक्ट-मूल्यांकन के लिटिल-मिरलीज व यूनीडो दृष्टिकोणों के परिणामों की तुलना
(उपर्युक्त सूचना के आधार पर) (रुपयों में)

लिटिल-मिरलीज				यूनीडो			
	वर्ष 0	वर्ष 1	वर्ष 2		वर्ष 0	वर्ष 1	वर्ष 2
निवेश की लागत (K) (1) विदेशी निवेश (20×50)=	1000			(1) विदेशी लागत छाया-विनिमय दर 20×52.5 रु =1 डालर	1050		
(2) स्थानीय अंश =1000 रु × रूपान्तरण-तत्व 0.95 =	950			(2) स्थानीय अंश	1000		
इन्पुट-लागतें (C) (1) व्यापार की इन्पुटें (20×50)=		1000	1000	इन्पुट-लागतें (1) व्यापार की इन्पुटें छाया-विनिमय दर पर बदलने पर		1050	1050
(2) गैर-व्यापार की इन्पुटें 1,000× रूपान्तरण तत्व 0.95 =		950	950	(2) गैर-व्यापार की इन्पुटें		1000	1000
लाभ का प्रवाह (V) 60 × 50 =		3000	3000	लाभ का प्रवाह (रु में) (60×52.5)		3150	3150
शुद्ध लाभ (Net benefit)	-1950	1050	1050	शुद्ध लाभ	-2050	1100	1100

I यदि लिटिल मिरलीज के आधार पर NPV निकाला जाये तो बट्टे की दर के 10% रहने पर

$$NPV = \frac{1050}{(1.1)} + \frac{1050}{(1.1)^2} - 1950 \text{ होगा}$$

$$= (954.5 + 867.8) - 1950 \text{ होगा}$$

$$= 1822.3 - 1950 = -128 \text{ रु (लगभग)}$$

II यूनीडो की विधि के आधार पर NPV

$$= \frac{1100}{1.1} + \frac{1100}{(1.1)^2} - 2050$$

$$= 1,000 + 909 - 2050$$

$$= -141 \text{ रु}$$

इस प्रकार लिटिल मिरलीज व यूनीडो दोनों विधियों से NPV ऋणात्मक आता है। अत यह प्रोजेक्ट दोनो विधियों से अस्वीकार किया जायगा।

इस प्रकार हमने देखा कि सार्वजनिक निवेश के प्रोजेक्ट मे सामाजिक लागत लाभ का विश्लेषण करने में कई प्रकार की कठिनाइयो का सामना करना पडता है। बट्टे की सामाजिक दर जानने के लिए कई प्रकार की मान्यताएँ करनी पडती हैं। वस्तुओं व उत्पादन के साधनों की छाया कीमतें निकालने के लिए कई प्रकार की मान्यताओं को स्वीकार करके चलना पडता है। अत सार्वजनिक प्रोजेक्ट के मूल्याकन का कार्य काफी जटिल माना गया है। भारत में गुजरात व मध्य प्रदेश की सरकारों को नर्मदा नदी पर सरदार सरोवर बाध के निर्माण को लेकर काफी सघर्ष का सामना करना पड रहा है। एक सार्वजनिक प्रोजेक्ट के सम्बन्ध में निर्णय मात्र लागत लाभ की मौद्रिक गणना से पूरा नही हो जाता। इसके लिए हमें अन्य कई तत्वों पर ध्यान देना होता है, जैसे प्रोजेक्ट का रोजगार पर प्रभाव, पर्यावरण पर प्रभाव, पिछडे क्षेत्रों के विकास पर प्रभाव, आय की असमानता को कम करने पर प्रभाव, लोगों के जीवन स्तर पर प्रभाव, आदि, आदि। यही कारण है कि सार्वजनिक क्षेत्र में निवेश पर कई तत्वों का प्रभाव पडता है। यह राजनीतिक निर्णय से भी प्रभावित होता है। आजकल इस विषय का महत्त्व काफी बढ गया है। यह उच्चस्तरीय साहित्य का एक अभिन्न अग बन गया है। इसमें अनेक प्रकार के सूत्रों का उपयोग किया जाने लगा है।

प्रश्न

1 सार्वजनिक निवेश के प्रोजेक्ट का चुनाव किस प्रकार से किया जाता है? इसका स्पष्टतया विवेचन कीजिए।

2 संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

(अ) लिटिल मिरलीज का दृष्टिकोण

(ब) यूनीडो का दृष्टिकोण

(स) बट्टे की सामाजिक दर

(द) उत्पादन के साधनों की छाया कीमतें

3 सामाजिक लागत लाभ विश्लेषण पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

4 एक निजी क्षेत्र के प्रोजेक्ट चुनाव व सार्वजनिक क्षेत्र के प्रोजेक्ट चुनाव में क्या अन्तर होता है। क्या सार्वजनिक क्षेत्र के किसी प्रोजेक्ट के चयन की प्रक्रिया को अधिक सरल व अधिक सफल बनाया जा सकता है।

35

कल्याण-अर्थशास्त्र—परिचय, क्लासिकल-दृष्टिकोण, पेरेटो-अनुकूलतम स्थिति, केल्डोर व हिक्स के विचार एवं सामाजिक-कल्याण-फलन

(Welfare Economics-Introduction, Classical Approach, Pareto-optimality, Views of Kaldor & Hicks and Social Welfare Function)

परिचय—पिछले कुछ दशकों में विश्लेषण के साधन के रूप में कल्याण अर्थशास्त्र का विकास हुआ है। यह अर्थशास्त्र की आदर्शात्मक शाखा (normative branch) मानी जाती है। इसमें इस बात का अध्ययन किया जाता है कि आर्थिक क्रिया को किस तरह सम्पन्न किया जाये ताकि अधिकतम आर्थिक कल्याण प्राप्त हो सके। कल्याण अर्थशास्त्र में इन विषयों के बारे में मूल्य सम्बन्धी निर्णय (value judgement) लेने होते हैं कि किन वस्तुओं का उत्पादन किया जाये और आमदनी और धन को किस प्रकार वितरित किया जाये। ये निर्णय वर्तमान व भविष्य के सम्बन्ध में करने होते हैं। लेकिन इन निर्णयों में काफी कठिनाइयाँ आती हैं क्योंकि दुर्भाग्यवश समाज में प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने मूल्य सम्बन्धी निर्णय (उचित अनुचित की सीमाओं के बारे में) होते हैं जो उनके दृष्टिकोणों, धर्म, दर्शन, राजनीति, आदि से प्रभावित होते हैं। इसलिए अर्थशास्त्री को उनके भिन्न भिन्न मूल्य निर्णयों को इकट्ठा करके नीति निर्धारकों को सलाह देने में कठिनाई होती है। अतः कल्याण-अर्थशास्त्र का विषय काफी पेचीदा माना गया है, क्योंकि इसमें उपयोगिता की अन्तर्वैयक्तिक तुलनाओं (interpersonal comparisons of utility) के प्रश्न आते हैं।

विलियम जे बोमल (William J Baumol) ने कल्याण-अर्थशास्त्र की परिभाषा इन शब्दों में की है, 'कल्याण अर्थशास्त्र ने अपना अधिकांश ध्यान उन नीति-सम्बन्धी

अध्ययन को वास्तविक विज्ञान से ज्यादा आदर्शात्मक विज्ञान का रूप दे दिया और उसमें मूल्य निर्णयों का समावेश कर दिया, जो उचित नहीं माना गया है तथा (iv) मुद्रा के मापदण्ड को अनिश्चित माना गया है क्योंकि इसका मूल्य बदलता रहता है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि पीगू ने 'कल्याण अर्थशास्त्र' की नींव का पत्थर रखने का काम किया था जिसके ऊपर आगे चलकर अन्य अर्थशास्त्रियों ने 'एक विशाल महल' खड़ा किया है।

पूर्ण प्रतियोगिता व आर्थिक कार्यकुशलता (पेरेटो-अनुकूलतम की अवधारणा) —

कल्याण अर्थशास्त्र में वस्तुओं के उत्पादन व उनके वितरण में पूर्ण प्रतियोगिता की दशाओं में सर्वाधिक कार्यकुशलता के सम्बन्ध में पेरेटो-अनुकूलतम (Pareto-Optimum) अथवा पेरेटो कार्यकुशलता (Pareto-Efficiency) की शर्तों का विवेचन किया जाता है। यह सामान्य सन्तुलन (general equilibrium) की दशाओं पर आधारित होता है।

हम नीचे पूर्ण प्रतियोगिता वाली अर्थव्यवस्था में दो व्यक्ति (A व B) दो वस्तुएँ (X व Y) तथा दो साधन श्रम (L) व पूँजी (K) लेते हैं, और सामान्य सन्तुलन की दशाओं में विनिमय की कार्यकुशलता (efficiency of exchange), उत्पादन की कार्यकुशलता (efficiency of production) एवं उत्पादन व विनिमय की एक साथ कार्यकुशलता (Simultaneous efficiency of both production and exchange) अथवा उत्पत्ति-मिश्रण की कार्यकुशलता (efficiency of output-mix) का चित्रों द्वारा स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हैं। दो व्यक्तियों, दो वस्तुओं व उत्पादन के दो साधनों का मॉडल 2× 2 × 2 मॉडल कहला सकता है। हालांकि यह काफी अवास्तविक किस्म का होता है, फिर भी यह हमें अधिक वास्तविक दशाओं को समझने में मदद देता है। साधारण चित्रों की सहायता से हम पेरेटो-अनुकूलतम (Pareto-optimality) की तीन दशाओं का ज्ञान सुगमता से प्राप्त कर सकते हैं। नीचे इनका क्रमश विवेचन किया जाता है।[1]

(1) विनिमय की कार्यकुशलता अथवा सामान्य सन्तुलन—

तटस्थता वक्रों के प्रयोग के अन्तर्गत दो व्यक्तियों व दो वस्तुओं की स्थिति में (जहां उत्पादन नहीं होता है) प्रसंविदा-वक्र (Contract Curve) की सहायता से विनिमय का सामान्य सन्तुलन दर्शाया गया था। सन्तुलन की स्थिति में दो वस्तुओं के बीच प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRS_{xy}) व्यक्ति A व व्यक्ति B दोनों के लिए समान हो जाती है। इससे पारस्परिक लाभप्रद विनिमय का अन्त आ जाता है।

यह स्थिति एजवर्थ-बॉक्स-चित्र की सहायता से आगे प्रस्तुत की जाती है।

1 Dominick Salvatore Microeconomic Theory 3rd edition (Schaum's outline series) 1992 chapter 14 (International Edition) pp 329-333
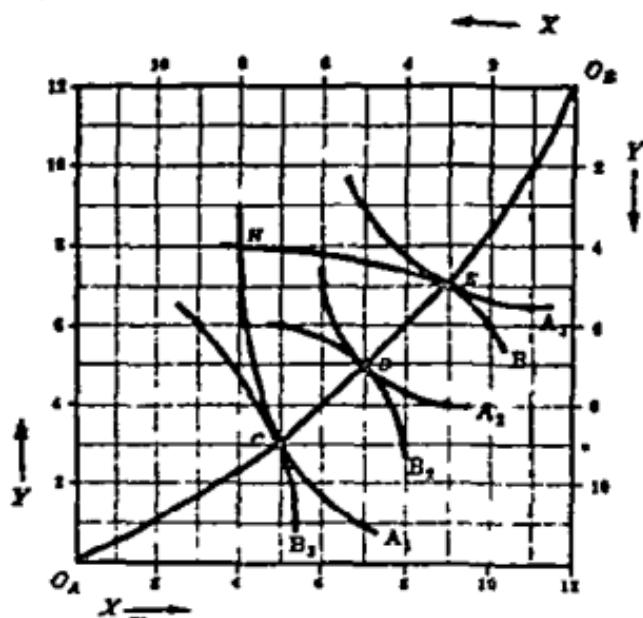
चित्र 1-विनिमय या उपभोग का सामान्य सन्तुलन

स्पष्टीकरण—

चित्र 1 में A व B दो व्यक्ति हैं और X व Y दो वस्तुएं हैं तथा और कोई उत्पादन नही किया जाता है। इस सरल अर्थव्यवस्था में X की कुल मात्रा 12 इकाई तथा Y की कुल मात्रा 12 इकाई है। O_A से आरम्भ करके A व्यक्ति के तीन तटस्थता वक्र A_1, A_2 व A_3 खीचें गये है और दूसरी तरफ O_B से आरम्भ करके B व्यक्ति के क्रमश तीन तटस्थता वक्र B_1, B_2 व B_3 खीचे गये हैं। A_1 तटस्थता वक्र व B_1 तटस्थता वक्र के कटान बिन्दु H पर A के लिए MRS_{xy} (प्रतिस्थापन की सीमान्त दर X को Y के लिए) की मात्रा B के लिए MRS_{xy} के बराबर नही है, क्योंकि दोनों तटस्थता वक्रों के ढाल समान नही हैं। अब H की जगह E बिन्दु पर विचार कीजिये। E पर A व्यक्ति ऊचे तटस्थता वक्र A_3 पर है, जब कि B पहले वाले तटस्थता वक्र B_1 पर ही है। अत H से E पर आने से B के सतोष में कोई परिवर्तन नहीं होता, जबकि A का सतोष बढ जाता है। अत इस क्रिया से उपभोक्ता के कल्याण में वृद्धि होती है। लेकिन इससे आगे विनिमय के परिवर्तन से लाभ की गुजाइश नहीं है। दो व्यक्तियों के तटस्थता वक्र जहाँ एक दूसरे को छूते हैं, जैसे चित्र में C, D व E पर ये स्थितियाँ हैं, तो इन पर MRS_{xy} की मात्रा A व B दोनों व्यक्तियों के लिए समान हो जाती है।

H बिन्दु से C बिन्दु पर आने मे A का सन्तोष तो A_1 जितना ही रहता है, लेकिन B का सतोष B_3 पर आने से बढ जाता है। अत यह H की तुलना में अधिक कल्याण का सूचक होता है। अत O_ACDEO_B वक्र उपभोग प्रसविदा वक्र

(Contract Curve) है, और इस पर सतुलन के बिन्दुओं पर A के MRS_{xy} की मात्रा B के MRS_{xy} की मात्रा के बराबर होती है।

इसी प्रकार H की तुलना में D बिन्दु पर A और B दोनों ऊचे तटस्थता वक्रों पर पहुंच जाते हैं जिससे कुल सतोष में वृद्धि होत है।

अत ,पैरेटो के अनुसार विनिमय या उपभोग से कल्याण में उस स्थिति में वृद्धि होती है जबकि एक उपभोक्ता का सतोष पूर्ववत् रहे, और दूसरे का सतोष बढ जाये, अथवा दोनों का बढ जाये। लेकिन इस विवेचन मे कही भी हमने उस स्थिति का समावेश नही किया है जहाँ एक उपभोक्ता का सतोष बढ जाये और दूसरे का घट जाये। पैरेटो का विश्लेषण इस स्थिति में निर्णय करने में कठिनाई महसूस करता है, क्योंकि यहाँ उपयोगिताओं की अन्तर्वैयक्तिक तुलनाओं का प्रश्न खडा हो जाता है जिसका सम्बन्ध मूल्यों के निर्णयों (Value-judgements) से होता है जिसका पैरेटो के विश्लेषण में समावेश नहीं है।

(2) उत्पादन की सर्वाधिक कार्यकुशलता अथवा सामान्य सतुलन की स्थिति—

यहाँ हम दो वस्तुओं X व Y तथा दो साधन L व K को लेते हैं और उत्पादन की सर्वाधिक कार्यकुशलता या समान्य सन्तुलन उस बिन्दु पर आता है जहाँ X-वस्तु के उत्पादन में L व K साधनों की तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर $(MRTS_{LK})$, Y-वस्तु के उत्पादन में $MRTS_{LK}$ के बराबर हो जाती है। यह स्थिति भी निम्न चित्र की सहायता से स्पष्ट की जा सकती है।
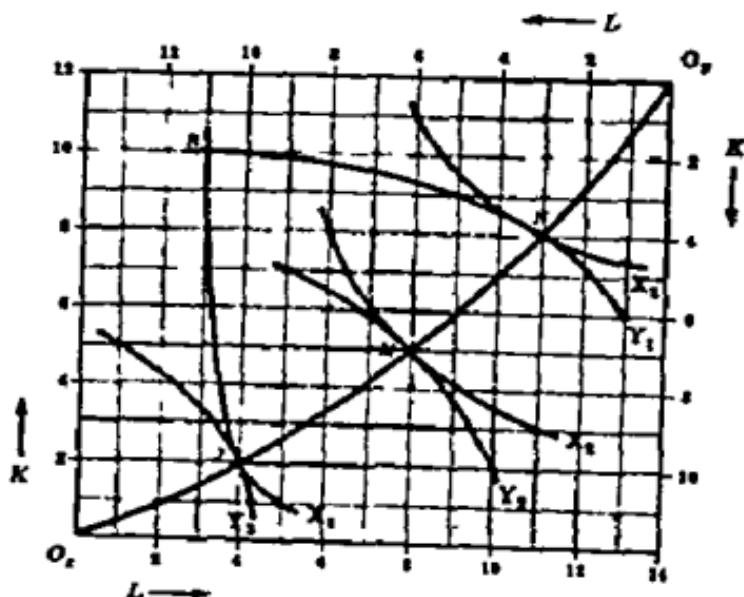
चित्र 2 उत्पादन में सर्वाधिक कार्यकुशलता के बिन्दु

स्पष्टीकरण—

चित्र 2 के अनुसार अर्थव्यवस्था में L की 14 इकाइयाँ हैं और K की 12 इकाइयाँ हैं। R बिन्दु सूचित करता है कि 3L व 10K का उपयोग करके X वस्तु की X_1 मात्रा उत्पन्न की जाती है और शेष 11L व 2K का उपयोग करके Y वस्तु की Y_1 मात्रा उत्पन्न की जाती है। चित्र पर X_1, X_2 व X_3 X वस्तु के समोत्पत्ति वक्र हैं और Y_1 Y_2 व Y_3 Y वस्तु के समोत्पत्ति वक्र हैं। ये क्रमश X व Y की बढ़ती हुई मात्राओं को उत्पादन का सूचित करते हैं।

यहाँ भी R बिन्दु X व Y की सर्वाधिक उत्पत्ति की मात्राओं को सूचित नहीं करता है क्योंकि इस पर X के उत्पादन में L व K के बीच तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर, अर्थात् $MRTS_{LK}$ Y-वस्तु के उत्पादन में $MRTS_{LK}$ के बराबर नहीं है। यही कारण है कि R बिन्दु की तुलना में N बिन्दु बेहतर है, क्योंकि इस पर X-वस्तु की उत्पत्ति X_3 हो जाती है, जो पहले से अधिक है और Y वस्तु की उत्पत्ति उतनी ही रहती है। इसी प्रकार R बिन्दु से J बिन्दु बेहतर है, जहाँ X की उत्पत्ति तो यथावत् रहती है लेकिन Y की बढ़ कर Y_3 हो जाती है। अत उत्पादन में सर्वाधिक कार्यकुशलता का बिन्दु या सामान्य सन्तुलन तभी आता है जब X-वस्तु में $MRTS_{LK}$ = Y-वस्तु में $MRTS_{LK}$ हो जाय। जहाँ X व Y वस्तुओं के समोत्पत्ति वक्र एक दूसरे को छूते हों वहाँ पर सन्तुलन आता है। चित्र पर O_xJMNO_y उत्पादन प्रसंविदा वक्र (production contract curve) होता है जो समोत्पत्ति वक्रों के स्पर्श बिन्दुओं को परस्पर मिलाने से बनता है। यह उत्पादन में पैरेटो अनुकूलतम (Pareto-Optimum) दशाओं का सूचक है। इसके लिए निम्न शर्त पूरी होनी चाहिये X-वस्तु में $MRTS_{LK}$ = Y-वस्तु में $MRTS_{LK}$

(3) विनिमय व उत्पादन में एक साथ सामान्य सन्तुलन की स्थिति

उत्पादन-सम्भावना वक्र (Production Possibility Curve)—पैरेटो अनुकूलतम की तीसरी स्थिति विनिमय व उत्पादन में एक साथ सामान्य सन्तुलन को समझने के लिए हमें उत्पादन सम्भावना वक्र या उत्पत्ति रूपान्तरण वक्र (product transformation curve) का उपयोग करना होगा। यह वक्र X व Y के उन संयोगों को दर्शाता है जो अर्थव्यवस्था में श्रम व पूँजी की स्थिर मात्राओं का उपयोग उपलब्ध सर्वश्रेष्ठ टेक्नोलोजी के आधार पर करके प्राप्त कर सकती है। मान लीजिए अर्थव्यवस्था में स्थिर साधनों का समुचित प्रयोग करके X की 4 इकाई व Y की 18 इकाई उत्पन्न की जा सकती है, अथवा X की 12 इकाई व Y की 12 इकाई, तथा X की 18 इकाई व Y की 4 इकाई उत्पन्न की जा सकती है तो इन तीनों संयोगों को मिलाकर खींची जाने वाली वक्र रेखा उत्पादन सम्भावना वक्र कहलाती है जिसका वर्णन पुस्तक में पहले किया गया था।

नीचे इसका चित्र पुन दिया जाता है।
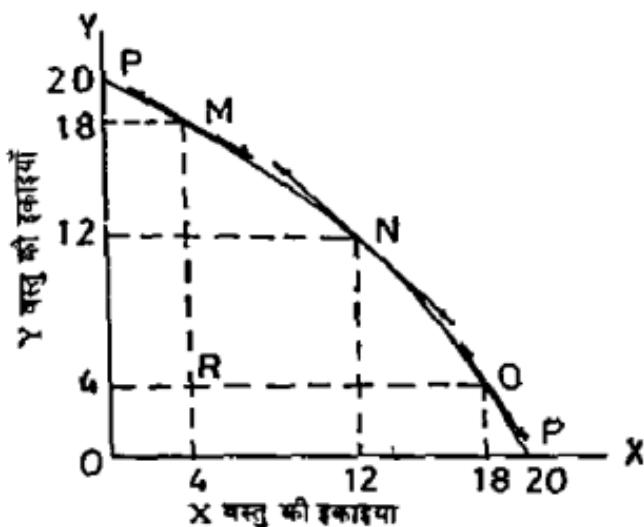
चित्र 3 उत्पादन सम्भावना वक्र (PP curve)

स्पष्टीकरण

चित्र में PP उत्पादन सम्भावना वक्र रेखा M N व O बिन्दुओं से गुजरती है जो क्रमश X की 4 इकाई व Y की 18 इकाई X की 12 इकाई और Y की 12 इकाई तथा X की 18 इकाई व Y की 4 इकाई के सूचक हैं। स्मरण रहे कि चित्र में R बिन्दु सामान्य सन्तुलन का बिन्दु नही है क्योंकि यह उत्पादन सम्भावना वक्र से नीचे स्थित है अत यह साधनो के कम उपयोग या अकुशल उपयोग का सूचक है। इसलिए PP वक्र पर M N व O बिन्दु सर्वाधिक कुशल सयोगों को सूचित करते हैं। वक्र पर ऊपर से नीचे की तरफ आने से वक्र का ढाल (slope) बढता जाता है (यह N पर 12/12 = 1 है) जो दर्शाता है कि X की उत्तरोत्तर अतिरिक्त इकाई उत्पन्न करने के लिए Y की उत्तरोत्तर अधिक इकाइयों का परित्याग करना पडता है। इसीलिए यह वक्र मूलबिन्दु के नतोदर (concave) होता है।

(4) विनियम व उत्पादन में सामान्य सन्तुलन अथवा वस्तु मिश्रण (product mix) में सर्वाधिक कार्यकुशलता

अब तक के विवेचन के आधार पर हम एक उत्पादन सम्भावना वक्र बना कर उसमें उपभोग प्रसविदा-वक्र (एजवर्थ बोक्स चित्र) शामिल करके एक साथ विनिमय व उत्पादन में समान्य सन्तुलन की दशा प्राप्त कर सकते हैं। सन्तुलन की इस स्थिति में X व Y वस्तुओं के लिए तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर ($MRTS_{xy}$) बराबर होगी अर्थात् A व्यक्ति के लिए X व Y के बीच प्रतिस्थापन की सीमान्त दर B व्यक्ति के X व Y के बीच प्रतिस्थापन की सीमान्त दर के समान होगी।

दूसरे शब्दों में $MRTS_{xy} = (MRS_{xy})_A = (MRS_{xy})_B$ की शर्त लागू होगी। यह निम्न चित्र की सहायता से समझा जा सकता है।
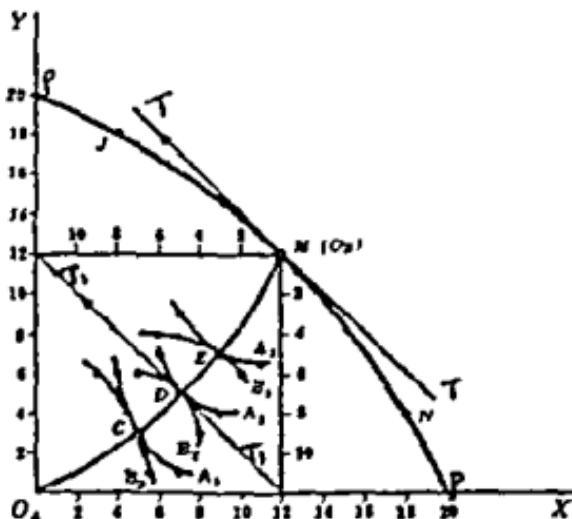
चित्र 4 विनिमय व उत्पादन में एक साथ सामान्य सन्तुलन की स्थिति

स्पष्टीकरण

चित्र में OX अक्ष पर X वस्तु की मात्राएँ व OY-अक्ष पर Y-वस्तु की मात्राएँ दर्शायी गयी हैं। PP उत्पादन सम्भावना वक्र पर M बिन्दु पर वक्र का ढाल ($MRTS_{xy}$) = 1 होता है। O_ACDEO_B उपभोग प्रसविदा वक्र के D बिन्दु पर ढाल (A) व्यक्ति के लिए X व Y के बीच प्रतिस्थापन की सीमान्त दर = B व्यक्ति के लिए X व Y के बीच प्रतिस्थापन की सीमान्त दर है। यह = उत्पादन सम्भावना वक्र पर M पर ढाल के बराबर है, जो एक साथ विनिमय व उत्पादन में सामान्य सन्तुलन की दशा को दर्शाते हैं। चित्र में M बिन्दु पर स्पर्श रेखा (tangent) TT तथा D बिंदु पर स्पर्श रेखा (tangent) T_1T_1 एक दूसरे के समानान्तर (parallel) हैं।

अतः विनिमय व उत्पादन में एक साथ सामान्य सन्तुलन अथवा पैरेटो अनुकूलतम की शर्त इस प्रकार होगी $(MRS_{xy})_A = (MRS_{xy})_B = MRTS_{xy}$ यहाँ $(MRS_{xy})_A = (MRS_{xy})_B$ की स्थिति D बिन्दु पर आती है, जहाँ यह $MRTS_{xy}$ के समान भी होती है। सन्तुलन में X की 12 इकाइयाँ व Y की 12 इकाइयाँ उत्पन्न की जाती हैं जिनमें से A व्यक्ति 7 इकाई X व 5 इकाई Y लेता है और B व्यक्ति शेष 5 इकाई X व 7 इकाई Y लेता है।

उपर्युक्त विवेचन में हमने देखा कि पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में विनिमय व उत्पादन में सर्वाधिक कार्यकुशलता या सामान्य सन्तुलन की दशाएँ प्राप्त करके कल्याण को अधिकतम किया जा सकता है। पैरेटो अनुकूलतम के लिए इन दशाओं का बड़ा

महत्त्व माना गया है। स्मरण रहे कि पेरेटो अनुकूलतम की दशा मे सन्तुलन की स्थिति में (विनिमय की दशा में) एक व्यक्ति का सन्तोष बढता है, जबकि दूसरे का उतना ही बना रहता है, अथवा दोनों का सतोष बढता है, और (उत्पादन की दशा में) एक वस्तु का उत्पादन बढता है जबकि दूसरी वस्तु का उत्पादन यथावत् बना रहता है, अथवा दोनो वस्तुओ का उत्पादन एक साथ बढता है। अत अधिकतम या अनुकूलतम की स्थिति पर पहुँचने के लिए पेरेटो ने क्रमवाचक (ordinal) विश्लेषण का उपयोग किया ह। इसम मूल्य-निर्णय की आवश्यकता नही होती अथवा उपयोगिता की अन्तर्वैयक्तिक तुलनाओ की आवश्यकता नही होती।

पेरेटो-अनुकूलतम की दशाओ को प्राप्त करने मे बाधाएँ या मर्यादाएँ[1]
(Obstacles or Limitations of Pareto-Optimum)

हमने पेरेटो अनुकूलतम का विवेचन पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता के आधार पर किया है। लेकिन वास्तविक जगत में एकाधिकार एव बाह्यताओं (externalities) की दशाएँ पायी जाती हैं जिससे सामान्य सन्तुलन प्राप्त करने में कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। यदि व्यवहार मे पूर्ण प्रतियोगिता विद्यमान भी हो तो भी सम्भव है कि इसके द्वारा उत्पन्न आय के वितरण से लोग सन्तुष्ट न हों। इसलिए बाजारों की कार्यकुशलता में दो सीमाएँ पायी जा सकती हैं जिन्हें बाजार विफलताएँ (market failures) तथा अस्वीकार्य आय का वितरण (unacceptable income distribution) कहा जा सकता है। इन पर नीचे प्रकाश डाला जाता है।

(1) बाजार की विफलताएँ (market failures)

पूर्ण प्रतियोगिता में बाधा अपूर्ण प्रतियोगिता व बाह्यताओं (externalities) से उत्पन्न होती है जिसके फलस्वरूप कीमतें सच्ची सामाजिक सीमान्त लागतों और सामाजिक सीमान्त उपयोगिताओं को सूचित नहीं कर पाती हैं। इसका स्पष्टीकरण नीचे किया जाता है।

(अ) एकाधिकार (Monopoly)—एकाधिकार की दशा मे एक फर्म अपने माल की कीमत सीमान्त लागत से ऊपर रख सकती है। इसमे उत्पादन की मात्रा भी पूर्ण प्रतियोगिता की तुलना मे कम होती है जिससे उपभोक्ता का सतोष घट जाता है। अपूर्ण प्रतियोगिता की दशा में उत्पन्न ऐसी अकार्यकुशलताओं के कारण उपभोक्ता के सतोष में कमी आ जाती है। इस प्रकार पेरेटो अनुकूलतम के मार्ग में प्रमुख बाधा एकाधिकार व अपूर्ण प्रतियोगिता के कारण उत्पन्न होती है।

(ब) बाह्यताएँ (Externalities)—बाह्यताएँ उस स्थिति मे उत्पन्न होती है जब उत्पादन या उपभोग से उत्पन्न होने वाले अन्य प्रभाव (side-effects) बाजार-कीमतों में शामिल नही किये जाते है। उदाहरण के लिए, एक फैक्ट्री के धुएँ से आस पास के

1 Samuleson and Nordhaus Economics 16th ed 1998 pp 274-276

घरो व लोगों के स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है। वायु प्रदूषण के कारण उपभोक्ता के कल्याण को क्षति पहुँचती है। कुछ बाह्यताएँ लाभप्रद भी होती हैं, जैसे फोटोकॉपी की सुविधा से विश्व के अनेक सचित्रों के घटो की बरबादी व थकान रुक गई है। सार्वजनिक स्वास्थ्य के कार्यक्रमो मे टीके से न केवल टीका लगाने वाले की रक्षा होती है बल्कि उन अन्य व्यक्तियों को भी लाभ होता है जिनको उस व्यक्ति से बीमारी लग सकती थी (टीका न लगने की स्थिति में)। अत बाह्यताओ के प्रभावों को बाजार कीमतों मे शामिल न कर पाने से पेरेटो अनुकूलतम तक पहुँच सकने में बाधा पडती है।

हालांकि पूर्ण प्रतियोगिता के व्यवहार मे नही पाये जाने के कारण अनुकूलतम स्थितियों व अधिकतम सतोष प्राप्त करने में बाधा पहुँचती है, फिर भी पेरेटो मॉडल का अपना महत्त्व होता है और यह वास्तविक जगत को समझने में मदद पहुँचाता है।

सार्वजनिक वस्तुओ का उपभोग व बाजार-विफलता

कुछ अर्थशास्त्रियो का मत है कि पेरेटो-अनुकूलतम के मार्ग मे सार्वजनिक वस्तुओ के उपभोग मे बाधा पड़ती है। सार्वजनिक वस्तुओं में बाजार की क्रिया विफल हो सकती है, जैसे राष्ट्रीय सुरक्षा, स्थानीय पुलिस की सेवाओं, टेलीविजन सिग्नलों, बाढ नियन्त्रण प्रोजेक्ट, प्रदूषण नियन्त्रण प्रोजेक्ट, समुद्र मे प्रकाशगृह, सार्वजनिक पार्कों, आदि का लाभ तो सभी लोग उठाते हैं, लेकिन इनके लिए कुछ व्यक्ति भुगतान नही करते। *लेकिन उनको सार्वजनिक वस्तुओं के उपभोग से वंचित करना मुश्किल होता है।* इसलिए लाभ अधिकतम करने वाली फर्म सार्वजनिक वस्तुओं का निर्माण नही करना चाहती, *अथवा कम मात्रा में करना चाहती है।* ऐसी स्थिति में **बाजार-विफलता के कारण पेरेटो-अनुकूलतम की दशा प्राप्त करना कठिन हो जाता है।**

पेरेटो के विवेचन में 'प्रसविदा वक्र' पर कई बिन्दु 'अनुकूलतम की स्थिति' को दर्शाते है, लेकिन उसने कोई विशिष्ट या 'एक मात्र अनुकूलतम बिन्दु' (Unique *optimum point*) की चर्चा नही की। इसके *अलावा पेरेटो ने उस स्थिति में कल्याण* **की चर्चा नही की जब एक व्यक्ति को लाभ हो और दूसरे को हानि हो।** इस कमी को आगे चलकर नये कल्याण अर्थशास्त्र मे दूर करने का प्रयास किया गया है।

आमदनी का प्रारम्भिक वितरण—

प्रतिस्पर्धात्मक बाजारों मे इस बात की कोई गारंटी नही होती कि आमदनी व उपभोग उनको नसीब होंगे जिनको इनकी सबसे ज्यादा जरूरत होती है, अथवा जो इसके *सबसे अधिक लायक होते हैं। बल्कि बाजार अर्थव्यवस्था में आमदनी व उपभोग का वितरण प्रारम्भ में मिले धन, विरासत में मिली दक्षता, स्वास्थ्य, भाग्य, प्रयास व भेदभाव* (discrimination) आदि तत्त्वो से प्रभावित होता है।

वस्तुत निर्बाध पूर्ण प्रतियोगिता से असमानता पीढ़ी दर पीढ़ी बढती जाती है और कालान्तर में असमानताएँ चिरस्थायी हो जाती हैं।

सेमुअल्सन ने कल्याण-अर्थशास्त्र के दो प्रमेय (theorems) बतलाये है जो इस प्रकार है

(1) कल्याण अर्थशास्त्र का प्रथम प्रमेय

(First theorem of welfare economics)

हम ऊपर पूर्ण प्रतिस्पर्धात्मक अर्थव्यवस्था में कार्यकुशलता का वर्णन कर चुके हैं। दो शताब्दी पूर्व एडम स्मिथ ने 'अदृश्य हाथ' (invisible hand) की शक्ति का वर्णन किया था जिसके अनुसार लोग बाग अपने स्व हित में काम करते हुए सार्वजनिक कल्याण में भी वृद्धि कर पाते हैं। लेकिन अर्थशास्त्रियों को स्मिथ के विचारों की सत्यता को सिद्ध करने में दो शताब्दी की अवधि लग गई। आज यही परिणाम कल्याण अर्थशास्त्र का प्रथम प्रमेय कहा जाता है। इसके अनुसार—

"एक पूर्ण प्रतियोगी सामान्य सन्तुलन बाजार प्रणाली में आवटन की कार्यकुशलता (allocative efficiency) पायी जाती है। ऐसी व्यवस्था में सभी वस्तुओं की कीमत उनकी सीमान्त लागतों के बराबर होती है, सभी साधनों की कीमतें उनकी सीमान्त उत्पत्ति के मूल्य के बराबर होती है और कोई बाह्यताएँ नहीं होती (no externalities)। ऐसी दशाओं में प्रत्येक उत्पादक अपने मुनाफे अधिकतम करता है और प्रत्येक उपभोक्ता अपनी उपयोगिता अधिकतम करता है। सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था कार्यकुशल होती है। ऐसी दशा में किसी को हानि या क्षति पहुँचाये बिना किसी को लाभ पहुचाना सम्भव नहीं होता।" सेमुअल्सन ने ऐसी स्थिति को कल्याण अर्थशास्त्र का प्रथम प्रमेय बतलाया है।

(2) कल्याण-अर्थशास्त्र का द्वितीय प्रमेय

(Second theorem of welfare economics)

यह प्रथम प्रमेय का उल्टा होता है। उपभोग में घटती हुई सीमान्त उपयोगिताओं व उत्पादन में वर्धमान प्रतिफल के न होने की मान्यताओं की दशा में, अर्थात् 'अधिमान' व 'टेक्नोलोजी' को नियमित (regular) मानने पर, पूर्ण प्रतिस्पर्धात्मक सतुलन के द्वारा साधनों का कार्यकुशल आवटन प्राप्त किया जा सकता है। **इसके लिए प्रारम्भिक आमदनी का पुनर्वितरण करना पड़ता है जिसके लिए कर लगाने व उनसे प्राप्त राशि का हस्तान्तरण (transfer) करना होता है, और तत्पश्चात् पुन अदृश्य हाथ को काम करने दिया जाता है। इस प्रकार आय के कार्यकुशल पुनर्वितरण और प्रतियोगिता के माध्यम से साधनों के कार्यकुशल आवटन की व्यवस्था की जाती है। यह कल्याण-अर्थशास्त्र का द्वितीय प्रमेय कहलाता है जिसमें आय के पुनर्वितरण की व्यवस्था की जाती है।**

कैल्डॉर-हिक्स का 'क्षतिपूर्ति का सिद्धान्त' या मुआवजा-सिद्धान्त
(Compensation Principle of Kaldor-Hicks)

हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि पेरेटो ने इस स्थिति पर विचार नहीं किया कि यदि किसी आर्थिक परिवर्तन से एक व्यक्ति को हानि होती है और अन्य को लाभ होता है तो सामाजिक कल्याण में वृद्धि होगी या नहीं। उसने तो किसी व्यक्ति को हानि पहुँचाये बिना किसी को लाभ पहुचाने की स्थिति का ही कल्याण को लाभ पहुँचाने वाला प्रभाव देखा था। एक व्यक्ति को हानि और दूसरे को लाभ पहुँचाने की

स्थिति का परिणाम जानने के लिए मूल्य-निर्णयों (value-judgements) अथवा उपयोगिता की अन्तर्वैयक्तिक तुलनाओं का सहारा लेना पड़ता है जो आसान नहीं होता।

केल्डॉर व हिक्स ने कुछ व्यक्तियों को हानि और कुछ व्यक्तियों को लाभ पहुँचाने की स्थिति में कल्याण पर प्रभाव जानने के लिए 'क्षतिपूर्ति-सिद्धान्त' विकसित किया है। सरल रूप में उनका सिद्धान्त इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है यदि जिन लोगों को लाभ प्राप्त होता है वे हानि उठाने वालों की क्षतिपूर्ति करने के बाद भी बेहतर स्थिति महसूस कर सकें, तो आर्थिक संगठन में परिवर्तन के बाद कल्याण में वृद्धि हुई मानी जायेगी। इसके लिए यह जरूरी नहीं कि लाभ प्राप्तकर्ता हानि उठाने वालों की वास्तविक रूप में क्षतिपूर्ति करें। इसे निम्न उपयोगिता-सम्भावना-वक्र (utility *possibility curve*) की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है

स्पष्टीकरण

साथ के चित्र में UU उपयोगिता-सम्भावना-वक्र दिया गया है, जिस पर दो व्यक्तियों A व B के लिए दो वस्तुओं X व Y की उपयोगिताओं के विभिन्न संयोग दर्शाये गये हैं। इस पर T, R, G व S बिन्दु आते हैं। हम ज्यों-ज्यों uu वक्र पर नीचे आते हैं A के लिए उपयोगिता बढ़ती है और B के लिए घटती है। इसी प्रकार uu वक्र पर ऊपर की ओर जाने पर B के लिए उपयोगिता बढ़ती है जबकि A के लिए यह घटती है।

मान लीजिए आय के किसी वितरण पर A और B के लिए उपयोगिताओं का एक संयोग Q होता है। अब मान लीजिए आर्थिक नीति के किसी परिवर्तन के फलस्वरूप
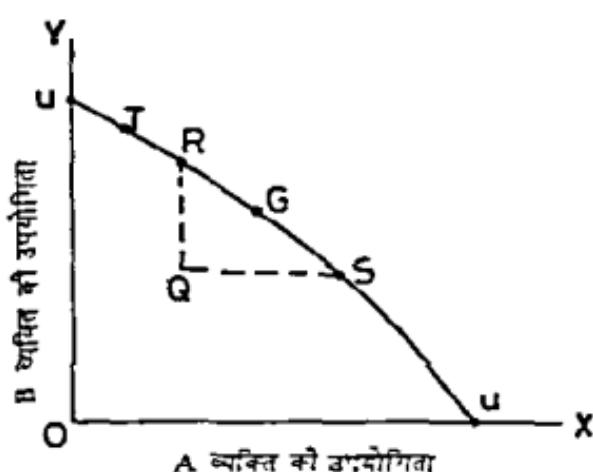
चित्र 5 : केल्डॉर-हिक्स के विवेचन का आधार उपयोगिता-सम्भावना-वक्र (Utility-Possibility-Curve) पर

दोनों व्यक्ति Q बिन्दु से T बिन्दु पर uu उपयोगिता सम्भावना वक्र पर, चले जाते हैं। इस परिवर्तन से B की उपयोगिता बढ़ जाती है, और A की घट जाती है, अर्थात् B बेहतर स्थिति में आ जाता है और A पहले से खराब स्थिति में आ जाता है। अत Q से T तक की गतिशीलता का पेरेटो आधार पर कल्याण की दृष्टि से विश्लेषण सम्भव नहीं है। लेकिन R, G व S जैसे बिन्दुओं पर कल्याण की मात्रा Q से बेहतर होती है (पेरेटो विश्लेषण के आधार पर)। लेकिन केल्डॉर हिक्स के क्षतिपूर्ति के सिद्धान्त के आधार पर Q से T तक की गति में B लाभ की स्थिति में आ जाता है, और वह A की (जो घाटे में है) क्षतिपूर्ति करने के बाद भी बेहतर स्थिति में रहता है।

आय के पुनर्वितरण से यदि B व्यक्ति A व्यक्ति को कुछ मुआवजा (compensation) दे देता है तो वह R जैसी स्थिति में आकर Q से बेहतर स्थिति प्राप्त कर लेता है जबकि A पहले जैसी स्थिति में ही रहता है। अत केल्डॉर हिक्स आधार पर Q से T पर जाने से सामाजिक कल्याण में वृद्धि होती है, क्योंकि वे T से R पर आय के पुनर्वितरण के माध्यम से आ सकते थे।*

स्मरण रहे कि क्षतिपूर्ति के सिद्धान्त में भी उत्पादन व उपभोग के बाह्य प्रभावों (external effects) को शामिल नहीं किया जाता। इसलिए इसकी भी अपनी सीमाएँ होती हैं।

बर्गसन व सेमुअल्सन का सामाजिक-कल्याण-फलन (Social Welfare Function) -

बर्गसन व सेमुअल्सन (Bergson and Samuelson) का मत है कि कल्याण को मापने के लिए मूल्य निर्णयों (Value judgements) का सहारा अवश्य लिया जाना चाहिए। बर्गसन ने 1938 में प्रकाशित अपने लेख **A Reformulation of Certain Aspects of Welfare Economics** में तथा सेमुअल्सन ने अपनी सुप्रसिद्ध रचना—**Foundations of Economic Analysis (1947)** में सामाजिक कल्याण फलन का विवेचन किया है। इसमें हालांकि उपयोगिता के क्रमवाचक दृष्टिकोण (ordinal approach) को ही अपनाया गया है, लेकिन मूल्य निर्णयों का महत्त्व अवश्य स्वीकार किया गया है, जो पूर्व दृष्टिकोणों में स्वीकार नहीं किया गया था। बर्गसन सेमुअल्सन सामाजिक कल्याण फलन को इस प्रकार लिखा जा सकता है

$$W = W (U_1, U_2, U_3 \qquad U_n)$$

यहाँ W सामाजिक कल्याण का सूचक है, और $U_1, U_2, U_3 \qquad U_n$ समाज में विभिन्न व्यक्तियों के क्रमवाचक-उपयोगिता-सूचकांक (Ordinal utility indices) हैं। एक व्यक्ति का क्रमवाचक उपयोगिता सूचकांक उसके द्वारा उपभोग की जाने वाली वस्तुओं व सेवाओं पर निर्भर करता है, और साथ में यह उसके द्वारा किये जाने वाले कार्य की मात्रा व किस्म पर भी निर्भर करता है। सामाजिक-कल्याण-फलन में मूल्य निर्णयों को स्पष्टतया शामिल किया जाता है।

---

* केल्डार हिक्स आधार का विस्तृत विवेचन उच्चस्तरीय अध्ययन में लिया जाता है। अत: यहाँ केवल प्रारम्भिक विवेचन व सरल परिचय ही दिया गया है।

कल्याण अर्थशास्त्र के आधुनिक विश्लेषण में विशाल उपयोगिता सम्भावना वक्र (grand utility possibility curve) व सामाजिक-कल्याण-फलन (Social Welfare function), अथवा सामाजिक तटस्थता वक्रों (Social indifference curves) का प्रयोग किया जाता है। इनका विवेचन नीचे किया गया है।

विशाल उपयोगिता-सम्भावना-वक्र का निर्माण

सर्वप्रथम हम उपभोग प्रसविदा-वक्र की सहायता से एक उपयोगिता-सम्भावना वक्र बनाते हैं जो A व B व्यक्तियों के लिए उपयोगिता के विभिन्न सयोग दर्शाता है। नीचे AKBHC एक उपयोगिता सम्भावना वक्र दर्शाया गया है जिस पर तटस्थता वक्रों की सहायता से प्राप्त A व B व्यक्तियों के द्वारा प्राप्त उपयोगिताएँ इकाइयों के रूप में (in terms of utils) प्रस्तुत की गई हैं। K बिन्दु पर B व्यक्ति 450 इकाई व A व्यक्ति 150 इकाई (utils) प्राप्त करता है। H बिन्दु पर B व्यक्ति 150 इकाई तथा A व्यक्ति 400 इकाई प्राप्त करता है।
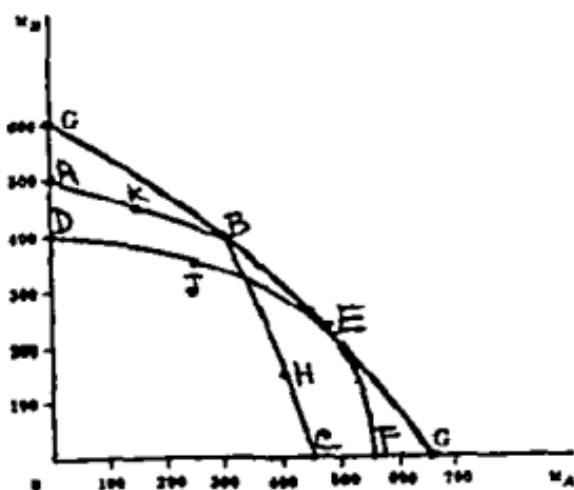
चित्र 6 विशाल उपयोगिता-सम्भावना-वक्र का निर्माण

इसी प्रकार दूसरा उपयोगिता-सम्भावना-वक्र DJEF बनाया गया है जिस पर J बिन्दु B के लिए 350 इकाई संतोष व A के लिए 250 इकाई संतोष का सूचक होता है। इसी प्रकार E बिन्दु पर B व्यक्ति का संतोष 250 यूटिल तथा A व्यक्ति का संतोष 500 यूटिल होता है। ये माप मुद्रा में नहीं हैं। ये क्रमवाचक रूप (ordinal form) में हैं।

नीचे दोनों उपयोगिता सम्भावना वक्र से विशाल उपयोगिता सम्भावना वक्र निकालने की विधि स्पष्ट की गयी है।

स्पष्टीकरण

उपर्युक्त चित्र में एक उपयोगिता सम्भावना वक्र (A की उपयोगिता व B की उपयोगिता के संयोगों को सूचित करने वाला) AKBHC होता है और दूसरा उपयोगिता सम्भावना वक्र DJEF होता है। इन दोनों के सन्तुलन के अनुकूलतम बिन्दु क्रमश *B* व *E* हैं। इसी प्रकार अन्य उपयोगिता सम्भावना वक्र खींच कर विशाल उपयोगिता सम्भावना वक्र GBEG बनाया जा सकता है। स्मरण रहे कि B व E बिन्दु विनिमय व उत्पादन में एक साथ सामान्य सन्तुलन के बिन्दु होते हैं। अत विशाल उपयोगिता सम्भावना वक्र ऐसे ही बिन्दुओं के मिलने से ही बनता है। उत्पादन वितरण प्रक्रिया का कोई भी अन्य परिवर्तन एक व्यक्ति की स्थिति को बदतर बनाये बिना किसी अन्य व्यक्ति की स्थिति बेहतर नहीं बना सकता।
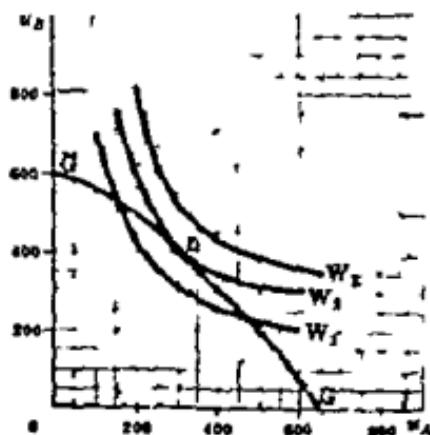
चित्र 7 अधिकतम सामाजिक कल्याण का बिन्दु

सामाजिक-कल्याण फलन (Social Welfare Function) की अवधारणा

विशाल उपयोगिता सम्भावना वक्र पर पेरेटो अनुकूलतम को जानने के लिए सामाजिक कल्याण फलन की अवधारणा का उपयोग करना होगा। सामाजिक कल्याण फलन में सामाजिक तटस्थता वक्रों की अवधारणा का प्रयोग करना होगा। कोई भी समाज नीचे के सामाजिक कल्याण फलन से ऊंचे के सामाजिक कल्याण फलन पर जाना पसन्द कर[illegible] सामाजिक कल्याण वक्र पर एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु पर जाने के [illegible]गा। लेकिन एक [illegible]ल की स्थिति बेहतर व दूसरे की बदतर होती है। इसलिए लिए समाज में एक व्य[illegible]

समाजिक कल्याण-फलन का निर्माण करने के लिए नैतिक या मूल्य निर्णय की क्रिया (उपयोगिता की अन्तर्वयक्तिक तुलना) अवश्य करनी होगी।

अधिकतम सामाजिक कल्याण का बिन्दु

स्पष्टीकरण उपर्युक्त चित्र में W_1, W_2 व W_3 तीन सामाजिक कल्याण फलन को सूचित करने वाले तीन सामाजिक तटस्थता वक्र दर्शाये गये है, और पूर्व की भांति GG विशाल उपयोगिता सम्भावना वक्र होता है। समाज अपना कल्याण D^1 बिन्दु पर अधिकतम कर पाता है जहाँ U_A की मात्रा 300 यूटिल है और U_B की मात्रा 400 यूटिल है। यह समाज W_3 सामाजिक तटस्थता वक्र पर नही पहुँच पायेगा, और W_1 पर रहने से नीची तटस्थता वक्र पर रहना पडेगा। इसलिए D^1 बिन्दु अधिकतम सामाजिक कल्याण की स्थिति का सूचक माना जायेगा। इसे प्रतिबन्धित परमानन्द (Constrained bliss) का बिन्दु कहा जाता है। इस प्रकार कल्याण अर्थशास्त्र के आधुनिक विश्लेषण में सामान्य सन्तुलन के लिए विशाल उपयोगिता सम्भावना-वक्र व सामाजिक तटस्थता वक्रों का उपयोग किया जाता है।

सामाजिक कल्याण फलन व्यवहार में काफी सीमित महत्त्व रखता है। लिटिल, स्ट्रीटन व बोमल ने इसकी उपयोगिता को सीमित रूप मे ही स्वीकार किया है। **बोमल के अनुसार वर्गमन का आधार लाभदायक तो है, लेकिन इसमे कल्याण-सम्बन्धी निर्णयो को एकत्र करने का पूरा साज-सामान नही होता। इसलिए इसके द्वारा हमारा काम अपूर्ण ही रह जाता है।**[1] अब हम ऐरो (Arrow) के असम्भवना प्रमेय (Impossibility Theorem) व लिप्से और लकास्टर के 'द्वितीय सर्वश्रेष्ठ के सामान्य सिद्धान्त' (The General Theory of the Second Best) का सरल परिचय देते हैं।[2]

केनेथ जे ऐरो का असम्भवता-प्रमेय (Arrow's Impossiblity Theorem) :

नोबल पुरस्कार विजेता केनेथ ऐरो ने यह सिद्ध किया है कि **सामाजिक कल्याण फलन लोकतान्त्रिक वोट के आधार पर नही निकाला जा सकता** (अर्थात् समाज मे सभी व्यक्तियों की पसन्द को प्रगट करते हुए)। इसे ऐरो का असम्भवता प्रमेय कहा गया है।

एरो के अनुसार वैयक्तिक अधिमानो (individual preferences) को सूचित करने वाले सामाजिक कल्याण फलन के लिए निम्न चार शर्ते पूरी होनी चाहिये।

(1) **सामाजिक कल्याण सम्बन्धी चुनाव सकर्मक (transitive) होने चाहिए** जैसे यदि X को Y की तुलना मे बेहतर माना जाता है, और Y को Z की तुलना में बेहतर माना जाता है, तो X को Z की तुलना में अवश्य बेहतर माना जायेगा।

(2) **सामाजिक कल्याण के चुनाव वयक्तिक अधिमानो के परिवर्तनो के विपरीत दिशा मे न जाएँ।** इसका आशय यह है कि यदि X-चुनाव एक या अधिक व्यक्तियों की पसन्द में ऊंचा हो जाये, और किसी अन्य व्यक्ति की पसन्द के क्रम में नीचा न हो जाये, तो वह सामाजिक कल्याण के क्रम मे भी नीचा नही माना जायेगा।

1 W J. Baumol Economic Theory And operations Analysis, Fourth ed 1977 pp 531

2 Dominick Salvatore Microeconomics (text book) First edition 1991 pp 578 580

(3) समाज के अन्दर या बाहर किसी एक व्यक्ति द्वारा सामाजिक कल्याण के चुनावो के बारे मे आदेश नही दिये जा सकने।

(4) सामाजिक चुनाव निरर्थक विकल्पो से स्वतन्त्र रहने चाहिये। उदाहरण के लिए यदि कोई समाज X विकल्प को Y विकल्प से बेहतर मानता है और Y विकल्प को Z विकल्प से बेहतर मानता है तो समाज द्वारा X विकल्प को Y विकल्प से बेहतर माना जायेगा भले ही Z का विकल्प न मिले।

ऐरो ने स्पष्ट किया है कि उपर्युक्त चार शर्तों में से कम से कम एक शर्त को तोडे बिना लोकतान्त्रिक वोट द्वारा सामाजिक कल्याण फलन प्राप्त नहीं किया जा सकता। प्रथम शर्त को लेकर यह बात आसानी से सिद्ध की जा सकती है।

हम A, B व C तीन व्यक्ति लेते है और X, Y व Z तीन विकल्पों को क्रम से जमा लेते है जो इस प्रकार होते हैं

विकल्प X, Y, व Z
A, B व C व्यक्तियो के लिए

व्यक्ति	विकल्प का क्रम		
	X	Y	Z
A	1	2	3
B	3	1	2
C	2	3	1

पहले हम X व Y विकल्पों के बीच चुनावों को लेते हैं। अधिकाश (majority) लोग (A व C) X को Y से बेहतर मानते हैं। अब हम Y व Z विकल्पो के बीच चुनावों को लेते हैं। यहाँ अधिकाश (A व B) Y को Z से बेहतर मानते है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चूँकि अधिकाश व्यक्ति X को Y से तथा Y को Z से उत्तम या बेहतर मानते हैं तो A, B व C व्यक्तियों वाला समाज X को Z से बेहतर मानेगा। लेकिन उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है कि B व C व्यक्ति (अर्थात् अधिकाश व्यक्ति) Z को X से बेहतर मानते है। इस प्रकार अधिकाश व्यक्तियो की पसन्द उस अधिकाश में शामिल व्यक्तियों की पसन्द से मेल नही खा रही है। सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि समाज सामाजिक कल्याण फलन को लोकतान्त्रिक वोट की प्रक्रिया से नही प्राप्त कर पाता, चाहे वैयक्तिक अधिमानों में सगति पायी जाये। इसे 'वोट की पहेली' (Voting paradox) भी कह सकते हैं।

स्मरण रहे कि ऊपर हमने पसद के क्रम पर ही विचार किया है, उसकी गहनता (intensity) पर नही। किसी विकल्प को अन्य से मामूली तौर पर पसन्द किया जा सकता है, अथवा गहराई से ज्यादा पसन्द किया जा सकता है। ऐरो के अनुसार निर्णय प्रक्रिया में पसन्द की गहनता के अंतर छोडने होते हैं।

द्वितीय सर्वश्रेष्ठ का सामान्य सिद्धान्त

(General theory of the Second Best) :

लिप्से व लंकास्टर ने अपने 1956 में प्रकाशित लेख में 'द्वितीय सर्वश्रेष्ठ के सामान्य सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया है। इसमें यह मान लिया गया है कि यदि पेरेटो अनुकूलतम की समस्त शर्तें पूरी नहीं कर ली जातीं, तो ज्यादा से ज्यादा शर्तें पूरी कर लेने मात्र से सामाजिक कल्याण में वृद्धि नहीं हो जाती (अर्थात् वह अनिवार्यतः द्वितीय सर्वश्रेष्ठ स्थिति नहीं हो जाती)।

हम जानते हैं कि अर्थव्यवस्था में कुछ बाजारों में एकाधिकार के कारण पेरेटो-अनुकूलतम की स्थिति तक नहीं पहुँचा जा सकता। लेकिन कुछ एकाधिकारी दशाओं को समाप्त करने पर भी जरूरी नहीं कि सामाजिक कल्याण में वृद्धि की जा सके, अथवा समाज को द्वितीय सर्वश्रेष्ठ स्थिति में पहुँचाया जा सके। इसका स्पष्टीकरण निम्न चित्र की सहायता से किया जाता है।
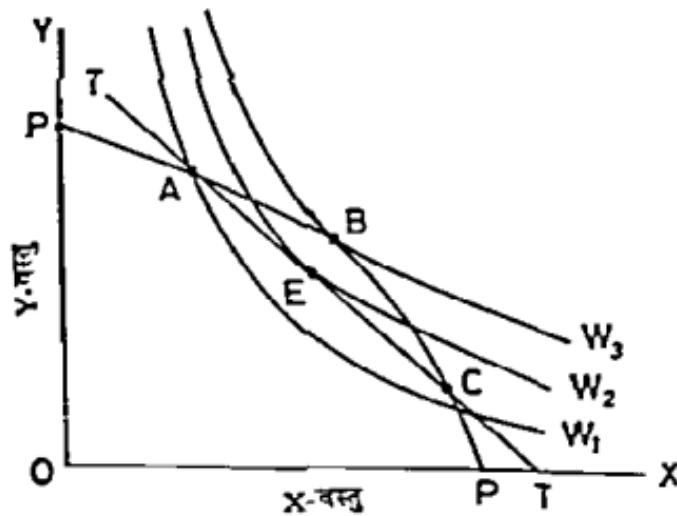
चित्र 8 द्वितीय सर्वश्रेष्ठ का सिद्धान्त 'द्वितीय सर्वश्रेष्ठ बिन्दु E'

स्पष्टीकरण :

चित्र में PP उत्पादन-सम्भावना-वक्र है और पेरेटो-अनुकूलतम बिन्दु या अधिकतम सामाजिक कल्याण B बिन्दु पर प्राप्त होता है। यह सर्वोच्च सामाजिक तटस्थता-वक्र W_3 पर स्थित है। कुछ संस्थागत प्रतिबन्धों के कारण TT सरल रेखा के दायें के संयोग प्राप्त नहीं हो सकते। 'द्वितीय सर्वश्रेष्ठ की स्थिति' W_2 सामाजिक तटस्थता-वक्र पर E बिन्दु पर प्राप्त होती है। PP वक्र पर A व C बिन्दुओं के स्थान पर E बिन्दु पर 'द्वितीय सर्वश्रेष्ठ कल्याण की स्थिति' प्राप्त होती है, हालांकि A व C बिन्दुओं पर E की तुलना में पेरेटो-अनुकूलतम की एक और शर्त की पूर्ति होती है। फिर भी E बिन्दु 'द्वितीय सर्वश्रेष्ठ कल्याण की दशा' का सूचक बन जाता है।

सारांश इस प्रकार कल्याण-अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में हमने पैरेटो-अनुकूलतम की दशाओं का वर्णन पहले पूर्ण प्रतिस्पर्धा की परिस्थितियों में सामान्य सन्तुलन के माध्यम से किया। उसके बाद केल्डॉर व हिक्स के **'क्षतिपूर्ति के सिद्धान्त'** का परिचय देकर विशाल उपयोगिता सम्भावना वक्र व सामाजिक तटस्थता वक्रों के उपयोग से अधिकतम सामाजिक कल्याण का वर्णन करके कल्याण अर्थशास्त्र के क्षेत्र में नई उभरती हुई अवधारणाओं, जैसे केनेथ ऐरो के **'असम्भवता-प्रमेय'** तथा लिप्से व लंकास्टर के **'द्वितीय सर्वश्रेष्ठ के सिद्धान्त'** का प्रारम्भिक विवेचन प्रस्तुत किया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कल्याण का अर्थशास्त्र काफी सूक्ष्म व भावनामूलक माना गया है। लेकिन आजकल इसका महत्त्व अर्थशास्त्र के विभिन्न नीति सम्बन्धी प्रश्नों में निरन्तर बढ़ रहा है। इसलिए इसकी प्रारम्भिक जानकारी आवश्यक हो गई है।

प्रश्न

1. निम्नलिखित को स्पष्ट कीजिए—
   (i) पीगू का कल्याणकारी अर्थशास्त्र
   (ii) पैरेटो का कल्याणकारी अर्थशास्त्र
   (iii) नव कल्याणकारी अर्थशास्त्र **(MDSU, Ajmer II Yr 2000)**
2. समझाइए—
   (i) पेरीटो का सामाजिक-अनुकूलतम
   (ii) क्षतिपूर्ति सिद्धान्त **(MDSU, Ajmer IIyr 2001)**
3. निम्नलिखित को स्पष्ट कीजिए—
   (i) पेरेटो-अनुकूलतम की प्राप्त करने में बाधाएँ
   (ii) केल्डोर-हिक्स का क्षतिपूर्ति सिद्धान्त
4. आधुनिक सामाजिक कल्याण फलन की अवधारणा व सन्तुलन को चित्र द्वारा समझाइए।
5. निम्न नीतियों में से पेरेटो आधार पर सामाजिक कल्याण को बढ़ाने वाली नीतियाँ छाँटिए

नीति	उपयोगिता के परिवर्तन	
	X-व्यक्ति	Y-व्यक्ति
A	+7	–2
B	+2	0
C	+6	+6
D	–6	+41
E	0	0

परिशिष्ट (Appendix)

चुने हुए प्रश्नों के उत्तर-संकेत

(Guidelines for Answers to Selected Questions)

इस अध्याय में चुने हुए वस्तुनिष्ठ, लघु व अन्य प्रकार के प्रश्नों के उत्तर संकेत दिए गए हैं ताकि विद्यार्थी अधिक सुनिश्चित ज्ञान प्राप्त कर सकें। प्राय देखा गया है कि व्यष्टि अर्थशास्त्र के प्रश्नों के उत्तरों में विद्यार्थी गम्भीर किस्म की भूलें कर बैठते हैं जिससे उन्हें निराशाजनक परिणामों का सामना करना पड़ता है। प्रतियोगी परीक्षाओं के विद्यार्थी सही ज्ञान के अभाव में मामूली प्रश्नों के सही सही उत्तर छाँटने में भी कठिनाई महसूस करते हैं। आशा है इस अध्याय के सभी प्रश्नों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से उनकी यह कठिनाई काफी सीमा तक कम हो जाएगी और उन्हें अधिक सफलता मिल सकेगी।

विद्यार्थियों के लाभ के लिए RAS प्रारम्भिक परीक्षा (अर्थशास्त्र), 1998 व 1999 के वस्तुनिष्ठ प्रश्नो के हल भी दिये गये है जिससे इस परिशिष्ट की उपयोगिता काफी बढ़ गयी है। इसका लाभ व्यष्टि अर्थशास्त्र के सभी विद्यार्थी उठा सकते है।

प्रश्न

1 उपयोगिता व लाभदायकता में अन्तर कीजिए।

उत्तर—उपयोगिता किसी वस्तु या सेवा के द्वारा किसी आवश्यकता की सन्तुष्टि के गुण को कहते हैं, जबकि लाभदायकता में उपभोक्ता को वस्तु या सेवा के उपयोग से लाभ प्राप्त होता है। शराब में उपयोगिता तो है, लेकिन लाभदायकता नहीं है, जबकि दूध में उपयोगिता व लाभदायकता दोनों हैं। अर्थशास्त्र में उपयोगिता पर अधिक ध्यान केन्द्रित किया जाता है, इसीलिए उपयोगिता विश्लेषण का महत्त्व होता है।

2 बायीं तरफ के कथन को दायीं तरफ के कथन से मैच कराइए।

(अ) उत्पाद की तकनीकों के चुनाव की समस्या	(i) उत्पादन किसके लिए?
(ब) साधन आवटन की समस्या	(ii) उत्पादन कैसे किया जाए?

(स) आमदनी के वितरण की समस्या (iii) दुर्लभता

(द) चुनाव की समस्या (iv) उत्पादन किस मात्रा में किया जाए?

उत्तर—(अ) (iv) (ब) (ii)

(स) (i) (द) (iii)

3 निम्न का मैच कराइए—

(अ) क्या है? (i) समष्टि अर्थशास्त्र

(ब) क्या होना चाहिए? (ii) व्यष्टि अर्थशास्त्र

(स) समग्र राशियाँ (iii) वास्तविक अर्थशास्त्र

(द) वैयक्तिक इकाइयाँ (iv) आदर्शात्मक अर्थशास्त्र

उत्तर—(अ) (iii) (ब) (iv)

(स) (i) (द) (ii)

4 निम्न विषय व्यष्टि अर्थशास्त्र में आते हैं या समष्टि अर्थशास्त्र में।

(अ) चीनी का मूल्य निर्धारण (ब) मुद्रास्फीति

(स) मजदूरी का निर्धारण (द) बेरोजगारी

उत्तर—(अ) व्यष्टि अर्थशास्त्र (ब) समष्टि अर्थशास्त्र

(स) व्यष्टि अर्थशास्त्र (द) समष्टि अर्थशास्त्र

5 राम की ब्रेड की निम्न उपयोगिता अनुसूची को पूरा करिए

ब्रेड की इकाइयाँ	कुल उपयोगिता	सीमान्त उपयोगिता
0	0	–
1	40	40
2	70	–
3	–	20
4	100	–
5	100	–

उत्तर—तीन ब्रेड की कुल उपयोगिता = 70 + 20 = 90

दो ब्रेड पर सीमान्त उपयोगिता = 70 – 40 = 30

चार ब्रेड पर सीमान्त उपयोगिता = 100 – 90 = 10

पाँच ब्रेड पर सीमान्त उपयोगिता = 100 – 100 = 0

6 निम्न आँकड़ों की सहायता से चाप लोच (arc elasticity) ज्ञात कीजिए

कीमत (p)	माँग की मात्रा
रुपयों मे	(x)
10	100
9	120

उत्तर—दोनों तरफ से निचला मूल्य लेने पर तथा

$$e = \frac{\Delta x}{\Delta p} \quad \frac{p}{x} \text{ सूत्र लगाने पर}$$

$$e = \frac{20}{1} \quad \frac{9}{100} = 1\ 8 \text{ (ऋणात्मक निशान लगाएँ)}$$

7 निम्न दृष्टान्त में माँग की लोच (–) 0 4 या (–) 0 5 ?

	कीमत रुपयो मे (p)	माँग की मात्रा (x)
(A)	5	10
(B)	7 5	8

उत्तर—(i) दोनों तरफ से निचला मूल्य लेकर गणना करने पर—

$$\text{माँग की लोच} = \frac{\Delta x}{\Delta p} \quad \frac{p}{x}$$

$$= \frac{2}{2\ 5} \times \frac{5}{8} = \frac{1}{2} = 0\ 5 \text{ (ऋणात्मक निशान लगाएँ)}$$

(ii) दोनों तरफ A से B की तरफ गणना करने पर—

$$\text{माँग की लोच} = \frac{\Delta x}{\Delta p} \quad \frac{p}{x}$$

$$= \frac{2}{2\ 5} \times \frac{5}{10}$$

$$= \frac{2}{5} = 0\ 4 \text{ (ऋणात्मक निशान लगाएँ)}$$

आजकल इन दोनों में से (–) 0 5 ज्यादा सही माना जाता है।

8 एक माँग वक्र आयताकार हाइपरबोला कब माना जाता है ?

(अ) जब $e > 1$ (ब) जब $e = 1$ (सम्पूर्ण माँग वक्र पर)

(स) जब $e < 1$ (द) जब $e = 0$

(इ) जब $e = \infty$

(ब)

9 निम्न सूचना के आधार पर माँग की लोच निकालिए—

स्थिति	माँग की मात्रा (किलो में)	कुल खर्च (रुपया में)
A	5	40
B	4	36

उत्तर—यहाँ पहले कीमत ज्ञात करना होगा जिससे निम्न तालिका बनेगी—

स्थिति	कीमत (₹)	माँग की मात्रा (इकाई)
A	$\frac{40}{5} = 8$	5
B	$\frac{36}{4} = 9$	4

अब (i) A से B तक गणना करने पर ,

$$e = \frac{\Delta x}{\Delta p} \cdot \frac{p}{x} \text{ लगाने पर}$$

$$= \frac{1}{1} \cdot \frac{8}{5}$$

$$= 1.6 \text{ (ऋणात्मक चिह्न लगाएँ)}$$

(ii) दूसरी तरफ बिन्दु मूल्यों से गणना करने पर $e = \frac{1}{1} \cdot \frac{8}{4} = 2.0$ होगा
(ऋणात्मक चिह्न लगाएँ)

10 माँग की लोच के शून्य होने पर निम्न स्थिति में 1.5 रुपया कीमत पर माँग की मात्रा निकालिए—

स्थिति	कीमत (p) (रु.)	माँग की मात्रा (इकाई में) (x)
A	1	2
B	1.5	–

हल $e = \frac{\Delta x}{\Delta p} \cdot \frac{p}{x}$

$$0 = \frac{\Delta x}{0.5} \cdot \frac{1}{2} = \Delta x$$

अतः 1.5 रु कीमत पर भी माँग की मात्रा पूर्ववत रहेगी अर्थात् 2 रहेगी।

11 यदि सन्तरे की कीमत 20 रुपये तथा इसकी माँग की लोच 2 हो तो सीमान्त आगम ज्ञात कीजिए।

उत्तर—सीमान्त आगम (MR) = $p\left(1-\frac{1}{e}\right) = 20\left(1-\frac{1}{2}\right) = 10$ रु होगी।

12 माँग की लोच का सही सूत्र छाँटिए—

(अ) $e = \frac{AR}{AR-MR}$ (ब) $e = \frac{MR}{AR-MR}$

(स) $e = \frac{AR}{MR-AR}$ (द) $e = \frac{MR}{MR-AR}$ (अ)

13 निम्न दशाओं में कीमत उपभोग वक्र की आकृति कैसी होगी?

(अ) जब माँग की लोच $e = 1$ (इकाई लोच) हो

(ब) जब $e > 1$ (लोचदार) हो

(स) जब $e < 1$ (बेलोच) हो।

उत्तर—(अ) कीमत उपभोग वक्र (PCC) क्षैतिज (horizontal) होगा, OX अक्ष के समानान्तर होगा।

(ब) PCC नीचे की ओर जायेगा तथा

(स) PCC ऊपर की ओर आयेगा।

14 घटिया वस्तु (inferior goods) व गिफेन वस्तु (Giffen goods) में अन्तर करिए।

उत्तर—घटिया वस्तुओं में आय प्रभाव ऋणात्मक (negative) होता है। लेकिन इनमें कुछ ऐसी वस्तुएँ होती हैं जिनमें ऋणात्मक आय प्रभाव इतना प्रबल होता है कि वह धनात्मक प्रतिस्थापन प्रभाव को भी मिटा देता है, जिससे वस्तु की कीमत के घटने पर उसकी माँग की मात्रा बढ़ने की बजाय घट जाती है। इसी प्रकार गिफेन वस्तुओं में कीमत के बढ़ने पर माँग की मात्रा घटने की बजाय बढ़ जाती है। ऐसी विशेष प्रकार की घटिया या निकृष्ट वस्तुओं को गिफेन वस्तुएँ (Giffen goods) कहा जाता है।

अत सभी गिफेन वस्तुएँ घटिया वस्तुएं होती है, लेकिन सभी घटिया वस्तुएँ गिफेन वस्तुएँ नहीं होती है।

15 तटस्थता वक्रों के सन्दर्भ में निम्न का अर्थ संक्षेप में लिखिये—

(i) कीमत प्रभाव (ii) आय प्रभाव, तथा (iii) प्रतिस्थापन प्रभाव

उत्तर— (i) एक वस्तु की कीमत के बदलने पर (दूसरी वस्तु की कीमत के स्थिर रहने पर तथा उपभोक्ता द्वारा व्यय की कुल राशि के समान रहने पर), दोनों वस्तुओं के उपभोग का परिवर्तन (जो तटस्थता वक्रों की सहायता से स्पष्ट किया जाता है) कीमत प्रभाव कहलाता है।

(ii) जब दोनों वस्तुओं के भाव स्थिर रहते हैं, और उपभोक्ता की केवल मौद्रिक आय, अथवा व्यय की कुल राशि, परिवर्तित होती है तो दोनों वस्तुओं की खरीद पर पड़ने वाला प्रभाव आय प्रभाव कहलाता है।

(iii) जब दोनों वस्तुओं के भाव इस प्रकार बदल जाते हैं कि नई स्थिति में भी उपभोक्ता पहले वाले तटस्थता-वक्र पर ही बना रहता है तो **प्रतिस्थापन-प्रभाव की स्थिति होती है।** इसमें उपभोक्ता द्वारा दोनों वस्तुओं की खरीदी जाने वाली मात्राएँ अवश्य बदल जाती है, लेकिन उसके कुल सतोष का स्तर पूर्ववत ही बना रहता है। दूसरे शब्दों मे, प्रतिस्थापन प्रभाव मे उपभोक्ता की वास्तविक आय (real income) स्थिर बनी रहती है।

16 निम्नलिखित मे से किस प्रभाव को दो अन्य प्रभावों में विभक्त किया जा सकता है ?

(अ) आय प्रभाव (ब) प्रतिस्थापन प्रभाव

(स) कीमत प्रभाव (स)

17 y वस्तु के लिए x वस्तु के प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRS_{xy}) का अर्थ लिखिए।

उत्तर—**MRSxy का अर्थ है x-वस्तु की एक इकाई प्राप्त करने के लिए उपभोक्ता y-वस्तु की कितनी इकाइयाँ त्यागने को तत्पर होता है ताकि कुल सतोष का समान स्तर कायम रखा जा सके।** $MRSxy = -\frac{\Delta x}{\Delta y}$ होता है, चूँकि x की मात्रा बढती है और y की मात्रा घटती जाती है। इसलिए इसका निशान ऋणात्मक होता है।

18 माँग के नियम का सच्चा अपवाद (exception) बतलाइये।

उत्तर—**गिफेन वस्तु की स्थिति माँग का सच्चा अपवाद मानी जाती है, क्योंकि इसमे कीमत के घटने पर माँग की मात्रा घटती है।** आय प्रभाव ऋणात्मक होता है और कीमत के घटने पर प्रतिस्थापन प्रभाव धनात्मक होता है एव आय प्रभाव इतना अधिक ऋणात्मक होता है कि वह धनात्क प्रतिस्थापन प्रभाव को मिटा देता है, जिससे कीमत के घटने पर माँग की मात्रा घट जाती है। ऐसी स्थिति में माँग वक्र ऊपर की ओर जाता है।

19 निम्न स्थितियों का अर्थ लिखिये—

(i) MRSxy स्थिर रहता है, (ii) MRSxy = 0 हो।

उत्तर— (*i*) MRSxy के स्थिर (*constant*) रहने का अर्थ यह है कि उपभोक्ता एक इकाई x प्राप्त करने के लिए y की समान मात्रा का त्याग करने को तत्पर रहता है, जैसे प्रत्येक एक कप काफी के लिए दो कप चाय का त्याग करना। अत x की एक इकाई = y की दो इकाइयों के। इस प्रकार यहाँ एक इकाई x व y की दो इकाइयाँ एक दूसरे के पूर्ण स्थानापन्न (perfect substitutes) माने जाते हैं।

(ii) MRSxy = 0 होने का अर्थ है कि तटस्थता वक्र L-आकृति का होता है। यह समकोण आकृति (right angled) का होता है। इसका तात्पर्य

यह है कि दोनों वस्तुएँ एक दूसरे की पूर्णतया पूरक (perfect complements) होती हैं। ऐसी स्थिति में एक वस्तु के ज्यादा होने पर और दूसरी वस्तु की मात्रा के न बढ़ने पर, उपभोक्ता का संतोष नहीं बढ़ सकता। दायाँ व बायाँ जूता इसके उदाहरण माने जा सकते हैं। इसी प्रकार दाया व बाया मौजा एक दूसरे के पूरक होते ह।

20 माँग की तिरछी लोच (corss elasticity of demand) का निम्न दशाओं में अर्थ बतलाइए।

(i) जब यह शून्य से अधिक हो अर्थात् धनात्मक हो,

(ii) जब यह शून्य से कम हो, अर्थात् ऋणात्मक हो

(iii) जब यह शून्य के समीप हो।

उत्तर—(i) दोनों वस्तुएँ एक दूसरे की स्थानापन्न (substitutes) होती हैं,

(ii) दोनों वस्तुएँ एक दूसरे की पूरक (complements) होती हैं, तथा

(iii) दोनों वस्तुएँ एक दूसरे से स्वतन्त्र (independent) होती हैं।

21 माँग वक्र पर कीमत लोच अनंत (infinite) निम्न स्थिति में होती हैं

(अ) जब माँग वक्र ऊपर की ओर जाए

(ब) जब माँग वक्र नीचे की ओर आए,

(स) जब यह लम्बवत् (vertical) हो, तथा

(द) जब यह क्षैतिज (horizontal) हो (द)

22 सीमान्त आगम (marginal revenue) उस समय शून्य होगा जब माँग की लोच निम्न किस्म की होगी—

(अ) एक से अधिक (ब) एक से कम

(स) शून्य हो (द) एक के बराबर हो (द)

23 अल्पकालीन उत्पादन फलन व दीर्घकालीन उत्पादन फलन में अन्तर करिए।

उत्तर—अल्पकालीन उत्पादन फलन में एक साधन स्थिर रखा जाता है और अन्य साधनों में से एक साधन या अधिक साधन परिवर्तनशील होते हैं। परिवर्तनशील अनुपातों का नियम अल्पकालीन उत्पादन फलन से ही प्राप्त होता है।

24 नीचे कॉब डगलस उत्पादन फलन दिया हुआ है—
$Q = AL^{\alpha}K^{\beta}$ जहाँ Q = उत्पत्ति की मात्रा, L = श्रम की मात्रा, K = पूँजी की मात्रा तथा A, α व β धनात्मक राशियाँ हैं। यहाँ (i) α व β का अर्थ बताइये (ii) $\alpha = 0.7$ व $\beta = 0.4$ (iii) $\alpha = 0.5$ व $\beta = 0.3$ का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—(i) α = श्रम की उत्पत्ति लोच (output elasticity) है, अर्थात श्रम की मात्रा में 1% वृद्धि होने पर उत्पत्ति में α% वृद्धि होती है। α श्रम का

28 यदि एक सीधी रेखा वाला माँग वक्र एक वक्राकार (Curvilinear) माँग वक्र को किसी बिन्दु पर छूता है, तो स्पर्श बिन्दु पर दोनों माँग वक्रो की लोच के बारे में स्थिति क्या होगी ?

(अ) समान (ब) भिन्न

(स) समान अथवा भिन्न (द) स्पर्श बिन्दु पर निर्भर करेगा (अ)

29 तटस्थता वक्र कैसे होते हैं ?

(अ) सदव एक-दूसरे के समानान्तर (parallel)

(ब) समानान्तर हो सकते हैं

(स) समानान्तर नही हो सकते हैं

(द) समानान्तर हो सकते हैं अथवा नही भी। (द)

30 टेक्नीकल प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (पूँजी के लिए श्रम की) ($MRTS_{LK}$) का अर्थ लिखिए। यहाँ L श्रम को तथा K पूँजी को सूचित करते हैं। पूँजी के लिए C भी लिया जा सकता है।

उत्तर—तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर समोत्पत्ति वक्र के ढाल का निरपेक्ष मूल्य (absolute value) होती है यह उत्पत्ति की किसी मात्रा पर (एक समोत्पत्ति वक्र पर) एक इकाई श्रम के बढाने पर पूँजी की त्यागी जाने वाली इकाइयों को सूचित करती है। **जैसे यदि श्रम की एक इकाई बढाने के लिए पूँजी की दो इकाइयो का त्याग करना होता है, तो $MRTS_{LK}$ = 2 होगा।** $MRTS_{LK} = -\frac{\Delta K}{\Delta L}$ होती है, क्योकि श्रम के बढाने पर पूँजी की मात्रा घटायी जाती है। व्यवहार मे ऋणात्मक निशान छोडकर प्राय इसको निरपेक्ष मात्रा ही लिखी जाती है। इसी प्रकार $MRTS_{KL}$ में पूँजी की एक इकाई बढाने के लिए श्रम की त्यागी जाने वाली मात्राएँ सूचित की जाती हैं (एक ही समोत्पत्ति वक्र पर)।

31 यदि भूमि को स्थिर साधन व श्रम को परिवर्ती साधन माना जाये तो उत्पादक के लिए द्वितीय अवस्था में उत्पादन करना ही श्रेष्ठ क्यों माना जाएगा ?

उत्तर—प्रथम अवस्था में भूमि व श्रम दोनों की कार्यकुशलता बढती है। द्वितीय अवस्था में भूमि की कार्यकुशलता बढती हुई होती है, लेकिन श्रम की कार्यकुशलता घटती है। तृतीय अवस्था मे भूमि व श्रम दोनों की कार्यकुशलता घटती है। **उत्पादक के लिए तृतीय अवस्था तो व्यर्थ है क्योकि इसमे दोनों साधनो की कार्यकुशलता घटती है।** प्रथम अवस्था में ठहरना भी उचित नही होगा, क्योंकि वह द्वितीय अवस्था में प्रवेश करके भूमि की बढती हुई कार्यकुशलता का लाभ उठाना चाहेगा। अत उत्पादक के लिए द्वितीय अवस्था ही श्रेष्ठ रहेगी।

32 साधनों के अनुकूलतम या सर्वोत्तम संयोग का अर्थ व शर्तें लिखिए।

उत्तर—साधनों का अनुकूलतम संयोग वह होता है जहाँ एक फर्म उत्पत्ति की दी हुई मात्रा न्यूनतम लागत पर उत्पन्न करती है, अथवा दी हुई लागत प[र अधिक]तम उत्पादन करती है।

(i) परम्परागत दृष्टिकोण के अनुसार—

(1) $\frac{MPPl}{Pl} = \frac{MPP_k}{P_k}$ अर्थात्

$$\frac{\text{श्रम की सामान्त भौतिक उत्पत्ति}}{\text{श्रम की कीमत अर्थात् मजदूरी}} = \frac{\text{पूँजी की सामान्त भौतिक उत्पत्ति}}{\text{पूँजी की कीमत अर्थात् ब्याज}}$$

(2) $(L \times Pl) + (K \times P_k) = I$

अर्थात् (श्रम की मात्रा × मजदूरी) + (पूँजी की मात्रा × पूँजी की कीमत)

= कुल व्यय की राशि

ये दोनों शर्तें पूरी होने पर न्यूनतम लागत संयोग (minimum cost combination) प्राप्त हो जाता है।

(ii) समोत्पत्ति वक्र समलागत दृष्टिकोण के अनुसार—

जहाँ एक समोत्पत्ति वक्र समलागत रेखा को छूता है वहाँ न्यूनतम लागत अथवा अधिकतम उत्पत्ति का संयोग आता है।

सूत्र के अनुसार $MRTS_{LK} = \frac{w}{r}$ होता है अर्थात्

पूँजी के लिए श्रम की तकनीकी प्रतिस्थापन की दर = $\frac{\text{मजदूरी की दर}}{\text{ब्याज की दर}}$ होती है।

चूँकि $MRTS_{LK} = \frac{MP_L}{MP_K}$ होती है।

इसलिए न्यूनतम लागत संयोग की स्थिति इस प्रकार भी व्यक्त की जा सकती है—

$$\frac{MP_L}{MP_K} = \frac{w}{r}$$

अथवा $\frac{MP_L}{w} = \frac{MPk}{r}$, जो परम्परागत दृष्टिकोण का समीकरण (1) है।

(चूँकि मजदूरी $w = P_l$ तथा ब्याज की दर $r = P_k$ होती है।)

33 पूर्ण प्रतिस्पर्धा में अल्पकाल में फर्म के सन्तुलन की आवश्यक शर्त व पर्याप्त शर्त बतलाइए।

उत्तर—सीमान्त आगम = सीमान्त लागत (MR = MC) फर्म के सन्तुलन की आवश्यक शर्त (necessary condition) मानी जाती है। लेकिन साथ में यह भी आवश्यक है कि MC वक्र MR वक्र को नीचे से काटे अथवा बायीं तरफ से काटे (समान रहते हुए या घटते हुए रूप में)। यह पर्याप्त शर्त (sufficient condition) मानी जाती है।

34 *अर्थशास्त्र में अति अल्पकाल, अल्पकाल दीर्घकाल व अतिदीर्घकाल किन अर्थों में प्रयुक्त होते हैं ?*

उत्तर—अति अल्पकाल को बाजार अवधि भी कहते हैं। इस अवधि में बाजार कीमत निर्धारित होती है जिस पर माँग का ज्यादा प्रभाव पडता है। अल्पकाल में दिए हुए सयन्त्र (given plant) का गहरा प्रयोग करके कुछ सीमा तक उत्पादन बढाया जा सकता है, और कुछ सीमा तक प्रयोग कम करके उत्पादन घटाया जा सकता है। लेकिन अल्पकाल में सयन्त्र का आकार स्थिर रहता है। इस *अवधि में कीमत पर माँग के साथ साथ कुछ सीमा तक पूर्ति का भी प्रभाव पडने लगता है।*

दीर्घकाल में माँग के बढने पर पुरानी फर्में अपने सयन्त्र का आकार बढा सकती हैं और नई फर्मों का प्रवेश हो सकता है, जिससे **माँग के अनुसार पूर्ति को पूर्णतया समायोजित किया जा सकता है।** इसी प्रकार माँग के घटने पर पुरानी फर्में अपने सयन्त्र का आकार घटा सकती हैं, और कुछ फर्में उद्योग को छोडकर *बाहर जा सकती हैं। इस प्रकार माँग के घटने के अनुसार पूर्ति को भी पूरी* तरह से घटा सकना मम्भव होता है। इस अवधि में कीमत पर पूर्ति की दशाओं अथवा लागत की दशाओं का प्रभाव पडने लगता है।

अति दीर्घकाल में *जनसख्या, टेक्नोलोजी, लोगों की रुचियाँ,* पूँजी की पूर्ति, आदि के बदलन से माँग व पूर्ति दोनों में भारी परिवर्तन हो जाते हैं जिससे कीमत निर्धारण का काम और भी जटिल हो जाता है।

35 पूर्ण प्रतिस्पर्धा मे अल्पकाल में एक फर्म के द्वारा

(i) उत्पादन बन्द करो का बिन्दु (shut down point)

(ii) न लाभ न हानि का बिन्दु (break even point) इत्यादि।

उत्तर— (i) उत्पाद बद करो का बिन्दु उस समय आता है जब कीमत = औसत परिवर्तनशील लागत (p = AVC) पर फर्म उत्पादन करने लगती है। **इस बिन्दु पर फर्म को स्थिर लागत के बराबर हानि होती ह।** इस बिन्दु पर उत्पादन जारी रखने से फर्म का बाजार स सम्पर्क बना रहता है। लेकिन इससे नीचे जाने पर फर्म उत्पादन बन्द कर देती है, क्योंकि उसे परिवर्तनशील लागत का कुछ अश नही मिल पाता है। अत p = AVC 'उत्पाद बन्द करो का बिन्दु' कहा जाता है। इसे TR = TVC की *दशा भी कह सकते हैं।*

(ii) *'न लाभ न हानि का बिन्दु' तब आता है जब कीमत अल्पकालीन औसत* लागत (SAC) के बराबर हो जाती है (p = SAC)। इस पर फर्म का कुल आगम (total revenue) फर्म की कुल लागत (total cost) के बराबर होता है। फर्म को केवल समान्य लाभ (normal profit) ही प्राप्त होते हैं।

लागत (minimum average cost) पर उत्पादन करती है। लेकिन एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में दीर्घकाल में एक फर्म न्यूनतम औसत लागत के बिन्दु से पूर्व ही अपनी उत्पत्ति बन्द कर देती है जिससे उसके वास्तविक उत्पादन व न्यूनतम औसत लागत वाले उत्पादन के बीच अन्तर उत्पन्न हो जाता है जिसे उस फर्म की अतिरिक्त क्षमता (excess capacity) माना जाता है।

42 निम्न ऑकडो के आधार पर 16 रु मजदूरी पर श्रमिकों की माँग ज्ञात कीजिए—

श्रमिको की सख्या	कुल उत्पत्ति (TP)	वस्तु की कीमत (रुपयो में)
1	2	2
2	8	2
3	16	2
4	23	2
5	29	2
6	34	2

उत्तर—

श्रमिको की सख्या (1)	कुल उत्पत्ति (TP) (2)	वस्तु की कीमत (p) (रुपयों में) (3)	सीमान्त भौतिक उत्पत्ति (MPP) (कालम 2 से प्राप्त) (4)	सीमान्त आय उत्पत्ति (MPP)= (MPP × p) (रु मे) (5) = (3) × (4)
1	2	2	2	4
2	8	2	6	12
3	16	2	8	16
4	23	2	7	14
5	29	2	6	12
6	34	2	5	10

अत 16 रुपये मजदूरी पर श्रमिकों की माँग 3 होगी, जहाँ साधन की कीमत = साधन की सीमान्त आय उत्पत्ति (MRP) होती है जो वितरण के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त का सार है।

चीनी (15%) निर्धारित भावों पर लेती है, जिसे उपभोक्ताओं को राशन की दुकानों के मार्फत उपलब्ध कराया जाता है और शेष चीनी (85%) खुले बाजार में बेची जा सकती है। इससे उत्पादकों व उपभोक्ताओं दोनों के हितों की रक्षा करने का प्रयास किया जाता है। लेवी कीमत गैर-लेवी कीमत से नीची होती है।

45 निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(i) स्थानान्तरण आय (transfer earnings)

(ii) अर्द्ध लगान या आभास लगान (quasi rent)

(iii) सामूहिक सौदाकारी से मजदूरी निर्धारण (wage determination by bargaining)

(iv) अवसर लागत (opportunity cost)

उत्तर—(i) एक उत्पादन के साधन को अपने सर्वश्रेष्ठ वैकल्पिक उपयोग (best alternative use) में जो आमदनी हो सकती है उसे स्थानान्तरण या हस्तान्तरण आय कहते हैं। वर्तमान उपयोग से प्राप्त आय व स्थानान्तरण आय का अन्तर आधुनिक विचारधारा के अनुसार लगान कहलाता है, जो श्रमिकों, भूस्वामियों, पूँजी के स्वामियों आदि सभी उत्पादन के साधनों को मिल सकता है।

(ii) इसके दो अर्थ लगाये गये हैं। संकुचित अर्थ में यह अल्पकाल में मानव निर्मित साधनों जैसे उपकरण व मशीनरी आदि की आय होती है जो दीर्घकाल में इनकी मात्रा के बढ़ जाने से समाप्त हो जाती है। दीर्घकाल में पूर्ण प्रतिस्पर्धा में पूँजी पर केवल ब्याज ही मिल पाता है। दूसरे व अधिक विस्तृत अर्थ में अल्पकाल में किसी भी उत्पादक को औसत परिवर्तनशील लागत (AVC) से जो भी अधिक राशि माल की बिक्री से प्राप्त होती है, उसे आभास लगान या अर्द्ध लगान कहते हैं। यह औसत स्थिर लागत (AFC) से अधिक, इसके बराबर व इससे कम हो सकता है। इसी शर्त को TR − TVC भी कह सकते हैं जो आभास लगान को निर्धारित करती है।

(iii) मजदूर संघ मालिकों से सामूहिक सौदाकारी करके मजदूरी में वृद्धि करा सकते हैं। वे मजदूरी को श्रम की सीमान्त उत्पत्ति के मूल्य के बराबर ला सकते हैं। (जब W < VMP हो)। वे श्रम की सीमान्त उत्पत्ति में वृद्धि कराके मजदूरी को बढ़वाने का प्रयास कर सकते हैं। वे कई अन्य तरीकों से मजदूरी बढ़वाने का प्रयास कर सकते हैं जैसे श्रम की पूर्ति को नियन्त्रित करके, स्टैण्डर्ड मजदूरी की दरों को ऊँचा निर्धारित कराने का प्रयास करके तथा श्रम के अकेले खरीददार (monopsonist) द्वारा श्रमिकों के शोषण को दूर करके। वे उद्योग में न्यूनतम मजदूरी के निर्धारण में भी मदद कर सकते हैं।

(iv) **अवसर लागत** (opportunity cost) – अवसर लागत किसी वस्तु की वह लागत होती है जो किसी विकल्प (alternative) को त्यागने या छोडने मे ज्ञात की जाती है। **जैसे गेहूँ के उत्पादन की लागत कपास की वह मात्रा होती है, जो उन्ही साधनो से प्राप्त की जा सकती है, जो गेहूँ के उत्पादन म लगाये जाते ह।** यहाँ अवसर लागत भौतिक रूप मे आकी गयी है। लेकिन दो से अधिक उपयोग होने पर अवसर लागत जानने के लिए मुद्रा का उपयोग करना जरूरी हो जाता है। ऐसी दशा मे एक वस्तु के उत्पादन की अवसर लागत उस सर्वश्रेष्ठ वैकल्पिक वस्तु का मूल्य होती है जो उन्ही साधनो के उपयोग से उत्पन्न की जा सकती थी। अत. **अवसर लागत का प्रश्न तभी उत्पन्न होता है जब साधनो के वैकल्पिक उपयोग होते है।** यह समय के सन्दर्भ मे भी लागू की जा सकती है जैसे अध्ययन मे ज्यादा समय लगाने की लागत वह मनोरजन (recreation) है जिसका आनन्द उठाया जा सकता था, लेकिन जिसका अध्ययन के पक्ष में त्याग करना पडता है। यदि श्रमिक बेकार बैठे रहते और उनको काम दिया जाता तो ऐसी दशा मे श्रमिको की अवसर लागत कुछ भी नही होती। लेकिन उनको काम देने पर मजदूरी देनी होगी। लगान के सिद्धान्त मे हस्तान्तरण-आय (transfer-earning) का विचार अवसर लागत-सिद्धान्त या दृष्टिकोण मे ही निकलता है।

स्मरण रहे कि उत्पादन-सम्भावना वक्र पर इसके नतोदर (concave) होने के कारण एक वस्तु की समान मात्रा के बढाने पर दूसरी वस्तु में इसकी अवसर लागत उत्तरोत्तर बढती जाती है। जैसे खाद्य पदार्थ व वस्त्र दो वस्तुओं पर विचार करने पर शुरू मे 1 करोड टन खाद्यान्न की अवसर लागत, मान लीजिए, 25 लाख मीटर, उसके बाद 30 लाख मीटर आदि होती जायेगी। **इसे बढती अवसर-लागत का नियम कहा जाता है। इसी कारण उत्पादन-सम्भावना-वक्र नतोदर होता है।**

46 निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

(i) ब्याज की दर व बॉंड की कीमतो का सम्बन्ध

(ii) पूँजी की सीमान्त कार्यकुशलता

(iii) कीन्स के ब्याज के तरलता पसदगी सिद्धान्त का सार

(iv) लाभ, अनिश्चितता व जोखिम।

उत्तर—(i) ब्याज की दर व बॉंड की कीमतो का सम्बन्ध बॉंड मे पूँजी लगाने से स्थिर वार्षिक आमदनी प्राप्त होती है। मान लीजिए, 100 रु के बॉंड पर 12% की आय होती है। बाजार में कुछ कारणों से उस बॉंड की कीमत बढकर 120 रु हो जाती है, तो अब 120 रु के विनियोजन पर 12 रु की आमदनी होगी, जिससे ब्याज की दर घटकर $\left(\frac{12}{120} \times 100\right) = 10\%$

हो जायेगी। इसी प्रकार यदि बाजार में बॉड की कीमत घटकर 80 रु पर आ जाती है, तो ब्याज की दर $\left(\frac{12}{80} \times 100\right) = 15\%$ हो जाएगी। अत भविष्य में बॉड के भाव गिरने की सम्भावना होने से विनियोगकर्त्ता वर्तमान मे अपने पास नकद राशि रखना चाहेगा ताकि भविष्य मे बॉड के भाव गिरने पर उनकी खरीद कर सके और यदि भविष्य में बॉड के भाव बढने की सम्भावना होती है तो विनियोगकर्त्ता वर्तमान में अपने पास कम नक्द राशि रखेगा और बॉड खरीदने मे अधिक धनराशि लगाना चाहेगा। इस प्रकार ब्याज की दर व बाड की कीमतो मे विपरीत सम्बन्ध पाया जाता है।

(ii) पूँजी की सीमान्त कार्यकुशलता (MEC) बट्टे की वह दर (discount rate) होती है जो पूँजी की भावी प्राप्तियों के वर्तमान मूल्य को पूँजी के खरीद मूल्य के बराबर कर देती है (Marginal Efficiency of Capital is the rate of discount that will make the present value of the flow or receipts equal to the purchase price of the capital) मान लीजिए, एक मशीन की कीमत 100 रु है और वह केवल एक वर्ष काम देगी और बाद में बेकार हो जायगी। वर्ष में उससे 110 रु की राशि प्राप्त होती है, तो MEC ज्ञात कीजिए। हम MEC को e से सूचित करते हैं।

परिभाषा के अनुसार, $100 = \frac{110}{1 + e}$

अत $100 + 100\,e = 110$ (तिरछा गुणा करने पर)

$$100\,e = 10$$

$$e = \frac{1}{10} = 10\%$$

कई वर्षों तक प्रतिफल मिलने पर व्यापक सूत्र का प्रयोग करके MEC ज्ञात की जा सकती है। विनियोग तभी किया जाता है जब बट्टे की दर या MEC की दर ब्याज की दर से अधिक होती है। यह उस बिन्दु पर समाप्त हो जाता है जहाँ बट्टे की दर = ब्याज की दर हो जाती है। बट्टे की दर के ब्याज की दर से कम होने पर विनियोग नहीं किया जाएगा।

(iii) **कीन्स के ब्याज के तरलता-पसदगी सिद्धान्त का सार—कीन्स के अनुसार ब्याज वह कीमत है जो लोगो को तरलता या नकदी के त्याग के लिए दी जाती है।** लोग मुद्रा की माँग तीन कारणों से करते हैं (1) वस्तुओं व सेवाओं के लेन देन के लिए (इस पर आमदनी व व्यापार की दशाओं का अधिक प्रभाव पडता है), (2) अप्रत्याशित परिस्थितियों का सामना करने के लिए (इस पर व्यावसायिक दशाओं का अधिक प्रभाव पडता है) तथा (3) सट्टे के उद्देश्य (speculative motive) के लिए—भावी ब्याज

की दर के परिवर्तनों का लाभ उठाने के लिए। इसका ब्याज से गहरा सम्बन्ध होता है। ब्याज की दर मुद्रा की मांग के उद्देश्य या मांग व केन्द्रीय बैंक द्वारा की गई मुद्रा की पूर्ति से निर्धारित होती है। कीन्स के ब्याज के सिद्धान्त में केन्द्रीय बैंक व सरकार मुद्रा की पूर्ति को बढ़ाकर ब्याज की दर कम कर सकते हैं और मुद्रा की पूर्ति घटाकर ब्याज की दर बढ़ा सकते हैं। इस प्रकार मौद्रिक अधिकारी का ब्याज की दर पर काफी प्रभाव पड़ता है।

(iv) लाभ, अनिश्चितता व जोखिम—लाभ का अनिश्चितता का सिद्धान्त प्रोफेसर एफ. एच. नाइट ने दिया था। नाइट ने लाभ का कारण अनिश्चितता झेलना, अथवा अबीमायोग्य जोखिम उठाना बतलाया है। अबीमायोग्य जोखिमों में मांग की दशाओं के प्रति अज्ञानता या अनिश्चितता मुख्य होती है। व्यावसायिक हानियों का बीमा करवाना भी असम्भव होता है। लाभ का जोखिम का सिद्धान्त प्रोफेसर हॉले ने दिया था। जोखिमें चार प्रकार की होती हैं—(i) पुनर्स्थापन या मूल्य ह्रास (replacement or depreciation) की जोखिम, (ii) माल की बिक्री की जोखिम (iii) अनिश्चितता से उत्पन्न जोखिम, तथा (iv) मशीनों व उपकरणों के पुरानेपन की जोखिम। हॉले ने अपने सिद्धान्त में माल की बिक्री की जोखिम पर सर्वाधिक बल दिया है।

47 औसत लागत व सीमान्त लागत का सम्बन्ध बतलाइए।

उत्तर—जब औसत लागत घटती है तो सीमान्त लागत इससे नीचे रहती है (इसकी स्वयं की दर भले दूरी तक घटती रहे, हो सकता है कि कुछ दूरी तक बढ़े), सीमान्त लागत औसत लागत को इसके न्यूनतम बिन्दु पर काटती हुई ऊपर निकल जाती है। जब औसत लागत बढ़ती है तो सीमान्त लागत भी बढ़ती है और यह इससे ऊपर रहती है।

48 निम्न आँकड़ों का उपयोग करके सीमान्त-आगम उत्पत्ति (MRP) का कॉलम बनाइए तथा 26 रु. की साधन-कीमत पर इसकी मांग की मात्रा ज्ञात कीजिए—

साधन की मात्रा	कुल उत्पत्ति	वस्तु की कीमत (रु.)
1	40	3.20
2	100	3.00
3	180	2.70
4	250	2.50
5	310	2.10
6	360	1.80

उत्तर—

साधन की मात्रा (1)	कुल उत्पत्ति (TP) (2)	वस्तु की कीमत (रुपयो मे) (p) (3)	कुल आगम (TR)= (2) × (3) (4)	सीमान्त आगम उत्पत्ति (MRP) [कालम 4 से प्राप्त] (5)
1	40	3 20	128	128
2	100	3 00	300	172
3	180	2 70	486	186
4	250	2 50	625	139
5	310	2 10	651	26
6	360	1.80	648	–3

अत 26 रु साधन कीमत पर इसकी माँग की मात्रा 5 इकाई होगी जहाँ साधन की कीमत = साधन की सीमान्त आगम उत्पत्ति (*factor price – factor* MRP) होता है।

49 जहाँ उपभोक्ता को कुल उपयोगिता अधिकतम मिलती है वहाँ—

(अ) सीमान्त उपायेगिता बढती हुई होती है

(ब) सीमान्त उपयोगिता शून्य होती है

(स) सीमान्त उपयोगिता घटती हुई होती है

(द) सीमान्त उपयोगिता ऋणात्मक होती है। (ब)

50 *ब्याज का नवीनतम सिद्धान्त बताइए—*

(अ) कीन्स का तरलता पसदगी सिद्धान्त

(ब) उधारदेय कोष सिद्धान्त (स) हिक्स हेन्सन सिद्धान्त (स)

उच्चस्तरीय व प्रतियोगी परीक्षाओ के विद्यार्थियो के लिए कुछ और मिले-जुले रुचिप्रद प्रश्न मय-उत्तर सकेत नीचे दिए जाते है। इनमे सभी स्तरो के विद्यार्थी लाभ उठा सकते है।

51 *यदि लघु अवधि की सीमान्त लागत (SRMC) दीर्घ अवधि की सीमान्त लागत* (LRMC) के बराबर है तो—

(i) SRMC न्यूनतम है

(ii) LRMC न्यूनतम है

(iii) लघु अवधि का औसत लागत (SRAC) वक्र दीर्घ अवधि की औसत लागत वक्र (LRAC) को काटता है।

(iv) SRAC और LRAC एक दूसरे के tangent होते हैं। (iv)

59 पैमाने के स्थिर प्रतिफलों पर यदि सभी उत्पादन के साधनों को उनके सीमान्त उत्पादन के आधार पर प्रतिफल दिए जाएँ तो कुल उत्पादन होगा
(अ) साधन भुगतान की जोड के बराबर
(ब) साधन भुगतान की जोड से अधिक
(स) साधन भुगतान की जोड से कम
(द) विभिन्न साधनों में आपस में बराबर वितरण। (अ)

60 यदि किसी फर्म का माँग वक्र बाजार का माँग वक्र ही है तो वह फर्म—
(अ) कीमत ग्रहीता है (ब) एकाधिकारी है
(स) द्वयाधिकारी है (द) पूर्ण प्रतिस्पर्धी है। (ब)

61 एक एकाधिकारी के लिए मूल्य विभेद की सबसे ज्यादा आवश्यक शर्तें कौन सी हैं—
(अ) वस्तु के लिए स्थानापन्नों का अभाव
(ब) वस्तु के लिए माँग का बेलोच होना
(स) ग्राहक की अज्ञानता व सुस्ती
(द) विभिन्न बाजारों में उत्पादन के लिए माँग की विभिन्न लोचें (द)

62 यदि समोत्पत्ति वक्र L-आकृति का हो तो दो साधन होते हैं—
(अ) अपूर्ण स्थानापन्न (ब) पूर्ण स्थानापन्न
(स) अपूर्ण पूरक (द) एक दूसरे के पूर्ण पूरक (द)

63 एक फर्म का नियोजन वक्र (plannng curve) निम्न को सूचित करता है—
(अ) अल्पकालीन औसत लागत वक्र
(ब) अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र
(स) दीर्घकालीन औसत लागत वक्र
(द) लिफाफा या परिवेष्टन (envelope) वक्र (द)

64 कॉब डगलस उत्पादन फलन निम्नलिखित प्रतिस्थापन की लोच मान कर चलता है—
(अ) इकाई (ब) स्थिर
(स) इकाई से कम (द) इकाई से अधिक (अ)

65 दो पूरक पदार्थों में माँग की तिरछी लोच कैसी होती है?
(अ) ऋणात्मक (ब) धनात्मक
(स) इकाई (द) शून्य (अ)

66 जिस स्थान पर उत्पादन की औसत लागत उसकी सीमान्त लागत के बराबर होती है, वह कहलाता है—
(अ) 'उत्पादन बद करो' (shut down point)
(ब) न लाभ न हानि बिन्दु (break even)

(स) अनुकूलतम उत्पादन (optimum output)

(द) पूर्ण क्षमता का उत्पादन (*full capacity output*) (स)

67 निम्नलिखित में से कौन सा सिद्धान्त ब्याज की दर का नव क्लासिकल सिद्धान्त कहलाता है?

(अ) हिक्स हेन्सन सिद्धान्त (ब) तरलता पसन्दगी

(स) समय पसन्दगी सिद्धान्त (द) उधारदेय कोष सिद्धान्त (द)

68 गैर विशिष्ट साधन जो अनेक उपयोगों में लगाये जा सकते हैं वे अर्जित कर सकते हैं—

(अ) भारी मात्रा में लगान (ब) कम मात्रा में लगान

(स) कोई लगान नहीं (द) सम्पूर्ण लगान (ब)

69 लगान का आधुनिक सिद्धान्त किसने विकसित किया?

(अ) जे एम कीन्स (ब) एल्फ्रेड मार्शल

(स) जोन रोबिन्सन (द) डी एच रोबर्टसन (स)

70 अल्पकाल में फर्म की उत्पत्ति बढने से कौन सी लागत सदैव घटेगी?

(अ) औसत परिवर्तनशील लागत

(ब) औसत स्थिर लागत

(स) औसत स्थिर व परिवर्तनशील लागत

(द) इनमें से कोई नहीं (ब)

71 एक अल्पकालीन प्रतिस्पर्धात्मक फर्म का पूर्ति वक्र निम्नलिखित के समान होता है—

(अ) सीमान्त लागत वक्र

(ब) औसत परिवर्तनशील लागत वक्र

(स) सीमान्त लागत वक्र का वह भाग जो AVC के समान या इससे अधिक होता है

(द) औसत कुल लागत वक्र (स)

72. औसत कुल लागत और औसत परिवर्तनशील लागत का अन्तर उत्पत्ति के बढने के साथ साथ—

(अ) बढता है (ब) स्थिर रहता है

(स) घटता है (द) सभी सम्भव हैं (स)

73 यदि A वस्तु की कीमत बढती है और B की माँग बढती है तो—

(अ) A व B स्थानापन्न वस्तुएँ हैं

(ब) A व B पूरक वस्तुएँ हैं

(स) A वस्तु B वस्तु से घटिया है

(द) A वस्तु B वस्तु से उत्तम है (अ)

74 यदि x व y वस्तुओं की निम्न उपयोगिता अनुसूचियाँ दी हुई हैं

MUx	11	10	9	8	7	6
MUy	19	17	15	13	12	10

दोनों वस्तुओं की कीमत 1 रु. प्रति इकाई हो तो बताओ दसवाँ रुपया किस वस्तु पर खर्च किया जाएगा?

(अ) x वस्तु (ब) y-वस्तु

(स) x व y दोनों (द) किसी भी पर भी नहीं (अ)

75 घटिया वस्तुओं में निम्न स्थिति पायी जाती है—

(अ) प्रतिस्थापन प्रभाव ऋणात्मक लेकिन आय-प्रभाव धनात्मक

(ब) प्रतिस्थापन प्रभाव धनात्मक लेकिन आय-प्रभाव ऋणात्मक

(स) आय प्रभाव व प्रतिस्थापन-प्रभाव दोनों ऋणात्मक

(द) आय प्रभाव व प्रतिस्थापन प्रभाव दोनों धनात्मक (ब)

76 x व y में पूर्ण स्थानापन्नता के लिए निम्न शर्त होती है—

(अ) MRSxy बढ़ता हुआ होता है

(ब) MRSxy घटता हुआ होगा

(स) MRSxy स्थिर होगा

(द) MRSxy शून्य होगा (स)

77 तटस्थता वक्रों में निम्न में से कौन सी विशेषता/विशेषताएँ नहीं होतीं?

(अ) ये गोलाकार (circular) होती हैं

(ब) ये मूल बिन्दु के उन्नतोदर (convex) होते हैं।

(स) ये एक-दूसरे के समानान्तर (parallel) होती हैं

(द) ये एक-दूसरे को काटती नहीं। (अ एवं स)

78 x व y वस्तुओं में पूर्ण पूरकता की निम्न शर्त होती है—

(अ) MRSxy शून्य होगी

(ब) MRSyx शून्य होगी

(स) MRSxy व MRSyx दोनों शून्य होंगी

(द) कोई भी शर्त लागू नहीं होगी। (स)

79 न्यूनतम लागत संयोग की शर्त छाँटिए—

(अ) MRTSxy > Px/Py (ब) MRTSxy = MRTSyx

(स) MRTSxy = Px/Py (द) MRTSxy < Px/Py (स)

80 निम्नलिखित म मे कौन सा वक्र आयताकार हाइपरबोला होता है ?

(अ) ATC (ब) AFC

(स) AVC (द) MC (ब)

81 पूर्ण प्रतिस्पर्धात्मक दशाओं में एक फर्म की सीमान्त आय उत्पत्ति (MRP) ज्ञात करें—

(अ) स्वय MPP (सीमान्त भौतिक उत्पत्ति)

(ब) MPP × वस्तु की कीमत

(स) दोनों नहीं (ब)

82 आभास लगान छाटिए—

(अ) कीमत – AVC (ब) कीमत – AFC

(स) कीमत – AC (द) कीमत – MC (अ)

83 पूर्ण प्रतिस्पर्धा में एक फर्म उस समय सन्तुलन में होती है जब,

(अ) MC = MR,

(ब) MC वक्र MR को नीचे से काटे/बायीं ओर से काटे,

(स) MR को काटते समय MC बढ़ता हुआ हो

(द) सभी शर्तें (अ) तथा (ब)

84 एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा की शर्त छाटिए—

(अ) अनेक उत्पादक

(ब) वस्तु विभेद

(स) अनेक उत्पादक व वस्तु विभेद

(द) अत्यधिक विज्ञापन व्यय (स)

85 y के लिए x के प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRTSxy) बतलाती है—

(अ) x की एक अतिरिक्त इकाई प्राप्त करने के लिए उपभोक्ता y की कितनी इकाइयों का परित्याग करने को तत्पर होगा, ताकि वह उसी तटस्थता वक्र पर बना रह सके।

(ब) y की एक अतिरिक्त इकाई प्राप्त करने के लिए उपभोक्ता x की कितनी इकाइयों का परित्याग करने को तत्पर होगा, ताकि वह उसी तटस्थता वक्र पर बना रह सके। (अ)

86 एक उपभोक्ता का माँग वक्र निम्न में से किस वक्र से ज्ञात किया जा सकता है ?

(अ) आय उपभोग वक्र (ब) एंजिल वक्र

(स) कीमत-उपभोग वक्र (द) इनमें किसी से भी नहीं (स)

87 यदि कीमत-उपभोग वक्र का ढाल शून्य हो तो वस्तु की माँग की लोच क्या होगी?

(अ) बेलोच (ब) इकाई लोचदार

(स) लोचदार (द) शून्य लोच (ब)

88 y साधन के लिए x साधन की तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRTSxy) निम्न में से कौन सी होती है (एक समोत्पत्ति वक्र पर)—

(अ) x साधन की एक अतिरिक्त इकाई के लिए y साधन की त्यागी जाने वाली इकाइयाँ

(ब) y साधन की एक अतिरिक्त इकाई के लिए x साधन की त्यागी जाने वाली इकाइयाँ (अ)

89 माँग के विस्तार (expansion) का अर्थ है—

(अ) माँग वक्र का ऊपर खिसक जाना

(ब) एक ही माँग वक्र पर कीमत के घटने पर माँग की मात्रा का बढना (ब)

90 माँग में वृद्धि (increase in demand) किसे कहते हैं—

(अ) माँग वक्र का ऊपर खिसकना

(ब) एक ही माँग वक्र पर कीमत के घटने पर माँग की मात्रा का बढना (अ)

91 वितरण का सिद्धान्त किससे सम्बन्ध रखता है?

(अ) आय के वैयक्तिक वितरण (personal distribution) से

(ब) आय के कार्यात्मक वितरण (functional distribution) से

(स) आय के क्षेत्रवार वितरण (sectoral distribution) से

(द) आय के प्रादेशिक वितरण (regional distribution) से (ब)

92 माँग का सकुचन (Contraction) किसे कहते हैं?

उत्तर—एक ही माँग वक्र पर कीमत के बढने पर माँग की मात्रा का घटना माँग का सकुचन कहलाता है।

93 VMP (सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य) व MRP (सीमान्त आय उत्पत्ति) कब एक दूसरे के बराबर होते हैं?

उत्तर—वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा के पाये जाने पर।

94 माँग में कमी (decrease in demand) किसे कहते हैं?

उत्तर—माँग वक्र का नीचे खिसकना माँग में कमी कहलाता है। इस स्थिति में पूर्व कीमत पर माँग की मात्रा में कमी आ जाती है।

95 प्रत्यक्ष माँग व व्युत्पन्न माँग का अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—प्रत्यक्ष माँग अन्तिम वस्तु (final goods) की माँग को कहते हैं। व्युत्पन्न माँग (derived demand) उत्पादन के साधन की माँग को कहते हैं जो अन्तिम

वस्तु की माँग से उत्पन्न होती है जिसके निर्माण में यह साधन प्रयुक्त किया जाता है। फिल्म की माँग अन्तिम वस्तु की माँग होती है, जबकि अभिनेता/अभिनेत्री की माँग व्युत्पन्न-माँग होती है, और यह फिल्मों की माँग पर निर्भर करती है।

96. अवसर लागत (opportunity cost) का अर्थ लिखिए।

उत्तर—यह किसी भी उत्पादन के साधन की अपने सर्वश्रेष्ठ वैकल्पिक उपयोग में अर्जित की जा सकने वाली राशि होती है। अर्थशास्त्री किसी भी उत्पादन के साधन की 'अवसर लागत' को ज्यादा महत्त्व देते हैं जबकि लेखाकार (accountant) लागत का हिसाब लगाते समय केवल चुकायी जाने वाली नकदी लागतों को ही महत्त्व देते हैं। लागत लाभ-विश्लेषण में अवसर लागत की अवधारणा का व्यापक रूप से प्रयोग किया जाता है। इस सम्बन्ध में 'निजी अवसर लागत' तथा 'सामाजिक अवसर लागत' दोनों का महत्त्व माना गया है। इस पर अधिक विस्तार से पहले भी प्रकाश डाला जा चुका है।

97. उपभोक्ता की बचत व उत्पादक की बचत का अर्थ बतलाइए तथा पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में इन्हें एक चित्र पर एक साथ दर्शाइए।

उत्तर—**उपभोक्ता की बचत**—एक उपभोक्ता एक वस्तु की खरीदी जाने वाली मात्रा के लिए जितनी राशि दे सकता है और वास्तव में जितनी राशि देता है, इनका अन्तर 'उपभोक्ता की बचत' कहलाता है।

उत्पादक की बचत—एक वस्तु की किसी भी दी हुई मात्रा के लिए उत्पादक जो कुल राशि वास्तव में प्राप्त करते हैं, और जो न्यूनतम राशि वे स्वीकार करने को तैयार हो जाते, इन दोनों का अंतर उत्पादक की बचत कहलाती है। रेखाचित्र पर यह पूर्ति (सीमान्त लागत) वक्र से ऊपर व बेची जाने वाली मात्रा के मूल्य से नीचे के क्षेत्र में ज्ञात की जाती है, जैसा कि निम्न चित्र में पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में दर्शाया गया है।

स्पष्टीकरण—OX-अक्ष पर वस्तु की मात्राएँ व OY-अक्ष पर कीमत मापी गई है। DD व SS का सन्तुलन E बिन्दु पर होता है। अत: EM अथवा 4
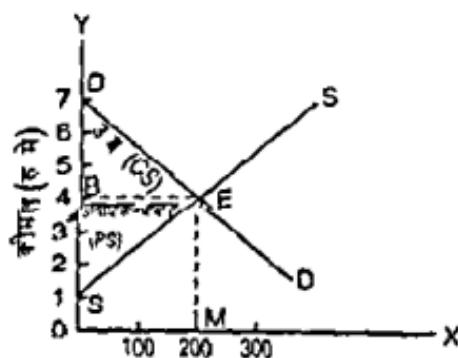
चित्र 1—उपभोक्ता व उत्पादक की बचतें

रुपये सन्तुलन कीमत पर वस्तु की मात्रा OM, अथवा 200 इकाई होती है। कुल कीमत OBEM = 200 × 4 = 800 रुपये होती है, जो उपभोक्ता वास्तव में देते हैं और उत्पादक वास्तव में प्राप्त करते हैं।

उपभोक्ता की बचत = BDE क्षेत्र के बराबर होती है, जो 200 × 3/2 = 300 रुपये के बराबर होती है, *अर्थात् उपभोक्ता 1100 रुपये दे सकते थे और* 800 रुपये देते हैं। अत यहा उपभोक्ता की बचत 300 रुपये के बराबर होती है।

उत्पादक की बचत—यह BES क्षेत्रफल के बराबर होती है जो 200×3/2=300 रुपये है। यह क्षेत्रफल कीमत से नीचे व पूर्ति की रेखा से ऊपर की दूरी के बीच मे स्थिर होता है। इस प्रकार पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा मे एक ही चित्र पर उपभोक्ता की बचत व उत्पादक की बचत एक साथ दर्शाये जा सकते हैं।

98 चित्रों की सहायता से पैमाने के स्थिर, वर्धमान व ह्रासमान प्रतिफल समझाइए।

उत्तर—जब उत्पादन के साधनों को दुगुना करने से उत्पत्ति दुगुनी होती है, तो पैमाने के समान प्रतिफल माने जाते हैं, यदि उत्पत्ति दुगुनी से अधिक होती है तो वर्धमान प्रतिफल माने जाते है और यदि उत्पत्ति दुगुनी से कम होती है तो ह्रासमान प्रतिफल माने जाते है। ये तीनों स्थितियाँ क्रमश अग्र चित्रों में दर्शायी गयी हैं।
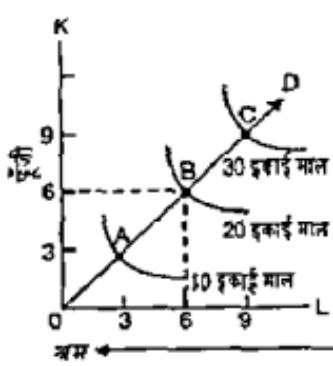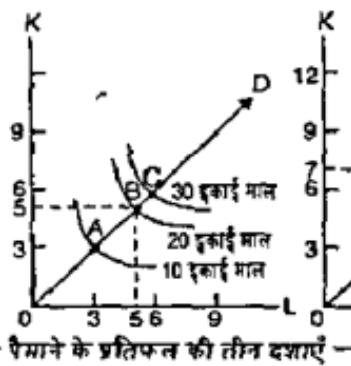
चित्र 2 (अ) (समान प्रतिफल) चित्र 2 (आ) (वर्धमान प्रतिफल) चित्र 2 (इ) (ह्रासमान प्रतिफल)
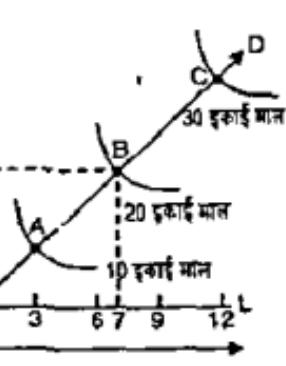
स्पष्टीकरण—ऊपर चित्र 2 (अ) मे पैमाने के समान प्रतिफल (Constant returns to scale) की स्थिति है। श्रम व पूँजी के 3 से 6 इकाई (प्रत्येक साधन के) अर्थात् दुगुना होने से उत्पत्ति 10 इकाई से 20 इकाई (दुगुनी) साधनों के 3 से 9 इकाई होने पर अर्थात तिगुना होने मे उत्पत्ति 30 इकाई, अर्थात् तिगुनी हो जाती है, जिससे यह पैमाने के समान प्रतिफल की स्थिति है।

चित्र 2 (आ) मे पैमाने के वर्धमान प्रतिफल की स्थिति दर्शाई गई है। यहां श्रम व पूँजी के 3 इकाई से 5 इकाई (दुगुने से कम) होने पर, उत्पत्ति दुगुनी 10 इकाई से 20 इकाई हो जाती है। दूसरे शब्दों में यहाँ उत्पत्ति में आनुपातिक वृद्धि साधनो की आनुपातिक वृद्धि से अधिक होती है।

चित्र 2 (इ) में पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल की स्थिति है। यहाँ श्रम व पूंजी के 3 इकाई से 7 इकाई हो जाने से (दुगुने से ज्यादा) उत्पत्ति 10 से 20 इकाई (दुगुनी) हो जाती है। इस प्रकार उत्पत्ति की आनुपातिक वृद्धि साधनों की आनुपातिक वृद्धि से कम होती है। OX अक्ष व OY अक्ष पर क्रमश: श्रम व पूंजी की मात्राएँ अंकित करने से समोत्पत्ति वक्रों पर उत्पत्ति से तुलना करने से समस्त स्थिति आसानी से स्पष्ट हो जाती है।

99 उपभोग की बाह्यताओं (externalities in consumption) व उत्पादन की बाह्यताओं (externalities in production) में अन्तर करिए।

उत्तर—उपभोग की बाह्यताओं में एक उपभोक्ता द्वारा एक वस्तु के उपभोग का प्रभाव दूसरों के कल्याण पर देखा जाता है। यह धनात्मक (positive) भी हो सकता है और ऋणात्मक (negative) भी। धनात्मक में हम फूलों का उदाहरण ले सकते हैं जो एक व्यक्ति के द्वारा खरीदे जाने पर दूसरों को भी आनन्द देते हैं। ऋणात्मक प्रभाव में हम पास में बैठे व्यक्ति द्वारा सिगरेट पीने से यदि हमको सिगरेट का धुआँ अच्छा नहीं लगे तो हमारे पर पड़ने वाले विपरीत प्रभाव को ले सकते हैं। उत्पादन की बाह्यताओं में एक वस्तु के उत्पादन से दूसरी वस्तुओं की उत्पादन-सम्भावनाओं पर पड़ने वाले प्रभाव को ले सकते हैं। यह भी धनात्मक व ऋणात्मक हो सकता है। धनात्मक में हम बगीचे के फलों के पेड़ ले सकते हैं जिनके पास शहद का उत्पादन भी सम्भव हो सकता है। ऋणात्मक में हम एक उत्पादक द्वारा पानी गंदा करने की क्रिया को ले सकते हैं, जिसके कारण दूसरे उत्पादक को उस पानी का प्रयोग करने से पूर्व उसे साफ करने की व्यवस्था करनी पड़ती है।

100 एक उपभोक्ता बाजार में जो कीमत देता है वह है—

(1) उस वस्तु से प्राप्त उपयोगिता के बराबर

(2) वह कीमत जो माँग व पूर्ति के द्वारा तय होती है

(3) उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता के बराबर होती है

(4) सरकार द्वारा निश्चित की गई कीमत के बराबर होती है (2)

101. किसी वस्तु की माँग अनुसूची बनाने में किसको स्थिर नहीं माना जाता—

(1) पूरक वस्तु की कीमत को

(2) स्थानापन्न वस्तु की कीमत को

(3) उत्पादन के साधनों की कीमतों को

(4) वस्तु की स्वयं की कीमत को (4)

102 एक निकृष्ट वस्तु वह है—

(1) जिसका माँग वक्र बेलोचदार हो

(2) उपभोक्ता की वास्तविक आय में वृद्धि से इसकी माँग कम हो जाती है

(3) जिसका निर्माण उत्पादन के निकृष्ट साधनों द्वारा किया गया हो
(4) जिसका निर्माण उत्पत्ति ह्रास नियम के अन्तर्गत किया गया हो (2)

103 तटस्थ वक्र का ढाल इंगित करता है—
(1) तटस्थता का स्तर
(2) कीमत अनुपात
(3) प्रतिस्थापन की घटती सीमान्त दर
(4) उपभोक्त में से कुछ भी नही (3)

104 सीमान्त उपयोगिता को जिस सूत्र से ज्ञात किया जा सकता है वह है—
(1) $MU_n = TU_n - TU_{n-1}$
(2) $MU_n - TU_n + TU_{n-1}$
(3) $MU_n = MU_1 + MU_2 + MU_n$
(4) $MU_n = MU_1 = MU_2 = MU_3$ MU_n (1)

105 आय वितरण मापा जाता है निम्न वक्र की सहायता से—
(1) फिलिप्स वक्र (2) लोरेन्ज वक्र
(3) मार्शल वक्र (4) लेफर वक्र (2)

106 एक फर्म की कुल स्थिर लागत 1,800 रु है। यदि उत्पादन के किसी स्तर पर औसत कुल लागत प्रति इकाई 15 रु है एव परिवर्तनशील औसत लागत प्रति इकाई 9 रु है तो उत्पादन का स्तर होगा—
(1) 300 (2) 600
(3) 200 (4) 900 (1)
(औसत स्थिर लागत (15 − 9) = 6 रु का 1 800 रु में भाग देने पर)

107 निम्न सूचना उपलब्ध है—

वस्तु	मात्रा	कीमत	सीमान्त उपयोगिता
Y	40	35	7
Z	30	55	–

यह परिकल्पना करते हुए कि एक उपभोक्ता Y व Z वस्तु से उपयोगिता अधिकतम करना चाहता है, Z वस्तु से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता है—
(1) 9 (2) 11
(3) 25 (4) 10 (2)
(सकेत $\frac{MU_y}{P_y} = \frac{MU_z}{P_z} = \frac{7}{35} = \frac{MU_z}{55}$ अत $MU_z = 11$ होगी)

108 आयताकार अतिपरवलय वक्र की लोच बराबर है—

(1) एक (2) एक से कम

(3) एक से ज्यादा (4) पता नहीं (1)

109 अन्य बातें समान रहने पर पूर्ति में वृद्धि का कारण होता है—

(1) वस्तु की कीमत में वृद्धि (2) उत्पादन तकनीक में सुधार

(3) उपभोक्ता की आय में वृद्धि (4) विक्रेता की आय में वृद्धि (1)

110 एक माँग वक्र का सम्बन्ध किससे नहीं है ?

(1) वस्तु की कीमत (2) समय अन्तराल

(3) प्रतिस्थापन वस्तु की कीमत (4) दिया हुआ बाजार (3)

111 MC = MR = AC = AR द्वारा दीर्घकालीन सन्तुलन प्रकट होता है—

(1) प्रतियोगी फर्म का (2) अल्पाधिकारी फर्म का

(3) एकाधिकारी फर्म का (4) इनमें से कोई नहीं (1)

112. मजदूरी कोष सिद्धान्त का प्रतिपादन किया—

(1) प्रकृतिवादी अर्थशास्त्री (2) जे एम मिल

(3) वाकर (4) मार्शल (2)

113 पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में श्रम की माँग उस सीमा तक की जाएगी जहाँ इसकी सीमान्त उत्पादन क्षमता—

(1) शून्य होगी

(2) मजदूरी के बराबर होगी

(3) औसत आय उत्पादकता के बराबर होगी

(4) उपभोक्ता में से कोई नहीं (2)

114 ब्याज की दरों में भिन्नता के निम्न में से उत्तरदायी है—

(1) मुद्रा की कमी (2) जोखिम की भिन्नता

(3) उत्पादकता में भिन्नता (4) मुद्रा के विभिन्न उपयोग (2)

115 उत्पादन बन्द बिन्दु पर—

(1) P = AVC

(2) TR = TVC

(3) फर्म की हानि TFC के बराबर होगी

(4) उपरोक्त सभी (4)

116 कुल उत्पाद अधिकतम तब होगा, जब—

(1) सीमान्त उत्पाद अधिकतम हो

(2) सीमान्त और औसत उत्पाद बराबर हों

(3) सीमान्त उत्पाद शून्य हो
(4) सीमान्त उत्पाद गिरना शुरू हो (3)

117 कीमत विभेद सम्भव है जब—
(1) भिन्न भिन्न बाजारों में माँग की भिन्न भिन्न लोच हो
(2) भिन्न भिन्न बाजारों में माँग की समान लोच हो
(3) बाजार में बहुत अधिक उत्पादनकर्त्ता हों
(4) बाजार मे बहुत अधिक क्रेता हों (1)

118 मध्यवर्ती वस्तु वह वस्तु होती है जो एक व्यापारिक इकाई द्वारा दूसरे को बेची जाती है—
(1) प्रयोग के लिए
(2) बिक्री के लिए
(3) पुन ससाधन के लिए
(4) भविष्य में बिक्री हेतु स्टॉक के लिए (3)

119 निम्न में से किस स्थिति में एक एकाधिकारी अधिकतम लाभ प्राप्त करेगा—

	सीमान्त आय (MR) (रु)	सीमान्त लागत (MC) (रु)	
(1)	2 00	1 00	
(2)	2 00	2.50	
(3)	2.40	2.40	
(4)	3 00	1.50	(MR = MC) (3)

120 एक फर्म अल्पकाल में उत्पादन करती रहेगी, यदि
(1) TR कम है TC से
(2) TR कम है स्थायी लागत से
(3) AR या p ज्यादा है AVC से
(4) MR कम है AR से (3)

121 निम्न में से कौन सा वक्र U आकार का नहीं है—
(1) AFC वक्र (2) AVC वक्र
(3) AC वक्र (4) MC वक्र (1)

122 सीमान्त लागत न्यूनतम होगी जब—
(1) कुल उत्पादन अधिकतम होगा
(2) उत्पादन के साधनों का सयोग श्रेष्ठतम होगा

(3) गतिशील साधनों का औसत उत्पादन अधिकतम होगा

(4) गतिशील साधनो का सीमान्त उत्पादन अधिकतम होगा (4)

123 निम्न में से ऐसा क्या है जो एक एकाधिकारी नही कर सकता—

(1) मिलावट (2) ऊँची कीमत पर अधिक बिक्री

(3) कीमतों में वृद्धि (4) पूर्ति पर प्रतिबन्ध (2)

124 उत्पादनकर्त्ता की बचत है निम्न में अन्तर के बराबर—

(1) कीमत एव सीमान्त लागत

(2) औसत आय एव सीमान्त आय

(3) सीमान्त लागत एव सीमान्त आय

(4) औसत आय एव कुल आय (1)

125 द्विपक्षीय एकाधिकार का अर्थ है—

(1) सिफ दो प्रतिद्वन्द्वी विक्रेता

(2) सिफ दो प्रतिद्वन्द्वी क्रेता

(3) एक एकाधिकारी (monopolist) का एक क्रेता एकाधिकारी (monopsonist) से सामना

(4) एक एकाधिकारी क्रेता अपनी आगतें जब दो पूर्तिकर्ताओं से खरीदे (3)

126 पैमाने के बढते हुए प्रतिफल की दशा में एक फर्म का सन्तुलन असगत है, यदि बाजार—

(1) अपूर्ण प्रतिस्पर्धी है (2) अल्पाधिकारी है

(3) एकाधिकारी है (4) पूर्ण प्रतियोगी है (4)

127 सबसे अधिक कुशल फर्म की निम्नतम होती है—

(1) सीमान्त लागते (2) औसत लागतें

(3) स्थिर लागतें (4) परिवर्तनशील लागतें (2)

128 अर्थशास्त्र के अध्ययन का प्रारम्भिक बिन्दु है—

(1) उत्पादन (2) उपभोग

(3) सीमितता (4) वितरण (3)

129 वह विषय जो व्यष्टि अर्थशास्त्र में सम्मिलित नहीं है—

(1) कल्याणकारी अर्थशास्त्र (2) कीमत सिद्धान्त

(3) मुद्रा प्रसार (4) व्यक्तिगत निर्णयों के द्वारा चुनाव (3)

130 वह अर्थशास्त्री जिसे नोबल पुरस्कार नही मिला—

(1) साईमन कुजनेटस (2) केनेथ जै ऐरो

(3) गुन्नार मिर्डल (4) जे एस मिल (4)

131 पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म का अल्पकालीन पूर्ति वक्र होता है—
(1) बाजार कीमत पर क्षैतिज
(2) औसत परिवर्तनशील लागत (AVC) का वह भाग जो औसत स्थिर लागत (AFC) से ऊपर होता है
(3) सीमान्त लागत वक्र (MC) का वह भाग जो औसत परिवर्तनशील लागत वक्र (AVC) से ऊपर होता है
(4) सीमान्त लागत वक्र (MC) का वह भाग है जो औसत स्थिर लागत (AFC) से ऊपर होता है (3)

132 अन्य बातों के समान रहने पर, एक वस्तु की कीमत में वृद्धि होने पर—
(1) माँग में वृद्धि होती है
(2) माँग में कमी होती है
(3) माँगी गई मात्रा में वृद्धि होती है
(4) माँगी गई मात्रा में कमी होती है (4)

133 एक वस्तु की कीमत में परिवर्तन होने पर उसकी मागी गई मात्रा अपरिवर्तित रहने पर, माँग की कीमत लोच का गुणाक होता है—
(1) एक से ज्यादा (2) एक से कम
(3) शून्य (4) अनन्त (3)

134 गिफिन वस्तु के लिए एन्जिल वक्र होता है—
(1) ऋणात्मक ढाल लिए हुए (2) धनात्मक ढाल लिए हुए
(3) उदग्र (4) क्षैतिज (1)

135 माँग की आय लोच ऋणात्मक होने पर, जैसे आय घटती है वस्तु की खरीदी गई मात्रा—
(1) गिरती है (2) बढ़ती है
(3) अपरिवर्तित रहती है (4) गिरती व बढती दोनों ही (2)

136 दोनों अक्षों की ओर बढ़े हुए एक सीधी रेखा वाले माँग वक्र के लिए कीमत उपभोग वक्र—
(1) बराबर गिरता है (2) बराबर बढता है
(3) बढता है फिर गिरता है (4) गिरता है फिर बढता है (4)

[सकेत माँग वक्र के मध्य बिन्दु से ऊपर कीमत लोचदार होती है जिससे PCC गिरती है, तथा इसके मध्य बिन्दु से नीचे कीमत बेलोच होती है, अत PCC बढती है, देखिए साल्वेटोर, माइक्रो-इकोनोमिक थ्योरी, शॉम सिरीज, तृतीय स. 1992, पृ. 73, प्रश्न सख्या 10]

137 उत्पादन की द्वितीय अवस्था आरम्भ होती है जहाँ—

(1) AP_L गिरना आरम्भ करती है
(2) MP_L गिरना आरम्भ करती है
(3) MP_L अधिकतम होती है
(4) MP_L शून्य होती है (1)

138 श्रम की मात्रा को एक इकाई से बढ़ाने पर एक फर्म पूँजी की दो इकाइयों का त्याग करती है और फिर भी समान उत्पादन करती है, तब $MRTS_{LK}$ है—

(1) 1 (2) 1/2
(3) 2 (4) 3 (3)

139 यदि $MRTS_{LK}$ बराबर है 2 के तब $\frac{MP_K}{MP_L}$ बराबर है—

(1) 2 (2) 1/2
(3) 1 (4) 4 (2)

(संकेत $MRTS_{LK} = \frac{MP_L}{MP_K} = 2$, अत $\frac{MP_K}{MP_L} = \frac{1}{2}$)

140. कौनसा वक्र 'U' आकार का वक्र नहीं है—

(1) AVC (2) AC
(3) AFC (4) MC (3)

141. STC कभी भी LTC से कम नहीं हो सकती है। यह कथन—

(1) सदैव सत्य है (2) अधिकांशत सत्य है
(3) कभी-कभी सत्य है (4) कभी सत्य नहीं है (1)

[दी हुई उत्पत्ति की मात्रा का उत्पादन करने के लिए] अन्यथा (2)

142. अल्पकाल में, घटते हुए सीमान्त प्रतिफल से तात्पर्य है—

(1) बढ़ता हुआ AVC (2) बढ़ता हुआ AC
(3) गिरता हुआ MC (4) बढ़ता हुआ MC (4)

143. मूलबिन्दु से गुजरती हुई सीधी रेखा जहाँ कुल परिवर्तनशील लागत वक्र का स्पर्श करती है वहाँ—

(1) MC बराबर है AC के (2) MC बराबर है AFC के
(3) MC बराबर है AVC के (4) AC न्यूनतम है (3

144 एक पूर्ण प्रतिस्पर्धात्मक फर्म का माँग-वक्र—

(1) उदग्र होता है (2) क्षैतिज होता है
(3) ऋणात्मक ढाल लिए हुए (4) धनात्मक ढाल लिए हुए (2

145 आभास लगान को परिभाषित किया जा सकता है—

(1) TR – TVC (2) TR – TFC
(3) TR TC (4) TR – AC (1)

146 एक वस्तु जिसके निकट के प्रतिस्थापन न हों का अकेला विक्रेता उसकी विशेषता है—

(1) अल्पविक्रेताधिकार की (2) एकाधिकार की
(3) क्रेता एकाधिकार (4) द्वयाधिकार (2)

147 किसी भी उत्पादन के साधन का सीमान्त आगम उत्पाद (MRP) बराबर है—

(1) MPP × MR (2) MPP × P
(3) MPP × AR (4) ARP × MR (1)

148 "लाभ अनिश्चितता वहन करने का प्रतिफल है" यह कथन दिया गया है—

(1) जे बी क्लार्क द्वारा (2) ए सी पीगू द्वारा
(3) एफ एच नाइट द्वारा (4) जे शूम्पीटर द्वारा (3)

149 जब माँग वक्र लोचदार हो तब MR होगा—

(1) ऋणात्मक (2) शून्य
(3) इकाई के बराबर (4) धनात्मक (4)

150 जब दो वस्तुएँ पूर्ण प्रतिस्थापन हों तब MRS होगी—

(1) घटती हुई (2) स्थिर
(3) अस्थिर (4) बढ़ती हुई (2)

151 किसी भी वस्तु की आवश्यकता सन्तुष्ट करने की क्षमता को परिभाषित किया जा सकता है—

(1) माँग द्वारा (2) उपयोगिता द्वारा
(3) उपभोग द्वारा (4) उत्पादकता द्वारा (2)

152 उत्पाद बाजार में एक पूर्ण प्रतिस्पर्धात्मक फर्म के लिए केवल A साधन ही परिवर्तनशील साधन है, तब A साधन के लिए फर्म का माँग वक्र होगा—

(1) VMP वक्र (2) MP वक्र
(3) AP वक्र (4) MFC वक्र (1)

153 सन्तुलन की अवस्था में, उदासीनता वक्र का ढाल—

(1) बजट रेखा के ढाल के बराबर नहीं है
(2) बजट रेखा के ढाल के बराबर है

158 उपभोग के क्षेत्र में दो वस्तुओं में प्रतिस्थापन की लोच के निम्न सूत्र का प्रयोग करके दिए हुए आँकड़ों की सहायता से प्रतिस्थापन की लोच ज्ञात कीजिए—

$$\text{सूत्र} = \frac{d\left(\frac{x}{y}\right)}{x/y} \Big/ \frac{d\left(\frac{P_y}{P_x}\right)}{P_y/P_x}$$

x = डालडा घी तथा y = देशी घी लेने पर

	प्रारम्भ में (A)		बाद में (B)	
	x	y	x	y
माँग की मात्रा	3	2	5	1
कीमत	30	90	30	100

उत्तर—प्रतिस्थापन की लोच

$$= e_s = \sigma \frac{d\left(\frac{x}{y}\right)}{x/y} \Big/ \frac{d\left(\frac{P_y}{P_x}\right)}{P_y/P_x} = \frac{\left(\frac{3}{2} - \frac{5}{1}\right) \Big/ \frac{5}{1}}{\left(\frac{90}{30} - \frac{100}{30}\right) \Big/ \frac{100}{30}}$$

$$= \frac{-\frac{7}{2} \Big/ \frac{5}{1}}{-\frac{10}{30} \Big/ \frac{10}{3}} = \frac{-7/10}{-1/10} = 7$$

[यहाँ हम B से A पर जाते हैं, अत सूत्र के हर (denominator) में ऊपर $\frac{x}{y} = \frac{5}{1}$ तथा नीचे $\frac{P_y}{P_x} = \frac{100}{30}$ लेते हैं। ऊपर के सूत्र में x के स्थान पर y व y के स्थान पर x बदलने पर नया सूत्र लगाने से भी यही परिणाम आयेगा। इस प्रकार का एक उदाहरण माँग की लोच के अध्याय में दिया गया है।]

159 प्रतिस्थापन की लोच निम्न का माप दर्शाती है—

(1) Y की कीमत में परिवर्तन होने पर X की मात्रा में परिवर्तन

(2) Y की कीमत में परिवर्तन होने पर Y की मात्रा में परिवर्तन

(3) P_y/P_x में परिवर्तन होने पर X/Y में परिवर्तन

(4) P_y/P_x में परिवर्तन होने पर Y/X में परिवर्तन (3)

160 माँग वक्र का ढलान किस स्थिति में ऊपर होता है?

(1) टिकाऊ उपयोग की वस्तुएँ (2) आम वस्तुएँ

(3) गिफिन वस्तुएँ (4) सार्वजनिक उपयोगी वस्तुएँ (3)

161 सूची I का सूची II से मिलान कीजिए—

सूची I	सूची-II
अर्थशास्त्री	कार्यक्षेत्र
A आर जे चेल्लैया	a कृषि अर्थशास्त्र
B एस चक्रवर्ती	b नियोजन सिद्धान्त
C एक सेन	c कल्याण अर्थशास्त्र
D एम एल दातवाला	d राजकोषीय सिद्धान्त

(1) A b, B-a, C d, D c (2) A-d, B b, C-c, D-a
(3) A-d, B-c, C b, d-a (4) A-b, B-c, C a, D-b (2)

162 माना कि $\frac{MU_x}{P_x}$; $\frac{MU_y}{P_y}$ से अधिक होता है, तब उपभोक्ता अपनी उपयोगिता को अधिकतम करने हेतु—
(1) Y की अधिक मात्रा तथा X की कम मात्रा खरीदेगा
(2) Y की अधिक मात्रा तभी खरीदेगा जब उसकी कीमत घटती है
(3) X की कम मात्रा तभी खरीदेगा जब उसकी कीमत बढ़ती है
(4) X की अधिक मात्रा तथा Y की कम मात्रा खरीदेगा। (4)

163 कॉब डूगलस उत्पादन फलन $Q = AL^{\alpha}K^{\beta}$ में $(\alpha+\beta)$ का मूल्य होता है—
(1) तकनीकी (2) परिवर्ती साधन का प्रतिफल
(3) पैमाने के प्रतिफल (4) उत्पादन की कुशलता (3)

164 आर्थिक लगान के लिए कौन-से कथन सही हैं?
(1) यह केवल अल्प अवधि में हो सकता है
(2) घटकों में प्रतिस्थापन न होने का परिणाम है
(3) घटकों की बेलोच पूर्ति का परिणाम है
(4) यह केवल भूमि एव पूँजी साधनों को प्राप्त होता है
(1) क और घ (2) ख और ग
(3) क, ख और ग (4) क, ख, ग और घ (3)

165 जब एक गिफिन वस्तु की कीमत गिरती है, तो—
(1) ऋणात्मक आय प्रभाव < धनात्मक प्रतिस्थापन प्रभाव
(2) ऋणात्मक आय प्रभाव > धनात्मक प्रतिस्थापन प्रभाव
(3) ऋणात्मक आय प्रभाव = धनात्मक प्रतिस्थापन प्रभाव
(4) ऋणात्मक आय प्रभाव < ऋणात्मक प्रतिस्थापन प्रभाव (2)

166 एक उदासीनता मानचित्र मे नीचे की ओर ढलवा आय उपभोग वक्र दर्शाता है कि—

(1) क्षैतिज अक्ष पर मापी गई वस्तु घटिया वस्तु है

(2) अनुलम्ब अक्ष पर मापी गई वस्तु घटिया वस्तु है

(3) दोनों वस्तुएँ घटियाँ हैं

(4) कोई भी वस्तु घटिया नही है (2)

167 जब कीमत = सीमान्त आगम हो तब माँग की कीमत लोच होगी—

(1) शून्य (2) इकाई से अधिक

(3) इकाई से कम (4) अनन्त (4)

168 एक स्थिर गुणाक उत्पादन फलन का अर्थ है—

(1) निर्गत (output) के एक स्थिर स्तर के उत्पादन के लिए आगतों (inputs) को भिन्न अनुपातों में सयोजित किया जा सकता है

(2) निर्गत की एक इकाई के उत्पादन के लिए आगतों को एक स्थिर अनुपात मे सयोजित किया जाता है

(3) जब सभी आगतें एक ही अनुपात में परिवर्तित की जाती हैं तो निर्गत स्थिर रहता है

(4) जब आगतों की कीमतें बदलती हैं तो निर्गत का मूल्य स्थिर रहता है (2)

169 "पैमाने के प्रतिफल" से अभिप्राय है निर्गत पर निम्नलिखित का प्रभाव—

(1) सभी आगतों में समानुपातिक परिवर्तन

(2) अन्य आगतों के स्थिर रहते हुए, केवल एक आगत के प्रयोग में परिवर्तन

(3) कारखाने के भवन के साइज में परिवर्तन

(4) लाभ की दर में परिवर्तन (1)

170 अर्थशास्त्र मे 'प्रतिस्थापन की लोच" की अवधारणा को लाए—

(1) मार्शल (2) कीन्स

(3) हिक्स (4) सेमुअल्सन (3)

[हिक्स ने अपनी पुस्तक Theory of Wages, 1932 के पृ 289 पर]

171 "द्वैयात्मक एकाधिकार (bilateral monopoly) से अभिप्राय है—

(1) एक ही देश में दो एकाधिकारी एक दूसरे के समक्ष

(2) एक ही देश में दो एकल क्रेता एक दूसरे के समक्ष

(3) एक देश में एक एकाधिकारी दूसरे देश में एक एकल क्रेता के समक्ष

(4) एक एकाधिकारी एक एकल क्रेता के समक्ष (4)

172. समष्टि तथा व्यष्टि अर्थशास्त्र में अन्तर है, क्योंकि पहला सम्बन्धित है—
   (1) पूर्ण रोजगार से और दूसरा अल्प रोजगार से
   (2) सामूहिक स्तर के व्यवहार से और दूसरा इकाई स्तर के व्यवहार से
   (3) सार्वजनिक व्यवहार से और दूसरा स्थैतिक व्यवहार से
   (4) असन्तुलन की स्थितियों से और दूसरा सन्तुलन की स्थितियों से (2)

173. व्यष्टि अर्थशास्त्र का किससे सम्बन्ध है?
   (1) अर्थव्यवस्था में साधनों का विभिन्न वस्तुओं व सेवाओं के उत्पादन में आवंटन
   (2) वस्तुओं व सेवाओं की कीमतों का निर्धारण
   (3) उपभोक्ताओं द्वारा निर्णय लेना
   (4) सभी (4)

174. करारोपण के विषय में निम्न में से किस पहलू का सम्बन्ध आदर्शात्मक अर्थशास्त्र (normative economics) से है?
   (1) करापात (incidence of tax) का
   (2) कर का दान करने की क्षमता व इच्छा पर प्रभाव
   (3) कर में न्याय का प्रश्न
   (4) सभी (3)

175. एक सरल रेखा के माँग-वक्र के सम्बन्ध में जो दो अक्षों को मिलाता है, उस रेखा के मध्य-बिन्दु पर माँग की कीमत-लोच कितनी होगी?
   (1) 0 (2) 1
   (3) 1.5 (4) ∞ (2)

176. घटिया वस्तु के सम्बन्ध में माँग की आय-लोच होती है—
   (1) धनात्मक (2) शून्य
   (3) ऋणात्मक (4) अनन्त (3)

177. निम्न वस्तुओं में उपभोक्ता की बचत सर्वाधिक किसमें होती है?
   (1) अनिवार्यताएँ (2) आरामदेह वस्तुएँ
   (3) विलासिताएँ (4) घटिया वस्तुएँ
   (5) प्रतिष्ठामूलक वस्तुएँ (1)

178. गिफिन वस्तु में माँग-वक्र का आकार कैसा होगा और क्यों होगा?

उत्तर—(i) माँग-वक्र का ढाल धनात्मक होगा, अर्थात् माँग-वक्र ऊपर की ओर जाएगा,
   (ii) ऋणात्मक आय प्रभाव धनात्मक प्रतिस्थापन प्रभाव से ज्यादा प्रबल होगा, जिससे वस्तु की कीमत बढ़ने से उसकी माँग की मात्रा बढ़ेगी तथा कीमत के घटने पर उसकी माँग की मात्रा घटेगी।

179 तटस्थता वक्र विश्लेषण के माँग सिद्धान्त में निम्न में से कौन सी मान्यता नहीं होती—

(1) दो वस्तुओं के विभिन्न संयोगों के बीच अधिमानों का दिया हुआ पैमाना
(2) प्रतिस्थापन की घटती हुई सीमान्त दर
(3) मुद्रा की स्थिर सीमान्त उपयोगिता
(4) अन्य बातों के समान रहने पर, एक वस्तु की ज्यादा मात्रा उसकी कम मात्रा से ज्यादा पसन्द की जाएगी (3)

180 दो पूर्ण स्थानापन्न वस्तुओं के बीच प्रतिस्थापन की लोच होती है—

(1) शून्य (2) अनन्त
(3) इकाई के बराबर (4) इकाई से अधिक
(5) इकाई से कम (2)

181 समोत्पत्ति वक्र का दूसरा नाम है—

(1) एन्जिल वक्र (2) उत्पादन तटस्थता वक्र
(3) बजट रेखा (4) परिधि रेखा (ridge line) (2)

182 सीमान्त लागत का किस लागत से सम्बन्ध है—

(1) स्थिर लागत (2) परिवर्तनशील लागत
(3) स्पष्ट लागत (4) अस्पष्ट लागत
(5) कुल लागत (2)

183 विभेदात्मक एकाधिकार में एक एकाधिकारी द्वारा भिन्न भिन्न कीमतें ली जाती हैं—

(1) विभिन्न उपभोक्ताओं से (2) विभिन्न उपयोगों में
(3) विभिन्न स्थानों में (4) सभी से (4)

184 ब्याज के उधारदेय कोष सिद्धान्त में कौनसा तत्त्व आधारस्वरूप माना जाता है?

(1) मौद्रिक (2) मनोवैज्ञानिक
(3) तक्नीकी (4) मौद्रिक व गैर मौद्रिक (4)

185 निम्न में से ब्याज का नव क्लासिकल सिद्धान्त छाँटिए—

(1) तरलता पसदगी सिद्धान्त (2) त्याग का सिद्धान्त
(3) समय अधिमान सिद्धान्त (4) उधारदेय कोष सिद्धान्त (4)

186 यदि एक उपभोक्ता को 14 रु व्यय करने हों और X व Y दोनों वस्तुओं की कीमतें 2 रु प्रति इकाई हों, तथा उनकी सीमान्त उपयोगिताएँ निम्न प्रकार की हों तो इसे अधिकतम सन्तुष्टि के लिए X व Y की कितनी कितनी मात्राएँ खरीदनी चाहिए?

मात्रा	1	2	3	4	5	6	7
MU_x	15	12	10	6	4	2	1
MU_y	12	10	6	4	3	2	1

[x = 4 इकाई y = 3 इकाई सूत्र $\frac{MU_x}{P_x} = \frac{MU_y}{P_y}$]

187 दो समानान्तर (parallel) माँग वक्रों में एक वक्र दूसरे वक्र से दायीं तरफ कुछ दूरी पर स्थित है। बताइए कि इनमें माँग की लोच किस पर कम होगी?

उत्तर—दायीं तरफ कुछ दूरी पर स्थित माँग वक्र पर माँग की लोच अपेक्षाकृत इससे नीचे वाले माँग वक्र से कम होगी।

188 मान लीजिए उत्पादन फलन है $Q = 5\sqrt{LK}$, यहाँ

Q = उत्पत्ति की मात्रा

L = श्रम की मात्रा

K = पूँजी की मात्रा को सूचित करते हैं, यह उत्पादन फलन क्या दर्शाता है?

(1) पैमाने के समान प्रतिफल (2) पैमाने के वर्धमान प्रतिफल

(3) पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल (4) इनमें से कोई भी नहीं (1)

[संकेत

L	K	Q
1	1	5
2	2	10
3	3	15]

189 क्या इसी उत्पादन फलन ($Q = 5\sqrt{LK}$) में उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है?

उत्तर—हाँ

[संकेत पूँजी = K = 1 पर स्थिर रखकर श्रम की मात्रा बढ़ाने का परिणाम

श्रम	कुल उत्पत्ति (Q)	सीमान्त उत्पत्ति (MP_L)
1	5	5
2	$5\sqrt{2}$ = 7.07	2.07
3	$5\sqrt{3}$ = 8.66	1.59

यह घटने का क्रम जारी रहेगा। अतः यह उत्पादन फलन उत्पत्ति-ह्रास-नियम का सूचक है।]

190 दीर्घकालीन कुल लागत (LTC) वक्र मूलबिन्दु से ऊपर की ओर सीधी रेखा के रूप में कब होता है?

उत्तर—जब उत्पत्ति के सभी स्तरों पर पैमाने के समान प्रतिफल मिलते हैं।

191 उपर्युक्त स्थिति में LAC व LMC की आकृति कैसी होगी?

उत्तर—LAC = LMC होगी तथा LTC वक्र के स्थिर ढाल (constant slope) पर क्षैतिज (horizontal) होगी।

192 यदि एक प्रतिस्पर्धात्मक फर्म की स्थिर लागत 200 रु है और औसत परिवर्तनशील लागत 5 रु प्रति इकाई पर स्थिर है। फर्म 10 रु प्रति इकाई पर चाहे जितना माल बेच सकती है तो बताइए कि 'न लाभ-न हानि' की स्थिति में फर्म के माल की बिक्री कितनी होगी?

उत्तर—40 इकाई माल पर 'न लाभ न हानि' की स्थिति होगी, जहाँ TC = TR होगी।

माल की मात्रा	0	20	40	60	80
कुल लागत (TC) रु	200	300	400	500	600
कुल प्राप्तियाँ (TR) रु	0	200	400	600	800

193 एक एकाधिकारी फर्म के लिए निम्न तथ्य दिए हुए हैं—
2 इकाई माल उत्पादित करने पर MC = MR = 10 रु, इस पर AVC = 15 रु, AC = 30 रु तथा कीमत = 20 रु
बताइए यह फर्म अल्पकाल में कितना मुनाफा या घाटा उठाएगी।

उत्तर—(प्रति इकाई 10 रु का घाटा, कुल घाटा = 20 रु)

194 स्वीडन की रॉयल एकेडेमी ऑफ साइंसेज ने 1969 से 2001 तक 49 अर्थशास्त्रियों को अर्थशास्त्र में नोबल पुरस्कार वितरित किए। इनमें से अमेरीकी थे—

(1) 15 (2) 33
(3) 35 (4) 10
(5) कोई भी संख्या सही नहीं। (2)

195 1969-1980 तक के वर्षों में अर्थशास्त्र में नोबल पुरस्कार पाने वालों के वर्षवार नाम लिखिए।

उत्तर—1969 (1) Ragnar Frisch, (2) Jan Tinbergen
1970 Paul A. Samuelson
1971 Simon Kuznets
1972 (1) John R. Hicks (2) Kenneth J. Arrow
1973 Wassily Leontief

1974 (1) Gunnar Myrdal, (2) F.A. Von Hayek
1975 (1) Leonid Kartorovich, (2) Tjalling C. Koopmans
1976 Milton Friedman
1977 (1) Bertil Ohlin, (2) James Meade
1978 Herbert A. Simon
1979 (1) Theodore W. Schultz, (2) W. Arthur Lewis
1980 Lawrance R. Klein

196. 1981-1991 के दौरान में नोबल Laureate (अर्थशास्त्र) के नाम लिखिए।

उत्तर—1981 James Tobin
1982 George Stigler
1983 Gerard Debreu
1984 Richard Stone
1985 Franco Modigliani
1986 James Buchanan
1987 Robert M. Solow
1988 Maurice Allais
1989 Trygve Haavelmo
1990 (1) Harry M. Markowitz, (2) Merton H. Miller and (3) William F. Sharpe
1991 Ronald Coase, Chicago (British born Economist)

197. 1992-2001 तक अर्थशास्त्र में नोबल पुरस्कार विजेताओं के नाम राष्ट्रीयता व विशेष योगदान सहित लिखिए।

उत्तर—

वर्ष	नाम	किस देश से	विशेष योगदान का क्षेत्र
1992	Gary S. Becker	अमरीकी	व्यापक मानवीय व्यवहार का आर्थिक विश्लेषण करने के लिए।
1993	(1) Robert W. Fogel (2) Douglas C. North	दोनों अमरीकी	आर्थिक इतिहास में आर्थिक सिद्धान्त व मात्रात्मक विधियाँ लाने में अनुसंधान कार्य के लिए।

1994	(1) John C Harsanyi (2) John F Nash (3) Reinhard Selten	हगरी के अमरीकी जर्मन	अर्थशास्त्र मे खेल सिद्धान्तो के प्रयोगों के लिए।
1995	Robert Lucas	अमरीकी	आर्थिक नीति लोगो की प्रत्याशाओं को किस प्रकार प्रभावित करती है इसकी समझ में परिवर्तन लाने के लिए।
1996	(1) William Vickrey (2) James Mirrlees	(ब्रिटिश कोलम्बिया के निवासी व naturalised अमरीकी) ब्रिटिश	विषम (Asymmetric) सूचना के लिए, जब दोनों पक्षों के पास एक से तथ्य नही होते। इस सूचना से सामाजिक सुरक्षा काम (job) की बीमा व अन्य बातों के बारे मे निर्णय लेने में मदद मिलती है। James Mirrlees के योगदान से आयकर की समस्याओं को हल करने में मदद मिली है।
1997	(1) Robert C Merton (2) Myron S Scholes	दोनों अमरीकी	इनके सूत्र (*formula*) के आधार पर पिछले दस वर्षों में वित्तीय विकल्पो के बाजारो के तीव्र विकास का आधार तैयार किया गया।
1998	Prof Amartya Sen	भारतीय	कल्याणकारी अर्थशास्त्र में योगदान देने तथा प्रमुख आर्थिक समस्याओं के विवेचन में नीतिशास्त्र का आयाम जोडने के लिए दिया गया।
1999	Robert Mundell	कनाडा में जन्मे व कोलम्बिया विश्व विद्यालय, न्यूयार्क में प्रोफेसर	इनके कॉमन करेंसी पर भविष्य सूचक सिद्धान्त (prophetic theory) के आधार पर योरोप की सिंगल करेंसी 'यूरो' की आधारशिला रखी गई विभिन्न विनिमय दर प्रणालियों व अनुकूलतम करेंसी क्षेत्रों के अन्तर्गत वित्तीय नीतियों का निर्धारण।

2000	(1) James Heckman (2) Daniel L Mac Fadden	दोनों अमेरिकी अर्थशास्त्री	परिवार व समाज व्यवस्था में उत्पादन प्रभावित करने वाले लोगों के काम व रहन सहन के सिद्धान्त को विकसित करने के लिए।
2001	(1) George A Akerlof (2) A Michael Spence (3) Joseph E Stiglitz	दोनों अमेरिकी अर्थशास्त्री	इन्होंने वित्तीय बाजारों के सिद्धान्तों का विकास किया। जिस प्रकार लोग विभिन्न मात्रा में सूचना के आधार पर बाजार को प्रभावित करते हैं।

198 दो पूरक वस्तुओं की तिरछी लोच कैसी होती है?

(1) ऋणात्मक (2) धनात्मक

(3) इकाई (4) शून्य (1)

199 कॉब डगलस उत्पादन फलन में प्रतिस्थापन लोच होती है—

(1) इकाई (2) स्थिर

(3) इकाई से कम (3) इकाई से ज्यादा (1)

200 क्या अभी तक आर्थिक इतिहास के क्षेत्र में किसी नोबेल पुरस्कार विजेता ने काम किया है?

उत्तर—(1) Robert W Fogel

(2) Dougla C North ने इस क्षेत्र में काम किया है और उनको वर्ष 1993 में अर्थशास्त्र विषय में नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ था।

आर.ए.एस. प्रारम्भिक परीक्षा, अर्थशास्त्र परीक्षा, 1998 से प्रश्न

201 "लाभ नव प्रवर्तन (innovation) का प्रतिफल है।" यह कथन दिया गया है—

(1) जे बी क्लार्क द्वारा (2) ए सी पीगू द्वारा

(3) एफ एच नाइट द्वारा (4) जे शुम्पीटर द्वारा (4)

202 अपवाद स्वरूप माँग-वक्र वह होता है जिसका—

(1) झुकाव ऊपर से दाएँ ओर होता है

(2) झुकाव नीचे दाएँ ओर होता है

(3) झुकाव ऊपर बाएँ ओर होता है

(4) x अक्ष के समानान्तर होता है (1)

203. इनमें से कौन-सी वस्तुएँ स्थानापन्न वस्तुएँ हैं?
   (1) कॉफी और दूध
   (2) हल और गाय
   (3) पेन और स्याही
   (4) सरसों का तेल और नारियल का तेल (4)

204. एक फर्म का औसत आगम 20 रु है और औसत लागत 16 रु है तो फर्म का प्राप्त होता है—
   (1) सामान्य लाभ (2) शुद्ध लाभ
   (3) सकल लाभ (4) अधि सामान्य लाभ (3)

205. एक उदासीनता वक्र दायें और नीचे ढलुआ होता है क्योंकि एक वस्तु की अधिक मात्रा तथा दूसरी की कम मात्रा देता है—
   (1) वही सन्तुष्टि (2) अधिकतम सन्तुष्टि
   (3) अपेक्षाकृत अधिक सन्तुष्टि (4) घटता हुआ व्यय (1)

206. लेमन का दूसरा गिलास एक प्यासे लड़के को अपेक्षाकृत कम सन्तुष्टि प्रदान करता है। यह एक स्पष्ट एवं निरपवाद विचार है—
   (1) माँग के नियम का
   (2) घटता प्रत्याय के नियम का अथवा घटते प्रतिफलों के नियम का
   (3) घटती उपयोगिता के नियम का
   (4) पूर्ति के नियम का (3)

207. माँग की लोच को मापने हेतु निम्न में से कौन सा सूत्र काम में लिया जाता है?
   (1) $\frac{\text{माँग में प्रतिशत परिवर्तन}}{\text{कीमत में आनुपातिक परिवर्तन}}$
   (2) $\frac{\text{माँगी गई मात्रा में आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{कीमत में आनुपातिक परिवर्तन}}$
   (3) $\frac{\text{माँग में परिवर्तन}}{\text{कीमत में परिवर्तन}}$
   (4) $\frac{\text{कीमत में परिवर्तन}}{\text{माँग में परिवर्तन}}$ (2)

215 कुल उपयोगिता अधिकतम होती है जब—
(1) सीमान्त उपयोगिता शून्य होती है
(2) सीमान्त उपयोगिता अपने अधिकतम बिन्दु पर होती है
(3) सीमान्त उपयोगिता औसत उपयोगिता के बराबर होती है
(4) औसत उपयोगिता अधिकतम होती है (1)

आर.ए.एस. प्रारम्भिक परीक्षा, अर्थशास्त्र, नवम्बर 1999 से प्रश्न

216 उपभोक्ता के साम्य से आशय है कि—
(1) उपभोक्ता न्यूनतम त्याग से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करता है
(2) उपभोक्ता स्थैतिक व असतोषप्रद स्थिति में है
(3) सब के सब उपभोक्ता उच्चतम तटस्थता वक्र पर हैं
(4) क्रेताओं का साम्य विक्रेताओं के साम्य से मेल खाता है (1)

217 सभी व्यक्तियों की माँग की आय लोच इन वस्तुओं के लिए सकारात्मक है—
(1) घटिया वस्तुएँ (2) गिफिन वस्तुएँ
(3) पूँजीगत वस्तुएँ (4) सामान्य वस्तुएँ (4)

218 कीमत परिवर्तन का प्रतियोगी वस्तु की माँग पर साधारणतया प्रतिस्थापन प्रभाव होता है—
(1) इकाई के बराबर (2) शून्य
(3) उल्टी दिशा में (4) सीधी दिशा में (3)

219 अगर माँग वक्र दायी तरफ खिसकता है तो इसका अर्थ है—
(1) वस्तु की कीमत गिरी है
(2) माँग फलन उन्नत हुआ है
(3) पूर्ति फलन उन्नत हुआ है
(4) उपभोक्ता की वास्तविक आय घटी है (2)

220 मार्शल द्वारा उपयोगिता माप का विश्लेषण—
(1) उपयोगिताओं को बडे सुनिश्चित तरीके से मापता है यद्यपि वे अमाप्य हैं
(2) उपयोगिताओं के स्तर का ही सापेक्षिक माप करता है
(3) "रिवील्ड प्रीफरेन्स वक्र" का आधार है
(4) तटस्थता वक्र विश्लेषण का आधार है (1)

221 तटस्थता वक्र दर्शाते है कि—

(1) एक उपभोक्ता X व Y वस्तुओं पर कितना व्यय करता है

(2) ऊपर के भागो पर ज्यादा चाहे गये वस्तुओं के सयोग हैं

(3) हर बिन्दु पर दो वस्तुओं के वे सयोग हैं जिनके बारे मे उपभोक्ता तटस्थ है

(4) कम कीमत पर अधिक उपभोग होता है (3)

222 उत्पादन में घटती लागतें परिणाम हैं—

(1) आन्तरिक मितव्ययिताओ का आन्तरिक अमितव्ययिताओ से अधिक होना

(2) बाह्य मितव्ययिताओ का बाह्य अमितव्ययिताओं से अधिक होना

(3) आन्तरिक मितव्ययिताओ का बाह्य अमितव्ययिताओं से अधिक होना

(4) बाह्य मितव्ययिताओं का (4)

(देखिए साल्वेटोर, शॉम सिरीज, माइक्रो इकोनोमिक थ्योरी, तृतीय स., पृ 227)

223 उत्पादन में पूरक लागतें इसलिए लगाई जाती हैं कि—

(1) माँग वक्र कम लोचदार बने

(2) प्रति इकाई उत्पादन लागत में कमी आये

(3) बिक्री बाद की सेवा प्रदान करने के लिए

(4) वृद्धिमान नियम को सुनिश्चित करने के लिए (2)

224 उत्पादन में 'अविभाजनशीलताओ' से उत्पादन फलन की प्रकृति होती है—

(1) वृद्धि नियम की (2) ह्रास नियम की

(3) स्थिर नियम की (4) नकारात्मक उत्पादन नियम की (1)

225 उत्पादन में तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर, अनुपात है—

(1) सीमान्त उत्पादकताओं के बीच

(2) सीमान्त उपयोगिताओं के बीच

(3) सीमान्त सब्सिडी प्राप्ति के बीच

(4) घटक मात्राओं के बीच (1)

226 पूर्ण प्रतियोगिता में अल्पकाल मे एक फर्म परिवर्तित कर सकती है—

(1) उत्पादन का पैमाना (2) उत्पादन का क्षेत्र

(3) तकनीक सम्मिश्रण की सरचना (4) परिवर्तनशील आदान (4)

(एक फर्म अल्पकाल में परिवर्तनशील साधनों को ही बढा या घटा सकती है)

227 जहाँ विक्रेता अनेक बाजारों में बेचता हो तो अनुकूलतमता के लिए निम्न को समान करना होगा—

(1) विभिन्न बाजारों से/की औसत आय

(2) विभिन्न बाजारों से/की सीमान्त आय

(3) विभिन्न बाजारों से/की सकल आय

(4) विभिन्न बाजारो में उत्पादो की सीमान्त कीमत (2)

228 पूर्ण प्रतियोगिता में माँग गिरने पर कीमत बढेगी यदि उत्पादन निम्न दशा मे हो रहा हो—

(1) पैमाने का वृद्धिमान प्रतिफल (2) स्थिर प्रतिफल

(3) ह्रास प्रतिफल (4) पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल (1)

[पेपर में 'प्रतिफल' की जगह 'नियम' दिया हुआ था, जो सही नही है। अंग्रेजी के returns का हिन्दी अनुवाद 'प्रतिफल' होता है। उत्तर (1) इसलिए चुना गया है कि लागत वक्र घटता हुआ होने से माँग के घटने से उत्पादन घटाया जायेगा, तब लागत ऊँची आयेगी, जिससे कीमत बढेगी।] .

229 एकाधिकारी विभेदपूर्ण कीमत लेता है क्योंकि—

(1) खराब वस्तुओं को बेच सके

(2) कर बचा सके

(3) अपनी वस्तु के उपयोग/विभिन्न बाजार माँग बेलोचदारी की स्थिति का पूरा लाभ उठा सके

(4) उसी उत्पाद के दूसरे एकाधिकारी को परास्त कर सके (3)

[प्राय हम इसका कारण विभिन्न बाजारों में माँग की लोचों का अन्तर बतलाते हैं। अत बेलोचदारी की जगह 'लोचें' होता तो भी सही माना जाता]

230 जब एकाधिकारी की सीमान्त लागत 6 रु हो और कीमत 10 रु हो तो एकाधिकारी शक्ति का माप होगी—

(1) 0 4 (2) 6 0

(3) 0 6 (4) 4 0 (1)

[एकाधिकारी शक्ति $= \frac{P - MC}{p} = \frac{10 - 6}{10} = \frac{4}{10} = 0\ 4$]

231 एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में हम उम्मीद करते हैं—

(1) माँग का निम्न आडी लोच

(2) माँग की शून्य आडी लोच

(3) माँग की अनन्त आडी लोच

(4) माँग की आडी लोच बराबर एक के (= 1) (3)

232 एकाधिकारी का मुख्य लक्ष्य है—

(1) बहुत ऊँची कीमत लेना

(2) सम्पूर्ण उत्पादित माल को बेचना

(3) अधिकतम लाभ अर्जित करना

(4) यह सुनिश्चित करना कि बढते उत्पादन पर घटती लागतें हों (3)

233 सामान्य लाभ का अर्थ है—

(1) लाभ जो एक साहसी को उसी उद्योग में बने रहने को बाध्य करते हैं

(2) लाभ जो कार्यशील पूँजी के 10% से न कम न ज्यादा हों

(3) लाभ जो सकल पूँजी के 10% से न कम न ज्यादा हों

(4) लाभ जो सरकार के द्वारा निर्धारित हों (1)

234 अगर कीमत, चल लागतों के बराबर न हो तो विक्रेता—

(1) वस्तु को घाटे पर बेचेगा, चाहे वस्तु नष्ट न होने वाली ही हो

(2) विज्ञापन पर ऊँची लागतें लगायेगा

(3) शासन से सब्सिडी (सहायता) माँगेगा

(4) पूर्ति को स्टॉक में परिवर्तित कर, कीमत बढने का इन्तजार करेगा। (4)

235 पूर्ण प्रतियोगिता में दीर्घकाल में साम्य होगा जब—

(1) औसत आय > औसत लागत

(2) सीमान्त आय = सीमान्त लागत = औसत आय = औसत लागत

(3) सीमान्त आय = सीमान्त लागत, लेकिन औसत लागत < औसत आय

(4) औसत लागत = औसत आय (2)

236 अतिरेक क्षमता रहते हुए भी साम्य होता है—

(1) पूर्ण प्रतियोगिता में

(2) गला काट प्रतियोगिता में

(3) एकाधिकार में

(4) क्रेता एकाधिकार में (2)

(अतिरेक क्षमता प्राय एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता की दशा में पायी जाती है।)

237 लाभ पुरस्कार है—

(1) अनिश्चितता उठाने का

(2) जोखिम बर्दाश्त करने का

(3) उपभोग की समय वरीयता त्यागने का

(4) गैर-बीमा योग्य जोखिम व अनिश्चितताएँ टालने का (4)

238 ब्याज की नीची दर—

(1) मजदूरी गिराती है

(2) मजदूरी बढाती है

(3) अपने आप में निवेश बढाने के लिए अपर्याप्त है

(4) सदैव केन्द्रीय बैंक द्वारा मुद्रा बाजार को दिए गए आदेशों से होती है (3)

239 निम्न में से क्या गलत है?
(1) खाद्यान्न आयात से लगान बढ़ने से रुकता है
(2) लगान केवल अच्छी भूमि पर ही प्राप्त होता है
(3) लगान एक प्रकार का एकाधिकार मूल्य भी है
(4) लगान हस्तान्तरण आय के ऊपर प्राप्त होने वाला अतिरेक है (3)

240 अगर वस्तु बाजार में एकाधिकार तथा श्रम बाजार में क्रय एकाधिकार हो तो मजदूरी—
(1) सीमान्त उत्पादकता से कम होगी
(2) सीमान्त उत्पादकता से ज्यादा होगी
(3) सीमान्त उत्पादकता के बराबर होगी
(4) श्रम संघों द्वारा निर्धारित दर के बराबर होगी (1)
(क्योंकि श्रम का क्रेता एकाधिकारी आर्थिक शोषण की स्थिति में होता है)

241 क्या गलत है?
(1) मजदूरी अगर जीवन निर्वाह से अधिक हो तो श्रमिकों की उर्वरता बढ़ती है
(2) सीमान्त उत्पादकता का सिद्धान्त माँग पक्ष का ही सिद्धान्त है
(3) मजदूरी समझौते अब त्रिपक्षीय भी होते हैं
(4) सामूहिक सौदेबाजी सिद्धान्त में माँग व पूर्ति पक्षों का समाधान है (4)
(एक फर्म में होने वाली सामूहिक सौदेबाजी में मजदूरों के प्रतिनिधि (मजदूर नेता) केवल अन्दर के मजदूरों के ही हितों पर चर्चा करते हैं बाहर के मजदूरों के लिए नहीं। इसलिए यह स्थिति पूरी तरह पूर्ति पक्ष को शामिल नहीं करती।)

242 कौन सा घटक कीमत शून्य हो सकता है?
(1) ब्याज (2) घाटे वाली संस्थान के मैनेजर का वेतन
(3) लाभ (4) मंदीकाल में मजदूरी (3)

243 भुगतान सन्तुलन को सुधारने में अवमूल्यन मदद करता है यदि—
(1) देश से बाहर निर्यातों की माँग बेलोचदार हो
(2) देश आवश्यक वस्तुओं का निर्यात कर रहा हो
(3) देश उन वस्तुओं का निर्यात कर रहा है जिनकी माँग लोचदार हो
(4) देश तकनीकी पुरानापन अप्रचलनता से गुजर रहा है (3)

244 कुल लागत मारणी निम्न सूचना से तैयार की जा सकती है—
(1) ऐन्जिल वक्र द्वारा (2) कीमत उपभोग वक्र द्वारा
(3) एक विस्तार पथ द्वारा (4) समान लागत वक्र द्वारा (3)

245 उत्पादन के द्वितीय चरण में जिसमें प्रति एक पर परिवर्तनशील हो—
(1) सीमान्त उत्पादन घट रहा होता है किन्तु ऋणात्मक नहीं
(2) औसत उत्पादन ऋणात्मक होता है
(3) औसत उत्पादन बढ़ रहा होता है
(4) औसत उत्पादन धनात्मक है एवं सीमान्त उत्पादन बढ़ रहा है (1)

246 यदि किसी फर्म का माँग वक्र बाजार माँग वक्र से मेल खाता हो तब—
(1) फर्म कीमत अधिकारी है
(2) फर्म एकाधिकारी है
(3) फर्म बिना सीमा के कोई भी कीमत निश्चित कर सकती है
(4) सीमान्त आगम औसत आगम के बराबर है (2)

247 मार्च 2002 के अन्त में भारत में M_3 की मात्रा लगभग थी—
(1) 15 लाख रु (2) 13 लाख रु
(3) 10 लाख रु (4) 11 लाख रु (1)

अन्य प्रश्न

248 कौन सा कथन सही है ?
(अ) प्रतिस्थापन प्रभाव सिद्धान्त ऋणात्मक (negative) होता है
(ब) प्रतिस्थापन की लोच सदैव धनात्मक (positive) होती है
(स) सभी गिफिन वस्तुएँ घटिया वस्तुएँ होती हैं
(द) सभी (द)

249 विलासिता की वस्तुओं में माँग की आय लोच होती है—
(अ) 0 से 1 के बीच (between o से 1)
(ब) 1 से अधिक व अनंत तक (>1 & upto ∞)
(स) 0 से कम व (–) अनंत तक (<0 & upto –∞) (ब)

250 निम्न में माँग की कीमत लोच का निरपेक्ष मूल्य (absolute value of e) रखने पर कौन सा सूत्र सही माना जायेगा ?

(अ) $e = \frac{AR}{AR - MR}$

(ब) $MR = AR\left(1 - \frac{1}{e}\right)$

(स) $MR = p\left(1 - \frac{1}{e}\right)$

(द) सभी (द)

उत्तर $NPV = \left(\frac{1250}{1.1} + \frac{62.5}{(1.1)^2} + \frac{62.5}{(1.1)^3}\right) - 1250$

$= (1136.36 + 51.65 + 46.96) - 1250$

$= 1234.97 - 1250 = -15$ रु (हजारों में)

अत ऋणात्मक NPV के कारण यह प्रोजेक्ट नही लगाया जायेगा।

257 प्रतिफल की आन्तिरक दल (IRR) निकालने के लिए सूत्र में किस दर का प्रयोग किया जाता है?

(अ) बट्टे की दर का (ब) प्रतिफ्ल की औसत वार्षिक दर का

(स) ब्याज की दर का (स)

258 निवेश विश्लेषण में किस विधि को भ्रमात्मक व खतरनाक माना गया है?

(अ) पे बैंक अवधि को (ब) AARR को

(स) NPV को (द) IRR को (ब)

259 निवेश के लिए प्रोजेक्ट चुनाव में जोखिम व अनिश्चितता की स्थिति में आवश्यक समायोजन के लिए क्या किया जाना चाहिए?

(अ) संदेनशीलता विश्लेषण का प्रयोग करना चाहिए

(ब) प्रत्याशित मौद्रिक मूल्य विधि काम में लेनी चाहिए

(स) उपर्युक्त दोनों का मिश्रण काम में लेना चाहिए

(द) कोई विधि मदद नही करेगी (स)

260 प्रोजेट में चुनाव में बाधक-तत्व होता है—

(अ) मुद्रास्फीति का (ब) विस्फीति का

(स) अनिश्चितता का

(द) प्रोजेक्ट द्वारा उत्पादित वस्तु की माँग का घट जाना

(ए) सभी (ए)

261 सार्वजनिक परियोजना में चुनाव में कौन सी विधि काम में ली जा सकती है?

(अ) लिटिल-मिरलीज की (ब) यूनीडो की

(स) दोनों (द) कोई नही (स)

262 सार्वजनिक प्रोजेक्ट के चुनाव में छाया कीमत की विधि का किसने समर्थन किया?

(अ) लिटिल मिरलीज ने (ब) यूनीडो ने

(स) दोनों ने (द) किसी ने नहीं (ब)

263 सार्वजनिक प्रोजेक्ट में लागत लाभ विश्लेषण लागू करना कठिन होना है क्योंकि—

(अ) रोजगार पर प्रभाव देखने होते हैं

(ब) पिछडे प्रदेश क विकास पर प्रभाव देखा जाता है

(स) गरीबी दूर करने का प्रयत्न देखा जाता है
(द) सभी (द)

264 कल्याण अर्थशास्त्र का जनक किसको माना जाएगा?
(अ) एडम स्मिथ को (ब) रिकार्डो का
(स) मार्शल का (द) पीगू का (द)

265 नव कल्याण अर्थशास्त्र के समर्थक कौन माने जाते हैं?
(अ) केनेथ जे ऐरो (ब) केल्डार हिक्स
(स) सिटोवस्की (द) बर्गसन सेमुअल्सन
(इ) सभी (इ)

266 पेरेटो अनुकूलतम की क्या कमी था?
(अ) इसमें एक व्यक्ति के लाभ और दूसरे व्यक्ति की हानि पर एक साथ विचार नहीं किया गया
(ब) इसमें मूल्य निर्णय शामिल नहीं किए गये
(स) इसमें कई अनुकूलतम बिन्दु बतलाये गये
(द) सभी (द)

267 सामाजिक-कल्याण फलन की अवधारणा किसने दी?
(अ) केल्डार ने (ब) हिक्स ने
(स) बर्गसन ने (द) बर्गसन व सेमुअल्सन ने (द)

268 कल्याण अर्थशास्त्र में क्षतिपूर्ति का सिद्धान्त किसने दिया?
(अ) सेमुअल्सन ने (ब) केल्डोर ने
(स) हिक्स ने (द) केल्डोर व हिक्स ने (द)

269 परेटो के कल्याण के आधार को लागू करने में क्या बाधाएँ हैं?
(अ) एकाधिकार की दशा
(ब) बाह्यताएँ
(स) सार्वजनिक वस्तुओं का पाया जाना
(द) सूचना का अभाव
(ए) सभी (ए)

270 क्लासिकल कल्याण अर्थशास्त्र की मान्यताएँ हैं—
(अ) उपयोगिता गणनावाचक होती है (मुद्रा में मापनीय होती है)
(ब) उपयोगिता की अन्तर्वैयक्तिक तुलना की जा सकती है
(स) मूल्य निर्णय शामिल किये जा सकते हैं
(द) सभी (द)

सन्दर्भ-ग्रन्थ व्यष्टि-अर्थशास्त्र की कुछ प्रामाणिक पुस्तकें (Reference Books : Some Standard Books on Microeconomics)

1 Samuelson and Nordhaus ECONOMICS 16th ec 1998

2 Gould and Lazear Ferguson & Gould s Microeconomic Theory Sixth ed 1989

3 JP Gould & PL Edward Microeconomic Theory 1996

4 E Mansfield, Microeconomics 9th ed 1997

5 William J Baumol, Economic Theory and Operations Analysis 4th ed 1977

6 Eckert & Leftwich The Price System and Resource Allocation 11th edition

7 Browning and Browning, *Microeconomic Theory and Applications*

8 D Salvatore Microeconomic Theory (Schaum s Outline Series) 3rd Edition 1992

9 Richard G Lipsey and K Alec Chrystal Principles of *Economics 9th ed* 1999

10 Jack Hirshleifer and Amihai Glazer Price Theory And Applications Fifth Edition 1992

11 Watson and Getz, Price Theory and its uses

12 Kalyanjit Roy Choudhary Basic Principles of Modern Micro-Economics Second Ed 1999

13 Kalyanjit Roy Choudhary Basic Principles of Modern Micro Economics, Vol II 1996

14 Rituranjan Micro Economics—Theory & Application Vol I & Vol II 1999

15 Salvatore & Diulio Principles of Economies 2nd ed 1996 (Schaum s outlines)

16 Oxford Dictionary of Economics by John Black 1997